ओ३म्

वेदार्थ कल्पद्रुमः

प्रथमो भागः

प्रकाशिका
सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा

सेवा में सादर सप्रेम
भेंट
[illegible] शास्त्री
१-११-८३





ओ३म्

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

श्रीयुत स्वामि-करपात्रिकृत-'दयानन्दीय-मत-खण्डन-खण्डकः

प्रथमः खण्डः

प्रणेता
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्रः शास्त्री
व्याकरणाचार्य-दर्शनवाचस्पति :
कुलपतिः गुरुकुल-विश्वविद्यालयस्य-वृन्दावनस्य
भारत-सर्वकार-मनोनीत-सदस्यः दिल्लीस्थ राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थानस्य

हिन्दी-रूपान्तर-विधायिका
श्रीमती निर्मला 'मिश्रा'
साहित्य-पुराणेतिहासाचार्या, एम० ए० (दर्शन-संस्कृतयोः) साहित्य-रत्नम्
प्राचार्या
पार्वती-आर्य-कन्या-विद्यालय

सम्पादकः
सुरेन्द्रकुमार शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्यः



प्रकाशिका :
सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा, नव-दिल्ली

प्रथमं संस्करणम्

दयानन्दाब्दाः १६०   १००० प्रतयः   विक्रमाब्दाः २०४१

प्रकाशिका :
सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली

मूल्यम् : ६०)

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानम् :
१. प्रकाशक-स्थानम्
२. आनन्द-मन्दिरं, कूंचा पांडा
बदायूं (उत्तर प्रदेश:)

मुद्रक :
चन्द्रमोहन शास्त्री
संन्नी प्रिण्टर्स,
७११७, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

The Vedarth Kalpadrumah

A full-scale rejoinder to the The Dayanandiya Mata Khandanam from Shri Karapatiji's WorK, VEDARTHA PARIJATA

by

Acharya Vishuddhananda 'Mishra' Shastri

Vyakarnacharya, Darshan-Vachaspati etc.

Vice-Chancellor, Gurukul Vlshwa-vidyalaya, Vrindavan

Member (nominated) National Sanskrit Institute, New Delhi

Hindi translation .

by

Smt. Nirmala 'Mishra'

Sahitya-Purana-Itihasa Acharya, M. A.

(Philosophy and Sanskrita), Sahitya Ratna

Principal P. A. K. V. (College,) Badaun (U. P.)

Editor

Surendra Kumar Shastri Vyakaran-Sahitya Acharya

Publishers :

Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha

Ramlila-graund, New Delhi-110002 (India)

2041 1984

First Edition 1000 Copies

समर्पितिः

प्रातःस्मरणीय-मातृपितृपाद-पद्मेभ्यः

मातुःस्तन्येन साकं श्रुतिमधुविलसद् गानमापीय कामम् ।
शिक्षा-सन्दीक्षितः सन् पितृवर-चरणाम्भोज-सामीप्यमाप्य ।।
एतं ग्रन्थं प्रणेतुं यदमितकृपया स्वस्थ-सामर्थ्यमाधाम् ।
पित्रोः पद्भ्यो हि तेभ्यः प्रविनत-शिरसा श्रद्धया चार्पयेऽहं ।।

आत्मजः विशुद्धानन्दः

प्रातः स्मरणीय-पूज्या स्व० माता श्रीमती ललितादेवी

तथा

स्वर्गीय पूज्य पिता श्री पं० अयोध्याप्रसाद 'मिश्र'
वैद्य-भूषण के चरण कमलों में
वेदार्थ-कल्पद्रुम 'श्रद्धापुष्प'

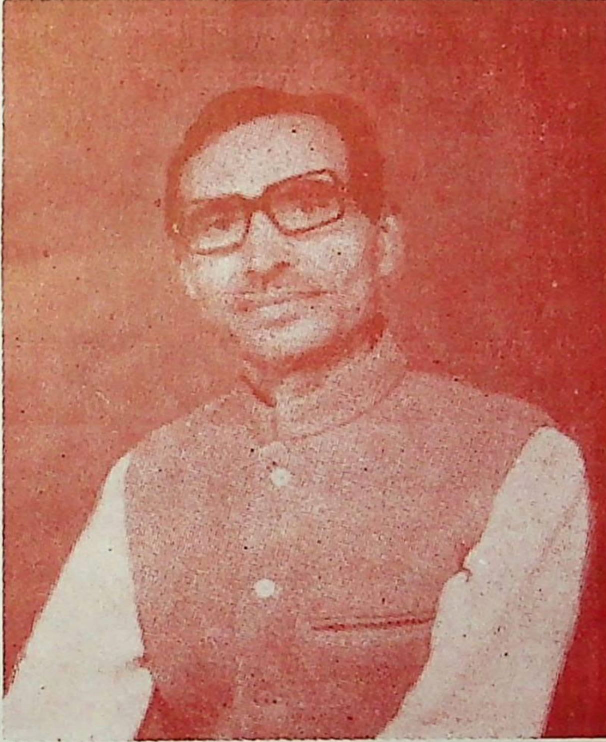
समर्पण

स्नेहमूर्ति माँ के दुग्ध के साथ-२ उनको श्रुतिमधुर-लोरी गान का यथेच्छपान कर, महर्षि के अनन्यभक्त परमपूज्य पिताजी के चरण कमलों की आराधना करके, जिनकी अपरिमित कृपा से मुझे जिस ग्रन्थ 'वेदार्थ कल्पद्रुम' के प्रणयन करने की स्वस्थ-सामर्थ्य प्राप्त हुई है ऐसे माता पिता के उन पावन चरण-कमलों में, उस (ग्रन्थ) को नतमस्तक श्रद्धाभाव से समर्पित करता हूं ।

आत्मज विशुद्धानन्द मिश्र



ग्रन्थकारः
आचार्य श्री विशुद्धानन्द मिश्रः शास्त्री



वेद-ज्ञाननिधिः सुधीः शुचिमतिर्वेदाङ्ग-नद्यम्बुधिः ।
आनन्दान्त-विशुद्ध-मिश्र-पदवी नाम्ना धृता येन सः ।।
वेदार्थस्य फल-प्रदान-निरतः 'कल्पद्रुमा' न्नैजकात् ।
सद्धर्मश्रुतिशास्त्र-चिन्तनफलं दद्यात् शतं शारदम् ।।



हिन्दी-विधायिका

प्राचार्या श्रीमती निर्मला 'मिश्रा' विविध-विषयाचार्या, एम. ए.



यल्लालिताः अनुदिनं शिशवश्च भृत्याः ।
सम्भाषणे व्यवहरन्ति जनुः-प्रभृत्या ।।
'कल्पद्रुम' स्य शुभ-सौरभमाकिरन्ती ।
देवी सुसंस्कृतगिरा खलु 'निर्मले'यम् ।।

प्रकाशकीय-वक्तव्य

वेदोद्धारक महर्षि-दयानन्द-सरस्वती ने ब्रह्मचर्यादितपःपूत योगमयी साधना द्वारा वेदों के निर्भ्रान्त सत्यार्थ प्रकाशित किये और प्रमाण तथा प्रखर तर्कों से महीधर-सायणादिकृत कदर्थ-भाष्यों के खण्डन एवं सुधार का अप्रतिम साहस किया।

नीरक्षीर-विवेकी विद्वानों ने ऋषि द्वारा प्रदर्शित, यास्काचार्य के निरुक्त एवं ब्राह्मणादिसद्ग्रन्थों से पोषित एवं परिमार्जित वेदार्थ-पद्धति को स्वीकार किया। फिर भी कतिपय पक्षपाती-जन इस नव जाज्वल्यमान ज्योति पर आवरण डालने का दुष्प्रयास करने लगे और अवैदिक बुद्धिबाह्य तर्कहीन अर्थों को ईश्वरीय शाश्वतवाणी वेद के साथ जोड़ने लगे।

मुझे बड़ी पीड़ा के साथ इस तथ्य को कहने में संकोच नहीं है कि मीमांसाशास्त्र के महान् विद्वान् स्वामी करपात्री जी भी दुराग्रह-वश इस दोष से मुक्त होने में सर्वथा असमर्थ रहे। मुझे यह भी कहने में तनिक हिचक नहीं कि वे 'वेदार्थ-पारिजात' में अनेक स्थलों पर महर्षि दयानन्द के सत्य-सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये स्वयं ही निग्रहस्थान में आ गये हैं।

वेदार्थ-पारिजात के इन लेखक ने आर्ष-शैली से प्रतिपादित किये गये महर्षि-दयानन्द के (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका-गत) पाण्डित्य-पूर्ण आर्ष सिद्धान्तों को छल-कपट एवं वाग्जाल द्वारा खण्डित करने का जो आडम्बर रचा था उसके निराकरण करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। आर्यसमाज के नियम 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये' के अनुसार आर्य-जगत् के प्रकाण्ड-विद्वान्, संस्कृत-वाङ्मय के उद्भट पण्डित, वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, गुरुकुल-विश्व-विद्यालय, वृन्दावन के कुलपति, 'पण्डिताग्रगण्य, आचार्य विशुद्धानन्द शास्त्री, दर्शनवाचस्पति ने उस

'वेदार्थ-पारिजात' का 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नाम से सप्रमाण सयुक्तिक उत्तर लिखकर आर्यजगत् की महान् सेवा की है।

श्री आचार्य-प्रवर ने इस ग्रन्थ का उत्तर लिखकर गुरुवर महर्षि दयानन्द के प्रति जो आस्था प्रकट की है, उससे वे ऋषि-ऋण से उऋण होकर महर्षि दयानन्द की शिष्य-मण्डली में प्रथम पंक्ति में विराजमान हुये हैं।

आर्य समाज को यह गौरव प्राप्त है कि उसकी गोद में विलसित महनीय लेखक का एक ऐसा परिवार है, जिसके बच्चों की मातृभाषा संस्कृत है। एक ओर कहाँ तो श्री करपात्री जी के साथ वेदार्थ-पारिजात की रचना में सहायक पौराणिक जगत् के नाना-विषयों के १४ प्रकाण्ड पंडित और सर्वविध-साधन-संपन्नता, और कहाँ दूसरी ओर ये आचार्य प्रवर और उनकी परम-विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला 'मिश्रा' हैं, जिनके प्रयास से यह 'वेदार्थ-कल्पदुम' तैयार हो सका है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ यथासमय ४ खण्डों में प्रकाशित होगा, सम्प्रति यह प्रथम खण्ड प्रस्तुत है, जो 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'वेद-विषय-विचार, तक सम्बद्ध है।

मेरा विश्वास है कि आचार्य विशुद्धानन्द जी द्वारा लिखित इस वेदार्थ-कल्पद्रुम' का देश और विदेश की विद्वन्मण्डली तथा संस्कृत-साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान् स्वागत करेंगे।

निवेदक
रामगोपाल 'शालवाले'
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली

आभार-प्रदर्शन

यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' स्वर्गीय श्री करपात्री जी के जीवन-काल में ही लिखा जा चुका था, परन्तु वे इसको न देख सके। मुझे महान् हर्ष होता कि वे मेरे ग्रन्थ के प्रमाण-समुच्चय और बलवत्तर्कों से महर्षि की मण्डित विचार-धारा की सत्यता के प्रति कृतज्ञ और प्रभावी (कायल) होते। वे अब दिवङ्गत हैं, पर उनके सैकड़ों भुवङ्गत भक्त इसे पढ़कर सत्यासत्य के निर्णय पर अवश्य पहुंचेंगे।

मेरे ग्रन्थ के प्रकाशन के विलम्ब का कारण मूलरूप में यही रहा कि मेरे ग्रन्थलेख का परिष्करण, मुद्रण-शोधन आदि महान् कार्य कोई अन्य प्रशस्त विद्वान् ही करे। कालानन्तर में सम्माननीय श्री सुरेन्द्रकुमार जी शास्त्री व्याकरण साहित्याचार्य के समक्ष जब यह प्रश्न आया, तो सौम्य प्रकृतिक विपश्चिद्वर्य ने बड़ी निर्लोभता एवं सारल्य से इस दुष्कर कार्य के भार को स्वयं ले लिया।

इनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन की चेष्टानुरूप शब्दावली न जुट सकने पर भी आभार प्रकाशन की सफलता की दिशा में एक असफल प्रयास ही सही, पर वह सही तो है। इससे मुझे सन्तोष है।

श्री करपात्री जी का वेदार्थ-पारिजात

श्री करपात्री जी के जीवन की अन्तिम, महती उपलब्धि यह है कि उन्होंने अपनी रूढिग्रस्त पौराणिक धारणाओं से अभिभूत होकर अन्धविश्वासी अपने भक्तों में अपने पाण्डित्य की धाक जमाने के लिये और उनको, स्वामि दयानन्दीय-सिद्धान्तों का खण्डन करके प्रसन्न करने के लिये 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' का भी खण्डन लिख डाला।

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों की सप्रमाणता एवं तर्कानुसंगतता

की दिव्यज्योति के समक्ष दिवान्धतुल्य पंडितम्मन्य दम्भी हतप्रभ होने लगे थे। पुनरपि करपात्री जी को आशा थी कि आर्यसमाजियों के विरोधियों के बाहुल्य से वे विशेष-ख्याति प्राप्त कर सकेंगे, परिणामतः उन्होने महर्षि कपिल कणाद और गौतम से भी आगे बढ़कर वेद-धारा की उपेक्षा कर कतिपय नये सिद्धान्तों की इस ग्रन्थ में तिरोहित-रूप से स्थापना की कि इस खण्डन के झकामोड़े और हुल्लड़ में वे आगे चलकर जनमानस को यह सोचने के लिए विवश कर देंगे कि करपात्री जी की प्रतिभा उक्त महर्षियों से भी आगे गई है। उनमें से कतिपय नई मान्यताओं को देखिये :—

१. वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है, वेदों का ज्ञान प्रलय के पश्चात् सुप्त प्रतिबुद्धन्याय से ही हो जाता है।

२. मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों ही वेद-पदाभिधेय हैं।

३. ये वेद ११३१ शाखाओं से युक्त हैं।

४. विकासवाद के सिद्धान्त के समान वेदज्ञान भी आदि में विना सिखाये भी हो सकता है।

५. ईश्वर, भक्तों पर अनुग्रह के लिये साकाररूप धारण करता है। इत्यादि २।

परन्तु वे इन धारणाओं और मान्यताओं के पोषण में कोई वेद प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। पाठक महानुभाव ! इन्हें शास्त्रों पर आस्था तथा विश्वास नहीं है, भले ही ये जनमानस को आकृष्ट करने के लिये पदे पदे शास्त्रों की दुहाई देते हैं। सांख्य तथा मीमांसा के रचयिताओं को अनीश्वरवादी प्रतिपादित करने में ये नहीं हिचके हैं। पौर्वापर्य लेख का भी ध्यान नहीं रहा है। क्योंकि वह अनास्था में स्वयं भटक रहे हैं इन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के प्रत्यक्षर खण्डन की प्रतिज्ञा की है परन्तु वे अपने उद्देश्य में, सफल खण्डन न होने से असफल रहे हैं। खण्डन के लिये उठाये उनके ओछे हथियार लक्ष्य-बेध में असमर्थ रहे हैं। करपात्री जी ने स्वामी दयानन्द की जो व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियां निकाली हैं उनका भी निराकरण कर सप्रमाण-समाधान किया है तथा साथ ही करपात्री जी की अनेकों व्याकरण की त्रुटियां निकाली हैं।

मैं आर्य जगत् की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा नई दिल्ली के सभी मान्य अधिकारियों तथा विशेषतया सभा के सम्मान्य प्रधान यतिकल्प, आर्य समाजार्थ-समर्पित-समस्त-जीवनधन श्री ला० रामगोपाल शालवाले का अत्यन्त आभारी हूं जिनकी प्रेरणा से उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है।

मैं वेदार्थ-कल्पद्रुम लिखने की प्रेरणा में गुरुवर्य शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं. बिहारीलाल जी शास्त्री काव्यतीर्थ के अतिरिक्त दर्शनाचार्य उदयवीर जी शास्त्री तथा आदरणीय श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री जी का भो प्रमुख योग मानता हूं जिसने मुझे सतत अग्रसर किया है। इन सभी विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञभाव से अवनत शिरस्क हूँ। आभारिता प्रदर्शन की इस शृंखला में विस्मरण करना, कहीं अनुताप का स्थल न बन जाये, अत: आदरणीय श्री सच्चिदानन्द जी शास्त्री एम. ए. तथा श्री ब्रह्मदत्त जी 'स्नातक' के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूं।

अन्त में श्री चन्द्रमोहन जी शास्त्री का भी आभारी हूँ जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ शुद्ध एवं उत्तम मुद्रित हो सका है।

आभारी

दिनांक १-११-१९८४ **आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र**

ओ३म्

आशीर्वचः

श्रीमता करपात्रिमण्डलेन प्रणीतं प्रकाशितञ्च वेदार्थपारिजातो नाम पुस्तकं मयाऽवालोकि। प्रणेतारः अपरिपक्व-विचारजुषोजनान् भ्रामयितुमन्यन्याय शब्दजालमेवातन्वन्। यद्यपि करपात्रिमण्डलं महर्षि-दयानन्द-मन्तव्यं खण्डयितुं सोत्साहं प्रववृते, किन्तु तथ्यमिदं सर्वथा सुस्पष्टं यन्महर्षेर्मूलसिद्धान्तखण्डने ते नितरामसाफल्यमलभन्त। महर्षि-दयानन्दस्य को नाम राद्धान्तो बुद्धिविरुद्धः शास्त्राऽसम्मतो देशस्याश्रेयस्कर आर्य-राष्ट्रविघातकश्चेति दर्शयितुं कोऽपि पण्डितो नाक्षमिष्ट।

शब्द-शास्त्रपारावारावगाहनलब्ध-नैपुण्येन व्याकरणाचार्येण विदुषा श्री विशुद्धानन्दमिश्रेण पुस्तकमदः सम्यक् समालोचि, युक्ति-युक्तं याथातथ्येन च सकलमुत्तरितम्। ऋषिदयानन्दोदीरितमखिलमपि वाक्य-जातं नितरां निर्दोषमिति च सम्यक् प्रत्यपादयद् विद्वद्धौरेयः मिश्रमहोदयः। आचार्यवर्यस्यास्य सूक्ष्म-विषय-विवेचन-निपुणशेमुषी, तर्कपूर्वकमालोचनीयमुपन्यस्य प्रमाणपुरस्सरञ्च तत् सुसङ्गमय्य येन प्रकारेण स्वाभिमतं प्राकाशयत्तदखिलं प्रेक्षावता मुदमावहति। विद्वच्छिरोमणेः श्री विशुद्धानन्दस्य ग्रन्थमधीत्य श्रीमत :--करपात्रिणः पौराणिकाः पण्डिता हतप्रभा भविष्यन्ति। अहमाचार्यवर्यस्य निपुणं शास्त्र-विवेचन-वैचक्षण्यं वीक्ष्यातितरां मोदमानेन मनसा तं शुभाशी-राशिभिर्वर्द्धयामि। आशासे यत् शेषस्यापि वेदार्थपारिजातपुस्तकस्य समालोचनमनयैव सरण्या सम्पत्स्यते।

सुरभारती-समुन्नयने बद्धाभिलाषा विद्वांसः विदित्वेदं नूनं मोदिष्यन्ते यदाचार्य-विशुद्धानन्दस्य समस्तः परिवारः संस्कृतं मातृ-भाषात्वेन व्याहरति। अस्य विदुषः शिशवोऽपि मातृस्तन्येन साकं प्रकाममापीय सरस्वती-रसं संस्कृत एव प्रथमां वाचमुदीर्य श्रोतॄणां कर्णौ प्रीणयन्ति।

आशासेयत् वेदार्थकल्पद्रुमोऽयं स्वीयैरमृतकल्पैः फलैः सदसद्विवेचन-चणानां विचक्षणानामतिशयेन तर्पयिष्यति मनांसि,।

बिहारीलालः शास्त्री

आशीर्वाद

श्री करपात्री जी की मण्डली द्वारा प्रणीत एवं प्रकाशित 'वेदार्थ-पारिजात', नामक पुस्तक का मैंने अवलोकन किया। इस पुस्तक के प्रणेताओं ने पुस्तक में अपरिपक्वबुद्धि वाले व्यक्तिओं को भ्रमित करने के लिए प्रायः नव्य-न्याय की शब्दावली के जाल को फैलाया है। यद्यपि यह करपात्रिमण्डल महर्षि दयानन्द के वैदिक मन्तव्यों को खण्डित करने के लिये प्रवृत्त हुआ है, पर वह इस खण्डन कार्य में सर्वथा असफल रहा है; क्योंकि महर्षि दयानन्द प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो बुद्धि-विरुद्ध शास्त्राऽसम्मत, देश के लिये अकल्याणकारी और आर्यराष्ट्र के लिये विघातक हो।

शब्द-शास्त्र में निपुण व्याकरणाचार्य श्री पं० विशुद्धानन्द मिश्र ने करपात्री जी की उक्त पुस्तक का सम्यक् अवलोकन करके, तथ्य-पूर्ण युक्तियुक्त उत्तर देने का सफल प्रयास किया है। विद्वद्धौरेय मिश्र महोदय ने ऋषिदयानन्दोक्त प्रत्येक वाक्य-जात को निर्दोष सिद्ध किया है। उनकी सूक्ष्म-विवेचन-विचक्षण बुद्धि ने तर्क-पूर्वक आलोचनीय विषय का विश्लेषण कर, प्रमाण-पूर्वक उसका संगमन करके जिस प्रकार से अपने अभिमत समाधान को प्रस्तुत किया है, वह परीक्षा-निपुण विद्वानों के लिये हर्ष का विषय है।

विद्वत् शिरोमणि श्री विशुद्धानन्द जी के इस 'वेदार्थ कल्पद्रुम' ग्रन्थ को पढ़कर पौराणिक पंडित हतप्रभ होंगे। ऐसा मेरा विश्वास है। मैं इनकी शास्त्र-विवेचन-निपुणता को भली भाँति देख कर प्रसन्न मन से उनके मंगल के लिये अपनी शुभ आशीराशि प्रदान करता हूं, और आशा करता हूं कि वेदार्थ-पारिजात के शेष भाग का भी इसी पद्धति से समाधान किया जायेगा।

साथ ही संस्कृत-भाषा की समुन्नति में बद्धाभिलाष विद्वज्जन यह जानकर अति प्रसन्न होंगे कि आचार्यजी का समस्त परिवार संस्कृत को मातृ-भाषा के रूप में व्यवहृत करता है। इनके छोटे २ बच्चे भी अपनी माता के दुग्ध पान के साथ सरस संस्कृत वाणी का पान करके प्रथमवाणी संस्कृत को ही बोलकर श्रोताओं को प्रसन्न करते रहे हैं।

आशा करता हूं कि यह वेदार्थ-कल्पद्रुम अमृतफलों से सदसद् विवेकी पाठकों के मनों को संतोष प्रदान करेगा।

बिहारी लाल शास्त्री

वदार्थ-कल्पद्रुमः

विद्वद्-वृन्द-मिलिन्द-वन्दित-वपुः सद्वृत्तपुष्पै र्नवैः,
कीर्त्तेः सौरभमारुतैर्विलसितो भावैः परागैरयम् ।
शिष्टाचार-सुनिष्ठ-पावनरसैः स्निग्धैः सुधा-सम्मितैः,
स्वादीयोरचनावचः फलभृतो 'वेदार्थ-कल्पद्रुम': ।। १ ।।

(२)

भ्रान्तिग्रस्त-बुधाऽविमर्शन पयः—पोतस्य लोकाम्बुधौ,
आर्यव्रातसुगम्यरम्यसरणिं सन्दर्शयन् सुप्रभः ।
अज्ञानाऽमिततामसे श्रुतिविभास्तम्भप्रदीपोऽपरः,
दिव्यज्योतिरवाकिरत्यभिनवो 'वेदार्थ-कल्पद्रुमः' ।। २ ।।

(३)

आनन्दाऽऽप्तिफलः सुभावकुसुमः सच्छास्त्रपत्रैर्लसन् ।
शाखाभिर्लसितः सुयुक्तिविलसच्छायाऽऽत्मतृप्तिप्रदः ।।
सत्सिद्धान्तसुगन्धसाधितदिशः स्कन्धप्रमाणैः दृढः ।
ऋग्वेदादिक-भाष्य-भूमिजनितो, 'वेदार्थ-कल्पद्रुमः ।। ३ ।।

(४)

शाखाः यस्य सुनिर्मलाःसुसरलाः सत्पत्र-सञ्छादिताः ।
छाया यस्य मनोहरातिसुखदा, संसेविता योगिभिः ।।
पुष्पाणि प्रकिरन्ति गन्धमनिशं चेतोहरं सर्वदा ।
चातुर्वर्ग-फलप्रदस्तरुरसौ, 'वेदार्थ-कल्पद्रुमः' ।। ४ ।।

वेदार्थ-कल्पद्रुम

विद्वद्वृन्द-रूपी मिलिन्दों से वन्दित कलेवर वाला, सद्वृत्त रूपी नवीन पुष्पों और कीर्त्ति के सुरभित मारुतों से विलसित, भावरूपी परागों और शिष्टाचार-निष्ठ-पावन-स्निग्धरसों से संभृत, अमृत-सदृश स्वादीय-रचना-मय निर्मल-वचन-फलों से परिपूर्ण यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' है ॥ १ ॥

अज्ञान के अपरिमित अन्धकार में, संसार-सागर में भ्रान्तिग्रस्त विद्वानों के विमर्शनरूपी जलपोतों के लिये आर्यों के सुगम्य-रम्य मार्ग को दिखलाता हुआ, दिव्य प्रकाश को विखेरने वाला, यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' एक दिव्य ज्योतिर्मय वेद-विभा-स्तम्भ-प्रदीप के सदृश है ॥ २ ॥

आनन्द की प्राप्ति ही जिसका फल है, सुन्दर-भाव ही जिसके पुष्प हैं शास्त्ररूपी पत्रों से शोभमान, शाखाओं (४ खण्ड) से मण्डित है, सुन्दर युक्तियों की छाया से आत्मतृप्ति को देने वाला है, श्रेष्ठ सिद्धान्तों की सुगन्धि से दिग्-दिगन्त को सुवासित करने वाला, प्रमाणरूपी स्कन्धों से सुदृढ़, तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका की भूमि में समुत्पन्न यह 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' है ॥ ३ ॥

जिसकी शाखायें निर्मल और सरल हैं, उत्तम पत्रों से जो आच्छादित हैं, जिसकी छाया अतिमनोहर और सुखदेने वाली, एवं योगियों से सेवित है। चित्त को हरने वाले जिसके पुष्प रात दिन सुगन्ध बखेरते हैं, वह चतुर्वर्ग (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के फल को देने वाला 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' है ॥ ४ ॥

प्राग्वाक्

अशेष-शेमुषी-जुषां सुविदुषां महर्षि-दयानन्द-सरस्वती-स्वामिनाम् ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिकामवलम्ब्य प्रत्यक्षर-खण्डन-प्रतिज्ञां विधाय श्रीकरपात्रमहोदयो हेत्वाभास-छल-प्रबल युक्तिभिः संवलितं वेदार्थ-पारिजातं नाम ग्रन्थमरचयत्।

स्थूल-कायोऽयं ग्रन्थः कृशतनो मे यदा दृग्गोचरतामायात्, नाभूत्तदा मानसे काऽपि स्फुरणा समाधानाय दीर्घकाल-रुजावदीर्ण-स्वास्थ्यस्य मम, परमदसीय-ग्रन्थ-प्रयुक्त-शब्दावली मामतितराम पीडयत्। काषायाम्बर-धरोऽपि दम्भ जृम्भा-विजृम्भितो लेखकश्चायं परमोपकारिणं सर्वकल्याण-कामना-साधनार्पित-जीवनं दयानन्दर्षि कृतघ्नतया मिथ्यारोपैः वैदिक-सिद्धान्त-दूषकैः कुतर्कैश्च, वेदार्थं कदर्थयन् प्रावर्तिष्ट इति दूयमानमानसोऽहं निरचिनुवं प्रत्युत्तरितुम्।

मन्येऽहं नेतरः अतः प्राक् 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिकायाः', मात्रा-वर्ण-पद-वाक्य-जातं 'तुच्छमविचारतम्' इति कथयितुमेवमयतिष्ट, यथा चाऽयं श्रीकरपात्रः प्रत्यजानात् 'कणेहत्य खण्ड्यते' इति।

पारिजातेऽस्मिन् कियत्यः खलु व्याकरण-न्याय-छन्दः शास्त्र-सिद्धान्तादेरशुद्धय इति को नाम गणयितुमेकसहृयः प्रवर्तेत क्षमेत वा। मम सहधर्मिणी मामुत्तरितुं कृत-संकल्पमाज्ञाय, परमस्वस्थ माकलय्य मां बहुशो वारयन्त्यपि सहयोगायाङ्गीकृतोद्योगा समभवत्। साऽपि कष्टमन्वभवत् यदिमे पौराणिक-विद्वांसः संस्कृत-माध्यमेन किञ्चिद्दुरूह शब्दार्थ-चय-चमत्कारेण असंस्कृतज्ञान् स्वभक्तान् चकितान् कृत्वा प्रवञ्चन-प्रवीणाः सदर्थध्वनिवद्वेद-वीणा-निनादमपि कदर्थैर्दूषयितुं प्रवर्तन्ते। अतः तत्प्रत्युपायपरोऽहं विदुषामनुचरः ऋषि-भाष्य-भूमिका-खण्डनस्यैतस्य खण्डनं विधित्सुरुद्यतोऽस्मि।

प्रवरमुनिकृते 'यं भाष्यभूमेः' समन्तात् ।
व्यधित हि करपात्री, खण्डनायासमत्र ।।
तमिह खलु विशुद्धानन्दनामाऽहमार्यः, ।
निगम-निशित-तर्कैः, सप्रमाणं छिनद्मि ।। १ ।।

गुरुणा प्रेरितोऽनन्त श्रीजुषा शास्त्रिणाप्यहम् ।
'निर्मलां' वृत्तिमाधाय' यथाशक्ति समादधे ।।

विदुषां वशंवदः
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्रः

प्राग्वाग्

अशेषमति-सम्पन्न महर्षि दयानन्द सरस्वती की 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के प्रत्यक्षर-खण्डन की प्रतिज्ञा करके श्री करपात्री महोदय ने हेत्वाभास-छल-प्रबल-युक्तियुक्त 'वेदार्थ-पारिजात' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। मुझ कृशतनु को, यह स्थूलकाय ग्रन्थ जब दृष्टिगोचर हुआ तब दीर्घकालीन रोगग्रस्त होने के कारण, इस पोथे का उत्तर देने के लिये मेरे मन में कोई उत्साह नहीं हुआ, परन्तु ऋषि दयानन्द-सरस्वती के लिये इस पोथे में जो अशिष्ट एवम् अभद्र शब्दावली प्रयुक्त की गई है, उसने मेरे अन्तर को अति व्यथित किया और ये गेरुआ वस्त्रधारी स्वपाण्डित्य-दम्भीलेखक, परोपकारी सर्वकल्याणकामना-साधना में जीवन समर्पित करने वाले ऋषिदयानन्द पर, कृतघ्नता से वैदिक-सिद्धान्तों के लाञ्छनस्वरूप मिथ्या आरोप लगाकर कुतर्कों से वेदार्थ को दूषित करने के लिये कटिबद्ध हैं यह देखकर मैंने उत्तर देने का निश्चय कर लिया।

मेरा विचार है कि अब तक कोई अन्य इतना असूयक द्वेषी विद्वान् नहीं हुआ जिसने ऋग्वेदादि-भाष्य,-भूमिका के वर्ण, पद, वाक्य सभी को 'तुच्छ' अविचारित' कहने का ऐसा दुःसाहस किया हो जैसे कि करपात्री जी ने तलछट खण्डन की प्रतिज्ञा की है।

इस पारिजात में कितनी ही व्याकरण न्याय, छन्दःशास्त्र और वैदिक सिद्धान्तों को समझने की महाभूलें की हैं उन सबकी गणना अकेले कर पाना अतिकठिन है। पहले मुझे मेरी (सहधर्मिणी) धर्म-पत्नी ने मुझे बहुत रोका फिर भी मुझे उत्तर देने के लिये दृढ़-संकल्प समझकर पूर्ण सहायता देना स्वीकृत कर लिया। उन्हें भी इस बात से बहुत कष्ट हुआ कि ये प्रवञ्चन-प्रवीण पौराणिक-विद्वान् संस्कृत को माध्यम बनाकर बुद्धिबाह्य शब्दार्थचयन के चमत्कार से संस्कृतान-

भिज्ञ अपने भक्तों को चकित करके सदर्थवान् वेद-वीणा-विनाद को दुष्टार्थों से दूषित करने पर तुले गये हैं।

आक्षेपों का समाधान करने के लिये कृतसंकल्प विद्वत्सेवक मैं, ऋग्वेदादिभाष्य भमिका के किये खण्डनों का खण्डन कर रहा हूं।

"मुनिवर दयानन्द-सरस्वती की भाष्यभूमिका का श्री करपात्री जी ने जो खण्डन का प्रयास किया है उसका वैदिक-तीक्ष्ण-तर्कों से सप्रमाण विशुद्धानन्द-नामक आर्य मैं छेदन कर रहा हूं।

अशेषश्रीविभूषित गुरुवर्य श्री पं० विहारीलाल जी शास्त्री ने मुझे समाधानार्थ प्रवृत्त किया है मैं 'निर्मलावृत्ति से यथाशक्ति समाधान प्रस्तुत कर रहा हूं।

विद्वानों का वशंवद
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र

प्रास्तावनिकम्

महदिदं प्रमोदावहं यदद्यतनविद्वांसोऽपि विमृशन्ति वेदवादान्, भृशं हृष्यति च मामकं चेतो यत् विपश्चिदपश्चिमा पौराणिका अपि विचिन्वन्ति रम्योक्ति-रहस्य-रत्नानि विश्वविश्रुताभ्यः श्रुतिभ्यः। मासकतिपयपूर्वं नो दृग्पथमवातरत् श्री करपात्र-स्वामि-विरचितो 'वेदार्थ-पारिजातो' नाम ग्रन्थः।

अस्माकं गीर्वाणवाणी-विलास-रसिकानां, संस्कृतमातृभाषाणा-मस्मद्बालानां चापि, सस्कृतज्ञान् प्रति महनीया श्रद्धा-प्रवणा भावनाऽनवरत मनसि समुद्दीप्ता जरीजागर्ति। सा निसर्गतश्चान्व-बध्नात् श्रीकरपात्रिमहोदयानपि। परमेतद्-ग्रन्थाध्ययने स्वामि-दयानन्दं प्रति धार्ष्ट्यादिशब्द-प्रयोगबाहुल्यम् अतितरामखेदयत् हृदयं नौ। भव्यभावुक-मानसत्वादस्य 'वेदार्थ कल्पद्रुम' लेखकस्य मानसमतितरा-मव्यथत; चिराय च चिन्तासन्तानसन्तप्ते चेतसि संजाते सान्तर्द्वन्द्वे च नास्य 'वेदार्थ-कल्पद्रुमस्य लेखन संकल्पद्रुमः फलेग्रहितामभजत्, परं श्रावं श्रावं धार्ष्ट्यादिशब्दावलीं बहुकाला-तीतिः परिणामे आज्यरुजाराज्य-व्याकोपाऽऽटोप-पीड्यमानमपि, मदीड्यचरणमेतं दयानन्दीय-मत-खण्डनं विधातुं परवन्तं व्यधात् समुद मिषच्च तद्हृदयोद्याने काचित् एतादृग्ग्रन्थरचनोत्कलिका कलिका।

श्री करपात्रिणा ऋग्वेदादि-भूमिकायाः कणेहत्य खण्डनप्रतिज्ञानं केवलं लेखक-दुर्मनोदर्शनम्। किञ्च सुर-गिराज्ञान-गर्वितस्यास्य संन्यासिनः दृग्वर्त्मनि नहि कश्चिद् गुणो दयानन्दर्षिभूमिकायाः अवातरदिति महान् विस्मयः। एवं-विधा रागद्वेष-दूषितवृत्तिः न शोभते देववाणीविदुषः सन्यासिनः।

एषा गुण-ग्रहण-परिपन्थिनी-प्रवृत्तिः हृदयेशय-शङ्कुरिव सुभृशं व्याकुलमकार्षीन्मम मानसम्।

अपि च, अत्यर्थं विस्मयावहमदो यत् कराल-कुटिल कालाक्रान्त-

चक्रे प्रगुणितरये आर्यसामाजिकाः पौराणिका वा सम्भूय ईश्वर, वेद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध बलि-दानादि-विषयेषु नाद्यावधि निर्णयन्तश्चायन्ते वैमत्यमवमत्यैकमत्य-परिणामम् । वेदेष्वैतिह्यभ्रमः, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, प्रकृति-जीवसत्ता-निषेध-परकाद्वैतवाद, इत्यादयो विषयाः अनल्पकाल-कलनेनाऽपि नाद्यावधि वादेन निर्विवादं निणयं प्रापिताः । अस्तु न भवेन्नाम निर्णयः, परं प्रेमपूर्वक-विषय-परिशीलन-प्रक्रिया केन प्रतिषिद्धा ? इति तु न परिज्ञायते ।

अस्तु तावद्, वेदेष्वितिवृत्तमस्ति न वेति पक्ष-द्वयमपि विचार्यते ऽधुना । वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमे तत्र वेदेषु पुरुरव-उर्वश्योः वसिष्ठ-विश्वामित्रयोः इन्द्रवृत्रयोः, इन्द्राऽहिल्ययाः कथांशाः उपाख्यानानि वा कथं संगच्छरन्, यतोहि नित्येषु खलु सत्सु वेदेषु अनित्यानां मर्त्यानामुपाख्यानानि न सम्भाव्येरन् परं विलसन्ति तत्र बहुत्र तादृक्कथांशाः इति चेदुच्यते—यानि कानिचिद् वृत्तान्तरूपेण भासमानानि वृत्तानि यत्रकुत्राप्युपलभ्यन्ते, तान्यर्थान्तरावगमतया, विभिन्नतात्त्पर्यवत्त्वेन चोन्नेयानि' इत्यवधेयं सुधीभिः । यदि च क्वचिद् वेदेषु संज्ञापरा वसिष्ठादय शब्दाः केषाञ्चिदनित्यमर्त्यानामवबोधका आपाततोऽवभासन्ते न तावता तेषामस्मदादिवत् इन्द्रवृत्रादीनामितिहास-परत्वमवबाध्यम्; अपितु तत्त्वज्ञानपरम् अर्थान्तरं मृग्यं तेषाम् ।

निरुक्तभाष्यकृद्भिः स्कन्द, दुर्गप्रभृतिभिरपि महाभागैरेष एवार्थः सिद्धान्तितः । तद्यथा—"एवमाख्यानरूपाणां मन्त्राणां यजमानेन नित्येषु पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या, तथा च वक्ष्यति 'तत्को नाम वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः" औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः । परमार्थे तु नित्यपक्ष एवेति सिद्धम्" (स्कन्दस्वामी निरुक्तभाष्ये) ।

एवं समूहावतां विदुषां नयेन न मनागपि तत्र तत्र स्थलेषु इतिवृत्त-विशेष-शङ्कावकाशलेशः । ऐतिहासिकास्तु वेदवाणीमशाश्वतिकी मृषि-प्रणीतां पौरुषेयीं च मन्यमानास्तत्रेतिहासमभिमन्यन्ते विवृण्वन्ति च ते तांस्तान् कथांशान् इतिवृत्तरूपेण ।

वेदेषु शन्तनु-देवापी-कथां प्रणिभाल्य सुदासाद्याख्यानानि पर्यालोच्य, गंगादिनदीनामानि संवीक्ष्य मत्स्यादि-प्रदेश-नामानि च नयनगोचरीकृत्य सायणोद्गीथ-वेंकट-माधव-भट्ट-भास्कर-महीधरादि भाष्यकाराः अपि आख्यानत्वेन प्रपञ्चितानुपदेशान् इतिहासरूपेण मन्यमानाः भ्रमजाले बम्भ्रमति। अथापि ते तत्रेतिहासमाचक्षते" इत्यादीः यास्कीयोक्तीरवलम्ब्य यास्काचार्यमपि इतिवृत्तवादिनं मन्यन्ते। परं वस्तुतस्तु यास्काचार्यः ऐतिहासिकपक्षावलम्बिना पक्षमुद्धृत्य तस्य खण्डनपराणि अर्थान्तराणि प्रविधाय, सुस्पष्टतया वेदेषु अनित्येतिहास-पक्षाभावं प्रमाणयति। एवमेव महर्षिदयानन्देनापि वेदेषु अनैतिहासिक-पक्ष एवेति सप्रमाणं प्रतिपादितम्। इयमभिनवेव भासमानाऽपि प्राक्तना दृक् वेदप्रतिष्ठायाः वर्धयित्री आस्थविरबालं चालं सम्मननाय सम्माननाय च।

प्रस्तावनाप्रस्तोतॄणामनवद्यहृद्य-प्रतिपद्यमान-विद्यावदातमतीनां श्रीस्वामिकरपात्र-सुयोग्य-शिष्य-मण्डलमण्डनानां, पाण्डित्याऽऽभासितसितयशसां महाविदुषामभिरामघटितशिष्य-भक्तिपट्टानां, पट्टाभिराम शास्त्रिणां, श्रीकरपात्रिसंदर्भगतागभीरविमर्श-पुरस्सरम् असमीचीनोऽर्वाचीनो वचनरचना-प्रपञ्चप्रहारोऽयं न रोचते शुचिरुचिभ्यः विपश्चिद्भ्यः यद् "ब्राह्मणग्रन्थानां सत्यपि संहिताव्याख्यानरूपत्वे यथा तदपौरुषेयत्वं प्रसिद्ध्यति तथा मनोहरः पन्थाः प्रदर्शितः" इति।

एवंविधगुरु-वचन-समर्थन-पक्षपात-प्रणिपातेन अविविच्य मक्षिका-स्थान-मक्षिका-निपातन-प्रवणैः विद्यासागरैस्तैः क्षीराम्भोधिरपि क्षाराम्भोधीकृतः।

तदिह किञ्चित् संक्षेपेण विविच्यते तत्त्व-चिन्तनमुक्ताश्चिन्वतां नीरक्षीर-विवेकवतां विद्वदवतंसानां हंसानां पुरस्तात्तथा हि:-के खलु ग्रन्था वेदपदाभिधेयाः इति जिज्ञासायां विनिवेद्यते यद्यप्यत्रविषये संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्येकोपनिषद्, कल्प-मीमांसासूत्रं, षडङ्गानि चेति मतपञ्चकं संभाव्यते, तथापि मन्त्रब्राह्मणयोरेव मुख्यत्वेन वेदाभिधेयत्वमिह पर्यालोच्यतेः तथाहि :—

संहितानां वेदत्व-विषये तु नाद्यावधि विवादोऽवर्तिष्ट विद्वत्सु,

केवलं ब्राह्मणग्रन्थानां वेदाभिधेयत्वसमर्थने 'मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनाम-
धेयम्' इतीदृशानि सूत्राणि समुपलभ्यन्तेऽतोऽजायत ब्राह्मणान
सम्बन्धे वेदत्व-विवादः ।

अत्रेदमवधेयं यत्-ब्राह्मणानां वेदत्वप्रतिपादकानि कल्पसूत्राणि-
पौरुषेयाणि, तानि च ब्राह्मणानां रचना-कालात् उत्तरकालवर्तीनि
ब्राह्मणेति तत्र नाम-ग्रहणात् । सूत्र-रचनाकालात् पूर्वं न कश्चिदपि
ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रतिपादयितुं अवतिष्टेति निश्चप्रचम् ।

अपि च ब्राह्मण-ग्रन्थेष्वपि समुपलभ्यमानो वेद-पद प्रयोगः केवलं
मन्त्राभिधायी इति प्रणिभालनीयं विद्वद्भिः, तथा हि

'तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त
ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्...स
ऋचैव होत्रमकरोद् यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्‌गीथम्' (ऐ. ब्रा. ५।५।७)

इहोपक्रमे वेदशब्द-प्रयोगोऽस्ते अपि च ऋग्यजुः साम शब्दानां
प्रयोगोऽमीषामेव ऋगादीनां संहितानामेव वेदत्वं साधयति न
ब्राह्मणानाम् ।

गीर्वाण-वाणीपारावारपारीण महानाचार्यशङ्करोऽपि 'एवं वा
अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वा-
ङ्गिरस इतिहासः पुराणम्...इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये 'किन्त-
न्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यतेः-यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वा-
ङ्गिरसः चतुर्विधमन्त्रजातमिति' चतुर्विधमेव वेदत्वं प्रत्यपादयत् ।
याज्ञिकास्तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति यज्ञ-प्रकरणे ब्राह्मणाना-
मपि वेदत्वममन्यन्त तदविकलविधिप्रतिपादनात् । एतत्परिपुष्टौ
'तद्याः प्राच्यो नद्यो वहन्ति याश्च दक्षिणस्यो याश्च प्रतीच्यः समुद्रम-
भिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं, समुद्र इत्याचक्षते...एवमिमे सर्वे
वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः, यज्ञमभिपद्यमानानां
छिद्यते नामधेयं, यज्ञ इत्याचक्षते' याज्ञिकानामेषा परिभाषेति
ध्वन्यते । अपि चेह 'सर्वे वेदा सब्राह्मणाः' इति वचनेन ब्राह्मणैः सहिता
वेदा इति (विग्रहात्) ब्राह्मणानां गौणतैव सिद्धा, सशिष्यो
गुरुरितिवत् ।

वस्तुतस्तु कृष्णयजुषि ब्राह्मणानां पाठाः अपि मिश्रिताः, अतः परिज्ञान-काठिन्य-निवारणाय कृष्णयजुर्वेदीयाः याज्ञिकाः अनुष्ठीयमानकर्म-स्मारकत्वं मन्त्रत्वं विनियोजकं च ब्राह्मणमिति पृथक्-पृथक् लक्षणं व्यधुः। श्रीमता पट्टाभिरामशास्त्रिणाऽपि ब्राह्मणानां व्याख्यानरूपत्वं प्रत्यपादि स्वभूमिकायाम् (वे. पा. पृ. ७ पं २१)।

अपि च न वेदव्याख्यानं (ब्राह्मणम्) वेदो भवितुमर्हति इति समर्थयन् सनातनधर्मि-शेखरायमाणो सामश्रमी ऐतरेयालोचने व्यलिखत् "सायणाचार्येण स्वकण्ठरवेणैव अस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वमभाषि। तथा हि तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य-भूमिकायाम् "ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाता इति।" तथा च मीमांसायामपि "अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः (२।१।३४)।" अनाम्नातेषूहप्रवरनामधेयेषु न मन्त्रत्वं, न च मन्त्रसम्बन्धेनैव ब्राह्मणानामपि मन्त्रत्वं निगदितुं शक्यते, ईश्वरोक्तत्वाभावात् पौरुषेयत्वाच्च।"

अपि च एतत्प्रसंगे हरिवंशपुराणे

ऋचो यजूंषि सामानि, छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिलाः वेदा सरहस्याः सविस्तराः।

गोपथ ब्राह्मणेऽपि—"चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेद" इति, उतापि महाभारते शान्तिपर्वणि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत, वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरता, यजुषोऽथर्वणस्तथा॥ (शां. प. १२५)

अथापि सर्वानुक्रमण्याम्:—

विनियोक्तव्य-रूपश्च, त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुः सामरूपेण, मन्त्रो वेद-चतुष्टये।

तदेवं विविधैः शास्त्रीयैः प्रमाणैः 'ब्राह्मणवर्जं मन्त्राणामेव वेदत्वमितिप्रमाणिते सत्यपि श्रीमता करपात्रिणा ऽथापि तच्छिष्यश्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिणा ब्राह्मणानामपि वेदत्वकथनं समर्थनं वा अविमृष्टमेव सर्वथा।

चरमश्चापि चिन्त्यः प्रश्नः ईश्वर-विषयकः। तदत्र जायते शंका किमेका ईश्वरस्यैव सत्ता उत प्रकृति-जीवात्मनोरपि? तत्र संक्षेपेणा-

न्वीक्ष्यते तावत्:-यदा वयं शास्त्राण्यनुशीलयामस्तदा अस्माभिः ईश्वर-जीव प्रकृतय स्त्रयोऽनाद्यनन्ताः पदार्थाः प्रणिभाल्यन्ते। अत्र केचिद्-मिथोविरोधं दर्शन्ति, परं परयमार्थतो न क्वापि खलु दर्शनकारेषु पारस्परिकविरोधः प्रत्युत पारस्परिक पूर्ति-परका एवेमे इति सुविशदं षड्दर्शनसमुच्चये द्रष्टव्यम्।

दर्शनेषु पारस्परिक-विरोधदर्शिनस्तावत् श्रीमच्छङ्कराचार्य-संन्यासिनः एव प्रावल्येन दृश्यन्ते यैः प्रधानात्मप्रतिपादकस्य सांख्याचार्यस्य खण्डनं व्यधीयत। किं वहुना, तैः महर्षि-कपिलाचार्याणामस्तित्वमेव अप्रमाणितम् तथा हिः—वेदान्तदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्य प्रथमसूत्रे 'स्मृत्यनवकाश-दोष-प्रसङ्ग इति चेन्न, 'अन्य स्मृत्यनवकाश-दोष प्रसङ्गात्' या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तथा श्रुति-विरुद्धमपि कापिलमतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगर-पुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनम्नः स्मरणात्' (शां० भा०)

तथा च तृतीय सूत्रभाष्ये 'द्वैतिनो हिते सांख्य योगाश्च नात्मैकत्व दर्शिनः' इत्येवं श्रुति-स्मृति-प्रतिपाद्य-सर्वज्ञकल्प-कपिलदेवो वासुदेवांश-रूपेणावर्तीर्णः कश्चिदन्य एवासीत् इत्युक्तम्।"

यद्यपि श्रीमद्भागवतानुसारमपि

"अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां, गन्ता ते कीर्तिवर्धनः।

इत्यादिवचनैरयमेव सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिलः इति सिध्यति, तथाऽपि कस्य खलु सामर्थ्यं यो महाप्रज्ञं शङ्करस्वामिनम् एवं प्रवचनात् अवरुणद्धु।

यद्यपि अन्ते हतप्रभेण भगवता शङ्करेणापि कथितमेव यत् 'अस्मत् कृते व्याख्याने जना न विश्वस्युः वहुमानात् स्मृतिप्रणेतृषु कपिलादिषु" तथापि सः द्वैतवादिनं कपिलम् अवैदिकं परमाणुवादिनं च कणादं वैनाशिकममन्यत। शङ्करमतेन तु यद्यपि पञ्चापि दर्शनकाराः नानात्म-वादिनोऽवैदिका निर्णीयन्ते शिष्टश्चविशिष्टो वेदान्तप्रणेता व्यासदेवश्च योगसूत्रभाष्ये नानाचिदात्म-सिद्धान्तमेव प्रत्यपादयत्। अनयोः कतरो नु मन्येत, वैदिकोऽवैदिको वेति ? तथाप्यस्मान् समानपि आश्चर्या-

म्भोनिधौ ब्रुडितान् विधत्ते लोके एषा, "षड्दर्शनस्थापनाचार्यः जगद्-गुरुश्रीमच्छङ्कराचार्य इति पवित्र-विशेषणात्मिका ख्यातिः।"

वस्तुतस्तु भगवतां श्रद्धेयशङ्कराचार्याणामेषा मिथ्या परदोषोद्-भावनरूपा, षड्दर्शनमहाप्रसाद-प्रध्वंस-प्रयासपराऽप्रशस्तिकरी प्रवृत्तिरगरीयसी।

अथ च नहि दुःखादिफलभोक्ता परमेश्वरः, परं जीवात्मा एव। न च प्रकृतिं विना अपरिणामिनः परमात्मनः कल्पितोपादानरूपत्वात् जगदुत्पत्तिः शास्त्र-सम्मता, परं स्वामिशङ्कराचार्यस्तु स्वमनीषिकया-ऽस्मिन्विषये सांख्यादि-दर्शन-विरुद्धं पृथगेव स्वकुशरां पचति।

असंदिग्धमिदं यदिमं पन्थानमद्वैतवाद-वन्ध-सिद्धान्तेन अतितरां दुराराध्यं जटिलं च व्यधित भगवान् शङ्करः। जाटिल्यपटलमटलमस्य भूयो मायावादमवष्टभ्य वरीवर्ति। माया एवास्य अद्वैतवादस्य आधारभित्तिः। मायारूपावबोधमन्तरेणाद्वैतवादो बुद्धि-विषयीकर्त्तु-मतीव दुष्करः। माया शब्दोऽयं यद्यपि न शाङ्करोपज्ञः, ततः प्रागपि तदुपलब्धेः, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" मा मर्त्यस्य मायिनः' इत्यादिश्रुतिषु, तथापि मायास्वरूपं तु तदुपज्ञमेवेति निर्विशङ्कम्।

यद्यपि मायाशब्दो वैदिक-साहित्ये प्रकृतिवचनः, "मायां तु प्रकृतिं विद्धि, मायिनं तु महेश्वरमिति वचनात्, परन्तु शाङ्करनये सदसद्-विलक्षणा काप्यनिर्वचनीया ब्रह्मणः शक्तिः माया। तथा हि तदुक्तिः—

'सत्यप्यसत्यप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिकाऽपि नो,
मायाऽद्भुताऽनिर्वचनीय-रूपा॥

एषैव खलु निखिलं जगत् प्रसूते। ब्रह्माश्रयन्ती चापि तदावरणं करोति, परं नैवं-विधो दृष्टान्तो लोके समुपलभ्यते। वास्तवं चेदं यत् प्रकृतिर्जीवः परमेश्वरश्चेति त्रयोऽप्यजन्मानः, त्रयोऽपि सर्वजगत् कारणं नैषां किमप्यन्यत्कारणमिति। तथा च श्रुतिः—

अजामेकां लोहित-कृष्ण-शुक्लां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
(श्वे० अ० ४।मं० ५)

अनादिर्जीवात्मा प्रकृतिमनादिं परिभुञ्जानस्तत्र सज्जति। परमेश्वरस्तु तामनश्नन् नावलिप्यते। एकमेव ब्रह्मनादं घोषयन्तश्चेमे नवीनाः मायावादिनो नेदं विदन्ति यत्ते जडाऽर्चनपरा अपि प्रत्यक्ष-सिद्धां जडप्रकृतिं कथमपलपितुं शक्ष्यन्ते। स्वगतशून्येऽपि ब्रह्मणि सजातीय-विजातीय-भेदाऽभावो न स्थातुं युक्तः आत्मप्रकृत्योः सत्त्वात्।

एतत्सर्वं निभाल्य स्वामि-दयानन्दः सरस्वती समस्तशास्त्रप्रतिष्ठां पुनः स्थापयितुं वेदशास्त्र-सम्मतं त्रैतवादं वेदेष्वितिहासाभावादि-विषयांश्च सम्यग् विविच्य सिद्धान्तितवानिति सुधियो विदन्ति।

श्री करपात्रिमहोदयास्तु सपरिकरा अपि न्यायादि-शास्त्राणां मिथोविरोधमुदीरयन्त एव ग्रन्थमिमं प्राणयन्।

अस्मिन् वेदार्थ-कल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेदार्थपारिजातलेखकस्य श्रीकरपात्रस्य अपमानाय न कामपि अपशब्दावलीं प्रयुञ्जानोऽस्ति-विद्वान् रचयिता, तथापि यत्र तत्र महर्षि-दयानन्दं प्रति प्रयुक्ताऽभद्र-पदावली समुद्वेजयन्तीव एनं लेखकं तदुत्तरे किञ्चिद् दुःश्रववचांसि प्रयोक्तुं परवशमकरोत्। समयाऽभावात् 'कल्पद्रुमे' ऽस्मिन् वेदोत्पत्ति-नित्यत्व-वेद-विषय-विचारचर्चाऽऽक्षेपनिरास एव व्यधायि। शेषोऽशेषो हि कालेन समाध्यास्यते।

अहमिह स्वलघुभगिन्याः पुराणेतिहास-वेदाचार्यायाः सावित्री-देव्याः आत्मजं स्वभागिनेयं चि. कवि क्रतु शर्माणं मूलप्रतिलिपि-सज्जी-करणनिरतं, प्रमाणान्वेषणसाहाय्यकरं सूनुं चि० मेधाव्रतं स्वपुत्रीं मञ्जुलां च संस्मरामि साशीराशिभृद्धृदयाञ्जलिं विभ्रती अभि-स्नेहभावेन यदेते अपि मामकाः जना महोपकारिणः वेदोद्धारिणः महर्षेदयानन्दस्य सुपरीक्षित-वर्त्मनि वर्त्तमानाः तेषां सत्य-सिद्धान्तानां प्रचारं प्रसारं च कुर्युरिति कामयमाना विरमाम्यतिपल्लवितेन।

निवेदिका
निर्मला मिश्रा

प्रस्तावना

यह बड़े हर्ष की बात है कि आजकल के विद्वान् भी वेदों पर विचार कर रहे हैं, मेरा हृदय और भी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है कि पौराणिक विद्वान् भी विश्वविश्रुत श्रुतियों से सूक्ति रत्नों के चयन में तत्पर हैं।

कुछ मास पूर्व श्री करपात्री जी द्वारा विरचित 'वेदार्थ-पारिजात' ग्रन्थ हम लोगों को देखने को मिला। देवभाषा संस्कृत के रसिक हम और संस्कृतमातृभाषी हमारे बच्चों के हृदय में भी संस्कृत-विद्वानों के प्रति निरन्तर श्रद्धा-भावना विद्यमान रहती है। यही भावना श्री करपात्री जी महोदय के प्रति भी बहुत समय तक अनुबद्ध रही, परन्तु इनके इस ग्रन्थ के पढ़ने पर, परमोपकारी महान् वेद विद्वान् महर्षि दयानन्द के प्रति इनके द्वारा प्रयुक्त धाष्ट्र्य (धृष्टता) आदि अपशब्दों के बाहुल्य से हमारे हृदयों को अतीव खेद की अनुभूति हुई। विशेषरूप से 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के भावुक-हृदय लेखक का मन तो अत्यन्त व्यथित हुआ।

बहुत काल तक चिन्ताग्रस्तअन्तर्द्वन्द्व पूर्ण इनके मन में इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम के लेखन का संकल्प कल्पद्रुम पुष्पित और फलित न हो सका; परन्तु धाष्ट्र्यादि शब्दावली को सुन सुनकर बहुकाला-त्यय ने रोग से पीडित होने पर भी इन लेखक को दयानन्दीय-मत-खण्डन के खण्डनहेतु कृतसंकल्प बना ही दिया और इस कार्य के लिए इनके हृदयोद्यान में ग्रन्थरचने की उत्कंठा रूपी कलिका खिल उठी।

कणेहत्य खण्ड्यते' ऐसी प्रतिज्ञा करके ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में करपात्री जी को कोई एक भी गुण दृष्टिगोचर नहीं हुआ यह महान् आश्चर्य है। यह प्रवृत्ति देववाणी के संन्यासी को शोभा नहीं देती। ऐसी रागद्वेषदूषितवृत्ति विद्वानों की गुण-ग्रहण विरोधिनी

प्रवृत्ति है, इसने हृदय-शल्य बनकर मेरे मन को अत्यन्त व्याकुल कर दिया।

अतिविस्मय का विषय है कि अत्यन्त वेगशील कराल कुटिल कालचक्र प्रवर्त्तन में भी आर्यसामाजिक और पौराणिक विद्वान्, ईश्वर, वेद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, बलि दान आदि विषयों पर आज तक भी मिलकर निर्णय नहीं करते। वेदों में इतिहास, मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा, प्रकृति-जीवसत्ता निषेधपरक अद्वैतवाद इत्यादि विषय बहुत काल से विचार करने पर भी विवाद से निर्विवाद निर्णीत नहीं हुये। अच्छा, भले ही निर्णय न हो परन्तु प्रेमपूर्वक विषय परिशीलन की प्रक्रिया में विद्वानों को क्या बाधा है ? यह मेरी समझ में नहीं आता।

अच्छा तो अब वेदों में इतिहास है या नहीं, दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है। वेदों का नित्यत्वस्वीकार करने पर पुरुरवा-उर्वशी, वसिष्ठ-विश्वामित्र, इन्द्र-वृत्र, इन्द्र और अहिल्या के कथांश या उपाख्यान कैसे संगत हो सकते हैं ? क्योंकि वेदों के नित्य होने पर अनित्य प्राणियों के उपाख्यान उनमें कैसे संभावित हो सकते हैं ? यदि हैं तो उनका समाधान प्रस्तुत है—जो वृत्तान्तरूप से आभा-समान कथानक हैं वे अर्थान्तर के गमक (बोधक) होने के कारण तथा विभिन्नतात्पर्ययुक्त होने के कारण समाधान के योग्य हैं। यदि कहीं वेदों में वसिष्ठ आदि शब्द किन्हो अनित्य मनुष्यों के अवबोधक बाह्य रूप से प्रतीत भी होते हैं तो केवल इतने भर से हमारे समान इन्द्र, वृत्र आदि का भी इतिहास-परत्व नहीं समझना चाहिए अपितु तत्त्व-ज्ञान-परक उनका अर्थान्तर ढूंढना चाहिए।

निरुक्त भाष्यकार स्कन्द-दुर्ग प्रभृति आचार्यों ने भी यही पक्ष सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है जैसे कि "इस प्रकार आख्यानरूपक मन्त्रों की यजमान के द्वारा नित्यपदार्थों में योजना करनी चाहिए जैसा कि कहा भी जाएगा कि—यहाँ वृत्र कौन है ? वृत्र मेघ है ऐसा निरुक्त पक्ष-धर मानते हैं। मन्त्रों में आख्यान औपचारिक है, परमार्थरूप में नित्य पक्ष ही सिद्ध है"। (स्कन्दस्वामी मत)

इस प्रकार सम्यग् ऊहा करने वाले विद्वानों की नीति से वेदों में

इतिहास मानने की शंका के लिए अवकाश का लेशमात्र भी नहीं है। ऐतिहासिक (इतिहास पक्षधर) तो वेदवाणी को अनित्य, ऋषि प्रणीत और पुरुषकृत मानते हुए, उन कथांशों को इतिहास मानते हैं। वेदों में शन्तनु और देवापी कथा को देखकर, सुदासादि आख्यानों का पर्यालोचन करके, गंगादि नदियों और मत्स्यादि प्रदेशों के नामों को देखकर, सायण, उद्गीथ, वेंकट, माधव, भट्ट, भास्कर, महीधरादि वेदभाष्यकार भी आख्यान रूप प्रपंचों को ही उपदेश रूप में स्वीकार कर इतिहास पक्ष को मानते हुए भ्रमजाल में चक्कर काट रहे हैं, और वे निरुक्तकार के 'तत्रेतिहासमाचक्षते' इत्यादि वचनों का आश्रय लेकर यास्काचार्य को भी इतिहासवादी मानते हैं, परन्तु भगवान् यास्क तो ऐतिहासिक पक्षावलम्बियों का पक्ष उद्धृत कर, उसका खण्डन परक-अर्थान्तर करके वेदों में अनित्य-इतिहास के अभाव को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं।

इसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने भी वेदों में अनैतिहासिक पक्ष को ही माना है। ऋषि दयानन्द का नवीन लगने वाला प्राचीनतम दृष्टि-कोण वेद की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला आबालवृद्ध को सम्माननीय और मननीय है।

प्रस्तावना के लिखने वाले, अनिन्द्य और सुन्दर प्राप्त-विद्या के द्वारा स्वामी दयनान्द के मत का खण्डन करने वाले, श्री करपात्री जी की सुयोग्य शिष्य मंडली के मंडन-रूप, भक्ति के अभिराम पट्ट से अलंकृत श्री पट्टाभिराम जी शास्त्री का, श्री करपात्री जी के सन्दर्भ में अगम्भीर विमर्श-पूर्वक, यह वचन रचना-प्रहार, परिष्कृत-रुचि वाले विद्वानों को अच्छा नहीं लगता जैसा कि उन्होंने कहा है— "ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद व्याख्यान रूप होते हुए भी, अपौरुषेयत्व होने का मनोहर मार्ग (श्री करपात्री जी ने) दर्शाया है।" ऐसे गुरुवचनों के समर्थन रूप पक्षपात में गिरने से मक्खी पर मक्खी मारने की प्रवृत्ति में निपुण विद्यासागर जी! आपने क्षीर सागर को भी क्षार सागर बना दिया।

यहां संक्षेप से कुछ विवेचन, तत्त्व-चिन्तन-मुक्ताओं को चुनने वाले, नीरक्षीर-विवेकी विद्वन्मरालों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। जैसे कि—

वेद ग्रन्थ कौन से हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान में निवेदन है कि—यद्यपि इस विषय में यह कहा जा सकता है कि—१. संहिता २. ब्राह्मण, ३. आरण्यकोपनिषद् ४. कल्पसूत्र मीमांसा सूत्र ५. छः अंग ये पांचों वेद हैं फिर भी मुख्य रूप से यही कहा जाता है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का ही वेद नाम है इसलिए इसी विषय की पर्यालोचना की जाती है:—सर्वप्रथम हमें यह जानना चाहिए कि अर्थ के गौण और मुख्य दृष्टिकोण से—शब्दों का पारिभाषित अर्थ मुख्य और साहचर्यादि निमित्तों से विशेषार्थक और पारिभाषित अर्थ गौण होता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसके पश्चात् हमें यह ध्यान देना चाहिए कि—संहिताओं के वेद मानने में आज तक विद्वानों में कोई विवाद नहीं उठा। केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद मानने में, तत्समथक कुछ सूत्रों के होने से विवाद उत्पन्न हुआ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि—ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व प्रतिपादक सूत्र-ग्रन्थ पुरुषों के बनाए हुए हैं और ये सूत्र-ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल से उत्तरकालवर्ती हैं क्योंकि उनमें ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम आया है। सूत्र-ग्रन्थों की रचना से पहले काल में कोई भी ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद नहीं मानता था यह निश्चित है यदि मानता होता तो सूत्र-काल से पहले के किसी न किसी ग्रन्थ में उसका वर्णन होता।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलभ्यमान वेद पद प्रयोग केवल मन्त्राभिधायी है यह बात विद्वानों को, हृदयंगम करना चाहिये जैसे कि—'तानि ज्योतींषि' 'स ऋचैव' इस ब्राह्मण ग्रन्थ प्रकरण में, उपक्रम और उपसंहार में ऋग्वेदादि वेदों को ही वेदाभिधेय माना है ब्राह्मण-ग्रन्थों को नहीं।

संस्कृत के महान् आचार्य शंकर ने भी 'एवं वा अरेऽस्य' इस बृहदारण्यकोपनिषद् गत श्रुति के भाष्य में ऋग्यजुः साम अथर्व का ही वेदत्व माना है याज्ञिकों ने यज्ञप्रकरण में ब्राह्मण ग्रन्थों का भी यज्ञ अविकल विधि प्रतिपादन के कारण सम्मानार्थ, वेदत्व मान लिया है। इसकी परिपुष्टि में 'तद्या प्राच्याः नद्यः' यह कथन प्रमाण है यह विशेष परिभाषा याज्ञिकों की है। वेदा सब्राह्मणाः' इस कथन में

'ब्राह्मण सहित वेद' इस अर्थ से 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार ब्राह्मणों की अप्रधानता द्योतित होती है जैसे 'सशिष्यो गुरुः' अर्थात् शिष्यसहित गुरु' इस कथन में शिष्य की अप्रधानता प्रकट होती है।

वास्तविकता यह है कि कृष्णयजुर्वेद में मूलमंत्रों के साथ-साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों के भी पाठ मिला दिए हैं अतः पृथक्-पृथक् पहचानने में कठिनाई के निवारण के लिए, 'अनुष्ठीयमान कर्मस्मारक मंत्र होता है और उसका विनियोजक ब्राह्मण होता है' यह लक्षण याज्ञिकों ने बना दिया।

श्रीमान् पट्टाभिरामशास्त्री ने भी ब्राह्मण-ग्रन्थों को मन्त्रों का व्याख्यानरूप ही माना है।

'वेद के व्याख्यान रूप ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते' इस पक्ष का समर्थन करते हुये सनातन-धर्मियों के शिरोमणि वेदों में परिश्रम करने वाले सामश्री जी ने 'ऐतरेयालोचन' ग्रन्थ में लिखा है—"सायणाचार्य ने स्वकण्ठ से ही ब्राह्मणों को मन्त्रों का व्याख्यानरूप माना है जैसे कि —तैत्तिरीय संहिताभाष्य की भूमिका में ब्राह्मणों के, मन्त्रव्याख्यान रूप होने से, आदि में मंत्र ही बने" इत्यादि। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम् इत्यादि (२।१।३४) सूत्र में महर्षि जैमिनी ने ऊह, प्रवर नामधेयों में मन्त्रत्व नहीं माना और कहा है कि—मन्त्रों से सम्बन्ध रखने मात्र से ब्राह्मणों का मन्त्रत्व नहीं माना जा सकता। ईश्वर द्वारा उक्त न होने से, तथा पुरुषों के द्वारा रचित होने से ब्राह्मण ग्रन्थों का मन्त्रत्व नहीं कहा जा सकता।

आपके प्रमाणीभूत हरिवंशपुराण में भी 'ऋचो यजूंषि इत्यादि श्लोक में ऋगादि चारों वेदों का स्पष्ट वेदत्व कहा है ब्राह्मण ग्रंन्थों का नहीं।

इसी प्रकार स्वयं गोपथ-ब्राह्मण में भी 'चत्वारो वा इमे वेदा' तथा महाभारत में 'त्रयीविद्यामित्यादि श्लोक में और 'विनियोक्तव्य-रूपश्च मन्त्रो वेद चतुष्टये' श्लोक द्वारा वैदिक ग्रन्थ सर्वानुक्रमणी में भी विविध प्रकार के ऐसे शास्त्रीय प्रमाण हैं जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों को छोड़ कर केवल मन्त्र भाग को ही वेद कहा गया है।

इन सब सचाइयों के होने पर भी श्रीयुत करपात्री जी द्वारा अथवा उनके सुयोग्य शिष्यु श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व कथन या समर्थन सर्वथा अविचारित ही है।

अन्तिम विचारणीय प्रश्न ईश्वर विषयक है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या ईश्वर की ही सत्ता है, अथवा प्रकृति और जीवात्मा की भी ? इस विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है।

जब हम शास्त्रों का अनुशीलन करते हैं तब ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीन अनादि और अनन्त पदार्थ दीखते हैं इस विषय में कुछ विद्वान् दर्शनों में परस्पर विरोध दिखाते हैं परन्तु वास्तव में दर्शनकारों में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है प्रत्युत वे परस्पर पूर्ति परक ही हैं यह विषय 'षट्दर्शन-समन्वय' में देखना चाहिए।

दर्शनों में परस्पर-विरोध दिखाने वालों में श्रीमान् शंकराचार्य ही प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने प्रकृति और प्रधान आत्मा के प्रतिपादक सांख्याचार्य कपिल का खण्डन किया है और तो और उन्होंने सांख्य दर्शन के प्रणता आचार्य कपिल के अस्तित्व से ही नकार कर दिया है। जैसा कि उन्होंने वेदान्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में—'स्मृत्यनवकाशदोष' इत्यादि प्रसंग में कहा है कि ये दोनों, श्रुतिपाद्य सर्वज्ञकल्प कपिल (वासुदेवांश) कोई अन्य नहीं थे। तथा द्वैतवादी सांख्य और योगशास्त्र आत्मा के एकत्व दर्शी नहीं है, ऐसा तृतीय सूत्र के भाष्य में कहा है।

यद्यपि श्रीमद्भागवत के अनुसार भी सांख्य प्रणेता यही कपिल सिद्ध होते हैं, तथापि किसकी सामर्थ्य है कि जो महाप्रज्ञ आचार्य शंकर को ऐसा कहने से रोके। अन्त में भगवान् शंकर को हतप्रभ होकर कहना पड़ा, हमारे व्याख्यान में स्मृतियों के प्रणेता सम्मानित कपिलादि के रहते हुये कौन जन विश्वास करेंगे, फिर भी उन्होंने द्वैतवादी कपिल को अवैदिक और परमाणुवादी कणाद को वनाशिक कह ही डाला। शंकर मत में तो कपिल आदि पाँचा दर्शनकारों को नानात्मवादी होने से अवैदिक कहा है। परन्तु छठे दर्शनकार व्यास ने योग सूत्र भाष्य में नानात्मवाद का सिद्धान्त स्पष्टतया प्रतिपादित किया है।

अब पाठक गण आप ही विचार करें कि भगवान् वासुदेव को अवैदिक कहा जाय या भगवान् शंकर को ? ऐसी विषम अवस्था में श्रीमान् शंकराचार्य को प्रदत्त यह पवित्र लोक प्रख्याति कि वे षड्दर्शन स्थापनाचार्य थे हम सबको आश्चर्य के सागर में डुबो देती है ।

निष्कर्ष यह है कि सुख दुःखादि फल भोक्ता परमेश्वर तो हो नहीं सकता, केवल जीवात्मा ही फल भोक्ता है । प्रकृति के बिना अपरिणामी परमात्मा को उपादान कारण मानकर जगदुत्पत्ति मानना अशास्त्रीय है । श्री स्वामी शंकराचार्य तो सांख्यादि दर्शन-विरुद्ध अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी पृथक् ही पका रहे हैं ।[1]

यहाँ यह लिखना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस मार्ग को भगवान् शंकर ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त में बंध कर अत्यन्त दुराध्य और जटिल बना दिया । इस का अटल-जटिलता-पटल मायावाद से और भी दृढ़तर हो गया हैं, मायावाद ही ।

अद्वैत की आधार-भूमि है । यद्यपि माया शब्द 'इन्द्रो मायाभिः' 'मा मर्त्यस्य मायिनः' इत्यादि श्रुतियों में उपलब्ध है, तथापि माया की नवीन परिभाषा तो आचार्य शंकर की अपनी देन है । वैदिक साहित्य में माया शब्द प्रकृति वाचक है जैसे कि कहा है 'मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि । परन्तु भगवान शंकर के मत में माया सद् असद् विलक्षण ब्रह्म की कोई अनिर्वचनीय शक्ति है देखिये :—

'है भी, नहीं भी है और उभयात्मिका भी नहीं है, साङ्ग भी है अङ्ग भी है और उभयात्मिका भी नहीं है, ऐसी है यह माया जो अद्भुत और अनिर्वचनीय है ।'

यही निखिल जगत् का प्रसव करती है पर ब्रह्माश्रित रहकर भी ब्रह्म का आवरण कर लेती है । परन्तु लोक में ऐसा कोई दृटान्त उपलब्ध नहीं होता ।

---

१. इस शब्दावली के लिखने का मेरा साहस क्षम्य भी है क्योंकि मेरा विश्वास है कि महाप्रज्ञ शंकर को यह मत बौद्धों के मत के समुन्मूलनार्थं कर्म ही प्रतिपादित करना पड़ा था ।

वास्तविकता यह है कि प्रकृति जीव तथा ईश्वर ये तीन पदार्थ अनादि अजन्मा तथा दृश्यमान सर्वजगत् के कारण हैं। इनका कोई अन्य कारण नहीं। जैसे कि श्रुति है :—

'अजमामेकाम्' अर्थात अनादि जीवात्मा अनादि प्रकृति का भोग करता हुआ उसमें सक्त होता है। परन्तु परमेश्वर तो प्रकृति को न भोगता हुआ अनालिप्त रहता है।

एक ही ब्रह्म की घोषणा करते हुए नवीन मायावादी ये नहीं जानते हैं कि वे जड़पूजा में रत रहते हुए भी किस प्रकार प्रत्यक्ष-सिद्ध जड़ प्रकृति का अपलाप कर सकेंगे। स्वगत भेद शून्य ब्रह्म में सजातीय विजातीय भेद शून्यता (आत्मा सजातीय और प्रकृति विजातीय) की सत्ता होने से नहीं ठहर सकती, पर सजातीय और विजातीय अन्य ब्रह्म कोई नहीं, इतना सब कुछ विचार करके महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समस्त शास्त्रों की प्रतिष्ठा के पुनः स्थापनार्थ वेद-सम्मत त्रैतवाद और वेदों में आख्यानों के इतिहास रूप में अभाव आदि विषयों का ततत् स्थानों में सम्यक् विवेचन किया है, यह विद्वानों को सुविदित है।

बद्धपरिकर श्री स्वामी करपात्री जी ने न्यायादि दर्शनों में पारस्परिक-विरोध का प्रतिपादन करते हुए वेदार्थ-पारिजात ग्रन्थ को लिखा है।

इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'वेदार्थ-पारिजात' के लेखक के अपमान के उद्देश्य से विद्वान प्रणेता ने कुछ भी नहीं लिखा है। तथापि महर्षि दयानन्द के प्रति करपात्री जी की अभद्रशब्दावली ने लेखक के मन को उद्विग्न कर कठोर पद प्रयोग करने के लिए यत्र तत्र विवश कर दिया है।

सम्प्रति समयाभाव से इस 'कल्पद्रुम' में वेद-संज्ञा, वेद नित्यत्व, वेद-विषय विचार प्रकरणों पर ही किए गए आक्षेपों का संक्षेप में निराकरण किया है। भविष्य में यथा-सम्भव अशेष समाधान प्रस्तुत किया जाएगा।

अन्त में, मैं यहाँ अपनी छोटी बहिन पुराणेतिहास वेदाचार्या सावित्रीदेवी के आत्मज अपने भागिनेय पाण्डलिपि तैयार करने में निरत चि० कविक्रतु शर्मा तथा प्रमाणान्वेषण में सहायक स्वपुत्र आचार्य चिरं. मेधाव्रत शर्मा तथा स्वपुत्री आचार्य मंजुला को अमित स्नेह भावभरित शुभाशि राशि-संकलित मन से, इस कामना से स्मरण कर रही हूं कि ये सभी, महान् परोपकारी वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती के सुपरीक्षित मार्ग पर स्वयं चलकर उनके सत्य-सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करेंगे।

निवेदयित्री
निर्मला 'मिश्रा'

FOREWORD

The recent discoveries in the Indological branch of the learning have opend floodgates of deeper research everywhere, particularly in the western words. Indeed, it is vary exhilerating that even in the present era, scholars are busy in the contemplation of the Vedas. More heartening is the fact that the traditional pundits are also sincerely busy in the gross studies fairly with a critical mind and thereby collcting, and picking up from the most ancient, rather eternal, treasure-house of the Vedas. They are publishing the rational and appropriate interpretations of the Vedic literature; which are indeed reliable and relevant, both. It is an irrefutable fact that indeed the Vedas are the most ancient and divine composition in the world, and the collection is treated as the colleciion of the eternal voice of God by innumerable devotees.

Very recently it came to our notice that Shri Karparriji is to bring out his commentaries on the Vedas and recently the first volume of his voluminous work of the VEDARTHA PARIJATA has been brought out. Sanskrit being the mother tongue of our family, naturally we nurture great reverence to Sri Karpatriji for his being an eminent Sanskrit scholar. But on the persual of his above monumental work, we felt utmost disappointed and extremely astonished, because this Sanskrit scholar (Karpatriji) has vowed to make total rebutment of the RIGVEDADI BHASHYA BHUMIKA of Maharshi Dayanand Saraswati. In it, Sri Karpatriji has used highly defamatory and abusive language against Maharshi Dayananda, and it plunged us in to deep anguish and pain and has shaken our faith in his fairness, though differences in opinion can not in any way be questsoned as ill-will.

Lying at the patient-bed, the author of this VEDARTHA KALPADRUMA, on learning of the above composition took a vow to reply to this hypocritical voluminous composition of Karpatriji., Failing to counteract the pseudo-points contained like in the VEDARTHA PARIJATA, a sensible scholar of the Vedas and the inquisitive explorer of the Indian culture would shake off his devotion, and loose faith in the eternal Vedic values and truth. Rather, he may presume the untruth to be truth, and it may prove ominous for him and for the entire mankind. The author of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' with a pious view to present the well ascertained Truth, has brought out this composition, in a fairly decent and humble way.

A closer reading of the 'VEDARTHA PARIJATA' has revealed that Karpatriji has brought out his misleading comppsition, in a completely biased, superstious, partisan and malicious way. Most authentic and reliable rejoinders to his false propositions and imaginary misapprehensions have been refuted and axed here by this author in this disposition,

It is astounding that the so-called professing scholars have shunned the course of debate and discussion on religious matters and themes aimed at reaching the genuine conclusions. And consequently they suffer in their whole life from the vested interests and superstition which are incoherent to rationality, logic and reason. Some of the ancient scholars, even in this age, prescribe on Vedic authority idolatery, posthumous devotion to the manes (मृतक श्राद्ध), oblations of animal flesh in the (Havan) religious sacrificing of gods and goddesss. Thus they misleadingly try to confine and limited the Omnipresent God within certain boundaries and forms of a particular nation. They declare it all fully in tune with the Vedas. They are trying to make historits out of the Vedas, and to prove that the BRAHMANA GRANTHAS are the Vedas, itself. They

are trying to propound and establish the ADVAIT (Neo-Vedanta) by non-accepting the existence of nature and living being (जीव).

(A) Those, who keep faith in the eternity and philosopey of the Vedas, they never invite histories in their interpretaions. They interpret the tales, stories, dialogues nomenclatures and the themes of PURURAVA-URVASHI, VASISTHA- VISHWAMITRA, INDRA-VAJRA etc, metaphorically and scientifically in tune with the philosphy of enternity as propounded and prescribed by 'Yaska in Nirukta, the clear logic is that the existence of transitory theme can not form the contents of the eternal Vedas. Referential or apparent themes are significant and divine. Maharshi YASKA has also prescribed the path to interpret the appearent metaphorical mantras in the terms of eternal philosophy; as VAJRA astands for the cloud, while INDRA signifies the Sun and the lightning.

(B) There is no element of rationality to trace out histories in the Vedas by all the right thinking and reasoning persons.

While texturing the stories of SHANTANU AND DEVA describing the tales of SUDASA etc. finding the names of the river GANGA etc., noticing the references of the States like Matsya etc. in the Vedas even the exegetists, like SAYANA, VEDAYATI, MADHVA, BHATTA BHASKAR, MAHIDHARA etc. remain fetterred in the delusive snare of historical effusions admitting only the delusive historical tales as the Vaidika preachings. They further proceed to the extent of treating even YASKACHARYA as an explorer of histories in the Vedas on noticing such a phrase from him— 'TATRETIHASAMACHAKSHATE' तत्रेतिहासमाचक्षते The history is traceable in the Vedas. But, in fact YASKA-CHARYA clearly confirms the absence of histories in the Vedas by refuting the historical interpretationists extracting meanings by significance (ARTHANTAR) only. In the same

ancient tune, Maharshi Dayananda Saraswati has also justified and advocated only the non-historical aspect of the Vedas. This most ancient view is venerable to all young and old scholars, alike; it inhances the grandeur of the Vedas.

The author to the Preface of the 'VEDARTH PARIJATA of Sri Karpatriji is the prime among his own disciples,—Sri Pattabhi Rama Shastri, Vidya Sagar, and he has not aptly and correctly drawn an inference. In fact, It is far from being reasonable. Sri Karpatriji has prescribed fascinating path to attain the Supreme God and has treated the BRAHMANA GRANTHAS on the deliberations of the Vedas. Such an adulation to his master or mentor is not only an act of blind imitation, rather such a tendency is sure to transform the Holy Ocean of Milk (KSHEERA SAGAR) into an ocean of brine water. Therefore, here are preferred some deliberations as quinteessence before their adove concept is clear enough. The vital question is on which scriptures are related to the Vedas? In this context, here are some humble submissions and points.

(i) There has never been any controversy regarding the Sanhitas as being the Veda. All are agreed on this point and are of the same view.

(ii) In the BRAHMANA GRANTHAS, for Vaidika devotion such terminology appears-- "Mantra Brahmanayordnamadheyam" which means that the BRAHMAN GRANTHAS also pertains to the Vedas.

The above referred man-propounded (PAURUSHEYA) KALPASUTRAS are of the posterior period and hence were never applied to the BRAHMAN GRANTHAS of the earlier period, as there is a vast periodical gap between the two periods, use of the term the Veda, available in the BHRAMAN GRANTHAS, devote only to the mantras, as is apparent from 5.5.7 of the AITAREYA BRAHMAN.

Even the most venerable scholar ACHARYA SHANKRA in his commentaries of 'EVAM-VA-ARE' from the BRIHADARANYAKA UPANISHAD' has acknowledged this existence of only four Vedas — the Rig, Yajur, Sama and Atharva. Under the impression of the definitition Mantra Brahmana Yornama-dheyam given by the Yajnikas and the details of the Yajnas being dealt with the BRAHMAN GRANTHAS were also treated as the Vedas; in fact, they are other than the Veda. A closer study of scripturs reveal that the BRAHMAN GRANTHAS are sub and secondary ordinate to the Vedas.

Subsequently the confusion was further aggravated by the composition of the 'KRISHNA YAJURVED' in which Vaidika and Brahmanic contents are intermixed and it becomes acutely difficult to differentiate as to which material is the Vedas and which the Brahmana. Later on, this criterion was evoleed whereas the Brahmana is the VINIYOJOKA (विनियोजक), the mantra is the remainder of the ANUSHILANIYAM KARMA'. But these criteria are not free fallacies. These suffer fallacy of 'AVYAPTI' and and ATIVYAPTI' as defined in the logic.

The author of the preface to the VEDARTHA PARIJATA, Shri Pattabhi Ram Sastri has also taken the BRAHMAN GRANTHAS as the interpreters of the Vedas. It seems that the learned Karpatriji and his Preface-Author Sri Pattabhi Rama Sastri have failed to solve the riddle of the difference between the Vedas and the BRAHMAN GRANTHAS and in consequence missed the quintessence of the Vedas in the gloom created by the conceptions of the BRAHMAN GRANTHAS. Only due to having relation with the Mantras (the Veda), the BRAHMAN GRANTHAS can not be treated as the Vedas. The Vedas are the words of the Supreme God, whereas the BRAHMAN GRANTHAS are the composition by men and hence the lack in Vedic characteristics. The HARIVANSHA PURANA And GOPATHA also recognise

only the four Vedas and none else (like BRAHMAN GRHANTHAS ETC), as has also been done by the MAHA-BHARATA' and the SARVANUKRAMANI'. It is awfully strange as to how Sri Karpatriji has given the BRAHMAN GRANTHAS the Divine Status of the Vedas, because the BRAHMAN GRANTHAS are not the Divine MANTRAS-they are the compositions by human beings. His evaluation is therefore non-serious and a hastry conclusion in the eyes of the critics of the Vedas.

The last but not the least, is the noticeable issue pertaining to God. Here is the question; whether only God has His existence, or soul (JEEVATMA) and Nature (PRAKRITI) have also existence of their own. There may be similar other relevant questions a so, but here we have to confine to the key-question referred to above.

On this issue, our systems of philosophy (DARSHANAS) do not differ-rather they appear to be suplementary to each other. This was ACHARYA SHANKAR, who for the first time heralded contradictions in the DARSHNAS (Systems). Acharaya Shankara rebutted, for the first time, the learned composer of the SANKHYA, MAHARSHI KAPIL, who eonfirms to the existence of the soul and the Nature along with the existence of the Supreme God. As is apparent in the 1st and 3rd Sutra of the chapter II of his commentaris of the VEDNTA DARSHAN, he has gone to the extent of ignoring the great SANKHYACHARYA MAHARSHI KAPIL, who could dare to stop ACHARYA SHANKARA from making his subjective and fallaicious evaluation in such contexts. But later on, ACHARYA SHAN-KARA seems to remain dazzled in the bewildering brilliance and lustre of our luminous scriptures, because in the wake of his conscience, he confuses the super status of the composers of the DARSHNAS in such words— "Who shall believe in my delideration, while the compositions of Kapil etc. exist?

In his gush of spiritual confusion, ACHARYA SHANKARA declares MAHARSHI KAPIL, who believed in the dual existence of God and the soul as A-Vaidika, and Maharshi KANADA who believed in atomic theory, as a follower of the Budhist dectrines(VAINASHIKA) ACHARYA SHANKARA thus, very arbitrarily treats all the five composers of the DARSHNA leaving only Maharshi VYASA as believers of multi-soul theory (ANATMAVADA), and hence in his view, all of them are AVAIDIKA. But it to be noted that the remaining composer of DARSHNA, VYAS DEVA, in his commentary of the YOGASUTRA has propounded the Multi-soul Theory (NANATMAVADA). Now our learned readers are to determine as to who is AVAIDIKA, ACHARYA SHANKARA or LORD VYASA DEVA? In the eyes of an impartial critic, revered ACHARYA SHANKARA, due to his unwarranted fault finding nature and due to his act of damaging the glorious edifice of the DARSHNAS, has fostered a path of discrepute for his own-self.

In conclusion of the deliberation of this issue, it is to be confused that God is not supposed to experience wordly-pleasure and pain-it is, infact, the soul (JEEVATMA) who does it. It is non-scientific to think of the creation of the world without the aid of the Nature (PRAKRITI).

My bold contentions in the instant context are pardonable, because ACHARYA SHANKAR has himself separately accepted entirety of the soul (ATMA), and the Nature (PRAKRITI) along with the entity of God (BRAHMA) here and there in his compositions. It is fruther to be noted that ACHARYA SHANKARA has had to propound his theory circumstantially hence to make a mince of all of the Budhists. And on this issue, he has gone out a tune for a critic of the Indian scriptures.

Regarding the MAYA, ACHARYA SHANKARA has further propounded his own arbitrary view which is entirely contradictory to the Vaidika traditions. Before ACHARYA SHANKARA references to the MAYA were available, in the Vedas (SHRUTIS) like.

'INDRO-MAYABHIH-PURURUPEEYATE', SA MARTYASYA MAYINAH' etc. ACHARYA SHANKARA treats the MAYA as a unique and undescribable power of God. In describing the MAYA, he presents strongly contradictory statements treating the MAYA as subordinate to God and yet God-pervading. Thus, ACHARYA SHANKARA has complicated the simple and serene ADVAIT philosophy.

In fact, God (BRAHMA), the Nature (PRAKRITI) and the soul (ATMA) are eternal and infinite and this is the cause of this creation. The eternal soul experiences and enjoys the eternal nature. God remains indifferent from the Nature and is impassable by it.

Thus, we find that too much fuss had been heaped up around the Vaidika philosophy and various commentators, interpreters, and religious sects made it more and more complicated. In this context, Maharshi DAYANANDA SARASVATI made vigorous efforts to re-establish the outworn and decaying reputation of our scriptures quite in tune with the VAIDIKA traditions, by making our Vedas free from historical narration and purging them from the misconceptions imposed by the religious adventurers.

In his 'VEDARTHA PARIJATA', Karpatr!ji restarted arbitrary interpretations of the Vedas and allied scriptures. He finds mutual contradictions in the NYAYA and other DARSHNAS. He repropounds Neo-VEDANTA by accepting the existence of God oniy. MAHARSHI DAYANANDA in conformity with the Valdika traditions, adopted the doctrine of Tinity (TRAITAVADA) accepting the existence of eternal and infinite BRAHMA, JEEVATMA and PRAKRITI, but in the meantime he has interpreted the VAIDIKA tales and words in the right VAIDIKA manner.

In this 'VEDARTHA KALPADRUMA', the learned author has not the least intention to rebut or to disgrace the author of the 'VEDARTHA PARIJATA' Swami Karpatriji or the writer of the Preface, but he has been complelled to

use some harsh words here and there due to Karpatriji's inauspicious words and terminology used against Maharshi Dayananda, which definitely seems to have caused him also to feel distressed.

In this first volume of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' all the critical allegations under the heads of VEDOTPATTI (origin of the Vedas) and VED NITYATVA (Eternity of the Vedas) have been dealt with reasonable VAIDIKA interpretations alongwith some of the ill points raised under the head 'VED VISHAYA VICHAR', (Deliberations on the contents of the Vedas). Due to lack of time and, as I have been apprised, shortly other volumes of the 'VEDARTHA KALPADRUMA' are to be published in and then the right solutions to the remaining ill-points along with the relevant original Vaidika deliberations would appear.

The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha of the Arya Samaj has been publishing books of social, national, spiritual and moral importance in other languages, time to time, but this 'VEDARTHA KALPADRUMA' is its first Sanskrit-based publication, and hence this effort is really laudable. I, personally, feel thankful to the President of the Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, Lala Ramgopal Shawlwale, who is a staunah and fully dedicated Arya Samaj leader, and who inspired the author with the spiritual mission of Swami Dayananda Sarasvati to bring out the 'VEDARTHA KALPADRUMA in time. The Vedas, as has been stated, are the Divine Words of the Supreme God and hence religious adventurers have no right to put them in the gloom of their own subjective and arbitrary deliberations. The Vedas have provided India religious and spiritual supermacy and the Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha will ever safeguard this status, with the band of true followers of the Vedas.

Nirmala Misra
Puran-Itihasa—Sahitya Acharya, M.A.

वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचनम्

कोलाहलो महानासीत् सर्वस्मिन्नपि मण्डले ।
समुद्घाट्य यदा दृष्टं, प्राप्तो मृतक-मूषकः ।।

सेयमुक्तिः वेदार्थ-पारिजाते संघटते । कथमिपि चेत् ? श्रूयताम् । अयि ! महानुभावाः, नाविदितं विदितयशसामार्य-विदुषां यदयं स श्रीमान् यतिवरकरपात्रि-महोदयः यः खलु निखिलजगदग्रणीभारत-धरणी-शिरोमणीयमानमानवायां नाभिनकायां यशस्कर्या मिन्द्रप्रस्थ नगर्यां प्रवहद्धीरसमीरे तरणितनूजातीरे धर्मसङ्घजनस्य यजनाय जायमानाधिवेशनस्या ऽग्रसरेऽवसरे नैकेषु पौराणिक-सिद्धान्तेषु संस्कृते शास्त्रार्थकरणाय श्लोकबद्धां घोषणां प्राकाशयत् ।

तदुत्तरे समस्तेन्द्रप्रस्थीयार्यसमाजशिरोमणिः दीवानहालेतिनामा-ग्रणीः आर्यसमाजः तां शास्त्रार्थ-घोषणां स्वीकृत्य आर्यविद्वद्धौरेयैः स्वर्गीय श्री पं० हरिदत्तशास्त्रि षोडशतीर्थसहायैः स्व० श्री पं० व्यासदेवशास्त्रिप्रमुखैः शास्त्रार्थमहारथैः यमुना-तटे शास्त्रार्थमकारयत् । संस्कृतलिपिबद्धे च शास्त्रार्थे ते पौराणिकविदुषः पराजयन्त ।

तन्मौखिक-शास्त्रार्थ-पराजयाग्निदग्धचेताः इव लज्जापेतः श्री हरिहरानन्दमूलनामा करपात्रीतिसंन्यासोपनामा महानुभावः आर्य-सामाजिकान् पुनर्जिगीषुरिव लब्धविकासं लिखितप्रयासमेकं पुनश्चकार । स एव प्रयासः वेदार्थ-पारिजातो नाम ग्रन्थः ।

अस्मिन् ग्रन्थे धन्य-धन्यस्य महर्षिदयानन्दस्य मानोष्णीषमुच्चिकीर्षुः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः समुन्मूलनं चिकीर्षुरसौ करपात्र-महोदयः स्ववैदुष्यं प्रदर्शयितुं प्रायतत ।

महर्षि-दयानन्दे मृषादोषारोपणमेवास्य लेखकस्य धेयं, तत्कृतवेद-भाष्यभूमिकायाः कर्णहत्यखण्डनमेवास्य विधेयं, वृथापरछिद्रान्वेषण-मेवस्य मुख्यं लक्ष्यम्, अयुतगप्पाष्टिका-संयुत-पुराणाद्येवाऽस्य प्रमुखं साक्ष्यं, नाप्यस्य वेदार्थ-वैदुष्यं नाऽपि वेदभाष्यकार-महीधरोव्वटादिकृत वेदभाष्यत्रुटिषु मनागपि असामञ्जस्यमस्य दृश्यते क्वचित् ।

किञ्चायं महर्षिदयानन्दोद्धृतोद्धरणस्य सङ्गतप्रकरणस्य वाक्यस्य वाक्यांशस्य वा अपूर्णोद्धरणे परिवर्त्त्योद्धरणे वाऽदसीयं स्वकीयं गौरवं मनुते । एतच्चाऽविकलं यथास्थलं वेदार्थ-कल्पद्रुमे विस्पष्ट-मस्ति । अत्यन्तं खेदास्पदं चेदं यदयं साधुरपरसाधोः श्रीमतो दयानन्द-स्योत्कर्ष ख्यातिं चाऽसहमानः ईर्ष्यालुपदं भजमानः नैकत्र निरर्थकं छिद्रान्वेषणं कर्त्तुं प्रावर्तत । किमधिकमसौ क्वचित्तु स्वामिनं दयानन्दं निग्रहस्थानं निनीषुः स्वयमेव निग्रहस्थाने समापतदित्यपि स्पष्टं तत्रैव वेदार्थ-कल्पद्रुमे ।

अपशब्द-वर्षणम्

एतस्य वेदार्थ-पारिजातस्य रचने द्वादशाधिकैः विविधविषय-विशेषशेमुषीकैः विद्वद्धौरेयैः प्रणेतुरस्याप्रणाय्यं साहाय्यं व्यधायि । तत्रैको मीमांसानागरः श्री पट्टाभिराम शास्त्रि-विद्यासागरः ग्रन्थस्यै-तस्य प्रस्तावनां प्रास्तावीत् । तत्र हि करपात्रानुरागो महानुभावोऽय-'मार्यसमाजम्' अतिभयङ्करं नूतनमतमित्यभिदधानः आर्यसमाजि-कांश्च क्वचिद् "इमे वेदमातुः केशकर्षणे शीलभङ्ग-निर्लज्जाः" क्वचिदनिश्चितसिद्धान्ताः, कुत्रचित् शास्त्रेषु यथामति प्रक्षिप्तांशं मन्यमानाः कुत्राऽपि आक्रमणकारिणः धूर्ताः, क्वचित् पूर्वापरसन्दर्भ-समवलोकने अन्धा इव, क्वापि कूमाण्डचौरा इव, क्वचिच्च लोक-शास्त्रवञ्चकाः सत्यमेव पश्यतोहराः" इत्यादिभिरपशब्दैराक्षिपन् न मनागपि सङ्कोचमाञ्चत् ।

ग्रन्थलेखकश्चापि महर्षिदयानन्दं प्रति 'दूषयामास सर्वां तां पद्धतिर्यां सनातनी,' क्वचित् 'प्रमत्तवत् प्रमाण-विरुद्धं प्रलपन्,' क्वचिच्च दयानन्दस्य बालभाषितमित्यादितिरस्कारपुरस्सरैरपशब्दैः व्यवाहार्षीत् । तदस्य साधोरपरसाधुं प्रति असाधुशब्दप्रयोगो न साधुः ।

ग्रन्थ-सामान्य-समीक्षा

गते कतिपये काले यमुनातीर-संस्थिते ।
इन्द्रप्रस्थे हि यः प्रान्ते, महायज्ञमकारयत् ॥१॥
स एव खण्डितवानत्र[1] ग्रन्थे यज्ञ-समुद्भवान् ।
दयानन्दोक्तलाभांस्तु, किमाश्चर्यमतःपरम् ॥२॥
पर-खण्डन-पाण्डित्यं, दृश्यते 'पारिजातके' ।
अनिर्णीतश्च सिद्धान्तः, पूर्वापर-विरोधिता ॥३॥
'व्यासेन[2] ऋषिभिश्चेह' व्यासस्यानृषिभावनम् ।
'धाष्ट्यमिति[3] वदेद्यस्तु, किमाश्चर्यमतः परम् ॥४॥
बलीवर्दस्यगोश्चैव, न्यायं यो नेह वेत्ति सः ।
दूषयति ह्यदूष्यं यत् किमाश्चर्यमतः परम् ॥५॥
केचित्सन्ति तवाक्षेपाः असारास्तर्कवर्जिताः ।
कृताः साधो त्वया मन्ये, 'ज्ञानमध्ये'[4] निदर्शनम् ॥६॥

व्याकरण-वैदुष्य-परीक्षा

सम्प्रति, व्याकरणवैदुष्यं परीक्ष्यतामस्य वेदार्थकृतः ।
'त्रयो व्याहृतयः' शब्दौ, प्रयुञ्जानः स्वपुस्तके ।
त्रिलिङ्गं यो न जानाति किमाश्चर्यमतः परम् ॥१॥
'छन्दोपद' मितिश्रेष्ठं मन्यते यो हि सन्धिकृत् ।
प्रवृत्तो छन्दसां भाष्ये, किमाश्चर्यमतः परम् ॥२॥
विषयसप्तमीं जान नधिकरणभिन्नजाम् ।
लिखति यः स वै वेत्ता ? किमाश्चर्यमतः परम् ॥३॥
मक्षिकायाः निपातस्तु ग्रासादौ गतो हि सः ।
'श्रीलक्ष्म्यैः' च 'गणेशायः'[5] विसर्गान्तौ यदालिखत् ॥४॥
अध्यानेन लिखितं चेन् [5]मुद्रणेवाऽपि सम्भवम् ।
न शोभते कथञ्चित्तु ग्रन्थादावेष दोषकृत् ॥५॥

---

(१) (पृ. ५५० पं.२) (२) अनुकृतशब्दत्वान्नसन्धिः (३) (पृ. ५०४ पं. ६) (४) पृ. ४६५ पं. ७ । (५) पृ० ५०४ इत्यत्र तु 'साक्ष्यत्वात्' इत्यत्र 'त्व' स्थाने त्वल् प्रत्ययबोधनतु करपात्रिण एव त्रुटिः न मुद्रणस्य ।

किञ्च भो यते ! (वे॰ पा॰ पृ॰ ५४४) इत्यत्र 'अत्र मुण्डकोपनिषदितु महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्त्वा ततो ब्रह्मविद्यामधिजिगांसुर्महाशालः शौनकः तं पप्रच्छ' इत्यादौ त्वद्वाक्ये 'अङ्गिरसः' इति पदे कतरा विभक्तिः पञ्चमी षष्ठी वा ? पञ्चमी चेत्कथं साधु षष्ठी चेत् कथम् ? यदि तावत् महाशालः शौनकः अङ्गिरसं ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्तवान् तदा तु पञ्चमी षष्ठी चेत्युभेऽपि विभक्ती अपाणिनीये, यतः गौणे कर्मणि दुह्यादेरित्यादि-नियमात् बच्धातोः गौणेकर्मणि 'अङ्गिरसि' द्वितीयाविभक्ति-प्रसङ्गः। वस्तुतस्तु शौनकः ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामङ्गिरसं नोक्तवान् अपितु सत्यवहः भारद्वाजः उक्तवान्, यथा चोक्तमुपनिषदि-'प्राहभारद्वाजोऽङ्गिरसे-परावराम्। शौनको स वै महाशालोऽङ्गिरसं···पप्रच्छेति। अतः 'महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्याप्राप्ति-परम्परा को बताकर उससे महाशाल शौनक ने पूछा' इति वदन् हिन्दीकारोऽपि मुण्डकोनिषद्प्रसङ्ग-ज्ञाने सर्वथा भ्रान्त एव।

किञ्च 'उक्त्वा' इत्यस्य कर्त्ता भारद्वाजः पप्रच्छेति क्रियायाः कर्त्ता च शौनकः, अतः ग्रन्थकारस्य उक्त्वेत्यत्र त्वा प्रत्यय-विधानं सर्वथा अपाणिनीयं, समानकर्तृकत्वाऽभावात्, अतएव

स्वयं कुर्वन्नशुद्धिं यां, 'त्वा' प्रत्यय-विधायिकाम्।
'ज्ञानं भवेत् मनुष्याणां श्रुत्वोपदेश'[1] मत्रतु॥
दयानन्दीय-वाक्ये वै, तामाक्षिपन् न शोभसे।
परच्छिद्रसमन्वेषः दृश्यते ते तु भो यते!
तदेवं व्याकरण-वैदुष्यं बहुत्र चिन्त्यम्॥

छन्दः समीक्षा

श्री करपात्रिमहोदयः स्वग्रन्थे मुख्यतया एकम् अनुष्टु बिति छन्द एव प्रायुङ्क्त। यच्च अत्यन्तं सरलं साधारणञ्च। परं 'तत्राऽपि बहुत्र त्रुटयः सन्ति' इति महदाश्चर्यम्, यथा

क—श्लोकभूमिकायां—'प्रादुश्चक्रेभाष्यनाम्ना' इति चरणे पंचमं 'भा' इत्यक्षरं 'पञ्चमं लघु सर्वत्र' इति नियमानुसारं लघु स्यात् परमिदं दीर्घमस्ति।

(१) पृ॰ ४६१ पं॰ १४

ख – एवमेव मार्कण्डेयोब्रह्मचारी 'मुसलगांव गजाननः' इत्यत्र द्वितीयचरणे नवाक्षराणि, यदा च नियमानुसारमष्टैव स्युः ।

ग – मम विचारे ग्रन्थेऽस्मिन् करपात्रिणः 'अनुष्टुप्' छन्दोऽतिरिक्तं केवलमेकमेव छन्दः, तच्च 'शार्दूलविक्रीडितं' तत्रापि त्रुटिः प्रारम्भे एव । तथाहिः—

'येषां पितृपितामहादिपुरुषा आसन् सदा वैदिकाः'
इत्यत्र 'पि' अक्षरं लघु, यावताऽत्र दीर्घं स्यात् ।
अतः छन्दो-रचनादृशा श्रीकरपात्रिणः वैदुष्यं दूष्यमेव ।

काव्य-दोष-निरीक्षा

सम्प्रति काव्यदोषा अपि निरीक्ष्यन्तेऽस्य श्लोकेषुः—अयं हि तावद् स्वश्लोकभूमिकायाम्—(क) 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य देववाणी-मयस्य च' इत्यत्र श्लोके अस्येति सर्वनाम-पदं कस्य परामर्शकम् ? इति न ज्ञायते । ग्रन्थस्येति तु न वक्तुं युक्तं, पूर्वत्र तस्यानिर्दिष्टत्वात्, अतोऽत्र अभिमतस्यानुपपस्थितौ तत्सम्बन्धाऽभावात् अभवन्मत-सम्बन्धरूपः दोषः मुख्यस्यविधेयस्यानिर्देशाच्च विधेयाविमर्शरूपश्च काव्यदोषः ।

ख—किञ्च 'लोकानामुपकाराय, भवेद् हिन्दीमयोऽपि च ।' इत्यत्र तवश्लोके हिन्दीमय इति विशेषणं, तत्कस्येति न ज्ञायते ? पूर्वत्र ग्रन्थादि-शब्दस्यनिदशाऽभावात् । हिन्दीमयोभवेदित्यत्र च न कश्चन कर्त्ता निश्चीयते विशेष्यस्याऽभावात् । न चेदं विशेष्यं सम्भवति । हिन्दीमय इति हिन्दीप्राचुर्ययुक्तस्य कस्याप्यन्यस्यैव ग्रन्थादेः सम्भवात् । पूर्वत्र तु 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य' इत्यादिपदानां षष्ठी-निबन्धनात् हिन्दीमय इति प्रथमान्तेन सह न सम्बन्ध-सम्भवः । किञ्च भवेदिति क्रियायाः कर्त्तुरत्रानिर्देशात् न्यूनपदत्व-रूपः दोषोऽपि ।

नन्वत्र 'हिन्दीमयोऽपिचेति विशेषणं येषामित्यादि-पूर्वश्लोक निर्दिष्टस्य 'श्रम' शब्दस्येति चेत्तदपि न युक्तं, दूरान्वयात्, मध्ये तु 'परम्पराप्रवृत्तस्य' इत्यादिश्लाकस्य व्यवधानात् । पुनरपि कथञ्चित्

यदि पूर्वोक्तः 'श्रम' शब्दः परामृश्यते, तदापि 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य श्रमस्य देववाणीमयस्य लोकानामुपकाराय, स च श्रमः हिन्दीमयोऽपि भवेत् इत्यन्वयः स्यात्, स च न साधुः। 'स च श्रम' हिन्दीमयो भवेत् इत्यत्र 'स च श्रम' इत्यस्य अध्याहार-गौरवात्। किञ्च अध्याहृतेऽपि 'श्रमे' नेयार्थदोषापत्तिः, केनाऽपि श्रमस्याऽग्रन्थनात्। अथाऽपि हिन्दीमयः अनुवादः स्यात् इति कल्प्येत तदापि 'अनुवाद' शब्दस्य अध्याहार अपेक्षितः स्यात्। तदेवं श्लोकोऽयमितोऽपिभ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्ट इति प्रसिद्धि चरितार्थयति।

वेदार्थ-करण-समीक्षा

वेदार्थकरणाय तदाधारभूतस्य निरुक्तस्य टीकायां मन्त्रार्थ-विषये प्रतिपादितम् :—

'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहणवैशिष्ट्याद् अश्वः साधुः साधुतरश्च भवति एवमेते (मन्त्राः) वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति' इति।

परं वेदार्थ-पारिजातकृदयं निरुक्तोद्दिष्टां अनेकार्थदर्शिकां यौगिकार्थ-द्वारा मन्त्राणामनेकार्थप्रदां शैलीं परित्यज्य शब्दार्थानां रूढामेव शैलीं समाश्रयन् महर्षिदयानन्दकृतान् निर्वचनाश्रितान् निरुक्तव्याकरण ब्राह्मणादिप्रमाणसमर्थितानपि वेदार्थान् दूषयितुं प्रावर्तत इति महत्खेदास्पदम्। तथा हि निदर्शनमेकं दृश्यतामस्य समर्थने :—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥

अस्य मन्त्रस्य महर्षिदयानन्दकृतोऽर्थः—

'हे ईश्वर! जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपनाम्नःप्राणस्य त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावदायुरस्तु। देवेषु विद्याप्रभावयुक्तं यत् त्रिगुणमायुः भवति। तन्नोऽस्तु। तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तमायुरस्तु' इति। सोऽयं जमदग्नि-शब्दस्य

निर्वचननिसृतः यौगिकार्थः ब्राह्मणग्रन्थ-प्रमाणितः । तथा हि चक्षुर्वै जमदग्निः यदनेन जगत्पश्यति इत्यादि । कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः इत्यादि चेति । (शतपथब्राह्मणम्) 'शतायुर्वैपुरुषः 'जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि-वचनैः वर्षाणां शतं पुरुषस्यायुस्तत्र त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषमिति । (त्रीणिशतानिवर्षाणि इति यावत्) पाणिनीयादिव्याकरणसम्मतोऽर्थः ।

परमीदृशः परिपुष्टोऽपि मन्त्रार्थः अत्रिणा[1] करपात्रिणा गौरवान्वितः तर्कप्रमाणसंगतः खण्डित इति महदाश्चर्यम् ! वेदेष्वनित्येतिहासं मन्वानः तत्समर्थनाय जमदग्नि-शब्दस्य ऋषिप्रदत्तं ब्राह्मणोक्तमपि निर्वचनमेव निगीर्णवानसौ पाठकानामक्षिषु धूलिक्षेपं विधातुम् । अन्यथा जमदग्नि शब्दस्य साक्षान्निर्वचने विद्यमाने न कश्चन ऐतिहासिकः पुरुषः जमदग्निर्नाम सम्भवति । त्र्यायुषमिति शब्दस्य च करपात्रिकृतः बाल्यं यौवनं वार्धक्यं चेति त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषमित्यर्थो न तर्कसंगतः । आसां तिसृणामवस्थानां सर्वैरेव मनुष्यैः प्राप्ततया परमात्मानं प्रति तदर्थ-प्रार्थनस्य व्यर्थत्वात् ।

तदेवं करपात्रिकृतः मन्त्रार्थः यत्

हे ईश्वर ! जमदग्निसंज्ञकस्य कश्यपसंज्ञकस्य देवविशेषस्य अन्येषां चापि देवानां यत् त्र्यायुषं बाल्ययौवन वार्धक्यरूपंयदायुरस्ति तदस्माकमपिभवतु सुखमयम् इति, स एषोऽर्थः विविधदोषदूषितः, तत्समर्थने च करपात्रि-प्रदत्ताः अन्या युक्तयश्चापि न बुद्धिसंगताः पोषकसन्दर्भाऽसङ्गताश्च । अतः वेदार्थ-पारिजातस्य रूढार्थाधारितः अनित्येतिहास-पोषकः मन्त्रार्थकरण-प्रकारोऽपि न युक्तः ।

भाषा-पक्ष-परीक्षा

भाषापक्षोऽपि वेदार्थ-पारिजातस्य न साधुः, यतो हि प्रायेणाऽसौ दुरूहतामावहति । कश्चित् संस्कृतज्ञः हिन्दीभाषानुवादस्य साहाय्यं विना ग्रन्थस्य वास्तविकार्थं न बोद्धुं क्षमः । नव्यन्यायानुगताऽस्य शब्दा-

१ न त्रयः (जीवेश्वरप्रकृतयः) पदार्थाः यस्य स अत्रिस्तेन ।

वली[1] त्वधिकतरं काठिन्यमुत्पादयति पाठकाय। दीर्घसमासबहुला सुदीर्घानुच्छेद[2] काश्चऽपि काठिन्य-हेतवस्तत्र। न क्वचिदपि भाषायाः सारस्यं माधुर्यं वाऽपि दृश्यते ग्रन्थ-प्रबन्धेषु। अनेकशङ्कापक्षोट्टङ्कणवती महाभाष्यकारपतञ्जलि-शैली समुपलभ्यते नैकत्र तत्र। न लोकोक्तिलेशः न चापि सूक्तिसमावेशस्तत्र दृश्यते। अतः भाषा-पक्षोऽपि न साधीयान्।

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

परमेतस्य ग्रन्थस्य तु प्रायेण लघुलघुपरिच्छेदयुता लोकोक्ति-संयुक्ता, वर्णविन्यासरम्या, स्वल्पबोधगम्या प्रकरणनुसारं श्लोक-सारस्यमयी कुत्रचित् सूक्तिमयी रसानुकूला भावाऽप्रतिकूला अनुप्रास-प्रयास-बहुला विगत-विभाषा भाषाऽस्य प्रथमा विशेषता। यथास्थलं बिपक्षखण्डनाय विविध छन्दसां बाहुल्यं द्वितीया विशेषता। महर्षिदया-नन्दप्रयुक्तशब्देषु करपात्रिसमुत्थापित-व्याकरण-शङ्कानां समुचित-समाधनप्रदानमस्य तृतीया विशेषता। किञ्च सैद्धान्तिक-शङ्कानां समुचित-समाधानेन भावपक्षोप्यस्यग्रन्थस्यासंशयं साधीयान् इति समालोचमानः

सुरेन्द्रकुमारः शास्त्री
साहित्याचार्यः

दिनांकः कार्तिक-पूर्णिमा सं० २०४१

---

(१) तथाहिः—यद्यपि बलवदनिष्टानुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्य-त्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानत्वज्ञानमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृतिं प्रति कारणमिति। (पृ०१२१)

(२) यथा (पृ० ३१,३२) पृष्ठद्वयात्मकः एक एवानुच्छेदः।

वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचन

खोदा पहाड़ और निकला चूहा, और वो भी मरा हुआ

यह उक्ति वेदार्थ-पारिजात पर घटित होती है। कैसे ? सुनिये, ऐसे। विद्वज्जन महानुभाव, यह आपको विदित होगा कि ये स्वामी करपात्री जी वे ही महानुभाव हैं जिन्होंने भारत की राजधानी दिल्ली में यमुना नदी के तट पर धर्मसंघ के अधिवेशन के अवसर पर एक महान् यज्ञ कराया था उसी समय इन्होंने पौराणिक-सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करने के लिए संस्कृत में श्लोक-बद्ध घोषणा भी कराई थी।

उसके उत्तर में दिल्ली की शिरोमणि आर्यसमाज 'दीवान हाल' ने उनके घोषणा-पत्र का संस्कृत-श्लोक बद्ध ही उत्तर दिया और पौराणिक पंडित स्वर्गीय श्री माधवाचार्य से संस्कृत में लिपिबद्ध शास्त्रार्थ कराया। इस कार्य में आर्यजगत् के उद्भट अनूचान स्वर्गीय श्री पं० हरिदत्त जी शास्त्री षोडश-तीर्थ एवं शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० व्यासदेव जी शास्त्री (एल. एल. बी.) अधिवक्ता के नाम प्रमुख हैं। श्री पं. व्यासदेव जी की तर्कों से श्री पं. माधवाचार्य जी हतप्रभ हो गए जिससे इस समस्त कार्य के सूत्रधार श्री करपात्री जी को बड़ी निराशा हुई।

फलतः मानो उसी मौखिकपराजय के आघात से आहत श्री करपात्री जी ने आर्य-समाज के सिद्धान्तों का लिखित-खण्डन करने का संकल्प किया और उसी संकल्प का क्रियात्मक परिणाम है उनका लिखा 'वेदार्थ-पारिजात।' इसमें ऋषि दयानन्द की लिखित 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' का 'दयानन्दीयमतखण्डन' के नाम से खण्डन करने में अपने सम्पूर्ण पाण्डित्य प्रदर्शन करने का प्रयास किया है। जिसकी असारता को विबुधगण 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' को पढ़कर

भली भांति समझ जायेंगे।

इस 'वेदार्थ-पारिजात' में महर्षि दयानन्द पर वृथादोषारापण करना इनका धेय है, वृथा छिद्रान्वेषण करना इनका लक्ष्य है, गप्पाष्टकों से भरा पुराण इनका साक्ष्य है। इनमें न वेदार्थ का वैदुष्य है और न कहीं महर्षि दयानन्ददर्शित उब्बटमहीधरादि के वेद-भाष्यों की त्रुटियों पर प्रदर्शित नैराश्य है।

ये महाशय ऋषि दयानन्द के उद्धृत अंशों को अपूर्ण या परिवर्त्तित उद्धृत करने में अपना गौरव समझते हैं। उनके वैदुष्योत्कर्ष और महती ख्याति को सहन न करते हुए, ईर्ष्यावश उनके निरर्थक-दोष निकलते हैं। उनको निग्रहस्थान में ले आने में प्रयत्नशील स्वयं निग्रह स्थान में फंस जाते हैं। यह सब 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' में यथास्थल स्पष्ट है।

अपशब्दों की वर्षा

'वेदार्थ-पारिजात' की रचना में विविध विषयों के जिन तेरह उद्‌भट विद्वानों की सहायता मिली है उनमें एक हैं मीमांसानागर विद्यासागर श्री पं. पट्टाभिराम शास्त्री। श्री करपात्री के परमसहायक इन महानुभाव ने अपनी प्रस्तावना में आर्यसमाज को एक भयावने नास्तिकसदृश एक नूतन मत की संज्ञा दी है तथा आर्यसमाजियों को, कहीं मीमांसा युवती के शीलभंग में निर्लज्ज, कहीं जनता और शास्त्र के साथ छलकपट शील, आंखों में धूल झोंकने वाले, कहीं कुम्हड़े के के समान चोर, कहीं आक्रमणकारी धूर्त, तो कहीं वेद माता के केशों को खींचने वाले कुपूत इत्यादि अपशब्दों में तिरस्कृत किया है।

इसी प्रकार ग्रन्थ लेखक ने भी स्वामी दयानन्द को तिरस्कृत करने में कमी नहीं रक्खी है कहीं तो उनको सनातनपद्धति को दूषित करने वाला, कहीं प्रमत्त समान प्रमाण विरुद्ध प्रलाप करने वाला, कहीं धृष्टता करने वाला, कहीं धर्म का नाश करने वाला तो कहीं बालभाषित करने वाला, कहा है। अस्तु एक साधु के द्वारा अन्य साधु के प्रति इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग असाधुत्व को सूचित करता है। अतः वेदार्थ-पारिजात का व्यावहारिक पक्ष सभ्य नहीं।

ग्रन्थ की सामान्य परीक्षा

कुछ समय हुआ जबकि करपात्री जी ने स्वयं यमुना तट पर एक महान् यज्ञ कराया था परन्तु आश्चर्य है कि अपने इस ग्रन्थ में यज्ञ के दयानन्दोक्त वायुजलादि शुद्धि रूप लाभों को ही कपोलकल्पित माना है[1] और लिखा है कि किसी भी आप्तपुरुष ने यह नहीं कहा कि जल आदि की शुद्धि यज्ञ का फल है।[2] किञ्च इस ग्रन्थ में अनिर्णीत-सिद्धान्तत्व और पूर्वापर-विरोध भी है। कुछ आक्षेप अति तुच्छ एवं सार-हीन है। स्वामीजी ने एक स्थान पर लिखा है कि व्यास जी और अन्य ऋषियों ने वेदों को नहीं बनाया' इस पर करपात्री जी लिखते हैं कि व्यास जी को अनृषि कहना दयानन्द की धृष्टता है।[3] सो यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि ये महाराज गोवलीवर्दन्याय को भी नहीं समझते। जैसे गौ और बैल एक ही जाति के होते हुए भी विशेषता के लिए दोनों का पृथक ग्रहण भी कर लिया जाता है अथवा जैसे ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽपि आयातः अर्थात् 'ब्राह्मण आ गए और बसिष्ठ भी आ गए, में वसिष्ठ का पृथक् ग्रहण करने से वसिष्ठ जी का ब्राह्मणत्व नहीं घटता, वरन् पृथक् ग्रहण करने से उनकी विशिष्टता ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'व्यासेन ऋषिमिश्च' वाक्य में व्यास जी का अनृषित्व कदापि सिद्ध नहीं होता जिसको ऋषि की 'धृष्टता' कह डाला है।

इसी प्रकार एक स्थान पर स्वामी जी ने लिखा है कि 'ऋषियों के ज्ञान के मध्य में वेद प्रेरित हुए, इस पर आक्षेप[4] कर डाला है कि ज्ञान तो अमूर्त और अनन्त है अतः उसके मध्यत्व का निश्चय ही नहीं हो सकता।' सो यह कितनी छोटी सी बात है क्योंकि मध्य का अर्थ केवल केन्द्रीय मध्य ही नहीं होता वरन् सामान्य से कोई भी बीचमात्र मध्य कहला सकता है अथवा मध्य का अर्थ अन्तर्गत भी होता है जैसे समुद्र के मध्य में मत्स्य हैं आकाश के मध्य में वायु है। अतः इस प्रकार के करपात्री जी के आक्षेप निस्सारता एवं बालकपनयुक्त प्रतीत होते हैं इनमें कोई वैदुष्य या बुद्धिमत्ता की गन्ध नहीं है।

---

(१) (पृ० ५७० पं० २, पृ० ५८१ पं० ५,) (२) पृ० ५७० पं० २७ (३) पृ० ५०४ पं०६ (४) पृ० ४६५ पं०७।

करपात्री जी ने एक स्थान पर[1] 'त्रयो व्याहृतयः' पदों का प्रयोग किया है जो सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि त्रयः पुंल्लिग और 'व्याहृतयः' स्त्रीलिङ्ग होने से विशेषण विशेष्य में भिन्न लिङ्गत्व हो गया है।

इसी प्रकार (पृ० ५०३ पं० १४ में) 'छन्दोपदम्' शब्द का प्रयोग किया है जो कि सन्धि के नियम के अनुसार अशुद्ध है छन्दस् में पकार अक्षर के परे रहते ओत्व करना महान् आश्चर्य का विषय है।

ग्रन्थकार और टीकाकार एक स्थल पर[2] 'येषु विद्वांसो भवन्ति' ऋषि वाक्य में विषय सप्तमी मानने पर अधिकरण सप्तमी से विरोध मानते हैं। तब क्या भला विषय सप्तमी और अधिकरण सप्तमी क्या भिन्न-भिन्न होती हैं? कदापि नहीं। विषय सप्तमी तो अधिकरण सप्तमी का ही एक भेद होता है दोनों में विरोध की शङ्का उठाना व्याकरणानभिज्ञत्व का सूचक है। अतः यह भी एक आश्चर्य है।

इसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्री गणेशायः नमः तथा सरस्वत्यैः नमः से मंगलाचरण किया गया है। जो शब्दरूपों की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि चतुर्थी में विसर्गान्त रूप नहीं बनते। यह मुद्रण त्रुटि इसलिए नहीं मानी जा सकती क्योंकि अक्षर नियोजक अपनी ओर से विसर्गों को स्वयं क्यों लगाएगा?[3] यदि कथञ्चित् मुद्रण त्रुटि ही मान ली जाए तो यह त्रुटि ग्रन्थारम्भ में कदापि शोभनीय नहीं क्योंकि ग्रन्थारम्भ में अशुद्धि रूप कार्य व्याकरण महाभाष्य के मतानुसार अमंगल सूचक है।

किञ्च, वे० पा० के पृ० ५४४ पर 'महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्या-प्राप्ति परम्परामुक्त्वा…पप्रच्छ' इत्यादि अनुच्छेद में 'अङ्गिरसः' पद में

---

(१) (पृ० ४६७ पं० १२) (२) (पृ० ५०६ पं० १४) (३) जैसे—पृ०५०४ पर 'साक्ष्यत्वात्' में ये करपात्री जी 'त्व' प्रत्यय के स्थान पर 'त्वल्' प्रत्यय लिखते हैं यह अक्षर नियोजक की त्रुटि नहीं है।

पंचमी विभक्ति है या षष्ठी ? यह शङ्का होती है। यदि पंचमी है तो अशुद्ध, और षष्ठी है तो भी अशुद्ध, क्यों 'गौणे कर्मणि' दुह्यादे-रित्यादि व्याकरण नियम के अनुसार वच् धातु के गौण कर्म अङ्गिरस् में द्वितीया होनी चाहिए।

वास्तव में यहां शौनक ने ब्रह्मविद्या प्राप्ति की परम्परा को अङ्गिरस को नहीं कहा अपितु सत्यवह भारद्वाज ने कहा था जैसा कि उपनिषद् में लिखा है 'प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे' इत्यादि। अतः महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्या प्राप्ति की परम्परा को बताकर उससे महाशाल शौनक ने पूछा' ऐसा हिन्दी अनुवाद करने वाला भी उपनिषद् ग्रन्थ प्रसङ्ग ज्ञान में भ्रान्त ही है। साथ ही इस स्थल पर 'उक्त्वा' क्रिया का कर्त्ता भारद्वाज और 'पप्रच्छ' क्रिया का कर्त्ता महाशाल शौनक है अतः यहाँ समानकर्तृकत्व न होने से करपात्रीकृत 'उक्त्वा' में 'त्वा' का विधान सर्वथा अशुद्ध है। जो व्यक्ति 'त्वा' प्रत्यय के विधान में स्वयं इस प्रकार की अशुद्धि करे और 'उपदेशं श्रुत्वा...मनुष्याणां ज्ञानं भवति'[१] में ऋषिदयानन्द की 'त्वा' प्रत्यय विधान की अशुद्धि निकालने का दुष्प्रयास करे यह कदापि शोभनीय नहीं।

इस प्रकार करपात्री जी का व्याकरणवैदुष्य चिन्तनीय है।

छन्दस्समीक्षा

करपात्री जी ने मुख्यतया अनुष्टुप्, छन्द का ही प्रयोग किया है जो छन्द अत्यन्त सरल और साधारण है उसकी रचना में भी अनेकों त्रुटियों का होना महान् आश्चर्य का विषय है यथा:—(क) 'प्रादुश्च-के भाष्यनाम्ना' में पंचम अक्षर 'पंचमं लघु सर्वत्र' के अनुसार लघु होना चाहिए परन्तु 'भा' यह पंचम अक्षर गुरु है, अतः सर्वथा अशुद्ध है।

(ख) इसी प्रकार 'मार्कण्डेयो ब्रह्मचारी, मुसलगांव गजाननः' यहाँ अनुष्टुप् के द्वितोयार्ध में आठ अक्षर के स्थान पर नौ अक्षर हो गए हैं जो नहीं होने चाहिए।

---

(२) (पृ. ४९१ पं० १४)

(ग) मेरे विचार से इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनुष्टुप् छन्दों के अतिरिक्त करपात्री जी का रचित केवल एक ही छन्द है और वह है 'शार्दूल-विक्रीडितम् ।' सो बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि महाराज जी उसमें भी अशुद्धि कर बैठे हैं देखिए:—'येषां पितृपितामहादिपुरुषा आसन् सदा वैदिका: ।' इस प्रथम पंक्ति में तीसरा अक्षर 'पि' गुरु होना चाहिए जबकि यह ह्रस्व है।

अत: छन्दो रचना की दृष्टि से भी करपात्री का वैदुष्य सर्वथा शोचनीय है।

काव्य-दोष-वीक्षा

ग्रन्थकर्त्ता की अपनी श्लोकमयी भूमिका में

क—'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य, देववाणीमयस्य च' इस श्लोक में 'अस्य' सर्वनाम किसका परामर्शक है ? यह पता नही चलता, 'ग्रन्थ' का परामर्शक है' यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पूर्वश्लोकों में 'ग्रन्थस्य' पद कहीं नहीं है। अत: यहां अभिमत के उपस्थित न होने से तत्सम्बन्ध के अभाव में 'अभवन्मत सम्बन्ध' रूप काव्य-दोष है।

ख—तथा मुख्य विधेय का विमर्श न होने में विधेयाविमर्श दोष भी है।

ग—'लोकनामुपकाराय, भवेद् हिन्दीमयोऽपि च' इस श्लोक में हिन्दीमय: यह विशेषण है पर किसका है ? यह पता नहीं चलता, क्योंकि पूर्व स्थल में ग्रन्थ आदि कोई निर्देश नहीं है अत: 'हिन्दीमय: भवेत्' इस वाक्य रचना में कर्त्ता का निश्चय नहीं होता। हिन्दीमय: (मयट् प्रत्ययान्त) हिन्दीयुक्त यह विशेषण है विशेष्य नहीं अत: कर्त्ता नहीं हो सकता। पहले श्लोक में 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य' इत्यादि अंश के साथ भी इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रथमान्त है और वे षष्ठ्यन्त हैं। अत: 'भवेत्' क्रिया का कोई कर्त्ता न होने से यहां न्यूनपदत्व दोष है।

अच्छा तो यहां हिन्दीमय: यह विशेषण 'येषामित्यादि' पूर्वश्लोकोक्त 'श्रम' पद का ही मान लिया जाय, वह भी ठीक नहीं,

क्योंकि बीच में 'परम्पराप्रवृत्तस्य' इत्यादि श्लोक होने से दूरान्वय बनता है। अस्तु तथापि कथंचित् पूर्वोक्त 'श्रम' शब्द का ही परामर्श कर लिया जाय, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब 'अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य श्रमस्य देववाणीमस्य हिन्दीमयोऽपि स्यात्, यह अन्वय होगा। तव 'स च श्रमः हिन्दीमयोऽपिस्यात्' अन्वय करने के लिये 'स च श्रमः' यह अध्याहार करना पड़ेगा। यदि यह अध्याहार कर भी लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पहले 'ग्रथितस्य श्रमस्य' में नेयार्थ दोष आयेगा। कारण यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा श्रम का ग्रथन होना प्रसिद्ध नहीं है। यदि यहां 'हिन्दीमयः अनुवादः' यह कल्पना की जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अनुवाद अध्याहार के लिए कोई आधार (संकेत) नहीं है। अतः इस श्लोक में इधर से भ्रष्ट और उधर से भ्रष्ट वाली उक्ति घटित होती है।

अतः ग्रन्थ का काव्य-वैदुष्य भी दूषित ही है।

वेदार्थ-करण-समीक्षा

वेदार्थ के आधारभूत निरुक्त की टीका में मन्त्रार्थ के विषय में लिखा है कि: -- 'नह्येतेषु अर्थस्य इयत्तावधारणमस्ति' इत्यादि, अर्थात् मन्त्रों में अर्थों की सीमा का नियन्त्रण नहीं होता। ये महान् अर्थ वाले और दुर्ज्ञेय होते हैं जैसे अश्वारोही की विशिष्टता से अश्व अच्छा या अधिक अच्छा हो जाता है उसी प्रकार ये मन्त्र भी वेदार्थ व्याख्याता की विशिष्टता के कारण श्रेष्ठ या श्रेष्ठतर अर्थों को देते हैं, परन्तु यह अत्यन्त खेद का विषय है कि इस लेखक ने स्वामिदयानन्दकृत निरुक्त व्याकरण ब्राह्मणादि सम्मत मन्त्रार्थों की यौगिक शैली को खण्डित करके अनित्येतिहास प्रतिपादक रूढार्थ शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ देखिये।

त्र्यायुषं, जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं।
यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥

यह यजुर्वेद का मन्त्र है। स्वामी जी ने इसका अर्थ किया है हे ईश्वर! मेरे (जमदग्नेः) चक्षु की तथा (कश्यपस्य) प्राण की

(त्र्यायुषं) तीन सौ वर्ष की आयु हो और (यद्देवेषु त्र्यायुषं) और जो विद्या प्रभाव युक्त देवों में तीन सौ वर्ष की आयु है (तन्नोऽस्तु) वह हमको प्राप्त हो। इस मन्त्र के अर्थ की पुष्टि के लिये 'चक्षुर्वै जमदग्निः यदनेन जगत्पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निः ऋषिः' 'कश्यपो वै कूर्मः कूर्मो वै प्राणः' यह ब्राह्मण ग्रन्थ का अर्थ निर्वचन भी दिया है। परन्तु अनित्येतिहास का पोषण करने के लिए ग्रन्थकार ने 'जमदग्नि तथा 'कश्यप' का अर्थ व्यक्ति विशेष किया है जो कि रूढ़ अर्थ है जबकि इस जमदग्नि शब्द का निर्वचनपूर्वक ब्राह्मण ग्रन्थ ने यौगिक अर्थ दिया है। सो उस निर्वचन को ही करपात्री जी महाराज, ऋषि के 'भूमिका' भाग में से निगल गये हैं। उसे छुआ तक नहीं है।

इसी प्रकार 'त्र्यायुषं' शब्द का अर्थ 'तीन सौ वर्ष की आयु' व्याकरणादिसम्मत अर्थ है क्योंकि 'शतायुर्वैपुरुषः' जीवेम शरदः शतमित्यादि प्रमाणों से मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष होती है। इसलिए त्रयाणामायुषां समाहारः त्र्यायुषम् अर्थात् 'तीन सौ वर्ष' यह व्याकरणादिसम्मत अर्थ है परन्तु इसका खण्डन करके करपात्री जी ने त्र्यायुषं का अर्थ बचपन यौवन और वार्धक्य ये आयु के तीन भाग किया है जो कि असङ्गत है क्योंकि ये तीन आयु नहीं वरन् आयु के तीन भाग हैं। यह युक्ति संगत इसलिए भी नहीं है क्योंकि मनुष्य की ये तीन अवस्थायें प्रायः सभी को प्राप्त होती हैं इनके लिये ईश्वर से प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है? अप्राप्त जो तीन सौ वर्ष की आयु है वह हमें प्राप्त हो यह संगत प्रार्थना है।

इसलिए करपात्रीकृत उक्त मन्त्र का यह अर्थ कि 'हे ईश्वर! जमदग्नि और कश्यप ऋषि की तथा अन्य देवताओं की जो सुखमय बाल्य यौवन और वृद्ध तीन (आयु) 'अवस्था हैं वे हमारी भी हों? बुद्धिसंगत गौरवान्वित तथा प्रमाण-संगत नहीं है। इसके समर्थन में उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं वे भी बुद्धि तथा प्रसङ्ग-संगत नहीं हैं।

अतः वेदार्थ-पारिजात का रूढार्थाधारित अनित्येतिहासपोषक मन्त्रार्थकरण पक्ष भी युक्त नहीं है।

भाषा-पक्ष-परीक्षा

वेदार्थ-पारिजात की भाषा प्रायः दुरूह हो गई है एक संस्कृतज्ञ को हिन्दी अनुवाद के बिना उसके वास्तविक अर्थ को समझने में कठिनाई होती है विशेषकर नव्य-न्यायानुगत[1] पदावली ने इसके काठिन्य को बढ़ा दिया है। दीर्घ समास बहुलता और दीर्घानुच्छेद[2] की शैली भी सरलता में बाधक हैं। इसमें न कहीं सूक्तियां हैं न लोकोक्तियां हैं अतः रोचकता के अभाव में विषय की गम्भीरता के साथ-साथ शुष्कता बढ़ गई है।

वेदार्थ-कल्पद्रुम-वैशिष्टय

प्रायः लघुलघुपरिच्छेदयुक्त, लोकोक्तिसंयुक्त, वर्णविन्यासरम्य, स्वल्पबोधगम्य, यथास्थल प्रसङ्गानुकूल, श्लोक-सारस्यमयी, सारमयी, रसाप्रतिकूला भावानुकूला अनुप्रासप्रयासबहुला विगत विभाषा (विकल्प) भाषा इसकी प्रथम विशेषता है।

महर्षिदयानन्द के शब्दों पर करपात्रि-समुत्थापित व्याकरण-शङ्काओं का समुचित-समाधान तथा करपात्री जी की व्याकरण-सम्बन्धी त्रुटियों का उद्घाटन इसकी दूसरी विशेषता है। ग्रन्थ में विपक्षमुखमर्दन के लिए विविध छन्दों का प्रयोगबाहुल्य तीसरी विशेषता है।

प्रतिपक्षी की सैद्धान्तिक शङ्काओं के समुचित समाधान द्वारा आक्षेपों का निराकरण कर स्वपक्ष का समर्थन करना भावपक्ष गत चतुर्थ विशेषता है।

समालोचक

कार्तिक पूर्णिमा, २०४१ — **सुरेन्द्र कुमार शास्त्री**

साहित्याचार्य

---

१ यथा—यद्यपि बलवदनिष्टकृतिसाध्यत्व विशिष्टेष्ट साधनत्वरूप इत्यादि। (पृ० १२१)

२ यथा—पृ० ३१ तथा ३२ पर एक ही अनुच्छेद है।

शब्द-संकेत-सूची

अनु०—अनुच्छेदः
उ० प०—उत्तर-पक्षः
ऋषिः, महर्षिः—महर्षिदयानन्दः
निरु०—निरुक्तम्
पृ०, पं०—पृष्ठं, पङ्क्तिः
पू० प०—पूर्वपक्षः
ब्रा०—ब्राह्मणम्
बृ०—बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० भू०—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका
भूमिका— ,, ,, ,,
म०—मनुः
म० भा०—महाभारतम्
माण्डू०—माण्डूक्योपनिषद्
मी०—मीमांसा
मुं०—मुण्डकोपनिषद्
वे०—वेदान्तः
वे० पा०—वेदार्थ-पारिजातः
वे० क०—वेदार्थ-कल्पद्रुमः
वैशे०—वैशेषिकम्
शां०-प०—शान्ति-पर्व
शां भा०—शाङ्करभाष्यम्
शत०—शतपथम्
समा०—समाधानम्
समु०—समुल्लासः

ओ३म्

वेदार्थ-कल्पद्रुम-विषय-सूची

पृष्ठ

अथ वेदोत्पत्ति-विचारः

पृ०
४१ 'स्कम्भं तं ब्रूहि' इति मन्त्रे विशुद्धसत्त्वोपाधिकः चैतन्यरूपः ईश्वर एव जगदाधार-स्तम्भरूपेण व्यज्यते ।
४६ किमृचो यजूंषि ब्रह्मणोंऽशभूतानि ?
५० किं वेदपदेन मन्त्रब्राह्मण-समुदायस्य ग्रहणमुत मन्त्रमात्रस्य ?
५४ परमेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वेऽपि वेदमन्तरा न तदुपदेश-सम्भवः ।
५९ वेदानां प्रामाण्यं स्वतः सिद्धम्, कथम् ?
६१ जगद्रचनार्थं परमेश्वरस्य न शरीरधारणस्यावश्यकता ।
६२ जगत्सृष्टौ प्रकृति-परमाण्वदृष्टादि-सापेक्षता ।
६३ यथा पर्जन्येन जलादिसापेक्षेणैव बीजाङ्कुरो जन्यते किं तथैव ईश्वरेणापि कण्ठताल्वादिसापेक्षेण वर्णाः उच्चार्यन्ते ?
६४ परमेश्वरः जगद्रचने निमित्तकारणं नाभिन्ननिमित्तोपादान-कारणम् ।
६६ सामर्थ्य-रूपाद् गुणादेव न जगदुत्पत्ति-सम्भवः ।
६९ वेदाध्ययनान्तरमेव अन्यग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यम् ।
७२ किं शास्त्रेषु परस्पर-विरोधः ? ऋषिषु अनैक्यं चेति ?
७३ स्वाभाविक-ज्ञानेनैव विकासे सिद्धे किं वेद-ज्ञानस्य सृष्ट्यादौ नावश्यकता ?
७७ शास्त्रंपठित्वा……मनुष्याणां ज्ञानं भवतीति वाक्ये किं 'त्वा'प्रत्यय विधानमपाणिनीयम् ?
७९ किं विकासवादेन मनुष्यस्यापि स्वयंज्ञान-विकास सम्भवः ?
८१ किं चक्षुराद्यगोचरस्य परमेश्वरस्य वेदज्ञानोपदेश-सम्भवः ?
८४ न सुप्तप्रतिबुद्ध-न्यायेन वेदोत्पत्तिसम्भवः ?
८७ वेदानुत्पत्तेरभावरूपतया किं तत्सम्बन्धे प्रश्नानर्हत्वम् ?
८८ ईश्वरीयानन्त-विद्यावत्त्वे प्रमाणम् ।
९२ स्वतन्त्रेश्वरस्य किं करुणाधीनत्वम् ?
९४ 'वेदाः ऋषीणां ज्ञानमध्ये प्रेरिताः' इति वाक्ये ज्ञानस्य निराकारत्वाद अमूर्त्तत्वाच्च कथं मध्यत्व-निश्चयः ? इत्यस्य समाधानम् ।
९५ ईश्वर-ज्ञानस्य अचेतनत्वात् कथमग्न्यादिषु ऋषिषु संक्रमण-संभवः ?
९६ परमेश्वरे समवाय-सम्बन्धेन स्थिताः वेदाः किमन्यत्र (अग्न्यादिषु) गन्तुं प्रभवाः ?

पृ०

९८ धर्मार्थ-काम-मोक्ष-सिद्ध्या परमानन्द प्राप्तिकथनं किं पुरुषार्थ तत्त्वानभिज्ञानमूलकम् ?

१०० त्रिवर्ग-विशिष्टस्यापि मोक्षस्य परमानन्दजनकत्वे किं संन्यासस्य अवैधत्वम् ?

१०१ किं परमानन्दो मोक्षलक्षणात् पुरुषार्थात् भिन्नोऽभिन्नोवा ?

१०३ किं वेदाः नियतानुपूर्वी-विशिष्टाः अपौरुषेयशब्दराशि-रूपा एव न ज्ञान-रूपाः ?

१०५ किमग्निवायुसूर्याः जडा उत मनुष्यरूपाः ? भूरादिलोकानामधिष्ठातृदेवा वा ?

१०८ परमेश्वरेण अग्निवा य्वादिभ्यः वेद-ज्ञानं दत्तं पुनस्तेनैव वेदाः प्रणीता इति कथं सङ्गतम् ?

१११ यदि वेदाः ज्ञानरूपास्तर्हि ज्ञानविषयकं ज्ञानमनुव्यवसायात्मकमन्यद् वा ?

११३ अनुव्यवसायात्मक-ज्ञानाद्भिन्न ज्ञानस्य नाऽप्रसिद्धिः यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादौ किं वेदेभ्यः पूर्वं ब्रह्मोत्पत्तिः ?

११७ 'प्रेरयित्वा' इत्यत्र कुतो न क्त्वोल्यप् ?

११९ किं चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषत ?

१२० प्रत्यक्षाद्यधिगतं सत्यमपि किमैतिह्यम् ?

१२१ ऐतिह्य-प्रमाणस्य प्रमाणत्वे सत्यप्रमाणमिति विशेषणस्य काऽवश्यकता ?

१२२ बाधितार्थ-विषय-ज्ञाना साधारणकारणं करणं प्रमाणमिति प्रमास्वरूपं किं दोषपूर्णम् ?

१२३ किं महर्षिव्यासः वेदानां निर्माता ?

१२६ किं व्यासः पुराणानां रचयिता ?

१२७ तदनुयायिभिरार्यसामाजिकैः दयानन्दं प्रति किं महर्षिरिति विशेषणयोजनमनुपयुक्तम् ?

१२९ परमेश्वराद् वेद प्रादुर्भाव इत्यत्र कथने का नाम वाचोयुक्तिः ?

१३१ ईश्वरस्य सम्प्रदाय प्रवर्तकत्ववत् किं ब्रह्मादीनामपि तत्सम्भवति प्रवर्त्तकत्वम् ?

१३३ व्यासस्य सम्बन्धे किं दयानन्दस्य वस्तुतः अनृषित्वोक्तिः ?

पृ०

१८० 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इति मीमांसा-सूत्रस्य को वास्तविकार्थः ?

१८२ वेदानां नित्यत्वात् तदुत्पत्ति-कालस्यैव अभावः कुतो न ?

१८३ 'भाष्य भूमिका'-प्रदर्शिता वर्त्तमान-सृष्टि-काल-गणना शुद्धा।

१८४ करपात्रिकृता सृष्टि-काल-गणना अशुद्धा।

१८७ मानवातिरिक्त-देवताऽनङ्गीकारे, देवानां युग-गणना कथं सङ्गता ?

१८६ किं सृष्ट्यादौ वेदोत्पत्तिरपि वेदेन साधयितुं शक्या ?

अथ-वेद-नित्यत्व-विचारः

१९३ नित्येश्वराद् वेदोत्पत्तेः नित्यत्वे स्वीकृते कथं न ईश्वरोत्पन्नस्य जगतोऽपि नित्यत्वम् ?

१९४ किमीश्वरस्य नित्यत्वेन वेदस्य नित्यत्वेऽतिप्रसङ्गः ?

१९७ परमात्मज्ञानस्थे नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे वेदोत्पत्तिप्रयासः व्यर्थोऽतः किं शब्दनित्यत्वसाधनं प्रमत्तप्रलपितम् ?

१९८ शब्दमयत्वं हेतुः किं शब्दानित्यत्व-साधकम् ?

२०१ यदृच्छाशब्दानामनित्यत्वे तद्भिन्नानां रामायणादिशब्दानां कुतो न नित्यत्वम् ?

२०२ परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धा इति न संगतं किम् ? शब्दानामाकाशायश्रयत्वात्।

२०५ शब्दस्य ज्ञानाश्रयतया परमेश्वर-ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वादनित्य-पदार्थानामपि किं नित्यताऽपत्तिः ?

२०६ परमेश्वरस्य ज्ञान-क्रिये' नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः' इत्यत्र (ऋषि वाक्ये) किं स्वाभावसिद्धे अनादीति पदद्वयं व्यर्थम् ?

२०८ ईश्वरस्य विद्यामयत्वहेतुना किं वेदानां नित्यत्व-साधनं युक्तम् ?

२०९ यदि प्रलये वेदानां सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वं तर्हि सत्कार्यवादरीत्या जगतोऽपि तथानित्यत्वात् किं वैशिष्ट्यं वेदनित्यत्वे ?

२१० 'अस्मतिक्रियापक्षे' इत्यत्र क्रियापदेन किमुत्क्षेपेणादिकं विवक्ष्यते प्रयत्नापरपर्याया कृतिर्वा ?

२११ परमेश्वरस्य विद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वे किं स्वरूपाऽसिद्धदोषः ?

पृ०

२१२ किं वादिप्रतिवाद्युभय-सम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वम् ?

२१२ वेदानामीश्वरविद्यामयत्वे विद्या शब्दरूपा ज्ञान रूपा वा ? मयट्-प्रत्ययश्च स्वार्थको विकारार्थको वा ?

२१५ प्राचुर्यार्थे मयटि किमीश्वरस्वरूप-ज्ञानेन अनन्तत्वाऽऽपत्तिः ?

२१५ ईश्वरज्ञानस्य वेदैः सह कीदृशः सम्बन्धः ?

२१७ ईश्वर-विद्या-वेदयोश्चाऽभेदत्वे कथं साध्यसाधन-भावः ?

२१६ ईश्वर-ज्ञाने मध्यत्वस्यानिश्चयात् चन्द्रादि-रचनं तस्य ज्ञानमध्ये इति कथनमसारं किम् ?

२१६ किं 'क्रियाश्रयस्तु कर्मैव न कर्त्ता ? किं च क्रियाश्रयो न द्रव्यम् ?

२२२ 'ईश्वर-ज्ञानस्य वृद्धि-क्षय-विपर्ययाऽभावात्' इति यदुक्तं किं तदयुक्तम् ?

२२३ वेदानां···साक्ष्यर्थं प्रमाणानि' इति वाक्ये किं साक्ष्यर्थमितिप्रयोगः साधुः ?

२२४ नित्या शब्दाः तेषु कूटस्थैः·········भवितव्यमिति समुद्धरणं किं पूर्वपक्षपरम् ?

२२७ व्याकरणे ये आदेशा आगमा वा ते शब्द-नित्यत्वे कथं संगच्छेरन् ?

२२८ 'भ्रममूलैव' इत्यत्र कतरः समासो युक्तः ?

२२६ 'भ्रमस्य मूलमिति किं न विग्रह-सम्भवः ?

२३१ किं 'भूमिकायाः' पूर्वसंस्करणेषु-'शब्दस्यैकदेशाय···'एकदेशविकारिणि' इति पाठः ?

२३३ निराकारेण ईश्वरेण कथं शब्दोच्चारणस्य सम्भवः ?

२३४ (मी. १।१।१८) सूत्रे विनाशरहितत्वात् शब्दो नित्यः इति वक्तुं युक्तम् किम् ?

२३५ "दर्शनस्योच्चारणपरस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्" किमत्र षष्ठ्याः अनुपपत्तिः ?

२३६ किं शब्दस्य नित्यत्वं ज्ञाप्य-ज्ञापकत्वञ्च नोभय विद्यमानतायां प्रयोजकम् ?

पृ०

२३७ किं शब्दनित्यत्व-सिद्धौ कणादसूत्रोद्धरणं नोपहासास्पदं ? कणादेन शब्दत्वानित्यत्वाऽभ्युपगमात् ।

२४३ अपसिद्धान्तलक्षणस्यात्राघटितत्वात् भवानेव स्वयमत्र निरनुयोज्यानुयोगनाम-निग्रहस्थाने निगडितः ।

२४४ मन्त्रायुर्वेद सूत्र-प्रसङ्गे तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां··· स्वीकार्यमित्यत्र वाक्ये नित्यानामिति विशेषणं किमसङ्गतम् ? ईश्वरोक्तेतिविशेषणात् ।

२४५ 'तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति स्थले ऋषिकृतः 'उक्तम्' इति पाठो युक्तः किम् ?

२४५ किम् आप्तैः वेद-प्रामाण्य-स्वीकरणात् वेद-प्रामाण्यमिति कथनं संगतम् ?

२४८ मन्त्रायुर्वेद० सूत्र-प्रसङ्गे मन्त्राणां विचाराणामित्यर्थ-करणं सत्यत्व हेतुश्च (सत्यत्वे सिद्धं प्रामाण्यं प्रामाण्ये च सत्यत्वं सिद्धिमिति) संगतं किम् ?

२५० किं वेद-प्रामाण्यार्थं 'मन्त्रायुर्वेद० इति दत्तं प्रमाणं निरर्थकम् ?

२५२ करपात्रस्य वदतो व्याघातः मानसो व्यामोहश्च ।

२५५ 'वेदानां नित्यत्व-साधनप्रसङ्गे प्रामाण्यसाधनमप्रकृत-प्रक्रिया' किम् ?

२५७ वात्स्यायनमते 'तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्या-दिति किमयं पूर्वपक्षः ?

२५९ 'स पूर्वेषामपि गुरुः···तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थत्त्वनित्यत्वे वेद्ये' इति 'ऋषि' प्रोक्तं न युक्तं किम् ?

२६१ 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यमिति नित्यशब्देऽत्राऽपठिते कथमनेन नित्यत्वं साध्यम् ?

२६२ 'वेदानां स्वतः प्रामाण्य-नित्यत्वात्मकः' पक्षः किं न निकषकषण-सिद्धः ?

२६२ 'शास्त्रयोनित्वादिति' सूत्रे शङ्कराचार्योक्तं 'सर्वज्ञेश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तमिति किं न सङ्गतम् ?

पृ०

२६४ वेदकर्त्ता ईश्वरः ईश्वरस्य च सत्तायां वेद-प्रमाणमित्यतोऽन्योन्याश्रयदोषः किम् ?

२६५ वेदमीश्वरज्ञानत्वेन करपात्र-महोदयो न समर्थयते इति तु त्रपाकरम्।

२६६ उत्पत्तिमतः कस्यापि नित्यत्वानुपत्तिरत एव वेदानामपि नेति चेन्न ।

२६६ किं 'शास्त्रयोनित्वा' दित्यनेन सूत्रेण वेद-नित्यत्वं न गम्यते ?

२६८ शङ्कराचार्येण वेदानां नित्यत्वमभिगम्यैव अस्य सूत्रस्य अर्थः कृत इत्यशुद्धं किम् ?

२६९ वेदानां स्वतः प्रामाण्ये सूर्यवदिति उपमानं किं बालभाषितम् ?

२७० किं यथा चक्षुषः प्रकाशाय सृष्टेरारम्भादेव सूर्यस्य प्रकाशस्याऽऽवश्यकता, तथैव किं मनसोऽपि प्रकाशाय वेद-सूर्यस्यावश्यकता ?

२७१ क—वेद-प्रामाण्येऽध्येत्रध्यापयित्रपेक्षा-कथनमनभिज्ञतैव ।

ख—यदि वेदानां स्वतः प्रामाण्यं तदा किमर्थं नित्यत्व-साधन-प्रयासः ?

२७३ यदीश्वरः स्वयं प्रकाशितस्य वेदस्य सिद्धिकरं प्रमाणं ब्रूते तदा किं वदतो-व्याघात-दोषस्तत्र ?

२७५ किं 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म', इति रीत्याऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मरूपेण ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वम् ?

२७७ स पर्यगादिति मन्त्रे अकायमित्यनेन-स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर-त्रय-रहितत्व-सिद्धौ किमव्रणमस्नाविरमिति पदयोः व्यर्थता ?

२८४ परमात्मनः स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देह-शून्यत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्यसच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल-सूक्ष्म-शरीरवत्त्वमस्त्येवेति परस्परविरोधिवचनं करपात्रिणः ।

२८५ रामादीनां दिव्यदेहे बाणादिकृतव्रणवत्त्व-प्रतीतिः मायाऽऽरोपितैव न तु वास्तविकीति न वाच्यम् ।

२८६ 'अनुदरी कन्या' इतिवन्नञोऽल्पार्थकत्वादल्पकायमकायमिति न सङ्गतम् ।

पृ०

२८८ क—भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतशरीरमित्यनेन ब्रह्मणः साकारतापि चेत्को दोषः ?

ख—किमीश्वरः निराकारः सन्नपि स्वभक्तदर्शन-दानाय विग्रहवान् भवति ?

२९० 'नमो हिरण्यबाहवे' 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः' इत्यादि मन्त्रपाठानामीश्वरस्य निराकारत्वे सति समाधानम् ।

२९१ किं 'स पर्यगादिति' मन्त्रे 'समाभ्यः' इत्यस्य प्रजाभ्यः इत्यर्थः काल्पनिक एव ?

२९२ नासत आत्मलाभो न सत आत्महानमिति न्यायेन वेद-नित्यत्वप्रतिपादने सत्कार्यवादेन किं घटादेरपि नित्यत्वापत्तिः ?

२९४ सदसत्कार्यवादिनोरन्तरम् ।

२९६ 'यन्नित्यं वस्तु तस्य कर्माण्यपि नित्यानि' इति कथनं प्रमाणविरुद्धं किम् ?

२९७ क—भूमिकायाः 'अवतिष्ठतीतिलेखोऽपपाठः, तत्र' एव तिष्ठतीति शुद्ध पठनात् ।

ख—संयोगवियोगयोरनन्तर्गतत्वात् अस्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणेऽसामर्थ्यं, तथा किमीश्वरेऽपि ?

२९८ ईश्वरस्य परम-सूक्ष्मत्वेन सह कर्त्तृत्वमपि प्रयोजकम् गदितम् ।

२९९ उपसंहार-श्लोकाः ।

वेद-विषय-विचारः

३०० 'वेद-विषय-विचार-विषय' इत्यत्र किं द्वितीय-विषय-शब्दो व्यर्थः ?

३०२ चत्वारो वेद-विषया विज्ञानकर्मोपासना ज्ञान-काण्डभेदादित्यत्र काण्डपदं व्यर्थं किं ? किं द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणकाण्डशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बध्यमानत्वम् सार्थकमावश्यकञ्च ?

३०३ विज्ञानपदार्थः कः ? ज्ञानपदार्थश्च कः ?

३०७ ज्ञान-विज्ञानपदार्थ-ज्ञाने करपात्रस्य पूर्वापर-विरोधः ।

३०८ किं दयानन्देन विज्ञानस्य साक्षाद्बोधान्वयत्वं न प्रतिपादनीयमासीत् ?

पृ०

३०९ किं हेतुत्वं निरर्थकं साध्याऽसाधकत्वात् ?

३१० 'न च साक्षाद् बोधो ब्रह्मादितृणान्तान् सर्वान् पदार्थान् विषयी करोति' इति त्वज्ञानं वचः ।

३११ क—दयानन्द-प्रतिपादिते विज्ञान-शब्दार्थे न प्रमाणम् इति तु न युक्तम् ।

ख—मर्यादायां पञ्चम्याश्रयणेन परमेश्वरातिरिक्त-तृणपर्यन्त-पदार्थ-ज्ञानस्यैव विज्ञानत्वमिति तु व्याकरणाऽनभिज्ञत्वं करपात्रिणः।

३१२ 'ऋग्वेदे परमेश्वरमारभ्य तृण-पर्यन्त-सर्व-पदार्थानां वर्णनं दृश्यते' इति युक्तं किम् ?

३१४ 'सर्वे वेदा यत्पदमित्यादिवाक्यानि वेदान्तदृष्ट्या घटन्ते न दयानन्द-दृष्ट्येति युक्तं किम् ?

३१७ क—नवीन वेदान्तदृष्टिस्तु न वैदिकी ।

ख—मोक्षेश्वरयोरभेदोऽयमुक्तः, तन्न संगच्छते किम् ?

३१८ नहि ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानफलमिति युक्तं किम् ?

३१९ क—'ज्ञानस्य' वस्तु- लक्षणम् ।

ख—मोक्षादिवृत्तिस्वीकारात् मोक्षोऽप्यनित्यः किम् ?

३२२ मुक्तेः पुनरावृत्तिः, तत्कथम् ?

३२३ किं यस्यारम्भः तस्यान्तोऽपि ?

३२४ ब्रह्मणः नित्यत्वे मोक्षस्यापि कथंन नित्यत्वम् ?

३२५ स्वर्गादिवत् स्वभिन्नस्यैव सतो ब्रह्मणो भोग्यत्वेन प्राप्तिरात्म-त्वेन वा ?

३२७ 'ब्रह्म, यदिच्छन्तः विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमानाः वदन्त्युपदिशन्ति' इति निरर्थकं किम् ? व्यापके ब्रह्मणि सर्वेषामेवाध्यासनादुपवेश-नाच्च ।

३२८ 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' 'तत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र मित्येते' समुद्धरणे विरुद्धार्थके किम् ?

३२९ किं वेदेषु न पराविद्या ?

३३२ शास्त्रं पठित्वा···मनुष्याणां ज्ञानं भवतीत्यत्र समानकर्तृकत्वाऽ-भावात् 'त्वा' विधानं किमपाणिनीयम् ?

पृ०

३३३ पृथिवीतृणमारभ्येत्यत्र किं मूलश्रुति-विरोधः ?

३३६ इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणं किं नेश्वरे घटते ?

३३७ ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणेन अनुमितौ व्याप्ति-ज्ञानस्य, शब्दे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य करणत्वात् किं तत्र नाऽव्याप्तिः ?

६४३ (पृ०६) ईश्वर अशरीरी है उसके इन्द्रियां नहीं' परं (पृ० ५३५) इत्यत्र अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल सूक्ष्म शरीरवत्वमपीति पूर्वापर-विरोधः ।

३४४ 'उनके इन्द्रिय नहीं हैं' एतद्वचसा तु बुद्धेरसंतुलनमेव प्रतीयते ।

३४६ यद्यपि परा विद्या अपरा विद्यायाः उत्कृष्टैव, तथापि तव किं स्वोक्तिविरोधोऽपरिहार्यः ?

३४७ यदि सर्व-वेद-तात्पर्यमीश्वरविषयकं तदा 'चत्वारो वेद विषयाः' इति प्रतिपादन-विरोधः किम् ?

३५१ 'उपनिषद्रूप-वेदाक्षर-विषयं हि विज्ञानमिह प्राधान्येन पराविद्येति' तत्किं कपोलकल्पितम् ?

३५२ 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य मित्यत्र ब्रह्मचर्यपदमुपलक्षणं गृहस्थादीनाम् ।

३५३ किं-नहि शंसनं विज्ञानमर्थः ? यतो हि 'एनं परमात्मानम् ऋग्भिः शंसन्ति वर्णयन्ति इत्यर्थः ।

३५४ 'तद्विष्णोः' इतिमन्त्रस्यार्थः ऋषिकृतः न संगतः किम् ?

३५७ सर्वव्यापकस्य नित्यप्राप्तत्वे प्राप्तव्याऽसम्भव इति तु अज्ञानोक्तमेव ।

३५८ साक्षात्कर्तुर्भिन्नत्वेन पुरुषार्थत्वाऽसम्भव इति कथनं तु दर्शन-शास्त्राऽनवगमनमेव ।

३५९ जीव-ब्रह्मणोः भेदस्वीकारे 'तत्त्वमसि' अहं 'ब्रह्माऽस्मि' इत्यादेर-भेदप्रतिपादकश्रुतेः संङ्गतिः ।

३६१ 'त्वद्रीत्या वस्तुपरिच्छेदरहितं ब्रह्म नैव सम्भवति, तस्यान्योन्याऽभावप्रतियोगित्वात्' इत्यस्यस्य समाधानम् ।

३६२ बौद्धवेदान्तिनोः क्व विषये समानकोटित्वम् ?

३६५ वेदान्तिनामभाव-प्रतियोगिब्रह्मणः कल्पना तु अविवेकानुगता ।

पृ०

३९७ 'ईश्वरस्तुति-धर्मानुष्ठान-ज्ञानेन' इति वाक्ये 'ज्ञान' शब्दस्य ईश्वर-पदस्य च कुतो न स्तुत्यादिप्रतिपदसम्बन्धः ?

३९८ क—'धर्मानुष्ठानज्ञानेन' इत्यत्र ज्ञान-रूपस्य साधनस्य ज्ञानमयस्य ब्रह्मणश्चाभेदत्वे कथं संगतिः ?

ख—'अपरो धर्मभेदो लोक-व्यवहार-सिद्धये' यो धर्मेण अर्थकामौ निवर्त्तयितुं संयोज्यते' इति कथनमसंगतं किम् ?

३९९ ईश्वरस्तुत्यादिलक्षणो धर्मः उत ततो भिन्नोऽग्निहोत्राद्यश्वमेध पर्यन्तो वेतिविकल्पस्य संगतिः।

४०० अभिचारशब्दस्य वास्तविकोऽर्थः।

४०१ 'परमेश्वरप्राप्तिमुद्दिश्य कृतं कर्म निष्कामसंज्ञां लभते' किं नैतद्-विचारसहम् ?

४०४ क—'अस्य खलु अनन्त-सुखेन योगात्' इत्यत्र अनन्त-सुखयोगे मुक्तेरनावृत्तिसिद्धेः सिद्धान्त-हानिः।

ख—होमेन वाय्वादिशुद्धिर्न शास्त्रोक्ता' 'प्रत्यक्ष-सिद्धा चेदवैदिकी' इति कथनस्य निस्सारता।

४०५ 'स चाऽग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु होमः क्रियते, स सर्व-जगत्-सुखायैव भवति' कथनमिदमृषेरविचारितरमणीयम् किम् ?

४०७ 'यं चेत्यादि' वाक्ये यमितिसर्वनाम्ना किं परामृश्यते ?

४०८ चार्वाकोच्छिष्टमेवेदं सर्वं दयानन्दीयं मतमित्यस्यालोचना।

४११ क—'गणानां त्वा गणपतिं' मन्त्रस्य महीधरभाष्यालोचना।

ख—'द्रव्य संस्कार कर्मसु इति प्रभृति क्रतुना-धर्मो-जायते नान्यथा' इति स्वामिनोक्तं सर्वं बालभाषितं किम् ?

४१३ 'द्रव्य-संस्कार०' 'द्रव्याणां तु०' इति सूत्रयोरर्थः ऋषिकृतः किं नास्तिक्यावहः ?

२१६ 'द्रव्यसंस्कार-कर्मसु' इति सूत्रे सौत्रश्रुतां सप्तमीमपलप्य प्रथमा-रूपेण तस्याः विपरिणामो बलात्कारः किम् ?

४१७ केन प्रमाणेन द्रव्यशब्देन सुगन्ध्यादीनां ग्रहणम् ?

पृ०

४२१ अन्नेषु किं गोधूमादयोऽपि ग्राह्याः यज्ञे ?

४२२ 'चमसस्तु काष्ठमयस्तत्र घृतं निक्षिप्य प्रतापयितुं न शक्यते' इत्यस्य समाधानम् ।

४२४ यज्ञादुत्पन्नो वाष्पो न जगद्धिताय, नेह च वेद-प्रमाणमित्यस्य खण्डनम् ।

४२५ द्रव्यादिषु कानि फलानि, तानि च कथमनर्थ-निवारणाय, अनर्थ-निवारणं च कथमर्थवादः ? इत्यादि-समाधानम् ।

४३४ ऋषि-प्रयुक्तः-'सुगन्धशब्दोऽशुद्धः' इत्यस्योत्तरम् ।

४३७ 'सर्वेषामेव वैदिक-कर्मणां परार्थत्वेन गुणकर्मत्वमेव स्यात्, तेन तद्बोधकसूत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यादित्यस्योत्तरम् ।

४३९ अग्नेर्धूमो जायते धूमादभ्रमित्यादि प्रमाणं किमर्थमित्यस्योत्तम् ?

४४१ आधुनिक फिनायलादिद्वारैव यज्ञादिं विनैव दौर्गन्ध्यमपैति शुद्धि-रारोग्यं च जायते, तन्न यज्ञफलमेतदित्यस्योत्तरम् ।

४४३ मनुष्यादिसमुदायस्यापीश्वरसृष्टत्वात्तन्निमित्तकस्य दुर्गन्धादेरपि कुतो न परमेश्वरनिमित्तत्वम् ?

४४६ क-मनुष्यै र्यज्ञः इत्यस्य स्थाने 'सर्वैर्मनुष्य-यज्ञः इति पाठ-परिवर्त्तनम् छलम् ।

ख-'द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति' इत्यसङ्गतमित्यस्योत्तरम् ।

४४७ ईश्वरेण सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च, स निरन्तरं रसानाकर्षति' इत्यत्र तत्पदेन सुगन्धपुष्पादेरेव ग्रहणमित्यस्य खण्डनम् ।

४४८ 'तथापि सुगन्ध-पुष्पादिश्च' इति पदं व्यर्थं स्यात् साधुत्वं चास्य चिन्त्यमित्यस्य खण्डनम् ।

४५१ किं गन्ध-युक्त-पार्थिवानामणूनां जले वायौ च न कश्चित् प्रभावः ?

४५३ क-'कस्तूर्यादीनाम्···अग्नौ होमेन दुर्गन्धादेर्नात्यन्तविनाश , तथात्वे न होमस्य जलवायु-शुद्ध्यादिप्रयोजनस्यैव असिद्धिरित्यस्य समाधानम् ।

ख-परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानोत्पादकावयवाऽभ्युपगमे चार्वाकमत-प्रवेशः इत्यस्य खण्डनम् ।

पृ०

४५७ 'अष्टविधं दर्शनम्' इत्यत्र प्रमाणचतुष्टय-प्रतिपादक-गोतमसूत्रोपन्यासस्तु धाष्टर्यम्' इत्यस्य खण्डनम्।

४५९ सन्तान शब्दे नपुंसकलिङ्गप्रयोगोऽशुद्ध इत्यस्य समाधानम्।

४६३ 'नाशो बाह्येन्द्रियादर्शनम्' एवं सति तु बाह्येन्द्रियाऽविषयाणामाकाशादीनां पार्थिव-परमाणूनां च दयानन्दरीत्या नाशापत्तिप्रसङ्ग' इत्यस्योत्तरम्।

४६४ पृथग्भूताः परमाणव एव मिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्ते इत्यङ्गीकारे किं नास्तिक-मत-प्रवेशापत्तिः ?

४६८ बौद्धानां 'स्वलक्षणेषु' न्यायवैशेषिकयोः 'परमाणुषु' च महदन्तरम्।

४६९ सुगन्धिद्रव्यस्येव दुर्गन्धिद्रव्यस्यात्यन्तनाशाऽसम्भवात् तन्निवारणस्यासिद्धत्वात्, यज्ञः दुर्गन्धिनिवारक इतिकथनं निर्मूल मित्यस्य समाधानम्।

४७० फिनायलादिक्रमेण कीटनाशे सम्भवेऽपि यज्ञस्योपयोगिता-प्रयोजनम्।

४७१ 'बुद्धि-सिद्धन्तु तदसत्' इत्यस्य व्याख्यानम्।

४७२ 'सुगन्ध-युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति' इति वाक्यावगमने भ्रान्ति-निवारणम्।

४७३ (क) मन्त्रोच्चारणमन्तराऽपि वायुशुद्धि-सम्भवात् मन्त्रोच्चारण-वैयर्थ्य-शङ्कासमाधानम्।

(ख) प्रणीतादि-पात्रस्थितिनिर्धारणम् अदृष्टफलजनकमित्यस्य खण्डनम्।

४७५ यज्ञे वेद्यादिनिर्माणेन ज्यामितिरेखागणितादिशिल्पकला-सूचन-समर्थनम।

४७६ यज्ञे पशुहिंसाखण्डनम्, दृष्टादृष्टोभयफलसमर्थनञ्च।

४७७ 'अग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति न वेदितुं शक्यं प्रमाणाऽभावात्' इति करपात्रवचनखण्डनम्।

४७९ दयानन्दमार्यसामाजिकान् वाऽभिलक्ष्य 'लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते' इत्यस्य तथा-दृष्टान्तेन खण्डनम्।

पृ०

४८० 'अग्निर्देवता०' (य० १४।२०) इत्यादिमन्त्रे प्रसिद्धाग्न्यादीन् शब्दशक्तिसमुपास्थितानुपेक्ष्य लक्षणया तदबोधकमन्त्रपर्यन्तानुधावनं निर्मूलमित्यस्य समाधानम् ।

४८१ 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे ।' इत्यत्र सम्पत्तिशब्दस्यार्थः सम्पन्नता, सयोगः, मोक्षोवेत्यस्य समर्थनम् ।

४८४ देवतापदैस्तत्तन्मन्त्रबोधनं व्यर्थमित्यस्य आलोचनम् ।

४८५ अग्निमीडे० इत्यादिमन्त्रे अग्निपदेन भौतिकाग्नेरेव ग्रहण खण्डनम्

४८७ 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे' इत्यस्य 'कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति, येन परमेश्वर-प्राप्तिश्च भवति' इत्यर्थकरण-समाधानम् ।

४९० अथातो दैवतं तद्यानि० इत्यत्र ऋषेः 'दैवतं किमुच्यते' इति वाक्ययोजनस्य समाधानम् ।

४९१ 'देवता-परीक्षणे स्वामिना ऋषिरित्यस्यार्थः 'ईश्वरः इत्यस्य' समर्थनम् ।

४९३ 'मन्त्रस्यैव देवतात्वे कथं नाम मन्त्रे देवताऽज्ञानं स्यात्' इत्यस्योत्तरम् ।

४९४ मन्त्रभिन्नदेवतास्वीकरणमृषेः यास्कस्यैव समर्थनम् ।

४९५ (क) 'यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा देवताख्यमित्यर्थकरणमृषेः नाशुद्धम् ।

(ख) 'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वर-देवताकाः' इति व्याख्यानं न तुच्छम् ।

४९६ किं देवतात्वे उपकर्तृत्वं प्रयोजकं द्योतकञ्चोभयं न सम्भवति अननुगमात् ?

४९८ पूर्वं मन्त्रा एव देवता इति, इदानीं तु मन्त्राणां यद्देवत्वमिति, तदेतत् किं मूलविरुद्धं विसङ्गतञ्च ?

४९८ किमिन्द्रियाणीव मन्त्रा अपि न यज्ञस्य साधकाः ?

४९९ नराणां प्रशंसा-करणात् नाराशंसो मनुष्यस्तुतिरूपो मन्त्र एवेति कथनं किं न युक्तम् ?

५०० मनुष्याणां देवत्व-प्रतिपादनम् ।

पृ०

५०१ (क) 'नहि मनुष्याः देवसंज्ञाः देवानां माहाभाग्यात् इत्यस्य खण्डनम् ।

(ख) किमग्नेः नहि द्युस्थानत्वं ? तस्य पृथिवीस्थानत्वात् ।

५०२ 'न तत्र सूर्यो भाति' इति कथनरीत्या परमेश्वर एवोपास्य इति कथनं किं न युक्तम् स्वामिनः ?

५०३ ईश्वरस्य सगुणनिर्गुण विवेचनम् ।

५०४ (क) किं 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यत्र इन्द्रियेषु मुख्यदेवत्वं न युज्यते ?

(ख) 'अर्शत्' इति पाठः किं न वाजसनेयः ?

५०५ गुणदोषकीर्तनं स्तुतिः इति कथनं तुच्छं किम् ?

५०६ 'परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डंप्रत्यस्ति' इति कोऽयं नियमः ?

५०७ 'माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते' इति प्रमाणस्य प्रासङ्गिकता ।

५०९ किं देवाः कर्मणा जायन्ते ?

५११ 'परमात्मा एव सर्गकाले आत्मानं षोढा विभज्य जगद्भावमुपगच्छति' इत्यस्य खण्डनम् ।

५१२ क्वचिच्च परमेश्वरः क्वचिन् मन्त्राः क्वचिन् मनुष्याः देवतापदवाच्याः, तत्किमिदमसङ्गतम् ?

५१४ भाष्यभूमिकायां त्रयस्त्रिंशद्देवतानां प्रतिपादनं किं शतपथ-वचन-विरुद्धम् ?

५१८ अथर्व मन्त्राभ्यां त्रियास्त्रद् देवानां प्रतिपादनमृषेः सुसङ्गतम् किम् ? इन्द्रपदस्य विद्युद्वाचकत्वं न सङ्गतम् ?

५१७ इन्द्रविषयक-भ्रान्ति-निवारणाय किञ्चिद् विशिटं प्रस्तावनम् ।

५२६ शचीपति शब्दस्य विशिष्टार्थाः ।

५२२ अग्निवायु चन्द्रादीनां पुरुषविधत्वं मन्त्रेषु काल्पनिकम् ।

५२३ 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इत्यस्य व्याख्यानमृषिर्न जानाति किम् ?

५२४ देवताप्रसङ्गे समुद्धृतानामथर्वमन्त्राणां प्रासङ्गिकता ।

५२६ सगुणसाकारब्रह्मरूपेण परब्रह्माऽपि उपास्यते इति कथनं न सङ्गतम् किम् ?

५२७ देवशब्दे दिवुधातोः क्रीडा विजिगीषादयः किं सर्वेऽर्थाः सङ्गताः ।

५२८ देव शब्दस्य योगरूढत्व-खण्डनम् ।

५२६ देवशब्दस्य द्युति स्तुति मोद कान्ति ज्ञानादयः अर्थाः परमात्मनि यथावत् संगच्छन्ते अन्येषु तु यावन्मात्रया ।

५३० वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयमापन्नाः इत्यस्य विचारः ।

५३५ शरीरादि-विभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षं च शरीरादि, तदत्र, किं नान्योन्याश्रयदोषः ?

५३६ एकेश्वरोपसना-विधाने-प्रमाणानि ।

५३७ जडपदार्थेषु तदधिष्ठातृदेवोपासना-खण्डनम् ।

५३८ श्री दयानन्दस्य-'न 'ईश्वरातिरिक्तोऽन्य उपास्य' इति कथनं किं बाइविल कुरानादि प्रभावितम् ?

५४३ सूर्याय अर्घ्यप्रदानं नेश्वरपूजनमित्यस्य समर्थनम् ।

५४६ मैक्समूलरादिरीत्या प्रतिपादितः विकासवादसिद्धान्तः दयानन्देन वेदेष्वारोपितः इत्यस्य खण्डनम् ।

५४७ यद्यपि ब्रह्मापरोक्षमेव तथाप्यनाद्यविद्यामायादि-योगेनापरोक्षमपि ब्रह्म परोक्षवदवभासते' इत्यस्याऽऽलोचनम् ।

५४८ नवीनवेदान्तमत-खण्डनम् ।

देवता-स्वरूप-निरूपणम्

५५० विग्रहमदविग्रहमद्देवतास्वरूप विवेचनम् ।

५५१ यदाधारेण ईश्वरभिन्ना देवता अपि ईश्वरवत् पूज्याः मन्यन्ते तदाधार-खण्डनम् ।

५५२ जडदेवेषु चेतनवद्व्यवहार-कारण-व्याख्यानम् ।

पृ०

छन्दोमन्त्रयोरेकत्वम्

●

ओ३म्

'वेदार्थ-कल्पद्रुमः'

'सरस्वती सह धीभिरस्तु'

ऋषीणां हृदयेष्वन्तः स्थितो भूताद्यनुग्रहात् ।
नित्यशब्दार्थसम्बन्धं ह्यनादिनिधनश्रुतिम् ।।१।।
प्राकाशयत् परब्रह्म, आदौ वेदचतुष्टयम् ।
काले काले यथाबुद्धि यद्भाष्यं रचितं बुधैः ।।२।।
भाष्येष्वपि परं केचिद्, निरुक्तादि-प्रदर्शिताम् ।
यौगिकीं पद्धतिं हित्वा, रूढिभाजोऽभवन् यदा ।।३।।
अदर्शयन् हि वेदेषु, इतिहासं च नश्वरम् ।
तदा दूषित-भाष्याणि, तदर्थं व्यधुरन्यथा ।।४।।
परो दयालुर्जन-शं-विधित्सया, श्रुति-प्रतिष्ठां पुनरुद्दिधीर्षुकः ।
ऋषिं दयानन्दसरस्वतीसुतं, प्रमोदलोकात् समनोदयद्धरिः ।।५।।
सुतार्किको दर्शनतत्त्वविज्ञः, सद्वेदराद्धान्तविवेकशीलः ।
समाययौ वैदिकधर्मवृद्ध्यै स्वामी दयानन्द-सरस्वतीऽड्चः ।।६।।

ऋषियों के हृदय में अन्तः स्थित परब्रह्म ने सृष्टि के आदि में प्राणियों पर अनुग्रहेच्छा से, नित्य शब्दार्थ सम्बन्धक, अनादिनिधन श्रवण वेद चतुष्ट्य का प्रकाश किया, जिनका भाष्य समय-समय पर यथामति विद्वानों ने किया ।।१-२।।

परन्तु भाष्य करने में कुछ लोग निरुक्तादि प्रदर्शित यौगिक पद्धति को छोड़कर जब रूढ़ि भाजी बन गये। तब वेदों में नश्वर इतिहास को दिखाते हुये दूषित-भाष्यों ने वेदार्थ को अन्यथा कर दिया ।।३-४।।

तब परम दयालु हरि ने जनकल्याण की विधित्सा से तथा वेदों की प्रतिष्ठा का पुनः उद्धरण करने की कामना से ऋषि दयानन्द सरस्वती रूपी सुत को स्वर्ग लोक से भूमि पर आने को प्रेरित किया ।।५।।

सुतार्किक दर्शन तत्त्वविद्, उत्तम वेदों के सिद्धान्तों के विवेचनशील, पूज्य स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म के वर्धन के लिये आये ।।६।।

ज्ञानोद्याने सुरभित-यशो-वेद-कल्पद्रुमस्य,
पुष्प-व्रातं विकसितमभूदार्षविज्ञानकल्पम् ।
प्रातर्घ्रातुं जनकभवनान्निर्गतोऽयं मिलिन्दो,
विद्वद्-वन्द्यो जयति भुवनेऽसौ दयानन्द-योगी ।।७।।

दयानन्दोऽकार्षीत् श्रुतिमयविपञ्चीं क्वणवतीम्,
मधुस्रावीं सन्तस्तदनुरसने मुग्धमनसः ।
अभूवन् सौभाग्यं सकलमनुमन्यन्त इह ते,
प्रशस्तां तत्-कीर्तिं सततमनुगायन्ति सदसि ।।८।।

परेऽसूया - वृत्ति - प्रहत - रस - संवेदमनसः,
रसं नो वीणाया जगृहुरमलोक्तिस्त्ववितथा ।
महिष्यग्रे वीणारणनमकरोत् साधकजनः,
परं सा रोमन्थं सततमभजत् मूढमनसा ।।९।।

महामेधाविनां श्रेष्ठो, ज्येष्ठो वै योगिनामपि ।
ब्रह्मचर्य-व्रतेनात्मा, यस्याभूत् पावनः परः ।।१०।।

यो वै वसुन्धरा-पुत्रान्, वियुक्तान् धर्म-कर्मणः ।
आयादिह समुद्धर्त्तुं, वेदज्ञानेन शर्मणा ।।११।।

ज्ञान के उद्यान में सुरभित यश वाले वेद-कल्पद्रुम के आर्ष विज्ञानरूपी पुष्पराशि को सूंघने के लिये अपने पितृभवन से विद्वद्-वन्दनीय-योगी दयानन्द रूपी मधुप जीवन के प्रातःकाल में निकला, उसका त्रिभुवन में जय-जयकार हो रहा है ।।६।।

योगी दयानन्द ने मधुस्रवण करने वाली श्रुति-वीणा को निनादित किया, सत्-पुरुष उनके अनुसरण में मुग्ध मन हो गये और अपना सौभाग्य मानकर सभाओं में ऋषिवर की प्रशस्त कीर्ति का अनवरत गान करने लगे ।।८।।

असूया-वृत्ति से प्रनष्टरस-संवेदनवृत्ति वाले अन्य लोग वेद-वीणा का रसास्वादन न कर सके । यह उक्ति सत्य ही सिद्ध हुई कि किसी साधक जन ने भैंस के आगे वीणा बजाई, पर वह मूढ जुगाली ही करती रही ।।९।।

जो ऋषि महामेधावियों में श्रेष्ठ, योगियों में ज्येष्ठ, ब्रह्मचर्य-व्रत से जिनका आत्मा परम पावन था, जो वसुन्धरा के धर्म-कर्म-रहित पुत्रों का कल्याणकारक वेद-ज्ञान से समुद्धार करने के लिये आये थे ।।१०-११।।

धन्यं यशः-सुरभितं विमलं कुलन्ते,
धन्यः पिता गुणवती जननी च धन्या।
धन्या च गौरववती खलु जन्म - भूमिः,
त्वद्-वर्त्मनोऽनुगमने वयमत्र धन्याः ॥१२॥

धन्या अपीड्यमुनयः सुनयस्तु येषां,
भूयस्त्वया सुमनसा तपसोद्धृतो वै।
सा शारदा श्रुतिमयी सुतरान्नु धन्या,
याऽसूत पूतचरितं सुतमद्वितीयम् ॥१३॥

अमन्दसंविन्मकरन्द-माधुरीं, प्रदाय विद्वन्मधुपाय निर्भरम्।
वसुन्धरोद्यानममुञ्चदञ्चितं सुमं प्रतस्थे तु दिवालयं प्रति। १४॥

सुब्रह्मचर्य-व्रत-पावितात्मना, अगादि तेनेयमृगादि-भूमिका।
सत्यप्रकाशो विहितस्तदाऽनया, सुवेदमार्गानुगम-प्रवर्त्तनः ॥१५॥

विद्वज्जनैः शुभ - विचारक - धर्मशीलैः,
निष्पक्षदृग्भिरनिशं भृशमीड्यमानैः।
राद्धान्तकैर्विजयते ननु भूमिकेयम्,
श्रीमद्दया - प्रथम - नन्दकृतिर्वरेण्या ॥१६॥

हे ऋषे! तुम्हारा यश-सुरभित विमल-कुल, पिता, गुणवती जननी और यह गौरवमयी जन्म-भूमि धन्य है, तुम्हारे सन्मार्ग का अनुगमन करने वाले हम लोग भी धन्य हैं ॥१२॥

स्तुत्य-मुनि-वर्ग धन्य हैं, जिनकी सुनीति का ऋषिवर तुमने उद्धार किया, वह श्रुति शारदा भी धन्य है, जिसने तुम जैसा अनुपम पूत चरित सुत उत्पन्न किया ॥१३॥

वह (ऋषि) वसुन्धरा उद्यान का पूजित सुमन, अमन्द ज्ञान की मकरन्द माधुरी को विद्वत् मधुपों को पिलाकर स्वर्गलोक को चला गया ॥१४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत से पवित्रात्मा उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका बनाई, तब इसके द्वारा उत्तम वेद मार्गानुगमन का प्रेरक सत्य प्रकाश सब ओर फैल गया। शुभविचारक धर्मशील निष्पक्षदृग् विद्वज्जनों के द्वारा निरन्तर अत्यन्त प्रशंसित, स्तुत्य सिद्धान्तों से विभूषित, श्री मद्दयानन्द ऋषि की यह वरेण्यकृति 'भूमिका' सर्वत्र विजय-शीला है ॥१५-१६॥

षदं दधौ वै सुमना मनस्विनां मनःसु नो नाम चकार सुध्रुवम् ।
लभेत ना मानसवल्लभं कथं, त्यजेत् कथं वा समवाप्य दुर्लभम् ॥१७॥

अकण्टकं सङ्कटमेव कण्टकं, परं स्वराज्यं प्रतनोति साम्प्रतम् ।
कुतर्क-वाचा-दशनाग्रसूचिभिस्तुदत्यलं मानसपल्लवं भुवि ॥१८॥

अनर्गलं यो नितरां प्रभाषते, शुभार्य-संस्कृत्यतुल-प्रणाशकः ।
अतीत-काले नहि भूत ईदृशो न भावि-काले ह्यपरो भविष्यति ॥१९॥

अपार आसीन् मनसि प्रतिष्ठितः, सुमानभावः सुरगीर्विदस्तव ।
परं दयानन्द-मुनिं प्रति त्वया प्रयोजितं दम्भ-विजृम्भितं वचः । २०॥
अलोपयत्ते गरिमाणमाशु मे सुमानभावं स्थविरस्य साम्प्रतम् ।
असूयया॒ऽऽवर्तित-गालि-राशिदा, प्रवृत्तिरेषा न गरीयसी तव ॥२१॥

कुग्रन्थ-कुम्भ-परिपूर्ण-कुतर्क-जालाम्भःपात्रहस्तमनुजाश्छलसाधुवेशे ।
सद्वैदिकेन्धन-समिद्ध-हुताशनं तम्, आर्षं प्रशामयितुमाययुरासमन्तात्।२२।

उस सुमन ने हम मनस्वियों के मानस में अपना अमर नाम और ध्रुव-स्थान बना लिया है, भला मनुष्य ऐसे मनोरम प्रिय को कैसे पा सकता है ? और कदाचित् इस दुर्लभ को प्राप्त कर कैसे छोड़ सकता है ।।१७।।

परन्तु कांटों ने अपना निष्कण्टक सङ्कट पूर्ण राज्यविस्तार अब प्रारम्भ कर दिया है, जो कुतर्क वाणी की दशनाग्र सूचियों (सुइयों) से भूमण्डल पर सबके मानस (पद्+लव) पल्लवों को छेद-छेद कर व्यथित कर रहा है । जो शुभ आर्य संस्कृति का अतुलनीय विनाशक होकर अनर्गल भाषण कर रहा है, ऐसा कण्टक 'न भूतो न भविष्यति' ।।१८-१९।।

हे करपात्रिन् ! संस्कृत वाणी विद् होने के कारण मेरे हृदय में आपके प्रति अपार सम्मान भाव था; परन्तु मुनिवर दयानन्द के प्रति आपने जो दम्भ-विजृम्भित वचनों का प्रयोग किया है, उसने अब वृद्ध-प्रवर आपके प्रति मानभाव को आपकी गरिमा के साथ-साथ विलुप्त कर दिया है, असूया से ऋषियों को गालिराशि देने वाली आपकी यह प्रवृत्ति (छिछोड़ी है) गरिमा-मयी नहीं है ।।२०-२१।।

कुग्रन्थ रूपी कुम्भ में परिपूर्ण कुतर्क जालरूपी जल पात्र कर में लिये हुये मनुष्य, छल साधुवेश में, उत्तम वैदिक सिद्धान्तों के ईंधन से प्रदीप्त यज्ञाग्नि को बुझाने के लिये सब ओर से आये ।।२२।।

किन्त्वत्र विस्मयमयी घटना समेषां
वैश्वानरोऽयममरो ननु दिव्य एव।
योऽनारतं सलिलराशि - निपातनेन,
उज्ज्वाल - माल इतरोऽधिकमुद्दिदीपे ॥२३॥
विद्याऽनुरागशुभवृत्तिविशुद्धचित्ताः, उत्कृष्टहर्षमपि जग्मुरिवाम्बरे च।
उद्यन्तमिन्दुमवलोक्यचकोरवृन्दं, विद्वांस एवमृषिवर्यमतं प्रशस्तम् ॥२४॥
सत्यात् पराङ्मुखजनो ह्युदरम्भरिर्वा,
मिथ्यामत-भ्रमिकुचक्रनिपातबुद्धिः।
वेद-प्रकाशपरिलोपनयत्नशीलो
द्वेष्टीन्दुभां समुदितान्तु यथा हि चौरः ॥२५॥
मष्तिष्कं श्रुतिविप्रियैरनुदिनं छन्नं पुराणैर्नवैः,
रागद्वेषपरीतमस्ति हृदयं सन्मानवद्वेषि च।
गालीभिर्लसिताधरः करयुगं दुष्कृत्यकारि द्रुतम्,
यस्याङ्घ्रिद्वयमाशु निन्दनपथं प्राप्नोति कोऽयन्नरः ? ॥२६॥
सत्यस्य ग्रहणेऽप्युदारमनसाऽसत्यस्य हाने मुदा,
येषां वृत्तिरनारतं समुदिता ते वन्दनीया जनाः।

किन्तु यह वैश्वानर अमर एवं दिव्य ही निकला, जो निरन्तर (कुतर्की) जलराशि डालने से और प्रचण्ड होता गया, यह सबको आश्चर्य में डालने वाली घटना थी ॥२३॥

विद्यानुरागी विशुद्ध हृदय विद्वान् ऋषिवर्य के प्रशस्त सिद्धान्त देखकर ऐसे ही परम प्रसन्न हुये जैसे चकोर वृन्द अम्बर में उदय होते हुये पूर्ण चन्द्र को देखकर प्रसन्न होता है ॥२४॥

सत्य से पराङ्मुख उदरम्भरि, मिथ्या मत भ्रम के कुचक्र में पड़ी बुद्धि से लोग, ऋषि दयानन्द कृत वेदप्रकाश के परिलोपन में यत्नशील हो द्वेष करने लगे, जैसे समुदित चाँदनी से चोर द्वेष करता है ॥२५॥

जिनका मन श्रुतिविरोधी नवीन पुराणों से प्रतिदिन आच्छन्न है, हृदय सज्जन-द्वेषी और रागद्वेष से परिपूर्ण है। जिनके अधर गालियों से सुशोभित हैं, युगलकर शीघ्र दुष्कृत्यकारी हैं, तथा जिनके चरणद्वय निन्दा के पथ पर तीव्रता से चल रहे हैं, यह मनुष्य कौन हैं ? ॥२६॥

उदार मन से सत्य के ग्रहण करने और प्रसन्नता से असत्य के छोड़ने में जिनकी वृत्ति समुदित है, वे जन वन्दनीय हैं। दीर्घकाल से जो कुमतिपूर्ण पङ्क

दीर्घनिद्रस एव ये कुमतिभृत्-पङ्के निमग्ना इह,
दुर्निर्बन्धनिबन्धनान्धितधियो ध्यायन्ति नो सत्पथम् ॥२७॥
भूमिका - दृढसिद्धान्त-प्रासादं तु कुचेष्टया ।
मृषारोपखनित्रेण खातुं प्रायतताऽबुधः ॥२८॥
परं कुतर्कसिक्थेन, अयोभासेन निर्मितम् ।
खनित्रं निष्फलं तद्वत् करपात्रिमतिश्रमः ॥२९॥
नो भूमिकां दूषयितुं क्षमेत, असूययाऽऽरोपितदोषराशिः ।
गङ्गाप्रवाहं न रुणद्धि जातु, कदाऽपि शैवाल-विशालजालम् ॥३०॥
तृणरचितकुटीरे संस्थितोऽदूरदृष्टिः,
ज्वलदनलमनल्पाङ्गारमामन्त्रयद् वै ।
क्षिपति निचितकाचे संश्रितःशैलखण्डान्,
सुदृढसदनसंस्थस्योपरिष्टात् कुबुद्धिः ॥३१॥
रक्तं पिवेन्न च पयो हि पयोधरेऽपि,
लग्ना स्वभाववशतो यदि सा जलौका ।

में निमग्न हैं, वे दुराग्रह-निबन्धन से अन्ध-बुद्धि होकर सन्मार्ग का ध्यान नहीं रखते ॥२७॥

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के दृढ़ सिद्धान्त-प्रासाद को, अपनी बुरी चेष्टा से झूठे आरोप-रूपी फावड़ों से खोद डालने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे अज्ञानी हैं । लौहवदाभासित कुतर्क रूप मोम से निर्मित फावड़े का फल जिस प्रकार निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार श्री करपात्री महोदय का मतिश्रम भी निष्फल है ॥२८-२९॥

असूया से आरोपित आपकी दोषराशि निर्दोष भूमिका को दूषित नहीं कर सकती, क्या कभी शैवाल-विशाल-जाल, गङ्गा के सन्तत प्रवाह को रोक सकता है ? नहीं ॥३०॥

जैसे तृण रचित कुटीर में स्थित अदूरदृष्टि, जलते हुये अनल्प अङ्गारों का आमन्त्रण कर रहा है, अथवा सुदृढ़ सदन में स्थित व्यक्ति के ऊपर कोई कुबुद्धि काच-निर्मित घर में बैठ कर पाषाण के खण्डों को फेंक रहा है । (उसी प्रकार प्रमाण, युक्ति, तर्क-समन्वित भूमिका पर पुराणनिष्ठ आपके कुतर्क प्रहार हैं) ॥३१॥

जैसे स्तन पर लगी जोंक अपने स्वभाववश दूध न पीकर रक्त पीती है,

एवं न पश्यति खलो, गुणिनां गुणानां,
ग्रामं तृणेन तुलितं, ह्यगुणं चिनोति ।।३२।।
कश्चिद् ग्रामटिकाजनं सुनिपुणः प्रादर्शयद् गान्धिकः,
पौष्पं तैलमसावतीव मधुरं प्राचम्य शस्तिं व्यधात् ।
घ्राणायार्पितमेव हाऽऽचमदिदं तद्वद् भवान् राजते,
कण्ठालङ्कृतये सुभाष्य-सुरभि-स्रक् सा त्वया खण्ड्यते ।।३३।।
सद्यः खण्डनमेव कर्त्तुमवदद्योऽयं 'कणेहत्य' च,
ऋग्वेदादिक भूमिकां-कृतिमिमां सत्यामसूयावशात् ।
यातो गोमयकीट इन्द्रविपिनं कल्पद्रुमाऽऽमोदितम्,
विद्वद्घ्राणपुटस्तु सौरभमहो दुर्गन्धमामन्यते ।।३४।।
ज्ञातुं शक्त शास्त्रविद्यां मनुष्यः, आर्षग्रन्थस्याऽनुशीलेन नित्यम् ।
नो वाऽनार्षग्रन्थपाठाऽनुघोषी, मेधाशून्योऽसूयकः कश्चिदेव ।।३५।।
पौराणिका ऋषिविनिर्मितदर्शनानां,
वैशेष्यबोधनमवाप्तुमशक्नुवन्तः ।
तस्मात् परस्परविरोधमुदीरयन्ति,
निष्कोषतां वत गताऽस्ति मतिस्तदीया ।।३६।।

उसी प्रकार खल-वृत्ति पुरुष गुणियों के गुण-समूह को न देखकर, तृणवत् अगुण को ही चुनता है ।।३२।।

किसी निपुण (इत्र विक्रेता) ने किसी गौंटिया वासी जन को सूंघने के लिये इत्र दिया, उसने आचमन करके माधुर्य की प्रशंसा की । उसी प्रकार आपके कण्ठाभरण के लिये सुभाष्य-सुरभित-भूमिका की माला प्रदान की गई, परन्तु आप उसके खण्ड-२ कर फेंकने लगे ।। आपने असूयावश पृ० ४८३ पर कणेहत्य खण्ड्यते लिखकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के केवल खण्डन करने की प्रतिज्ञा की है, आपको इसमें कहीं एक भी गुण नहीं सूझा । ठीक भी है गुड़वीला गोबर को अपनी नाक में रखकर कल्पद्रुम से सुगन्धित नन्दन वन में भी सौरभ को गोबर की दुर्गन्ध ही समझता है ।।३३-३४।।

आर्ष ग्रन्थों के नित्य अनुशीलन करने से ही मनुष्य वेद रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है, मेधाशून्य होकर अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने और घोखने वाले गुणों में दोषदर्शी (करपात्र) नहीं समझ सकते ।।

अत एव ऋषि विनिर्मित दर्शन ज्ञान में अशक्त पौराणिक, परस्पर विरोधी

शास्त्रार्थ-मोषको निन्देद् दयानन्दं सदर्थिनम् ।
कीदृग्विपर्ययश्चौरः कोटपालं च भर्त्सयेत् ।।३७।।
दयानन्दर्षिलेखेषु शास्त्रप्रामाणिकेष्वपि ।
धाष्ट्र्येनारोपयद् दोषान्, करपात्रस्त्वसूयकः ।।३८।।
विद्याविज्ञानशून्याश्च पौराणिकप्रकल्पिताः ।
गाथा आश्रित्य वेदार्था दूषिताः करपात्रिणा ।।३९।।
सृष्टिक्रमविरुद्धाश्च मृषाढ्याः कल्पिता गिराः ।
परस्पर-विरुद्धास्तु वेदशास्त्राऽप्रमाणिताः ।।४०।।
वेदार्थपारिजातस्य, प्रसङ्गाः दम्भजृम्भिताः ।
मिथ्याक्षेपक - विद्वेष-पूर्ण-पाखण्डमण्डिताः ।।४१।।
वेदा वै ब्राह्मण-ग्रन्था, वेदा न प्रभुनिर्मिताः ।
वेद-शब्दाः अनित्या हि, कार्यत्वादितिमन्यते ।।४२।।
पदन्यायान्यशास्त्राणां रहस्यं ह्यन्यथाब्रुवन् ।
भूमिका-भाष्य-खण्डस्य, साहसं दर्शयत्यहो ।।४३।।

बातें (जैसी वेदार्थ-पारिजात में कही है ।) कहा करते हैं ! वस्तुतः उनकी बुद्धि का दिवाला पिट गया ।।३५-३६।।

शास्त्रों के अर्थ-चौर लोग उत्तम अर्थ वाले ऋषि दयानन्द की निन्दा करते हैं उनपर यही कहावत घटती है कि 'उल्टा चोर, कोतवाल को डाँटे ।" शास्त्र-प्रामाणिक दयानन्दर्षि के लेखों 'में' भी असूयक करपात्री जी ने "धाष्ट्र्य आदि दुर्वचन कहकर दोषों का आरोप किया है ।।३७-३८।।

विद्या विज्ञान से शून्य, पौराणिक कल्पित नश्वर गाथा (कहानिओं) का आश्रय लेकर श्री करपात्री जी ने वेदार्थों को दूषित कर दिया ।।३९।।

वे गाथायें सृष्टिक्रम विरुद्ध, मिथ्यात्व से प्रौढ़, वेदशास्त्रों से अप्रमाणित, परस्पर विरुद्ध कल्पित हैं ।। वेदार्थ-पारिजात के प्रसङ्ग असूयावृत्ति से निन्दित, मिथ्याक्षेप, द्वेष, दम्भ और पाखण्ड से मढे हुये हैं ।।४०-४१।।

करपात्री जी कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं और वेद ईश्वर रचित नहीं है । तथा कार्य होने से वेद शब्द अनित्य हैं ।।४२।।

व्याकरण, न्याय तथा अन्य शास्त्रों की अन्यथा व्याख्या करते हुये ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का खण्डन इनके द्वारा करना दुःसाहसमात्र एवम् आश्चर्यजनक है ।४३।।

सत्यमर्थं लुचित्वा वै वचित्वा क्व नु यास्यसि ?
कुकृत्यकृद् गृहीतोऽस्ति करपात्र-करो मया ॥४४॥
वेदार्थ-पारिजातस्य, दुन्दभेस्तु महारवम् ।
श्रुत्वाऽसारं प्रविश्यान्त र्ज्ञातः पोलः कपोलयोः ॥४५॥
धन्यः परस्पर - विरुद्धविलेखने यः
प्रावीण्यमाप्त इव पुण्य - जनाग्रगण्यः ।
शास्त्राऽप्रमाणितमिदं खलु खण्डनन्ते
आस्यं यदस्ति दशहस्तमिताऽभयेयम् ॥४६॥
रचितवान् करपात्र-महोदयः, ऋषिवरस्य सुभाष्य-विखण्डनम् ।
इदमनल्प-कुकल्पन-गल्पिता-जनित-जल्प-सुकल्पतरो-फलम् ॥४७॥
वेदार्थ-पारिजातस्य वैतण्डिकविनिर्मितेः ।
सप्रमाणमदोऽकारि, मया पाषण्डखण्डनम् ॥४८॥
गोत्रे भार्गववत्सजे सुविदिते मिश्रेत्युपाह्वेकुले,
वैद्य-ज्यौतिष-शब्दशास्त्र कुशलः श्री हेमराजात्मजः ।

सत्य को नष्ट कर वञ्चना कर, अब तुम कहाँ जा रहे हो, ठहरो ! खण्डन का कुकृत्य करने वाला तुम्हारा हाथ मैंने पकड़ लिया है ।४४॥

वेदार्थ-पारिजात-ढोल का महाशब्द सुनकर ज्ञात हुआ कि यह कपोलों का पोल (समूह) निःसार मात्र है ॥४५॥

खेद है, पुण्यजनों में अग्रगण्य होकर अपने परस्पर विरुद्ध लेखन में प्रावीण्य प्राप्त कर तुम धन्य हो । तुम्हारा ऋषि की भूमिका का खण्डन शास्त्र विरुद्ध है, वैसे मुख है, अतः कहते रहिये कि हर दश हाथ की होती है । करपात्र महोदय ने ऋषि के उत्तम भाष्य का भी खण्डन किया है, यह उनकी अपार कुकल्पना के गल्पजनित कल्पतरु का ही फल है ॥४६-४७॥

वितण्डावाददक्ष की रचनारूप वेदार्थ-पारिजात के पाखण्ड का खण्डन मैंने सप्रमाण किया है ॥४८॥

सुविदित वत्स (भार्गव) गोत्र, मिश्र उपाह्व कुल, वैद्यक, ज्योतिष, शब्द शास्त्र में कुशल श्री प० हेमराज मिश्रात्मज, प्राणि हितकारक, विप्रप्रवर श्री प० अयोध्या प्रसाद मिश्र 'वैद्यराज' सुधी एवम् ललिता माता के संस्कारों से संवर्धित विशुद्धानन्द नामक हूं । यथा नाम तथा गुण 'निर्मलामिश्रा मेरी अर्धाङ्गिनी हैं जो साहित्याम्बुधि पर विचरण शीला हैं । वेद शास्त्रों के मर्मज्ञ

विप्रोऽविप्रियकारको जनिजुषो ऽयोध्याप्रसादः सुधीः,
तत्सूनुर्ललिताऽभिधान-जननी, -संस्कार - संवर्धितः ॥४९॥
आनन्दान्तविशुद्ध नामक इयं चार्धाङ्गिनी 'निर्मला',
साहित्याम्बुधिपारगा श्रुति-परा पौराणसिद्धान्तगा।
वेदान्तज्ञविहारिलाल गुरवो, यं दीक्षितं संव्यधुः,
सोऽहं वेदसु-भाष्यभूमिरचना-शङ्का-समाधिं दधे ॥५०॥
यद्बाला अपि सेवकैः सह सदा, स्वां मातृभाषामिव,
भाषन्ते खलु सेवका अपि तथा, प्रत्युत्तरन्तो मुदा।
पत्नी यस्य च 'निर्मला' सुरगिरामाश्रित्य संशोभते,
तेन ध्यात-समस्तशास्त्रमतिना, त्वत्खण्डनं खण्ड्यते ॥५१॥
विश्राम्येत् खलु पण्डितः शिववरः, श्री वैद्यनाथः सुधीः,
शास्त्रारण्य-विहारिणी गुरुवर, श्रीमद्-विहारि-प्रभा।
नो वृद्धोऽमरसिंह एष शतशः, शास्त्रार्थकृत् श्राम्य्तु,
मीमांसाविदयं युधिष्ठिर-सुधी, र्नो चेष्टतां साम्प्रतम् ॥५२॥
सानन्दास्तु 'विवेक' शुद्धमतयः तिष्ठन्तु संन्यासिनः,
विद्वन्मण्डलमण्डनाः विदधतां 'वीरा' न वै चिन्तनाम्।
पाषाणप्रतिमाऽर्चनाऽर्पितमति-श्री 'पाणि-पात्र'-प्रति,—
द्विड्दन्तावल-दीर्घ-दर्प-दलने, सिद्धो विशुद्धो हरिः ॥५३॥

बाणी-भूषण श्री पं० बिहारी लाल जी शास्त्री गुरुवर ने मुझे दीक्षा दी है, मैं ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका पर उठाई शङ्काओं का समाधान कर रहा हूं। जिनके बालक भी मातृभाषा अमरवाणी संस्कृत में सेवकों के साथ वार्त्तालाप करते हैं और प्रसन्नतया सेवक भी संस्कृत में ही उत्तर देते हैं। जिनकी पत्नी निर्मला देवी पण्डिता हैं, वह मैं आपके खण्डन का खण्डन कर रहा हूं ॥४९-५१॥

विद्वद्वर शिवकुमार शास्त्री तथा पण्डित वैद्यनाथ जी भी दूर बैठे रहें, शास्त्रारण्य विहारिणी गुरुवर की प्रतिभा और शास्त्रार्थ-महारथी श्री अमर स्वामीजी भी श्रम न करें तथा मीमांसक प० युधिष्ठर भी अब कष्ट न करें ॥५२॥

विद्वन्मण्डल मंडल श्री उदय वीर जी शास्त्री तथा श्री १०८ स्वामी विवेकानन्द सरस्वती निश्चिन्त होकर विश्राम करें, पाषाण-प्रतिमार्चन में अर्पित मति प्रतिद्वन्द्वी श्री करपात्री रूपी हाथी के दीर्घ दर्प दलन करने में यह विशुद्धानन्द केसरी सर्वथा सिद्ध है ॥५३॥

क्वाऽप्यन्यतस्त्वमपयाहि पुराण-वन्य—
स्थानान्नहि श्रुतिमितस्त उदन्त एषः ।
आखेटिनोऽवट - महीधर - मस्तकेषु,
सिंहस्य चास्य करपात्र विहारभूमिः ॥५४॥
सीदन्तमद्य दुरिताङ्क पुराणपङ्के,
त्वां नो हनिष्यति हरिः श्रितवेदमार्गः ।
योऽहिंसकोऽवति च विष्णुरथोऽविरामम्,
सिंहस्य चास्य करपात्र-विहार-भूमिः ॥५५॥
आवां साधु समध्यगीष्वहि समां, ग्रन्थे समालोचनाम्,
आर्ष-प्रातिभविक्रियाऽनृतवचः-पुष्टि-प्रदां क्लेशदाम् ।
दुर्भावग्रसनाद् विलोपित - मतेस्तल्लेखकस्याऽधुना,
निस्संदिग्धमखर्व-गर्वगलना, सञ्जायतान्तन्मतिः ॥५६॥
वेदार्थे पारिजातो नहि भवति तदा, ग्रन्थकोऽयं गरिम्णा,
गालीदान-प्रवीणः प्रथयति सुतरां स्वामभिख्यां यदाऽयम् ।
वेदार्थे बब्बुलोऽयं श्रुति - विषय - समन्वेषणा-दत्तधीनाम्,
मार्गं नैसर्गिकं यो विमल-मति-मतां, कष्टकैः संरुणद्धि ॥५७॥

पुराणरूपी वनस्थली से हे (आस्य करप) हस्तिन् । तुम कहीं अन्यत्र चले जाओ। यह (श्रुतिगत उदन्त :—वेद सन्देश है) समाचार क्या किसी (शिकारी) के द्वारा तुम्हारे कानों तक नही आ पाया है कि खाड़ी (गर्त) और महीधर मस्तकों पर (उवट और महीधर भाष्यकार) इस सिंह की क्रीड़ा भूमि है ॥५४॥ अगाध पापाङ्क पुराण पङ्क में फंसे हुये दुःखित तुमको, वेदमार्ग गामी अहिंसक यह हरि अब नहीं मारेगा (यो विष्णुरथोगरुडः सः अहिर्भवति साम्प्रतम्—यह गरूड भी अब सर्प की भी रक्षा करने लगा, है) पर हे हस्तिन् ! यह स्मरण रखो कि यह उसी सिंह की क्रीड़ास्थली है, अतः तुम यहां स्वच्छन्द न विचरो ॥ हम दोनों (पति+पत्नी) ने आर्ष प्रतिभा की विक्रिया स्वरूप अनृत वचनों से सुपुष्ट इस ग्रन्थ में समालोचना को सम्यक् पढ़ा है, दुर्भावग्रस्त, लुप्त विचार शक्ति लेखन के ही अखर्व गर्व का गलन निश्चित ही हो जायेगा ॥५६ ॥

वेद-अर्थ-पारिजात तो इस ग्रंथ को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह गरिमा रहित है और गालिदान में प्रशस्त है, इसे वेदार्थ बबूल अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि यह श्रुति विषयों का अवगाहन करने वाले विमल बुद्धि-लोगों के सरल मार्ग को भी अपने वाग्जाल के कांटों से रोकता है ॥५७॥

दुर्वाचां संब्रुवाणः प्रतिपदमभितः साधुवेशः क एषः ?
वाग्जाल-व्याज-जृम्भा-निगलित-निखिल-व्यक्त-सत्य-प्रकाशः ।
सत्यार्थस्य प्रकाशे ह्युदयति गगने सूर्य-बिम्बाभिरामे,
सत्यज्योति-र्नितान्तं रजनि-दिवसयोः को विरुन्धे दिवान्धः ॥५८॥

केचिद्बुद्धिविरोधिनो गुण-गण-ग्राह्याक्षमा द्वेषिणः,
संसारोपकृतिप्रदत्त-सकल-स्वान्तर्बुधां योगिनाम् ।
सत्कार्येष्वपि मत्सर-ग्रसनतश्चिन्वन्ति दोषानिह,
तेभ्योऽसूयन-वृत्ति-दूषित-मनो - वाग्भ्यो नरेभ्यो नमः । ५९॥

महीधराद्याः निगमार्थ-दूषणे, अवापुराशां च परां कुवृत्तयः,
तदर्थमालक्ष्य विदेशिनो जगुः इमाः श्रुताः मेषपतिप्रगीतिकाः ॥६०॥

समस्त-सन्देहविभञ्जनो मुनिस्तदा स्वभाष्यं प्रणिनाय दोषहृत्,
परं स्वदेशीय-नराः पदे-पदे, प्ररूढिभाजः प्रतिरोधमाचरन् ।।६१॥
दुराग्रह-ग्रस्त-मनोजनो मुधा, प्रवीक्षते वन्द्यमहर्षि-निर्मिताम् ।
ऋगादिभाष्य-प्रतिवद्ध-भूमिकामनेक - दोषैर्निचितामसूयया ॥६२॥

वाग्जाल व्याजकी जम्हाई लेकर समस्त व्यक्त सत्य के प्रकाश को निगलने वाला प्रत्येक पद पर (धाष्ट्र्य आदि) दुर्वचनों का प्रयोग करता हुआ साधु के वेश में यह कौन है ? हाँ समझ लिया कि सूर्य बिम्ब के समान अभिराम सत्यार्थ-प्रकाश के उदित होने पर रात और दिन सत्य के प्रकाश को, यह कौन दिन का द्वेषी अबोधान्धकार से प्रेम करने वाला अन्धा है, जो रोक रहा है । ॥५८॥ कतिपय बुद्धि विरोधी, गुण-गणों के ग्रहण करने में अक्षम द्वेषीजन, संसार के उपकार में अपना सर्वस्वार्पण करने वाले विद्वान् योगियों (ऋषि-दयानन्द सदृश) के उत्तम कार्यों में भी डाह से ग्रस्त होकर दोषों को ही खोजा करते हैं, ऐसे उन असूया-वृत्ति-दूषित मानस मन वाणी वाले मनुष्यों को नमस्कार है ॥५९॥

कुवृत्ति महीधर आदि ने वेदों की निन्दा करने में पराकाष्ठा प्राप्त की थी उनके भाष्यों को देखकर विदेशी लोग 'वेद गड़रियों के गीत हैं, ऐसा कहने लगे ।॥६०॥

तब मुनिवर दयानन्द ने वेदों का समस्त सन्देह विभञ्जक निर्दोष भाष्य लिखा, परन्तु रूढ़िग्रस्त स्वदेशी जन भी ऋषि के भाष्य का पद पद पर विरोध करने लगे ॥६१॥ पूर्वाग्रह-दुराग्रहग्रस्त जन, वन्दनीय-महर्षि निर्मितऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को असूया वृत्ति के कारण अनेक दोष वाला देखते हैं ॥ परन्तु जो निर्बन्ध-

अमत्सरो द्वेष-विमुक्त-सन्मतिः, निरस्त-निर्बन्धशुचि-प्रवृत्तिकः।
अपूर्वभाष्यं मनुते, महीधर-प्रणीतमश्लीलमथो विमुञ्चति ॥६३॥
समूलमुन्मूलयितुं श्रुतिद्विषः, कुभावनाः सत्यमना दयानिधिः।
स्वजीवनस्याहुतिमप्यसौ ददौ, सदध्वरे प्राणिसमष्टि-भूतये ॥६४॥
पुनर्महर्षिः शुचिवेद-गौरवं दुराग्रहाऽग्रस्तमनःस्वसाधयत्।
स्वतःप्रमाणत्वमघोषयत् परं, सतां द्विषन्तः कतिचित्तथाप्यहो ॥६५॥

चित्रंत्वन्मतिपात्रक विरचितं, ध्यात्वा च किं वेधसा ?
पक्वं यद्धि पुराण-कुम्भ-पचने, भ्राष्ट्रे भ्रमेद्धेन्धनैः।
यावद्ध्वंसमवाप्नुयान्न 'विमलं', कृत्वा तु तावद, यते!
रिक्तं तत् करपात्र ! पूरय पयोभिश्चाप्तदृक्-सम्मतैः ॥६६॥

कल्पद्रुमस्य सुरगीः - परिषिञ्चितस्य,
छाया सुभावभरिता जनयेत् सुखं शम्।
हिन्दीज्ञ-निर्मलमनोनरपुङ्गवेभ्यः,
रूपान्तरं तु विदधाति हि 'निर्मलेयम् ॥६७॥

रहित, पवित्र प्रकृति के मत्सर रहित-द्वेषमुक्त सत्पुरुष हैं, वे इस भाष्य को अपूर्व मानते हैं, इसलिए महीधर के अश्लील और असभ्य भाष्य को त्याग देते हैं ॥ ६२-६३ ॥

सत्य सङ्कल्प वाले दयानिधि दयानन्द ने वेदद्वेषी कुभावनाओं का समूल उन्मूलन करने के लिए, प्राणियों के कल्याण साधन के लिए इस पवित्र यज्ञ में अपने प्राणों की भी आहुति दे दी। तब महर्षि ने सत् पुरुषों के दुराग्रह रहित मनों में पवित्र वेद के गौरव की पुनः स्थापना की और वेदों का स्वतः प्रमाणत्व घोषित किया, दुःख की बात है कि फिर भी कतिपय लोग द्वेष ही कर रहे हैं ॥६४-६५॥

हे कर-पात्र महोदय। सर्वज्ञ ब्रह्मा ने आपके मतिपात्र की क्या ही-विचित्र रचना की है ? जोकि पुराण कुम्भों के पकाने वाले भाड़ (आंवा) में भ्रम के दीप्त ईंधन से पकाया गया है, हे विचारशील ! जब तक इसका ध्वंस न हो, तब तक इस मतिपात्र को विमल करके, रिक्त पात्र को आप्त दृष्टा ऋषियों के सिद्धान्तरूपी जलों से परिपूर्ण कर लीजिये ॥६६॥

यह वेदार्थ कल्पद्रुम सुरवाणी से मूलतः परिषिञ्चित है, इसकी उत्तम भावमयी छाया हिन्दी जानने वाले निर्मल मनों के लिये भी सुख और कल्याणकारी बन सके। इस विचार से श्रीमती निर्मला देवी ने इस ग्रन्थ का रूपान्तर किया है ॥६७॥

नो साधनं हि विपुलं व्यथितो रुजाऽपि,
स्वास्थ्यं निरीक्ष्य बहुशोऽपि निवार्यमाणः ।
ग्रन्थ-प्रयुक्तमपशब्द - ततिं निशम्य,
शङ्का-समाधि-करणाय समुद्यतोऽहम् ।।६८।।
तत्रापि काचिदवशिष्यत एव शङ्का,
शास्त्रार्थ-वाद-करणाय च खर्जनं स्यात् ।
सन्नद्ध - मेव नितरामपनोदनाय,
जानीहि मान्नु करपात्र यते ! सदैव ।।६९।।
यद्यस्ति प्रतिभा प्रभा-विलसिता, चाह्वानमेतन्मम,
अङ्गीकृत्य समाश्रयन्तु शरणं शास्त्रार्थ-मञ्चाञ्चनम् ।
नोचेत् शक्तिरिहाद्य सन्मुनि-दयानन्दस्य राद्धान्तकान्,
स्वीकृत्यार्य-समाज-साधित-धिया कुर्वन्तु भू-मङ्गलम् ।।७०।।
स्वान्तर्नीड-प्रशान्त-स्थित-जन-विहगान् दुर्मतैश्चञ्चुघातैः
भूयो वा खेदयन्तः कुमति-निशि भृशं घूघुकार-प्रघोषैः ।
रे घूकाः । सन्तु मूकाः उदयति गगने श्रीदयानन्द-सूर्ये,
वेदानां भूमिकायाः प्रसरति परितः सुप्रभात-प्रकाशः ।।७१।।

मेरे पास विपुल साधन भी नहीं और रोग से भी व्यथित हूं, मेरे अस्वास्थ्य को देखकर श्रीमती निर्मला देवी ने मुझे अतिश्रम करने से बहुशः रोका, परन्तु वेदार्थ-पारिजात की ऋषि के प्रति प्रयुक्त अपशब्दावलि को सुनकर तथा विवश होकर करपात्री जी की शङ्काओं का समाधान करने का निश्चय कर लिया ।।६८।।

इस पर भी कोई शंका अवशिष्ट रह गई हो और शास्त्रार्थ वाद करने की खुजली मच रही हो, तो उसके मिटाने के लिए मुझे आप सवदा सन्नद्ध जानिये। ६९।

यदि प्रभा विलसित प्रतिभा हो, तो मेरे इस आह्वान (चुनौती) को स्वीकार कर शास्त्रार्थ मञ्च की शरण का आश्रय लीजिए । कदाचित् शक्ति न हो अथवा समाधान हो गया हो, तो मुनिवर दयानन्द के सिद्धान्तों को अपना कर आय समाज साधित बुद्धिमत्ता से अपना कल्याण कीजिए ।।६०।।

अपने अन्तःकरण रूपी नीडों में प्रशान्त भाव से स्थित आर्य-जन-विहगों को अपनी कुमति रूपी रात्रि में घूघूत्कार प्रघोष रूप दुर्मत चञ्चु-प्रहारों से बार-बार उद्वेजन करते हुए हे ! घूत्कार करने वालों ! अब मूक हो जाओ, क्योंकि श्री दयानन्द रूपी सूर्य के आकाश में समुदित हो जाने पर ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का सुप्रभात-प्रकाश सब ओर फैल रहा है ।।७१।।

रे रे रे भूरिमायाः ! स्व-विवरमधुना संप्रविश्याध्वमाशु,
घोरं पौराणिकं वा उदय - गिरिमगुर्वेद-भानु-प्रभासः ।
हंसाः पाण्डित्य-पूता उषसि कलरवे, मानसस्याग्रभूमौ,
वेदानां भूमिकायाः विमलतर-यशो-गायने दत्तचित्ताः ॥७२॥

रे भूरिमाय ! अब आप अपने पौराणिक (पुराने घोर बिल में प्रविष्ट हो बैठ जाओ, क्योंकि वेद भानु का प्रकृष्ट-प्रकाश उदयाचल पर होने लगा है, मानस (मानसरोवर,) की अग्रभूमि (ऊंचे स्तर) पर पक्षियों के कलरवमय उषः काल में नीर-क्षीर-विवेचनपाण्डित्य से पवित्र हंस, वेदों की भूमिका की अत्यन्त निर्मल महिमा का गान करने लगे हैं ॥७२॥

अथ श्री करपात्रि-कृत-दयानन्दीय-मत-खण्डन-खण्डनम्

श्री करपात्रमहोदयेन महर्षिदयानन्द-सरस्वती-लिखितायाः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः खण्डनं 'वेदार्थ-पारिजात-ग्रन्थे 'दयागन्द-मत-खण्डनम्' इति शीर्षकेण प्रारब्धम् । ततः पूर्वमस्य ग्रंथस्य ४८३ तम-पृष्ठस्य अन्तिम-पङ्क्तौ तेन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायाः प्रति-पद-वाक्य-रचना-सिद्धान्तादीनां खण्डनधिया 'कणेहत्य खण्ड्यते' इति प्रस्तावना कृता । तदर्थ-निष्पादित-ग्रन्थस्य तस्य भाषां भावावलीं सन्दर्भांश्च

'श्री करपात्री कृत दयानन्दीय मत के खण्डन का खण्डन

श्री करपात्री महोदय ने महर्षि-दयानन्द-सरस्वती-विरचित ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का खण्डन 'वेदार्थ-परिजात' में 'दयानन्द मत-खण्डन' इस शीर्षक से प्रारम्भ किया है । उससे पूर्व इस ग्रन्थ के पृ० ४८३ की अन्तिम पंक्ति में ऋषि दयानन्द की भूमिका के प्रत्येक पद वाक्य रचना, सिद्धान्त आदि के खण्डन की बुद्धि से ही 'कणेहत्य खण्डयते' लिखकर प्रस्तावना की है । इसी उद्देश्य से लिखित इस पारिजात-ग्रन्थ की भाषा भावावली और सन्दर्भों का पर्यालोचन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच रहा हूं कि इस काषाय-वस्त्रधारी साधु ने

पर्यालोच्य अहमेतमेव निष्कर्षं समाश्रये यदनेन काषायाम्बरधारिणा संन्यासिनाऽतितरां-पौराणिक-रूढ संस्कार-प्रतिवद्धचेतसा संकीर्ण-वृत्ति विनिविष्ट-धिया असूया-भावाभिभूतात्मना, रागद्वेषपरीत-मनसैव ग्रन्थोऽसौ विरचित इति। ग्रन्थोऽसौ तर्कनिकषाऽसहः, अन्तःसारशून्यो बहिश्च महाडम्बर-कलेवरो वर्तते। सुधियश्च गहनाध्ययनधियाऽव-गमिष्यन्ति, यदयं करपात्र-महोदयः 'भूमिकायाः' वाक्यान्यर्थान्तर मनभीष्टमुद्भाव्य प्रस्तौति। वहुत्र तदभिप्रायं चामोट्य स्वाभीप्सितं प्रतिपादयितुं यतते।

अहम् ऋतम्भरप्रज्ञावतां महर्षि-दयानन्द-सरस्वतीनाम् अविकलं भूमिकालेखं प्रमाण-परिपुष्टं युक्त-युक्तिजुष्टं सर्वथा वेदानुमतमिति परिपोषयितुमेव श्री करपात्र-लेख-समालोचना-पुरःसरम् ऋषिदयानन्द 'भूमिकायाः' भाष्यभूतमेव 'वेदार्थ-कल्प-द्रुम' नाम-ग्रन्थमरचयम्।

पौराणिक रूढ़िगत संस्कारों से अत्यन्त प्रतिबद्ध-चित्त होकर संकीर्णवृत्ति में बुद्धि को अभिनिविष्ट करके असूया-भाव से अभिभूत होकर, रागद्वेष में उलझे-मनसे इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तथा अन्तः सार शून्य एवं बाहरी आडम्बरयुक्त-कलेवर है। विद्वज्जन इसके गहरे अध्ययन से समझ जायेंगे कि श्री करपात्री जी ने 'ऋषि भूमिका' में वाक्यों को ऋषि दयानन्द से अनभीष्ट अर्थान्तर की कल्पना कर प्रस्तुत किया है और बहुत से स्थलों पर अभिप्राय: को तोड़ मरोड़ कर अपने अभीप्सित को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

मैंने, ऋतम्भराप्रज्ञ महर्षि दयानन्द-सरस्वती का अविकल भूमिकालेख, प्रमाणों से परिपुष्ट, युक्ति (तर्क) संगत तथा सर्वथा वेदानुमत है, इस बात की परिपुष्टि करने के लिए श्री करपात्री जी के लेख की आलोचना करते हुए, ऋषिभाष्य-भूमिका के भाष्यभूत 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की रचना की है।



अथ वेदोत्पत्ति-विचारः

"दयानन्दीय-ऋग्वेद-भाष्य-भूमिकायां वेदोत्पत्ति प्रकरण यच्च दयानन्देन" इति वेदार्थ-पारिजाते-४८४ तमे-पृष्ठे अनुच्छेदे १ मे लिखितम् ।

आलोचना—अस्मिन् वाक्ये दयानन्दीयेति प्रयोगानन्तरं 'दयानन्देन' इति पदप्रयोगः पुनरुक्तिदोषदूषितः, विशेषार्थकत्वाभावे पुनः प्रयोगानावश्यकत्वात् । अतः 'दयानन्देन' इति स्थाने 'तेन' इत्येव सुवचम्, यद्वा स्वीय-हिन्दीभाषानुवादकमनुसृत्य 'दयानन्दीय' इति स्थाने 'स्वीय' इति पदं प्रयोज्यम् ।

अपि चास्मिन्नेव वाक्ये श्री करपात्रि-महोदयः 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' स्थाने 'ऋग्वेद-भाष्य-भूमि'केति लिखन् आदावेव 'आदि'

अथ वेदोत्पत्ति-विचार

वेदार्थ-पारिजात के पृ० ४८४ के १ म अनुच्छेद में लिखित "दयानन्दीय··· यच्च दयानन्देन" इस वाक्य में 'दयानन्दीय' शब्द प्रयोग के पश्चात् पुनः 'दयानन्देन' इस पद का प्रयोग पुनरुक्तिदोष से दूषित है, क्योंकि विशेषार्थ के अभाव में फिर से उसी शब्द का प्रयोग अनावश्यक होता है । अतः 'दयानन्देन' के स्थान पर 'तेन' पद का प्रयोग करना चाहिए था अथवा अपने हिन्दी अनु-वादक का अनुसरण करते हुए 'दयानन्दीय' पद के स्थान पर 'स्वीय' (अपनी) यह प्रयोग उपयुक्त था। और इसी वाक्य में 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के स्थान पर 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' लिखते हुए आदि पद का प्रयोग नही किया, यह एक छल है, अथवा अपनी खण्डनीय पुस्तक के पूर्ण नाम के ज्ञान का अभाव है और यदि ज्ञान है, तो यथार्थ का अपलाप किया गया है, क्योंकि स्वामी दयानन्द की भाष्य-भूमिका केवल ऋग्वेद की ही भाष्य-भूमिका नहीं है, अपितु चारों वेदों के भाष्य की भूमिका है, यह यथार्थ है, और जो यह कहा गया है कि 'तस्माद् यज्ञात्', इस यजुर्वेद के मन्त्र मे पटित ऋचः, सामानि, यजुः

शब्दं न प्रयुङ्क्ते । सोऽयमत्र छलं करोति अथवा स्वखण्डनीय-पुस्तकस्य पूर्णमपिनाम न जानातीति प्रतीयते । जानन्नपि यथार्थमपलपतीति वा, यतो हि ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकेयं न केवलमृग्वेदस्यैवापितु चतुर्णामेव वेदानांभाष्य-भूमिकेति यथार्थम् । यदप्युक्तं "तस्माद्यज्ञात् (यजुः ३१।७) इति मन्त्रे 'ऋचः' 'सामानि' 'यजु' रिति मन्त्रवाचकान्येव पदानि न ऋग्वेदादि-पराणि, तथार्थविधाने मानाऽभावादिति" तदज्ञतैव व्यज्यते वैदिकवाङ्मयस्य विषये श्रीकरपात्रिणः । तथाहिः— 'ऋच' इत्यादीनां पदानामिह नूनं वेदवाचकत्वमस्ति, प्रमाणोपलब्धेः ।

तथाहि—भवच्छिरोधार्यः सायणाचार्यः तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य-भूमिकायाम् :—

'ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत' इति मन्त्रस्योद्धरणप्रसंगे "ननु वेदोऽपि कालिदासादि-वाक्यवत् पौरुषेय एव ब्रह्मकार्यत्वश्रवणादितियत् वेदस्य पौरुषयत्वे शङ्कोद्भावनं कृतवान् तत् समर्थयते यदस्मिन्मन्त्रे 'ऋचः' आदिपदानां ऋग्वेदाद्यभिप्राय एव ।

अपि च करपात्रमते ऋगादिशब्दानां मन्त्रवाचकत्वे स्वीकृतेऽपि न वेदातिरिक्त-मन्त्राणां ग्रहण-संभवः, एतस्मात् प्राग् ऋग्वेदाद्यति-

---

शब्द मन्त्र के ही वाचक हैं ऋग्वेदादि के नहीं, क्योंकि इस प्रकार के विधान में प्रमाण का अभाव है" यह भी करपात्री जी की वैदिक-वाङ्मय से अज्ञता का द्योतक है । सुनिए (ऋच) इत्यादि पद यहां वेदवाचक ही हैं, क्योंकि ऐसे प्रमाण मिलते हैं । आपके मान्य सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य भूमिका में ऋचः सामानि जज्ञिरे' इस मन्त्र के प्रसंग में क्या वेद भी कालिदास आदि के वाक्य के समान पौरुषेय हैं, यह शंका उठाई है' इससे यही सूचित होता है कि 'ऋच' आदि शब्दों से आचार्य सायण को भी वेद रूप अर्थ ही अभीष्ट है । और इन शब्दों का मन्त्र वाचकत्व मान लेने पर भी वेदों से अतिरिक्त मन्त्रों का ग्रहण संभव नहीं । क्योंकि इन वेदों से पहले ऋग्वेदादि से भिन्न कोई भी मन्त्र नहीं मिलते जो मन्त्र यहां प्रतीत भी होते हैं वेभी उस वेद से ही सम्बन्धित हैं । अतः 'ऋच' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि से अतिरिक्त का मन्त्रवाचकत्व मानना ठीक नहीं, प्रमाण के न होने से, और ऋषिभाष्य भूमिका में वेदों का ग्रहण करना प्रामाणिक है और आपके पक्ष में प्रमाणाभाव

ारक्त-मन्त्राणामनुपलम्भात् अत्र प्रतीयमाना अपि मन्त्राः तत् तद्वेद-सम्बद्धा एव ।

अतः ऋगादिभिः शब्दैरिह ऋग्वेदाद्यतिरिक्त-मन्त्रवाचकत्वं न स्वीकर्त्तुं योग्यं, मानाभावात् । भवता पूर्वं यच्चाप्युक्तं 'तथार्थविधाने मानाभावादिति, तदपि नूनमविचारितोक्तमेव, यतो हि तत्र बहूनां मानानां समुपलम्भः—तथाहि—

'वाचा विरूप-नित्यया' (ऋग् ८।७५।६) इत्यत्र 'नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया' इति सायणभाष्ये 'नित्यया वाचा' पदेन मन्त्ररूपिणी ऋग्वेदादेरेव वाणी अभिप्रेताऽस्ति । ऋचां यजुषां साम्नां वापि (तत्तल्लक्षण-युतानां) मन्त्राणां बहुलत्वादपि तत्तद्वेदोपयुक्तात्वाच्चेदमेव सिध्यति ।

अग्रेऽपि च 'ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वात्······ प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते स्पष्टम् । 'तस्माद् यज्ञात्········इति मन्त्रोपन्यासाद 'ऋचः इत्यस्यार्थः ऋग्वेद एव फलति । अन्यच्चापि गोपथ-ब्राह्मणे (२।२४) ऋग्वेदविदमेव होतारम् इत्यादि प्रमाणेन तत्रैव च गोपथे 'प्रजापतिर्यज्ञमतनुत । स ऋचैव होतारमकृणोद्, यजुषाऽऽध्व-

---

से 'ऋच' आदि शब्दों का केवल मन्त्र रूप अर्थ करना अप्रामाणिक है। आपने यह जो कहा कि वैसा अर्थ करने में प्रमाण नहीं है, यह भी अविचारित कथन है, क्योंकि बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं । जैसे कि 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ.८-७५-३) यहां सायण भाष्य में नित्य का अभिप्राय उत्पत्तिरहित मन्त्र रूपिणी वाणी से ऋग्वेदादि की वाणीका ही अभिप्राय है। ऋग् यजु अथवा साम मन्त्रों की भी (अपने-२ लक्षणों से युक्त) प्रयोग बहुलता से अपने-अपने वेदत्व के उपयुक्त होने से भी यही सिद्ध होता है।

आगे भी ऋग्वेद की प्राथमिकता सर्वत्र कही जाने से.. और यह प्राथम्य पुरुष सूक्त में स्पष्ट है। 'तस्माद् यज्ञात्... इस मन्त्र के होने से 'ऋक्' का अर्थ ऋग्वेद ही सिद्ध होता है।

और भी देखिये गोपथ (२—२४) में' ब्रह्मा के वरण प्रकरण में ऋग्वेद—वेत्ता को होता, यजुर्वेत्ता को 'अध्वर्यु' आदि बनाकर चतुष्पाद यज्ञ प्रतिष्ठित होता है और इसी प्रकार गोपथ के प्रजापतिर्यज्ञमतनुत·· इत्यादि प्रकरण से भी ऋगादि शब्दों का वेद वाचकत्व सिद्ध होता है।

र्यवं, साम्नोद्गातारं अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वमिति प्रकरणादपि ऋगादि-शब्दानां वेदवाचकत्वं परिपुष्टं भवति।

अपि च सायण-भाष्य-भूमिकायां ६४ तमे पृष्ठे "ननु वेदार्थ-प्रकाशकेस्मिन् ग्रन्थे वेदानां व्याख्येयत्वे सति तत्परित्यज्य यजुरादिकं व्याख्येयत्वेन उपन्यसितुमयुक्तमिति चेत्, नायं दोषः, मन्त्रविशेष-वाचकैर्यजुरादिशब्दैः तत्तन्मन्त्रोपेतानां वेदानामुपलक्षितत्वात्" एतेन ऋचः आदिशब्दैः ऋग्वेदादीनामेवोपलक्षितत्वेन ग्रहणं भवतीति प्रमाणितं भवति। तदेवमिदं सकलं प्रमाणबहुलं विवेचन-दुराग्रह-ग्रस्तधियाप्यङ्गीकर्त्तव्यम्।

अपि च यजुषः एकत्रिंशाध्याये 'चन्द्रमा मनसोजातः इति मन्त्रभाष्ये 'ऋगादिवेदाः··· ··तस्मादेवोत्पन्नाः' इति वदता वेदभाष्य-कारेण महीधरेणापि सुस्पष्टमेव व्याहृतमृगादीनां शब्दानां वेदवाच-कत्वम्।

तदेवं 'मन्त्रवाचकान्येव ऋच आदीनि पदानि' इति ब्रुवताऽनेन करपात्रिणा ऋग्वेदाद्यर्थग्रहणरूप-परपक्षमाक्षिपता, मन्त्रार्थग्रहण-रूपस्वपक्षरक्षणाऽक्षमेण स्वसाध्ये किमपि प्रमाणं नोपन्यस्तमिति नूनं वितण्डास्थानमाश्रितम्।

सायण भाष्य भूमिका में पृ. ६४ पर ननुवेदार्थ-प्रकाशके त्यादि अंश से 'ऋच' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि का ही ग्रहण होता है। यदि यहां यह कहा जाय कि यह सब प्रमाणवाद करपात्री जी की दृष्टि में कुछ नहीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रमाणवाद इतना प्रबल है कि दुराग्रह ग्रस्त बुद्धि वाले व्यक्ति को भी स्वीकार्य होना चाहिए।

यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय से भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्र के भाष्य में 'ऋगादिवेद उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं कहते हुये वेद भाष्य-कार महीधर ने ऋगादि शब्दों का वेदवाचकत्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

इस प्रकार 'ऋगादि पद मन्त्र वाचक ही हैं' कहते हुये इन करपात्री जी ने ऋग्वेदादिरूपार्थपक्ष पर आक्षेप उठाते हुए मंत्रार्थ-रूपस्वपक्ष की रक्षा में प्रमाण उपस्थित करने में असमर्थ होते हुये, निश्चय ही वितण्डास्थान का आश्रय लिया है।

अथान्यदपि विविच्यते विषयेऽस्मिन् । तथाहि:—(पू० प०) प्रश्नोऽयं मीमांसायामेवं समालोचित:—'श्रुतेर्जाताधिकार: स्यात् (मी० ३।३।१) ज्योतिष्टोमे श्रूयते उच्चै: ऋचा क्रियते, उच्चै: साम्ना, उपांशु यजुषेति । तत्र सन्देह: किमृगादि-जातिमधिकृत्य एते शब्दा: प्रवृत्ता: उत वेदमधिकृत्य इत्याद्युपन्यासे पूर्वपक्षे 'ऋचा' आदि शब्दानां श्रवणादेव 'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने माना-भावात् ऋक्त्वाद्यवच्छिन्न-मन्त्राणामेव ग्रहणं भविष्यति न तु वेदानाम् ।

अथ सिद्धान्त-पक्ष: प्रस्तूयते शावर-भाष्य-दिशा—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० ३।३।२) वेदं वाधिकृत्येदमुच्यते । कुत: प्राय-दर्शनात् । वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना: इमे शब्दा: श्रूयन्ते—प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निवायुवादित्या:, ते तपोऽतप्यन्त, तेभ्यस्ते-पानेभ्य: त्रया वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद: आदित्यात् सामवेद: इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते, उच्चै ऋचा

इसके पश्चात् इसी विषय में इसका और भी विवेचन किया जाता है। यह प्रश्न मीमांसा में उठाया गया है (श्रुतेर्जाताधिकार···इत्यादिमी० ६।३।१ सूत्र में ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में उच्चै: ऋचा क्रियते··इत्यादि वाक्यों में जो उच्चैस्त्वादि का विधान है, वह क्या ऋगादि जाति को अधिकृत करके ये शब्द प्रवृत्त हुये हैं वा वेद को अधिकृत करके? इत्यादि प्रकरण में ऋगादि शब्दों के सुनाई पड़ने से उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना में प्रमाण का अभाव होने से ऋक्त्वादि से युक्त मन्त्रों का ही ग्रहण होगा, वेदों का नहीं ।

(सिद्धान्तपक्ष) अब शाबर भाष्य की दृष्टि से सिद्धान्त पक्ष भी प्रस्तुत किया जाता है। वेदो वा प्रायदर्शनात् (३।३।२) सूत्र में वेद को अधिकृत करके यह कहा जा रहा है। क्योंकि वेदों का उपक्रम करके ही उक्त पदों का प्रयोग किया गया है । प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्·· इत्यादि स्थल में प्रजापति एक था, उसने तप किया, उस तप से तीन देवता उत्पन्न हुए, अग्नि, वायु और आदित्य उन्होंने तप किया उनके तप करने से तीन वेद बने । अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, आदित्य से सामवेद, इस प्रकार उपक्रम करके पश्चात् उपसंहार में 'उच्चै ऋचा क्रियते' इत्यादि कथन किया है । इस प्रकार ऋगादि वेदवचनों से यहां भी ऋग्वेदादि का ग्रहण ही उचित है; क्योंकि एक देश के ग्रहण से समु-

त्रियते, उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषेति ।……ऋगादिभिरपि वेद-वचनैरेवोपसंहारेण भवितव्यम्'' एवम् एकदेश-ग्रहणेन समुदायस्य ग्रहणम् इतिन्यायश्चापि सङ्गच्छते ।

उक्तार्थसाधकं लिङ्ग वाऽप्युच्यतेः—लिङ्गाच्च (मी० ३।३।३) 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते'……अत्र ऋक् शब्दं वेदवचनं दर्शयति । तस्मादपि पश्यामः वेदाधिकारा एते शब्दाः । 'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः,' अत्र बहुवचनान्त-वेद-शब्द-प्रयोगः 'ऋचा' आदि-शब्दानां वेदवाचकत्वे लिङ्गम् इति शावरानुशिष्टम् ।

इममेवार्थं दृढीकर्त्तुमन्यदपि—'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः (मी० ३।३।४) इति सूत्र-व्याख्याने 'उच्चैः साम्नेति धर्मो-पदेशात् साम आदीनि पदानि न मन्त्रवाचकानि, प्रत्युत वेदवाचकानि इति संकेतितं भवति । अत्र च ऋगादिशब्दानाम् ऋग्वेदाद्यर्थे स्वीकृते एव तेषामुच्चैस्त्वादिधर्मः सिद्धो भवितुमर्हति । मन्त्रार्थे मते तु न संभवति यतः 'ऋच्यध्यूढं साम गायति' इति वाक्यमनुसृत्य गायनादेव ऋचः उच्चैस्त्वधर्मः स्वयमेव साम अधिगतो भवति, न तद्विधानस्य काप्यावश्यकता । तथा च 'त्रयी विद्याख्या च तद्विदि (मी० ३।३।५) इत्यनेनाप्यवगन्तव्यं यत् ऋग्यजुःसामेति त्रयी प्रसिद्धा । 'त्रयी'

दाय के ग्रहण का नियम न्याय-संगत होने से ऋगादि शब्दों से वेदों का ही ग्रहण सुप्रमाणित होता हैं ।

इस बात की सिद्धि लिङ्ग से भी होती हैं । 'लिङ्गाच्च' मीमाँसा के भाष्य में "ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते' में भी ऋक् शब्द ऋग्वेद के वचनों को प्रकट करता है । यदि ऋक् शब्द ऋग्वेद का वाचक न होता, तो बहुवचन का प्रयोग न होता । ये शब्द वेद के अधिकार को प्रकट करते हैं । 'वेदैर-शून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः यहां बहुवचनान्त वेद-शब्द-प्रयोग 'ऋचा' आदि शब्दों के वेद वाचक होने में लिङ्ग है । यह शाबर भाष्य का अभिप्राय है ।

इसी बात को दृढ़ करने के लिए और भी देखिये :— धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः (मी. सू. ३।३।४) के अनुसार 'उच्चैः साम्ना' इस धर्मोपदेश से साम का उच्चैस्त्वधर्म कथन करने से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है । तथा च 'त्रयी' यह नाम ऋग्, यजु, साम इन तीनों का ही प्रसिद्ध है और त्रयी के साथ विद्या पद का सामानाधिकण्य होने से ऋगादि का वेदवाचित्व स्पष्ट सिद्ध है । इन तीनों को मन्त्रवाची मानने पर 'तद्वेत्ता' को त्रयीविद्यः नहीं कह

शब्दस्य च विद्यापद-सामानाधिकरण्येन ऋच आदीनां, वेदवाचकत्वं सिद्धम् भवति ।

मन्त्रवाचके तु स्वीकृते तद्वेत्तारं 'त्रयीविद्यः' इति वक्तुंन शक्यते 'त्रयीविद्याख्या च तद्विदि' सूत्रस्थः त्रयीविद्याशब्दः अपि इदमेव समर्थयते ।

ननु ऋगादिशब्दानां यदि मन्त्रवाचकत्वं नास्ति वेदवाचकत्वमेव चास्ति, तर्हि ऋचि उच्चैस्त्वस्य यजुषि चोपांशुत्वस्य श्रवणलाभो न स्यात् । अतःऋगादयः शब्दाः मन्त्रवाचका एव न तु वेदवाचका इति चेन्न, 'न सर्वस्मिन् निवेशात्' (मी० ३।३।७) सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उच्चैस्त्वं सर्वस्मिन् यजुर्वेदे चोपांशुत्वं, तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्तायाः ऋचो यजुर्वेदे उपांशुत्वं भवति इति चेन्नैतद्दूषणम् इति तत्र समाहितम् ।

अतः तत्र मन्त्रे ऋगादिपदानां वाच्यो वेद एव न तु मन्त्र इति । एवं सर्वमेतत् प्रमाणबहुलं समालोच्यावगन्तव्यं यत् महर्षिदयानन्दस्य

सकते । त्रयी विद्याख्या च तद्विदि इस मीमांसा सूत्र में 'त्रयी विद्या' शब्द भी इसी बात का समर्थन करता है ।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि यदि ऋगादि शब्द मन्त्र वाचक न होकर वेद वाचक ही हैं तो ऋक् में उच्चैत्व और यजुः में उपाँशुत्व का श्रवण लाभ नहीं होगा ।

इसलिए ऋगादि शब्द मन्त्र वाचक ही हैं वेद वाचक नहीं, यदि यह पक्ष माना जाय तो ठीक नहीं—न 'सर्वस्मिन्' सूत्र के कारण कोई दोष नहीं अर्थात् यदि सम्पूर्ण ऋग्वेद में उच्चैत्व और सम्पूर्ण यजुर्वेद में उपांशुत्व हो, यदि ऋग्वेद में आई हुई ऋचा का यजुर्वेद में उपांशुत्व होता है। तो कोई दोष नहीं इस प्रकार वहाँ समाधान किया है ।

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋगादि शब्दों का ऋग्वेदाद्यर्थ मानने पर ही उनका उच्चैत्व धर्म सिद्ध हो सकता है मन्त्रार्थ मानने पर नहीं, क्योंकि 'ऋच्यध्यूढं .. के अनुसार ऋचा का उच्चैस्त्व धर्म अपने आप ही साम को मिल जाता है, उसके विधान की कोई आवश्यकता नहीं ।

इसलिए महर्षिदयानन्द की भाष्य भूमिका के उस स्थल में ऋचः आदि पदों का वाच्य वेद ही है मन्त्र नहीं ।

शास्त्रतत्त्व-विमर्शन-क्षमा प्रतिभा काप्यद्भुतैवासीदिति, यच्च तेन लिखितं तत् शुद्धमेव लिखितमिति च स्वीकर्त्तव्यम्।

श्रीमन् यतिपदलाच्छन ! भवानेव बोधयतु साम्प्रतं यत् स्वविषये भवतः सच्छास्त्र-सार-निगमागमपारदृश्वेति लेखनसार्थकता क्वागात् ?

अधुना तु महर्षिदयानन्दे मिथ्यारोपारोपणेनानेन श्रुत्यर्थदूषण-बद्धकक्षत्वाक्षत-दक्षत्वमेव भवतो विपश्चिद्भिरक्षिलक्ष्यीक्रियते।

यदप्याह भवान्-'नहिमन्त्रा एव वेदाः वेदत्वबोधक-मन्त्रानुपलब्धेः' तदप्यविचारितचारु।

अत्र हि पृच्छ्यते किं भवदभिप्राय एष यत् स्वतःप्रमाणभूतस्य वेदस्य मन्त्रो नोपलभ्यते ? उतान्यः कश्चित् ?

यदि तावदाद्यः तदा एतेनाऽपि भवदभिप्रायेण ध्वन्यते यन्मन्त्रास्तु वेदगता एव भवन्ति नान्ये ; येषां यस्य वाऽनुपलब्धिं भवान् वक्ति। 'ऋच' आदयश्च शब्दाः भवन्मते मन्त्र-वाचकाः एव। 'ऋच' आदिशब्दैः ऋग्वेदादीनामेव बोधः कथं न स्यात् ? अन्योऽभिप्रायस्तु न संभवति

इस प्रकार इन समस्त प्रमाणों को देखकर समझना चाहिये कि महर्षि दयानन्द में शास्त्र तत्त्व विमर्शन की अद्भुत क्षमता वाली कोई अनोखी प्रतिभा थी और जो कुछ उन्होंने लिखा, ठीक ही लिखा है यह अब आपको स्वीकार करना चाहिए।

संन्यासि-पद-समलंकृत महाराज ! अब आप ही बताइये कि आपकी श्रेष्ठ शास्त्र और वेदों के पार तक पहुंचने की शक्ति की सार्थकता कहाँ चली गई। अब तो महर्षि दयानन्द पर मिथ्यारोप के आरोपण के कारण आपकी श्रुत्यर्थ-दूषणता ही सब विद्वानों को दीख रही है।

और जो आपने कहा है कि मन्त्र ही वेद नहीं, वेदत्व बोधक मन्त्रों की प्राप्ति न होने से, सो भी आपने विना विचारे ही कह डाला है।

अच्छा तो आपसे प्रश्न यह है कि आपका इस बात से अभिप्राय क्या है ? क्या स्वतः प्रमाणभूत वेद का कोई प्रमाण नहीं मिलता अथवा कुछ और ? यदि आपका अभिप्राय प्रथम है तो आपके इस अभिप्राय से ध्वनित होता है कि मन्त्र तो वेदगत ही होते हैं अन्य नहीं, जिनकी या जिसकी अनुलपब्धि को आप बता रहे हैं। क्योंकि ऋचः आदि शब्द आपके मत में मन्त्र वाचक ही हैं

भवतः । अस्मन्मते परतः प्रमाणभूतानां भवन्मते च स्वतः प्रमाणी-कृतानां ब्राह्मणादीनां वहुप्रमाणोपलब्धेः । न चात्रैवं शङ्कनीयं यत् ब्राह्मणादीनां परतः प्रमाणत्वादस्माकं कृते कथं प्रामाण्यं तेषाम् ? अत्रोच्यते ब्राह्मणादीनां प्रामाण्यं तु वेदाऽविरोधित्वे सति तदनुगतत्वे एव जायते ।

अपरं चेदमत्र निभालनीयं यद् व्याकरणेऽपि मन्त्र-शब्देन संहिता-भाग एव गृह्यते न तु ब्राह्मणम् । यथा 'मन्त्रे घसह्वरणश ? (अष्टा० २।४।८०) इति अष्टाध्यायी-सूत्रे –'अज्ञत वाऽस्य पुनर्दन्ताः' (ऐत० ७।१४) इति ऐतरेय-ब्राह्मणगतमिदमुदाहरणं काशिकाकारः प्रादर्शयत् तथा च तत्रोल्लिखितं 'ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्' मन्त्र-ग्रहणं तु इह छन्दस उपलक्षणार्थम् ।

काशिका-टीकाकारोऽपि हरिदत्तः पदमञ्जर्यां टिप्पणीं चक्रे 'कथं पुनर्मन्त्रग्रहणे ब्राह्मणग्रहणं भवति ? तत्राह मन्त्रग्रहणं त्विति, मन्त्रस्य छन्दोरूपत्वात् तेन तदुपलक्ष्यते' इति । शब्दकौस्तुभेऽपि तदनुसारं

फिर 'ऋचः' आदि शब्दों से ऋग्वेद आदि का बोध क्यों न हो ? आपका दूसरा अभिप्राय सम्भव नहीं, क्योंकि हमारे मत में परतः प्रमाणभूत आपके मत में स्वतः प्रमाणीभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनेक प्रमाण मिलते हैं । यहां यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि परतः प्रमाणभूत-ब्राह्मणदि का हमारे मत में प्रामाण्य कैसे होगा ? यहां यह जानना चाहिये कि—

ब्राह्मणदि ग्रन्थों का प्रामाण्य, वेद का अविरोधी तथा वेदानुकूल होने पर ही माना जा सकता है । यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि पाणिनीय व्याकरण में भी मंत्र शब्द से संहिता-भाग ही लिया जाता है ब्राह्मण भाग नहीं । जैसेकि—'मन्त्रे घसह्वरण' (अष्टा २।४।८०) सूत्र में 'अज्ञत वाऽस्य पुनर्दन्ताः' (ऐत० ७।१४) इस ऐतरेय ब्राह्मण के उदाहरण को काशिकाकार ने दिखाया है, जैसाकि यहां लिखा भी है 'ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्' मन्त्रग्रहण तो छन्द के उपलक्षण के लिये है ।

काशिका के टीकाकार हरिदत्त ने भी पदमञ्जरी में टिप्पणी लिखी है—'कथंमन्त्रग्रहणे····· अर्थात् मन्त्र ग्रहण में ब्राह्मण ग्रहण क्यों होता है ? तो इसका उत्तर लिखते हैं कि मन्त्र ग्रहण के विषय में तो, मन्त्र के छन्द रूप होने से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलक्षित होता है । इसी प्रकार 'शब्द

प्रत्यपादि; 'मन्त्रग्रहणं सूत्रे छन्दस उपलक्षणार्थम्, इति ब्राह्मणेऽपि लुक् सिध्यति। एवं पाणिनीय-सूत्रेषु मन्त्रेण संहितायाः छन्दसा च संहिता-ब्राह्मणादीनां ग्रहणं सुस्पष्टमेव एवमनया व्याकरणदृशाऽपि ऋषि-दयानन्दकृतार्थस्यैव पुष्टिर्जायते।

वे० पा० ४८४ तमे पृष्ठे २ यानुच्छेदे यच्चाह "छन्दांसि' इत्यस्य 'अथर्ववेद' इत्यपि निर्मूलोऽर्थः तत्पदस्य ब्राह्मणग्रन्थवाचकत्वाच्च' तदपि नूनमविचारितमेव, यतः छन्दःपदमथर्ववेदस्यापि वाचकं तथाहिः—'यत्र ब्रह्मा पवमानश्छन्दस्यां वाचं वदन्' (ऋग्वेद ९।११३।६) इति स्थले ब्रह्मा छन्दस्यामथर्ववेदीयां वाचं वदन् इत्युक्त-मस्ति। ब्रह्मा च 'तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात'(गो० ब्रा० २।२।५)इति गोपथ-प्रमाणेन अङ्गिरोविदेवार्थाद-थर्ववेदविदेव यज्ञे ब्रह्मत्वेन वृतोभवति। अथ च अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्व मितिच गो० ब्रा० (१.३.१.२) इति प्रमाणेन अथर्ववेदविदेव ब्रह्मा भवति इति कथनात्—तत्र(९।११३।६) ऋग्वेद 'स्थलेऽपि छन्दस्याम्' इति पदस्यार्थः अथर्ववेद एव इति कारणात्, 'छन्दांसि' पदस्यार्थः अथर्ववेद एव। अथापि ऋगादिवेदानां रचनाकाले ब्राह्मणग्रन्थाना-

---

कौस्तुभ' में भी इसी व्याख्यान सूत्र में मन्त्र ग्रहण, छन्द के उपलक्षण के लिये है, इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी (सूत्रकार्य) लुक् सिद्ध होता है। इस प्रकार पाणिनीय सूत्रों में मन्त्र से संहिता और छन्द से संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है। इस प्रकार इस व्याकरण दृष्टि से भी ऋषि दयानन्द-कृत अर्थ की पुष्टि होती है।

वे० पा० के पृ० ४८४ के २ अनुच्छेद में यह जो कहा है कि 'छन्दांसि' पद का अर्थ अथर्ववेद करना निर्मूल है वह पद तो ब्राह्मणग्रन्थों का वाचक है—सो सर्वथा अविचारित ही है, क्योंकि छन्दः पद अथर्ववेद का वाचक है। इसमें 'यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्' यह ऋग्वेद ९-११३-६ का प्रमाण है। ब्रह्मा गोपथ ब्राह्मणों के प्रमाणों के अनुसार अंगिरोवित् अर्थात् अथर्ववेद का ज्ञाता ही चुना जाता है और अथर्ववेद का ज्ञाता ही ब्रह्मा होता है, ऋग्वेद के उक्तस्थल में छन्दस्यां वाचं का अर्थ अथर्ववेदीय वाणी ही है। अतः ऋग्वेद के इस प्रमाण से छन्दांसि पद का अर्थ अथर्ववेद ही सिद्ध होता है ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं। तथा च ऋग्वेददि के रचनाकाल में ब्राह्मण ग्रन्थों की सत्ता ही नहीं थी, अतः छन्दांसि पद से ब्राह्मण ग्रंथरूप अर्थ कदापि संभव नहीं।

मविद्यमानत्वात् 'छन्दांसि' पदेन अथर्ववेदस्यैवग्रहणं संभवति न ब्राह्मणानाम् ।

यदप्युक्तं पारिजाते 'न च ब्राह्मणादिग्रन्थैस्तेषां वेदत्वं सिध्यति, त्वया तेषां प्रामाण्यस्वतस्त्वानभ्युपगमात्' इति तदपि तुच्छमेव; यतोहि भवत्प्रामाऽण्यास्पदमधितिष्ठदिभः सायणादिभिरपि श्री सामश्रमिमते चतुर्णामिव वेदानां स्वतः-प्रामाण्यं स्वीकृतम् । तथाहि सामश्रमी स्वकीये ऐतरेयालोचने ३ये पृष्ठे अलिखत्—"ब्राह्मणानामादिवेद-भाष्यरूपत्वं सिद्धान्तितमिति कथनेन ब्राह्मणानां वेदभाष्यरूपत्वमेव सूच्यते न वेदत्वं, तथा च वेदस्य स्वतःप्रामाण्यं चोदनासूत्रे भट्टकुमारिलैराचार्यै रुपपादितं तथा च श्लोकवार्तिके—

स्वतः सर्वप्रमाणानां, प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः, कर्त्तु मन्येन शक्यते ।।

अपि च 'तत्र बहुधा विवदन्ते',
इति कथनेन च वेदानां स्वतः प्रामाण्यममन्वानानां
मतेऽस्वारस्यं व्यज्यते आचार्य-सायणस्येति प्रोक्तम् ।
वे० पा० ४८४ तमपृष्ठस्य तृतीयेऽनुच्छेदे यदप्युक्तं—
"वेदाः सर्वहुतः सर्वैमनुष्यैर्होतुमादातुं योग्याः सन्ति इति तदपि तुच्छं लिङ्गविभक्तिविपरिणामापत्तेः" तदपि अविचारितोक्तमेव ।

जो यह कहा गया है कि ब्राह्मणादिग्रन्थों से उनका वेदत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आपके द्वारा उनके स्वतः प्रामाण्य होने की स्वीकृति नहीं ।' सो यह भी आपके तुच्छ ज्ञान का परिचायक है, क्योंकि श्री सामश्रमी जी के मत में सायणादि आचार्यों ने वेदों को ही स्वतः प्रमाण माना है ब्राह्मणग्रन्थों को नहीं, जैसाकि सामश्रमी जी ने अपने ग्रंथ 'ऐतरेयालोचन' में पृष्ठ ३ पर लिखा है:— 'ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के सर्वप्रथम भाष्य रूप हैं ऐसा कहने से ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदों का भाष्य- रूप होना ही सूचित होता है वेदत्व नहीं । आचार्यकुमारिल भट्ट ने भी चोदना सूत्र के प्रसंग में वेदों का स्वतः प्रामाण्य ही उपपादित किया है तथा श्लोक- वार्तिक में भी 'स्वतः सर्वप्रमाणाना' मित्यादि प्रतिपादित किया है तथा 'तत्र बहुधा' इत्यादि अंश से वेदों को स्वतः प्रमाण न मानने वाले लोगों के पक्ष में आचार्य सायण की अरुचि प्रकट की है ।

वेदार्थ पारिजात के पृ० ४८४ के ३ य अनुच्छेद में जो यह कहा है कि 'वेदाः सर्वहुत' स्थल में लिङ्ग विभक्ति विपरिणाम की आपत्ति आ जायेगी,

यतो हि विपरिणामेन न कोऽपि दम्भोलिपातो भवति प्रत्युत सर्वहुतः पदस्य वेदविशेषणत्वे सुसङ्गतिरेव, अपि च बहुलार्थ-प्रसव-क्षम-पद-विशिष्टप्रयोगाद् उत्तमकाव्यत्वसिद्धिरेव वेदानाम् । अतः सर्वहुतः इति पदस्य पञ्चमीप्रथमयोर्विभक्त्योः द्वयोरपि सिद्धिसम्भवात् व्याख्याकर्त्तुर्महर्षेर्दयानन्दस्य विशिष्टप्रतिभैव द्योतते ।

यदुप्युक्तं 'न बीजमन्तरा लिङ्गविभक्तिविपरिणामो युक्तः' इति तदपि न युक्तं, अर्थनित्यः परीक्षेत, यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेदिति यास्कोक्तेः प्रामाण्यात् अर्थस्य प्राधान्येन तदनुकूलविभक्तिविपरिणामस्यौचित्यात् ।

उव्वटमहीधराभ्यामपि 'हविषा विधेम' इत्यत्र मन्त्रभाष्ये विदधातिर्दानकर्मा । हविरिति विभक्ति-व्यत्ययो द्वितीयान्तः, 'हविर्दद्मः ।" इति व्यत्ययः कृतः । उव्वटेन तु व्याख्याधर्मेषुः—

अतिरिक्तं पदं त्याज्यं, हीनं वाक्ये निवेशयेत् ।
विप्रकृष्टं तु सन्दध्यादानुपूर्व्यं च कल्पयेत् ।।
लिङ्गं धातुं विभक्तिं च योज्यं वाक्यानुलोमतः ।

सो यह भी ठीक नहीं क्योंकि इनके विपरिणाम से कोई वज्रपात नहीं हो जायेगा, बल्कि सर्वहुतः पद को वेद का विशेषण मानने पर अर्थ की सुसंगति ही हो जाती है । अनेकार्थ-उत्पादन-समर्थ विशिष्ट पदों का प्रयोग करना वेदों के उत्तमकाव्यत्व को ही सिद्ध करता है । 'सर्वहुतः' पद की प्रथमा और पंचमी दोनों ही विभक्तियों में सिद्धि सम्भव होने से प्रथमान्त मानकर व्याख्या करने से व्याख्याकार महर्षि दयानन्द की विशिष्ट-प्रतिभा ही प्रकट होती है । और यह जो कहा है कि बिना बीज के लिङ्ग, विभक्तियों का बदलना ठीक नहीं सो भी करपात्री जी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यास्काचार्य ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि अर्थ को नित्य समझकर परीक्षण करे और अर्थानुकूल विभक्तियों को बदल ले । अतः यास्क के प्रमाण से अर्थ की प्रधानता के कारण अर्थानुकूल विभक्ति का बदलना ठीक ही है ।

उव्वट और महीधर ने भी 'हविषा विधेम' इस मन्त्र भाष्य में धा धातु दानार्थक है और 'हविषा' पद विभक्तिव्यत्यय से द्वितीयार्थ में है, अतः हवि को देते हैं ऐसा अर्थ किया है । उव्वट ने व्याख्याप्रकारों में लिङ्ग और विभक्ति के विपरिणाम को माना है जैसे उसने कहा है—'अतिरिक्तं पद मित्यादि'

इत्येवं लिङ्ग-विभक्ति-विपरिणामो मतः अग्रे च तेन स्पष्टमेव लिखितं यत् लिङ्गं धातुं विभक्तिं च यथार्थं सन्नमयेत् इति ।"

इह सर्वहुतः सर्वैर्हूयमाना वेदाः इति विशिष्टार्थस्योपलब्धिरेव लिङ्गविभक्त्योर्विपरिणामे बीजमिति बोध्यम् । यच्चाप्युच्यते "सर्वहुतः पदस्य सर्वपूज्यत्व-सर्वोपास्यत्व-रूपार्थकरणेन स्वोक्ति-विरोधाच्च" तदपि बुद्ध्यभावजन्यमेव । नह्येकपदस्यानेकार्थ-बोधकत्वे विरोधापत्तिः ।

न चाप्यत्र सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् परब्रह्मणः सर्वमनुष्यैरादातुं योग्यानां वेदानां विषये कश्चिद् विरोधोपगमः ।

अत्र हि प्रतिभा-ग्राह्यस्य वेदार्थस्य लक्ष्यार्थज्ञाने श्री करपात्रिणः अपात्रतैव लक्ष्यते । स्वोक्तिविरोधाच्चेति कथनमपि तस्य बालिशत्व-मेव; यतो हि महीधरादिभिरपि एकस्य शब्दस्यानेकार्थता बहुत्राङ्गी-कृता । यथा 'कुक्कुटोऽसि' (१।१६ यजु०) इति मन्त्रे तेन क्व क्व

अर्थात् अतिरिक्त पद छोड़ देना चाहिये, जो नहीं है उसको निविष्ट करना चाहिये, दूरस्थ को पास और आनुपूर्व्य की कल्पना करनी चाहिये । लिङ्ग, धातु और विभक्ति की वाक्यानुलोम से योजना कर लेनी चाहिये और आगे लिखा है कि लिङ्ग, धातु और विभक्ति को अर्थानुसार मोड़ लेना चाहिये ।

यहां पर 'सर्वहूयमान वेद' इस विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि ही लिङ्ग बिभक्ति के परिणाम में कारण है । और यह जो कहा जा रहा है कि 'सर्वहुतः' पद का सर्वपूज्यत्व तथा सर्वोपास्यत्व अर्थ करने में अपनी उक्ति का विरोधहोगा" सो यह कहना भी बुद्धि के अभाव का सूचक है, क्योंकि एक पद के अनेक अर्थ होने से विरोध की उत्पत्ति कभी नहीं होती और यहां पर तो ब्रह्म के सर्वपूज्य तथा—सर्वोपास्य होने से और वेदों के सर्व मनुष्यों के द्वारा ग्रहणयोग्य होने से कोई विरोध प्राप्त नहीं होता । बुद्धिग्राह्य वेदार्थ में लक्ष्यार्थ के करने, में करपात्री जी की अपात्रता ही सिद्ध होती है स्वयं कहे हुये का विरोध कहना भी अज्ञता का परिचायक है, क्योंकि महीधरादिवेदभाष्यकारों ने एक शब्द की अनेकार्थकता अनेक स्थानों पर स्वीकार की है, जैसेकि कुक्कुटोऽसि (यजु० १।१६) मन्त्र में 'क्व क्व तान्' इत्यादि स्थल में जो कहाँ-कहाँ मारने के लिये घूमता है या जो निन्दित शब्द करता है उसे कुक्कुट कहते हैं, कहकर कुक्कुट की अनेकार्थकता कही है ।

तान् हन्तुमिच्छन् योऽटति, यद्वा कुकं कुत्सितं शब्दं कुटति तनोति इति कुक्कुट इत्याद्यनेकार्थपल्लवनं कृतम्।

यच्चोक्तं—'अतश्छन्दः पदस्य ब्राह्मणग्रन्थ-वाचकत्वमेवेति। तदपि प्रलापमात्रम्। अस्मिन् मन्त्रे 'छन्दांसि' पदेन ब्राह्मणग्रन्थरूपार्थस्य ग्रहणाऽसम्भवात्। एषां हि ब्राह्मणानां वेदोत्पत्त्यनन्तरं संभवाद् वेद-व्याख्यानरूपत्वाच्च वेदत्वासंभवः। नहि कस्यापि मूलग्रन्थस्य व्याख्यानं कदापि मूलग्रन्थो भवति। अतः वेदानां यजुरादिनामभिः सह ब्राह्मणानां ग्रहणं कदापि नोचितम्? ब्राह्मणानां वेद व्याख्यानरूपत्वं तु प्रोक्तं सायणाचार्येण तथाहि—"चतुर्वेदविद्भिः ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि इति"। (व्या० महाभाष्ये ५।१।१) अपि—वेदानधीत्यैव तद्वेदितृभि र्ब्राह्मणैरनन्तरं रचितत्वात् (तेषां ब्राह्मणानाम्) इति प्रोक्तम्।

यत्तु ४८५ तमेपृष्ठे "छन्दःपदस्य वेदपरत्वेन 'छन्दांसि जज्ञिरे' इत्यनेनैव सर्ववेदोत्पत्तिसिद्धौ ऋचः सामानि यजुरित्यादि शब्दानामपि वैयर्थ्यापत्तेरपरिहार्यत्वादिति" प्रोक्तं, तदपि नूनमविचारितमेव। यतः मन्त्रे पठितानामृगादि-पदानां सार्थक्यं तु उपदेश्य-मनुष्याणांम् आदिसर्गे उपदेशनधियैव परमात्मना नाम-संकीर्तन-पूर्वकोपदेशस्याभीष्टत्वात्। अपिच 'छन्दांसि' इति पदेन सर्ववेदानां बोधनकल्पना तु

और जो आपने यह कहा कि छन्दःपद ब्राह्मण ग्रन्थों का ही वाचक है सो भी प्रलापमात्र है। इस मन्त्र में 'छन्दांसि' पद का ब्राह्मणग्रन्थ रूप अर्थ सम्भव नहीं, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के अनन्तर उत्पन्न हुये तथा व्याख्यानरूप हैं वेदरूप नहीं। कभी भी किसी मूलग्रन्थ के व्याख्यान मूलग्रन्थ नहीं होते; अतः यजुः आदि वेदों के नामों के साथ ब्राह्मणों का नाम लेना संगत नहीं।

और 'छन्दः-शब्द वेद परक है, इसलिये 'छन्दांसि जज्ञिरे' इससे ही सब वेदों की उत्पत्ति सिद्ध होने पर ऋचः सामानि शब्दों की व्यर्थता अपरिहार्य होगी" यह कथन भी निश्चय ही अविचारित है क्योंकि मन्त्र में पठित ऋगादि शब्दों की सार्थकता तो यह है कि सृष्टि में उपदेशार्हमनुष्यों के लिये उपदेश की दृष्टि से परमात्मा ने वेदों का नाम-कथन करना ही अभीष्ट समझा। और छन्दांसि पद से सब वेदों को अर्थरूप समझने का प्रयत्न करना तो निराधार ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर नाम लेकर पढ़े

सर्वथा निर्मूलैव। नामग्राहं पठितानामृगादि-शब्दानां वैयर्थ्यापत्तेः, वैयर्थ्ये चान्येष्टापत्तेः सम्भवाभावात्। अतः तेषां त्रयाणां बोधे सति तत्सन्निधानेन सहचरित-परिभाषया छन्दः पदेन अथर्ववेदार्थस्यैव ग्रहणस्य सर्वथा सामीचीन्यं साथक्यं च सिध्यति।

न च 'छन्दांसि' इति पदेन 'सामानि' इत्यस्य विशेषणं परिकल्प्य गायत्रीत्यादीन्येव छन्दांसि ग्रहीतुमभीष्टानि, सर्वेषामेव वेदानां छन्दोमयत्वात्, विशेषणस्य व्यर्थापत्तेः, पुनरुक्तिदोषापत्तेश्च। अपि च 'जज्ञिरे' इति क्रियायाः पृथक्-पठनादपि छन्दांसि इति पदं सामानि इत्यस्य विशेषणं न सम्बोभवीति न चापि गायत्र्यादिच्छन्दसां बोधकम्। यदा चेदं छन्दांसि पदं नापि विशेषणं नापि गायत्र्यादि-छन्दो-बोधकं तदा ऋगादीनां सजातीय-ग्राहकत्वादथर्ववेदस्यैव बोधकमिति निश्चप्रचम् विज्ञेयम्। अपिच स्तुत्यादिपराणां कतिपयानामथर्ववेदीय-मन्त्राणाम् ऋगादिवेदत्रयेऽन्तर्भावेऽपि तदन्येषामृगादिवेदेष्वनन्त-र्गतानां शेषाणामथर्ववेदीयमन्त्राणां छन्दःपदेन बोधनाय 'छन्दांसि' पदस्यार्थः-अथर्ववेद इत्येव संभवति।

ननु छन्दांसीति पदस्य मुख्यार्थबोधकत्वे सति गायत्र्याद्यर्थो भविष्यति न तु अथर्ववेद इति चेत् तदपि न, 'छन्दोभ्यः समाहृत्य

हुये 'ऋचः' आदि शब्दों की भी व्यर्थता का प्रसंग उठ खड़ा होगा और इनकी व्यर्थता मानने पर अन्य कोई इष्टापत्ति की संभावना नहीं है। अतः उन तीनों वेदों के नाम का बोध होने पर उनकी समीपता से 'सहिचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय्य परिभाषा से छन्दः पद के द्वारा अथर्ववेद का ही ग्रहण करना सर्वथा समीचीन और सार्थक है।

छन्दांसि इस पद को सामानि का विशेषण मानकर गायत्री आदि छन्द ही अभीष्ट होने चाहिये यदि ऐसा माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सभी वेद ही छन्दोमय हैं, अतः ऐसा मानने पर छन्दांसि विशेषण लगाना ही व्यर्थ और पुनरुक्त हो जायेगा। तथा च 'जज्ञिरे' क्रिया के पृथक् पढ़ने से भी 'सामानि' का विशेषण नहीं हो सकता और न छन्दांसि पद गायत्री आदि छन्दों का ही बोधक हो सकता है। अतः उभयाभाव में ऋगादि के सजातीय वेद अथर्ववेद का ही छन्दांसि पद (बोधक) ग्राहक है।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि छन्दांसि पद मुख्यार्थ का बोधक होने पर गायत्री आदि छन्दों का ही बोधक होगा सोभी ठीक नहीं, क्योंकि 'छन्दोभ्यः

समम्नाताः' इति स्थले यास्काचार्येण छन्दः पदेन वेदार्थस्यैव ग्रहणात्। अपि च व्याकरणे 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' अयस्मयादीनिच्छन्दसि, छन्दसि लुङ् लङ् लिटः इत्यादिषु बहुषु स्थलेषु छन्दः-शब्दस्य, वेदरूपस्यैवार्थस्य ग्रहणात्। तथा च नहि केनापि ऋषिणा वेद-भाष्यकारेणाऽत्र छन्दःपदेन ब्राह्मणार्थो गृहीतोऽस्ति। आचार्य-सायणेनापि 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपम् (तै० सं० १०।६) इत्यादि-भाष्ये 'यः प्रणवो वेदानां मध्ये ऋषभः इत्युक्त्वा छन्दसामित्यस्य पदस्य वेदानामित्येवार्थः उपात्तः।

अपि च अथर्ववेदस्य दन्त्योष्ठ-विधिनामके ग्रन्थे छन्दः पदेन केवलमथर्ववेदस्यैव वाच्यता

यथा—छन्दस्यध्ययने प्राप्ते, विदुषामथ धीमताम्।
वकार-संशयो नित्यं, स्पष्टं दन्त्यमिति स्म ह ॥

अपि च महामहोपाध्यायः पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदोऽपि छन्दः-पदेन अथर्ववेदस्यैव ग्रहणं विधत्ते। गोपथब्राह्मणे तेन "अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं, तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्स्थानम्" इति स्थले छन्दांसि-पदेन अथर्ववेद इत्यर्थः उपात्तः। अथापि बृहदारण्यकोपनिषदि "यद्येवं किञ्चर्चो यजूंषि सामानि छन्दांसि "इति स्थले छन्दः पद-

---

समाहृत्य·· इस स्थल पर आचार्य यास्क ने छन्द; शब्द का अर्थ वेद ही किया है। और व्याकरण में भी षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा इत्यादि अनेक सूत्रों में छन्दः पर से वेद रूप अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी विशेष महत्त्व की बात है कि किसी भी वेदभाष्यकार ऋषि ने इस स्थल पर छन्दः शब्दः का ब्राह्मण अर्थ नहीं किया है।

आचार्य सायण ने भी 'यश्छन्दसाम्······ (वै० सं० १०।६) के भाष्य में 'जो प्रणव वेदों में ऋषभ के समान है' कहकर छन्दसां' पद का अर्थ वेद ही किया है।

इसी प्रकार अथर्ववेद की दन्त्योष्ठविधि नामक पुस्तक में छन्दः शब्द केवल अथर्ववेद का ही वाचक है जैसेकि—'छन्दस्यध्ययने प्राप्ते' स्थल में स्पष्ट है और महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने छन्दः पद से अथर्ववेद का ग्रहण किया है, गोपथ ब्राह्मण के 'अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं···इत्यादि स्थल में छन्दांसि पद से अथर्ववेद अर्थ ही लिया है।

मथर्ववेद-परम् । अतः धन्य-धन्येन महर्षि-दयानन्देन छन्दांसि इति पदेन चतुर्थस्याथर्ववेदस्य ग्रहणं कृतं तत्सर्वथा प्रामाणिकं संगतं समीचीनं च। अयं तु वेदार्थ-पारिजातकृत् करपात्री वेदार्थ-प्रक्रियानभिज्ञः सर्व-विद्वद्भ्यः पृथक् स्वीयं विश्वनाथ-मन्दिरं रचयति। नैकेनापि विदुषा छन्दः-पदेन इह ब्राह्मण-ग्रन्थस्य ग्रहणमकारि। तदेवं करपात्रिकृतं निर्मूलम् ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकाखण्डनं ध्वस्तं विलोक्य निर्मलोक्तिरियं संगच्छतेः—

> यथा सलिल-धाराभिः वालुकाकृतभित्तिकाः।
> धराशायित्वमायान्ति करपात्रगिरस्तथा ॥
> युक्तयुक्तिवियुक्तास्ताः दम्भाधार-विनिर्मिताः।
> तर्क-प्रमाण-तायैस्तु हताश्चुम्बन्ति वै धराम् ॥

४८५ तमे पृष्ठे २ येऽनुच्छेदे "जज्ञिरेऽजायत इति क्रियाद्वयं वेदानामनेक विद्यावत्त्व-द्योतनार्थमिति तदपि निर्मूलं, बीजमन्तरा उत्पत्त्यर्थिकायाः जनेरनेकविद्यावत्त्वबोधनेऽशक्तेः इति" यदुक्तं करपात्र महोदयेन तदपि अनर्गल-प्रलपितम्। यतोहि तन्मन्त्र-व्याख्याने महर्षि-

बृहदारण्यकोपरिषद् मे भी 'यद्यव किंचर्चो यजूषि'··· इत्यादि स्थल में भी छन्दः पद अथर्ववेद का वाचक है। इसलिये अत्यन्त धन्य महर्षिदयानन्द ने छन्दांसि पद से जो अथर्ववेद का ग्रहण किया है, वह सर्वथा प्रामाणिक सुसंगत एवं समीचीन है, अब अधिक प्रमाण चर्चा की आवश्यकता नहीं। वेदार्थ की प्रक्रिया से अपरिचित ये विचारे वेदार्थ पारिजात के बनाने वाले करपात्री जी ने तो सब विद्वानों से पृथक् ही अपना विश्वनाथ का मन्दिर बना डाला है। यहां पर तो 'निर्मला की यह उक्ति चरितार्थ होती है—जिस प्रकार जलधाराओं के पड़ने से जैसे बालू की भित्तियां धराशायी हो जाती हैं उसी प्रकार करपात्री जी की वाणियां ध्वस्त हो गई हैं क्योंकि वे युक्तयुक्तिओं और प्रमाणों से शून्य हैं और दम्भ के आधार पर खड़ी की गई हैं वे अब इन तर्कप्रमाणों के जलों से कटी हुई धरती को चूम रही हैं।

वे० पा० के पृ० ४८५ के दूसरे अनुच्छेद में "जज्ञिरे तथा अजायत एक ही धातु के दो रूपों का प्रयोग वेदों के अनेक विद्यावत्व के प्रकट करने के लिये किया है, वह भी निर्मूल है (क्योंकि) बिना बीज के उत्पत्त्यर्थक जन् धातु की अनेक विद्यावत्व रूप अर्थ-बोधन में सामर्थ्य नहीं है" यह भी,

दयानन्देन 'जज्ञिरे'ऽजायत 'तस्मात्' इति पदानां पुनरुक्तिदोषोद्भावन-संभावनायां तन्निरासायेदं समाधानं प्रस्तुतम् । यथैकः गुरुः विभिन्नैः सरलैः पौनः पुन्येन रूपान्तरितैः स्पष्टार्थमुच्चारितैः शब्दैः वाक्यैश्च शिष्यमध्यापयति, तथैव गुरूणां गुरुः परमेश्वरः सरलया रीत्या मनुष्यान् 'तस्मात् परमात्मनः 'छन्दांसि जज्ञिरे' समुत्पन्नान्यभूवन्, 'यजुस्तस्मादजायत' यजुर्वेदोऽपि तस्मादेव परमात्मनः उत्पन्नोऽभवत्, इति बोधयति ।

ननु सकृदुच्चारणेनाऽपि तदर्थस्यैवाभ्युपगमो जायेत, किमर्थं पौनः पुन्येन तस्यैव धातोः प्रयोगः ?

इति चेत् समाधीयते, क्रियायाः जनिधातोः, तस्मादिति पदस्य च अभ्यास-पठनं वेदानां बहुविद्यावत्व-सूचकं, 'तस्मात्' इत्यनेन च परमेश्वरादेव तदुत्पत्तेरवधारणञ्च । तथा चाह यास्काचार्यः 'प्रतद्वोचेय' मित्यादिमन्त्र-निर्वचने 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति । तट्टीकायां चापि दुर्गाचार्यः "शब्दाभ्यासे यत्रान्योऽपि

करपात्री जी का अनर्गलप्रलाप है, क्योंकि उस मन्त्र के व्याख्यान में महर्षि दयानन्द ने जज्ञिरे, अजायत और तस्मात् पदों की एकार्थक आवृत्ति से पुनरुक्तार्थ दोष की संभावना को हटाने के लिये उक्त समाधान किया है । जैसे कि एक गुरु भिन्न-भिन्न सरल और स्पष्ट वाक्यों से शब्दान्तरों में कहकर शिष्य को समझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार गुरुओं के गुरु परमपिता परमात्मा ने भी एक ही बात को शब्दान्तर से कहकर समझाया है—उस परमात्मा से छन्द उत्पन्न हुये और उससे यजुर्वेद भी उत्पन्न हुआ ।

यदि यहां यह कहा जाये कि एक बार ही शब्दोच्चारण से उसी अर्थ का बोध हो जायेगा उसी धातु का पुनः प्रयोग क्यों ?

यदि ऐसी बात है तो उसका समाधान यह है कि जन् धातु की क्रिया 'जज्ञिरे' और अजायत' का दो बार पठन वेदों के अनेकविद्यायुक्त होने का सूचक है और 'तस्मात्' पद से उसी परमेश्वर से ही वेदों के उत्पन्न होने का निश्चय होता है जैसा कि यास्काचार्य जी 'प्रतद्वोचेयम्' इस मन्त्र के निर्वचन में कहते हैं कि अभ्यास अर्थात् पुनः पठन से अर्थ का आधिक्य माना जाता है, जैसेकि अहोदर्शनीय अहोदर्शनीय, यह दो बार कहने से 'यह अत्यन्तदर्शनीय है'

शेषो नास्ति तत्रैवं विशेषमाचार्याः मन्त्रार्थ-तत्त्वविदो मन्यन्ते, यदुतार्थ-भूयस्त्वमिति, नहि अकस्मात् स एव शब्दः पुनरभ्यस्यते। लोकेऽपि चैतददृष्टं, शब्दाभ्यासेऽर्थभूयस्त्वमिति यथाहो दर्शनीयेति गुणातिशये हि शब्दाभ्यासः तस्मात्मन्त्रेष्वपि तद्वदेवेति न्याय्यम्।"

ननु चात्र क्रियार्थस्यैवाभ्यासभूयस्त्व-संभवः स्यादिति चेन्न, ऋचः सामानि, छन्दांसि इति बहुवचन-प्रयोगेण तदुद्दिष्ट जनिक्रिया—बहुत्वे वेदानामनेक-विद्यावत्त्व-प्रतिपादनव्यञ्जकत्वात्।

अथ च 'तस्माद्यज्ञात् इति मन्त्रे प्रथमप्रयुक्तेन 'तस्मात्' इति शब्देन पूर्वर्चवर्णितात् पुरुषादिति परामृश्यते। द्वितीयेन 'तस्माद्' इत्यनेन 'यस्मात्सर्वहुतः इत्येतस्य परामर्श एवेति अवधारणं व्यज्यते। तृतीयेन 'तस्मादित्यनेन' च परिपुष्टि र्लक्ष्यते।

'नोत्पाद्यभेदेन कर्त्तृ-सिद्धिरित्यप्यर्थेऽभिन्न एवार्थः निष्कृष्टो भवता। तदेवं हस्तं भ्रामयित्वा नासिकाग्रहणमकारि। अथ च भवता स्वप्रयुक्ताः धृष्टं, अयुक्तिकं, तुच्छं, बालभाषितमित्यादि-शब्दाः नृपनापित-पुत्र-न्यायेन बहु असन्यन्त।

यह अर्थ निकलता है। इसकी टीका में दुर्गाचार्य इसी बात की पुष्टि करते हैं—शब्दाभ्यासेऽर्थ भूयस्त्वमिति अर्थात् शब्द की पुनरावृत्ति से अर्थ का आधिक्य प्रकट होता है अतः लोक-व्यवहार के समान वेद में भी शब्दों का आवर्त्तन है जो कि न्याय्य है।

यहां पर क्रिया का ही आवर्त्तन सम्भव है ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ऋचः सामानि और छन्दांसि इनमें बहुवचन के प्रयोग से तदर्थ दी गई क्रिया 'जज्ञिरे' के बहुवचन में वेदों की अनेक विद्याओं के प्रतिपादन की की व्यञ्जना की गई है, तस्माद् यज्ञात् ......इस मन्त्र में प्रथमप्रयुक्त 'तस्मात्' इस शब्द से पूर्व ऋचा में वर्णित पुरुष (परमात्मा) से तात्पर्य है। तथा च द्वितीय 'तस्माद्' पद से 'यस्मात्- सर्वहुतः' इसका परामर्श है अर्थात् उससे ही यह अवधारण निकलता है। तीसरे 'तस्मात्' पद से इसकी पुष्टि होती है। उत्पाद्य भेद से कर्त्ता की सिद्धि नहीं, इससे अभिन्न अर्थ ही आपने निकाला है। आपने तो इस प्रकार हाथ घुमाकर नासिका पकड़ने जैसी बात की है और अपने प्रयुक्त धृष्ट, युक्तिशून्य, तुच्छ बालभाषित आदि शब्दों को आप नृप-नापित-पुत्र न्याय से बहुत मान बैठे हो।

पृ० ४८६ तमस्य २येऽनुच्छेदे "यत्तु सर्वजगत्········त्रेधा पद-निधानानुपपत्तेः" इत्यादि—स्थले "यज्ञो वै विष्णुरिति वचनोद्धरणेन यज्ञे विष्णत्वारोपेण न प्रसङ्गाभिप्रायपुष्टिः, यतो हि नहि यज्ञशब्दस्य व्यापकत्वमर्थः' इति यत् कथितं, तदपि नूनमज्ञत्व-द्योतकम्, यतः निघण्टौ भगवता यास्केन पञ्चदशसु यज्ञपर्यायेषु विष्णुरित्यपि शब्दः परिगणितः। तत्र च व्याख्यात्रा देवराजेन विष्णु-शब्दस्य सिद्धिः जुहोत्यादिगणस्थ-व्याप्त्यर्थक-विष्लृ-धातुना कृता।

अपि च तस्माद्यज्ञादिति मन्त्रे यज्ञरूपात् परमेश्वरात् सर्व-ज्ञान-संपन्नानां वेदानामुत्पत्तिरुक्ता। सा च सर्वज्ञादेव परमेश्वरात् संभवति। सर्वज्ञश्च सर्वव्यापक एव भवितुमर्हति। यो न सर्वव्यापकः नाऽसौ सर्वज्ञः अतोऽस्मिन् मन्त्रे यज्ञ-पदस्यार्थः सर्वव्यापक इति व्यज्यते। यज्ञ-रूपः विष्णुः सर्वदेव-पूज्यः, संगमनीयः सर्वव्यापकश्चेति निष्कृष्टम्।

यत्तु लेखकेन 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इति मन्त्रस्थेन, विचक्रमे पदेन अवतारवादस्य भूमिकायाः प्रस्तावनं कृतं, तत्तु तस्य स्वबुद्धेर्निष्कोषता-सूचनमेव। यतः न तेनाद्यावधि अवतारवाद-साधकः कोऽपि वैदिको मन्त्रः प्रस्तुतीकृतः। अथ च श्री पं० सामश्रमिणा 'ऐतरेयालोचने' 'इदं

पृ० ४८६ के २ य अनुच्छेद में 'यत्तु सर्वजगत्·· अनुपपत्तेः' इत्यादिस्थल में 'यज्ञो वै विष्णुः' इस वचन के उद्धरण से यज्ञ पर विष्णुत्वारोप से उस प्रसङ्ग का अभिप्राय पुष्ट नहीं होता क्योंकि यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक नहीं है, इस प्रकार करपात्री जी ने कहा है वह भी उनकी अज्ञता का द्योतक है। क्योंकि निघण्टु में यास्काचार्य ने यज्ञ के १५ पर्याय शब्दों में विष्णु शब्द को भी पढ़ा है और वहां व्याख्याकार देवराज ने विष्णु शब्द की सिद्धि जुहोत्यादि-गण की विष्लु व्याप्तौ धातु से की है इसलिये यज्ञ और विष्णु के पर्यायवाची होने पर यज्ञ का भी अर्थ व्यापक निकलता है।

तथा च 'तस्माद् यज्ञात्' इस मन्त्र में परमेश्वर को सर्वज्ञान संपन्नवेदों का उत्पत्ति स्थान कहा है। सर्वज्ञ ही ऐसे वेदों का उत्पादक हो सकता है और सर्वज्ञ ही सर्वव्यापक हो सकता है अन्य नहीं, अतः सर्वदेवपूज्य सबके द्वारा सर्वत्र प्राप्य सवव्यापक वही यज्ञ-रूप विष्णु है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है।

लेखक ने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र के द्वारा अवतारवाद की भूमिका का प्रस्ताव किया है, सो वह उसने अपनी बुद्धि का दिवालियापन ही

विष्णुर्विचक्रमे' इति मन्त्र-प्रसङ्गे (१९५ तमे पृष्ठे) सायणविषये लिखितं —"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् इत्युदाहरणभूतेन तेन सायणाचार्येण अनृतैतिहासिक-परतया व्याख्यानं कृतमिति ।"

यदप्युक्तं श्री करपात्रिणा "इदं विष्णोः विक्रमबोधकं वचनं तत् निराकारस्य नोपपद्यते व्यापकस्य, त्रेधापद-निधानानुपपत्तेः" इति तदप्यज्ञानजन्यमेव, एतस्य मन्त्रस्य वास्तविकार्थस्य ज्ञानाऽभावात् । वस्तु-व्याख्यानम् अत्रोच्यते—स विष्णुः व्यापकः परमेश्वरः तस्य पृथिव्यादि-प्रकाशरहित, सूर्यादिप्रकाशसहितं परमाण्वादिसूक्ष्ममिति त्रेधापद-व्याख्वानं सुसंगतम् । अथापि १९६ तमे पृष्ठे ऐतरेयालाचने सोऽयमेक एव विष्णुः, पृथिव्या पाचक-दाहक-विद्रावक-जाठर-दाव-वाडव-गार्हपत्याहवनीय-दक्षिणेत्यादि-वहुविधाग्निरूपेणावतिष्ठते । अन्तरिक्षे विद्युद्रूपेण वाष्पाकारवायुरूपेण वा दिवि सूर्यरूपेणेति । तत्राऽस्य पार्थिवं रूपं सर्वाक्षिसाक्षिगोचरं, द्युस्थं सौरमपि रूपं सर्व—विदितं माध्यमिकं विद्युद्रूपं न हि स्थिरं दृश्यमस्ति। अतएवोक्तं, 'स्वपनमेतन्माध्यामिकं रूपमनित्य-दर्शनम् इति (निरु० ५।११।३)। वैश्वानर-व्याख्यायामेव अग्न-विद्युदादित्यानां क्रमात् पृथिव्यन्तरिक्ष-द्युस्थानत्वमप्येकात्मकत्वमप्युपपादितं द्रष्टव्यम् (नि० ७।६।७)।

सूचित किया है । क्योंकि उन्होंने अवतारवाद की सिद्धि में आज तक एक भी वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया है, इसके अतिरिक्त वैदिक विद्वान् श्री पं० सामश्रमी जी ने अपने ग्रन्थ ऐतरेयालोचन में सायण के विषय में बड़ा ही कमाल का लिखा है—'जिसकी अपनी स्वयं की बुद्धि नहीं है इस बात के उदाहरणभूत सायणचार्य ने 'इदं विष्णु विचक्रमे' मन्त्र का झूठा ऐतिहासिक व्याख्यान किया है ।'

और करपात्री जी ने यह जो बात कही है कि—विष्णु का विक्रम बोधक-वचन निराकार और व्यापक परमात्मा में घटित नहीं होता क्योंकि निराकारत्व मानने पर परमात्मा का तीन प्रकार का पद का विधान संभव नहीं, सो यह भी अज्ञानजन्य ही है क्योंकि उन्होंने मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं जाना ।

इस विषय में विष्णु के त्रेधा पद विधान का व्याख्यान इस प्रकार है कि उस विष्णु ने पृथिव्यादिप्रकाश-रहित, सूर्यादिप्रकाश-सहित और परमाण्वादि-सूक्ष्मरूप, तीन प्रकार का अपना पदन्यास रूप कार्य का विधान किया है । सो

तदित्थमसौ एव प्रत्यक्षः सूर्यः त्रिलोकव्यापी ज्योतिःस्वरूपो विष्णुः न चास्य माध्यमिकत्व—स्वरूपदर्शनमस्तीति शाकपूणिमते सम्पन्नं विष्णु-विज्ञानमिति । अपि च ऐतरेयालोचने ११३ तमे पृष्ठे विष्णुरेते दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः इति (तैत्ति० १।२।१३।२) इह विष्णुः सूर्य एव । वाल्मीकि-रामायणेऽपि—

एकेन हि पदा कृत्स्नां पृथिवीं सोऽध्यतिष्ठत ।
द्वितीयेनाव्ययं व्योम द्यां तृतीयेन राघव ।। (बा० रा० १।३१।१९)

अत्रविषये श्री पं० सामश्रमिमहोदयानामैतरेयालोचने १९८ तमे पृष्ठे कृता टिप्पणी नूनमवधेया तथाहि—"अहो पौराणिक काल-माहात्म्यम् । अहो यज्ञपर-व्याख्यान मात्राध्ययनाध्यापन-माहात्म्यम् ।

निराकार परमात्मा में यह त्रेधा-पद-विधान संभव है । और ऐतरेयालोचन के पृ० १९६ पर सामश्रमी जी का कथन है :— एक ही विष्णु पृथिवी पर पाचक, दाहक, विद्रावक उदराग्नि दावाग्नि और वाडवाग्नि तथा गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणा इत्यादि बहुविध अग्निरूप से अवस्थित है । अन्तरिक्ष में वही विष्णु विद्युत्-रूप से द्यौ-लोक में सूर्यरूप से विराजमान है । इसका पार्थिवरूप और सूर्य सम्बन्धीरूप सबको सदा प्रत्यक्ष रहता है । माध्यमिक-विद्युत्रूप स्थिररूप से सदा दृश्य नहीं होता । इसलिये कहा है— "यह माध्यमिक स्वपनरूप अनित्य-दर्शन है (नि० ५।१।३) ।

वैश्वानर शब्द की व्याख्या में ही अग्नि, विद्युत्, आदित्य क्रम से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युस्थानत्व एवं एकात्मत्व का उपपादन किया गया है ।

इस प्रकार वही प्रत्यक्ष सूर्य त्रिलोक में व्याप्त प्रकाशस्वरूप विष्णु है माध्यमिक का स्वरूपदर्शन नहीं होता है यह शाकपूणि के मत में विष्णु विज्ञान है ।

(ऐत० पृ० ११३) पर विष्णुरेते दाधार······इस तैत्तिरीय उपनिषद् के स्थल में विष्णु सूर्य ही है । बाल्मीकि रामायण में भी (१।३१।१९) में कहा गया है :—हे राघव वह विष्णु (सूर्य) एक चरण से समस्त पृथिवी दूसरे से आकाश लोक और तृतीय से द्युलोक में विराजमान है ।"

इस विषय में श्री पं० सामश्रमी जी की 'ऐतरेयालोचन' पृ० १९८ में की हुई टिप्पणी निश्चय ही ध्यान देने योग्य है । जैसेकि— अरे पौराणिक-युग की महिमा ! अरे यज्ञपरक व्याख्यामात्र अध्ययन और अध्यापन का माहात्म्य !

अहो बालानां कल्पिताख्यान-प्रियतानुगत्यम् । यदत्र सर्वब्राह्मण-निरुक्तादिकमालोचयताऽपि सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येण व्याख्यातोऽयं मन्त्रः "विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी" इत्यादिनेति । अथवा श्रूयते एवैतत्—'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्' किंच ये वै सर्वशक्तिमतोऽपीश्वरस्य "परित्राणायसाधूनाम् (गी० ४।८) इति युगे-युगेऽवतरणं भवत्येवेति अवतार-कथायां विश्वासं कुर्वन्ति । विश्वसेयुश्च बाइविल-कथिताऽति-श्रान्तेश्वर-विश्राम-वार-कथायामपि तादृशानां हि देवप्रियाणां एतादृशेऽथ कास्ति चित्रतेत्यलं प्रासङ्गिकानल्पभाषणेनेति ।

तदेवमत्र अवतारवादे विश्वसतां मनुष्याणां कृते देवानांप्रियतैव स्पष्टमेवोक्ता श्रीमता सामश्रमिणा । अतोऽत्र मन्त्रे विष्णु-शब्देन व्यापकस्य विष्णोः परमात्मनः सामश्रमिमते सूर्यस्य वा वर्णनं प्रमाण-समर्थितं संगतञ्चेति दिक् ।

वे० पा० ४८६ तमे पृष्ठे ३यानुच्छेदे—'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इत्यस्मिन् मन्त्रे "यद्युत्पत्तिरेव विवक्षिता स्यात् तदा 'अपाकषन्' इति

अरे बालबुद्धि लोगों की कल्पित-कहानियों का प्रेम और उनका अनुगमन जो यहां सब ब्राह्मण और निरुक्तादि का पूर्णअध्ययन और अध्यापन करने वाले वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने 'इदंत्रेधा विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र की व्याख्या में विष्णु को त्रिविक्रमावतारधारी कह डाला । अथवा यह सुना जाता है कि 'ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन्' अर्थात् परमात्मा की वे ऋचायें अविनाशी महान् आकाश में विद्यमान हैं आर क्या जिन्होंने सर्वशक्तिमान् परमेश्वर साधुओं की रक्षा के लिये युग-युग में अवतारवाद लेते हैं'—कथा में विश्वास प्रकट किया है ।

बाइविल में वर्णित, अत्यन्त-थकित ईश्वर के लिये विश्राम का दिन रविवार होता है—कथा में ऐसे ही मूर्ख लोग विश्वास करते हैं । इस प्रकार के विषय में आश्चर्य ही क्या है, अतएव इस विषय पर थोड़ा कथन ही पर्याप्त है । इस प्रकार यहां श्री पं०. सामश्रमी जी ने अवतारवाद में विश्वास करने वालों के लिये स्पष्ट ही मूर्ख कहा है । इसलिये उक्त मन्त्र में विष्णु पद से व्यापक विष्णु अथवा सामश्रमी जी के मत में सूर्य का वर्णन प्रमाण-समर्थित और संगत है ।

वे० पा० पृ० ४८६ के ३ य अनुच्छेद में —'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इस मन्त्र में यदि (वेदों की) उत्पत्ति के विषय में ही कहना है तो 'अपाकषन्' इस

धातुभेद-प्रयोगो निरर्थक एव स्यात्" इत्यपि वचनमसूयाजन्यमेव, यतो ह्ययम् असूयापहतात्मा गुणेष्वपि दोषानेवाविष्कुरुते, अतः 'सुन्दर-मणिमयभवने, पश्यति पिपीलिकारन्ध्रमेव इत्युक्तिश्चात्र संघटते। 'अपातक्षन्' 'अपाकषन्' इत्येताभ्यां द्वाभ्यामपि क्रियाभ्यां वेद-प्रादुर्भावार्थ एवाभीष्टः सामान्यतया तथापि "यस्मादृचोऽपातक्षन्'···इत्यत्र अपातक्षन् क्रियया समुत्पन्नेषु ऋग्वेदमन्त्रेषु स्तुति—विद्यानां सूक्ष्मता समुपपादिताऽस्ति। 'यजुर्यस्मादपाकषन्-इत्यत्र च 'अपाकषन्' क्रियया सत्कर्मबोधकयजुर्ज्ञानस्य कषणे व्यवहारेण परीक्षणं सूचितम् । तदेवमत्र मन्त्रेऽनेक-धातु-प्रयोगः विभिन्न-विद्यानां द्योतनाय प्रशिक्षणाय चाऽस्ति। एकस्मिन्नार्थे विभिन्नधातुप्रयोगस्तु परमात्मना काव्य-सौष्ठवाय कृतोऽस्ति। ऋगादिवेदानां समुत्पत्तौ सामान्यतया न कश्चन प्रकारभेदः, अतः स्वामिदयानन्देन प्रादुर्भावरूपया क्रियया सोऽर्थः व्याख्यातः।

अत्र प्रसंगे तक्षणेन स्वरूप-निर्माणं कषणेन च चिक्कणतासम्पादन रूपमर्थं कुर्वता करपात्रिणा न न्याय्यं कृतं, यतोहि ब्रह्मणोंऽशांशिभाव-कल्पना त्वत्र निरर्थिकैव, यथा तक्षणं कषणं च काष्ठे संभवति न तथा—जगद्धारके परब्रह्मणि संभवति। अपि च "वस्तुतः कूटस्थे निर-वयवे (ब्रह्मणि) तक्षणाद्यसंभवात् आरम्भ-परिणामाऽसंभवेन विवर्तो-पादनत्वमेव ब्रह्मणो मन्तव्यमिति" (वे० पा० ४८७ पृष्ठे) स्वयमेव कथनेन सर्वोऽपि स्वीयबुद्धिव्यायामः स्वयमेव निष्फलीकृतः। ब्रह्मणः

धातु का प्रयोग निरर्थक ही है" सो यह कथन भी असूया-जन्य ही है 'सुन्दरभवने...' अर्थात् मणियों से बने हुये सुन्दर भवन में भी चींटी छिद्र को ही ढूंढती हैं, वाली उक्ति चरितार्थ होती है। यहाँ 'अपातक्षन्' और 'अपाकषन्' दोनों ही क्रियाओं से सामान्यतया वेदों के प्रादुर्भाव का अर्थ ही अभीष्ट है।

'यस्मादृचोऽपातक्षन्' यहां अपातक्षन् क्रिया से समुत्पन्न ऋग्वेदमन्त्रों में स्तुतिविद्याओं की सूक्ष्मता द्योतित है। 'यजुर्यस्मादपाकषन्' यहां 'अपाकषन्' क्रिया से सत्कर्म-बोधक-यजुर्वेद के ज्ञान के कषण में व्यवहार का परीक्षण सूचित होता है। इस प्रकार यहां मन्त्र में अनेक धातुओं का प्रयोग विभिन्न विद्याओं के द्योतन के लिये है। सामान्य रूप से अप पूर्वक तक्ष् धातु का, और कष् धातु का अर्थ है, प्रादुर्भाव। वही अर्थ महर्षि दयानन्द ने लिखा है। एक ही अर्थ में विभिन्न धातुओं का प्रयोग तो परमात्मा के वेद काव्य में काव्य-

समुत्पन्नान् वेदान् छलपूर्ण—वाक्य-जालेन पाशितान् कृत्वा नवीन-वेदान्त-विवर्तावर्ते पाठकान् भ्रामयितुं च प्रावर्तिष्टायं लेखकः अतोऽत्र नवीनवेदान्तमतमपि परीक्ष्यते ।

वे० पा० ४८६ तमे पृष्ठे "ततो विशुद्ध-सत्त्वोपाधिक········ ब्रह्मरूपतैव विवक्षिता तेषाम्" अत्र हि करपात्रिणा स्कम्भ-शब्देन विशुद्धसत्त्वोपाधिक-चैतन्यरूपः ईश्वरः सर्व-जगदाधार-स्तम्भ-रूपेण व्यञ्जते" इति लिखितम् । तत्रेदं परीक्षणीयं, कस्तावदीश्वरः ? किं वा ब्रह्म ? को वा जीवः ? का च खलु प्रकृतिः ? तत्र नवीनवेदान्तिनां मते शुद्धचैतन्यं ब्रह्म, विशुद्ध-सत्त्वोपाधिक ईश्वरः, अविद्योपाधिकं च ब्रह्म यदा कदा जीवो भवति, अर्थात् कार्योपाधि-सहितो जीवः। कारणोपाधि-सहितईश्वरः, मुक्तावस्थजीवश्च जीवः, माया प्रकृतिः, सा च द्विधा इत्यादीनि व्याख्यानानि विषयेऽत्र सन्ति। तेषां नवीन-वेदान्तिनां मते षट् पदार्थाः भवन्तिः—

सौष्ठव-प्रदर्शन के लिये है। परमात्मा के द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति में कोई विशेष प्रकार का उत्पत्ति-भेद नहीं है, अतः महर्षि दयानन्द ने भी सामान्य से वही प्रादुर्भाव रूप अर्थ किया है।

इस प्रसंग में 'तक्षण' से स्वरूप का निर्माण होता है और कषण से चिक्कणता का निर्माण' इस प्रकार का कथन करते हुये करपात्री ने अर्थ का अनर्थ कर डाला है।

ब्रह्म में अंशांशिभाव-कल्पना व्यर्थ है, और जिस प्रकार तक्षण (काटना) और कषण (छीलना) काष्ठ में संभव है उस प्रकार जगद्धारक परमात्मा में संभव नहीं। 'वास्तव में कूटस्थ और अवयवविहीन परमात्मा में तक्षणादि क्रियाओं का अभाव होने से आरम्भ और परिणाम की भी असंभवता से ब्रह्म का विवर्तत्व और उपादानत्व ही मानना चाहिये, इस प्रकार वे० पा० के पृ० ४८७ पर स्वयमेव कहने से लेखक ने अपनी बुद्धि का समस्त व्यायाम ही निष्फल कर डाला। यह लेखक ब्रह्म से प्रादुर्भूत वेदों को अपने छलपूर्ण वाक्य-जाल से बाँध करके पाठकों को नवीन वेदान्त के आवर्त (भंवर) में भ्रान्त करने को प्रवृत्त हो गया है, इसलिये यहां नवीन वेदान्तमत की भी परीक्षा की जाती है वेदा० पा० पृष्ठ ४८६ पर लिखा है कि "विशुद्ध सत्त्व को अपनी उपाधि बना-

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्, विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या-तच्चितोर्योगः, षडस्माकमनादयः ।।

अत्र शुद्ध-सत्त्वप्रधाना माया, मलिन-सत्त्वप्रधानाऽविद्या ब्रह्म च अनाद्यनन्तम्, अन्ये शिष्टाश्च पदार्थाः सान्ता अनादय इति नवीनाः मन्यन्ते। परम् इदं सर्वं तर्क-निकषाऽसहम्, यतोहि ईश्वरस्य मायायाश्च सत्ता पृथक् मन्यते। मायासहितश्च चैतन्य ईश्वरः। तदेवं माया-चैतन्ययोः संयोगे कथमनादित्वमीश्वरस्य भविष्यति ? एवमेव जीवपक्षेऽपि अनादित्वे स्वीकृते भवतो मते सान्तत्वं न सेत्स्यति, अतः विशुद्धसत्त्वः कारणरूप-प्रकृत्युपाधि-मुक्तो जीवः ईश्वरः, मलिन-सत्त्वः कार्यरूप-प्रकृत्युपाधि-युक्तो बद्धो जीवः, एवं जीवस्य मुक्ति-बन्धरूपद्वयस्य प्रतिपादनेनाऽत्र संगतिः।

कर वह चैतन्य स्वरूप ईश्वर सारे जगत् के आधार-भूत स्तम्भ के रूप में अभिव्यक्त होता है" यहां यह जानना चाहिये कि वह ईश्वर कौन हैं ? ब्रह्म कौन है ? कौन जीव है ? और कौन सी प्रकृति है ? इसका उत्तर है कि नवीन वेदान्तियों के मत में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, विशुद्ध-सत्त्वो-पाधिक ईश्वर है, अविद्योपाधिक ब्रह्म ही जीव बन जाता है अर्थात् कार्योपाधि सहित जीव और कारणोपाधि सहित ईश्वर है। मुक्तावस्था को प्राप्त जीव ईश्वर और बद्धावस्थागत जीव, जीव कहाता है। माया प्रकृति है, वही दो प्रकार की है इत्यादि व्याख्यायें इस सम्बन्ध में है। उन नवीन वेदान्तियों के मत में छः पदार्थ होते हैं—जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, उन दोनों का भेद, अविद्या और उसका तथा चैतन्य का योग ये पदार्थ हमारे मत में अनादि हैं।

यहां पर शुद्धसत्त्व-प्रधान माया और मलीन-सत्त्वप्रधान अविद्या है। ब्रह्म अनादि और अनन्त है तथा शेष सान्त और अनादि हैं। ऐसा नवीन वेदान्ती मानते हैं। परन्तु यह सारा व्याख्यान तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जबकि ईश्वर और माया की सत्ता पृथक् मानी जा रही है और माया के सहित ही चैतन्य ईश्वर है, जब इस प्रकार यहां पर इनका संयोग कहा गया तो अनादित्व कैसे सिद्ध होगा ? इसी प्रकार जीव-पक्ष में भी अनादित्व मानते हुये सान्तत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अतः वास्तव में तो विशुद्ध-सत्त्व अर्थात् कारणरूप-प्रकृति उपाधि से मुक्तजीव ही ईश्वर कहाता है, मलिन-सत्त्व अर्थात् कार्यरूप प्रकृति उपाधि से युक्त बद्ध ही जीव है। इस प्रकार जीव के

विज्ञानभिक्षुणाऽपि सांख्यप्रवचनभाष्ये मायावादस्य स्पष्टमेव खण्डनं व्यधायि यथा "यदपि केचित् नवीनवेदान्तिब्रुवाः आहुः एकस्यैवात्मनः कार्यकारणोपाधिषु प्रतिविम्बानि जीवेश्वराः प्रतिविम्बानां चान्योऽन्यभेदात् जन्माद्यखिलव्यवहारोत्पत्तिः, तदप्यसत्" एवं विशुद्धसत्त्वोपाधिर्माया तदुपहित ईश्वरो जीवः विशुद्ध-चैतन्यं च ब्रह्मेति त्रित्ववाद-सिद्धिरसंदिग्धा ।

अत्राऽयं प्रश्नः, किं ब्रह्म अविद्योपहितं भवितुमर्हति ? न चाविद्यावरणेन शुद्धं ब्रह्म, स्वरूपं विस्मतुं शक्नोति, अतः तदुपहित-कल्पना मिथ्या, आवरणञ्च द्वयोर्द्रव्ययोर्मध्ये अन्येन एव सम्भवति, यथा जीवब्रह्मणोः जीवस्य अल्पज्ञता आवरणं, परं न समवाय-सम्बन्धेन स्थितयो गुंण-गुणिनोर्मध्ये ब्रह्मणः ब्रह्मज्ञानस्य च आवरण-संभवः,

---

ही बन्धन और मुक्ति (रूप द्वय) का ही यहां प्रतिपादन समझकर संगति लग सकती है ।

विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य-प्रवचन—भाष्य में मायावाद का स्पष्ट खण्डन किया है–जैसे कि "जो कोई नवीन वेदान्ती कहते हैं कि एक ही आत्मा का कार्य, कारण उपाधियों में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव और ईश्वर है । प्रतिबिम्बों के परस्पर भेद के कारण से ही जन्म आदि समस्त व्यवहारों की उपपत्ति (संगति) होती है यह सब कथन असत्य है ।" इस प्रकार विशुद्धसत्त्वोपाधि-माया (प्रकृति) उससे उपहित ईश्वर तो जीव तथा विशुद्धचैतन्य ब्रह्म, होने से त्रैतवाद की सिद्धि निर्विवाद है ।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि व्यापक अनन्त सर्वज्ञ-ब्रह्म क्या अविद्या से उपहित हो सकता है ? शुद्ध ब्रह्म अविद्या के आवरण-स्वरूप को कदापि नहीं भुला सकता अतः उसके उपहित होने की बात मिथ्या है । दो द्रव्यों के मध्य में किसी अन्य तृतीय के ही द्वारा आवरण संभव हो सकता है । जैसे ब्रह्म और जीव के मध्य में जीव की अल्पज्ञता ब्रह्म स्वरूप ज्ञान में बाधक हो सकती है किन्तु समवाय सम्बन्ध से स्थित गुण (ब्रह्मज्ञान) और गुणी (ब्रह्म) के मध्य में आवरण सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म और उसके ज्ञान की विप्रकृष्टता (दूरी) नहीं है और इसमें दृष्टान्ताभाव भी है । आवरण की कल्पना से व्यापकत्व की क्षति होने की संभावना भी है । और श्रुतियों में जहां भी अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है वहाँ शंकराचार्य के मत से सजातीय, विजातीय और

विप्रकर्षाभावात् दृष्टान्ताभावाच्च, आवरण-कल्पनया व्यापकत्व-क्षतेश्च। यत्र चापि श्रुतिषु अद्वैतं ब्रह्म प्रतिपादितं तत्र शंकराचार्य-मतेन सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदाभाव एव दर्शितः वस्तुतस्तु भेदत्रितये स्वगतभेदाभाव एव ब्रह्मणि घटते नान्यद्द्वयम् सूक्ष्मविवृतिस्तु यथाः— वटवृक्षोऽन्यवृक्षेभ्योऽन्यवटेभ्योऽपि भिन्न इति सजातीय भेदः।

विजातीयमृत्तिका-पाषाणादिभ्योऽपि भिद्यतेऽसौ इति विजातीय भेदः। पुनर्वृक्षस्वरूपेऽप्यवयव-शाखास्कन्धोपस्कन्धादि-परस्परभेदत्वात् स्वगत-भेदः, एवमेव गुण-क्रिया-भेदेऽपि योजनीयम्। इदमत्रावधेयं यदिदं भेदत्रयं शंकराचार्यमतानुसारं ब्रह्मणि न घटते। सजातीय-जीवेष्वपि ब्रह्म-भिन्नत्वात् तन्मते नायं भेदः संगच्छते। ब्रह्मणो विजातीय-जड़-जगतो भ्रान्ति-मूलकस्य वस्तुत्वाभावे न विजातीय-दोषोऽपि। निरवयवत्वात्स्वगतभेदाभावः निर्गुणत्वात् निष्क्रियत्वाच्च गुण-क्रिया-भेदाभावः, अतः शंकराचार्यस्योक्तकथनं न संगतम्।

तद् वयमपि ब्रह्मणि स्वगतभेदाभावं मन्यामहे, ब्रह्मणः निरवयत्वात्। परं सजातीय-विजातीय-भेदाऽभावो नास्माकमभिमतः ब्रह्मणः सजातीय-चेतनजीवानां ब्रह्म-सदृशत्वेऽपि ब्रह्मरूपत्वाभावात्,

---

स्वगतभेद का अभाव ही दर्शाया है। वास्तव में तो तीन भेदों में एक भेद, स्वगत-भेद-अभाव ही ब्रह्म में घटित होता है अन्य दो भेद घटित नहीं होते। सूक्ष्म-विवरण इस प्रकार हैं जैसे— बड़ का पेड़, अन्य पेड़ और अन्य बड़ के पेड़ों से भिन्न है, यह सजातीय भेद है। भिन्न जाति के मिट्टी पाषाण आदि से भिन्न है यह विजातीय भेद है।

पुनः वृक्षस्वरूप में भी अवयवभूत शाखा (स्कन्ध) तने और उपतने आदि का आपस में भेद होने से स्वगत भेद हुआ। इसी प्रकार गुणगत तथा क्रियागत भेदों को भी समझना चाहिये। ये तीनों भेद आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म में नहीं घटते। सजातीय जीव उनके मत में ब्रह्म से अभिन्न हैं अतः यह भेद घटित नहीं होता। विजातीयजड़ जगत् भी भ्रान्ति-मूलक है, इसकी वास्तविक सत्ता ये नहीं मानते, अतः विजातीय दोष का प्रश्न ही नहीं। ब्रह्म निरयव है अतः स्वगतभेद का अभाव भी है। निर्गुण और निष्क्रिय होने से गुण-गत और क्रियागत भेद का भी प्रश्न नहीं, अतः शंकराचार्य जी का उक्त कथन भी मिथ्या है। निरयव होने से ब्रह्म में स्वगत भेद के अभाव को हम भी मानते

भिन्नत्वाच्च सजातीयभेद एव। जगत्सत्ताया: मिथ्या-रूपत्वाभावे विजातीय-जडजगतो वस्तुसत्त्वात् विजातीय-भेदोऽपि।

ननु महर्षिदयानन्देनाऽपि ब्रह्मविद्या-प्रकरणे ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायाम् अतः स्वजातीय-विजातीय-स्वगतभेद—राहित्यमीश्वरे वर्त्तते एवेति लिखितमतो विरोधोऽत्रोत्पद्यते इति चेत् 'समाधीयते 'तत्र हि महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे··· (अथर्व १०।३८) इति मन्त्रे परममहतो ब्रह्मणः सर्वपूज्यत्वं प्रत्यपादि। तत्रैषोऽभिप्रायो यत् 'न नित्या सती प्रकृति र्न वा सच्चिज्जीव आराध्यः, न वाऽपि 'न द्वितीयो न तृतीयश्चेति' इत्यादिमन्त्रैः द्वितीयस्य तत्तुल्यब्रह्मणः तदधिकस्य अत्यन्तनिषिद्धस्य वा सत्ता वर्त्तते। तस्मात्स एक एव सर्वशक्तिमान् आराध्यः, नान्यः कश्चित्समान—जातीयः विजातीयो वा परमेश्वरः, यथा हि पौराणिकाः अन्ये वा अनेकान् परमेश्वरान् कल्पयन्तीति।

हैं, किन्तु सजातीय विजातीय भाव हमें अयुक्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि सजातीय चेतन जीवों के ब्रह्म-सदृश होने पर भी ब्रह्मरूप के अभाव के कारण ब्रह्म से भिन्नता है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ब्रह्म-विद्या प्रकरण में—'इसलिये स्वजातीय, विजातीय, स्वगतभेद का अभाव ईश्वर में है' लिखा है सो यहां यदि पूर्वप्रकरण के साथ विरोध की उत्पत्ति संभावित हो तो उसका समाधान यह है कि—'महद यक्षं भुवनस्यमध्ये ····· इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र में परममहान् ब्रह्म का सर्वपूज्यत्व प्रतिपादन किया है। वहां यह अभिप्राय है कि यद्यपि सत् प्रकृति और सच्चित् जीव दोनों ही नित्य हैं, तथापि वे आराध्य नहीं तथा च 'न द्वितीयो न तृतीयः' इत्यादि मन्त्रगत भाव यह है कि तत्तुल्य अथवा तदधिक यदि कोई अन्य ब्रह्म संभावित भी हो, तो उसका भी अत्यन्त-निषेध जानना चाहिये। यदि कोई आराध्य है तो एकमात्र सर्व-शक्तिमान् सर्व-व्यापक ईश्वर ही आराध्य है अर्थात् समान-जातीय या विजातीय कोई भी ईश्वर आराध्य नहीं जैसे कि पौराणिक या अन्य लोग अनेक परमेश्वरों की कल्पना कर आराधना करते हैं। अतः सजातीय भेद घटित है जगत्सत्ता के मिथ्यारूप का अभाव होने से अर्थात् वास्तविक सत्ता होने से विजातीयभेद भी है।

यच्चाप्युक्तं भवता "ऋचो यजूंषि ब्रह्मणोंऽशभूतानि, तक्षणादिभिरुपादानांशस्यैव ऋगादिरूपेणाविर्भावात्" इति तदपि देवानांप्रियभाषितमेव, ब्रह्मणः सृष्टेरभिन्ननिमित्तोपादान-कारणात्वाऽभावात्। ब्रह्म हि केवलं निमित्त-कारणं, नोपादानकारणम्, उपादान-कारणस्य सर्वत्र सदा पारतन्त्र्यात् परिणामित्वाच्च निमित्तकारणंतु स्वतन्त्रम परिणामि च भवति, एकस्मिन् वस्तुनि द्विप्रकारक-विरुद्धगुण-सत्ताऽसम्भवात्, दृष्टान्तविरहितत्वाच्च न ब्रह्म सृष्टेरुपादान—कारणम्। सृष्टिदर्शनेनाऽपि ब्रह्मणः उपादानकारणत्वस्याप्रतिपत्तिः, सृष्टौ कारण-गुण-पूर्वकः कार्यगुणो दृष्ट इति नियमेन ब्रह्मणः गुणस्य चैतन्यादेरप्यापत्तेः, परञ्च न तद्गुण-चैतन्यज्ञानादि-दर्शनमुपलभ्यते सृष्टौ।

यच्च भागवतादौ नारायणरूपस्यैव वेदरूपेणाभिव्यक्तिरुक्ता, तेनाऽपि नोपादान-सिद्धिः, तदुक्तेरपि स्वयं साध्यकोटि-गतत्वात्। यच्चाभिहितं "ऋचां स्थौल्यं तदपेक्षया यजुषां सौक्ष्म्यम्" इति तु

यह जो आपने कहा कि—ऋग् यजुः ब्रह्म के अंशभूत तक्षण आदि के द्वारा उपादान के अंशरूप में आविर्भूत हुये हैं।' मूर्खों का प्रिय कथन ही है क्योंकि ब्रह्म सृष्टि का अभिन्न-निमित्तोपादान नहीं है। ब्रह्म केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण सदा परतन्त्र और परिणामी होता है, निमित्तकारण स्वतन्त्र और अपरिणामी होता है। एक वस्तु में दो प्रकार के विरुद्धगुणों की सत्ता असम्भव है तथा इसमें दृष्टान्त का भी अभाव है अतः ब्रह्म सृष्टि का उपादान नहीं। सृष्टि के दर्शन से भी ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि सृष्टि में, कारण गुणों के साथ ही कार्य का गुण होता है, इस नियम से जगत् में ब्रह्म के गुण चैतन्य आदि गुण की प्राप्ति होनी चाहिये परन्तु वह जड़ प्रकृति में दृष्टिगोचर नहीं होती।

और जो भागवत आदि में नारायण के रूप की वेद के रूप में अभिव्यक्ति की गई है उससे उपादानता की सिद्धि नहीं होती क्योंकि यह कथन स्वयं साध्य कोटि में हैं। और यह जो कहा गया है कि ऋचाओं की स्थूलता है और उनकी अपेक्षा यजुर्मन्त्रों की सूक्ष्मता है सो यह कथन भी शास्त्रों के यथार्थ की अनभिज्ञता से है क्योंकि वहां ऋचा आदि सभी मन्त्रों का सूक्ष्म-बुद्धि-गम्य-तत्त्व प्रतिपादन करना अभीष्ट है। जैसे कि कहा गया है कि प्रत्यक्षेण···इत्यादि

शास्त्रानभिज्ञत्वमेव, ऋचादीनां समेषामेव मन्त्राणां बुद्धिपर-सूक्ष्मतत्त्व प्रतिपादनाभीष्टत्वात्तत्रोक्तमेवम्, तथा चोक्तं सायणाचार्येण तैत्तिरीय संहिता भाष्योपोद्घाते ।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा, यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन, तस्माद्वेदस्य वेदता ।।

अर्थात् वेदेन प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त-विषयस्यापि बोधो भवति । आरम्भपरिणामौ तु त्रित्ववादस्वीकारे सत्येव प्रकृतौ एव सम्भवतः न तु ब्रह्मणि एतच्च भवताऽप्युपगतम् ।

यदप्युक्तं "विवर्त्तोपादानत्वमेव ब्रह्मणो मन्तव्यम्" इतितु नवीन वेदान्तार्पितधियां बालधियामेव रुचिकरम्, ब्रह्मणि विवर्तस्यासंभवात् । विवर्त्तो हि नाम समानाकृतिगुण-वस्तुनि भवति । अपि च पूर्वं तस्य वस्तुनो ज्ञानमावश्यकं यस्यारोपः । यथा रज्जौ सर्पस्य भ्रमः, समानाकृति-गुणवद्वस्तुनो भ्रमसम्भवः न तु हस्तिनो वाजिनो वा तथा शुक्तावपि रजतस्यैव भ्रमसंभव न तु लौहसुवर्णादेः ।

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जो उपाय नहीं जाना जाता, उसको वेद से जानते हैं । यही वेद का वेदत्व है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय का भी बोध कराना ।

इस प्रकार सब वेदों के द्वारा अप्रत्यक्ष का भी बोधन होता है । जैसी कि आपने आरम्भ और परिणाम की बात कही है सो ये दोनों त्रित्ववाद स्वीकार करने पर ही प्रकृति में घटित होते हैं न कि ब्रह्म में । ऐसा आपने स्वीकार भी किया है ।

और यह जो कहा है कि "विवर्त और उपादान ब्रह्म को ही मानना चाहिये" सो यह भी बालबुद्धियों की ही बात है क्योंकि ब्रह्म में विवर्त असम्भव है · समानाकृति और समान गुणवाली-वस्तुओं में ही विवर्त (भ्रम) होता है, रस्सी में ही सांप का भ्रम संभव है हाथी घोड़े का नहीं, इसी प्रकार सीप में चांदी का ही विवर्त्त संभव है सोने आदि का नहीं ।

इस प्रकार यह अद्वैतवाद युक्ति और प्रमाणों से शून्य है वेदों में इसका कहीं समर्थन नहीं मिलता प्रत्युत वेद में जीव और ब्रह्म के अन्तर को स्पष्ट रूप से कहा है :—न तं विदाथ'···इत्यादि । उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में स्पष्ट

तदेवं युक्तिशून्यः वेद-प्रमाणशून्यश्चापि एषोऽद्वैतवादो न क्वापि वेदे दृश्यते, प्रत्युत भगवान् वेदस्तु ब्रह्मजीवयोरन्तरं सुस्पष्टं व्याचष्टे तथा हि—"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" यजु० १७।८१। उव्वटोऽपि एतन्मन्त्रे भाष्ये स्पष्टमाहः—य इमानि भूत जातानि जजान, जनयति, उपसंहरति च अतः कारणात् युष्माकं तस्य च पुरुषस्य महदन्तरं बभूव। पुरुषो जनको यूयं जन्याः पुरुषो-भ्रामको यूयं भ्राम्याः इति। अपि च "अहं ब्रह्माऽस्मीति" भजतामाधुनिक-हिरण्य—कशिपूनां, अज्ञाननीहार-प्रावृतानाम् असुतर्प-यितॄणां, जल्पकानां, पण्डितम्मन्यानामसमुदाचारविचार एष, कथं तदा वेदोत्पत्ति र्मन्तव्या' इति प्रश्ने समुत्पन्ने व्यापकस्येश्वरस्य जीवाभ्यन्त-रास्तित्वेन अग्निवाय्वादित्यादिभिः निर्मलान्तःकरणवद्भिःऋषिभिः वेद-ज्ञानस्य ग्रहणसंभवः इत्युत्तरम्, मुखादिरूपकेंऽशांशिभावकल्पना तु तर्कतत्त्वविदां विदुषां न रुचिकरी। सदानन्दसंविदानन्दतरङ्ग-कल्पनमपि न संगतम् अक्षोभ्य एकरसे ब्रह्मणि आत्मनोऽज्ञानभाि तस्य आरोपादेव सर्वव्यापके ब्रह्मणि तरङ्गानुपपत्तेः। अत्र हि वेदार्थ-पारि-जाते हिन्दीभाषायामलेखि—वेदान्तसिद्धान्तशून्य स्वामी की समझ

कहा है कि —जिसने इन प्राणियों को उत्पन्न किया और इनका संहार करता है इस कारण तुम्हारे और उस पुरुष में महान् अन्तर है। पुरुष तुम्हारा उत्पादक है तुम उत्पाद्य हो। पुरुष भ्रामक है तुम भ्राम्य हो। तथा च गीता में कथित 'मैं ब्रह्म हूं' का भजन करने वाले, आधुनिक हिरण्यकशिपुओ अज्ञान के कुहरे से ढके हुये, प्राणपोषण में लगे हुये, जल्पना करने वाले, अपने को पण्डित मानने वाले लोगों का यह विचार सर्वथा अविचारित ही है।

फिर वेद की उत्पत्ति किस प्रकार माननी चाहिये इस प्रश्न के उत्पन्न होने पर, सर्वव्यापक ईश्वर के जीवों के हृदय में अस्तित्व होने से निर्मल अन्तःकरण वाले अग्नि वायु, आदित्य आदि ऋषियों के द्वारा परमात्मा के वेदज्ञान का ग्रहण संभव है अतः इस विषय में मुखादिरूप मानकर अंशांशिभाव की कल्पना करके वेदों की उत्पत्ति को मानना तर्कशील तत्त्ववेत्ता विद्वानों को कदापि रुचिकर नहीं हो सकता। परमात्मा के विषय में सदानन्द संविदानन्द तरगों की कल्पना करना भी, क्षोभ-रहित एकरस— सर्वव्यापक ब्रह्म में संभव नहीं। अपने अज्ञान से भासित का आरोप आपने ब्रह्म में माना है वह भी

से यह बात दूर है'' तदपि बालबुद्धिजल्पनमेव। यतः महर्षिदयानन्देन नवीनवेदान्तसिद्धान्तिनां सिद्धान्तान् नास्तिकवन्निस्सार-कल्पना जल्पनामात्रं मत्वा तेषां यथायथं स्वग्रन्थेषु समालोचना कृता, तथापि मयेह किञ्चत्संक्षेपेण तत्समर्थने प्रस्तूयते:—

तथाहि:—नवीनवेदान्तिनः ईश्वरस्योपादनतां' मन्यन्ते, तन्मते प्रकृतेश्चानङ्गीकारे कृते 'नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः' इति (सां० १।७८) सूत्रानुसारं न कदापि अवस्तुनः वस्तु-समुत्पत्ति-संभवः।

अपि च जगन्मिथ्यात्वे न तदभाव एव कल्पनीयः इतिवाच्यम्, 'अबाधाददुष्ट-कारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वं' (सां १।७९) इति सांख्य-सूत्र-विरोधापत्तेः। अपि च न अभावादेव भावोत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या 'भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः' (सां० १।८०)'' इति दर्शन-सिद्धान्त-विरोधापत्तेश्च।

नहीं। यहां पर वेदार्थ-पारिजात में हिन्दी टीका में यह जो कहा कि—वेदान्त-सिद्धान्तशून्य स्वामी (दयानन्द) की सूझ से ये बातें दूर है'' यह भी बाल बुद्धि का नमूना है।

क्योंकि महर्षि दयानन्द ने नवीन-वेदान्त के सिद्धान्तों को निस्सार कल्पना मात्र मानकर, उनका यथा स्थान स्वग्रन्थों में खडंन किया है फिर भी कुछ लिखा जा रहा है जैसे कि नवीन-वेदान्ती सृष्टि में ईश्वर की उपादानकारणता मानते हैं, यदि वे प्रकृति की नित्यता को स्वीकार नहीं करते, तो नाऽ वस्तुनो वस्तुसिद्धि: (सां०१।७८) इस सांख्य सूत्र के अनुसार विना वस्तु से वस्तु की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि कहो कि जगत् के मिथ्यात्व पर उसमें अभाव की कल्पना कर लेनी चाहिये, तो ऐसा कहना दोषपूर्ण होगा, क्योंकि भ्रान्ति निवृत्त होने पर रस्सी का सांप बाधित है, पर जगत् की प्रतीति बाधित नहीं और जगत् अदुष्ट कारण जन्य है, अतः अवस्तु नहीं। यदि कहो कि अभाव से भावोत्पत्ति मान लेनी चाहिये, तो यह कहना शास्त्र तथा बुद्धि के विरुद्ध है, क्योंकि भाव में उसके योग से ही सृष्टि की सिद्धि हो सकती है उसके अभाव में अभाव से सिद्धि नहीं हो सकती (सां०१।८०) जब कारण के गुण कार्य में अनिवार्यतया आते हैं तब ब्रह्म को उपादान कारण मानने पर जड़ सृष्टि में चेतनत्व की प्राप्ति होगी तथा फिर भोक्ता और भोग्य पदार्थ का भेद क्या होगा ?

ब्रह्मणः उपादान-कारणत्वे स्वीकृते तु कारण-गुणानां कार्य-गुणेष्व परिहार्यत्वात् सर्ववस्तु-चेतनापत्तिः, भोक्तृ-भोग्य-पदार्थभेदाऽना कलनात् सृष्टेरसम्भवः, सर्वव्यापक-निराकार-ब्रह्मणः संयोग-वियोगाऽ शक्यत्वात् सृष्टि-प्रलययोरसम्भवश्च।

न चेश्वरस्योपादान-कारणत्वे मतेऽपि तस्य नित्यत्वान् न कापि क्षतिःसंभाव्यते इति वाच्यम्, "नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाऽभावात्" (सां० ६।३३) परमात्मनः नित्यत्वेऽपि असङ्गबन्धन-हेतु-भूतोपरागस्य योग्यताऽभावात् न तस्य उपादानता-प्राप्तिः। प्रकृतेः परिणामित्वेऽपि नित्यत्वे एव तस्या उपादान-योग्यतायाः शास्त्र-प्रतिपादनात्, तथा च 'श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः' (सां० ६।३४) इति प्रमाणात् 'न तस्य कार्यमित्यादि श्रुतिविरोधात्, आत्मनः नित्यत्वे परिणामित्वे च स्वीकृते नः आत्मलाभ-संभवः।

यदप्युक्तं (वे० पा० ४८८ तमे पृष्ठे) वेद-पदेन तु मन्त्र ब्राह्मण-समुदायस्यैव ग्रहणाद् इति, तत्तु केवलं याज्ञिकमापस्तम्बसूत्रमनुसृत्यैवोचितं भवितुमर्हम्। वस्तुतस्तु न ब्राह्मणानि वेदाः, ब्राह्मणानां तु वेद-व्याख्यानरूपत्वात्, न कदापि

जब कि 'चिदवसानो भोग; अर्थात् चित् रहित जड़ प्रकृति ही भोग है। और फिर सर्वव्यापक निराकार ब्रह्म से सृष्टि में संयोग-वियोग का अभाव होने पर सृष्टि और प्रलय भी असम्भव हो जायेंगे।

यदि यह कहो कि ईश्वर को उपादान कारण मानने पर भी उसके नित्य होने से कोई क्षति नहीं है; तो यह कहना भी ठीक नहीं' क्योंकि ईश्वर के नित्य होने पर भी असङ्गबन्धनहेतुभूत उपराग की, योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती, (सां०६/३३) और प्रकृति के परिणामी होने पर भी उसके नित्य होने पर ही उपादानता की योग्यता शास्त्रों से प्रतिपादित है, जैसा कि 'न तस्य कार्यम्···इत्यादि श्रुति विरोध होने से आत्मा को परिणामी तथा नित्य मानने से आत्म लाभ नहीं हो सकता।

वे० पा० के पृ-४८८ पर और यह जो कहा है कि वेद पद से मन्त्र ब्राह्मण समुदाय का ही ग्रहण है, सो केवल आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार ही ठीक हो सकता है, वास्तव में तो ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, क्योंकि वे तो वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। व्याख्यान ग्रन्थ कदापि मूल ग्रन्थ नहीं होता, जैसा कि

मूलग्रन्थ-व्याख्यानं मूलग्रन्थः भवति। तथा च सायणाचार्यः काण्व-संहिताभाष्ये "तत्र शतपथ-ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यारूपत्वाद्, व्याख्येय-मन्त्र-प्रतिपादकः संहिता-ग्रन्थः, पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति" इति।

(क) तदेवं व्याख्यान—व्याख्येययोः नैकरूपत्वात् नैककालिकत्वाच्च न ब्राह्मण-ग्रन्थानां वेदत्वम्।

(ख) चिरकालाद् वेद-पुस्तकेष्वेव वेद इति लिख्यते न ब्राह्मण-ग्रन्थेषु, अतो न ब्राह्मणं वेदः।

(ग) यास्काचार्यस्य 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' इति वाक्ये मन्त्रो वेद एव न ब्राह्मणम्। अपि च यास्कमते-ब्राह्मणेन (मन्त्राः) एव रूप-संपन्नाः विधीयन्ते न ब्राह्मणानि इति कारणात्, न ब्राह्मणानि वेदाः।

(घ) अथापि महाभाष्यकारः पतञ्जलिः—'स्वरो नियतः आम्नाये अस्य 'वाम' शब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता (म० भा० ५-२-५६)। यतोहि ब्राह्मणेषु आम्नायवत् वर्णानुपूर्वी न नियताऽतो न ब्राह्मणानि वेदाः।

सायणाचार्य ने काण्व-संहिता के भाष्य में कहा है :—शतपथब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यान रूप है, व्याख्येय, मन्त्रों का प्रतिपादक संहिता ग्रन्थ है। जो पूर्व होने के कारण प्रथम है, इस प्रकार व्याख्यान और व्याख्येय ग्रन्थ की एक रूपता और एक-कालिकता न होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं।

(ख) चिरकाल से वेद पुस्तकों पर ही वेद शब्द लिखा चला आ रहा है, ब्राह्मण पुस्तकों पर नहीं। अतः ब्राह्मण वेद नहीं।

(ग) यास्काचार्य को—"इसके (निरुक्त के) बिना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं हो सकता" इस वाक्य में मन्त्र से वेद ही अभीष्ट है ब्राह्मण नहीं तथा ब्राह्मणों के द्वारा (मन्त्र) रूप-सम्पन्न किये जाते हैं, इस यास्कीय कथन से मन्त्र और ब्राह्मण दो भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं।

(घ) महर्षि-पतञ्जलि के कथनानुसार आम्नाय (वेद) में 'वाम शब्द का स्वर नियत है, वर्णानुपूर्वी भी निश्चित है। स्वर और वर्णानुपूर्वी ब्राह्मण ग्रन्थों में नियत नहीं होती, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं।

(ङ) ब्राह्मण-ग्रन्थः स्वयमपि नात्मानं वेदत्वेन प्रतिपादयति, प्रत्युत विरुणद्धि तथाहि—यद् है के अन्वाहुः होता यो विश्ववेदस इति .... मानुषं ह ते यज्ञं कुर्वन्ति, व्यृद्धं वैतत् यज्ञस्य यन्मानुषम्, नेद् व्यृद्धं करवाणि..... इत्यादि (शतपथ० २।३।४। अत्र विश्ववेदस एव होता इत्युक्तम्, अथ च यो न विश्ववेदस स मानुषयज्ञः, मानुषयज्ञश्च न ऋद्धियुक्तः। तथा च शतपथे, अपरिवर्त्तनीयममानुषं मन्त्रं यज्ञे पठेत् ब्राह्मणे च मानुषमिति (शत०२।३।४।१३)। एतेन सिध्यति यत् मानुष-मन्त्र-प्रतिपादनात् ब्राह्मणानि न वेदाः।

(च) वैशेषिक-दर्शने 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'। ब्राह्मणे च संज्ञा-कर्म-सिद्धि-लिङ्गम्' (वैशे० ६।१।१,२) इति सूत्रद्वये प्रथमे 'वेदे' इति द्वितीये च 'ब्राह्मणे' इति शब्दद्वय-प्रयोगाद् वेद-ब्राह्मणयोर्भेदः निर्दिष्टः। भेद-कारणादेव च महीदासादय: ऋषयः ऐतरेयादि-ब्राह्मणेषु वेदोक्त-संज्ञा-कर्मणोः निरूपणम-कुर्वन्।

(छ) सर्वानुक्रमणिकायामपिः— 'विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः

(ङ) ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने को वेद रूप में प्रतिपादित नहीं करता, अपितु इस बात का विरोध करता है। जैसे कि :— शतपथ में "होता विश्ववेदस होता है"......जो मानुष यज्ञ करते हैं, वे समृद्धि रहित यज्ञ करते हैं, समृद्धि रहित मानुष यज्ञ न करूं" इत्यादि तथा च अपरिवर्त्तनीय अमानुष मन्त्र को यज्ञ में पढ़े, ब्राह्मण में तो मानुष मन्त्र होता है" इस कथन से भी ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं।

(च) वैशेषिक दर्शन में—वेद में बुद्धि-पूर्वक वाक्य की रचना होती है (८/१/१) तथा "ब्राह्मणों में वेदान्त संज्ञा, और कर्म का निरूपण, अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है" (वैशे.६/१/२) इन दो सूत्रों की भिन्न-२ रचना के कारण ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं। प्रथम सूत्र में वेदे और द्वितीय में "ब्राह्मणे' शब्दों का प्रयोग करने से वेद और ब्राह्मणों की भिन्नता सूचित है। तथा भेद के ही कारण महीदास आदि ऋषियों ने ऐतरे यादि ब्राह्मणों में वेदोक्त संज्ञा और कर्मों का निरुपण किया है।

(छ) सर्वानुक्रमणिका में विनियोग के योग्य तीन प्रकार का (ऋग्यजुः

संप्रदर्श्यते । ऋग्यजुः साम रूपेण मन्त्रो वेद-चतुष्टये ।। त्रयी विद्यामवेक्षेत, वेदे सूक्तमथाङ्गता'। नहि ब्राह्मणेषु ऋग्यजुः साम-रूपः मन्त्रः घटते, अतो न ब्राह्मणं वेदः ।

(ज) व्याकरण-महाभाष्ये गोपथ-ब्राह्मणे च सर्ववेदानां प्रथममन्त्राः समुद्धृताः अग्निमीडे ····· इषे त्वोर्जे ····· अग्न आयाहि ······ शन्नो देवी ····· इति । अत्र चतुर्णामेव वेदानां मन्त्राः उद्धृताः यदि हि ब्राह्मणामपि वेदताऽभविष्यत् तर्हि तेषामपि कश्चिदंशः अवश्यं समुदधरिष्यत । अतो न ब्राह्मणानां वेदता ।

(झ) मन्त्र-ब्राह्मणयो र्वेदनामधेयमिति तु याज्ञिक-परिभाषा, ब्राह्मण-भागमिश्रित-कृष्णयजुः-शाखानां श्रौतसूत्र-परिशिष्ट-भाग-परिकल्पिता, ब्राह्मणग्रन्थानां रचना-कालात् परकालवर्तितया, ब्राह्मणमिश्रित—कृष्णयजुषश्च लोके वेदत्वाप्रसिद्धतया ब्राह्मण-ग्रन्थानां वेदत्वं साधयितुं नालम् । एतत्परिभाषा-निर्माणकालात् पूर्वं नायं नियम आसीदित्यपि अर्थादापद्यते ।

(ञ) अपि च ब्राह्मण-ग्रन्थे स्वयमेव नामोल्लेख-पूर्वकं वेदाना-

सामरूपमन्त्र दिखाया जाता है तथा वेदों में त्रयी विद्या का अनुशीलन करें' कहा है, पर ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋग, यजुः साम रूप मन्त्र नहीं होता और न त्रयी विद्या होती है । अतः ब्राह्मण वेद नहीं ।

(ज) व्याकरण महाभाष्य और गोपथ ब्राह्मण में चार वेदों के प्रथम मन्त्र अग्निमीडे ·····इषे त्वोर्जे ·····अग्न याहि····· शन्नोदेवी········ उद्धृत किये हैं । यदि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदत्व होता तो उनके भी वेदवत् कुछ न कुछ अंश अवश्य उद्धृत किये होते ।

(झ) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह केवल याज्ञिकी परिभाषा है, जो ब्राह्मणभागमिश्रित कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के श्रौतसूत्रों के परिशिष्ट भाग में परिकल्पित है, और ब्राह्मणग्रन्थों के रचना काल से परकालवर्त्ती होने से तथा ब्राह्मण मिश्रित कृष्णयजुः के वेद रूप में लोक प्रसिद्ध न होने से ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है । इस परिभाषा के निर्माण काल से पूर्व यह नियम नहीं था यह बात भी इससे निकलती है ।

(ञ) इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में नामोल्लेख पूर्वक वेदों की उत्पत्ति

मुत्पत्ति-वर्णनात् न ब्राह्मणानां वेदत्वं, तथाहि :—ऐतरेय ब्राह्मणे "तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेदएवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्.........(ऐत० ५।५।७)" इति । तदेवं यदा स्वयं ब्राह्मणग्रन्थोऽपि स्वं वेदेभ्यः पृथक् मन्यमानः वेदानामुत्पत्ति वर्णयति, तदा कथं नु नाम ब्राह्मणानां वेदतेत्यलं चर्चयानया ।

वे० पा० ४८८ तमे पृष्ठे 'मुखप्राणादि-साधनमन्तरापि तस्य (ईश्वरस्य) कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादि शब्दोच्चारणं भवति, तथेश्वरेऽपि मन्यतामिति" महर्षि दयानन्देनोक्तम् । तत्र करपात्रिणः आक्षेपोऽयं:- कण्ठताल्वाद्यभिघातमन्तरा शब्दोत्पादनाऽसंभवात् । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन तु वेदमन्तराऽपि तदुपदेश-संभवात्" इति । सोऽयं न युक्तः कथञ्चित् :—

ताल्वादि-स्थानाद्यभिघातमन्तराऽपि मनसि शब्दोत्पत्तिसंभवात्

का वर्णन है जैसे कि 'तानि ज्योतींषि' इत्यादि स्थल में वेदों की उत्पत्ति बतलाई है । इस प्रकार जब स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ अपने को वेदों से पृथक् मानता हुआ वेदों की उत्पत्ति का वर्णन करता है, तब ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद किस प्रकार माना जा सकता है; अतः इस विषय में इतना ही पर्याप्त है ।

वे. पा. के पृ. ४८८ पर 'मुख प्राणादि साधनों के बिना भी ईश्वर के कार्य करने की सामर्थ्य सदा विद्यमान रहती है । विचारने के समय मन में प्रश्नोत्तर आदि में शब्दोच्चारण कण्ठ ताल्वादि के अभिघात के बिना होता है, उसी प्रकार ईश्वर में भी मानना चाहिए, महर्षि दयानन्द लिखित इससन्दर्भ पर लेखक का यह आक्षेप है कि "कंठ तालु आदि के अभिघात के बिना शब्दोत्पत्ति असंभव है, वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण वेद के बिना भी उपदेश कर सकता है ।" सो ऋषिदयानन्द के उक्त कथन के समर्थन में समाधान यह है कि ताल्वादि में अभिघात के बिना भी मन में शब्दोत्पत्ति संभव है अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध यह आक्षेप है । इसके अतिरिक्त ईश्वर के सर्वशक्तिमान् तथा जीवों में व्यापक होने से, मुखादि अंगों के बिना भी जीवों के हृदयों में वेदोपदेश संभव है, ताल्वादिगत अभिघात की कोई आवश्यकता नहीं ।

प्रत्यक्षापल।पानर्हत्वात् करपात्रिणः हेतुरयं व्यभिचरितः । अपि चेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्वात् जीवेष्वपि च व्यापकत्वात् मुख।द्यङ्गान्यनपेक्ष्य जीवेषु वेद-विद्यायाः उपदेशस्य कर्त्तुं शक्यत्वात् न ताल्वाद्यभिघातस्य आवश्यकता । ताल्वाद्युत्पन्न-वर्णानामावश्यकता तु दूरस्थानेव परान् बोधयितुं भवति । स्वात्मबोधाय तु वाचो व्यापारमन्तरेणाऽपि व्यवहार-विचार-संचारो मनसि जायत एव। सच शब्दोच्चारण-ध्वनि-रहितोऽपि भवति । अपि चाङ्गुलीभिः कर्णौ पिधाय श्रोतुं शक्यते शब्दोद्भूतिः । अतोऽन्तर्यामी परमेश्वरोऽपि वेदविद्यां साधनमन्तराऽपि सम्यगुपदेष्टुमशक्नोत् । वस्तुतस्तु अविद्या-मोहावरणक्षये स्वात्मशक्ति-विकासे परमात्मनो ज्योतिः-प्रकाशे, आनन्दमय-कोषावाप्तौ पराबाणी—शब्दानुभूतिः ज्ञानमयी जायते, एतदग्रे पश्यन्त्याः मध्यमायाः वैखर्याश्च रूपं समुद्भवति । एवं चानन्तैकरस-जगद्-व्यापिनि परमात्मनि परावाणीरूपाः वेदमन्त्राः विराजन्ते । जीवात्मनश्च परमात्मना सह योगे तत्स्वाभाविक-गुणानन्देन साकं परा-वाण्याः अनुभूतिरपि संजायते ।

ईश्वर-प्रेरणया च ते अग्नि वायू वादित्यादयः ऋषयः तां वेदवाणीं वैखरी-वाण्या प्रकाशयन्ते । शंकराचार्योऽपि एतदेव पुष्णाति वेदान्त-भाष्ये तथा हि :—

ताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न वर्णों कीं आवश्यकता दूसरों को बताने के लिए होती है, अपने लिये नहीं । अपने आत्मसम्पृक्त अन्तःकरण में तो वाणी के व्यापार के बिना भी विचारों का संचार होता ही है, वह ध्वनि की अपेक्षा नहीं करता । इसके अतिरिक्त कानों को अंगुलियों से बन्द करके भी शब्द की अनुभूति की जा सकती है । इसलिए अन्तर्यामी परमात्मा ने ताल्वादि साधन के बिना भी वेद-विद्या का उपदेश दिया ।

महाराज करपात्री जी, आपने यह जो तर्क प्रस्तुत किया है कि वेद बिना भी ईश्वर का उपदेश संभव था, सो इस तर्क को करके तो आपने देव-गुरु बृहस्पति को भी मात कर दिया । श्रीमान्जी, यहाँ आप इतनी बात भी भूल गये कि परमात्मा ने जो भी उपदेश किया है, उसी का ही तो नाम वेद है । अतः आपका यह कहना कि बिना वेद के भी परमात्मा का उपदेश संभव था, कितनी नासमझी की बात है ।

"अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति, सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते" (वेदा॰भा॰ १।३।२८)

अतः ताल्वादिस्थानमन्तराऽपि शब्दप्रादूर्भूतिरिति मतं सयुक्तिकं सप्रमाणं चेति सिध्यति। यदपि चोक्तं करपात्रिणा तस्मिन्नेव पृष्ठे—"तथात्वे सर्वशक्तिमत्त्वेनैव वेदमन्तराऽपि तदुपदेशसंभवात्, वेदस्याप्यानर्थक्य-प्रसंङ्गात्" इति । तदपि नूनमविचारितोक्तमेव, यतो हि—

नित्यसत्तां स्वीकुर्वतामस्माकं मते नह्यत्र सर्वशक्तिमत्त्वादेव दृष्ट-कार्य-कारण-भावापलापोऽभीष्टः।

वास्तव में उक्त विषय का समाधान यह है कि अविद्या, मोह के आवरण के नाश होने पर, जब आत्मशक्ति का पूर्ण-विकास होता है तब परमात्मा की ज्योति के प्रकाश में आत्मा के द्वारा आनन्द कोष की प्राप्ति पर ज्ञानमयी परा-वाणी की शब्दानुभूति होती है । इसके आगे पश्यन्ती फिर मध्यमा और फिर वैखरी वाणी का रूप उद्भूत होता है । अनन्त एकरस जगद्व्यापी परमात्मा में परा-वाणी-रूप वेद-मन्त्र सदा वर्त्तमान रहते हैं । जीवात्मा परमात्मा से मिलने पर, योग में उसके स्वाभाविक गुण आनन्द के साथ परावाणी की अनुभूति भी करते हैं । ईश्वर की प्रेरणा से अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषि उस वेद-वाणी को वैखरी वाणी से प्रकाशित करते हैं । आचार्य-शंकर ने वेदान्तभाष्य में इसी बात की पुष्टि की है जैसे कि—'अपि च' इत्यादि अर्थात् मनुष्य करने योग्य अभीष्ट अर्थ का अनुष्ठान करता हुआ, उस अर्थ के वाचक शब्द को पहले स्मरण करके फिर उसका अनुष्ठान करता है, यह हम सबको प्रत्यक्ष है । प्रजापति स्रष्टा को भी सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्द प्रकट हुए थे तत्पश्चात् तदनुसार अर्थों की सृष्टि की ऐसा प्रतीत होता है । (वेदा. भा. १।३।२८) इसलिये ताल्वादि स्थान के बिना भी शब्द की प्रादुभूति हुई—मत सयुक्तिक और सप्रमाण है ।

उसी ४८८ पृष्ठ पर यह जो कहा है कि—

'सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में बिना वेद के ही उपदेश देने का सामर्थ्य मान लिया जाय, फिर तो वेदों की कोई आवश्यकता ही न रह जायेगी ।, यह भी

तस्य सर्वव्यापकत्वे सति सर्वशक्तिमत्वेन वेदोपदेशस्यात्मनि संभव एव । नवीन-वेदान्तिनां भवादृशां पक्षे तथाऽपलापो भवितुमर्हेत् नाम ! श्रीमन्, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वे वेदमन्त्रान् विना कस्योपदेशस्य संभावना कल्पिता भवता ? वेदस्तु स्वयं भगवत आद्युपदेश : एव, तमन्तरेण कथंकारमुपदेशसंभूतिः ? सिद्धिदातुः साधन-मन्त्रान् विना जीवानां कल्याण-साध्यताऽऽपादन-कल्पना "नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवदि" तिवद् बालिश—जन-मनोरमैव । अनया तु वेदस्य सार्थकतायाः अभावोत्पत्तिरेव भविष्यति । सर्वशक्तिमत्त्वेन स्वमृत्यु-संपादनाऽक्षमत्वे सर्वशक्तिमत्त्व-विघात-कल्पनमिव, उक्तकल्पनायां हेत्वाभासतैव ।

यदि परमातमा स्व-सर्व-शक्तेः वेदप्रकाशन-रूपैक-सामर्थ्यस्य प्रकाशनं न कुर्याच्चेत्कुतस्तस्य सर्वशक्तिमत्ता उपयुज्येत । वेदमन्तराऽपि"

बिना विचारे ही कह डाला है, क्योंकि नित्य प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करने वाले हम लोगों के लिए, यहां पर सर्वशक्तिमत्ता से दृष्ट-कारण कार्य भाव का अपलाप अभीष्ट नहीं है । सर्वव्यापकत्व होने पर वेद के उपदेश का ऋषियों की आत्मा में होना संभव ही है । आप जैसे नवीनवेदान्तियों के पक्ष में ही उसका अपलाप हो सकता है । भला आप यह तो बताइये कि परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता में वेदमन्त्रों के बिना आपने किस उपदेश की संभावना कल्पित की है ? वेद तो स्वयं भगवान् का आद्युपदेश ही हैं । उसके बिना किस प्रकार उपदेश की संभूति आपने की ? सिद्धिदाता ईश्वर के साधन मन्त्रों के बिना जीवों के कल्याण-साधन की कल्पना अभाव से भाव की कल्पना, (शश शृंग) के समान है, जो अविद्वज्जनों को हीमनोरम है । इससे तो वेद की सार्थकता ही खटाई में पड़ जायेगी । सर्वशक्तिमत्ता से अपनी मृत्यु-सम्पादन में असमर्थ होने से सर्वशक्तिमत्व के विघात की कल्पना के समान उक्त कल्पना में हेत्वाभास ही है । यदि परमात्मा स्व-सर्वशक्ति से वेदप्रकाशन-रूप एक सामर्थ्य का प्रकाशन न करे, तो सर्वशक्तिमत्ता का उपयोग भी कैसे हो ? "वेद के बिना भी" यह आपका कथन 'जगत् के बिना भी सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टि की संभावना है" इस कथन के समान प्रलाप मात्र ही है, और वह परमेश्वर सृष्टि के सत्य-नियमों का असम्भव परिवर्तन भी नहीं कर सकता है, 'सहायक की बिना अपेक्षा किए हुवे ही परमेश्वर कर्म-संविधान में समर्थ है' यही सर्वशक्तिमत्व शब्द का अभिप्राय है ।

इति भवत्कथनं जगदन्तराऽपि सर्वशक्तिमत्त्वेन सृष्टिसंभव इत्युक्तिवत्प्रलाप एव। अपि च परमेश्वरोप्यसम्भाव्यं सृष्टि-सत्य-नियम-परिवर्त्तनं कर्त्तुं न शक्नोति। "सहायान्तरमनपेक्ष्यैव परमेश्वरः स्वकर्माणि विधातुं शक्नोति" इत्येव सर्वशक्तिमत्त्व-शब्दाभिप्रायः। यदप्युच्यते—"ज्ञानेच्छा-कृत्यभावेऽपि जगदुत्पत्तिसिद्धौ जगत्कारणेन सर्वज्ञत्वासिद्धेश्च" इति। इह विचार-शीलानां ध्यानमाकृष्यते यत् कोऽस्ति प्रसङ्गोऽत्र 'ज्ञानेच्छा कृत्यभावेऽपि' इत्यस्य ? अथ च न मनुष्यस्येव ज्ञानेच्छाकृतयः परमेश्वरस्य, "स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया" चेति वचनेन परमात्मनः तेषां ज्ञानादीनां स्वाभाविकत्वात्।

सर्वव्यापकत्वात् सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वज्ञत्वाच्च, स्वाभाविक-ज्ञानादिभिरेव तेन परमात्मना जगदुत्पादितम्।

"जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वादिसिद्धेश्च" इत्यप्रतिभानलेखोऽयञ्च भवत्पक्षे एवापद्यते, अस्मन्मते तु नैमित्तिकत्वे सर्वज्ञत्व-सिद्धिरक्षतैव।

वस्तुतस्तु अत्र तवोक्तौ प्रकरण-समनामको हेत्वाभासः यथाहि 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" (न्या० १।२।७) इति।

यह जो कहा जा रहा है कि "ज्ञान इच्छा और क्रिया के अभाव में भी जगत् की उत्पत्ति मानने पर तो परमेश्वर में जगत् की कारणता और सर्वज्ञता भी नहीं बनेगी" इस कथन पर मैं विचार-शीलों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं कि यहां पर "ज्ञान इच्छा और क्रिया के अभाव पर भी" इस कथन की क्या प्रासङ्गिकता और उपयोगिता है। और परमेश्वर की ज्ञान इच्छा और क्रियायें मनुष्य के समान तो नहीं होतीं। 'स्वाभाविकी-ज्ञान बल-क्रिया च' इस वचन से परमात्मा के ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं, पर हम लोगों के नैमित्तिक भी होते हैं। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ होने के कारण ही परमेश्वर ने स्वाभाविक ज्ञान आदि के द्वारा ही जगत् उत्पन्न किया है।

"जगत् के कारण होने से परमेश्वर की सर्वज्ञता प्रसिद्ध होगी" यह लेख प्रतिभाशून्य है। जो कि आपके पक्ष में ही घटित होता है; क्योंकि हमारे मत में परमेश्वर जगत्-रचना में निमित्त-कारण है, तो उसकी सर्वज्ञता सर्वथा अक्षत है। वस्तुतः आपकी इस उक्ति में प्रकरणसम नामक हेत्वाभास है।

नास्तिक-सन्निकाश-शेमुषीकेण भवता यदुक्तं "न च वेद-प्रामाण्यात्तथात्वसिद्धिरिति वाच्यम्, वेदस्य परमेश्वर-कारणत्वे एव विप्रतिपत्तेः। न चोक्तवचनात्तस्य वेदकारणत्व-सिद्धिः वेदप्रामाण्यसिद्धौ एव तस्यापि प्रामाण्यसिद्धेः।" इति, अत्रोच्यते :—ऋषि-दयानन्देन 'अनेकप्रमाणानि समुद्धृतानि परमेश्वरद्वारा वेदानां निर्मितौ, तदनभ्युपगमे भवता संदिह्यते, कथंचिदभ्युपगमेऽपि वेदप्रामाण्यं तु न स्वीक्रियते भवता।

वेदा ईश्वरोत्पादिता इति तु सायणादिभिरपि सम्मतम्, वेदानां स्वतः प्रामाण्येऽपि सायणस्य वचनं निभाल्यताम् तथाहि :—तैत्तिरीयभाष्य-भूमिकायामसौ "ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृदोषाभावात् स्वतः सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थं, तस्माल्लक्षण-प्रमाण सद्भावात् विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकार-सत्वात् प्राणाण्य सुस्थत्वाच्चेति" प्रोक्तवान्। कुमारिलभट्टैरपि "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्राणाण्यमिति गम्यताम्" (श्लो० वा-१।२। ४६) इति प्रोक्तम्। वैशेषिकदर्शनेऽपि, 'तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यमिति कथितम्।

नास्तिक सदृश बुद्धि वाले आपने जो कहा है कि "वेद के प्रमाण से भी यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभी तो वेद परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं, यही विवाद का विषय है। उक्त श्रुति के प्रमाण से परमेश्वर में वेद की कारणता मान ली जायेगी, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर ही उस वचन को प्रमाण माना जायेगा।"

इस विषय में मेरा कहना है कि परमेश्वर द्वारा वेदों की रचना में ऋषि दयानन्द ने अनेक प्रमाण समुद्धृत किये हैं, उनको स्वीकार न करके आप संशय में पड़े हुए हैं। कथंचित् स्वीकार भी कर लें तो वेद का प्रामाण्य आपको स्वीकृत नहीं है।

वेद तो ईश्वर ने ही उत्पन्न किये, यह बात सायण आदि आचार्यों की भी सम्मत है। वेदों के स्वतः प्रमाण होने में भी तैत्तिरीय-संहिता की भाष्य भूमिका में सायणाचार्य का कथन देखिये—'ब्रह्म की निर्दोषता से वक्ता के दोष के अभाव के कारण तथा लक्षण और प्रमाण होने से एवं विषय-प्रयोजन के सम्बधाधिकारी होने और प्रामाण्य के सुस्थिर होने से (वेदों का) स्वतः प्रामाण्य है। कुमारिलभट्ट ने भी सर्व प्रमाणों के प्रमाण वेद को स्वतः प्रमाण माना है। वैशेषिक दर्शन

वेदान्तदर्शनेऽपि "शास्त्रयोनित्वाद्' इति परमात्मनः वेदात्पत्तिः प्रतिपादिता । अपि चास्मिन् विषये अथर्ववेदभाष्य-भूमिकायां सायणाचार्यः तार्किकमत-निरसन-पूर्वकं स्पष्टमाचष्टे "कार्यशक्तेरसति बाधके कार्यकारणादेव कार्येण सहोत्पत्तिरङ्गीकर्त्तव्या । अन्यथा बह्निगतायाः दाहकत्व-शक्तेरपि कारणान्तरादेवोत्पत्तिः स्यात् । वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते, तत्सिद्धमेतत् स्वतः एव च वेद-प्रामाण्यम्" इति ।

········ततश्च वेदानामपि अपौरुषेयत्वेन शब्दगत-गुणादोषाणां शङ्कनमपि कर्त्तुं न शक्यमतः स्वतएव प्रामाण्यमिति निरवद्यम्' इति । अपिच "कथंचित् प्रामाण्यसिद्धौ अपि" इत्युक्त्वाऽभ्युपेतव प्रामाण्यसिद्धि र्भवताऽपि । तदा च शतपथस्य 'एवं वा अरेऽस्य महत': इत्युक्तेः वेदोत्पत्ति-कथने चरितार्थत्वेन नाऽस्याः ज्ञापकता-प्रश्नः । व्यर्थत्वे सत्येव ज्ञापकत्वनियमात् । यच्च घटपटादिदृष्टान्तेन ज्ञानादीनां कर्त्तृ-पूर्वकत्वमिति प्रोक्तं तत्तु पूर्व-समाधानेनैव गतार्थम् ।

में भी 'ईश्वर के वचन होने के कारण वेद का प्रामाण्य है, ऐसा कहा है । इस विषय में आचार्य सायण तार्किक मत का खण्डन करते हुए अपनी अथर्ववेद-भाष्य भूमिकों में स्पष्ट लिखते हैं:—'कार्यशक्ति के बाधक न होने पर, कार्य के कारण से ही कार्य के साथ उत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिये, अन्यथा अग्नि गत दाहकत्व शक्ति की भी कारणान्तर से उत्पत्ति माननी पड़ेगी और अग्नि अपने आश्रय का दहन करते हुए ही उत्पन्न होती है, अतएव वेद प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है । और तब वेदों के अपौरुषेय होने से शब्दगत गुण दोषों की शंका भी नहीं की जा सकती । इसलिए उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है ।"

और महाराज आपने भी—'कथञ्चित् प्रामाण्य सिद्धावपि' इस प्रकार कथन करके वेदों की प्रामाण्य सिद्धि को मान ही लिया है । और जब शतपथ ब्राह्मण की 'एवं वा अरेऽस्य महतो निश्वसितं वेदा':—अर्थात् वेद परमात्मा के निश्वास रूप हैं' उक्ति वेदों की उत्पति के कथन में चरितार्थ हो गई, इसलिए ज्ञापक नहीं हो सकती, क्योंकि नियम यह है कि कोई भी उक्ति (वचन) व्यर्थ होकर ही ज्ञापक होती है ।

व० पा० ४८६ तमे पृष्ठ १ मे अनुच्छेदे "कश्चित्तु—नैतावदेव किन्तु घटादीनां शरीरकर्तृकत्त्वेन प्रपञ्चस्यापि शरीरि-कर्तृकत्त्वमेव साध्यते" इति कथनेन स्वरोचन-सिद्धान्त-बोधनात् व्याजेन स्वबोधक एव 'कश्चित्' शब्दः करपात्रिणा प्रयुक्तः। यदि नाऽयं तदभीष्ट विषय, तर्हि कथं न खण्डन-पुरस्सरमुपपादितः।

ननु शरीरी एव प्रपञ्चस्य कर्त्ता इति चेन्न, साकारस्य परिमित-शक्तिमत्त्वात् शरीरस्य च देशकालवस्तुषु परिच्छिन्नत्वात्, क्षुत्तृषाच्छेदन-भेदन-शीतोष्ण—ज्वर—पीडादि–संयुक्तत्वाच्चानर्हा, ईश्वरस्य साकार-कल्पना ।

अपि च स्थूल-शरीरः परमेश्वरः परमाण्वादि-सूक्ष्मपदार्थानां नियमन-क्षमता-विरहितः सन् न जगद्रचयितुं कथमपि क्षमः; । अतः निराकारेणैव व्यापकेन परमात्मना सर्वजगत्-प्रपञ्च-निर्माणं कृतमित्यवधेयम् । एतच्च "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः" (श्वेता० ३।४८) स पर्यगाच्छुक्रमकायम् (यजु:४०।८) इत्यादिप्रमाणैः सिद्धम् ।

वे. पा. पृ. ४८६ अनु. १ में "कुछ लोगों का कहना है कि जैसे घट इत्यादि पदार्थों की रचना शरीरधारी करते हैं । उसी प्रकार जगत प्रपंच की रचना भी शरीर-धारी कर्त्ता के द्वारा ही साध्य है" इस कथन से आपके अपने रुचिकर सिद्धान्त कर बोधन हो रहा है। आपने (ब्याज) बहाने से, आत्मविषयक 'कश्चित्' शब्द का प्रयोग किया है । वस्तुतः यह कश्चित् अन्य कोई नहीं है। यदि यह आपका स्वरुचित विषय नहीं है, तो आपने खण्डनपूर्वक इसका उपादन क्यों नहीं किया ? अच्छा शरीरधारी को ही प्रपंच का कर्त्ता मान लिया जाय तो क्या दोष होगा ? इसका समाधान यह है कि साकार ईश्वर के परिमित शक्ति वाला होने से, और शरीर के देश काल और वस्तुओं में परिच्छिन्न होने से नियमन-क्षमता से रहित होने पर वह जगत् की रचना में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता । अतः निराकार एवं सर्वव्यापक ब्रह्म के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का निर्माण किया गया है । यही निश्चित सिद्धान्त है । और वह ईश्वर, अपाणिपादो (श्वेता. ३.३।१९) सपर्यगाच्छुक्रमकायम् (यजु० ४०।८) इत्यादि प्रमाणों से निराकार एवं सर्वव्यापक सिद्ध है ।

अपि च वेदार्थ-पारिजातस्य 'कश्चित्त्'............ इत्यादि-पूर्वोक्तेऽनुच्छेदे 'कश्चित्' इत्यस्य 'साध्यते' इत्यनया क्रियया व्याकरणादृशा न कथमपि अन्वयः घटते । यद्यत्र 'कश्चित्' इत्यस्य कर्त्तुः 'मन्यते' इति क्रियायाः अध्याहारः क्रियेत : सोऽपि दोष एव, अतोऽत्र उभयथाऽपि दोषापत्तिः चिन्त्या ।

यच्चोक्तं "बाह्यशब्द-ज्ञानमपेक्ष्यैव मानस-शब्द-संभवः" इति तु मुग्धमानस कल्पनमेव, पूर्वजन्मार्जित-संस्कारवतां बाह्यशब्दराशिम-जानतामपि बहुशाब्दप्रतिपत्तेः दर्शनात् उदरवह्निरभिलषेन्नाम बाह्यं भोजनं, परं परमार्थवतां मानस — शाब्दज्ञानानां मानसि-काध्यात्मिकभोजनाऽपेक्षा आन्तरिकी एव न बाह्या ।

वे० पा० ४८६ तमे पृष्ठे २येऽनुच्छेदे :—

"न चेश्वरोऽपि निरपेक्षो जगत्सृजति प्रकृतिपरमाण्वदृष्टादि सापेक्षत्वात्..............प्राण्यादिनिर्माणे प्रवर्त्तते" इति प्रसङ्गे विचार्यते यत् महर्षिदयानन्दलिखितस्य 'सर्वशक्तिमान् नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति" इत्यस्यायमभिप्रायोऽस्ति यत् यथा वयं

वेदार्थ परिजात के कश्चित्त्......इत्यादि पूर्वोक्त अनुच्छेद में कश्चित् इस कर्त्ता का 'साध्यते' इस क्रिया के साथ व्याकरण दृष्टि से अन्वय नहीं बैठता है । और यदि यहाँ इस कर्त्ता के लिए 'मन्यते' क्रिया का अध्याहार कर लिया जाय तो वह भी एक कमी ही है अतः इस वाक्य में दोनों प्रकार की दोषापत्ति चिन्त्य है ।

यह कथन भी मिथ्या है कि बाह्य-ज्ञान की अपेक्षा करके ही मानस शब्दों की संभावना है, क्योंकि पूर्वजन्मार्जित संस्कार वालों को बाह्य-शब्दराशि को बिना जाने हुए भी बहुत सा शब्द सम्बन्धी ज्ञान होता है । जठराग्नि तो अवश्यमेव बाह्य भोजन की अपेक्षा रखती है, परन्तु परमार्थ-सम्पन्न-मानस-शब्द-ज्ञान वालों के लिये मानसिक और आध्यात्मिक भोजन की अपेक्षा, अपने में ही रहती है न कि बाहर से ।

वे. पा. के पृष्ठ ४८६ के २ य अनुच्छेद में "ईश्वर भी प्रकृति परमाणु एवं प्राणियों के पूर्वजन्मकृत कर्मों के सहारे जगत् की सृष्टि करता है" इस प्रसंग में यह विचारा जाता है कि ऋषि दयानन्द लिखित 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है कि जो किसी अन्य की सहायता नहीं लेता, जैसे कि हम किसी

कार्यं कर्त्तु मन्यस्य सहायतामपेक्षामहे न तथा परमेश्वरः कस्यापि सहायतामपेक्षते । स एकाकी एव जगद्-रचनां विदधाति, परमाण्वादीनामुपादानकारणत्वेनापेक्षा नैव सर्वशक्तिमत्वे क्षतिमापादयति । एतदभिप्रायमन्यथा कृत्वा वे० पारिजातकृत् वचनविघातोऽर्थ-विकल्पोपपत्त्या" इति छायायां वाक्छलेन प्रस्तौति यत्—प्रकृतिपरमाण्वदृष्टादिसापेक्षता ईश्वरस्यापि जगत्सर्जने भवत्येवेति । महर्षिदयानन्देन तु ईश्वरो जीवः प्रकृतिश्चेति पदार्थत्रय मनादित्वेन मतम् । जीवानां च कर्मानुसारिणी सर्वा फलव्यवस्थेति स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम् । ग्रन्थविस्तरभिया नेह प्रतायते ।

नवीन-वेदान्तनिष्ठस्य करपात्र-महोदयस्य मते तु प्रकृते-रनादित्वनित्यत्वस्वीकारे द्वैतापत्तेः सिद्धान्त-क्षतिरेव जायते, ईश्वरस्य सृष्टि-निर्माणे पारतन्त्र्यं चापद्यते ।

वे० पा० ४८९ तमे पृष्ठे ८ मे अनुच्छेदे यदप्युक्तं "यथा पर्जन्येन धराजलानिल—बीजादिसापेक्षेणैवाऽङ्कुरो जन्यते, तथैव परमेश्व-रेणापि कण्ठताल्वादिसापेक्षेणैव वर्णा उच्चार्यन्ते" इति, तदपि

कार्य के करने के लिए दूसरे की सहायता चाहते हैं, वैसे परमेश्वर नहीं चाहता। वह तो अकेला ही संपूर्ण जगत् की रचना करता है। उस रचना में परमाणुओं की उपादानकारणता की अपेक्षा, उसकी सर्वशक्तिमत्ता में कोई कमी नहीं लाती। इसी अभिप्राय को अन्यथा करके लेखक ने अर्थ-विकल्प के द्वारा वचन-विघात करके वाक्छल से विषय को प्रस्तुत किया है कि 'ईश्वर को भी प्रकृति परमाणु आदि की अपेक्षा जगत्-सृष्टि में होती ही है।"

ऋषि दयानन्द ने ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि माने हैं। जीवों के कर्मानुसार सम्पूर्ण फल-व्यवस्था होती है। यह सब विषय अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है, विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा जा रहा है।

नवीन-वेदान्त-निष्ठा वाले करपात्री जी के द्वारा प्रकृति-परमाण्वादि का अनादित्व व नित्यत्व स्वीकार करने में द्वैतापत्ति से सिद्धान्त की क्षति होती है तथा सृष्टि-निर्माण में ईश्वर की परतन्त्रता भी सिद्ध होती है।

वे. पा. के पृ. ४८९ पं. १५ में "जैसे वृक्ष के बीज में पृथ्वी जल, वायु आदि की सापेक्षता से ही अंकुर बादल के द्वारा पैदा होता

न तर्क-ज्ञान-जन्यम्, पर्जन्यस्य परमेश्वरेण सह धरण्यादेश्च कण्ठताल्वादिना सह उपमानोपमेयतादेरघटितत्वात् । अहो इदमेवास्ति किं शास्त्रतत्त्वावगाहनपाण्डित्यं पौराण-पङ्क कलङ्क-निमग्न-मनसाम् ? तथैतद्दर्शितदिशाऽग्रेऽप्यूहनीयम्, यथा पर्जन्यः उत्पद्यते किं तथेश्वरोऽप्युत्पत्तिधर्मा ? यथा चासौ नश्यति किं तथाऽयं परेशोऽपि ? अतो भवन्मतमिदं न्यायकषणे न सिध्यति खरम् ।

अपरञ्च, अङ्कुरजनित्वे उपादानकारणं वीजं, तच्च धरण्यामुप्तं भूमिजलेनानिलेनानुकूलेन साधनेन च जायते अङ्कुररूपे । वप्ता कृषको न चेत्, कथमपि नोत्पत्स्यते, अत्र यदि पर्जन्योऽपि न वर्षेत् भूमिजलेनैव सर्वं साधयितुं शक्यते । अत्र हि पर्जन्यः साधनं, करणं न कर्त्तृत्वेन कथमपि अङ्गीक्रियते तत्त्वविदा, परमेश्वरः उपादान-रूपया प्रकृत्या सर्वं जगत् सृजति ।, किमत्र भवतांमते पर्जन्यो निमित्तकारणम् ? वस्तुतोऽन्यथा-सिद्धमिदम् । अपिच 'वर्षा का जल' इति हिन्द्यनुवादे वाक्ये समासान्तर्गत-जल शब्दस्य पर्जन्येन सह कथमपि नान्वयः संघटते, अतः एतद् हिन्दी-वाक्य-रचनं चिन्त्यम् ।

है, उसी प्रकार परमेश्वर के द्वारा भी कंठतालु आदि की सापेक्षता से ही वर्ण उच्चारित किये जाते हैं" यह कथन भी आपके अज्ञान का द्योतक है, क्योंकि पर्जन्य का परमेश्वर के साथ और धरणी आदि का कण्ठ तालु आदि के साथ उपमानोपमेयभाव घटित नहीं होता । आश्चर्य है कि पुराणों के पङ्क कलङ्क में निमग्न मन वालों की क्या यही शास्त्रों के तत्व की अवगाहन कुशलता है ? इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

दूसरी बात यह कि अंकुर के उत्पन्न करने में उपादान कारण बीज है, वह पृथ्वी में बोया हुआ भूमि जल वायु और अनुकूल साधन से अंकुर के रूप में उत्पन्न होता है । यदि बोने वाला किसान न हो तो वह नहीं उत्पन्न होगा । यहाँ यदि बादल न भी बरसे तो भूमि के जल से ही सिञ्चन हो सकता है यहाँ बादल करण है न कि कर्त्ता, परमेश्वर प्रकृति-रूपी उपादान कारण से सब जगत् को बनाता है । क्या यहां पर आपके मत में बादल निमित्त कारण है ? वस्तुतः अन्यथा सिद्ध है । और हिन्दी अनुवाद में 'वर्षा का जल' समासान्तर्गत जल शब्द का बादल के साथ, किसी प्रकार अन्वय घटित नहीं हो सकता । अतः इस हिन्दी वाक्य की रचना चिन्तनीय है । और बादल भी स्वतन्त्र कर्त्ता

अपि च पर्जन्यो न स्वतन्त्रः कर्त्ता, नातो निमित्तकारणम् । चेतनः परमेश्वरस्तु स्वतन्त्रो निमित्तत्वेन जगद्-रचनायां प्रवर्त्तते, तथा चोक्तम् :—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव, विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।

गीता १३।१९

इत्येवं स्पष्टतया प्रकृतेरप्यनादित्वं साधित, मत्र तात्पर्य-रहितेऽपि शब्दजालेऽयमेवार्थो ध्वन्यते यत् मुखप्राणादि-साधन-मन्तराऽपि तस्य कार्य-करण-सामर्थ्यस्य सर्वथैव विद्यमानत्वमस्ति ।

यच्चोक्तं भवता 'न सर्वशक्तिमानपि परमेश्वरः बीजादिमन्तरा अङ्कुरादि-निर्माणे स्वातन्त्र्येण प्रवर्तते' इति किन्नैतेनापि भवता कण्ठरवेण प्रकृतेरनादित्वं स्वीकृतम् ? ननमयमेवाभिप्रायो महर्षे-र्दयानन्दस्यापि यत् 'जगद्रचने निमित्तकारणस्य ईश्वरस्य उपादान कारण-भूतप्रकृतेश्च स्वीकृतौ न स्वातन्त्र्य-विघातः । किञ्च भवाने-

---

नहीं अतः निमित्तकारण भी नहीं हो सकता । परमेश्वर तो स्वतन्त्र है और निमित्तकारण होकर जगत् की रचना करता है। जैसा कि कहा भी है:— प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो । विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न समझो ।'

इस प्रकार इस वचन से स्पष्ट रूप से प्रकृति का भी अनादित्व सिद्ध है । यहाँ तात्पर्यरहित आपके शब्द जाल में भी यही अर्थ ध्वनित होता है कि मुखप्राणादि साधन के बिना भी उसके कार्य करने की सामर्थ्य सर्वदा विद्यमान है ।

और आपने यह जो कहा है कि सर्व शक्तिमान् भी परमेश्वर बीजादि के निर्माण में स्वतंत्रता से प्रवृत्त नहीं होता, क्या इस कथन से आपने, अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति का अनादित्व स्वीकार नहीं कर लिया ? महर्षि दयानन्द का भी यही अभिप्राय है कि—संसार की रचना में निमित्त कारण ईश्वर के उपादान कारणभूत प्रकृति के स्वीकार कर लेने पर भी स्वातन्त्र्य का विघात नहीं होता । दूसरी ओर आप इस उपादान से परमात्मा की पराधीनता का प्रतिपादन करने के इच्छुक हैं । परन्तु ईश्वर का ईश्वरत्व तो प्रकृति की सत्ता

तेनोपादानेन परमात्मनः-पराधीनतां प्रतिपादयितुकामः ? परन्तु तस्य परमेश्वरस्य परमेश्वरत्वं तु तस्य प्रकृतौ सत्यामेव सिध्यति, यथा राष्ट्र-सत्तायामेव विद्यमानायां राष्ट्रपतेः राष्ट्रपतित्वम् नान्यथा। यथा च करस्य पात्रस्य च सत्तायां विद्यमानायामेव कर-पात्रत्वं संभवति, नान्यथा।

अपिच परमात्मनः सर्वशक्तिमत्त्वात् प्रकृतेरुत्पत्तिः न कल्पयितुं शक्यते, उत्पाद्यमान-प्रकृतेः कल्पनायां तस्याअपि उपादानस्यापेक्षयाऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्।' अथापि ईश्वरस्य सामर्थ्येनैव जगदुत्पत्तिः स्यादित्यपि न वाच्यं, निमित्त-कारणादन्यस्या उपादानतायाः अपरिहार्यत्वात्। सामर्थ्य-शब्देनोपादान-ग्रहणे तु समाधानसम्भवः।

ननु सामर्थ्यमीश्वरस्य गुणः तस्मादेव जगदुत्पत्तिः कल्पनीयेति-चेत्तदपि न, गुणाद्द्रव्योत्पत्तेरसम्भवात्। तस्मान् नित्यानादिप्रकृतेरेव

मानने पर ही सिद्ध होता है, जैसे कि राष्ट्र की सत्ता होने पर ही राष्ट्रपति का राष्ट्रपतित्व सिद्ध होता है अन्यथा नहीं; तथा कर एवं पात्र की सत्ता होने पर ही करपात्रत्व सिद्ध होता है अन्यथा नहीं, तथा च परमात्मा के सर्वशक्तिमान् होने से भी प्रकृति की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि उस कल्पना में भी अन्य उपादान कारण की अपेक्षा होने से अनवस्था-दोष आ जायेगा। अथापि ईश्वर की सामर्थ्य से ही जगद् की उत्पत्ति हो जायेगी, ऐसा भी कहना उचित नहीं; क्योंकि निमित्त कारण की अनिवार्यता आवश्यक है।

यदि सामर्थ्य शब्द से उपादानकारण का ग्रहण किया जाये तब यह समाधान संभव है। यदि सामर्थ्य को ईश्वर का गुण मानें और उससे जगत् की उत्पत्ति की कल्पना की जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गुण से द्रव्य (जगत्) की उत्पत्ति असम्भव है। नित्य अनादि प्रकृति (अणुरूप) से ही संभव है इसीलिए (ऋग्वेद) में ऋषि दयानन्द ने सत्पति ईश्वर की व्याख्या की है कि 'सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादिकारणद्रव्याणां पतिः सत्पतिरीश्वरः'

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'...मन्त्र के व्याख्यान में आपने जो अर्थ लिया है कि—ब्रह्मात्मक चैतन्य के बिना पाणि-पादादि और चक्षुः श्रोत्रादि कुछ नहीं कर सकते हैं' सो यह अर्थव्यञ्जना यहां नहीं है। यहाँ पर जवन-ग्रहीतृत्वादि

जगदुत्पत्ति-सम्भवः । अतएव ऋग्वेदे "यः सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादि-कारण-द्रव्याणां पतिः सत्पतिः तं सत्पतिमीश्वरमिति महर्षिणा व्याख्यातम् ।

अपि च 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादिव्याख्यानेन योऽर्थो गृहीतो भवता—'ब्रह्मतम-चैतन्यं विना पाणिपादादीनां चक्षुः श्रोत्रादीनाञ्चाकिञ्चित्करत्वादिति' स न कथमपि ध्वन्यते । अत्र ज़वन ग्रहीतृत्वादि-विशिष्टस्य परमपुरुषस्यैव प्रतिपाद्यताऽभीष्टा, न पाणिपादादि-सामर्थ्यस्य विधेयता । न चायं भवदथः केनाप्यन्येन विदुषा समर्थितः । तथा च 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (वेदा० १।१।५) इति सूत्रभाष्ये शंकराचार्येणोक्तम् "यदप्युक्तं प्रागुत्पत्ते ब्रह्मणः शरीरादि-सम्बन्धमन्तरेण ईक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृ-प्रकाश वद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूप-नित्यत्वे ज्ञान-साधनापेक्षाऽनुपपत्तेः, अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः जीवस्य ज्ञानोत्पत्तौ शरीराद्यपेक्षा स्यात्—न तु ज्ञान प्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य, उपनिषदः मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य

युक्त परमपुरुष परमात्मा की प्रतिपाद्यता है । कर पाद आदि की सामर्थ्य की विधेयता यहाँ अभीष्ट नहीं है और न आपका यह ध्वनित अर्थ और किसी विद्वान् ने निकाला है ।

'ईक्षतेर्नाशब्दम् इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी ने कहा है कि— यह जो कहा जा रहा है कि उत्पत्ति के पहले शरीरादि के साथ सम्बन्ध के बिना ब्रह्म में ईक्षण कर्तृत्व अनुपपन्न है, इस आक्षेप का अवकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान स्वरूप सूर्य के प्रकाश के समान नित्य है, अतः उसे ज्ञान के लिए साधनों की अपेक्षा नहीं हो सकती, और अविद्यादियुक्त संसारी जीव को ज्ञानोत्पत्ति में भले ही शरीरादि की अपेक्षा हो, परन्तु ज्ञान-प्रतिबन्धक-कारणों से ईश्वर को ज्ञान होने में शरीरादि की अपेक्षा नहीं, क्योंकि न तस्य कार्यं और अपाणिपादो इत्यादि दो मन्त्र ईश्वर की शरीरादि की अनपेक्षता और अनावरणज्ञानता को दिखलाते हैं । और आपकी हिन्दी में "सर्वशक्तिमान् होने मात्र से ब्रह्म बिना बीज आदि की सहायता से पत्र पुष्पादि तथा जीवों के निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता ।" यहाँ तो बीज आदि से आप जीवों की भी उत्पत्ति मान रहे हैं और उनका अनादित्व नहीं । यदि 'बीजादिना' से अविद्या अन्तर्गत है और उससे संयोग होने पर जीव निर्माण अभीष्ट है, तो संयोग के

शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः 'न तस्य कार्यम् इति, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता इति च ।

यच्च हिन्द्यां भवदनुवादकेन लिखितम् "सर्व शक्तिमान् होने मात्र से ब्रह्म, विना बीजादि की सहायता से पत्र, पुष्प, फल तथा जीवों के निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता" अत्र तु बीजादिना भवान् जीवानामपि निर्माणं मनुते, न चानादित्वं तेषाम् ।

यदि 'बीजादिना' इत्यत्र अविद्याप्यन्तर्गता, तस्याश्च संयोगे जीव-निर्माणमभीष्टं, तदा संयोगस्यारम्भात् वियोगस्याप्यनिवार्यत्वेन "जीवेशौ च विशुद्धाचित्" इत्यादिना प्रतिपादितं षण्णां पदार्थाना-मनादित्वं नवीन-वेदान्तिनां क्षतमेव स्यात् । अविद्यायाः अनादित्वे चाद्वैत-सिद्धान्तापत्तिश्च । परं त्रैतवादस्यानाद्यनन्तत्व-सिद्धान्तेऽङ्गी-कृते तु न क्वापि काचिद्विप्रतिपत्तिः ।

वस्तुतस्तु न जीवनिर्माण-संभवः तन्नित्यत्वात् । तथा च 'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् (सां० ६।२) इत्यनेन उपादानात् शरीरकारणाद् व्यतिरिक्तस्यापरिणामिनो जीवस्य नित्यत्वम् अनुमानेन प्रमाणैश्च सिद्धम् ।

आरम्भ होने से वियोग की अनिवार्यता में 'जीवेशौ च विशुद्धाचित्' इत्यादि नवीन वेदान्तियों के प्रतिपादित छै पदार्थों की अनादिता असिद्ध हो जायेगी ।

यदि संयोग अनादि माना जाय तो अनन्तता भी अनिवार्य हो जायेगी, जो कि आपको अभीष्ट नहीं, और अविद्या के अनादित्व में अद्वैतसिद्धान्त में क्षति होगी, परन्तु त्रैतवाद के स्वीकार करने पर सब समाधान हो जाता है । वस्तुतः जीवोत्पत्ति संभव नहीं, क्योंकि वे नित्य हैं और 'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् (सां ६।२) से उपादान शरीर-कारण से व्यतिरिक्त अपरिणामी जीव का नियत्व, अनुमान और प्रमाणों से सिद्ध है । वास्तव में कर्मों की सहा-यता से ईश्वर ने जगत् बनाया । जीव और प्रकृति की अनादिता और नित्वत्व स्वीकार किए विना वेदान्तियों के सिद्धान्त, हवाई किले और आकाश पुष्प के समान आश्रयासिद्ध हैं । कर्म के बिना शरीर और शरीर के बिना कर्म, इस अन्यो-न्याश्रय दोष आने से उनका जगदुत्पादन असम्भव है । जीव और प्रकृति के अनादित्व और नियत्व में वासना के अनादि होने पर सृष्टि की प्रक्रिया संभव है, जिसे 'नैर्घृण्यादि,' सूत्र की शांकर व्याख्या में नवीन वेदान्ती भी मानने को

अपि च वस्तुतः कर्मसहायतया परमेश्वरेण जगत्सृष्टम्। नवीन वेदान्तिनां मते तु तत्रासङ्गतिः, जीवप्रकृत्योरनादित्व-नित्यत्वाऽनङ्गीकारात्। न कर्म विना शरीरोपालम्भः न च शरीरं विना जीवस्य कर्मापादन-क्षमत्वम्, अतोऽन्योन्याश्रय-दोषात् जगतः उत्पादनाऽसम्भवः स्यात्, जीव प्रकृत्योरनादित्वे नित्यत्वे च जीवस्य अनादि-वासनायाः बलवत्त्वात् सृष्टि-प्रक्रियायाः सम्भवः। तथाच "वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् (वेदा॰ २।१।३४) इति सूत्र-व्याख्यायां शांकरभाष्ये "देवमनुष्यादि वैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येव असाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वात् न वैषम्य नैर्घृण्याभ्यां दुष्यति" इति मतम्।

अस्मदभीष्ट-जगत्स्रष्टुः सर्वव्यापकस्य ज्ञानचेष्टादान-स्वातन्त्र्यं सर्वत्राक्षतमेव; परमवतारवादिनाम् साकारस्य भगवतः उद्बोधन-जागरण-स्नान-चन्दनादिविलेपनाशनाद्यपेक्षत्वात्, जड-पूजा-परायणानां कर-पात्राधीनत्वमपरिहार्यमापतत्येव।

वे. पा. ४६० तमे पृष्ठे "यदपि ·· ····निर्मीयन्त एव"

इत्यालोच्यते :—"ईश्वर-रचितवेदाध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान् न चान्यथा" इति 'भूमिका पाठं बालभाषितं, सहस्रशो व्यभिचार-दर्शनात्। अद्यत्वे वेदाक्षरैरत्यन्त-

---

बाधित हैं। और वेदान्त (२।१।३४) सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने लिखा है कि "देवमनुष्यादि की सृष्टि की विषमता में तत्तद् जीवगत कर्म असाधारण कारण हैं। इस प्रकार ईश्वर सापेक्ष होने से वैषम्यादि से दूषित नहीं होता।

हमारे अभीष्ट जगत्सृष्टा सर्वव्यापक परमात्मा का चेष्टा दान और स्वातन्त्र्य सर्वथा अक्षत है। पर जड़पूजापरायण अवतारवादी जनों को साकार भगवान् के उद्बोधन, जागरण, स्नान, चन्दनादि विलेपन तथा अन्नादि की अपेक्षा होने से, कर पात्र की भी अधीनता अपरिहार्य है।

वे० पा० ४६० पर···यदपि···इसकी आलोचना की जाती है।

"ईश्वर-रचित वेदों के अध्ययन के पश्चात् ही अन्य मनुष्य के द्वारा ग्रन्थ की रचना संभव है"। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का यह कथन बच्चों की सी

मपरिचिताः सन्ति तैरपि संस्कृतादि-विविध-भाषामयाः ग्रन्थाः निर्मीयन्ते एव" इति यदाक्षिप्तं तत्तु करपात्रि-महोदयस्यैव बाल-भाषितं, भूमिका पाठमित्यत्र नपुंसक लिङ्गं च चिन्त्यम् ।

गूढाभिप्रायज्ञंमन्यो लेखकोऽयं ऋषेरभिप्रायं नाधिगतवान् । भूमिका-पाठे अयमभिप्रायः यत् सृष्टेः आदौ परमात्मनः मनुष्यो-पकाराय वेदाः समाम्नाताः । कल्पादौ समुत्पन्नान् ऋषीन् 'परमेश्वरः वेद-विद्यां नोपादेक्ष्यच्चेत् ते नान्यान् मनुष्यान् अध्यापयिष्यन्, फलतः सर्वे एव मनुष्याः अविद्वांसोऽभविष्यन् ।

यथा कञ्चिन्मनुष्यं कश्चित् जन्मनः प्रभृति एकान्त-देशेऽविदुषां जनानां पशूनां वा साहचर्ये रक्षेत् तर्हि नाऽसौ विद्वान् भवितुमर्हेत् । कश्चिदपि परम्परया ज्ञाने प्रसृते प्रज्ञान-लवैरल्पमनल्पं वा पल्लवितं ज्ञानं कृत्वैव कस्याञ्चिदपि भाषायां ग्रन्थान् रचयितुं प्रवृत्तो भवति नान्यथा ।

भगवन् ! किं भवान् मनुते यद् वेदाः सृष्ट्यादौ परमात्मना

बात है, क्योंकि इसमें हजारों दोष आते हैं । आज-कल वेद के अक्षरों से भी अत्यन्त अपरिचित व्यक्ति संस्कृत आदि के (विविध-ज्ञान से युक्त) भाषामय ग्रन्थ बनाते ही हैं, इस प्रकार ऋषि दयानन्द के लेख पर आपने जो आक्षेप किया है वह ही निश्चित बालवचन है, और 'भूमिका पाठं' शब्द में नपुँसक लिंग चिन्तनीय है ।

लेखक ने ऋषि के आशय को नहीं समझा । ऋषि का आशय यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्यों के उपकार के लिये ही वेदों का प्रकाश किया । यदि सृष्टि के आदि में परमात्मा ऋषियों को वेद-विद्या का उपदेश न करता तो वे ऋषि अन्य मनुष्यों को न पढाते, फलतः सब मनुष्य अविद्वान् ही रह जाते ।

जैसे किसी मनुष्य को जन्म से सी एकान्तदेश में मूर्खों या पशुओं के संपर्क में रखा जाये, तो वह कभी भी विद्वान् नहीं हो सकता । कोई भी परम्परा से ज्ञान के विकसित होने पर ज्ञान के अंशों से थोड़ा या बहुत सा ज्ञान पल्लवित करके ही किसी भी भाषा में ग्रन्थ रच सकता है, अन्यथा नहीं ।

महाराज, क्या आप ऐसा मानते हैं कि—सृष्टि के आदि में वेद ऋषियों

ऋषिभ्यो न प्रादायिषत, तान् विनैव च संसारे ज्ञान-विकासः समभवद् इति ? अत्रोच्यते जीवानां स्वाभाविकं ज्ञानं बुद्धिः नैमित्तिकं ज्ञानं च विद्येति निगद्यते। विद्यां विना न बुद्धेर्विकास-सम्भवः। अतः अस्या एव विद्यायाः सर्गादौ आवश्यकता अभवत्। किञ्च ब्रह्माक्षर समुद्भवम् इति गीता वचन-व्याख्यायां शङ्कराचार्यः "ब्रह्म, अक्षरः परमात्मा समुद्भवो यस्येति" ब्रह्म वेदाः परमात्मनः समुत्पन्ना इति प्रत्यपादयत्।

अपि च निभाल्यतां तावद्बुधैः यदस्य वेदार्थ-पारिजात-लेखकस्य मतिः न विमृशति पूर्वापर स्ववचन-विरोधम्, यदयं सम्प्रदायावाप्त-वेद-राशि-रागालापको लिखति :—"वेदान्तिसम्मत ईश्वरो निश्व-सितमिव बुद्धि-प्रयत्न-विशेषानपेक्षम् अकृत्रिमं वेदं निश्वासन्यायेन कल्पादावाविर्भावयति, अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेद (बृहदा० ३।२१४।१०) इत्यादि-श्रुतिभ्यः" इति। तदेवमिदमत्र संगच्छते वलात् यत् स्वयं लिखति परं स्वयं न वाचयति इति।

के लिये परमात्मा ने नहीं दिये उनके विना ही ज्ञान का विकास हो गया। सो इस विषय में सुनिये, जीवों के स्वाभाविक ज्ञान को बुद्धि और नैमित्तिक-ज्ञान को विद्या कहते हैं विद्या के बिना बुद्धि का विकास संभव नही अतः इसी विद्या की, सृष्टि के आरम्भ में आवश्यकता हुई। और भी ब्रह्माक्षरसमुद् भवं इस गीता-वचन की व्याख्या में शंकराचार्य लिखते हैं कि अक्षर अर्थात् परमात्मा (उद्भव) उत्पत्ति स्थान है जिसका ऐसा ब्रह्म अर्थात् वेद पर-मात्मा से उत्पन्न हुआ। बुद्धिमान् जन यहाँ पर यह भी देखें कि इस लेखक की बुद्धि अपने पूर्वापर के वचन-विरोध का भी विचार नहीं करती है जो कि सम्प्रदाय से प्राप्त वेद शब्दराशि राग का अलापने वाला लेखक लिखता है कि :—

"वेदान्ति-सम्मत ईश्वर, निश्वसित के समान, बुद्धि के प्रयत्न-विशेष से अनपेक्षित एवं अकृत्रिम वेद को निश्वास-न्याय से कल्प के आदि में प्रकट करता है जैसे कि अस्य महतो इत्यादि (बृह० ३।२१४।१०) श्रुति है।

सो इस प्रकार यहां यह उक्ति घटित होती है कि स्वयं लिखे पर स्वयं न वांचे। इसके अतिरिक्त यह लेखक सब शास्त्रों में विरोध की उद्भावना

मपरिचिताः सन्ति तैरपि संस्कृतादि-विविध-भाषामयाः ग्रन्थाः निर्मीयन्ते एव" इति यदाक्षिप्तं तत्तु करपात्रि-महोदयस्यैव बाल-भाषितं, भूमिका पाठमित्यत्र नपुंसक लिङ्गं च चिन्त्यम् ।

गूढाभिप्रायज्ञंमन्यो लेखकोऽयं ऋषेरभिप्रायं नाधिगतवान् । भूमिका-पाठे अयमभिप्रायः यत् सृष्टेः आदौ परमात्मनः मनुष्यो-पकाराय वेदाः समाम्नाताः । कल्पादौ समुत्पन्नान् ऋषीन् 'परमेश्वरः वेद-विद्यां नोपादेक्ष्यच्चेत् ते नान्यान् मनुष्यान् अध्यापयिष्यन्, फलतः सर्वे एव मनुष्याः अविद्वांसोऽभविष्यन् ।

यथा कञ्चिन्मनुष्यं कश्चित् जन्मनः प्रभृति एकान्त-देशेऽविदुषां जनानां पशूनां वा साहचर्ये रक्षेत् तर्हि नाऽसौ विद्वान् भवितुमर्हेत् । कश्चिदपि परम्परया ज्ञाने प्रसृते प्रज्ञान-लवैरल्पमनल्पं वा पल्लवितं ज्ञानं कृत्वैव कस्याञ्चिदपि भाषायां ग्रन्थान् रचयितुं प्रवृत्तो भवति नान्यथा ।

भगवन् ! किं भवान् मनुते यद् वेदाः सृष्ट्यादौ परमात्मना

बात है, क्योंकि इसमें हजारों दोष आते हैं । आज-कल वेद के अक्षरों से भी अत्यन्त अपरिचित व्यक्ति संस्कृत आदि के (विविध-ज्ञान से युक्त) भाषामय ग्रन्थ बनाते ही हैं, इस प्रकार ऋषि दयानन्द के लेख पर आपने जो आक्षेप किया है वह ही निश्चित बालवचन है, और 'भूमिका पाठं' शब्द में नपुँसक लिंग चिन्तनीय है ।

लेखक ने ऋषि के आशय को नहीं समझा । ऋषि का आशय यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्यों के उपकार के लिये ही वेदों का प्रकाश किया । यदि सृष्टि के आदि में परमात्मा ऋषियों को वेद-विद्या का उपदेश न करता तो वे ऋषि अन्य मनुष्यों को न पढाते, फलतः सब मनुष्य अविद्वान् ही रह जाते ।

जैसे किसी मनुष्य को जन्म से सी एकान्तदेश में मूर्खों या पशुओं के संपर्क में रखा जाये, तो वह कभी भी विद्वान् नहीं हो सकता । कोई भी परम्परा से ज्ञान के विकसित होने पर ज्ञान के अंशों से थोड़ा या बहुत सा ज्ञान पल्लवित करके ही किसी भी भाषा में ग्रन्थ रच सकता है, अन्यथा नहीं ।

महाराज, क्या आप ऐसा मानते हैं कि—सृष्टि के आदि में वेद ऋषियों

ऋषिभ्यो न प्रादायिषत, तान् विनैव च संसारे ज्ञान-विकासः समभवद् इति ? अत्रोच्यते जीवानां स्वाभाविकं ज्ञानं बुद्धिः नैमित्तिकं ज्ञानं च विद्येति निगद्यते। विद्यां विना न बुद्धेर्विकास-सम्भवः। अतः अस्या एव विद्यायाः सर्गादौ आवश्यकता अभवत्। किञ्च ब्रह्माक्षर समुद्भवम् इति गीता वचन-व्याख्यायां शङ्कराचार्यः "ब्रह्म, अक्षरः परमात्मा समुद्भवो यस्येति" ब्रह्म वेदाः परमात्मनः समुत्पन्ना इति प्रत्यपादयत्।

अपि च निभाल्यतां तावद्बुधैः यदस्य वेदार्थ-पारिजात-लेखकस्य मतिः न विमृशति पूर्वापर स्ववचन-विरोधम्, यदयं सम्प्रदायावाप्त-वेद-राशि-रागालापको लिखति :—"वेदान्तिसम्मत ईश्वरो निश्वसितमिव बुद्धि-प्रयत्न-विशेषानपेक्षम् अकृत्रिमं वेदं निश्वासन्यायेन कल्पादावाविर्भावयति, अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेद (बृहदा० ३।२१४।१०) इत्यादि-श्रुतिभ्यः" इति। तदेवमिदमत्र संगच्छते बलात् यत् स्वयं लिखति परं स्वयं न वाचयति इति।

के लिये परमात्मा ने नहीं दिये उनके विना ही ज्ञान का विकास हो गया। सो इस विषय में सुनिये, जीवों के स्वाभाविक ज्ञान को बुद्धि और नैमित्तिक-ज्ञान को विद्या कहते हैं विद्या के बिना बुद्धि का विकास संभव नही अतः इसी विद्या की, सृष्टि के आरम्भ में आवश्यकता हुई। और भी ब्रह्माक्षरसमुद्भवं इस गीता-वचन की व्याख्या में शंकराचार्य लिखते हैं कि अक्षर अर्थात् परमात्मा (उद्भव) उत्पत्ति स्थान है जिसका ऐसा ब्रह्म अर्थात् वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ। बुद्धिमान् जन यहाँ पर यह भी देखें कि इस लेखक की बुद्धि अपने पूर्वापर के वचन-विरोध का भी विचार नहीं करती है जो कि सम्प्रदाय से प्राप्त वेद शब्दराशि राग का अलापने वाला लेखक लिखता है कि :—

"वेदान्ति-सम्मत ईश्वर, निश्वसित के समान, बुद्धि के प्रयत्न-विशेष से अनपेक्षित एवं अकृत्रिम वेद को निश्वास-न्याय से कल्प के आदि में प्रकट करता है जैसे कि अस्य महतो इत्यादि (बृह० ३।२१४।१०) श्रुति है।

सो इस प्रकार यहां यह उक्ति घटित होती है कि स्वयं लिखे पर स्वयं न वांचे। इसके अतिरिक्त यह लेखक सब शास्त्रों में विरोध की उद्भावना

अपि चायं सर्वशास्त्रेषु सर्वत्र विरोधमुद्भावयन् ऋषीणामनैक्य-मतमपि प्रतिपादयति । भिन्नत्वे तु सर्वेषामेव ऋषीणाम् आप्तत्वं विहन्यते । किञ्च महानुभावोऽयं नास्तिक-बौद्ध-जैन-पङ्क्त्यामेव सांख्यकारं मीमांसाकारं प्रतिष्ठापयन् न लज्जते । तथाहि दृश्यता-मस्य हिन्दी-भाषालेखः वे. पा. १८८ तमे पृष्ठे :—'यहाँ पर मीमां-सक, सांख्य, बौद्ध, जैन आदि ईश्वर को न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है' ।

अतः सृष्ट्यादौ वेद-ज्ञानस्य आवश्यकता अपरिहार्या । किञ्च 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमाः बभूवुः इति वेदोक्तिः शिक्षायाः मात्रामेव मनुष्याणाम् असमत्वे हेतुं प्रतिपादयति । नह्यज्ञानां सामान्य-ज्ञानानां वा समवायो बहुज्ञतां विशेषज्ञतां वा सम्पादयितुं क्षमः । नूनं न निमित्तं विना जीवात्मनः ज्ञान-विकास-सम्भवः । अतः सर्गादौ एतन्निमित्तं शिक्षणं वेदद्वारा भगवता प्रादायि एव ।

भगवन्, "पशु-पक्षि-पिपीलिकादीनामपि विशिष्ट-ज्ञान-पूर्वकं प्रवृत्तिदर्शनात्, अतएव पिपीलिकाभ्यः धन-संग्रहः शिक्ष्यते, मधु-मक्षिकाभ्यः सारग्रहणं मनुष्यैरपि शिक्ष्यते ।

करके परस्पर-विरोधीमत का प्रतिपादन करता है । इस प्रकार करने से तो ऋषियों का आप्तत्व नष्ट हो जाता है । यह लेखक महानुभाव नास्तिक बौद्ध, जैनों की पंक्ति में सांख्यकार कपिल मुनि और मीमांसाकार जैमिनि ऋषि को भी रखता हुआ तनिक भी लज्जित नहीं होता है क्योंकि वे. पा. पृ० १८८ पर हिन्दी में लिखा है:'यहां पर मीमांसक सांख्य बौद्ध जैन आदि ईश्वर को न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है ।'

इसलिये सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान की आवश्यकता अपरिहार्य है । तथा 'अक्षण्वन्त कर्णवन्तः' इत्यादि वेदोक्ति के अनुसार मनुष्यों की ज्ञानकृत असमानता में शिक्षा की मात्रा ही कारण है । अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी पुरुषों का समुदाय कभी भी बहुज्ञ और विशेषज्ञ नहीं हो सकता । निश्चय ही निमित्त (विद्या) के बिना जीवात्मा के ज्ञान का विकास-सम्भव नहीं । अतः सृष्टि के आदि में भगवान् ने वेद का निमित्तभूत ज्ञान दिया । वही मानव ज्ञान के विकास में निमित्त है ।

"अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥"

इत्येतेन समग्रेण भवल्लेखेन कथमेषोऽभिप्रायः सेत्स्यति यत् न वेद-ज्ञानस्य सृष्ट्यादौ आवश्यकतेति ।

भगवन्, किं स्वाभाविकेन ज्ञानेन पिपीलिकादिवत् मनुष्योऽपि समाधिपर्यन्तां परमानन्द-सिद्धिम् आप्तुं शक्नोति ? किञ्च पिपीलिकाऽपि स्वाभाविकेन ज्ञानेन मोक्षानन्दमधिगन्तुं पारयति ? अहो नु एवंविचार-शीला भवद्बुद्धिः कस्मिंश्चित् संग्रहालये एव न्यसनीया ! नूनमेषा विकास-वादिनी लतिका भवतां, पाश्चात्य-विचार-वारि- पल्लवितेत्यलं चर्चयाऽनया ।

भगवन्, शिक्षाऽऽदान-शक्तिर्यथा मनुष्याणां किं तथा पिपलिका-कपोतादीनामपि ? वस्तुतः नैवं ते कपोतादयः ज्ञानं गृहीत्वा वर्धयितु मपहातुमन्यथाकर्त्तुं वा स्वातन्त्र्येण क्षमन्ते यथा मनुष्याः । भवन्मते यथा

महाराज, पशु पक्षी पिपीलिका आदि में विशिष्ट ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है इसीलिये चीटियों से वन संग्रह और मधु-मक्खियों से सार-ग्रहण की शिक्षा ली जाती है जैसा कि कहा है-छोटे या बड़े शास्त्रों से कुशल-मनुष्य भौंरे के द्वारा पुष्प-रस संग्रह करने की भाँति, सबसे सार ग्रहण करे ।' इस सम्पूर्ण लेख से आपका यह अभिप्राय कैसे सिद्ध होगा कि वेद-ज्ञान की सृष्टि के आदि में आवश्यकता नहीं है । और महाराज, क्या आप यह बता सकते हैं कि स्वाभाविक ज्ञान मात्र से मनुष्य पिपीलिकादि के समान, विकास करके समाधिपर्यन्त परमानन्द की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं । और क्या पिपीलिका भी अपने स्वाभाविक ज्ञान से मोक्षानन्द की प्राप्ति कर सकती है ? कदापि नहीं । आश्चर्य ! आपकी इस प्रकार की विचार शील बुद्धि किसी संग्रहालय में ही रखने योग्य है और निश्चय ही यह विकास वादिनी आपकी पद्धति पाश्चात्य विचार धारा से प्रभावित है । और शिक्षा के ग्रहण की शक्ति जैसी मनुष्य की है, क्या वैसी ही चीटी कबूतर आदि की भी है ?

वास्तव में वे ज्ञान को ग्रहण करके, बढ़ाने, न्यूनकरने या अन्यथा करने में इस प्रकार समर्थ नहीं हैं, जिस प्रकार मनुष्य । महाराज ! आपके मत में भेडिये से आखेट की शिक्षा, कबूतर से लोकतन्त्र-नीति की शिक्षा जिस प्रकार

वृकाद् आखेटपाठस्य कपोताद् लोकतन्त्रनीतिशिक्षणस्य च संभवः, न तथा आद्युपदेशं विना मनुष्यस्य विद्वत्ता-प्राप्ति-संभवः ।

श्रीमन् ! न च भवता 'भूमिका'-शब्दावल्यां विचारः कृतो यत् 'न कश्चिदपि वेदस्य-पठनश्रवणमन्तरा न विद्वान् भवति, शास्त्रं पठित्वा,उपदेशं श्रुत्वा,व्यवहारं च दृष्ट्वा एव मनुष्याणां ज्ञानं भवति' । अत्र 'विद्वान्' 'ज्ञानमिति च द्वयोःशब्दोरुपन्यासः समालोच्यः । अनयोः प्रयोगो निम्नोल्लिखितेष्वर्थेषु 'विद्वान् ज्ञानिनि धीरे च विद्वानध्यात्म-वेदके' इति धरणिः । विद्वानात्मविदि प्राज्ञे पण्डिते चाभिधयेवदिति' विश्वः । तत्किं पश्वादयोऽपि विशिष्ट-ज्ञान-पूर्वक-प्रवृत्या भवन्मते विद्वांसो जायन्ते ? मोक्षेधीर्ज्ञानमित्यमरादपि कोषानुसारं ज्ञानं मोक्षधी-पदार्थः, तत्किं मोक्षधीः (ज्ञानं) तिरश्चां पशूनां चापि सम्भवति ? कदापि नैव ।

संभव है, उस प्रकार आदि ज्ञान-वेद के उपदेश के बिना, मनुष्य में विद्वत्ता नहीं हो सकती ।

श्रीमान् जी ! क्या आपने ऋषि दयानन्द की भूमिका की इस शब्दावली पर विचार नहीं किया कि—कोई भी वेद के पठन श्रवण के विना विद्वान् नहीं हो सकता, शास्त्र को पढ़कर, उपदेश को सुनकर, व्यवहार को, देखकर ही मनुष्य को ज्ञान होता है । यहां पर 'विद्वान्' और 'ज्ञान' इन दो शब्दों का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इनका प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है :—

धरणि शब्दकोश के अनुसार, विद्वान् शब्द के अर्थ धीर, ज्ञानी तथा आत्मा का जानने वाला, है, और विश्वकोष के अनुसार आत्मवेत्ता प्राज्ञ तथा पण्डित ये तीन अर्थ होते हैं । अब आप ही बताइये कि क्या पशु भी विशिष्ट ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति से विद्वान् हो सकते हैं और अमर कोष के अनुसार 'मोक्षेधीर्ज्ञानम्' अर्थात् ज्ञान का अर्थ मोक्ष में धी होने से, क्या पशु पक्षियों की भी मोक्षधी सम्भव है ? कदापि नहीं" । और जो भाषा-विज्ञान विषयक आपका मत है वह भी अविवेकपूर्ण है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को वाणी भी परमात्मा ने ही सिखाई जैसे कि-बृहस्पते प्रथमं वाचो······ इत्यादि मन्त्र के प्रमाण से ऋषियों ने परमात्मा की प्रेरणा से ही

यच्च भाषाविज्ञान-विषयकं भवन्मतं तदप्यविवेकानुगतम्, यतो हि वाणी अपि सर्गादौ परमात्मनैव शिक्षिता तथा हि :—बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधाना । यज्ञेन वाचः पदवी-मायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् । (ऋग् १०।७१।१) इति प्रमाणानुसारम् ऋषयो ह्यादिसृष्टौ ईश्वरस्य प्रेरणया वाणीमलभन्त । अपिच सम्प्रत्यपि वर्णविवक्षायां पूर्वम् "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" । (वर्णो० शिक्षा) इत्याद्यन्तः प्रेरणाक्रम एवाङ्गीक्रियते सर्वैः । सर्वोऽप्ययं भावश्च 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' इत्यनेन ध्वन्यते ।

न च नास्तिकाभिमतमिव वाण्याः स्वयं शिक्षण-विकास-कल्पना आदर्त्तव्या । यतोहि साम्प्रतिक-जङ्गल-वासिनोऽपि परीक्षिताः यत् न ते शिक्षकाभावे भाषावन्तोऽजायन्त । या च साम्प्रतं जाङ्गलिकानां भाषा, साऽपि आदौ शिक्षिता एव, ततः सा भ्रष्ट-रूपं प्रत्यपद्यत

वाणी प्राप्त की थी, कहा है । और* आज भी वर्ण के कहने की इच्छा में "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् इत्यादि प्रमाण के अनुसार वर्णों के उच्चारण का यही प्रेरणा क्रम सभी विद्वानों के द्वारा स्वीकार किया जाता है । यह सम्पूर्ण-भाव ऋषिषु प्रविष्टाम्'........से ध्वनित होता है । नास्तिकों की मान्यता के समान वाणी के शिक्षण के विकास की कल्पना आदरणीय नहीं है ।

जंगल वासियों की अब परीक्षा भी की गई है कि शिक्षक के अभाव में वे भाषा नहीं सीख सके । जो भी भाषा वर्त्तमान समय में जंगलियों की है, वह पूर्व शिक्षित भाषा का परम्परागत अपभ्रंश ही है । इस वैदिक प्रकरण में भाषा शब्द से पशु-पक्षियों की भाषा अभीष्ट नहीं है । आपने "ज्ञान विज्ञान

---

* १ दार्शनिक इपीक्यूरस समर्थन करता है कि "सबसे प्रथम भाषा के प्रकट करने में ईश्वरीय प्रेरणा ने मनुष्य की अबोधकता के साथ (सोते में बोलने बड़बड़ाने के सदृश) काम किया, जिस प्रकार वह (बिना इरादे के) खांसी छींक या आह भरा करता है ।

२ 'साइंस आफ थौट एन्ड लेंगुएज' में कहा है कि ज्ञान बिना भाषा के और भाषा बिना ज्ञान के असम्भव है ।

३ 'पश्य देवस्य काव्यं' मन्त्रांश में पठित काव्य 'कु शब्दे' धातु से बना है ।

परम्परया। भाषाशब्देनाऽस्मिन् वैदिक-प्रकरणे न पशु-पक्ष्यादीनां वागभीष्टा। भवता चाप्यन्ततोऽभ्युपगत एष-एव सिद्धान्तः यथा :— "आदौ ज्ञान-विज्ञाने परमेश्वर एवाशिक्षयत्" इति नास्ति तदा कश्चिद् विप्रतिपत्तेरवकाशः।

भगवन्!, भवत्पाठशालायाः आदिशिक्षकाः वेदरूपम् ईश्वरोपदेशं विहाय वृक-मधुमक्षिका-कपोतादय एव आसन् तथा च (वे. पा. पृ. ४९१ पं० २, ३, ४, ५, ६)।

अथ च ग्रन्थ-निर्माणे वेदाध्ययनमेव कारणं, यतो हि सृष्ट्यादौ प्रदत्तं वेदज्ञानं ज्ञानमात्रस्यैव कारणमासीत्। 'तदध्ययनं विनाऽपि ग्रन्थ-सम्भवः' इति भवत्कथनेनाऽपि वेदस्य कारणत्वं न व्यभिचरति, अस्य कथनस्य हेत्वाभासत्वात्, मानवीय मूलज्ञानस्य परमेश्वर-प्रदत्त-ज्ञानेनैव पल्लवितत्वाच्च।

भगवन्, न च केवलमानन्तर्यं कारणमपितु वेदाध्ययनानन्तरमिति समुच्चय एव कारणम्। केवलस्याऽऽनन्तर्यस्य कारणस्य ग्रन्थ-रचनायां सर्व-साधारणत्वाद् अन्यथा-सिद्धत्वम्। तथाहि—"तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपित पूर्ववृत्तिताऽवच्छेदकत्वं तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपितत्व-मन्यथा सिद्धत्वम्" स्वातन्त्र्येणान्वय-व्यतिरेक-शून्यत्वाद्

आदि परमेश्वर ने ही सिखाये इसमें कोई सन्देह नहीं" यह लिखकर हमारा ही अभिमत-सिद्धान्त दबे स्वर में स्वीकार कर लिया है। महाराज, आपकी पाठशाला के आदि गुरु तो ईश्वरोपदेश रूप वेद को छोड़कर भेड़िया, मधुमक्षिका और कपोत आदि ही हैं (वे० पा. पृ. ४८१ पं, २, ३, ४)।

ग्रन्थ के निर्माण में वेदाध्ययन ही कारण है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रदत्त वेद ज्ञान ही, ज्ञानमात्र का कारण है। तथा चं "उसके अध्ययन के बिना भी ग्रन्थ की रचना संभव है" आपके इस कथन से भी वेद का कारणत्व व्यभिचरित नहीं होता, आपका यह कथन हेतु न होकर हेत्वाभास है, क्योंकि मानवीय बुद्धि का ईश्वर के ज्ञान से पल्लवन देखा जाता है। वेद अध्ययन के अनन्तर, यह केवल आनन्तर्य-कारण ही नहीं, प्रत्युत समुच्चय ही कारण है। केवल आनन्तर्य तो ग्रन्थ-रचना में सर्वसाधारण कारण होने से अन्यथा सिद्ध है। जैसा कि 'उस धर्म से युक्त निरूपित पूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व, तद्धर्मावच्छिन्न

आनन्तर्यस्य च। अन्यथा तु भवन्मतेन घटं प्रति कपाल-संयोगस्य कारणत्वात् तत्संयोगस्य च समवेतत्व-सम्बन्धेन कपालविशिष्टत्वात् घटत्वावच्छिन्न-निरूपित-नियत-पूर्व-वृत्तिताऽवच्छेदकत्वस्य कपालस्य घटत्वावच्छिन्न-निरूपिताऽन्यथासिद्धत्वं स्यात् तेन च कपालस्यान्यथासिद्धत्वं प्रसज्येत। तस्मात् "न द्वितीयं, कालस्य स्वतन्त्र-हेतुत्वाऽसम्भवात्" (वे॰ पा. वृ. ४६१)—इति भवत्कथनं तु बाल-प्रलपितमेव।

ननु "शास्त्रं पठित्वा, उपदेशंश्रुत्वा, व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति" इत्यत्र महर्षिवाक्ये भवदाक्षेपो यत् मनुष्यैककर्त्तृकाणां पठत्यादिधातूनां ज्ञानकर्तृकेण भवतिना सह समानकर्त्तृकत्वाभावात् 'क्त्वा' प्रत्ययस्य दुर्घटत्वाद् वाक्यमिदमशुद्धमिति चेन्न, 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' इति सूत्रेण अत्रापि क्त्वा प्रत्ययोभविष्यति, धातूपात्त-व्यापाराश्रयस्य कर्त्तृतया पर्यवसानात्, ज्ञानं च व्यापारस्तस्याश्रयस्तु कर्त्ता मनुष्य एव, अतः समानकर्त्तृकत्वेन 'क्त्वा' प्रत्ययस्याऽत्र सुघटत्वात्।

न चाऽत्र ज्ञानमिति पदं कर्त्तर्युपहितं भवतीत्यस्याः क्रियायाः कर्त्ता

निरूपितत्व ही अन्यथा-सिद्धत्व है। यहाँ स्वातन्त्र्य के कारण अन्वय-व्यतिरेक-शून्य आनन्तर्य अवश्य है, अन्यथा तो आपके मत से घट के प्रति कपाल के संयोग की कारणता से उसके संयोग के समवेतत्व-सम्बन्ध से कपाल विशिष्टत्व से कपाल का भी अन्यथा-सिद्धत्व हो जायेगा। इसलिये "द्वितीय भी नहीं, क्योंकि काल का स्वतन्त्र हेतुत्व असम्भव है" यह आपका कथन बाल-प्रलाप ही है। ऋषि दयानन्द के शास्त्रं पठित्वा ज्ञानं भवति इस वाक्य पर करपात्री जी का यह आक्षेप है कि पठ् आदि धातुओं का कर्त्ता मनुष्य है और भू धातु का कर्त्ता ज्ञान है॰ अतः इस वाक्य में समानकर्त्तृकत्व न होने से पठित्वा आदि में क्त्वा प्रत्यय नहीं हो सकता फलतः यह वाक्य अशुद्ध है। इस आक्षेप का आरोप उनकी व्याकरण शास्त्र की सूक्ष्मता को न समझने के कारण है, क्योंकि यहाँ पर धातुपात्त व्यापार का आश्रय मनुष्य ही मुख्य कर्त्ता है। इसलिये समान कर्त्तृकत्व होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के होने में कोई बाधा नहीं। अच्छा यहां यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान पद यहां कर्त्ता है और 'भवति' इसकी क्रिया है और पठनादि क्रियाओं का कर्त्ता मनुष्य है, अतः भिन्न कर्त्तृक होने से 'क्त्वा नहीं

तथा पठनादिक्रियाणां कर्त्ता च मनुष्य इति भिन्न-कर्त्तृकत्वे समानकर्त्तृकात्वाभाव इति वाच्यम् ।

उक्त-व्याख्यामनुसंधाय शक्ति-शक्तिमतोश्चाभेदेन शक्तिमद गतैकत्वस्य पठन-श्रवण-दर्शन-ज्ञान-शक्त्यारोपेण एककर्त्तृत्वापत्तेः ।

अपि च यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानं भवतीत्यत्र 'भवति' क्रियायाः 'ज्ञानं' कर्त्ता, तथाऽपि मनुष्याणां ज्ञानमित्यत्र कर्त्तरि षष्ठी, न तु कर्मणि, अतोऽत्र मनुष्यस्थं मनुष्यकर्त्तृकं ज्ञानमित्याशयान्मनुष्यस्यापि कर्त्तृत्वं न विहन्यते [भवतिप्रति । मनुष्यश्च यथा पठति शृणोति पश्यति क्रियाणा कर्त्ता तथैव भवति क्रियाया अपि, अतोऽत्र समानकर्त्तृकत्वं न विहतम् । अथापि दुर्जन-तोष-न्यायेन अत्र यदि समानकर्त्तृत्वं न मन्यते, दुराग्रहदृशा असमान-कर्त्तृकत्वमेव स्वीक्रियते तथासति तु 'अवधाय जिघ्रति यजमानः (कात्या॰ श्रौ. सू. ४।१।२०) अत्र अध्वर्युः पिण्डान् अवदधाति यजमानश्च जिघ्रति इति भिन्नकर्त्तृकत्वेऽपि अवधायेत्यत्र यथा ल्यप् प्रत्ययः तथैवात्रापि बोध्यम्, आर्षत्वादुभयत्रापि न दोषः इत्यलं पर-छिद्रान्वेषणेनेति ।

हो सकता तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् ज्ञान और ज्ञान-वान् मनुष्य अभिन्न है, अतः शक्तिमत्व गत एकत्व के पठन श्रवण दर्शन और ज्ञान इन शक्तियों पर आरोप से एककर्त्तृकता हो जाती है । यद्यपि 'मनुष्याणां ज्ञानं भवति' इस वाक्य में भवति क्रिया का कर्त्ता ज्ञान है तथाऽपि 'मनुष्याणां ज्ञानम्' यहां कर्त्ता में षष्ठी होने से मनुष्य-कर्त्तृक-ज्ञान ऐसा अभिप्राय होने के कारण मनुष्यस्थ ज्ञान ही कर्त्ता है अतः भवति क्रिया के प्रति मनुष्य के कर्त्तृत्व का विघात नहीं, फलतः जैसे पठन श्रवणादि कियाओं का मनुष्य कर्त्ता है उसी प्रकार भवन क्रिया का भी । और यदि दुर्जनतोषन्याय से दुराग्रह बुद्धि वालों की दृष्टि में समान कर्त्तृकत्व न भी माना जाय तो जैसे 'अवधाय जिघ्रति यजमानः इस कात्यायन सूत्र में अध्वर्यु पिण्डों को रखता है तथा यजमान सूँघता है इस विवक्षा में भिन्न-कर्त्तृकत्व होने पर भी अवधाय में ल्यप् प्रत्यय हो रहा है उसी प्रकार 'उपदेशं श्रुत्वा' आदि स्थल में भी त्वा प्रत्यय का आर्ष प्रयोग संभव है ।

वे० पा० ४९२ तमे पृष्ठे समुल्लिखित-विषय-समालोचनम् :—

भगवन् ! 'आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे' इति लोकोक्ति—मनुसरता भवता अनर्गलमप्रासङ्गिकं ग्रन्थ-कलेवर-स्थौल्यमापादनाय विकास-वादिनां मतमनावश्यकं वर्णितम् ! किमिदं भवदिष्टम् ? नो चेत्कथमुपात्तम् ?

महाविद्वन् ! विकासवादिनां मतेऽपि शिक्षणाय विद्यालयोद्घाटनमावश्यकम् । यदि विकासवादः सिद्ध-सिद्धान्तोऽभविष्यन् न शिक्षण-विद्यालयस्योद्घाटनस्यावश्यकताऽभविष्यत् । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' इति पतञ्जलि मुनि-दर्शित-दिशा आदिगुरुः परेशः सर्गादौ वेदानुपादिशत् ।

असुर वाणीपाल-फ्रेडरिक द्वितीय-जेम्स चतुर्थादीनां परीक्षणैः भाषा-ज्ञानयोः विकासस्यासिद्धत्वमुपपन्नम् इति विदितमेव शेमुर्षाजुषां विदुषाम् । ज्ञानिभ्यः पृथक् निर्वासितानां 'नीग्रो' इत्यादीनां नाद्यावधि ज्ञान-विकासो दृश्यते, सुशिक्षित-जन-सम्पर्काभावात् । ज्ञान-वाहकता च न भाषां विना सम्भवति, तदाधारत्वात् तस्याः । न चाद्यावधि पशु पक्ष्यादिभिरपि स्वभाषा-ज्ञानयो विकासः समापादितः । भारतीय-

---

पृ. ४९२ पर लिखित-विषय की आलोचना देखिये महाराजा ! पूछें आम की कहें, कचनार की उक्ति के अनुसार आपने अपने ग्रन्थ के कलेवर की स्थूलता बढ़ाने के लिए अनर्गल अप्रासङ्गिक और अनावश्यक कह डाला है । क्या ये आपको अभीष्ट है ? यदि नहीं तो आपने यहां क्यों लिखा ?

महाविद्वन् ! विकास वादियों के भी मत में शिक्षण के लिये विद्यालय खोलना आवश्यक है। यदि विकासवाद सिद्ध-सिद्धान्त होता तो उन्हें भी विद्यालय के खोलने की आवश्यकता न होती। 'स पूर्वेषामपि गुरुः'···इत्यादि इस महर्षि पतञ्जलि मुनि-कथित सूत्र के अनुसार आदि गुरु परमपिता परमात्मा है । उसी ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को वेदों का उपदेश दिया । इंगलिशवेत्ता फ्रेडरिक द्वितीय तथा जेम्सचतुर्थ आदि ने भाषा और ज्ञान का विकास स्वयं संभव नहीं, यह परीक्षणों से सिद्ध किया है। यह बात सभी बुद्धिमानों को विदित है । ज्ञानियों से पृथक्-निर्वासित नीग्रो इत्यादि लोगों का आज तक ज्ञानवर्धन नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें शिक्षित-जन-सम्पर्क नहीं मिला ।

विद्वद्भिः वेदमनुसरद्भिः शब्दार्थ-सम्बन्धः नित्यः स्वीकृतः । तथाहि-महर्षिः जैमिनिः स्व-मीमांसायां "नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" (१।१।१८) इति सूत्रेण महर्षिव्यासश्च योगदर्शन सूत्र १।२७। भाष्ये 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यया नित्यः शब्दार्थ-सम्बन्ध इत्यागमिनो प्रतिजानते' इति प्रतिपादितवान् ।

एवमियमेव वैदिकी-भाषा तुलनात्मकानुशीलेन साक्षात् परम्परया वा लैटिन-जर्मन-फ्रेन्चादि-भाषाणां जननीति सिध्यति । अन्ते तु वे० पा० ४९२ तमे पृष्ठे भवान् अङ्गीकृतवान् यत् 'स्वपित्रादि-व्यवहारादि-सापेक्षत्वमिति' तदेषाऽङ्गीकृतिः व्याघात-दोषेण दूषिता । अथापि चैवं पितृपैतामहादिक्रम-स्वीकारे तु सृष्टेरादौ आदि-पित्रा परमेश्वरेण सर्व-ज्ञान-व्यवहार-शिक्षणस्य औचित्यं तु स्वतः सिद्धम् ।

महर्षि दयानन्देन यच्चोक्तं 'स्वाभाविक-ज्ञान-मात्रेणैव विद्या-प्राप्त्यनुपपत्तेश्च तस्य साधन-कोटौ प्रविष्टत्वाच्चक्षुर्वद्' इति । एतदग्रे

भाषा के बिना ज्ञान-वाहकता हो नहीं सकती, क्योंकि भाषा ही ज्ञान का आधार है और न आज तक पशु पक्षी आदि की अपनी बोली तथा ज्ञान का ही विकास हो सका है । वैदिक विद्वानों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध नित्य स्वीकार किये हैं । जैसे कि—महर्षि जैमिनि ने मीमांसा में 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' (मी. १।१।१८) इस सूत्र द्वारा तथा महर्षि व्यास ने योगदर्शन के सूत्र (१।२७) की व्याख्या में 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यया' इत्यादि वाक्य से कहा है । इस प्रकार यही वैदिक-भाषा तुलनात्मक अध्ययन से साक्षात् अथवा परम्परा, से लैटिन जर्मन, फ्रेन्च आदि भाषाओं की जननी है, ऐसा सिद्ध होता है ।

अन्ते वे. पा. के ४९२ पृष्ठ पर तो आपने स्वीकार किया है "वह भाषा अपने पिता-पितामह आदि के व्यवहार की अपेक्षा रखती है" यह प्रतिपादन व्याघात-दोष से दूषित है । और इस प्रकार पिता पितामह आदि क्रम के स्वीकार करने पर तो सृष्टि के आदि में आदि-पिता परमेश्वर ने सब ज्ञान-व्यवहार का शिक्षण दिया—इस बात का औचित्य स्वतः सिद्ध है ।

महर्षि दयानन्द का यह कथन कि—'स्वाभाविक ज्ञान-मात्र से विद्यादि की प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि वह स्वाभाविक-ज्ञान चक्षु के समान स्वयं साधन कोटि में आता है' इसके आगे समग्र विषय को महर्षि ने स्वयं स्पष्ट किया है

समग्रविषयं महर्षिः स्वयमेव प्रत्यपादयत् यत् 'यथा चक्षुः' मनः— साहित्येन विना अकिञ्चित्करमस्ति तथा अन्येषां विदुषामीश्वर-ज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकं ज्ञानमकिञ्चित्करं भवतीति तथैव स्वाभाविक-ज्ञानं पशूनामपि समान-व्यवहारस्य साधनं, परं तत्स्वाभाविक-ज्ञानं धर्मार्थ-काम-मोक्ष-विद्यानां साधनं स्वतन्त्रतया कदापि भवितुं नार्हति, इति।

अत्र लेखे भवताऽक्षिप्तं यत् 'नहि चक्षुराद्यगोचरस्योपदेशस्तच्छ्रवणं तद्व्यवहार-दर्शनं वा सम्भवति' इति, तदविचारितमेव, जीवात्म-व्याप्तस्येश्वरस्य ज्ञानस्य अन्तःप्रकाशितत्वात् न चास्य श्रावणाद्य-पेक्षा।

यच्च भवता मनुष्य-पशु-पक्षिणां स्वाभाविक-ज्ञानस्य सर्वकार्य-सम्पादन-क्षमत्वं प्रतिपादितं, तदप्यज्ञानमूलकमेव। यतः मनुष्याणां-पशूनां चाऽऽत्मनामेकप्रकारकत्वेऽपि क्षमतायां-भेदान्मनुष्याणां भोगकर्मयोनिजानां बुद्धि-स्वातन्त्र्याभ्यां कार्यकरणात्, पश्वादीनां च

कि जैसे मन के सहयोग के विना आँख कुछ भी नहीं देख सकती, उसी प्रकार अन्य विद्वानों और ईश्वर-ज्ञान की सहायता के बिना स्वाभाविक ज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। स्वाभाविक-ज्ञान पशुओं के समान-व्यवहार का साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक-ज्ञान धर्मार्थ-काम और मोक्ष-विद्या का साधन कदापि नहीं हो सकता।' यहाँ आपने यह आक्षेप किया है कि 'चक्षु आदि से अगोचर निराकार ईश्वर द्वारा उपदेश तथा उसका जीवों द्वारा श्रवण अथवा व्यवहार-दर्शन नहीं हो सकता।' यह कथन आपका सुविचारित नहीं है क्योंकि निराकार परमेश्वर जीवात्माओं में भी व्याप्त है, अतः उसने वहीं अन्तर में ज्ञान का प्रकाश कर दिया। एतदर्थ बाह्य शब्दादि साधनों की उसको कोई आवश्यकता नहीं।

और आपने जो पशु-पक्षियों के स्वाभाविक ज्ञान को सब कार्यों के सम्पादन में समर्थ बताया है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध अज्ञान मात्र है। क्योंकि मनुष्यों की आत्मा और पशुओं की आत्मा में एक प्रकारकत्व होने पर भी क्षमता में स्पष्ट भेद है, मनुष्य कर्म और भोग उभययोनि है परन्तु पशु केवल भोग योनि है, मनुष्य, पशु की अपेक्षा बुद्धि और स्वतन्त्रता से काम कर

भोगयोनीनां विद्याप्राप्तिसामर्थ्याऽभावेन बाह्यसाधनै बुंद्धिकार्यानुपबृंहणात् तेषां मनस्सु नवीनसंस्काराऽऽधान-क्षमताऽभावेऽन्य-परिणामस्य (विकासस्य) कल्पनाऽसंभवः ।

अपि च करपात्रमहोदयस्य येयं तर्कणा यत् "ईश्वरस्य पितृत्वे स्वीकृतेऽपि निराकारत्वात्तस्य, न कथमप्युपदेशव्यवहार-ग्रहण-सम्भव" इति, सा तु पूर्वमेव समाहिता, यन्निराकारः सर्वव्यापक ईश्वरः ऋषीणामात्मसु व्यापकत्वात् अन्तःप्रेरणया सर्गादौ ज्ञानोपदेशं व्यधात् ।

अपिच भगवन् ! ईश्वरस्य साकारता-प्रतिपादनाय भवच्चेष्टा नाऽत्र साफल्यमगात्, युक्ति-प्रमाणानुपलम्भात् । साकारत्वे सावयवत्वे च संयोगापरिहार्यत्वे वियोगस्य च तत्सहचारितया भवदीश्वरस्य

सकता है। परन्तु पशु बाह्य साधनों से बुद्धि के कार्यों का उपबृंहण नहीं कर सकता, अतः उसके मन में नवीन संस्काराधान की क्षमता के अभाव में अन्य परिणाम (विकास) की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

करपात्री जी का कहना है कि ईश्वर का पितृत्व मानने पर भी उसके निराकार होने से किसी प्रकार उपदेश का ग्रहण संभव नहीं' इसका समाधान पूर्व ही किया जा चुका है कि निराकार एवं सर्वव्यापक ईश्वर, ऋषियों की आत्माओं में भी विद्यमान था, उसकी अन्तः प्रेरणा से ही वेदोपदेश संभव हुआ। ईश्वर की साकारता-प्रतिपादन की, करपात्री जी की चेष्टा यहाँ सफल नहीं हुई, क्योंकि इसमें युक्ति तथा प्रमाणों का अभाव है। साकारत्व और सावयवत्व में संयोग अपरिहार्य होने से वियोग भी अनिवार्य है, क्योंकि संयोग और वियोग दोनों ही सहचर हैं, तब तो आपके ईश्वर की मृत्यु भी माननी पड़ेगी। निराकार-परमात्मा ही साकारता के दोषों से रहित, सूक्ष्मतम होने के कारण, जीवात्मा और प्रकृत्यादि में व्याप्त होकर जीवों के परमानन्द का हेतु भी होता है। जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है कि—एक ही सबको वश में करने वाला ईश्वर सब भूतों की अन्तरात्मा में स्थित रहता है, जो उसे देखते हैं उन्हीं को शाश्वत-सुख (परमानन्द) मिलता है, अन्यों को नहीं।'

यह कथन भी ठीक नहीं कि ईश्वर के सर्वव्यापक होने पर साकारता तो माननी ही पड़ेगी क्योंकि सृष्टि का रचना कार्य करने के लिए उसको हाथ पाँव की अपेक्षा होगी ही। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तुम ईश्वर को सम्पूर्ण

विनाशधर्मशीलतापत्तिः । साकार-पक्षाक्षिप्त-दोषविरहितः सन् निराकारः एव परमात्मा सूक्ष्मत्वाज्जीवात्म-प्रकृत्यादि-जगद्व्यापनात् जीवानां परमानन्द-हेतुरपि भवति यथा चोक्तमुपनिषदि :—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं वहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" । इति ।

ननु सर्वव्यापकत्त्वेऽपि साकारता तु आपत्स्यते एव, सृष्टि-रचयितुस्तस्य हस्त-पादाद्यपेक्षकत्वाद् इति चेन्न, यतो हि जायतेऽत्र-प्रश्नः, कि समग्रत्वेन साकारता भगवतः, उतांशत्वेन ? नाद्यः, व्यापकत्व-व्याघातात । अंशत्वेन साकार-कल्पनायामपि एतद्व्याघाता-देव तस्याः कल्पनायाः अपि असम्भवाद् अखण्डत्वाच्च तस्य परमेश्वर-रस्य, न द्वितीयोऽपि पक्ष-संभवः ।

रूप से साकार मानोगे या अंश रूप से ? पहली बात तो बन नहीं सकती, क्योंकि इस प्रकार हस्त पादादि के मानने पर सर्वव्यापकता नहीं रहेगी और अंश से साकार मानने पर भी इसी हेतु से तथा उस परमेश्वर के अखंड होने के कारण दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं ।

आपने यह जो कहा कि—सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से विशिष्ट प्रजापति आदि पूर्वकल्प के व्यवहारों के उपदेशों द्वारा विशेष ज्ञान और उनके उपदेश से अन्य जीवों को ज्ञान-वाला बनाते हैं, यह भी विवेक-शून्य पक्ष है, क्योंकि सुप्त-प्रतिप्रबुद्ध न्याय में कोई शास्त्रीय-प्रमाण नहीं, तथा यह बुद्धि संगत भी नहीं है । सुषुप्ति-अवस्था तो सूक्ष्म शरीर में होती है जो कि शरीर-धारियों के लिये ही सम्भव है । दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लिया जाये कि प्रलय-काल में इनकी सुषुप्तिवत् उपस्थिति हो जायेगी । इस स्थिति में हमारा प्रश्न यह है कि उन प्रजापतियों की वेद-तत्त्व-ज्ञान के द्वारा मुक्ति हुई थी या नहीं ? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि मुक्ति हो गई थी, तो आपके मत से उनकी कदापि पुनरावृत्ति होगी ही नहीं, और यदि दूसरा पक्ष माना जाये कि मुक्ति नहीं हुई, तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि पूर्णता होने पर मुक्ति अपरि-हार्य है । पुनरपि उक्त न्याय से यह भी मान लिया जाये कि मुक्ति से पुनः आकर प्रजापति नाम का कोई जीव वेदोपदेश देता है न कि परमात्मा, तो इससे आपने क्या विशेष साध लिया ? वास्तव में तो आप नवीन वेदान्तियों

यच्चोक्तं भवता सुप्त-प्रतिबुद्धन्यायेन विशिष्ट-प्रजापत्यादीनां पूर्व-कल्पीयव्यवहारोप-देशादिभिः विशिष्टज्ञान-तदुपदेशेन चान्येषामपि जीवानां तत्संभवाद्" इति तदपि अविवेकोपन्यास एव। सुप्त-प्रतिबुद्धन्याये शास्त्र-प्रमाणाऽभावात् बुद्ध्यसंगतत्वाच्च तस्य। तथा हि :—सुषुप्त्यवस्थायाः सूक्ष्म-शरीरे एव संभवः, अपि च सा शरीर-धारिणामेव सम्भवति। दुर्जनतोष-न्यायेन मन्येतापि यत् प्रलयकाले एतेषां सुषुप्तिवदुपस्थितिः, सर्जन-काले च सर्व-ज्ञानस्याप्युपस्थितिर्भविष्यतीति। अत्र स्थितौ पृच्छामो वयं यत् किं तेषां प्रजापत्यादीनां वेद-तत्त्व-ज्ञानान्मुक्तिरभवन्नवेति? तत्र नाद्य-पक्ष-संभवः भवतां मते मुक्तेः पुनरागमनाऽसम्भवात्। अथापि द्वितीयः पक्षो मन्येत, सोऽपि न घटते, पूर्णत्वे सति मुक्तिप्राप्तेरपरिहार्यत्वात्। दुर्जनतोष-न्यायेन एतदेव मन्येत यन्मुक्तेः पुनरागत्यैव प्रजापतिनामा कश्चिज्जीवः उपदिशति न तु परमात्मा। तदापि एतेन किं बहुत्वं साधितम्?

वस्तुतस्तु, नवीनवेदान्तिनां भवतां ब्रह्मरूपत्वात् नोपदेश्योपदेशता-सम्भवः। उपदेश्यस्य स्वयं ब्रह्मरूपत्वात्। अपि च समग्रमिदं ज्ञानं खण्डनं मण्डनं च ब्रह्मस्वरूपाय भवतें निरर्थकमेव। अपरंच "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः", 'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च', वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं 'कर्मस्वनुष्ठीयताम्' इत्यादिप्रमाणैः जीवानामेवोपदेश-भाजनत्वस्य सम्भवात्, न नवीन-वेदान्तिनां ब्रह्मरूपाऽऽकल्पितानां भवादृशां कृते एष आदेशः, स्वयमेव स्वस्कन्धाऽऽरोहणवदसम्भवात्।

अथ च भवतः प्रजापति-कल्पनायां पूर्व-सूक्ष्म-शरीरानुपलब्धेः

के लिये उपदेश्य और उपदेशक भाव की भी सङ्गति ही नहीं बैठती, क्योंकि आप तो स्वयं ब्रह्म हैं, फिर यह उपदेश किसको और किसका उपदेश? तथा यह सबज्ञान खण्डन, तथा मण्डन ब्रह्मरूप आपके लिये व्यर्थ है। और स्वाध्याय करना चाहिये, षडङ्ग वेद पढ़ना चाहिये, वेद नित्य पढ़ना चाहिये और उसका आचरण करना चाहिये, इत्यादि प्रमाणों से जीवों के लिये तो उपदेश सम्भव है, पर ब्रह्मरूप आप सरीखे नवीन वेदान्तियों के लिये, स्वयं अपने कन्धे पर आरोहण के सदृश असम्भव ही है।

तस्य स्मरणाऽसम्भव एव । सूक्ष्म-शरीर-रचनायाश्च प्रकृति-जन्यत्वेन मुक्तौ तस्यावर्त्तमानत्वादात्मना सह तस्याऽस्तित्वेऽसति सूक्ष्म-शरीरस्य च अचेतनत्वाद् वेद-ज्ञानाधारत्वाऽसङ्गतिः । अतः सिध्यति यत् न युक्ता प्रजापति-कल्पना, परेश एव प्रतिसर्गं वेदोपदेशं कुरुते इति, एष एव राद्धान्तः ।

अपि च परस्पर-व्याघात-पुरस्सरं वदता भवता स्वयमपि यत् 'सर्वज्ञः सत्य-संकल्पः सर्वशक्तिमान् प्रेरणा-वशाद् योगिनां देवानां विशिष्टसुकृतिनां च हृदये वेदानाविर्भावयितुं शक्नोत्येवेति' स्वीकुर्वता द्राविड-प्राणायामेन नासिका-ग्रहणं कृतम् ।

तदेवं सिद्धान्त-विषयक-ज्ञान-संभ्रान्तस्य ग्रस्थिरधियस्ते पूर्वजल्पनमनल्पं प्रलपितमाभाति । ग्रथापि सर्वज्ञेत्यादिना, सिद्धान्त-मभ्युपेत्य तद्विरोधीविरुद्ध इति लक्षणेन हेत्वाभासताऽपि संवटतेऽत्र ।

वे० पा० ४६३-६४ पृष्ठे "यदपि च.................दुर्वारैव" इति स्थले स्वामि-दयानन्दस्य 'वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमुत्तरे च—अनुत्पादने किं प्रयोजनमिति कथनं व्यर्थम्" । इति कथन न

इसके अतिरिक्त आपकी प्रजापति कल्पना में पूर्व-सूक्ष्म शरीर की ग्रनुप-लब्धि है अतः उसको स्मरण नहीं हो सकता और सूक्ष्म शरीर की रचना जड़ प्रकृति से होती है वह मुक्ति में नहीं रहती, ग्रतः आत्मा के साथ उसके न रहने से तथा उसके ग्रचेतन होने से वेद-ज्ञान वहां नहीं रह सकता । अतः सिद्ध है कि प्रजापति की कल्पना ठीक नहीं है, परमेश्वर ही प्रत्येक सृष्टि में वेदोपदेश करता है यही सत्य सिद्धान्त है।

यहां पर परस्पर-व्याघात पूर्वक हाथ को घुमाकर नासिका पकड़ने के समान, स्वीकार किया है कि—सर्वज्ञ सत्य-संकल्प ग्रौर सर्वशक्तिमान् (परमेश्वर) प्रेरणा के द्वारा योगियों, देवों ग्रौर विशेष पुण्यकर्मा व्यक्तियों के हृदय में वेदों का ग्राविर्भाव कर सकता है" सो इस प्रकार सिद्धान्त-विषयक ज्ञान में भ्रान्त और अस्थिर मति वाले ग्रापका पूर्वजल्पन प्रचुर प्रलापमात्र प्रतीत होता है । दूसरे 'सर्वज्ञ...' इत्यादि कथनांश से सिद्धान्त को स्वीकार करके, फिर उसी का विरोध करने से आपकी विरुद्ध-हेत्वाभासता ही घटित होती है । वे. पा. के पृ. ४६३-६४ पर 'यद्यपि...दुर्वारैव' इस स्थल पर 'वेदों के

साधु, यतोहि दया-द्रवित हृदयो विलुप्त-श्रुतिपठन-पाठन-परम्परा-प्रचालन-कामो महर्षिः मन्दधियां बालानामपि प्रवृत्त्यर्थं प्ररोचक-प्रयोजन—प्रबोधन-पद्धतिं प्रश्नोद्भावनपूर्विकामनुसरन् प्रस्तौति यत् वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनम् ? प्रतिप्रश्ने च 'अनुत्पादने च किं' प्रयोजनमिति ?

अत्रानुत्पादस्य प्रयोजनाऽभाव-शङ्कायां समाधीयते यत् तत्र महर्षिणा प्रोक्तं 'यदि सोऽस्मदर्थं वेदोपदेशं न कुर्यात् तदा तस्य विद्या निष्फला स्यादिति तस्मात्सर्वविद्याधीश्वरेण ईश्वरेणोपदिश्य स्व-विद्यायाः सप्रयोजनता सम्पादिता' इति ।

इदं सर्वमृषिवचनं भवान् 'बाल-वचनं' मन्यते तत्खलु सत्यमेव, यतोहि पुराणाद्यल्प-सारग्रन्थनिचयैः मानवीय-जीवन-प्रयोजन-साफल्यमपश्यद्भ्यो भवादृग्भ्यः बालेभ्यः एवेदं बाल-वचनं भवितु-

---

उत्पादन में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? और फिर उत्तर में अनुत्पादन में क्या प्रयोजन है ? यहाँ यह प्रश्न करना व्यर्थ है ।' सो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दया से द्रवित हृदय, वेदों के पठन पान की लुप्त परम्परा को पुनः चालन करने के इच्छुक, महर्षि दयानन्द ने मदबुद्धि बालकों तक को वेद-प्रयोजन समझाने की प्रश्न-पूर्वक प्ररोचक शैली को अपनाते हुए यह बात प्रस्तुत की है कि वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? फिर इसके उत्तर में प्रति-प्रश्न करते हुए, अच्छा तो वेदों के उत्पन्न न करनेमें क्या प्रयोजन है ? ऐसा कहा है । यहां करपात्री जी द्वारा अनुत्पादन के अभावरूप में शंका करने का यह समाधान है कि महर्षि ने वहाँ यह कहा है कि 'यदि वह परमात्मा हमारे लिये वेदों का उपदेश न करता, तो उसकी विद्या निष्फल होती, इसलिये सर्वविद्याओं के भण्डार परमेश्वर ने वेदोपदेश करके अपनी विद्या की सार्थकता बतलाई है ।'

करपात्री जी महाराज ! आप उपर्युक्त ऋषि वचनों को बच्चों की सी बात मानते हैं, सो सचमुच ठीक ही है, क्योंकि पुराण आदि अल्पसार-ग्रन्थ-समूह के द्वारा मानवजीवन के प्रयोजन की सफलता को न देखने वाले आप सरीखे लोगों के लिए यह सब बाल-वचन ही हैं, जैसे कि किसी विषय को न समझने वाले व्यक्ति को महर्षि मनु ने 'अज्ञो भवति वै बाल; कह कर बालक ही कहा है ।

मर्हति। यथाहि:-कमपि विषयमजानन्तं प्रत्येव 'अज्ञो भवति वै बाल:' इति मनुना बालत्वं परिभाषितम्।

यच्चोक्तं भवता 'अनुत्पादनस्याभावरूपतया प्रश्नानर्हत्वात्' इति, तदपि प्रमाणानुपन्यासादनर्गलमेव। श्रूयतां, वेदोपदेशरूपे भावे समुपस्थिते तदभावपक्षेऽपि प्रश्नोद्भूति: सम्भवत्येव, तत्राऽपि प्रयोजन-संभवात्। यथा कश्चित् प्रतिदिनमश्नीयादेकस्मिन्नहनि च नाश्नीयात् तदा अशनस्याभावेऽपि प्रश्नोद्भूति:, यदयमद्य कथं नाश्नातीति सम्भवत्येव। प्रश्ने च जायमानेऽसौ कथयति अजीर्णोपशमनाय नाश्नामीति। तदेवमभावेऽपि विप्रतिपत्ति:, तथैवात्र प्रश्ने परमेश्वरस्य विद्याया: सार्थकत्वप्रतिपादनमभीष्टम्, अतो न कोऽपि दोषोऽत्र।

अपि च अनुत्पादने चाऽत्र प्रयोजनाऽभाव-शङ्कायां सत्यां निषेध-मुखेन भाव-प्रयोजनता-दृढीकरणाय 'अनुत्पादने किं प्रयोजनमिति' प्रश्न: कृत:। यच्चाप्युक्तम् "अनुत्पादस्याभावरूपतया" इति, तदत्र भवद्भावे का नाम रूपताऽभीष्टा ? किं विमोहनार्थकरूपधातो-र्निष्पन्ना सा ? उत रूपकरणार्थकाद् रूपधातो: ? उभयत्राऽपि विमोहनात् स्त-

---

और आपने यह जो कहा कि—वेदों की अनुत्पत्ति अभाव है, अत: अभाव के विषय में प्रश्न करना अनुचित है, सो आपकी यह बात किसी प्रमाण के न देने से अनर्गल ही है। सुनिये, वेदोपदेश भाव के होने पर प्रयोजन का जिस प्रकार प्रश्न उठता है, उसी प्रकार वेदोपदेश के न करने रूप अभाव में भी प्रश्न की सम्भावना हो सकती है। जैसे कि कोई आदमी प्रतिदिन भोजन करता है। यदि वह एक दिन भोजन न करे तो प्रश्न होता है कि आज भोजन क्यों नहीं किया ? तब वह भोजन करने वाला कहता है कि अजीर्णता की निवृत्ति के लिये भोजन नहीं किया। ठीक इसी प्रकार वेदोत्पादन के अभाव में भी प्रश्न सम्भव है, क्योंकि इसमें परमेश्वर की विद्या की (सफलता) सार्थकता बताना अभीष्ट है, अत: यहाँ कोई दोष नहीं। और यहाँ अनुत्पादन में तो प्रयोजन का अभाव है, अत: निषेधमुख से भाव-प्रयोजन को और भी सुदृढ़ करने के लिये अभावात्मक प्रश्न किया गया। जैसे कि नेति नेति कहकर स्वरूप तक पहुंचाने की ऋषियों की शैली है। और जो यह कहा है कि 'अनुत्पादन के अभाव रूप होने से' आपके इस अभाव रूप में क्या रूपता अभीष्ट है ? यह

वंनाद् वा कथमपि न प्रश्नोद्भव-संभवः ? अपि च अभावस्य पदार्थत्वे ज्ञेयत्वं वाच्यत्वं प्रमेयत्वमभिधेयत्वं च सम्भवति एव। लक्षितेष्व-लक्षणलक्षितत्वाद् लक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः (न्या० २।२।८) इति लक्षणात् अलक्षितानां प्रमेयत्वे सिद्धे प्रश्नार्हता-संभावनायाः अक्षयत्वमेव। अतो महर्षि-दयानन्दस्य तत्र प्रश्नसंभावनायां न कश्चिद् शास्त्रीयप्रतिबन्धः, अपि तु प्रशस्त्यास्पदमेवेदं प्रश्नकरणम्।

वे० पा० ४६३ तमे पृष्ठे यदुच्यते 'परमेश्वरे तदीयानन्तविद्यायां च प्रमाणानुपस्थानाद् वहु-निरर्थकं प्रजल्पितमिति' तत् प्रजल्पनं तु भवत्येव चरितार्थं भवति, यतोहि:—

अत्र विषये प्रथमं भवान् बोधयतु यत् परमेश्वरे 'प्रमाणेन' भवतः कोऽभिप्रायः ? शास्त्र-प्रमाणेन आहोस्वित् प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन ? आद्येन चेत्, परमेश्वर-सत्ता-पुष्ट्यर्थं बहूनि प्रमाणानि सन्ति,

---

(अभाव) रूप आपका रूप विमोहने धातु से निष्पन्न है या कि करणार्थक रूप धातु से, दोनों ही पक्षों में विमोहन और स्तवन से प्रश्न कैसे भी सम्भव नहीं। और यह बात भी है कि अभाव की पदार्थता मानने पर ज्ञेयता, वाच्यता, और अभिधेयता सभी संभव हैं। जैसा कि गौतम मुनि कहते हैं कि लक्षित वस्तुओं में लक्षणों (चिह्नों) के अभाव से लक्षितहोने के कारण से अलक्षितों की प्रेमयता सिद्ध हो जायेगी। अतः महर्षि दयानन्द कृत प्रश्न-सम्भावना में कोई शास्त्रीय प्रतिबन्ध नहीं, बल्कि प्रश्न करना प्रशंसनीय ही है।

वे. पा. के पृ. ४६३ पर यह जो कहा है कि परमेश्वर में और उसकी अनन्त-विद्या में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, अतः यह बहुत सारा निरर्थक प्रलाप है।' सो महाराज यह प्रजल्पन की बात आप पर ही चरितार्थ होती है क्योंकि:—

इस विषय में पहले आप यह बताइये परमेश्वर में प्रमाण के अभाव से किस प्रमाण से आपका आशय है ? क्या शास्त्र-प्रमाण से है तो परमेश्वर की सत्ता में बहुत से शास्त्र-प्रमाण उपस्थित हैं, जैसे 'यो भूतं च भव्यञ्चेति' अर्थात् परमात्मा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान सबका अधिष्ठाता है यह अथर्ववेद का प्रमाण है' 'य आत्मदा बलदा' इत्यादि अर्थात् जो परमात्मा आत्मिक शक्ति और शारीरिक शक्ति का देने वाला है, यह यजुर्वेद का प्रमाण है। और 'स हि सर्वविदित्यादि अर्थात् वह सबको जानने वाला और सबका रचयिता है' यह

यथा हि :—'यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति इति अथर्वणः' 'य आत्मदा बलदा'···इति यजुषः, 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' इति सांख्यदर्शनस्य ।

अथ यदि प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन चेत् तदाऽपि सृष्टि-रचनायां नियम-पूर्वक-वैज्ञानिक-व्यवस्था-दर्शनेन रचयितुः परमात्मनः सत्ता, अनुमान-प्रमाणेन, घटपटादि-निर्माण-दर्शनेन कुम्भकार-तन्तुवायादिसत्ता-सिद्धिवत् सिध्यति योगिभिश्च तस्येश्वरस्य मानस-प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेनापि तत्सिद्धिः । मानस-प्रत्यक्षे च, 'नैवाऽसौ चक्षुषा ग्राह्यो न शिष्टैरिन्द्रियैरपि । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ।। इति प्रमाणं विद्यते ह्युपनिषदः ।

ननु करपात्रिणा यदुक्तं 'न चानुमानं तत्र सम्भवति, तत्सम्बद्ध-लिङ्गादर्शनात्, इति चेन्न, 'परमेश्वरेऽनन्तविद्या अस्ति' इति-रूपायां दयानन्दोक्तौ परमेश्वरस्तु सिद्ध एव पक्षः न तु साध्यः, तत्र अनन्त-विद्यायाः साध्यत्वात् ।

सांख्य दर्शन का प्रमाण है । और यदि आपका अभिप्राय प्रत्यक्षादि प्रमाण से हो तो सृष्टि-रचना नियमपूर्वक वैज्ञानिक ढंग से दिखाई देने से, घट पटादि को को देखकर उनके निर्माता कुम्हार और जुलाहा-आदि की सत्ता सिद्धि के समान, ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध है । और योगियों के द्वारा परमात्मा का मानस प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। और मानस-प्रत्यक्ष में नैवाऽसौ···इत्यादि अर्थात् वह परमात्मा चक्षुरादि इन्द्रियों से कभी गृहीत नहीं होता ।' यह उपनिषद् का प्रमाण है ।

करपात्री जी ने कहा है कि अनुमान की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती क्योंकि इससे सम्बद्ध कोई लिंग (चिह्न) दिखाई नहीं देता, पर यह अनुमान की बात आपके द्वारा उठाना सर्वथा अनुपयुक्त ही है क्योंकि 'परमेश्वर में अनन्त-विद्या है' महर्षि की इस उक्ति में परमेश्वर सिद्ध पक्ष है साध्य नहीं क्योंकि उसमें अनन्त विद्या सिद्ध करनी है । आपका यह कथन भी कि "सब भूत-भौतिक-पदार्थों की उत्पत्ति, इनके उपादानों का प्रत्यक्ष-ज्ञान रखने वाले किसी व्यक्ति-विशेष की ज्ञान, इच्छा और क्रिया की प्रणाली से हुई है और शय्या प्रासाद आदि के समान विलक्षण कर्म होने से सामान्यतो-दृष्ट अनुमान के द्वारा भी ईश्वर सत्ता सिद्ध न होगी" निस्सार है क्योंकि घट पट शय्या प्रासाद आदि के

न च 'भूतभौतिकानि स्वोपादान-गोचरा-गोचरा परोक्ष-ज्ञानेच्छा कृतिमज्जन्यानि शय्याप्रासादादिवत् विलक्षण-कार्यत्वादिति सामान्यतो-दृष्टानुमानेनाऽपि न सेत्स्यति ईश्वरसत्ता' इति वाच्यम्, घट पट-शय्या-प्रासादादि-निर्मितौ कुम्भकारादीनां कर्त्तृत्व-दर्शना दनुमानं संगच्छते एव । न चापि सर्वज्ञेश्वरद्वारा सृष्टेः रचनायां कुम्भकारद्वारा घटपटादि-निर्माण-दृष्टान्तेऽपि कुम्भकारादीनां सर्वज्ञत्वादिकमपेक्षितं स्यात् इति वाच्यम्, एवं-विध-प्रतिबन्धस्योदाहरणेऽनावश्यकत्वेन शास्त्रे प्रतिपादनात् । दृष्टान्ते हि न सर्वांशिक-समानताऽपेक्ष्यते ।

अथ च तदीयानन्त-विद्यायां 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः (ऋग् १।१६४।३९) अर्थाद् यस्मिन् अविनाशिनि आकाशवद् व्यापिनि परमेश्वरे सर्वविद्यामयाः (ऋचः) ऋगादयश्चत्वारो वेदाः सूर्यादिलोकाश्च स्थिताः सन्ति इति प्रमाणे विद्यमानेऽपि प्रमाणाभाव-कथनं निर्मूलमेव ।

भगवन् ! तदेवं भवता मुधैव स्वपाण्डित्य-प्रदर्शनाय सिद्ध-साधनतायाः अन्योन्याश्रयदोषस्य च कल्पना कृता अस्ति । वेदस्य

निर्माण में कुम्हार आदि का कर्त्तृत्व तो दिखाई पड़ता ही है, अतः इस अनुमान से कि 'जहाँ-जहाँ रचना है वह किसी निमित्त-कारण से ही है' इस कथन में यह कहना कि 'सृष्टि का कर्त्ता परमेश्वर तो सर्वज्ञ है परन्तु कुम्भकार आदि सर्वज्ञ नहीं, अतः दृष्टान्त का अभाव है ।' सर्वथा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि न्याय शास्त्र में कुम्भकार आदि के उदाहरण में उसके सर्वज्ञ होने के प्रतिबन्ध का कहीं प्रतिपादन नहीं किया गया है । दृष्टान्त में पक्ष विपक्ष की बुद्धिगत आंशिक समानता ही होती है सर्वांशिक नहीं । और उस परमात्मा की अनन्त-विद्या के विषय में 'ऋचोऽक्षरे···इत्यादि अर्थात् जिस अविनाशी आकाशवत् व्यापक परमात्मा में सर्वविद्यामय ऋगादि चारों वेद और सूर्यादि लोक स्थित हैं, इस प्रमाण के होते हुये प्रमाण का अभाव कहना सर्वथा निर्मूल है ।

महाराज ! इस प्रकार आपने व्यर्थ ही अपना पाडित्य दिखाने के लिए सिद्ध-साधना की और अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना की है । वेद तो आदि प्रमाण हैं उनमें अन्य प्रमाण की आकांक्षा करने से अनवस्था दोष आयेगा जो

आद्य-प्रमाणत्वात्, तत्प्रमाणेऽपि अन्य-प्रमाणाऽऽकांक्षायामनवस्था-दोष-प्रसक्तेः, नान्योन्याश्रय-दोषोद्भूतिरत्र संगच्छते।

वेद-प्रामाण्ये सिद्धे परमेश्वरस्य-सिद्धिः, परमेश्वरस्य प्रामाण्ये च सिद्धे वेदस्य सिद्धिरिति ब्रुवन्नयं प्रच्छन्न-नास्तिकः समग्रानपि पौराणिकान् प्रतारयति। नित्यकरुणाशीलस्य परमात्मनः करुणा-कारणेन कथङ्कारं स्वातन्त्र्य-विघातो भवेदित्यत्र लेखकेन न किमपि साधकमुपस्थापितं, परमेश्वर-कारुण्यं च कादाचित्कं नैमित्तकमिति मत्वैवानेन, एवं धारणा कृता।

प्रकृतेः परमाणूनां, प्राणिनां पूर्व-जन्म-कर्मणां च साहाय्यं विना परमात्मनो जगद्रचने असामर्थ्यं मत्वा यत् पारतन्त्र्यं साधितं, तद-ज्ञानमेव भवतो दर्शनस्य। नैतेन पारतन्त्र्यं कथयितुमुचितम्, यतोहि सापेक्षता-मात्रं न पारतन्त्र्यस्यकारणं, परं स्वकार्ये परेच्छया विघात-संभावनैव तत्कारणं भवितुमर्हति, तन्नात्र घटते। न च जड-प्रकृत्या-दिषु तादृशीच्छा सम्भवति, इच्छायाश्चेतन-धर्मत्वात्। तथा च न जीवोऽपि विघ्नमुपस्थापयितुमर्हति, अल्पज्ञत्वाद् अल्पशक्तिमत्त्वाच्च। तदा कथं पारतन्त्र्यं परमात्मनः? इति बोध्यताम्। किञ्च :—

यहाँ संगत नहीं है। वेद की प्रामाण्य-सिद्धि में परमेश्वर की सिद्धि और परमेश्वर की प्रामाण्य सिद्धि में वेद की सिद्धि' यह कहने वाले प्रच्छन्न नास्तिक के समान आप समस्त पौराणिकों को धोखे में रख रहे हो। नित्यकारुणिक परमात्मा का करुणा के कारण कैसे स्वतन्त्रता का विघात हो जायेगा? प्रभु की करुणा को नैमित्तक समझ कर ही लेखक ने ऐसी धारणा बना ली और कोई साधक प्रमाण उपस्थित नहीं किया।

प्रकृति के परमाणु और प्राणियों के पूर्वजन्म के कर्मों की सहायता के बिना परमात्मा के जगत् रचने में असमर्थता मानकर पराधीनता सिद्ध की है। इससे आपके दर्शन-शास्त्रों के ज्ञान की पोल खुल गई, क्योंकि सापेक्षता-मात्र ही पारतन्त्र्य का कारण नहीं होता, प्रत्युत अपने कर्मों में दूसरे की इच्छा से विघात की संभावना ही उसका कारण हो सकती है, वह यहाँ घटित नहीं है। जड़ प्रकृति आदि में वैसी इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि इच्छा चेतन का धर्म है। जीव भी विघ्न नहीं कर सकता; क्योंकि वह अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है। तब बताइये, परमात्मा का पारतन्त्र्य कैसे हुआ?

अधुना तु विरम्यतां सखे ! भवता शास्त्र-विरुद्ध-कल्पनात् ।
ऋषि—मार्ग-गमस्तु कीर्तये, भविता चेह परत्र शर्मणे ।।

वे० पा० (४९४) इत्यत्र यदुक्तं "स्वतन्त्रस्य करुणाधीनापत्तेः" इति, तत् किं विचार्योक्तं ? किं भवन्मते परेशो न स्वभावतः कारुणिकः ? भगवन् ! तस्य करुणा तु न हैतुकी, प्रत्युत शाश्वतिकी । शाश्वतिक-वेद-ज्ञान-दान-शीलत्वात्तस्य । अपि चैकरसे ब्रह्मणि जीवैः स्वानुग्रह-दृष्ट्या एव इमे करुणादि-गुणाः प्रस्फुटीभूता दृश्यन्ते । न च कन्द-मूल-फलादिवत् वेदस्यापि तद्रचितत्वे अनित्यत्वापत्तिः स्यादिति वाच्यं, वेदानां पुस्तकादि-रूपेणाऽनित्यत्वेऽपि ज्ञानरूपेण नित्यत्वेन तेषामवस्थितेः । अतः भवद्दोषोद्भावना, निरर्थिकैव । अत्र हि तावत् श्रीमता करपात्रिणा प्रतिमार्चने स्रगशनादि-तर्पणोत्पन्न-तात्कालिक-करुणाभावस्यैव स्मृतत्वात् परमात्मनः करुणाऽपि पूजा-कर-पात्राधीनैव सङ्केतिता ।

अहो ! अनूहन-शीलाय भवते सर्वमसम्बद्धमसङ्गतं च प्रतिभाति ऋषिभाष्य-भूमिकागतमिति महदाश्चर्यम् । अत्राऽवधेयं यत्—हस्त-पादाद्यवयवैर्विना यदा एतावद्बृहत्स्थूलं जगत्रचितवानीश्वरः, तदा सूक्ष्म-ज्ञान-रूपत्वात्सूक्ष्मतमेनेश्वरेण वेदानां (रचनं) प्रकाशनं कथंन संभाव्यते ? पुस्तक-लेखन-कार्यं तु कालानन्तरमृषिभिरेव-कृतं नेश्वरेणेति विज्ञयेम् । परमेश्वराय लेखनी-मसीपात्रादि-साध-

---

इसलिये हे मित्र ! अब भी शास्त्रों के विरुद्ध कल्पनालोक में विचार बन्द करो और ऋषि मार्ग का अनुसरण करो । यह अनुसरण यहाँ कीर्ति के लिये और परलोक में कल्याण के लिए होगा ।

वे. पा.पृ. ४९४ पर यह जो कहा है कि 'स्वतन्त्र ईश्वर करुणा के पराधीन हो जायेगा ।' सो यह आपने क्या विचार कर कहा ? क्या आपके मत में परमेश्वर स्वभाव से ही कारुणिक नहीं है ? महाराज ! उसकी करुणा तो हेतु विशेष पर आधारित नहीं होती, अपितु शाश्वतिक वेद ज्ञान की दानशीलता के कारण शाश्वतिक है एक रस ब्रह्म में जीवों को अपने पर अनुग्रह की दृष्टि से कारुणिक आदि गुण प्रस्फुट दिखाई पड़ते हैं ।

कन्द-मूल फल के समान, उसके द्वारा वेद की भी रचना होने से अनित्यता आयेगी' ऐसा कथन भी ठीक नहीं क्योंकि पुस्तकादि रूप में वेदों की अनित्यता

नानां नाऽवश्यकता। स तु ऋषीणां हृदयेषु विराजमानो वेदवाणीं प्रकाशयति। तस्य तु पराशक्तिः मन्यते, यथा चोक्तं—'पराऽस्य-शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया चेति।" (उप०)

एतत् प्रमाणानुसारं स्वाभाविक-ज्ञानादिभिरेवाऽसौ सर्वं प्रपञ्च-मुत्पादयति। अपि च नाऽस्मदादिवत् तस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नाः सन्ति, पूर्णत्वात्तस्य, तत्पूर्णता-साफल्यं तु अपूर्णजीवानां साहाय्यकरणे एव। एवं स्थिते न च 'तदैक्षत' सोऽकामयत' इत्यादि-वचनमसंगतं स्यादिति वाच्यं, ईश्वरस्यास्वाभाविकेच्छामात्रप्रयत्नस्येक्षण-शब्दवाच्यत्वात्। तत्कामनायामपि नित्य-कामत्वस्य च विवक्षितत्वात्।

होने पर भी ज्ञान के रूप में नित्यता अक्षत है। अतः आपकी दोषोद्भावना निरर्थक है।

ऐसा लगता है कि यहाँ करपात्री जी के मस्तिष्क में प्रतिमा-पूजन के समय माला, अशन (भोग) आदि से तर्पण के समय उत्पन्न आकस्मिक तात्कालिक करुणाभाव ही चक्कर लगा रहा था। अतः उन्होंने परमात्मा की करुणा भी कर-पात्र के अधीन ही संकेतित की है।

अरे क्या तर्कशीलता का सर्वथा अभाव हो गया जो आपको ऋषिभाष्य भूमिका गत सब कुछ असम्बद्ध और असंगत प्रतीत हो रहा है। यहाँ यह समझना चाहिये कि हस्तपादादि अवयवों के बिना जब ईश्वर ने इतना बड़ा स्थूल जगत् बना दिया तो सूक्ष्म ज्ञानरूप वेदों के प्रकाशन की संभावना को क्यों नहीं मानते पुस्तक लेखन का कार्य तो कालान्तर में ऋषियों ने ही किया न कि परमात्मा ने। परमात्मा को मसी आदि साधनों की आवश्कता नहीं, वह ऋषियों के हृदय में विराजमान होने से वेद वाणी को प्रेरित करता है।

उसकी पराशक्ति है। जैसा कि—परास्य शक्तिरित्यादि वचन से स्पष्ट है। वह स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रियादि के द्वारा ही इस समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न करता है। उसके पूर्णरूप होने से इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न हमारे जैसे नहीं है। उसकी पूर्णता की सफलता तो अपूर्ण ज्ञान वाले जीवों की सहायता करने में ही है। उक्त स्थिति में 'तदैक्षत' 'सोड ऽकामत' इत्यादि वचन असंगत हो जायेंगे ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ईक्षण' और 'अकामयत' शब्दों से ईश्वर की स्वाभाविक इच्छा-मात्र प्रयत्न ही अभीष्ट है और कामना में भी नित्यकामत्व विवक्षित है। वे. पा. पृ. ४६५ पर 'भूमिका' का कि 'वेद ऋषियों के ज्ञान के

वे० पा० पृ० ४६५ इत्यत्र यदुक्तं 'वेदाः ऋषीणां ज्ञानमध्ये प्रेरिताः इत्यसंगतेः इति' तदिदमसंगतत्वं तु केवलं मन्दधियामेव-भवितुमर्हम्, यतो हि ऋषि—दयानन्द-मतस्यैतस्य समर्थनं भवद्गुरुः सायणाचार्यः विदधाति, तथा हिः—"ईश्वरस्याग्न्यादि-प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यमिति"। अतः आदौ वेदाः ऋषीणामात्मसु व्यापकत्वात्परमात्मना प्रेरिताः, तदनु श्रुति-परम्परया स्थिताः, कालान्तरे तु पुस्तकरूपेण ऋषिभिरेव निबद्धा इत्याशयः।

यच्चोक्तः—'तत्र ज्ञानस्य निराकारत्वात् अमूर्तत्वाच्च कथं मध्यत्व-निश्चयः' इति तदपि बुद्धिन्यूनत्वद्योतकम्। वस्तुतः बुद्धिरेषा संग्रहालये एव न्यसनीया याऽविचार्यैव एवं प्रश्न-तर्ति प्रस्तौति।

बुद्धिमन्! मध्यशब्दः न केवलं केन्द्र-वाची, अपि तु निष्पक्ष, न्याय्यान्तराद्यर्थवाची अपि। तथा च कतिपयान्युदाहरणानीह निदर्श्यन्ते :—

मध्य में प्रेरित किए, यह कथन असंगत है" सो यह असंगतत्व केवल मन्दबुद्धि लोगों के लिए ही हो सकता है, क्योंकि ऋषिदयानन्द के उक्त कथन का आपके गुरु सायणाचार्य ने समर्थन किया है कि "ईश्वर का वेद निर्मातृत्व अग्नि आदि ऋषियों का प्रेरक होने से मानना चाहिए"। इसलिये आदि में वेद ऋषियों की आत्माओं में परमात्मा ने प्रेरित किये। पश्चात् श्रुति (श्रवण) परम्परा से लोगों में हुए प्रचारित रहे, फिर कालान्तर में विद्वान् पुरुषों ने उनको पुस्तक रूप में निबद्ध कर दिया, यही ऋषि दयानन्द का आशय है।

और आपका कथन कि, ज्ञान के निराकार तथा अमूर्त होने से उसके मध्यत्व का निश्चय कैसे होगा ?' आपकी बुद्धि की न्यूनता का परिचायक है। आपकी यह बुद्धि तो किसी संग्रहालय में ही रखने योग्य है, जो बिना विचारे ही ऐसे प्रश्नों को प्रस्तुत करती है।

श्रीमान् जी ! मध्य शब्द केवल केन्द्रवाची ही नहीं है, अपितु निष्पक्ष, न्याय, बीच आदि भी इसके अर्थ हैं। उदाहरणार्थ :—मनुस्मृति में कहा है कि उदय और अस्त समय सूर्यमण्डल को न देखे···तथा आकाश के मध्यगत सूर्य को भी न देखे' (मनु. ४।३७) यहाँ मनु ने मध्यत्व का निश्चय कैसे निराकार आकाश में किया ? और आप भी कैसे करोगे। इसी प्रकार टकराते हुए दो विभिन्न विचारों में मध्य विचार दोनों के सामञ्जस्य के लिए हो जाता है और आकाश के मध्य में, बीच में यह अर्थ निकलता है।

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नान्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं च वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम् ।। (मनु० ४।३७)
इह नभसो निराकारत्वेऽमूर्तत्वे च कथमयं मनुना मध्यत्व-निश्चयः कृतः ? अपि च द्वयोः भिन्नविचारयो-र्विवदमानयोः यथा मध्य-विचारः उभयोः सामञ्जस्याय जायते, यथा च व्योम्नो मध्ये अन्तरे इति गम्यते । एवमेवाऽत्रापि ज्ञानमध्ये इत्यस्य ज्ञानाभ्यन्तरे इति गम्यते । एतस्मादेव कारणात् हिन्द्यां 'ज्ञान में' इत्येवार्थो महर्षिणा कृतः ।

जीवानामणु-परिमाण-कथनेन सूक्ष्मत्वाभ्युपगमनं प्रतीयते, तथा च—यस्मादण्वपि भूतानाम् (मनु० ६।४०) इत्यत्र अणु सूक्ष्ममित्ये-वार्थो गम्यते । जीवात्मनः मध्यम-परिमाणत्वे स्वीकृते तु विस्ता-राऽऽयाम-गहनादिगुणवत्वात् विनाशापत्तिः स्यात्, अपि च भवान् वेदानां सङ्क्रमणेन निस्सरणं पृथग्भावं च मन्यते, न तत्संभवति, गुणगुणिनोरपार्थक्यात्, नहि वेदानां कदापि परमेश्वरात्पार्थक्यम् संभवति ।

यदप्युक्तं "कथमन्यत्र ज्ञानस्य सङ्क्रमणमिति," तदपि भवता अनभ्यूढम्, दार्शनिक-प्रज्ञाऽभावात् । निरवय-ज्ञान-रूपास्तु वेदाः । अग्न्यादीनां स्वाभाविक-निर्मल-बुद्धे ज्ञान-ग्राहकत्वात्, एतन्निरवय-ज्ञाने सङ्क्रान्ताः भवन्ति, पूर्वत एवेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेन तत्राप्युप-स्थितेरक्षुण्णत्वात् ।

इसी प्रकार यहाँ भी 'ज्ञानमध्ये' का अर्थ 'ज्ञान के बीच में' निकलता है । इसीलिए महर्षि ने हिन्दी में 'ज्ञान में' यह अर्थ किया है ।

जीवों का अणु-परिणाम कहने से सूक्ष्मत्व का अर्थ प्रतीत होता है । जैसे कि मनुस्मृति में (६१,४०) स्थल में सूक्ष्म अर्थ होता है ।

यदि जीवात्मा का मध्यम परिमाण माना जाये तो उसमें लम्बाई चौड़ाई गहनतादि-गुण-युक्त होने से नाशवत्ता प्राप्त होगी ।

आप संक्रमण से निस्सरण और पृथग्भाव समझते हैं, जो कि संभव नहीं है; क्योंकि गुण और गुणी का कभी पार्थक्य नहीं होता, अतः परमात्मा से वेदों की पृथक्ता भी संभव नहीं ।

वस्तुतस्तु तेषामग्न्यादीनाम् ईश्वर-प्रणिधानेन अव्यवहितत्वात् तदन्तःकरणानाम् ईश्वराऽनुग्रहेण दीप्तत्वात् परमेश्वरस्य च योगेन प्रत्यक्षत्वात् सर्व-वेद-प्रकाशनं सर्वथा संगच्छते। यच्चापि पृष्टं भवता—'पुस्तकरूपाणां ज्ञानरूपाणां च वेदानां को भेद इति' अत्रोच्यते, ज्ञानरूपेण तु न कश्चन भेदः, परं स्थूलजडाधारः प्रथमः, सूक्ष्म-चेतनाधारश्च द्वितीय इति तु महान् भेदः। कल्पित-वर्णाकृति-संकेतिताः मसी-मुद्रणादि-रचिताः पुस्तकस्थाः वेदास्तु अम्बिका प्रसाद-व्यास-वर्णनायामनुबद्ध मर्हन्ति—यथाहि—'वीथीषु विच्छिद्य विक्षिप्यन्ते' इति, परं न ज्ञानरूपा वेदाः बिच्छेत्तुं विक्षेप्तुं च शक्यन्ते।

यच्चाप्युक्तं—'नहि परमेश्वरे समवाय-सम्बन्धेन स्थिताः वेदा अन्यत्र गन्तुं प्रभवन्ति' इति। नूनमेतत्तु भावत्क-शास्त्रीय-ज्ञानाभाव-सूचकमेव, यतो हि ब्रह्म सर्वगं प्रत्यात्मव्याप्तं च, तादृशस्य ब्रह्मणः

और आपने यह जो कहा कि—'ज्ञान का संक्रमण अन्यत्र अर्थात् जीवात्मा में किस प्रकार हुआ?' सो आप दार्शनिक-प्रतिभा के अभाव में विचार न कर सके। निरयव-ज्ञानरूप वेद, अग्नि वायु आदि ऋषियों के निरवय-ज्ञान में वह निर्मल-बुद्धि के ज्ञान-ग्राहक स्वाभाविक गुण के कारण, संक्रान्त (प्रतिभासित) हो गये; क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापक होने से वह वहां (उनकी बुद्धियों में भी) उपस्थित था।

वास्तविकता यह है कि उन अग्नि आदियों का ईश्वर में प्रणिधान (स्थिति) होने से उनके अन्तः करणों के दीप्त होने पर परमेश्वर के योग के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से, सब वेदों का प्रकाशन सर्वथा सङ्गत है।

और आपने यह जो पूछा है कि "पुस्तकस्थ और ज्ञानस्थ वेदों में क्या भेद है?" सो ज्ञानरूप में तो कोई भेद नहीं, परन्तु प्रथम पुस्तकरूप स्थूल-जड़ पर आधारित हैं और ज्ञानस्थ निराधार सूक्ष्मचेतना पर आधारित हैं। यही दोनों का महान् भेद है।

कल्पित-वर्णाकृति-संकेतित जो स्याही आदि से रचित वेद-पुस्तक हैं, वे अम्बिका प्रसाद व्यास के वर्णन से अनुबद्ध हो सकती हैं जैसे कि—"वेद गलियों में फाड़कर फेंके जा सकते है। पर ज्ञान-रूप वेद फाड़कर नहीं फेंके जा सकते। तथा यह कथन है कि—"परमेश्वर में समवाय सम्बन्ध से स्थित वेद अन्यत्र नहीं जा सकते" यह आपके शास्त्रीय ज्ञान के

तेषामृषीणां च ज्ञान-सान्निध्ये न विप्रकृष्टता, अतस्तेषां वेदानामन्यत्र गमनाऽगमनस्य प्रश्न एव कुतः ? वस्तुतस्तु, अध्यापकस्य ज्ञानं सावयव-पदार्थवत् शिष्यं नोपगच्छति। अपितु शिष्यस्यात्मनि गुरोरव्यापकत्वात् शब्दमयं ज्ञानं कर्णेन्द्रिय-द्वारा बुद्धेर्ग्राहिकतया समुपलभ्यते शिष्येण। परमेश्वरस्य तु अग्न्यादिमहर्षीणां हृदयेषु व्यापकत्वात् शब्दस्य कर्णेन्द्रियस्य च नाऽवश्यकता वेद-प्रकाशने।

वेदोत्पादन-प्रयोजनं तु जीव-कल्याणमेव, तच्च भवताऽपि अभ्युपगतं, यथाहि 'परमेश्वरो यथा प्रजाहितार्थं जगद् रचितवान् तथैव तद्रक्षणार्थं यज्ञादिलक्षण-धर्मप्रवर्त्तनाय तन्मूलभूतान् वेदान् अग्न्यादिभ्यो दुदोह' इति। तदेवं स्वयं समुल्लिख्यापि भवान् स्मृतिभ्रंश-दोषात् स्वपूर्वापर-वर्णितमपि न स्मरति। यच्चोक्तं 'वेदप्रतिपादने प्रयोजनं प्रतिज्ञाय किमुत्तरं प्रादात्' इति - वचस्तु महर्षिग्रन्थानुशीलनाऽभावादेव प्रोक्तं भवता, यतो हि ऋषिणा तत्रैव 'स्थले तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूत-वेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता' इत्युक्तमस्ति।

अभाव का द्योतक है, क्योंकि ईश्वर सर्वत्र और सबकी आत्मा में व्याप्त है। अतः परमात्मा के और उन ऋषियों के ज्ञान की समीपता होने पर दूरी नहीं रही, तब वेदों के गमनागमन का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः अध्यापक का ज्ञान अन्य सावयव वस्तु के समान शिष्य को प्राप्त नहीं होता। शिष्य की आत्मा में गुरु के व्यापक न होने से उच्चरित शब्दमय ज्ञान, कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शिष्य की बुद्धि की ग्राहक-शक्ति के द्वारा पहुंचाता है। परमेश्वर तो अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में व्याप्त है, इसलिए उसको शब्द-कर्णेन्द्रियादि की वेद प्रकाशन में कोई आवश्यकता नहीं।

वेदों के उत्पादन का प्रयोजन तो जीवों का कल्याण ही है। जिसको कि आपने भी स्वीकार किया है, जैसे कि—'परमेश्वर ने जिस प्रकार प्रजा के हित के लिए जगत् को रचा है। उसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिये, यज्ञादि लक्षण वाले धर्म के प्रवर्त्तन के लिए उसके कारण-भूत वेदों को अग्न्यादि को दुहा। इस प्रकार स्वयं लिखकर भी अपने पूर्वापर लेख को स्मृतिभ्रंश-दोष के कारण सोच नहीं पाये। आपने यह जो कहा है कि —वेदों के प्रतिपादन में प्रयोजन की प्रतिज्ञा करके क्या उत्तर दिया ? सो यह कथन

वे० पा० पृ० ४६६ इत्यत्र यच्चोक्तं—'धर्मार्थ-काम-मोक्ष-सिद्धया बिना परमानन्द एव न स्यादिति स्वामि-दयानन्द-कथनं पुरुषार्थ-तत्त्वानभिज्ञानमूलकमेवेति", तदपि निर्मूलमेव, यच्च महर्षिदयानन्देन प्रोक्तं तत्सर्वथा समूलं सत्यञ्च, यतः परमानन्द-प्राप्तिस्तु धर्मार्थ-काम-मोक्षसिद्ध्यैव भवति । त्रिवर्गो हि शास्त्र-साधितो मोक्षे साहाय्यकरः । धर्मानुगौ अर्थकामौ एव च प्रशस्तौ प्रोक्तौ ।

अपि च ऋषिवाक्ये सिद्धिशब्द-प्रयोगो महत्त्वपूर्णः, तस्यायमाशयो यत् धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सिद्धौ नाम परिपक्वौ स्यातामर्थात् पुनः प्रच्यवनाय बलवन्तौ न स्यातामिति भावः । मोक्षे सिद्धे न तत्साधना नामावश्यकता, तत्फलावाप्तेः । यथा चोक्तमाचार्य-शङ्करेण केनोपनिषद्भाष्ये "आत्म-तत्त्व-याथात्म्य-विज्ञानाद् विनिवृत्ताज्ञान—बीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा" इति (के. ३।३।१) ।

महर्षि के ग्रन्थ के अध्ययन के अभाव से है, क्योंकि महर्षि ने वहीं पर ही स्पष्ट किया है:—"इसलिए ईश्वर ने अपने विद्यास्वरूप वेदों के उपदेश द्वारा वेदों की प्रयोजन-सार्थकता सम्पादित की है।"

वे. पा. के ४६६ पृष्ठ पर आपने कहा है कि स्वामी दयानन्द का यह कथन ठीक नहीं कि 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के बिना परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती' सो आपका यह आक्षेप पुरुषार्थतत्त्व को न समझने के कारण है। ऋषिदयानन्द ने जो बात कही है, वह सर्वथा सत्य है, क्योंकि परमानन्द की प्राप्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि से ही होती है। शास्त्रसाधित त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) मोक्ष में सहायक होता है और धर्मानुकूल अर्थ और काम ही प्रशंसनीय माने गये हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ ऋषिवाक्य में सिद्धि-शब्द का प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जिसका आशय यह है कि धर्मानुकूल अर्थ और काम इस प्रकार सिद्ध अर्थात् परिपक्व हो जावें कि वे फिर पतन न करा सकें। मोक्ष की सिद्धि होने पर उसके साधनों की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि मोक्ष का परमानन्द रूप फल प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आचार्य शंकर ने केनोपनिषद् भाष्य में कहा है कि आत्मतत्त्व के वास्तविक विज्ञान से आत्मा के अज्ञान बीज के नष्ट होने का नाम ही मोक्ष है। (के. ३।३।१)

करपात्रिन्, अपि च आश्चर्यमिदमत्र यद् भवानिह ऋषेर्वाक्यार्ध-मुद्धृत्य प्रवञ्चनां करोति, महर्षेः समस्तलेखस्तु अस्त्येवंः—

"यदि परमेश्वरः स्ववेद-विद्याया उपदेशं मनुष्येभ्यो नाकरिष्यत् तर्हि धर्मार्थकाम-मोक्षाणां सिद्धिः यथावत् कस्मैचिदपि नाऽभविष्यत्। तां विना च परमानन्दोऽपि न कस्यापि स्यादिति"।

भगवन्! तदेतत् प्रवञ्चनं भवते न शोभते। पाठे त्वेतस्मिन् सति सर्व-मनुष्य-दृष्ट्या पुरुषार्थ-चतुष्टयस्योपपन्नता सिद्धा। तथा चोक्तं मनुना :—

अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथाऽऽत्मजान्।
अनिष्ट्वाचैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः। (म. ६।३७)
अपि च
धर्मार्थप्रभवं चैव, सुखसंयोगमक्षयम् (म. ६।६४)

अस्य श्लोकस्य टीकायां स्पष्टमाह कुल्लूकभट्टः। धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणम् अक्षयं ब्रह्म सुखसंयोगं चिन्तयेदिति।

अतः सिद्धमिदं यत् मनुष्यो धर्मार्थकामैः संसार-यात्रां यथायथं

करपात्री जी महाराज! यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आपने यहां ऋषि के आधे वाक्य को उद्धृत करके छल किया है, समस्त लेख इस प्रकार है 'यदि परमेश्वर अपनी वेद-विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये नहीं करता, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की यथावत् सिद्धि किसी को न होती और उसके विना परमानन्द भी किसी को नहीं मिलता'। महाराज! यह प्रवञ्चन आपको शोभा नहीं देता। इस पाठ के अनुसार सब मनुष्यों की दृष्टि से पुरुषार्थ चतुष्टय की उपयोगिता सिद्ध है। जैसा कि मोक्ष के लिये धर्मादि-पुरुषार्थ की उपयोगिता को मनु महाराज ने बतलाया है :—द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, वेदों को विना पढ़े हुये, सन्तान की उत्पत्ति किये बिना तथा यज्ञों को विना किये, यदि मोक्ष की इच्छा करता है तो वह गिरावट की ओर जाता है। तथा च, धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख-संयोग को प्राप्त करे। इस श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट ने स्पष्ट कहा है—धर्महेतुक अर्थ ब्रह्म का साक्षात्कार है उससे उत्पन्न मोक्षलक्षण अक्षय ब्रह्म सुखसंयोग का चिन्तन करे।

संसाध्य मोक्ष-सिद्धया च दुःखात्यर्थ-विमोक्षणं सम्पाद्य परमानन्दं प्राप्नुयात् धर्माविरुद्धौ अर्थकामौ साधयित्वा मोक्ष-सिद्धिं ततः परमानन्द-प्राप्तिं चेति ।

भवार्णव-तरणाय सामान्यतया त्रिवर्गस्य पोतरूपत्वात् चतुर्थस्याप्यपरिहार्यत्वम् ।

मोक्षप्राप्तौ त्रिवर्गस्य वैशिष्ट्यमिह न विवक्षितं, न चोल्लिखित स्वामिना तत् । एतच्च :—

अधीत्य विधिवद् वेदान्, पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ।। (मनु.६।३६)

इत्यादिना संसारान्मोक्षणं यावदेव त्रिवर्गस्य साधनत्वं मनुनाऽपि समर्थितम् ।

यच्चाप्युक्तं भवता 'त्रिवर्ग-विशिष्टस्यापि मोक्षस्य परमानन्द-जनकत्वं तदा तु संन्यासानुपपत्तेरिति' तत् तु सत्यमेव, अनियन्त्रितेन्द्रियाणां गालि-दान-विचक्षणानां राग-द्वेष-प्रवणानां भवादृशां कृते तु सर्वथा संन्यासानुपपत्तेः ।

अतः सिद्ध है कि मनुष्य, धर्म, अर्थ और काम के द्वारा संसार की यात्रा को ठीक-ठीक सिद्ध करके मोक्ष की सिद्धि के द्वारा अत्यन्त दुःख विमोक्षण' प्राप्तकर परमानन्द का लाभ करे । संसार-सागर को पार करने के लिये (धर्म अर्थ काम) त्रिवर्ग सामान्यतया एक जहाज के समान हैं चतुर्थ मोक्ष भी परमानन्द के लिये अपरिहार्य है । मोक्ष की प्राप्ति में त्रिवर्ग का वैशिष्ट्य यहाँ विवक्षित नहीं है और नहीं स्वामी जी ने इसका उल्लेख ही किया है, । स्वामी जी की इस बात का 'अधीत्य विधिवत्' इत्यादि श्लोक के द्वारा मनु महाराज ने समर्थन किया है ।

लेखक ने यह जो कहा है कि 'यदि त्रिवर्ग विशिष्ट मोक्ष भी परमानन्द का हेतु है तो संन्यास की वैधता सिद्ध न होगी' सो यह बात ठीक ही है, क्योंकि आप जैसे लोग, जो इन्द्रियों पर नियन्त्रण न करें और दूसरों को गाली देने में प्रवीण और राग द्वेष करने में निपुण हों; उनके लिये तो पूर्णतया संन्यास की अपात्रता ही है ।

भगवन्, श्रूयतां, स्वामिना दयानन्देन मोक्षाय त्रिवर्गस्य अनिवार्यता नेह प्रत्यपादि, तदवगमन-न्यूनत्वमेवात्र भवतः। तेन तु स्व-'भूमिका'-भाषायां सुस्पष्टमेव व्याख्यातं यत् "जो परमेश्वर अपनी विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को न होता"

अपि च धर्माऽविरुद्धौ अर्थकामौ मोक्षे सहायकौ एव ततो मोक्ष-सिद्ध्या परमानन्दावाप्तिः, अत एवोक्तम् ऋषिणा ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्ट-सर्व-पदार्थ-प्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावद् विद्या-प्राप्ति-सुखस्य सहस्रतमेनाऽप्यंशेन तुल्यं भवति' इति।

वे. पा. ४९६ तमे पृ. २ य पङ्क्तौ यदुक्तं :—"किं परमानन्दो मोक्ष-लक्षणात् पुरुषार्थात् भिन्नोऽभिन्नोवा ? नाद्यः, मोक्ष-भिन्नस्य परमानन्दस्याऽप्रसिद्धेः। न द्वितीयः, तस्यैव तद्धेतुत्वानुपपत्तेः" इति, तदप्यविचार्यैव प्रोक्तम्, अवसानार्थक-मोक्ष् धातोरत्र निष्पन्नत्वान्मोक्ष

महाराज, सुनिये, स्वामी जी महाराज ने मोक्ष के लिये त्रिवर्ग की अनिवार्यता कहीं भी प्रतिपादित नहीं की है। उसके समझने में आपकी ही कमी है। उन्होंने तो अपनी भाष्य भूमिका की भाषा में स्पष्ट ही लिखा है कि 'जो परमेश्वर अपनी विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि, किसी को यथावत् न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को न होता।

धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम मोक्ष में सहायक होते हैं फिर मोक्ष की सिद्धि होने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसी लिये ऋषि ने कहा है 'ब्रह्माण्ड के सब उत्कृष्ट-पदार्थों की प्राप्ति से जितना सुख होता है उतना, विद्या (मोक्ष-विद्या) की प्राप्ति के सुख का हजारवां अंश भी नही होता।

वे. पा. के ४९६ वे पृ. की २ य पंक्ति में जो कहा है कि "क्या परमानन्द, मोक्षलक्षण वाले पुरुषार्थ से भिन्न है या अभिन्न ? पहला तो है नहीं, मोक्ष से भिन्न परमानन्द की प्रसिद्धि न होने से। दूसरा पक्ष भी नहीं क्योंकि वही स्वयं जो साध्य है, वह साधन नहीं हो सकता।" आपका यह सब कथन अचिन्तन-मूलक होने से ठीक नहीं। यहाँ पर अवसाने (अन्त) अर्थ वाली

शब्दस्य केवलं दुःख-निवृत्तिरेवार्थः न त्वानन्द-प्राप्तिः, सा तु तदनन्तरं फलं तस्य। यथा हि लोके बन्धनान्मुक्तिः स्वातन्त्र्यमुच्यते न तु सुख-साधनावाप्तिः।

भगवन्, अपि च मोक्ष-भिन्नस्य परमानन्दस्या प्रसिद्धेरिति कथनं तु तयोः सूक्ष्मभेदस्यानाकलनादेव संभवति, अन्यथा "ब्रह्मज्ञानेन संसाराज्जीवेन मोक्षे प्राप्ते परमानन्दः आस्वाद्यते" इत्यत्र ज्ञानाऽभिन्नत्वे मोक्षे तदभिन्नत्वे च परमानन्दे न करणाधिकरण-कर्त्तृत्व- संगतिरुपपद्येत, अतः तत्स्थल-प्रयुक्त-शब्दस्य आशयस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

यच्च द्वितीये विकल्पे, 'यज्ज्ञानं परमानन्दाभिन्नं कथयितुं न शक्यते, स्वयं तस्य ज्ञानस्य स्वस्मिन् करणत्वाभावाद्' इति यदुक्तं तदपि न युक्तं, शास्त्रवचनेषु असङ्गत्यापत्तेः।

वस्तुतस्त्वत्र साधनार्थक-मोक्ष-शब्दस्य प्रयोगः, अन्यत्र साध्यार्थे स्वाभिन्नतैव, यथा "मोक्षाख्यं परब्रह्म-प्राप्तिलक्षणं सर्वानन्द-मयमि"ति। अत्र मोक्षानन्दमय-ब्रह्मणोऽभिन्नताऽऽशयः।

मोक्ष धातु से निष्पन्न होने से केवल दुःख निवृत्ति ही मोक्ष है, परमानन्द प्राप्ति तो उसका फल है। जैसे कि लोक में बन्धन से मुक्त होने का नाम स्वातन्त्र्य है, सुख साधनों की प्राप्ति नहीं। मोक्ष शब्द से यहां मोक्ष साधन अभीष्ट हैं।

महाराज, मोक्ष से भिन्न परमानन्द की, अप्रसिद्धि कहना, उस स्थल को सूक्ष्मता से न समझने के कारण है, नहीं तो "ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा संसार से जीव के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर परमानन्द का आस्वादन होता है" यहाँ पर मोक्ष को ज्ञानाऽभिन्न मानकर मोक्षाऽभिन्न परमानन्द को मानने पर करण-अधिकरण और कर्त्तृत्व की संगति नहीं बैठ सकती। अतः उस स्थल में प्रयुक्त शब्द का आशय वहाँ देखना चाहिये।

दूसरे विकल्प में जो आपने कहा कि ज्ञान परमानन्द से अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं उस ज्ञान का अपने में करणत्व का अभाव है" सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार मानने से शास्त्रवचनों में संगति नहीं बैठेगी।

यदप्युक्तं "वेदाश्च न ज्ञानरूपाः अपि तु नियतानुपूर्वीविशिष्टा अपौरुषेयशब्दराशिरूपा एव" इति। अत्रायं प्रश्नः, किम् अपौरूषेय-शब्दराशिः ज्ञानेन-विरहितः? उत ज्ञान-रूपः? ज्ञान-विरहितत्वे तु शब्दराशेः अपौरुषेयता न सम्भवति, अनर्थकत्वात्। अपि च नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धस्तु ज्ञान-युक्तत्वे एव सम्भवति। नैवं चेत, ज्ञानार्थक-विद्धातोः निष्पादिता वेद-शब्दनिरुक्तिः न संगच्छेत। अतः वेदाः ज्ञान-स्वरूपाः एवेति सिद्धोऽर्थः। वेदाश्च परावाणी-रूपाः ज्ञानस्य वाण्याश्चाभिन्नत्वं सर्व-विदितमेव।

यदप्युक्तं "यत् पूर्वमीमांसक-मतेन वेदानां स्वरूपनित्यता, उत्तरमीमांसक-मतेन च प्रवाह-नित्यता" तदत्र कतरा नित्यता भवदभीष्टा? यदि भवन्मते द्वयोः शास्त्रकारयोः मते भिन्नता-प्रदर्शनमभीष्टम्, न तद्युक्तम्। तत्त्वदर्शिनाम् आप्त-पदवीनामृषीणां वचनेषु विरोधा-सम्भवात्।

तत्त्वतोऽत्र वेदानां नित्यत्वे द्वयोरपि तात्पर्यमेकमेव। "ईश्वरस्य

वास्तव में यहाँ साधन अर्थ में मोक्ष शब्द का प्रयोग है अन्यत्र साध्य अर्थ में अपने से अभिन्नता ही है जैसे मोक्ष नाम परब्रह्म प्राप्ति लक्षण-वाला सर्वानन्दमय ब्रह्म है। यहां मोक्ष और आनन्दस्वरूप ब्रह्म की अभिन्नत्ता से आशय है।

यह जो कहा है कि 'वेद ज्ञान रूप नहीं हैं अपितु नियत आनुपूर्वी (अनुक्रम) से युक्त, अपौरुषेय शब्द-राशि ही वेद हैं।' सो यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अपौरुषेय-शब्दराशि ज्ञान रहित है या ज्ञान सहित? यदि वह शब्दराशि ज्ञान रहित है तो अपौरुषेय नहीं हो सकती अनर्थक (ज्ञान हीन) होने से। इसके अतिरिक्त शब्द और अर्थ का जो नि य सम्बन्ध कहा गया है वह शब्द के ज्ञान युक्त होने पर ही संभव है। यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का निर्वचन संगत नहीं बैठ सकता। अतः 'वेद ज्ञान रूप ही है न कि अर्थहीन शब्दरूप' यह बात सिद्ध हुई। वेद परा-वाणी रूप हैं ज्ञान और परावाणी का अभिन्नत्व सर्व-विदित है।

आपने जो यह कहा कि—'पूर्वमीमांसा के मत से वेदों की स्वरूप-नित्यता

सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतोनित्यत्वं सिध्यति, ईश्वर-साम-र्थ्यस्य नित्यत्वात् ।" परमात्म-ज्ञानस्थः शब्दार्थ-सम्बन्धः नित्य एव भवति । अनादित्वमनन्तत्वञ्चापि वेदानामनेनैव सिध्यति ।

इह वेद-शब्दस्य ज्ञानार्थे प्रयोगाद् भावव्युत्पन्नोऽपि वेद शब्द इति व्यञ्जितं भवति । अपि च 'इष्ट-प्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिक मुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः इति निर्ब्रुवन् सायणाचार्यः कर्त्त-व्युत्पन्नोऽपि वेदशब्दः इति प्रत्यपादयत् ।

ग्रन्थ-विशेषस्यापि मूल-कारणं ज्ञानमेव, ज्ञानस्य चायं स्वभावो यत् यावदिदं स्वमूलाश्रये तिष्ठति न तावदस्य शब्दविशेष-सम्बन्धो ज्ञायते । आश्रयान्तरे तु शब्द-विशेषेण सम्बन्धो भवति, तदभावे तु आश्रयान्तरानापत्तिः । अयं शब्दविशेष एव आनुपूर्वी-विशिष्टः शब्द-

---

और उत्तर-मीमांसा के मत से प्रवाह-नित्यता है" । सो आप यह बताइये कि आपको कौनसी नित्यता अभीष्ट है ? यदि दो शास्त्रकारों के मत में विरोध दिखाना अभीष्ट हो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि तत्त्वदर्शी आप्त ऋषि-महर्षियों के वचनों में विरोध नहीं, पाठक के समझने की कमी होती है ।

वास्तव में यहाँ दोनों के मत में वेदों का नित्यत्व दिखाने में ही तात्पर्य है । ईश्वर से वेदों की उत्पत्ति होने पर उनका नित्यत्व ईश्वर की सामर्थ्य के नित्य होने से स्वतः सिद्ध है । परमात्मा के ज्ञान में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य ही होता है । इसी से वेदों का अनादित्व और अनन्तत्व भी सिद्ध होता है ।

यहाँ वेद शब्द का ज्ञान अर्थ में प्रयोग करने से, यह 'वेदनं ज्ञानं वेदः' इस प्रकार भाव,व्युत्पन्न है, व्यञ्जित होता है तथा च 'इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय को जो ग्रन्थ बतलाता है वह ग्रन्थ वेद है' इस प्रकार निर्वचन करके सायणाचार्य ने वेद को कर्त्तृ-व्युत्पन्न भी माना है ।

ग्रन्थ-विशेष का भी मूल कारण ज्ञान ही है, और ज्ञान का यह स्वभाव है कि यह जब तक अपने मूल के आश्रय में ठहरता है तब तक इसका शब्द विशेष से सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं होता । अन्य-आश्रय तक पहुंचने में (बाह्य रूप से भी) विशेष-शब्द से सम्बन्ध जुड़ जाता है । उसके अभाव में आश्रयान्तर नहीं हो पाता । यह शब्द विशेष ही आनुपूर्वी विशिष्ट शब्दराशि ही वेद हैं ; इसलिये ज्ञान को छोड़कर उस ज्ञान का साधन ग्रन्थ-विशेष, वेद का मुख्यार्थ

राशिः वेदः, अत एव ज्ञानं परित्यज्य तत्साधन-ग्रन्थ-विशेषो न मुख्यतया वेद-शब्दस्यार्थ इत्यस्मद्गुरवः। यौगिक-वृत्त्या शब्देन वाच्योऽर्थो ज्येष्ठः, योगरूढवृत्त्या मध्यमः, रूढ्या च जघन्योऽर्थः कथ्यते। ज्ञानस्यैव च वेद-शब्दार्थस्य ज्येष्ठत्वात् शब्दराशि-रूपस्य वेदस्य कृते विद्या-शब्द-प्रयोगः सूपपन्नः।

अपि च वेदरूपा वाक् "सा हि श्रीरमृता सताम् (तै० १।२।१) सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि (शत. १०।५।१।२) इति नानाशास्त्रप्रमाणैः प्रतिपादिताऽस्ति। भवताऽपि वे. पा- ६०९ तमे पृष्ठे 'धात्वर्थानुरोधेन तु ज्ञानमेव वेद-शब्दार्थः इति लिखित्वा महर्षिदयानन्द-मतस्यैवानुमोदनं कृतम्। यच्च भवत्स्वभाव-विरुद्धमस्ति।

वे. पा. ४९६ तमे पृष्ठे अस्मिन् प्रकरणे भवता शतपथ-ब्राह्मणस्य छान्दोग्यस्य चोपनिषदः उद्धरणमुपन्यस्तम्। वे. पा. ४९९ तमे पृष्ठे २ ये अनुच्छेदे च यदुक्तं "नहि अग्नि-वायु-सूर्याः मनुष्य-रूपा एव भूरादिलोकत्रयस्य सारः सम्भवन्ति। न वा मनुष्याणां सारभूताः ऋगादयो वेदाः सम्भवन्ति। तद्-भूरादिलोकानामधिष्ठातृ-देवाः

नहीं है ऐसा हमारे गुरुजी का मत है। यौगिकवृत्ति से शब्दवाच्य अर्थ श्रेष्ठ होता है योगरूढ़वृत्ति से मध्यम, रूढ़वृत्ति से जघन्य अर्थ कहा जाता है। वेद शब्द का, ज्ञान अर्थ ही श्रेष्ठ है और शब्दराशि रूप वेद को विद्या शब्द से भी कहना समुपयुक्त है। वेद रूप वाक् 'सा हि श्रीरमृता सताम् (तै. १।२।१) सा वा एषा वाक्.................. ऋचो यजूंषि सामानि। (शत. १०।५।१।२) इत्यादि नाना शास्त्र प्रमाणों से प्रतिपादित है। आपने भी वेदार्थ पारिजात के पृ. ६९९ पर— 'धात्वर्थ के अनुरोध से ज्ञान ही वेद शब्द का अर्थ है' ऐसा लिखकर महर्षि दयानन्द की बात का अनुमोदन किया है जो आपके स्वभाव के विरुद्ध है।

वे. पा. के ४९६ पृष्ठ पर इस प्रकरण में आपने शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण दिये हैं और वे. पा. के पृ. ४९९ पर २ य अनुच्छेद में यह कहा है कि "अग्नि वायु और सूर्य मनुष्य रूप नहीं वरन् भू आदि लोकों के सार हैं परन्तु मनुष्यों के सारभूत ऋग्वेदादि तो हो नहीं सकते, भू आदि लोकों के अधिष्ठातृ-देव अग्नि आदि है उनको परमेश्वर के

एवाग्न्यादयः । तांश्च परमेश्वरानुग्रहाद् ऐश्वर्यवशाच्च प्रलये प्रलीना एव नित्यसिद्धा वेदाः प्रतिभान्ति" इति ।

भगवन् ! अनेन संदर्भेण कोऽभिप्रायो भवतः ? किमिमे देवाः मनुष्य-रूपाः शरीरधारिणः नैव आसन् ? तदा किंरूपा आसन्, मन्ये, भवदभिप्राये तु जडरूपाः एव आसन् इति पर्यवसीयते ; अतएव प्रत्यक्ष-समालोचनावसरे भवता स एव मार्मिकोंऽशः प्रश्नोत्तररूपो 'भूमिकायाः' नोट्टङ्कितः ।

दृश्यतां, स चास्ति यथा 'ते तु ज्ञान-रहिता जडा सन्ति ? मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्य-देह-धारिणः ते ह्यासन् । कुतः ? जडे ज्ञान-कार्याऽसम्भवात् । यत्र मुख्यार्थस्यासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः मनुष्याः क्रोशन्ति इत्यर्थः लक्ष्यते । तथैव अत्रापि विज्ञायताम् । विद्या-प्रकाश-सम्भवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति" ।

महर्षि-भूमिकायाः एतमेवाभिप्रायं सायणाचार्योऽपि पुष्णाति तथा हिः—जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैः वेदानामुत्पादितत्वाद्' इति ।

अनुग्रह से तथा ऐश्वर्य के कारण, प्रलय में प्रलीन नित्य सिद्ध वेद प्रकट हो गये ।"

महाराज ! इस संदर्भ से आपका क्या अभिप्राय है ? क्या ये देवता मनुष्य रूप शरीरधारी नहीं थे ? तो किस रूप के थे ? हम मान गये, आपके आशय में तो जड़ रूप ही थे ? यही निष्कर्ष निकलता है । इसीलिए प्रत्यक्ष समालोचना के अवसर पर आपने 'भाष्य भूमिका' का वह अंश जो प्रश्नोत्तर रूप है और बड़ा ही मार्मिक है—उद्धृत नहीं किया ।

देखिये, वह इस प्रकार है "वे तो ज्ञान-रहित जड़ हैं ? ऐसा न कहो, सृष्टि के आदि में मनुष्यदेहधारी थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान कार्य कभी सम्भव नहीं । जहां मुख्य अर्थ की बाधा होती है वहीं लक्षणा होती है जैसे :—मचान बोलते हैं यहां मञ्चस्थ मनुष्य बोलते हैं वह अर्थ होता है इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए । मनुष्यों में ही विद्या का प्रकाश सम्भव है ।"

महर्षि दयानन्द की भाष्य भूमिका के इस अभिप्राय को सायणाचार्य भी पुष्ट करते हैं जैसे कि—"अग्नि वायु आदित्य (जीव विशेष) के द्वारा वेदों के उत्पन्न होने से" यह वचन उन्होंने कहा है ।

अपि च भगवन्, भगवता सायणाचार्येण नेह प्रोक्तं यदयं प्रजापतिः वेदान् अग्न्यादिभ्यः अपठदिति। अतः यदि चान्यत्र कुत्रापि प्रजापतेरुल्लेखोऽस्ति तर्हि तत्रानेन शब्देन अन्यजीवस्यैव ग्रहणं भविष्यति' इति बोध्यम्।

भवता 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि-मनूक्त-श्लोकस्य कुल्लूक-भट्टीय-टीका प्रस्तुतीकृता। परं तया न कापि नूतना दिशा दर्शिता। अनेन प्रमाणेन तु एष एव निष्कर्षो यत् 'ब्रह्मा अग्न्यादिभ्यः ऋगादीन् जगृहे, अग्न्यादीनां तत्र जडदेवताभिप्रायेऽपि भवतां पक्षे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशाद्युत्पत्तौ पौराणिक-कमलाद्भव-ब्रह्मणः पूर्वं जलोत्पादनस्य संभवतया जडेषु पदार्थेषु वेदाधिष्ठानत्वाऽसम्भवे अग्नि वाय्वादित्याङ्गिरोभ्यः ऋषिभ्यो जीव-विशेषेभ्य एव वेद-ज्ञानं दत्तंमित्येव सङ्गतम्।

किञ्चाऽस्मिन् स्थले विरोधोक्ती एव स्तः भवतः यथाहि:— "वेदानां बाहुल्येन यज्ञ एव मुख्यार्थः' इति प्रथमोक्त्या भवान् यज्ञपरक वेदभाष्यकृतः सायणादीन् पुष्णाति। "पारम्पर्येण सर्वोऽपि

आचार्य सायण ने यहां यह नहीं कहा कि प्रजापति ने अग्नि आदि ऋषियों से वेदों को पढ़ा। यदि कहीं अन्यत्र प्रजापति का उल्लेख है तो वहाँ इस शब्द से जीव विशेष का ही ग्रहण होगा।

आपने 'अग्नि वायु रविभ्यस्तु' इत्यादि मनु के श्लोक की कुल्लूकभट्ट की टीका प्रस्तुत की है उससे कोई नयी दिशा प्रस्तुत नहीं हुई। इस प्रसङ्ग में इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने अग्नि आदि ऋषियों से वेदों को ग्रहण किया। यहां अग्नि आदि को जड़ देवता बताने में आपके पक्ष में 'उस आत्मा से आकाश आदि की उत्पत्ति होने पर, पौराणिक कमलोद्भव ब्रह्मा से पूर्व जलोत्पादन की सम्भावना से, जड़ पदार्थों में वेद का अधिष्ठानत्व असम्भव होने पर अग्नि वायु आदित्य आदि जीव विशेष ऋषियोंके लिए ही प्रभु ने वेदों का ज्ञान प्रदान किया, यही बात संगत है।

इसके अतिरिक्त इस स्थल पर आपकी विरोधी उक्तियां हैं जैसे कि:—

'वेदों का बाहुल्य से यज्ञ अर्थ ही मुख्य है' यह तथा 'परम्परा से सभी वेद ब्रह्मपरक ही हैं' यह विरोधी उक्तियां हैं। पहली उक्ति से केवल यज्ञ-परक वेद-भाष्य करने वाले सायण, महीधर आदि की आप पुष्टि कर रहे हैं

वेदो ब्रह्मपर एवेति" द्वितीयोक्त्या महर्षिदयानन्द-सम्मतानां भूगोल-विज्ञान-गणिताद्यखिल-ज्ञान-विज्ञानाधिष्ठानानां वेदानां सर्व-विद्या-प्रतिपादकत्वे प्रहार-चेष्टामेव ईहते कर्त्तुम्। वे. पा. ५०१ पृष्ठे च-यदपि-'येषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद् द्वारा प्रकाशिताः' इति 'भूमिका' वचनं भवताऽसंगतं प्रोक्तं, तत्समाधानं तु पूर्वमेवोपन्यस्तम्।

वे. पा. ४९७ तमे पृष्ठे १२ तमायां पङ्क्तौ 'तथैव त्रिष्वपि वेदेषु सारभूतास्त्रयो व्याहृतयो भवन्ति' इति वाक्ये त्रय इति पदं पुंसि व्याकरण-दोष-दुष्टम्, व्याहृति-शब्दस्य नित्य-स्त्री-लिङ्गत्वात् तद्विशेषणस्य त्रिशब्दस्यापि स्त्रीलिङ्गे एव प्रयोगावश्यकत्वात्, तदेवं अहो नु खलु ये साधारण-शब्दानामपि लिङ्गज्ञानं न दधति तेऽपि वेद-भाष्य-कारस्य महर्षि-दयानन्दस्य वैदुष्यं दूषयितुं प्रवृत्ता इति महदाश्चर्यम्!

वे. पा. ५०१ तमे पृष्ठे २ ये अनुच्छेदे यच्चोक्तम् :—"परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, पुनस्तेनैव प्रणीताः वेदाः 'इति तदपि मन्दं, ज्ञानस्य गवादिवत् मूर्त्तत्वाऽभावेन, स्वस्वत्वनिवृत्ति-पूर्वकपर-स्वत्वोपपादन-

और दूसरी उक्ति से ऋषि-दयानन्द सम्मत भूगोल और गणित आदि निखिल-ज्ञान, विज्ञान के अधिष्ठान वेदों की सर्व-विद्यावत्त्व...प्रतिपादकता पर प्रहार करने की कुचेष्टा कर रहे हैं। वे० पा० पृष्ठ ५०१ पर "और जो कि" जिनके ज्ञान के मध्य में प्रेरणा करके उनके द्वारा वेद प्रकाशित किये (भूमिका)। यह कथन भी असङ्गत है।" महोदय, इसका समाधान पूर्व ही किया जा चुका है।

वे० पा० के ४९७ पृष्ठ की १२ वीं पंक्ति में 'तथैव त्रिष्वपि वेदेषु सार-भूतास्त्रयो व्याहृतयो भवन्ति' इस वाक्य में त्रयः यह पद पुंलिंग में व्याकरण-दोष से दूषित है, क्योंकि व्याहृति शब्द नित्य स्त्रीलिंग है उसके विशेषण त्रिशब्द का भी प्रयोग स्त्रीलिंग में ही होना चाहिये, पुंलिंग में नहीं।

यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि जो लोग साधारण शब्दों का भी लिङ्ग ज्ञान नहीं रखते वे वेद-भाष्यकार महर्षि दयानन्द के वैदुष्य को दूषित करने चले हैं!

वे० पा० ५०१ अनु० २, आक्षेप—"परमेश्वर ने उन्हें ज्ञान दिया, अतः उसी ने वेद बनाये" कथन भी मन्द है, क्योंकि ज्ञान में गौ आदि के समान मूर्तिमत्ता का अभाव होने से अपने स्वत्व की निवृति-पूर्वक दूसरे के स्वत्व का

रूप-दानाऽसम्भवात्, । तज्ज्ञानं नेश्वरस्य, दत्ता गौर्न दातुर्भवति" इति यत्प्रोक्तं तत्समाधानम् ।

अत्र मन्दमिति वचनं मन्ददृश एव सम्भवति । 'गवादिवत् मूर्त्तत्वाऽभावे ज्ञानस्य दानाऽसम्भवात्' इत्याक्षेपस्तु व्याकरणरहस्यानभिज्ञत्व-द्योतकः, यतोहि 'महाभाष्यकारमते नान्वर्थतायामाग्रहः, यथाः—'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटिकां ददाति' इति प्रयोग-दर्शनात्,इहापि या चपेटा सा मूर्तिमती, साऽपि शिष्याय स्वस्वत्व-निवृत्ति-पूर्वकं दातुं न शक्यते ।

वस्तुतस्तु चपेटा-प्रहारे यत्पीडनममूर्तिमद् वर्त्तते तत्रैव वाक्यस्याभिप्रयणम् । लोकेऽपि 'पिता पठन-शीलाय पुत्राय पुस्तकं ददाति' इत्यत्र भवन्मते किमेषोऽभिप्रायो यत् पितुः प्रदत्त-पुस्तकस्योपरि स्वत्वं नावशिष्टम् ? कदापि नैव, इह तु व्यवहारासङ्गतत्वमेव कथयितुमुचितम् ।

अपि च 'मित्रं कस्मैचिन्मित्राय —'आनन्दं ददाति' इति वाक्ये नैष भावो यत् स्वानन्दस्य निवृत्ति-पूर्वकं दानं तेन क्रियते इति । नापि

उपपादन रूप दान यहाँ असम्भव है, अतः वह ज्ञान ईश्वर का नहीं, जैसे दी हुई गाय देने वाले की नहीं होती ।"

इसका समाधान यह है कि गौ आदि की तरह मूर्त्तत्व के अभाव में ज्ञान का दान असम्भव है' यह आक्षेप व्याकरण के रहस्य की अनभिज्ञता का सूचक है, क्योंकि महाभाष्यकार के मत में दान की अन्वर्थता में आग्रह नहीं है जैसेः—'खण्डिकोपाध्याय शिष्य के लिए चपेटिका (थप्पड़) देता है' यह प्रयोग देखा गया है; यहाँ पर भी जो चपेटा है वह मूर्तिमान् है वह भी शिष्य के लिए स्व-स्वत्व-निवृति पूर्वक नहीं दिया जा सकता ।

वस्तुतः चपेटिका-प्रहार में जो पीड़न है अमूर्तिमत् है उस वाक्य का उसी से तात्पर्य है। लोक में जब पिता पठन-शील पुत्र के लिए पुस्तक देता है तब क्या आपके मत में अर्थ होगा कि पिता का उस पुस्तक के ऊपर स्वत्व शेष नहीं रहा ? परन्तु यह व्यवहार सङ्गत नहीं, क्योंकि जब एक मित्र दूसरे मित्र के लिए आनन्द देता है, तब इसका यह भाव नहीं होता है कि वह अपने आनन्द का स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक दान कर रहा है । कुतर्क के द्वारा यह तत्व समझा नहीं

कुतर्केणेदं तत्त्वमवबोद्धुं शक्यते। स्वत्वस्य निवृत्तिस्तु द्रव्य-त्यागे एव सम्भवति तथा चोक्तं 'सम्प्रदानं स्वत्वापादक-द्रव्य-त्यागो दानमिति न च ज्ञानं द्रव्यं, तस्येश्वरगुणत्वात्।

अथवा नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति त्रिविधं दानमुच्यते, तत्र त्रिविधेषु दानेषु वेद-ज्ञानं तु नित्यकोटिकमेव दानमिति बोध्यम्।

भगवता भाष्यकारेण पतञ्जलिनाऽपि न काचित् मूर्त्तामूर्त्त-कल्पना समादृता दाने। येन ज्ञानस्यामूर्त्तत्वेन दानेऽपि न सम्भवापत्तिः कल्प्येत। अपि च भवद्-गालिदानेऽपि-अन्येन तद्ग्रहणे कथं नाम स्वस्वत्व-निवृति-पूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं कर्त्तुं शक्यम्?

यदप्युक्तं महर्षिणा 'वेदाः ईश्वरस्यैवेति' तत्राऽयमभिप्रायः यन्मूल-ज्ञानं परमात्मन एव, न तत्र अग्न्यादिभिः ऋषिभिः स्वसंस्कार-जनितं किमप्यन्यत् ज्ञानं मेलितमिति। सर्वज्ञस्य परेमश्वरस्य ज्ञानं तु सर्वदा सर्वथा परिपूर्णमेव भवति।

तत्त्वतस्तु अमूर्तस्य वेदरूप-ज्ञानस्य दाता परमात्माऽपि अमूर्त

जा सकता है। अपने स्वत्व की निवृति तो द्रव्य के त्याग मे ही संभव है। जैसा कि कहा भी है:—सम्प्रदान स्वत्वापदक द्रव्य का दान ही है, परन्तु ज्ञान द्रव्य नहीं, क्योंकि वह ईश्वर का गुण है। अथवा दान, नित्य-नैमित्तिक, तथा काम्य तीन प्रकार का कहा जाता है। इसके अनुसार वेद ज्ञान नित्य प्रकारक है।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने भी दान के विषय में कोई मूर्त या अमूर्त की कल्पना नहीं मानी है। जिससे कि ज्ञान की अमूर्तता की स्थिति में दान की असम्भवता मानी जावे। आपके द्वारा ऋषि के लिए धृष्ट आदि गाली देने पर और अन्य से उसके ग्रहण न करने पर स्व स्वत्व निवृत्ति-पूर्वक पर स्व-त्वोत्पादन कैसे सम्भव हो सकता है? केवल तदर्थ चेष्टा-मात्र तो कही जा सकती है।

ऋषि ने कहा है कि "वेद ईश्वर के ही हैं" इसका अभिप्राय यह है कि मूल ज्ञान परमात्मा का ही है, उसमें ऋषियों की स्वसंस्कार-जनित मिलावट नहीं है। सर्वज्ञ का ज्ञान तो सर्वथा परिपूर्ण होता है।

तत्त्वतः वेद-रूप अमूर्त ज्ञान का दाता परमात्मा भी अमूर्त ही है, प्रति-

एव । अपि च बाह्येन्द्रियसाधनत्वाऽनुपयोगे ज्ञानस्य प्रतिग्रहीता निर्मलात्मा जीवोऽपि अमूर्त एव। अतोऽत्र शङ्काक्लेशलेशोऽपि नोपपद्यते।

एकस्य जीवस्य ज्ञानमपरस्मिन् सङ्क्राम्यतीति वैज्ञानिक-प्रयोग-परिणाम-जन्यं प्रत्यक्षं प्रात्यहिकमेव । बुद्ध्या नैमित्तिक-ज्ञान-ग्रहणस्य स्वाभाविक-धर्मत्वात् ।

वे. पा. ५०१ तमे पृष्ठे ३ ये अनुच्छेदे यदप्युक्तं "यदि वेदा ज्ञानरूपा एव तर्हि ज्ञान-विषयकं ज्ञानमनुव्यवसायात्सकमन्यद्वा ? नान्यद्, अप्रसिद्धेः, न पूर्वम्, अनुव्यवसायस्य व्यवसायाधिकरणत्व नियमात्" इति, तदपि तर्क-शास्त्र-संगत-प्रत्यक्ष-लक्षण-सूक्ष्मत्वाऽनभि-ज्ञत्व-सूचकमेव, तथा हि : —

अत्र यस्य ज्ञानस्य चर्चा प्रचर्च्यते, तज्ज्ञानम् ईश्वरस्य, ऋषीणां शुद्धान्तःकरणैः प्रत्यक्षीकृतम् । बाह्येन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-ज्ञाने एव मनसा अनुव्यवसायस्य आवश्यकत्वं, न तु जीवात्मस्थपरमात्म-ज्ञानोपलम्भे अनुव्यवसायात्मकता अपेक्ष्यते । इन्द्रिय-व्यवसित-ज्ञानस्यैव मन-साऽनुव्यवसीयमानत्वात्, तथा च न्यायशास्त्रे (१।१।४) सूत्रे वात्स्यायने-नोक्तं, 'अनिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजं हि तत्' इति इन्द्रियस्य वै सतः मनसः

ग्रहीता जीव भी अमूर्त ही है इस प्रकार यहाँ शङ्का का लेश भी नहीं रह जाता। एक जीव का ज्ञान दूसरे को प्राप्त होता है यह वैज्ञानिक प्रयोग का परिणाम-जन्य प्रत्यक्ष है, जिसको हम नित्यप्रति देखते हैं । बुद्धि द्वारा नैमित्तिक-ज्ञान का ग्रहण करना स्वाभाविक-धर्म है ।

वे० पा० के ५०१ पृष्ठ पर ३ य अनुच्छेद में आपने यह जो कहा कि— "यदि वेद ज्ञान रूप ही हैं, तो ज्ञान विषयक ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है या अन्य ? अन्य तो है नहीं, क्योंकि अन्य की अप्रसिद्धि है । और पहला, अनुव्य-वसायात्मक भी नहीं, क्योंकि अनुव्यवसाय भी व्यवसाय के बिना नहीं बनेगा ?" सो यह तर्क-शास्त्र संगत प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की सूक्ष्मता के न जानने का सूचक है क्योंकि:—

यहाँ पर जिस ज्ञान की चर्चा है, वह ईश्वरीय-ज्ञान ऋषियों के निर्मल अन्तःकरणों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है। बाह्य इन्द्रिय विषयक सन्निकर्ष-ज्ञान में

इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्, भौतिकानीन्द्रियाणि नियत-विषयाणि, मनस्त्वभौतिकं सर्व-विषयं च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभावः" इति।

अतएव आत्मादिषु सुखादिषु च एतदेव प्रत्यक्षलक्षणं सङ्घटते। ईश्वर-ज्ञान-प्रत्यक्षे तु ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारि-जाति-शून्य-ज्ञानस्यैव लक्षणस्य अङ्गीकृतौ न कश्चिद्दोषः।

भगवन्, यदि भवन्मते आनुपूर्वी-विशिष्टा शब्दराशिरूपा विद्यैव वेदाः, तदापि भवदुद्भाविता आरोपा असमाहिता एव स्थास्यन्ति, एवं स्थितौ भवत्पक्षे किं समाधानं भविष्यति ? दायित्वं तु सममेव आवयोः, सर्गादौ वेदज्ञानस्य प्राप्ति प्रक्रियायाः आवाभ्यां समान-रूपेण स्वीकारात्। अतो न ततो भवत्पलायनं युक्तम्।

मन के द्वारा अनुव्यवसाय की आवश्यकता होती है, परन्तु जीवात्मस्थ परमात्म-ज्ञान की प्राप्ति में अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की आवश्यकता नहीं।

इन्द्रिय-व्यवसित-ज्ञान की ही मन के द्वारा अनुव्यवसीयमानता होती है जैसा कि न्यायदर्शन के १।१।४ सूत्र के वात्सायन-भाष्य में लिखा है:—वह ज्ञान तो अनिन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न है' मन इन्द्रिय होते हुए भी, धर्मभेद से, इस मन का इन्द्रियों से पृथक् उपदेश किया गया है। इन्द्रियां भौतिक और नियत विषय वाली हैं, मन तो अभौतिक और सर्वविषयक है। इस सगुण मन का इन्द्रियभाव नहीं माना गया।" इसीलिये आत्मादि और सुखादिकों में यह प्रत्यक्ष लक्षण घटित होता है ईश्वरीय-ज्ञान के प्रत्यक्ष में ज्ञानकरणकत्व अव्यभिचारी जाति शून्य ज्ञान वाले लक्षण के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं आता।

महाराज, यदि आपके मत में वर्णों के अनुक्रम से युक्त शब्द समूह रूप ज्ञान ही वेद है, तब भी आपके द्वारा उद्भावित दोषों का कुछ समाधान नहीं। ऐसी स्थिति में आपके पक्ष में क्या समाधान होगा यह तो आप ही जानें, परन्तु जब सृष्टि के आदि में वेदज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया हम दोनों ने समानरूप से एक सी स्वीकार की है दोनों का दायित्व समान है फिर, आपका पलायन ठीक नहीं ?

अपि च अनेकेषु स्थलेषु वेदवाचीविद्याशब्दोऽपि ज्ञानपर्याय एव तथा हि :—अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्' (ऐत. २५।९) इति। किं च 'त्रयी विद्या' (शत. ४।६।७।१)। अथ च स तां त्रयीं विद्यामध्यतपत् (छान्दो. ४।१६।३)। अथापि विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम (निरु. २।१) इत्यादिषु बहुषु स्थलेषु विद्या शब्द-प्रयोगः वेदज्ञान-पर्यायित्वे एव दृश्यते। अतो महर्षिदर्शितदिशा सर्व-समाधान-संभवः।

यच्चोक्तं भवता यद् अनुव्यवसायात्मक-ज्ञानाद् भिन्न-ज्ञानस्य अप्रसिद्धिरिति, तदपि न्याय-शास्त्राऽनभिज्ञानमेव भवतः, यतो हि न्याय-शास्त्रानुसारं प्रत्यक्षे प्रथमतो घटादौ घटत्वादि-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं जायते, तच्च निर्विकल्पकं ज्ञानमुच्यते। भगवन्, तदेवं न केवलं भारतीय-दर्शने अपितु पाश्चात्यदर्शनेऽपि उद्देश्य-विधेयात्मकं वाक्यमेव ज्ञानं मन्यते। फलतः प्रत्यक्षात्पूर्वं विशेषण- विशेष्य-पूर्वकं ज्ञानमेव प्रत्यक्ष-ज्ञाने कारणं, तच्च प्रसिद्धमेव।

इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर जहां विद्या शब्द वेद वाची है वहाँ वह ज्ञान का ही पर्याय है जैसे कि:—'अथ केन'···अर्थात् ब्रह्मत्व किससे किया जाता है? इसका उत्तर त्रयीविद्या से (ऐत. २५।१९) ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है और 'त्रयीविद्या' तीन विद्यायें (तीन वेद) यह शतपथ ब्राह्मण में कहा है तथा अथ च स तां' अर्थात् उसने त्रयीविद्या (तीन वेदों) के लिए तप किया, यह छान्दोग्य में कहा है, तथा विद्या ह वै 'विद्या (वेद-विद्या) ब्राह्मण के समीप गई' यह निरुक्त में कहा गया है इस प्रकार इन सब स्थलों में विद्या शब्द वेद-ज्ञानवाची ही है। अतः हमारा पक्ष निर्दोष है।

और आपने यह जो कहा कि—अनु-व्यवसायात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान की अप्रसिद्धि है, सो यह भी न्यायशास्त्र से अनभिज्ञता ही है क्योंकि न्याय-शास्त्र के अनुसार पहले घटादि में घटत्वादि विशिष्ट का अवगाहन करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है जो निर्विल्पक कहलाता है। महाराज, इस प्रकार न केवल भारतीय दर्शन में अपितु पाश्चात्य-दर्शन में भी उद्देश्य विधेयात्मक वाक्य ही ज्ञान माना जाता है। अतः प्रत्यक्ष से पूर्व विशेषणविशेष्य-पूर्वक ज्ञान ही प्रत्यक्ष-ज्ञान में कारण है और वह प्रसिद्ध है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१८) के प्रमाण को प्रस्तुत कर आपने

श्वेताश्वतरोपनिषदः (६।१८) स्थलं प्रस्तुत्य भवता यदुक्तं "साक्षात् परमेश्वरेणैव ब्रह्मणो वेद-प्रेषणस्योक्ततत्वात्' यथा हि यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादि" ।

अत्रेयं जायते विचारणा यत् 'कोऽयं ब्रह्मा' ? किमयं चतुर्वेदविद् ब्रह्मा ? उत कश्चिदन्यः ? नाद्यः, वेदज्ञानाऽऽदानात्पूर्वं ब्रह्मेति-नाम्नो ऽसम्भवात् । छान्दोग्योपनिषदनुसारं च ब्रह्मणः उत्पत्तेरनन्तरं वेदज्ञान-दानस्य समुल्लेखात्, कस्यचिदैतिहासिकस्यै-वात्र ब्रह्मणः भवदभीष्टत्वात् । अथापि नान्यः, तादृक्प्रमाणाऽनु-पस्थानात् ।

तदेवं ब्रह्मणः उत्पत्तौ निर्विवादैकसम्मतेरभावात्, सर्वैश्च भाष्य-कृद्भिः अग्न्यादिभ्यः पूर्वं तस्योत्पत्तेरव्याख्याततत्वाच्च, श्वेताश्वत-रोपनिषदोऽयमभिप्रायः यत् 'स परमात्मा ब्रह्माणं तं विदधाति यस्मै वेदान् प्रहिणोति गमयति इति । अपि चात्र 'पूर्वम्' इति शब्दः सापेक्षः, तदाऽयमाशयः यत् श्वेताश्वतरोपनिषदः रचयितुः पूर्वं कस्यचिद् ब्रह्मण उत्पन्नत्व-संभवः ।

कहा—"साक्षात् परमेश्वर ही वेद के उपदेष्टा माने गये हैं, जैसे कि जो पहले ब्रह्मा को बनाता है और उसको वेद का उपदेश करता है इत्यादि" । यहां पर यह बताइये कि यह ब्रह्मा कौन है ? क्या यह चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा है या कोई और ? प्रथम तो हो नहीं सकता, क्योंकि वेद ज्ञान के प्रदान से पूर्व ब्रह्मा नाम की कोई वस्तु सम्भव नहीं ? छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा की उत्पत्ति के अनन्तर वेद-ज्ञान के दान का समुल्लेख है, आपको तो यहाँ कोई ऐतिहासिक ब्रह्मा ही अभीष्ट है । सो अन्य ब्रह्मा भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा प्रमाण आपने कोई उपस्थित नहीं किया । इसलिये ब्रह्मा की उत्पत्ति में निर्विवाद-रूप से एक सम्मति का अभाव और सब भाष्य-कारों के द्वारा अग्नि आदि से पूर्व उसकी अनुपपत्ति का कथन किया गया है अतः इस स्थल का यह आशय है कि वह परमात्मा उस ब्रह्मा का निर्माण करता है जिसके लिये वेदों को बनाया ।

यहां पर "पूर्व" शब्द सापेक्ष है अर्थात् उपनिषद् के रचयिता की अपेक्षा, ब्रह्मा के पूर्व उत्पन्न होने की सम्भावना है, ऐसा आशय है और गायत्री

किं च गायत्र्युपनिषदि अपि 'वेदाद् ब्रह्मा भवति' इति प्रोक्तम्। ऋग्वेदेऽपि 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां (१०।१७।११) इत्यस्य प्रसङ्गे सायणाचार्येणापि स्व-भूमिकायां लिखितं 'ब्रह्मैको जाते-जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविदिति।

अस्याऽयमभिप्रायः यत् 'ब्रह्मनामा एक ऋत्विक् जाते-जाते तदा-तदा समुत्पन्ने (प्रस्तुते) प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति। स च ब्रह्मा सर्व-वेदोक्त-कर्माभिज्ञः इति। किञ्च गोपथे। (२।२४) अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्' इति प्रोक्तम्।

भगवन्, यदि ब्रह्मा पूर्वतोऽस्ति, तदा न वेद-प्रेषणस्यावश्यकता तस्मै। अथ च यस्मै कस्मैचिदेव वेद-ज्ञानं प्रेषितं, तदा सोऽपि ब्रह्मेति पदवी-भाक् स्यात्। वस्तुतस्तु न रूढिगतस्य ऐतिहासिकस्य ब्रह्मणोऽत्र चर्चा। न च माध्यमेन विना प्रेषणं सम्भवति। प्रषणस्य च पूर्व-चर्चितं सङ्क्रमणमित्येवार्थः।

अपि च निकेतनार्थकात्-आमन्त्रणार्थकाच्च 'पूर्व' धातोरस्य'पूर्व'-शब्दस्य-सिद्धौ पूर्वमृषीणःमान्त्रयितारं 'विदधाति' विशेषेण धारयति

उपनिषद् में भी वेदों के कारण ही ब्रह्मा कहलाता है, कहा है। ऋग्वेद में भी 'ब्रह्मात्वो वदति···इस ऋचा के प्रसंग में सायणाचार्य ने लिखा है कि—ब्रह्मा नामक ऋत्विक् जब तब प्रणयन आदि कर्मों में अनुज्ञा करता है। वह ब्रह्मा सब वेदोक्त कर्मों का ज्ञाता होता है।

महाराज, यदि आपके अनुसार ब्रह्मा वेदों के पहले से ही होता है तो उसके लिए वेदों के प्रेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं। और यदि जिस किसी के लिए परमात्मा वेद ज्ञान देता है तो उसकी पदवी भी 'ब्रह्मा' ही होती है' ऐसा मानना होगा।

वास्तव में यहां रूढिगत ऐतिहासिक ब्रह्मा की चर्चा नहीं है और न ही बिना माध्यम के वेदों का प्रेषण संभव है। प्रेषण का अर्थ संक्रमण ही है।

इसके अतिरिक्त निकेतन तथा आमन्त्रण अर्थ वाली पूर्व' धातु से 'पूर्व शब्द की सिद्धि करने पर पूर्वम् अर्थात् ऋषियों के आमन्त्रयिता को 'विदधाति' विशेष रूप से धारण करता है अथवा पोषण करता है, यह अर्थ संभव है। और 'प्रहिणोति' क्रिया में प्रेरणार्थक णिजर्थ निहित होने से "प्रेरित करता है" ऐसा अर्थ है।

पोषयतीति वेति अर्थसम्भवः। 'प्रहिणोति' इत्यत्र च अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् प्रेरयतीत्यर्थः ।

न चाऽत्र 'अकथितंचेति सूत्रेण 'तस्मै' इत्यत्र कर्मत्व-सम्भवः, भगवतः पतञ्जलेः पूर्वम् एतस्य हि धातोः द्विकर्मकधातुषु पाठाऽभावात् ।

अपि च श्वेताश्वतरोपनिषत्कृतः भगवतः पतञ्जलेः पूर्वं समुत्पन्नत्वात्, अग्न्यादीनामृषीणाम् सर्गादौ वेद-ज्ञान-दानाऽनङ्गीकारे च सर्वशास्त्र-विरोधापत्तेः । किञ्च ब्रह्मणा सर्गादौ वेद-प्रकाशनं कृतमितिमत्वा न किमपि वैदिकं प्रमाणं भवता समुपन्यस्तम् । अत्रहि आचार्यशङ्करोऽपि 'ब्रह्म' इत्यस्य 'हिरण्यगर्भ' इत्येवार्थं व्यधत्त, न भवदभिमतं व्यक्ति-विशेषं कमपि प्रत्यपादयत् ।

भवांस्तु अनिर्णीत-सिद्धान्तः, क्वचिद् वेदानां कर्त्तारमीश्वरं, क्वचित्प्रजापतिं, क्वचित् हिरण्यगर्भं प्रतिपादयन् संशयाटव्यां पर्यटन् वे० प० ४०२ तमे पृष्ठे च अर्धोक्त्या अग्न्यादीनपि स्वीकृतवान् । परं वयं तु सायणोक्तं 'प्रेरकत्वेन ईश्वरोक्तं निर्मातृत्व'मनुमोदामहे ।

और यहाँ 'अकथितं च' इस पाणिनीय सूत्र से "तस्मै" पद का कर्मत्व संभव नहीं, क्योंकि पतञ्जलि से पहले इससे सम्बद्ध हि धातु का द्विकर्मक धातुओं में पाठ नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषत्कार श्री पतञ्जलि से पूर्व उत्पन्न हुये थे, दूसरे यह कि अग्नि आदि ऋषियों को वेदज्ञान देना स्वीकार न करने पर सब शास्त्रों का विरोध भी खड़ा हो जाता है, और वैदिक साहित्य में कोई भी ऐसा प्रमाण भी नहीं कि तुम्हारे कथित ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाशन हुआ ।

आचार्य शंकर ने उक्त स्थल में ब्रह्म शब्द का अर्थ "हिरण्यगर्भ" किया है आपका अभिमत व्यक्ति विशेष नहीं ।

इस प्रकार अनिर्णीत सिद्धान्त वाले आप संशय स्थिति में कभी वेदों का कर्त्ता ईश्वर को, कभी प्रजापति को, कभी हिरण्यगर्भ को बनाते हैं, तो कभी वे० पा० की पृ. ४०२ की अर्धोक्ति से अग्नि आदि को भी स्वीकार कर बैठते हैं

किञ्च 'तामन्वविन्दद् ऋषिषु प्रविष्टाम्' (१०।७०।३) इति ऋक्प्रतिपादित एव ,अस्मत्-सिद्ध-राद्धान्तः इति मन्यामहे।

यच्च भवता ऋषिभाष्यभूमिकायाः 'प्रेरयित्वा' इति प्रयोगे यः आक्षेपः कृतस्तदत्र समाधीयतेः—महर्षिदयानन्दो न केवलं पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रस्य विशेषज्ञ आसीत् अपि तु समस्तोपलब्ध-व्याकरण-ग्रन्थ-निचयानां मर्मज्ञ आसीत्। तस्य पद-प्रयोग शैली रामायण-महाभारत समवृत्तिका आर्षग्रन्थ-प्रयोग-तुल्यतां भजते।

ननु 'प्रेरयित्वा' इत्यत्र प्रपूर्वकाद् ईर्धातोः समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वोल्यप् (७।१।४७) इति सूत्रेण ल्यपि कृते 'प्रेर्य' इत्येव रूपं साधु, न तु 'प्रेरयित्वा' इति चेन्न रामायणमहाभारतादौ अपि उपसर्ग-पूर्वकत्वेऽपि धातोः परे क्त्वि ल्यब्भावो न दृश्यते तथा हि :—

महाभारते—नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणोय शिक्षां च, **प्रणयित्वा** च गालवः॥
(शा० मो० पर्व ३४२।१०१।२)

हम तो सायणोक्त इस कथन को, प्रेरक होने के कारण भगवान वेदों का निर्माता है' अनुमोदित करते हैं तथा 'तामन्वविन्दत्'···इत्यादि ऋग्वेदीय प्रमाण से वेदवाणी का ऋषियों में प्रविष्ट होना सिद्ध है, यही सत्य सिद्धान्त मानते हैं।

आपने 'भाष्यभूमिका' के प्रयोग 'प्रेरयित्वा' पर जो आक्षेप किया है उसका यह समाधान है कि महर्षि दयानन्द न केवल पाणिनीय शास्त्र के विशेषज्ञ थे, अपितु समस्त समुपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे उनकी पद प्रयोग शैली रामायण महाभारत के समानवृत्ति वाली है। आर्ष ग्रन्थों के तुल्य है। महर्षि के प्रेरयित्वा प्रयोग के बदले प्र पूर्वक ईर् धातु से बनने से समास होने पर क्त्वा के स्थान में ल्यप् होने पर प्रेर्य ही बनना चाहिए' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि रामायण महाभारत आदि में भी उपसर्ग पूर्वक धातु से परे क्त्वा को ल्यप् भाव नहीं भी दीखता है। जैसे कि—

'नारायणाद् वरं लब्ध्वा'···'प्रणयित्वोवाच गालवः इस स्थल में 'प्रणयित्वा' और रामायण में 'रामो राज्यमुपासित्वा' में 'उपासित्वा' स्थल में इसी प्रकार उत्स्मयित्वा तथा विसर्जयित्वा आदि प्रयोगों में क्त्वा को ल्यप् नहीं किया गया

रामायणे—रामो राज्य**मुपासित्वा** ब्रह्म लोकं प्रयास्यति । (रामा०) एवमुपासित्वा (१।२।९६) 'उत्स्मयित्वा' (रा. १।१ ६२) विसर्जयित्वा (रा. १।८।२२) इति च प्रयोगाः दृश्यन्ते ।

भगवन्, भवत्प्रमाणीभूते भागवतेऽपि तृतीयाध्याये 'एकादशं परिश्रुत्वाऽप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत्' इत्यत्र परिश्रुत्वेतिप्रयोगः, अपि च आश्वलायनगृह्यसूत्रे '**प्रत्यसित्वा** प्रायश्चित्तं जुहुवुः' इत्यत्र च प्रत्यसित्वा' इति प्रयोग-दर्शनात् आर्षग्रन्थेषु वहुत्र क्त्वो न ल्यब् दृश्यते । अतः प्रेरयित्वा' इत्यत्रापि न शङ्कास्थानम् ।

अपि च पाणिनीय-धातुपाठे संग्राम युद्धे, निवास आच्छादने इत्यादि समाद्युपसर्ग-युक्त-धातु-प्रयोग-दर्शनात् तद्वत् प्रेर् इत्यपि धातुः सम्भाव्यते । किञ्च यद्येवमपि न स्वीक्रियेत— वैयाकरणैः उपसर्गस्य धातोश्च सम्वन्धे नियमद्वयमाद्रियते :—

१ पूर्वं हि धातुरूपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन इति प्रथमः ।
२ पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण इति द्वितीयः ।।

तत्र प्रेरयित्वा इत्यत्र द्वितीय-नियमेन, पूर्वं धातोः साधनेन योगे ईरयित्वेति जाते पश्चात् "प्र" उपसर्गेण योगे 'प्रेरयित्वा' इति साधु । अतो न शङ्कास्थानमत्र ।

है । इसी प्रकार भागवत पुराण में 'एकादशं परिश्रुत्वा' में परिश्रुत्वा तथा आश्वलायन गृह्य-सूत्र में 'प्रत्यसित्वा प्रयोग मिलने से सिद्ध है कि आर्ष ग्रन्थों में बहुत्र क्त्वा को ल्यप् नहीं भी किया जाता है । अतः तद्वत् यहां भी ऋषि प्रयोग प्रेरयित्वा में भी शंका करना व्यर्थ है ।

अथवा पाणिनीय धातुपाठ में, संग्राम युद्धे, निवास आच्छादने, इत्यादि उपसर्ग युक्त जैसे धातु प्रयोग मिलते हैं इसी प्रकार प्रेर् धातु का प्रयोग संभव है । क्योंकि कुछ धातुयें पणिनीय धातु पाठ से बाहर की भी प्रयुक्त मिलती हैं यदि यह बात भी न मानी जाये तो वैयाकरण जन उपसर्ग और धातु के सम्बन्ध में नियमद्वय का प्रतिपादन करते हैं ।

नं. १ पहले धातु उपसर्ग से मिलती है फिर साधन से ।
नं. २ पहले धातु साधन से मिलती है फिर उपसर्ग से ।

इस प्रकार द्वितीय नियम के अनुसार ईर् और त्वा का योग करने पर

अपि च निभाल्यतां भगवन् पुराणेषु तु न केवलं ल्यप्प्रत्ययव्यत्ययाः अपितु परस्मैपदआत्मनेपदादिप्रयोग-व्यत्ययाः अपि दृश्यन्ते तथाहि :—

क—**पठस्व** स्वमुखेनाऽपि, यदीच्छसि भव-क्षयमिति (प. पु. ।
ख—कलौ त्वमेकैव जगद्धिताय, **भविष्यसे** नारदसंप्रणीता ।
(प. पु.)

इत्यत्र पठस्वेति भविष्यसे इति च पदव्यत्ययः स्पष्टमेव । अपि च श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर सौख्यं लभिष्यसे । इत्यत्र लप्स्यसे इति स्थाने लभिष्यसे इति इड्व्यत्ययः ।

तदेवं पद्मादिपुराणेषु बहुत्र व्यत्यये प्राप्ते किं समाधानं भवत्समीपे ? न किमपि चेदलमाक्षेपेण महर्षिषु ।

भगवन्, महदाश्चर्यं यत् भूमिकागतं सर्वं बुद्धिसङ्गतमपि भ्रान्तशिरस्कं श्रीमन्तम् असम्बद्ध प्रलपितमिव च आभाति । वे. पा. ५०२ तमे पृष्ठे चतुर्मुखेन (ब्रह्मणा) वेदाः निरमायिषत' इति यदुक्तं तन्न साधु । एतस्य वाक्यस्य ऐतिह्यप्रमाणान्तर्गतत्वाऽभावात् । ऐतिह्यं

फिर उपसर्ग का योग करने पर प्रेरयित्वा बन सकता है । अतः यह व्याकरण शंका निर्मूल हो जाती है ।

और महाराज पुराणों में तो ल्यप्प्रत्यय ही क्या परस्मैपद आत्मनेपद आदि के भी व्यत्यय मिलते हैं जैसे कि—पद्म पुराण में 'पठस्व स्वमुखेन' में पठस्व के प्रयोग में और जगत्धिताय भविष्यसे में 'भविष्यसे' प्रयोग में परस्मैपद का व्यत्यय है । इसी प्रकार सौख्यं लभिष्यसे में 'इट् का नियम-व्यत्यय है । इस प्रकार आपके पास इन सबका क्या समाधान है ? यदि कुछ नहीं तो फिर ऋषि के आर्ष प्रयोग प्रेरयित्वा पर भी शंका करना व्यर्थ है ।

महाराज यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आपको 'भाष्य भूमिका' में सब कुछ असम्बद्ध और प्रलापमात्र दिखाई पड़ता है । आपने वे० पा० के० पृ० ५०२ पर 'चतुर्मुख ब्रह्मा के द्वारा वेद बनाये गये' कहा है । सो ठीक नहीं यह आपका कथित वाक्य ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत न होने से मान्य नहीं । जो ऐतिह्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत हो, वही मान्य होता है । शब्द प्रमाण में आप्तों के उपदेश को ही माना है । अतः यह आपका कथन आप्त-कथन न

तु शब्दप्रमाणान्तर्गतमेव प्रमाणम् (न्या. २।२।२) शब्दप्रमाणं च 'आप्तोपदेशः शब्दः' इति परिभाषितम्। अतोऽत्र भवतः चतुर्मुखेन वेदोत्पत्ति-कथनं न शब्द-प्रमाणार्हम्, ईदृश-कथनस्य आप्तोक्तवाक्य-स्यानन्तर्गतत्वात्।

यच्चाप्युक्तं भवता 'प्रत्यक्षाद्यधिगतं सत्यमपि ऐतिह्यत्वे ग्रहीष्यते' इति तु प्रलापमात्रम्। यतोहि :— यन्नाम प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन गृहीतं तस्यापि अनुमानोपमिति-शब्दप्रमाणानयने किमर्था क्लिष्ट-कल्पना ? ऐतिह्यं तु अस्मदाद्यप्रत्यक्षीभूतमेव, ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावे तादृशी एव प्रामाणिकता।

यच्चोक्तं भवता "नानृतस्येत्यपि व्यर्थमेव सत्यस्यैव इत्यवधारणेन गतार्थता" इति। तदिदं बुद्धिविरहितानामिव 'व्यर्थ'-शब्द-समायो-जनवचः, यतोहि ऋषयः द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति न्यायेन अल्पधियां बालानां प्रशिक्षणाय विधित्वेन उक्तमपि निषेध-मुखेन विधेलिममेव दृढयन्ति यथा 'सत्यमेव जयते नानृतम्' इति

वे. पा. ५०३ तमे पृष्ठे १ में अनुच्छेदे 'एवमेव······आश्चर्यमेव"

होने से मान्य नहीं। आपने यह जो कहा कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों से गृहीत सत्य भी ऐतिह्य प्रमाण से ग्रहण किया जायेगा' सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रत्यक्ष से गृहीत है, उसको अनुमान उपमान और शब्द प्रमाणों में पुनः लाने की क्या आवश्यकता ? ऐतिह्य तो हम लोगों से अप्रत्यक्षीभूत ही है। ऐतिह्य के शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होने से उसकी शब्द जैसी ही प्रामाणिकता होती है।

जो आपने यह कहा कि 'भूमिका' में 'सत्यस्यैव' इतना ही कहना ठीक है 'नानृतस्य' इसका कहना व्यर्थ है। सत्यस्यैव इसी से ही सत्य का ग्रहण होगा झूठ का नहीं', यह तो आपकी बात समझ की नहीं, क्योंकि पंडित लोग बालकों को समझाने के लिये विधि (विधान) द्वारा उपदेश करके भी कर्त्तव्य में दृढ़ करने के लिये अकर्त्तव्य का भी निषेध कर देते हैं, जैसे कि सत्यमेव जयते नानृतम् ? अर्थात् सत्य की ही जीत होती है झूठ की नहीं।

ऐतिह्य शब्द से आधुनिक लेखकों का कल्पित इतिहास न ग्रहण किया जाये। अतः ऋषि ने 'भूमिका' में सत्य प्रमाण और आप्तोपदिष्ट इतिहास को ग्रहण करने योग्य माना है विपरीत को नहीं।

इति-प्रसङ्गे अत्र भूमिकायां 'ऐतिह्य' मित्याधुनिक लेखक-कल्पितेतिहासोऽपि ऐतिह्य-शब्देन न गृह्येत लोकैरिति धियोक्तं—"यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद्ग्राह्यं नातो विपरीतमिति।"

महाभाग, अत्र किंगुणकम् ऐतिह्यं ग्राह्यमितिप्रश्ने, सत्यप्रमाणमिति विशेषणात् असत्यप्रमाणंयद् आधुनिक नवीनपुराणानां ब्रह्मवैवर्त्तादीनां-ब्रह्मयमलादि-तन्त्रग्रन्थानां च यदैतिह्यं तन्न ग्राह्यमिति महर्षेरुत्तरम्।

सत्यप्रमाणमित्यत्र च सत्यं प्रमाणं यस्य तत् सत्यप्रमाणमिति बहुव्रीहि-समासः, यद्वा सत्यं च तत्प्रमाणं सत्यप्रमाणमिति कर्मधारयो वा। वेदार्थपारिजातस्य हिन्दीकारस्यात्र द्वन्द्व-समास-स्वीकरणं तु न साधु।

अथापि कश्चिद् आप्त-संज्ञकः पुरुषः किमपि लिखेत् सत्यं च न तत् स्यात्, तस्य ऐतिह्यत्व-निरासाय आप्तोपदिष्टेन सह सत्यप्रमाण' मिति विशेषितम्। यच्चेहोल्लिखितं भवता 'न प्रमाणेऽपरप्रमाणस्यावश्यकताऽनवस्थादोषापत्तेरिति।' तत्तु अस्माकमेव समर्थितः सिद्धान्त स्वीकृतो भवता, यश्च पूर्वं वेद-प्रामाण्यप्रसङ्गे नाऽङ्गीकृतः,

---

महाराज, किस प्रकार का इतिहास ग्रहण हो उसके लिये 'सत्य-प्रमाण' विशेषण देने से जो असत्य प्रमाण आधुनिक नवीन ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयमलादि तन्त्र ग्रन्थ हैं, उनके इतिहास का अग्राह्यत्व सिद्ध हो जाता है।

'सत्यप्रमाण में' यहाँ पर सत्यं प्रमाणं यस्य तत् सत्यप्रमाणम् बहुव्रीहि समास है अथवा सत्यं च तत्प्रमाणम् 'सत्यप्रमाणम्' कर्मधारय समास है। वेदार्थ पारिजात के हिन्दी-कर्त्ता ने यहाँ द्वन्द्व समास को माना है, वह ठीक नहीं।

बात यह है कि यदि कोई आप्त नाम का व्यक्ति कुछ लिखे और वह सत्य प्रमाण वाला न हो तो वह ऐतिह्य कोटि में न आ जाये, इसकी निवृत्ति के लिए 'सत्य प्रमाण' विशेषण की आप्तोपदेश के साथ आवश्यकता है।

जो आपने यह लिखा है कि—किसी प्रमाण में दूसरे प्रमाण की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा, इस प्रकार तो महाराज, आपने हमारा वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जो वेद प्रामाण्य के प्रसङ्ग में

तदिह लोकोक्तिः संघटते यत्-'भक्षणस्य अन्ये प्रदर्शनस्य चान्ये हस्तिदन्ताः' इति।

वे. पा. पृ. ५०३ अनु १ इत्यत्र यदुक्तं 'अनधिगताऽबाधितार्थ-विषय-ज्ञान-रूपायाः प्रमायाः असाधारण-कारणं करणं प्रमाणमिति' इत्यत्र प्रमायाः स्वरूपं तावद्दोष-पूर्णम्। 'यथार्थानुभवः प्रमा' इति तल्लक्षणत्वात्। भवल्लक्षणे दिगम्बरमतावलम्बि-छाया एव, यतोहि ते अज्ञातार्थज्ञप्तिः प्रमेति परिभाषन्ते।

तदेतत् प्रमालक्षणं तेषां धारावाहिक-ज्ञाने अव्याप्ति-दोष-दूषितम् तथा हि :—'अयं घटः' 'अयं घट' इत्येकस्मिन्नेव घटादौ उत्तरोत्तर-समानाकार-घटादिविषयकं ज्ञानमेव धारावाहिकम् तथा सति लक्षणे द्वितीय-तृतीयादिज्ञाने लक्षणस्याऽव्याप्तिः स्यात् द्वितीयादिज्ञानस्य अज्ञातत्वाभावात्।

न चैवं वाच्यं यत् प्रथमज्ञानस्य प्रथमक्षणे विशेषणे द्वितीयादे र्द्वितीयक्षणादि-विशेषणे सति उत्तरोत्तर-ज्ञाने पूर्व-पूर्वक्षण-रूप विशेषणाभावत्वात्।

स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार यहाँ यह लोकोक्ति घटित होती है कि हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और।

वे. पा. के पृ. ५०३ के अनु. १ में आपने जो लिखा है कि "अनधिगत और अबाधित वस्तुविषयि-ज्ञान-रूपा प्रमा का करणरूप असाधारण कारण प्रमाण होता है। सो यहाँ प्रमा का स्वरूप दोषपूर्ण है, क्योंकि प्रमा का लक्षण है 'यथार्थानुभवःप्रमा।' आपके लक्षण में दिगम्बरमतावलम्बी 'अज्ञात अर्थ के ज्ञान का नाम प्रमा है, की छाया विद्यमान है।

सो यह लक्षण धारावाहिक-ज्ञान में अव्याप्ति दोष से दूषित है। जैसेः— यह घड़ा है यह घड़ा है, इस प्रकार एक ही घड़े में उत्तरोत्तर होने वाले समानाकार घटादि-विषयक ज्ञान को ही धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। आपका लक्षण मानने पर द्वितीय तृतीय आदि ज्ञान में लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि द्वितीय आदि ज्ञान अज्ञात नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रथम ज्ञान का प्रथम क्षण तथा द्वितीयादि ज्ञान का द्वितीयादि क्षण विशेषण है, ऐसा न होने पर उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्व पूर्व क्षण रूप के विशेषण न होने से उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्व पूर्व

घट-रूप-विशेष्याऽभावे नूतनक्षणविशेषिते अज्ञात-घटे धारा-वाहिकज्ञाने नाऽव्याप्तिः, प्रत्यक्षेण सूक्ष्म-भेदाऽनाकलनात् ।

अति-सूक्ष्म-कालस्याऽप्रत्यक्षत्वाद् द्वितीयादि-क्षणेऽपि घटादि-ज्ञानस्य अज्ञात-विषयतायाः अभावाद् अव्याप्तिदोषः स्यादेव ।

कालभेद-ग्रहे हि क्रियादि-संयोगान्तानां चतुर्णां कार्याणां यौग-पद्याभिमानो न स्यात् । क्रिया,-क्रियातो विभागः, विभागात्पूर्व संयोग-नाशः, ततश्चोत्तरदेश-संयोगोत्पत्तिरिति चत्वारि कार्याणि ।

तदेवं भगवन्, यदा भवल्लक्षणमेव दूषितं, 'तदा असत्यत्व-शङ्काऽ-नुत्थानादिति' यदुक्तं तदपास्तम् । अस्मत्पक्षे सत्यप्रमाणे आप्तोपदेशे सति नानृतशङ्का सम्भवः 'परं भवत्पक्षे तु सत्याभासप्रमाणे कल्पिते आप्तोपदेशे अनृत-शङ्कोत्थानस्य-सम्भव एवेति कृत्वा ऋषि-भूमिकायां यल्लिखितं तदेव निर्दुष्टं गौरवान्वितं च ।

क्षण रूप विशेषण के अभाव द्वारा घटरूप विशेष्य का अभाव बना रहेगा । इस प्रकार प्रत्येक क्षण में क्षण रूप नूतन-विशेषण वाले अज्ञात घट के धारा-वाहिक-ज्ञान में अव्याप्ति दोष नहीं आयेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा सूक्ष्म भेद का आकलन नहीं हो सकता ।

अति-सूक्ष्म काल का प्रत्यक्ष न होने से द्वितीयादि क्षण में भी घटादि-ज्ञान की अज्ञात-विषयता का अभाव होगा । अतः आपका उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है ।

यदि काल के भेदों का ग्रहण हुआ करता, तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों कार्यों के एक साथ होने का भ्रम न होता । वे चार कार्य ये हैं, नं. १ क्रिया २ क्रिया से विभाग ३ विभाग से पूर्व संयोग का नाश ४ और उत्तरदेश में संयोग की उत्पत्ति ।

इस प्रकार महाराज, जब आपका लक्षण ही दूषित है तब ऋषि दयानन्द के लेख पर 'असत्यत्व की शंका ही न उठेगी । हमारे पक्ष में सत्य प्रमाणक आप्तोपदेश होने पर अनृत की शंका संभव नहीं, पर आपके पक्ष में सत्याभास प्रमाणक कल्पित आप्तोदेश में, असत्य की शंका का उत्थान होने से ऋषि भाष्य भूमिका का लेख सर्वथा निर्दोष गौरवशाली, और सार्थक है ।

अपि चेह स्थले भगवता दयानन्देन 'व्यासेन ऋषिभिश्च वेदाः रचिता, इत्याद्यपि मिथ्यैवास्ति इति मन्यतामिति प्रोक्तम्, तदपि सत्यं, यतो हि वेद-रचना-प्रसङ्गे पुराणपङ्कपङ्किलैः पौराणिकैः वेदाः महर्षि-वेदव्यासेन संङ्कलिताः' इति स्वीक्रियते तन्निरासाय सत्यप्रमाणमिति विशेषणं सार्थकं संपद्यते। व्यासो हि नाम ज्यामिति शास्त्रे वृत्तपारावारीणा मध्यगता रेखा' तद्वत् महर्षि वेद-व्यासोऽपि वेदानां पारङ्गतः आसीत्, अपि च वेदानामर्थ-विस्तार (व्यास) कारणात्व्यासपदभाक् अभवत्, परं नाऽसौ वेदानां निर्माता इति महर्षिमतम्।

भगवन्, अस्मिन् 'भूमिका' ऽनुच्छेदे, यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्ट मैतिह्यं तदेव ग्राह्यं, नातोविपरीतम्' इत्यत्र ऋषि-वाक्ये विपरीतम्, असत्यप्रमाणम् अनृतमिति वा तत् न ग्राह्यं, कुतः, अनृतस्य 'प्रमत्तगीत-त्वात्' इत्येकोहेतुः, नवीन-पुराण-ग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्चेति द्वितीयो हेतुः। अत्रायमाशयः यद् एषां पुराणादीनां अनृतत्वाद् वैयर्थ्यापत्तिः वैयर्थ्यापत्ति-कारणाच्च नैतेषां पुराणादीना मैतिह्यं प्रामाण्यं भवितुमर्हतीति महर्षेराशयः।

और भी देखिये, इसी स्थल पर स्वामी दयानन्द ने 'व्यास ने और अन्य ऋषियों ने वेद बनाये इत्यादि बातें भी मिथ्या ही माननी चाहिएं' यह कहा है, वह सत्य ही कहा है कि क्योंकि पुराण विचार धारा में प्रवाहित पौराणिकों के द्वारा यह माना जाता है कि 'महर्षि व्यास ने वेदों का संकलन किया' उसके निराकरण के लिये 'सत्यप्रमाण' विशेषण आवश्यक है। ज्यामिति शास्त्र में वृत्त के आर-पार जाने वाली रेखा को 'व्यास कहते हैं, तद्वत् व्यास जी भी वेदों में पारङ्गत थे और उन्होंने वेदों का व्यास अर्थात् प्रचार एवं प्रसार किया अतः वे 'व्यास' पदवी को प्राप्त हुये। परन्तु वे वेदों के निर्माता नहीं थे। ऐसा ऋषि का मत, है।

महाराज, 'भाष्यभूमिका' के इसी अनुच्छेद में जो 'सत्यप्रमाण आप्तोपदिष्ट इतिहास है, वही ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत नहीं' इस वाक्य में असत्यप्रमाणम् जो अनृत है वह ग्राह्य न होने में प्रथम हेतु यह है कि वह 'प्रमत्तगीत है। द्वितीय हेतु यह है कि नवीन पुराण और तन्त्रग्रन्थों की व्यर्थता का होना। आशय यह है कि इन पुराणादिकों की भी अनृत होने के कारण व्यर्थता होने से प्रामाणिकता (ऐतिह्यप्रमाणगत) नहीं हो सकती।

यद्वा ये केचन नवीनकालरचितानां ब्रह्मवैवर्त्तादि-पुराणानां ब्रह्मयमलादि-तन्त्रग्रन्थानां च ऐतिह्यकोटौ प्रामाण्यं मन्यमानाः सन्ति तेषां सम्बन्धे ऋषेरियं मान्यता यत् तादृशानामपि अनैतिह्यत्वमेव, वैयर्थ्यस्य आपत्तिः अधिगमस्तस्मात् कारणात् तेषामपि ग्रन्थानामेवमेव मिथ्यात्वं च वाच्यमिति ।

श्रीमन्, यच्च भवताऽभिप्रीयते यत् "पुराणादीनामस्तु वैयर्थ्यापत्तिः, परं व्यासादिवचनत्वाऽभावो मास्तु" इति तदपि न युक्तं, पुराणानां व्यासकृतेरभावात् । 'तस्माद् यज्ञात् इति मन्त्रे छन्दः पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः अथर्ववेद-ध्वननवत् पुराणानां रचना व्यासस्येति न ध्वनितुमर्हति, वेदे एकस्यापि पदस्य व्यर्थत्वस्य शङ्काया अनवकाशत्वात् ।

अपि च भवता यदत्र, छन्दोपदमिति' प्रयुक्तं, तत्तु व्याकरण-दृशा सर्वथा चिन्त्यमेव, छन्दः पदस्य विसर्गान्ततया कुप्वोः ≍क≍पौचेति सूत्रेण छन्द≍पदमिति प्रयोगार्हत्वात्, विकल्पे तु छन्दः पदमिति वा साधु, परं हशि एवोत्व-संभवात् छन्दोपदमिति न कथञ्चित् साधु ।"

अर्थात् जो कोई लोग आजकल के नवीनकालीन ब्रह्मवैवर्त्तादिपुराण और तन्त्रग्रन्थों की ऐतिह्य प्रमाण-कोटि में प्रामाणिकता मानते हैं उनके सम्बन्ध में ऋषि की यह मान्यता है कि इसप्रकार के आधुनिक पुराणों को ऐतिह्य न मानने से उनकी व्यर्थता की प्राप्ति होने से उनका मिथ्यात्व जानना चाहिये ।

महाराज जी आपका यह जो कहना है कि "पुराण आदिकों की व्यर्थता भले ही हो, परन्तु पुराण महर्षि व्यास-निर्मित नहीं हैं यह बात ठीक नहीं, सो आपकी यह बात ठीक नहीं क्योंकि पुराण महर्षि व्यास के बनाये कदापि नहीं हैं । और आपने 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्र में छन्दांसि पद की व्यर्थता सिद्ध करके अथर्ववेद के समान पुराणों की रचना व्यासकृत सिद्ध की है सो, ठीक नहीं, क्योंकि वेदों में एक भी पद की व्यर्थता का प्रश्न ही नहीं, उनका प्रत्येक पद सार्थक है ।

आपने जो यहाँ छन्दोपदम्' यह प्रयुक्त किया है वह व्याकरण-दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि छन्द पद विसर्गान्त होने से प अक्षर के परे रहने पर कुः प्वोः क.पौच सूत्र से छन्द ≍पदम् यह बनना चाहिये अथवा विकल्प में छन्दःपदम्' यह भी बन सकता है । यह हश् के परे न होने पर उत्व करना सर्वथा अशुद्ध है ।

ननु 'अष्टादश पुराणानां, कर्त्ता सत्यवती-सुतः इति प्रमाणेन पुराणानां व्यासरचितत्वं स्यादिति चेन्न, अत्राह, महर्षिःदयानन्दः, अष्टादशपुराणानां कर्त्ता व्यासोऽभविष्यचेत्तेष्वेतावन्ति गप्पयाष्टकानि नाभविष्यन्, व्यासकृतानां शारीरक-सूत्राणां योग-सूत्रादिभाष्याणां चावलोकनेन ज्ञायते यद् महर्षि-व्यासः महान् विद्वान् सत्यवादी योगी चासीदिति ।

यदि पुराणानि व्यास-रचितानि अभविष्यन्तर्हि तत्र आप्तपुरुषस्य श्रीकृष्णस्य योगिनो गोपिकानां स्नानप्रसङ्गे ईदृशमत्यन्तमश्लीलं चित्रणं नाऽभविष्यत् । किञ्च नानाविधाः श्रीकृष्णचरित्र-दूषकाः प्रसङ्गास्तत्र नाभविष्यन्, तथैव च शिवादिपुराणेष्वपि वेदविरुद्धाः, बुद्ध्यसंगता अत्यन्तमश्लीलाः शिवलिङ्ग-प्रसङ्गाः नाऽभविष्यन् । (यथा च महर्षिणा सत्यार्थप्रेकाशे लिखितमस्ति ।)

न च महर्षिव्यासः वेदान् सङ्कलितवान् इतिवाच्यम् तथात्वे तु स्वयं व्यासेन, तत्पूर्वकालवर्त्तितत्पिता, पितामह, पाराशर शक्ति, वसिष्ठ, ब्रह्मादिभिः चतुर्णां वेदानां पठनस्याऽसम्भवात् ।

यदि 'अष्टादश पुराणां कर्त्ता सत्यवतीसुतः इस उक्ति के अनुसार पुराणों को व्यासरचित माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वामी दयानन्द ने कहा है कि यदि पुराणों के रचयिता वेद व्यास होते तो उनमें इतनी गप्पाष्टक न होतीं। महर्षि व्यासरचित शारीरक-सूत्र तथा योग सूत्र भाष्य के देखने से पता चलता है कि महर्षि व्यास महान् विद्वान् सत्यवादी योगी और आप्त थे ।

यदि पुराण व्यासरचित होते तो उनमें आप्तपुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण का गोपिकाओं के स्नान प्रसङ्ग में इतना अश्लील चित्रण न होता, तथा च श्रीकृष्ण के चरित्र को दूषित करने वाले नानाविध प्रसङ्ग न होते और शिवपुराण आदि में वेदविरुद्ध बुद्ध्यसंगत अत्यन्त अश्लील (शिव-लिङ्ग के) चित्रण न होते। महर्षिदयानन्द ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है। अठारह पुराणों के रचयिता यदि व्यास होते तो····· गप्पाष्टक न होते ।····· वे सत्यवादी·· ··· योगी थे······वेद शास्त्र विरुद्ध····· काम नहीं हैं इत्यादि ।

महर्षि व्यास ने वेदों का संकलन किया यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि यह बात ठीक होती तो स्वयं व्यास और उनके पूर्वज पाराशर, शक्ति, वसिष्ठ ब्रह्मा आदि परवर्त्ती वेदों को कैसे पढ़ सकते थे ?

स्वामिन्, केवलमसूयावशात् वे. पा. ५०४तमे पृष्ठे भवता यदुच्यते "तदनुयायिनस्तं महर्षिं मन्यन्ते-तच्च सर्वथा निर्मूलमिति" तदेतत् मननं समूलं सर्वथा सत्यञ्चेति, किञ्च किं तावद् ऋषित्वमिति भवता न बुध्यते ।

विज्ञायतां तावद्-'ऋषि' शब्द-विवेचनं वैशद्येन तथाहि :— ऋषित्वं हि त्रिधा, प्रथमं तावत् मन्त्रद्रष्ट्रित्वं, द्वितीयं ब्राह्मणानुब्राह्मण-कल्पादि-वेदाङ्गशास्त्र-प्रवक्तृत्वं, तृतीयं पूजनीयापरपर्यायकमिति। मन्त्रद्रष्ट्रित्वेन मन्त्रार्थद्रष्ट्रि-वसिष्ठादीनां मुख्यमृषित्वम् तथा च आश्वालायनगृह्यसूत्रे तेषां नामतः परिगणनम् ।

अथ ऋषयः । माध्यमा गृत्समदो, विश्वामित्रोऽत्रिर्भारद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति (आ० ३।४।२) अत्रहि मन्त्रार्थद्रष्टारः मन्त्रैः सह समुल्लिखिता एव ऋषय परि-गणिताः ।

अथापि निरुक्तेऽपि मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को नु ऋषिर्भविष्यति ? इति । तेभ्यः तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थ-

---

महाराज, केवल असूया के कारण आपने वे. पा. के पृ. ५०४ पर ऐसा लिख दिया है कि "उनके अनुयायी उनको महर्षि मानते है यह सर्वथा निर्मूल है" वह हमारे विचार में आपका यह निर्मूल कथन ही निर्मूल है ।

ऋषित्व के विषय में विस्तार से ऋषि शब्द का विवेचन सुनिये :—

ऋषि तीन प्रकार के होते हैं—पहले मन्त्रदृष्टा । दूसरे-ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्पादि वेदाङ्ग शास्त्रों के प्रवक्ता । तीसरे-पूजा के योग्य, मन्त्रदृष्ट्रत्व के नाते वसिष्ठ आदि का मुख्य ऋषित्व है । जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में नाम लेकर परिगणन किया गया है । उसके पश्चात् ऋषिजन । माध्यम गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ प्रगाथ पावमान्य, शुद्धसूक्त और महासूक्त" (आ० ग्र-३।४।२) । यहाँ पर वेदमन्त्रों के साथ लिखित ऋषि ही गिने गये हैं ।

इसी प्रकार निरुक्त में भी-ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से कहा कि अब हमारा ऋषि कौन रहेगा । तब उनके लिये देवों ने यह तर्क रूपी ऋषि प्रदान किया जो कि मन्त्रों की चिन्ता से अभ्यूढ है । इस लिये विद्वान् जो भी अभ्यूहन करता है वह आर्ष है । (निरु० १३।११।१६)"

चिन्ताऽभ्यूढमभ्यूढम् । तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं भवति (निरु० १३।१।१३) ।

तदेवमनूचानत्वे सति मन्त्रार्थाभ्यूहनसमर्थत्वमृषित्वमिति फलितम् । तदेतदनेकशास्त्र-समर्थितं मुख्यमृषित्वं स्वामिनिदयानन्दे पूर्णतया संघटते ।

अपि च श्रूयतां, ऋषिर्दर्शनात् इति सार्थकं कुर्वन् किमसौ वेदानां वैज्ञानिकं बुद्धिसंगतं वैदुष्ययुतं भाष्यं नाकरोत् ? किमसौ वेदानां पठनं पाठनं चेत्यार्याणां परमो धर्म इति नियमं न निरधारयत् ? किञ्चास्य दर्शनानां शास्त्राणां च दर्शनम् अद्भुतं नैवाऽऽसीत्, अवश्यमासीत् । तदेवं न केवलमसौ ऋषिरासीत्-अपितु मन्वादिभ्योऽपि ऋषिभ्यो व्यतिरिक्तां विधर्मिशुद्धेः विधिं (व्यवस्थां) प्रतिपाद्य आर्यजातिं विनाशादरक्षत्, अतोऽसौ ऋषीणामग्रगण्यो दयानन्दो नूनं महर्षिरासीत्, अतस्तदनुयायिनस्तं सत्यमेव महर्षिं मन्यन्ते । यः तस्य महर्षेः शतशो गुणान् पश्यन्नपि न पश्यति शृण्वन्नपि न शृणोति, स च को भवति इति स्वयं निश्चिनोतु ।

इस प्रकार (अनूचान) विद्वान् होने पर मन्त्र के अभ्यूहन की सामर्थ्य ही ऋषित्व है, सो अनेक शास्त्रों से समर्थित यह ऋषित्व स्वामी दयानन्द में पूर्णतया घटित होता है।

महाराज, और भी सुनिये, क्योंकि 'ऋषि-दर्शनात्' अर्थात् किसी अर्थ के दर्शन विशेष के कारण कोई भी व्यक्ति ऋषि कहलाता है क्या स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ दर्शन करके वेदों का बुद्धि संगत वैज्ञानिक भाष्य नहीं किया ? क्या उन्होंने वेदों की विलुप्त परम्परा को पुनः चालू नहीं कराया ? क्या उन्होंने वेदों का पढ़ना पढाना आर्यों का परम-धर्म नहीं ठहराया ? क्या उनका दर्शनों और शास्त्रों का दर्शन अद्भुत न था ? अवश्य था । इस प्रकार वे न केवल ऋषि थे, अपितु मन्वादि ऋषिओं से भी (अधिक) विशिष्ट थे विधर्मियों की शुद्धि व्यवस्था का प्रतिपादन करने के कारण उन्होंने आर्यजाति को विनाश से बचाया अतः वे ऋषियों के अग्रगण्य महर्षि थे । इसलिये उनके अनुयायी उनको 'महर्षि' के रूप में ठीक ही मानते हैं । पर आप तो उनके सैकड़ों गुणों को भी देखते हुये भी नहीं देखते हो और सुनते हुये भी नहीं सुनते हो । इसलिये आप किस कोटि में आते हो यह स्वयं ही निश्चित करो ।

अपि च भगवन्, यः अन्येषां प्रसिद्धान् गुणानपि स्वासूयोपहत-चेतसा न गृह्णाति, तत्र तु इयमेव निर्मलोक्तिः संघटते :—

नैव गोमय-कीटो हि, नासा-निहित-गोमयः ।
इन्द्रोद्यानेऽपि गृह्णाति, पुष्पाणां सौरभं महत् ॥

महाभाग, भवान् युक्तियुक्तमपि मर्हषिवाक्यं खण्डयितुमुद्य तोऽस्ति । यथा- मर्हषिणा दयानन्देन सयुक्तिकं लिखितं 'परमेश्वराद् वेद-प्रादुर्भावः अभवद् इति, तदिदमपि न युक्तं प्रतिभाति भवन्तम्, अतो भवान् लिखति "का वाचोयुक्तिर्यथा परमेश्वरादेव वेदोत्पत्तिरभ्युपेयेति ।"

यदि भगवन्, परमेश्वराद्वेदोत्पत्तौ भवत्संदेहः आसीत्तर्हि स्वार्चनीयचरणस्य शङ्कराचार्यवर्यस्य भाष्यमेव दृग्गोचरमकरिष्यत् स हि भवद्गुरुः सुस्पष्टमेव अलिखत् यत् "महतः ऋग्वेदादेः शास्त्र-स्यानेकविद्यास्थानोपवृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञ-कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नेदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञ-गुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । (वेदा० भा० १।१।३)

इसके अतिरिक्त आप ऋषि के गुणों को असूयावृत्ति से देखते हो, इसलिये आपके लिये यह निर्मलोक्ति चरितार्थ होती है :—

जिस कीड़े ने अपनी नासिका में गोबर की गन्ध भरली है, वह इन्द्र के उद्यान में पुष्पों की महती सुगन्धि को भी ग्रहण नहीं करता। महाराज, यहाँ तक कि आप महर्षि के युक्तियुक्त वाक्यों को भी खण्डन करने में हाथ धोकर जुट पड़े हो। जैसे कि ऋषि ने लिखा है :—परमेश्वर से वेद उत्पन्न हुये, सो यह कथन भी आपको ठीक नहीं लगता और आप लिखते हैं कि इसमें क्या दलील हैं कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से मानी जाय।

यदि महाराज, आपको परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति में संदेह था तो अपने परमपूज्य गुरु शंकराचार्य के वेदान्त भाष्य को ही देख लेते, उन्होंने तो स्पष्ट लिखा है :—'अनेक विद्याओं के स्थान ऋग्वेदादि शास्त्र जो प्रदीप के सदृश सब अर्थों के प्रकाशक हैं, का मूल कारण ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादि विलक्षण शास्त्र की जो सर्वज्ञगुणों से युक्त है, उसकी सर्वज्ञब्रह्म के अतिरिक्त (अन्य) से उत्पत्ति नहीं हो सकती। (वेदा. भा. १।१।३)

तदेवं स्वामिन्, भवद्गुरोरेव एषा वाचोयुक्तिः यथा सुस्पष्टमेव परमेश्वराद् वेदोत्पत्तिरभ्युपेता ।

यच्चाप्युक्तं 'नाग्न्यादिभ्यः श्रुताऽप्युत्पत्तिरिति, अत्रेदमवधेयं यत् 'वेद-रूपं ज्ञानं नाग्न्यादीनां स्वकीयं ज्ञानमपितु ईश्वरीयं ज्ञान-मग्न्यादिमाध्यमेन प्रकटीभूतं ततश्च लोके प्रसृतमिति ।

यच्चभवानाह—"सिद्धान्ते तु वेदानां, नित्यतया न कस्माद प्युत्पत्ति" रिति तु विरम्यतां, सखे ! शास्त्र विरुद्धकल्पनात् । यद्यपि नित्यानां पदार्थानां गुणा अपि नित्या भवन्ति परं तेषां गुणानां काचिदुत्पत्तिः प्रकाशनं वा न भवेदिति नास्ति नियमः ।

वेदानां प्रादुर्भूतेरनुभूतिस्तु परेण जीवेन क्रियते । वेद-ज्ञानं हि गुणः परमेश्वरस्य, तस्य सूर्यस्य उष्णत्वप्रकाशगुणवद् आश्रयिणो ऽपृथक्त्वेऽपि अनुभूतिर्भवत्येव । अत ईश्वरस्य वेद-ज्ञाने नित्यत्वेन स्वीकृतेऽपि तत्प्रादुर्भावे न कश्चन दोषः । तदेवं ईश्वराद्-

---

सो, यह हमारे गुरु की नहीं आपके गुरु की वाचोयुक्ति परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति बतलाती है । और आपने यह जो कहा कि "अग्नि आदि ऋषियों से वेदों की उत्पत्ति किसी ने नहीं सुनी ।' सो यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेद रूप ज्ञान, अग्नि आदि ऋषियों का अपना ज्ञान नहीं है अपितु ईश्वर से लिया हुआ ज्ञान अग्नि आदि ऋषियों के माध्यम से प्रकट हुआ है । और फिर वह लोकों में फैला है ।

जो आपने यह कहा कि 'सिद्धान्त रूप में तो, वेदों के नित्य होने से किसी से भी उत्पत्ति नहीं होती । सो ऐसी शास्त्र विरुद्ध कल्पना से बाज आइये ।

यद्यपि नित्य पदार्थों के गुण भी नित्य होते हैं, परन्तु उन गुणों की प्रादु-र्भूति अथवा प्रकाशन नहीं होता ऐसा कोई नियम नहीं । वेदों की प्रादुर्भूति की अनुभूति तो जीवों के द्वारा ही होती है । वेद ज्ञान परमेश्वर का गुण है उसका प्रादुर्भाव और अनुभूति सूर्य के उष्णत्व 'प्रकाश गुण के समान आश्रयी से भिन्न न होने पर भी होती ही है ।

इसलिये वेदज्ञान को ईश्वर का नित्यगुण मानने पर भी उसके प्रादुर्भाव में कोई दोष नहीं । लेखक ने ईश्वर से वेदोत्पत्ति को अग्न्यादि ऋषियों द्वारा

वेदोत्पत्तिममन्यमानः 'तामन्वविदन् ऋषिषु प्रविष्टामिति' वेदवाणी मपि विरुणद्धि लेखकोऽयमिति विदन्तु विद्वांसः ।

यच्चाप्युक्तं' सम्प्रदायप्रवर्तत्वकन्तु यथैवेश्वरस्य मन्यते, तथैव ब्रह्मादीनामृषीणामग्न्यादीनां च सम्भवत्येव' इति । तदेतत्परीक्ष्यते :-

पू. प. कोऽयं सम्प्रदायो नाम ?

उ. प. गुरुपरम्परा-गतः सदुपदेशः,

(पू. प.) को भेदस्तर्हि भवत्सम्मते सदुपदेशे अन्य-सम्प्रदाये च ?

उ. प. अस्माकं सृष्टे रादिकालादारब्धः ।

पू. प. यदि भवत्सम्मतः सृष्टिकालादारब्धश्चेत् ?

उ. प. तेषामपि ।

पू. प. अथ अन्यमतावलम्बिनां विविधाः प्रवर्तकाः सन्तिचेत् ?

उ. प. तथा अस्माकमपि ।

पू. प. तेष्वेकतमार्यसामाजिकानां तु इदं मतं यत् सर्गादौ परमेश्वरेण ज्ञानं प्रवर्तितमिति ।

उ. प. परन्तु सुप्त-प्रबुद्धन्यायेन अस्माकंमतेऽपि अनादित्वं नित्यत्वञ्चेति ।

मानने पर आक्षेप करते हुये, 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' इस ऋग्वेदीय वाणी का विरोध भी किया है ।

महाराज, आपका यह कथन कि—'सम्प्रदायप्रवर्तकता जैसे ईश्वर की मानी जाती है वेसे ब्रह्मादि ऋषियों और अग्न्यादिकों की भी संभव है ? इसकी विवेचना भी सुनिये ।

पू. प. तुम्हारा सम्प्रदाय क्या है ? (उ. प्र.) गुरु परम्परागत सदुपदेश ।

पू. प. फिर आपके माने हुये तथा अन्य सम्प्रदायों में क्या अन्तर है ।

उ. प. यदि हमारा सम्मत सम्प्रदाय सृष्टिकाल से प्रारब्ध है तो उनका भी ।

पू. प. यदि उन मतावलम्बियों के विविधा प्रर्वतक हैं ।

उ. प. तो हमारे भी ।

पू. प. उनमें से एक यह आर्यसमाजिकों की मान्यता है कि

सृष्टि के आदि में परमेश्वर का वेद ज्ञान प्रर्वातित हुआ है ।

उ. प. परन्तु सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से हमारे मत में अनादित्व और नित्यत्व है ।

आक्षेपोऽत्र :—भगवन् यदीदं सत्यं तर्हि वेदाः नेश्वरीयं ज्ञानमिति मान्यता किमर्थं क्रियते ? भवदुक्त-सम्प्रदाय-परम्परायामपीश्वरः आदि-प्रवर्त्तकत्वेन नोपेक्षणीयः, 'स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदादिति योगदर्शनप्रमाणात् ।

अथ च नवीनवेदान्तिनो भवतः ईश्वराऽप्रवर्तित-सम्प्रदायस्य ईश्वरात् पृथक्त्वं चेत्तदा नाद्यनन्तत्वाच्च सिद्धान्त-क्षतिः । ब्रह्मणोभिन्नस्यापि अस्य नित्य-सत्तात्मकत्वात् ।

अपि चेदमपि ब्रवीतु भवान् यद् भवतः सम्प्रदाय-प्रवर्तित-ज्ञानं द्रव्यं गुणोवेति ? यदि द्रव्यं को गुणोऽस्य ? गुणश्चेत् प्रलय-काले कस्मिन् द्रव्ये तत्तिष्ठति ? पृथक् चेदीश्वरात्तिष्ठति, तदा कुत्र तिष्ठति ? किमात्मनि प्रकृतौ वा ? नाद्यम्, तज्ज्ञानस्यात्मनि स्वाभाविकत्वाभावेऽनाश्रयणात्, नापि द्वितीयं, प्रकृतौ जडत्वान्न तत्र तत्स्थितिसम्भवः, ज्ञानस्य चेतन-धर्मत्वात् । यदि चेश्वरे तत् तिष्ठति इति स्वीक्रियते तदा तु आस्माकीनराद्धान्तोपपन्नतैव, सर्वशास्त्रशङ्का-समाधानोपपत्तिश्च ।

आक्षेप—फिर महाराज, यदि यह सत्य है तो वेद ईश्वर का ज्ञान नहीं यह मान्यता किस लिए आप कर रहे हैं ? तब तो आप की कही सम्प्रदाय परम्परा में ईश्वर की आदि-प्रबर्त्तक के रूप में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि इसमें 'सर्वेषां'-अर्थात्-वह परमात्मा सबका आदि गुरु है, काल के (अनवच्छिन्न) अटूट होने से यह योग-दर्शन का प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर से अप्रवर्तित सम्प्रदाय के मानने वाले आप वेदन्तियों के मत में वेद ज्ञान ईश्वर से भिन्न किन्ही जीवों के द्वारा सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से फैला और अनादि अनन्त है। इस प्रकार तो 'एकमेव ब्रह्म' सिद्धान्त की क्षति हो जाती है क्योंकि इनकी सत्ता ब्रह्म से पृथक् माननी पड़ती है ।

दूसरे यह भी आपको बताना होगा कि आपका सम्प्रदाय प्रवर्तित-ज्ञान द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो इसका गुण क्या है ? यदि गुण है तो प्रलयकाल में किस द्रव्य (अनाद्यनन्त) में ठहरता है ? यदि ईश्वर से पृथक् ठहरता है तो फिर क्या वह जीवात्मा में या प्रकृति में, किसमें ठहरता है ? आदि पक्ष तो बन ही नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान आत्मा में स्वाभाविक रूप से रह नहीं सकता, और द्वितीय पक्ष भी नहीं बनता प्रकृति

यच्चाप्युक्तं 'व्यासस्यानृषित्वोक्तिस्तु दयानन्दस्य धाष्टर्यम् इति, तदिदं प्रलपनं तु भवत्येव चरितार्थं भवति, स्वामिनि दयानन्दे मिथ्यादोषाऽऽरोपणात्, यतोहि नहि भगवता दयानन्देनेह महर्षि-व्यासस्य अनृषित्वं प्रतिपादितम्। तस्य 'एवमेव व्यासेन ऋषिमिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्' इति वाक्ये व्यासस्य महर्षेः अनृषित्वस्य गन्धः कुतो भवन्तमायात इतितु भवानेव जानातु। महर्षिदयानन्दस्तु केवलमत्र वेदानां कर्त्तृत्वं न व्यासस्य नाप्यन्यर्षेः-इति प्रतिपादयति, नात्र व्यासस्य ऋषित्व-खण्डनस्य गन्धोऽप्यास्ते, पुनरपि यदि भवद्बुद्धिः तादृशगन्धमनुभवति तर्हि विदांकरोतुभवान् 'यदि महर्षेर्दयानन्दस्य हृदये व्यासं प्रति ऋषिभावो नाऽभविष्यत् तर्हि स्वग्रन्थे संस्कारविधौ सत्यार्थप्रकाशे च ऋषिप्रणीतग्रन्थेषु व्यासमुनि-प्रणीतानां योगसूत्र—पूर्वमीमांसादि-भाष्याणां गणनां नाऽकरिष्यत्। अपि च व्यासमुनिकृतं शारीरक-सूत्रं संस्कार-विधौ सर्वबालानाम्

के जड़ होने से उसमें स्थिति संभव नहीं, ज्ञान चेतन का धर्म है। यदि कहो, ईश्वर में ठहरता है तब तो हमारा सिद्धान्त उपपन्न हो गया। और इस प्रकार फिर समस्त शंकाओं के समाधान सम्भव हैं।

और जो आपने कहा कि—'व्यास ऋषि को ऋषि न मानना दयानन्द की धृष्टता है सो महाराज यह प्रजल्पन आप पर ही चरितार्थ होता है, स्वामी दया-नन्द पर आपने झूठा आरोप लगाया है।

यहां महर्षि दयानन्द ने व्यास का अनृषित्व प्रतिपादित नहीं किया। ऋषि के 'व्यासेन' ऋषिमिश्चेत्यादि वाक्य में व्यास को अनृषि बताने की गन्ध कहाँ से आ गई यह तो आप ही जाने। यहां तो स्वामी दयानन्द ने—वेदों के कर्त्ता व्यास नहीं है और न अन्य ऋषि, जैसा कि लोग मानते हैं इतनी सी बात का प्रतिपादन किया है। यहाँ ऋषिभिः से तात्पर्य व्यास से भिन्न ऋषियों से है न न कि व्यास के ऋषित्व के व्यावर्त्तन से। यदि आपको व्यास के ऋषित्व के अप्रतिपादन की गन्ध आती है तो फिर आपको जानना चाहिये कि यदि व्यास के प्रति महर्षि के हृदय में अनृषित्व का भाव होता तो वे अपने सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में व्यासकृत योग सूत्र भाष्य तथा पूर्वमीमांसा के भाष्य की गिनती न करते। और व्यास मुनिकृत भाष्य के पढ़ाने का सब बालकों के लिये प्रतिपादन न करते।

अध्ययनाय न प्रत्यपादयिष्यत् । किञ्चासौ स्वग्रन्थेषु वहुत्र पाणिनि, यास्क, कपिल कणाद गोतमादितुल्यं, व्यासमपि मुनिशब्देन न सम मानयिष्यत् । अथ च स्वामी दयानन्दस्तु स्वपत्रव्यवहारे वहुमान-पुरस्सरं व्यासादीन् ऋषि-मुनिशब्दाभ्यां स्पष्टमेव प्रस्तौति यथा :— महाविदुषामार्याणां पूर्वजानां यथावद्वेदार्थ-विदाम् आप्तानामाप्तका-मानां धर्मात्मनां सर्वलोकोपकार-बुद्धीनां, श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मादि-व्यासपर्यन्तानां मुन्यृषीणाम्" इत्यादि (प० व्य० ६३।१८-८२)

किं भोः, किमधुनाऽपि दयानन्दमते व्यासस्य ऋषित्वे सन्देहः ? यदि नैव, तर्हि स्वाग्रहः संत्यज्यतां प्रभो । किञ्च ऋषि-मुनि शब्दाभ्यां व्यासं सम्मानयत्यपि दयानन्दे महर्षिव्यास-विषयकमनृषित्व-दोषारोपणं भवतो 'गुणेषु दोषारोपणमसूयेति असूयकत्वमेव सूचयति ।

किञ्चैतद् धाष्ट्र्यम्' इति कथनं पौराणिके भवत्येव चरितार्थं भवति, यतोहि पौराणिका एव पुराणकर्त्तारं व्यासं मन्यमानाः 'पुरा-णकर्त्ता व्यभिचारजात' इति वदन्तः धाष्ट्र्यमाचरन्ति । परं महर्षि दयानन्दस्तु व्यासं पुराण-कर्त्तारं न मन्यते इति कारणात् न तत्र धाष्ट्र्यारोप-संम्भवः ।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि स्वामी दयानन्द ने अपने पत्र-व्यवहार में बहुत सम्मान-पूर्वक व्यासादि ऋषियों को ऋषि-मुनि शब्दों से प्रस्तुत किया है जैसे—महान् विद्वान आर्य, धर्मात्मा, सर्वलोकोपकार बुद्धि वाले वेदार्थ ज्ञाता आप्त तथा आप्तकाम, श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ परमयोगी ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि मुनियों का इत्यादि (प. व्य. ६३/१८-२२

क्या महाराज, अब भी आपको व्यास के ऋषित्व पर संदेह है, यदि नहीं तो दुराग्रह छोड़िये ।

इस प्रकार महाराज व्यास जी को ऋषि मुनि शब्दों से कहने वाले ऋषि दयानन्द पर अनृषत्व कथन का आरोप लगाना आपकी असूया को सूचित करता है ।

इस कथन को स्वामी दयानन्द की धृष्टता कहना महाराज आपकी ही धृष्टता है क्योंकि स्वामी दयानन्द और उसके अनुयायी तो नहीं, पर

ननु ऋषित्वे व्यासस्यापि परिगणना तर्हि दयानन्दीये तत्र वाक्ये व्यासस्य पृथक् ग्रहणं किमर्थमिति चेद्, गोबलीवर्दन्यायेन व्यासस्यापि ग्रहण-सम्भवान्न काचिद्दोषापत्तिः। तदेवमत्र ऋषिवाक्ये शङ्कमानः करपात्रमहोदय : गोबलीवर्दन्यायमपि न जानीतीति महदाश्चर्यम्।

यच्चोक्तं 'नवीन-पुराण-ग्रन्थानामित्यत्र कर्मधारय-समासो मध्यमपदलोपिसमासो वा न सम्भवति' इति, तदपि समासानभिज्ञान-मेव करपात्रिणः।

किं भोः, मध्यमपदलोपे लोपकं सूत्रं किं पुराण-पदस्य सामर्थ्यं द्रक्ष्यति आहोस्वित् तदर्थमपि ? जायतेऽत्रप्रश्नः, किं सामर्थ्याऽभावे मध्यमपदलोपिसमासो न भवति ? उत तदर्थ-दर्शनाऽभावेऽपि ? यदि तावदर्थदर्शनाऽभावे समासो न भवति इति स्वीक्रियते तदा तु वन्ध्यायाः पुत्रस्य दर्शनाभावे वन्ध्यायाः पुत्रः, वन्ध्यापुत्रः इति षष्ठीसमासोऽपि न स्यात्, भवति च।

अतः नवीनैःरचितं पुराणमिति नवीन पुराणमित्यत्र मध्यमपद-लोपी समासः सम्भवत्येव।

आपके अनुयायी पुराणों के कर्त्ता व्यास जी को स्पष्ट रूप से ऋषि तो क्या व्यभिचारोत्पन्न कहते हैं जैसा कि 'पुराणकर्त्ता इत्यादि श्लोक हैं।

स्वामी दयानन्द व्यास जी को पुराण कर्त्ता ही नहीं मानते, अतः उन पर 'धार्ष्ट्य' का आरोप लगाना कदापि उपयुक्त नहीं।

अच्छा यदि स्वामी दयानन्द के मत में व्यास जी की ऋषियों में गिनती है तो फिर इस वाक्य (व्यासेन ऋषिभिश्च) में व्यास की अलग गणना क्यों की ? यह शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान यह है कि जैसे—गौ और बैल एक ही जाति के होते हैं फिर भी उनका अलग-अलग ग्रहण हो जाता है और वह गोबली-बर्द न्याय बन जाता है। उस न्याय से यद्यपि व्यास भी ऋषि हैं, परन्तु फिर भी उनका अलग से ग्रहण ऋषित्व के निषेध के लिए नहीं अपितु ऋषि विशेषत्व प्रतिपादन के लिये है। इस प्रकार करपात्री जी गोबली बर्द न्याय को भी नहीं जानते जो अर्थ का अनर्थ करते हैं यह बड़ा आश्चर्य है।

जो यह कहा कि—'नवीन पुराण-ग्रन्थानाम्' यहाँ कर्मधारय समास या मध्यम-पदलोपी समास नहीं बन सकता, सो यह करपात्रीजी के समास के अनभिज्ञत्व का द्योतक है।

ननु नवीनशब्दः नवीनार्थवाची पुराणशब्दश्च पुरातनार्थवाची तदा एतयोः विपरीतार्थयोः कथं समासः इतिशङ्का चेन्न युक्ता, भविष्यच्च तत् पुराणं चेति भविष्यत्पुराणमितिवत् नवीनं च तत् पुराणमिति नवीन-पुराणमिति समासे न कश्चन दोषः ।

किञ्च नवीनस्य पुराणस्य च शब्दयोः विपरीतार्थकत्वे सामानाधिकरण्याऽभावात् न समास-सम्भव इति चेन्न, पुराणशब्दस्याऽत्र रूढितया अग्निशिवादिग्रन्थरूपपुराणवाचकत्वात् न विपरीतार्थकत्वं, नाऽपि सामानाधिकरण्याऽभावत्वम् । महर्षिदयानन्दस्य दृष्टौ शिवादि पुराण। नां न वस्तुतः पुराणं नाम, अपितु ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणं नाम ।तन्मते तु शिवादिपुराणानां नवीनपुराणेति संज्ञा । ततश्च नवीनमिति विशेषणं पुराणञ्चेति विशेष्यम् । तदा कीदृशं पुराणं ? नवीनं पुराणं 'यद्ब्रह्मवैवर्त्तादि' इति, न तु ब्राह्मण-रूपं पुरातनं पुराणम् । तस्य व्यावर्तकं नवीनमिति विशेषणं, ततश्च नाऽत्र शङ्का-क्लेश लेशोऽपि धीमताम् ।

"एकस्मिन्नर्थे' इत्यनेन तु द्वन्द्व-विपरीत-त्वं कथितमिति" कैयटोक्त्या भवत्प्रसूयमानस्य नवीनञ्चपुराणञ्चेति द्वन्द्वस्य कल्पनातु व्याकरण-विरुद्धा ।

वे कहते हैं कि नवीन और पुराण मध्य-पदलोपी समास के न होने में पुराण पद के सामर्थ्य का अभाव है। सो क्या सामर्थ्य दर्शन के अभाव में मध्यम पद लोपी समास नहीं होता ? या तदर्थ को भी आपके मत से सूत्र नहीं देखेगा ? यदि अर्थ दर्शना-ऽभाव में समास नहीं होता तो बन्धायाः पुत्रः बन्धा पुत्रः यहाँ समास नहीं हो सकेगा क्योंकि बन्धा के पुत्र का सर्वथा दर्शनाभाव है।

अतः नवीनों से रचा हुआ पुराण नवीन पुराण यहाँ मध्यम पद लोपी समास भी सर्वथा संभव है ।

यदि नवीन शब्द नवीनार्थ वाची और पुराण शब्द पुरातनार्थ वाची माना जाय तो इन विपरीतार्थक शब्दों का समास नहीं हो सकता, ऐसी शंका भी ठीक नहीं क्योंकि भविष्यत् और पुराण, विपरीतार्थ वाची होते हुये भी यदि भविष्यत्-पुराण यहां समास हो जाता है तो नवीन पुराण में भी समास क्यों नहीं हो सकेगा ?

तदत्रभवान् यदि बुद्ध्वाऽपि शङ्कते तदा छलं, यदि चाऽबुद्ध्वैव वदति तदा अप्रतिभानामक-निग्रहस्थाने निगडितः ।

यच्चोक्तं "यदपिच········यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद् रचित-मिति······ ।" इह वे० पा० जाते 'तत्पदेन परामृष्टस्य वेदस्य पुंलिङ्ग-त्वात्' तदिति नपुंसकलिङ्गत्वं नोचितमिति, तत्तु भवताम् अनूहनशीलतामेव सूचयति,यतोऽहि तत्र न तावद्वेदस्य पूर्वपरामर्शः, अपि तु वेदपुस्तकस्य । यद्वा यो मन्त्र सूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमित्यत्र तद् इत्यनेन मन्त्रसूक्तमेव (रचितमिति) स्पष्टं परामृश्यते । नात्र वेदशब्दस्य पूर्वमुल्लेखः अतस्तस्य परामर्शस्याऽनौचित्यमेव ।

'भूमिकायाः' हिन्दी-भाषायां तु भावार्थत्वेन मन्त्रसूक्तात्मकस्यैव वेदशब्दस्य प्रयोगः इति वेद्यम्, । संस्कृते तु मन्त्रश्च सूक्तञ्चेति मन्त्र-सूक्तमिति सामान्ये नपुंसकं, तद् रचितम् इति सम्बन्धः । तदेवं भगवन्, तद् इत्यनेन वेदपुस्तकस्य मन्त्रसूक्तात्मकस्य वस्तुनो वा पूर्व-परामर्शकत्वेन तद् इति प्रयोगः साधुः ।

अच्छा तो इनका विपरीतार्थक होने पर सामानाधिकरण्य न होने से समास नहीं होना चाहिये, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पुराण शब्द यहाँ ग्रन्थ अर्थ में रूढ़ है और नवीन शब्द उसका विशेषण है । महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पुराण शब्द का वास्तविक तात्पर्य ब्राह्मण ग्रन्थों से है, ब्रह्म वैवर्त्तादि पुराणों से नहीं, वे इनको ऐतिह्य कोटि का नहीं मानते । वे इनको नवीन पुराण मानते हैं। तब फिर नवीन शब्द विशेषण तथा पुराण शब्द विशेष्य होने से, कैसा पुराण नवीन पुराण, ब्रह्मवैवर्त्तादि, न तु ब्राह्मणादि । अतः नवीन शब्द ब्राह्मणादि का व्यावर्त्तक होने से सामानाधिकरण्य होने में यहाँ बुद्धिमानों को शंङ्का का कोई स्थान नहीं।

आप जो यहाँ 'नवीन पुराण' में द्वन्द्व समास मानते हो, सो यह 'एक अर्थ में' इससे द्वन्द्व समास का विपरीतत्व कहा गया है। इस कैयट की उक्ति के होने से, व्याकरण विरुद्ध है ।

इस प्रकार यदि आप यहाँ जानबूझ कर ऐसी शङ्का कर रहे हो यह आपका छल है और यदि न समझ कर समास न हो सकने की बात कर रहे हो तो अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान में फंस जाते हो ।

यदपि चोक्तं 'यदृषीणामुत्पत्तिरपि नासीत्' इति वचनमपि स्वाभ्युपगम-विरुद्धम्' इति, तत्तु भवदभ्युपगमस्यैव न्यूनता, यतो हि इह ऋषीणामिति शब्देन मरीच्यादीनामुत्पत्तेरभिप्रायः। एषामृषीणाम् अग्निवायुरविभ्यो वेदज्ञानदान-समये उत्पत्तिर्नैवासीत् इति सत्यमेव, तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदाः अवर्त्तन्त। अतो नाऽत्र स्वकथनविरोधः अपितु भवत एव बुद्धिविरोधः, वेदग्रहीतृणाम् अग्न्यादीनां चतुर्णा मृषीणां मरीच्यादिभ्यो मन्त्रदृग्भ्यो भिन्नत्वात्।

यच्चोक्तं "यो वै ब्रह्माणम् इत्यत्र तु वै इति कपोल-कल्पितमिति" अत्र वयमेतावदेव ब्रूमो यत् स्वदृक्तालमनालोच्य, अन्यदृक्ताल कल्पनेति उक्तिमनुसरन् भवान् वे. पा. ४०२ तमे पृष्ठे ६ म पङ्क्तौ

और आपने यह जो कहा कि यो मन्त्र-सूक्तानां··· स्थल में 'तद्रचितम्' शब्द में तत् शब्द से वेद का परामर्श है और वह नपुंसक लिङ्ग नहीं, अतः 'तत्' नपुंसक शब्द का प्रयोग अशुद्ध है, सो यह भी आपकी कल्पना-शक्ति की न्यूनता है। क्योंकि यहाँ 'तत्, से वेदों का पूर्व परामर्श नहीं, अपितु वेद पुस्तक का परामर्श है। वह नपुँसक लिंग है उसके लिये तत् का प्रयोग ही समुचित है।

अथवा यह 'मन्त्र सूक्त' नपुँसक लिंग है, उसका परामर्शक तत् शब्द है अतः तद्रचितम् में नपुंसकत्व की शंका व्यर्थ है।

अच्छा तो यहाँ यदि मन्त्र सूक्त का परामर्शक तत् शब्द है, तो फिर स्वामी जी ने हिन्दी में 'वेदों की रचना की' यह क्यों कहा? सो यहाँ वेद शब्द भावार्थ रूप में मन्त्र सूक्त समूह के लिए है, ऐसा जानना चाहिये।

इसलिये इस प्रकार 'तत्' शब्द वेद पुस्तक या मन्त्र सूक्त समूह का पूर्व परामर्शक होने से नपुंसक लिंग होने पर कोई दोष नहीं है।

और जो आपने कहा कि "वेदोत्पत्ति के समय ऋषियों की उत्पत्ति भी नहीं थी, यह कथन स्वामी जी के अपने ही कथन के विरुद्ध है।" सो यह आपकी समझ की न्यूनता है, क्योंकि वहाँ ऋषियों से तात्पर्य मरीच्यादि ऋषियों से है। अग्नि आदि ऋषियों को जब वेद-ज्ञान दिया, उस समय इन मरीच्यादिकों की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, उस समय ब्रह्मादि के समीप वेद वर्त्तमान थे, यह आशय है।

अतः यहां स्वकथन का विरोध नहीं, अपितु आपका ही बुद्धि विरोध है क्योंकि ऋषि का तात्पर्य मरीच्यादि पिछले ऋषियों से है।

स्वपाठमुपेक्षते यथा च "यो वै ब्रह्माणम्" इति। ऋषिसम्मतपाठ-स्त्वन्वेषणीयोऽन्यत्राऽपि यथा :—गायत्र्युपनिषदि वै इति पठितम्, तदपि 'श्वेताश्वतरोपनिषदादि' इत्यत्र पठितेन आदिपदेन ग्राह्यम्। अपि च गीतामुद्रणालयात् प्रकाशितायामुपनिषदि 'वै' इति पाठः हरिकृष्णकृतव्याख्यायामस्ति। वस्तुतोऽत्र अन्तिमे चरणे 'वै' न स्यात्, सर्वत्र एकादशवर्णत्वात्, हरिदासेन च चतुर्थे चरणेऽव्याख्यात-त्वाच्च।

यच्चाप्युक्तं मनुसाक्ष्यत्वादिति' महर्षिवाक्ये 'साक्ष्यत्वादिति त्वल् प्रयोगानर्थक्यम्' इति, तत्तु न जाने कोऽत्र वज्रपातः त्वप्रत्यये, यतो हि साक्ष्यं प्रमाणम् तस्य भावः साक्ष्यत्वं प्रमाणत्वम् तस्मात् प्रमाण-त्वादिति भावः। यदि तावत् अपाणिनीय-त्वल्प्रत्यये कृते न कोऽपि

यह जो कहा है कि "यो वै ब्रह्माणम्' यहाँ पर 'वै' पाठ स्वामी दयानन्द का कपोल कल्पित है।" सो इसका उत्तर यह है कि आपने अपनी आंख के शहतीर को भी न देखते हुये वे० पा० के पृ० ४०२ की नवम पंङ्क्ति में लिखे अपने पाठ की उपेक्षा ही कर दी। जैसा कि 'यो वै ब्रह्माणमिति है। फिर भी यह ऋषि पाठ अन्वेषणीय है, गायत्री उपनिषद् में तो यह वै' पाठ अवश्य पढ़ा गया है। वह भी 'श्वेताश्वत'रोपनिषदादि' शब्द में आदि शब्द से ग्रहण करने योग्य है। दूसरी बात यह भी है कि गोतामुद्रणालय से प्रकाशित उपनिषद् में हरिकृष्णकृत व्याख्या में 'वै' यह पाठ अवश्य है। पर रहस्य यह है कि अन्तिम चरण में 'वै' न पढ़ा जावे तो सभी चरणों में ११ वर्ण हो जावें। हरिदास जी ने सम्भवतः इसी विचार से ही चतुर्थ चरण में 'वै' की व्याख्या नहीं की।

यह जो कहा है कि 'मनुसाक्ष्यत्वात्' इस महर्षिवाक्य में 'साक्ष्यत्वात्' शब्द में त्वप्रयोग अनर्थक है। सो यहाँ त्व प्रत्यय के करने में न जाने क्या वज्रपात हो गया? क्योंकि साक्ष्यं प्रमाणं उसका भाव सांक्ष्यत्व अर्थात् प्रणा-णत्व उसके कारण से यह सीधा ऋषि का त्व प्रयोग सार्थक है। साक्ष्य शब्द से त्व प्रत्यय करने में कोई आपत्ति नहीं और न कोई प्रयोग की अनर्थकता ही है, क्योंकि प्रमाणत्व के भाव को दर्शाने के लिए साक्ष्यत्व' प्रयोग आवश्यक है। यहाँ आपका त्वल् प्रत्यय सर्वथा अपाणिनीय है।

वज्रपातस्तदा साक्ष्यत्वप्रयोगेऽपि न कोऽपि वज्रपातः । नाऽपि प्रयोगानर्थ्यम् प्रमाणत्वार्थे तस्य आवश्यकत्वात् ।

अथापि भावे ष्यञ्प्रत्ययान्तात् साक्ष्य-शब्दात् व्याकरणदृशा पुनर्भावे त्व-प्रत्ययस्यानुपपत्तिरिति चेत्तदपि व्याकरणानभिज्ञत्वमेव करपात्रिणः, तथाहि :—नाऽत्रभावे पूर्वं ष्यञ्प्रत्यय अपितु गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चेति (अष्टा. ५।१।१२४) सूत्रेण साक्षिशब्दात् कर्मणि ष्यञिकृते साक्ष्यमिति रूपं, ततश्च साक्ष्य शब्दात् तस्य भावस्त्वतलौ (अष्टा. ५।१।११९) इति सूत्रेण त्वप्रत्यये कृते, 'साक्ष्यत्वे' न कश्चिद्दोषः । अथवा साक्षि-शब्दात् दिगादिभ्योयत् (अष्टा० ४-३-५४) इति साधुत्वेऽर्थे यति प्रत्यये कृते साक्ष्यमिति सिद्धे पश्चात् भावे त्व प्रत्यये कृते साक्ष्यत्वादिति व्याकरण-सिद्ध-प्रयोगे यदा कश्चित् प्रयोगानर्थथ्यमिति कथयति तदा इयमेव निर्मलोक्तिः स्मृतिमायाति :—

'कल्पद्रुमं ह्यपि च बव्वुलमाच्छिनत्ति,
तीक्ष्णैस्तु लोह-दशनैः करपत्रमाशु ।

यदि आपकी यह शंका हो कि साक्ष्य शब्द में भाव में ष्यञ् प्रत्यय है । फिर उससे त्व भाव प्रत्यय नहीं हो सकता, सो यह अनभिज्ञत्व ही है । देखिये :—'साक्ष्य' शब्द में पहले भाव में ष्यञ् प्रत्यय नहीं है अपितु ,गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः' (अष्टा. ५।१।१२४) इस सूत्र से कर्म में ष्यञ् प्रत्यय होने से साक्षिन् से 'साक्ष्य' बना फिर साक्ष्य से भाव में 'तस्य भावः (५।१।११९) सूत्र से त्व होने से 'साक्ष्यत्व बनने में कोई बाधा नहीं ।

अथवा साक्षिन् शब्द से दिगादिभ्यो यत् (अष्टाः ४।३।५४) सूत्र से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने पर साक्ष्य बना फिर 'तस्यभावः······से त्व प्रत्यय होने में भी कोई बाधा नहीं ।

इस प्रकार बुद्धिसंगत युक्तियुक्त व्याकरण सिद्ध प्रयोग को भी प्रयोगानर्थक जब कोई कहता है तो यह निर्मलोक्ति स्मरण आ जाती है । "कल्पद्रुममित्यादि" अर्थात् आरा अपने लोहे के तीक्ष्ण दान्तों से बबूल और कल्पवृक्ष दोनों को ही काट देता है उसको इन दोनों के अन्तर का कोई विवेक नहीं, इसी प्रकार यह लेखक भी अपनी कुतर्क कल्पनाओं के तीक्ष्णवाणों से युक्तियुक्त बुद्धिसंगत व्याकरण समर्थित बात को भी काट रहा है ।

तद्वत् कुतर्क परिकल्पन-तीक्ष्ण-बाणैः,
धीसङ्गतं न्वपि निकृन्तति लेखकोऽयम् ॥

तदेवं महावैय्याकरणस्य दयानन्दस्य महर्षेः व्यर्थ-त्रुटि-प्रदर्शनं कुर्वाणः सनातनी साधुर्न शोभते । किञ्च तेन एतेनैव वैदुष्येण वेदार्थ-पारिजातस्य रचना कृतेति महदाश्चर्यम् ।

वे॰ पा॰ ५०५ तमे पृष्ठे कीदृशो विचित्रोऽयं तर्कः यत् "तेभ्यो-ऽग्न्यादिभ्यो वेदोत्पत्तौ मन्यमानायाम् अन्येभ्योऽपि सूक्तदृभ्यः ऋषिभ्यः कथं न वेदोत्पत्तिर्मन्येत ?" इत्यभिप्रायकः "तेभ्यः तदुत्पत्तौ ऋषिभ्योऽपि कुतो न तदुत्पत्तिरिति" पाठः ।

भगवन्, अस्य पाठस्य त्वयमाशयो यत् यः कोऽपि किमपि पुस्तकं पठेत् तस्य पुस्तकस्य व्याख्याविशेषं प्रकाशनं वा कुर्यात्तदा, स एव तस्य पुस्तकस्य रचयिता मन्येत ? भो विद्वन्, मैवं वादीः, यतोहि यैः मन्त्रदर्शिभिः ऋषिभिः वेदाध्ययनं कृतं, ते स्वप्राक्तनवेदान् कथं रचयितुं प्रभवन्ति ?

अपि च भवान् कथयति यद्-'अग्न्यादयोऽपि यदि मनुष्याः, तर्हि तेऽपि कुतो न ब्रह्मणः अर्वाचीनाः तज्जन्याश्च (ब्रह्मणउत्पन्नाश्चेति यावत्,) इति ।

इस प्रकार महा वैय्याकरण ऋषि दयानन्द की व्यर्थ त्रुटि-प्रदर्शित करना एक सनातनी साधु को शोभा नहीं देता । क्या इसी वैदुष्य पर वेदार्थ-पारिजात की रचना की गई है ? महद् आश्चर्य है ।

वे. पा. के ५०५ पृष्ठ पर आपका क्या ही विचित्र तर्क है कि उन अग्न्यादिकों से वेदों की उत्पत्ति मानने पर अन्य सूक्तदर्शी ऋषियों से भी क्यों न वेदोत्पत्ति मान ली जाय ।

सो जिस प्रकार पुस्तक के पढ़ने वाले या उसका व्याख्यान करने वाले को पुस्तक रचयिता नहीं माना जाता, इसी प्रकार सूक्तदर्शी अन्य ऋषियों को भी वेदों का रचयिता नहीं माना जा सकता । सूक्तदर्शी ऋषि वेदोत्पत्ति से परवर्ती होने से पूर्ववर्त्ती वेदों के रचयिता नहीं हो सकते, क्योंकि पीछे उत्पन्न हुई वस्तु अपने से पूर्ववर्त्ती वस्तु की कभी उत्पादक नहीं होती, और न केवल एक समान धर्म मात्र से वह वस्तु पूर्ववर्त्ती या परवर्ती वस्तु नहीं हो सकती इसलिये करपात्री जी का यह कहना भी कि अग्न्यादि ऋषि भी मनुष्यदेह-

किं भो महाभाग,भवानेव विचारयतु यत् किं मनुष्य-शरीरधारि-मात्रतया, कथं ते ब्रह्मणः परवर्तिनः भवितुमर्हन्ति ? किं वा ते मनुष्यशरीरधर्मितयैव ब्रह्मणोऽपत्यानि भवितुमर्हन्ति ? कदापि नैव। यदि ब्रह्मणः पूर्वं कोऽपि अग्न्यादि-मनुष्यो नाभविष्यत्, तर्हि तु ते मनुष्याः ऋषयो वा ब्रह्मणोऽपत्यानि 'भवितुमर्हन्ति परकाल-वर्तित्वात्, अन्यथा तु नैव।

किञ्च भो भवन्मते ब्रह्मा यश्चतुर्वेदवित् किन्नासौ मनुष्य शरीर-धारी जीवः ? अथ चेन्न, किंविधः ? किंपरिमाणश्च ? अपि च किं देवादिकोटयः मनुष्यशरीरेष्वेव न वसन्ति ? वसन्त्येव, नो चेत्, 'देवो भूत्वा देवान् यजेय, इत्यादि स्थलं कथं सङ्गस्यते ?
किञ्च :—देवा न मनुष्याः इत्युक्तिस्तु अविचारितैव।

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥ (म० ३।११७)

किमत्र मनुष्यातिरिक्ताः विशिष्टदेहाः ऋषयो देवा वा अभीष्टा भवतः ? कदापि नैव। केवलंज्ञानादि विशिष्टास्ते देवाः मनुष्याएव। यथा च-'विद्वांसोहि देवा' इति शतपथ-ब्राह्मणे प्रोक्तम्। अपि च,

---

धारी थे इसलिये वे ऐतिहासिक ब्रह्मा के पीछे उत्पन्न हुये या ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये—ठीक नहीं। यदि ब्रह्मा की उत्पत्ति से पूर्व कोई भी न होता तो वे अग्न्यादि ऋषि ब्रह्मा की सन्तान माने जा सकते थे परन्तु ऐसा नहीं। ब्रह्मा से पूर्व अग्न्यादि ऋषि हो चुके थे, जिनके हृदयों में वेदों की प्रेरणा हुई। वे ब्रह्मा के पीछे उत्पन्न नहीं हो सकते और न ब्रह्मा की ही सन्तान हो सकते हैं।

क्या महाराज, आपके मत में चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा मनुष्य देहधारी जीव विशेष नहीं है ? यदि नहीं है ? तो किस आकार का और किस परि-माण का है ?

क्या देव इत्यादि कोटियां आपके विचार से मनुष्य शरीरों में ही नहीं वसती हैं ? यदि नहीं तो 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' इत्यादि स्थलों की संगति कैसे लगेगी ? तथा च 'देव मनुष्य नहीं' यह उक्ति अविचारित हैं।

ब्रह्मादेवानां पदवी, कवीनामृषि र्विप्राणाम्। (ऋग् ९।९६।६)

अर्थात् "देवानां स्तोतृकारिणाम् ऋत्विजां ब्रह्मा, ब्रह्माख्य ऋत्विक्स्थानीयो भवति इति सायणभाष्येऽपिमनुष्य-शरीरधारिण एव देवा इति व्याख्यातम्।

किञ्च :—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। (मनु० १।२२)

अर्थात् स प्रभुः प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषां देवानामुत्पत्तिमकरोत्, अतः कर्मात्मानः देवाः प्राणिरूपा एव।

तथा च :—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयु :

प्रजां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेवच ॥ (मनु ४।९४)

इत्यत्र मनुना सन्ध्यां कुर्वताम् मानवानामृषित्वप्राप्तिः सूचिता, अतः ऋषयोऽपि मानवा एव।

अपि च :—

देवान्········इत्यादि मनु श्लोक के अनुसार देवो ऋषियों, मनुष्यों, पितरों तथा अन्य घर के देवताओं का पूजन करके (खिलाकर के) गृहस्थी भोजन करे। क्या आपको यहाँ भी देवता या ऋषि विशिष्ट देह वाले अभीष्ट हैं? तो कदापि संगत नहीं, केवल ज्ञानादि विशिट मनुष्य ही देव होते हैं जैसा कि विद्वांसो हि देवा,' यह शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है।

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मा देवानां पदवी-इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्रभाष्य में, 'स्तुति करने वाले ऋत्विग्देवों में ऋत्विक्स्थानीय ब्रह्मा होता है" इस प्रकार (सामणभाष्य में) स्पष्ट रूप से मनुष्य शरीर धारी ऋत्विक्ब्रह्मा का ही वर्णन किया गया है; तथा च मनु १।२२ के 'कर्मात्मनां देवानां श्लोक के अनु-सार उस प्रभु ने सृष्टि के आदि में कर्मशील प्राणिरूप देवताओं को उत्पन्न किया। अतः सिद्ध है कि देवता प्राणधारी ही होते हैं।

ऋषियों········इत्यादि मनु के श्लोक में ऋषियों को दीर्घ सन्ध्या करने से दीर्घायुवाला कहा है। इस प्रकार संन्ध्या करने वाले मनुष्य ही ऋषि होते हैं। तथा च

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान् समेत्यूचुः न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् । (म० २।१५२)

अत्राऽपि मनुः शरीरधारिणां देवानामागमनं पितॄन् प्रति वचनं च अवर्णयत् । न जडदेवा आगन्तुं वक्तुञ्चार्हन्ति । अतो देवा अपि देहधारि-मनुष्यरूपा एव । विशिष्ट-ज्ञानादिकृतो भेद एव तेषाम् आसीत् मनुष्येभ्यः ।

यच्च भगवन् भवान् 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि श्लोके दुह्धातोः प्रयोगेण, तत्स्थाने अधीति पठति इत्यादि-प्रयोगाऽभावेन च अग्न्यादयः देवा एव आसन् न मनुष्या इति यदभिव्यज्जनामकरोत्, साऽपि निमूलैव, यतो हि ते देवाः यदि न चेतना मनुष्य-रूपाः, किं तर्हि जड्पाषाणदिरूपाः ? तदा तु तेषु ज्ञानस्य न सम्भवः, ज्ञानस्य चेतनाधारत्वात् ।

ननु जडेषु देवेषु तदधिष्ठातृ-चेतन-देवकल्पना करिष्यते इति चेत् तदपि न युक्तम्, अधिष्ठातृ-चेतनदेवस्य जड-पदार्थे कल्पनायाः चेतनधर्माणां मनुष्यरूपाणामेव देवानां कल्पनायाः गरीयत्वत्वात् ।

ते तमर्थमपूच्छन्त······इत्यादि मनु के श्लोक में भी शरीर धारी देवों के आगमन और पितरों से उनकी बातचीत का वर्णन है । इसलिये भी निश्चय ही देवता ऋषि, पितर, साध्य आदि सब देहधारी विद्वान् पुरुष थे । वेद ज्ञानादिकृत उनकी विशिष्ट कोटियां थी. उनका कोई शरीरभेद नहीं था ।

महोदय ! आपने 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि श्लोकों में अधीति पठति आदि क्रियाओं के स्थान पर दुदोह में दोहनरूप क्रिया का प्रयोग करने से अग्न्यादि देव ही थे मनुष्य नहीं, यह व्यज्जना की है वह निर्मूल और बुद्धय-संगत है । कृपया आप बताइये यदि वे देव चेतन मनुष्य रूप नहीं थे, तो क्या वे जडरूप थे ? और यदि जड़रूप थे की उनमें ज्ञान का होना असम्भव है, क्योंकि ज्ञान का आधार चेतन पदार्थ होता है, जड़ नहीं ।

यहाँ पर आप इस जड़ रूप देवों में तदधिष्ठातृचेतनदेव की कल्पना करें तो वह भी ठीक नहीं, इसमें पहले देवों को जड़ माना जाय फिर उसमें चेतन अधिष्ठातृदेव की कल्पना की जाय इस नाक घुमाकर पकड़ने से अच्छा यही है कि देवों को चेतन धर्मो-मनुष्य रूप ही माना जाय ।

वे० पा० पृ० ५०६ प्रसङ्गः। स्वामिदयानन्देन वेद-शब्दस्य निर्वचनं विदन्ति, विद्यन्ते, विन्दन्ति विन्दन्ते वा सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैः येषु वा ते वेदाः इति कृतमस्ति, तत्र करपात्रिण आक्षेप :—

"तदपि (निर्वचनं) निस्सारमशुद्धं च, येषु यैरिति पदाभ्याम् इतिहासपुराणादीनामपि ग्रहण-सम्भवेन तत्राऽपि वेदत्वापत्तेः" इति।

(समाधानं) भगवन्! ज्ञायते भवन्मुखे अशुद्धं निस्सारं निर्मूलं धाष्ट्र्यम् इत्यादि-शब्दाः परिपूर्णाः सन्ति नूनम्। ते च प्रतिखण्डनावसरं लालेव अनायासमास्रवन्ति। तदत्र एतदेव वक्तुमुचितं यत् त्वदीयं-वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इति। अस्तु दृश्यतां तावत्:—

स्वामिदयानन्देन करणाधिकरणयोः वेद-शब्दस्य व्युत्पत्तिर्दर्शिताऽस्ति, परन्तु भवता येषु यैरिति विपर्ययेण उपन्यस्य वैकल्पिकोऽर्थः (अधिकरणरूपः) प्रधानीकृतः प्रधानश्च (करणरूपः) गौणीकृतः।

वे० पा० पृ० ५०६ का प्रसङ्ग। स्वामी दयानन्द ने वेद शब्द का निर्वचन विदन्ति विद्यन्ते, बिन्दन्ति विन्दन्ते वा····· यैः येषु वा' किया है अर्थात् जिनके द्वारा या जिनमें मनुष्य पढ़कर यथार्थ विद्याओं को जानते हैं; जिनको पढ़कर विद्वान होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है या जिनसे ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, वे वेद हैं। इस पर करपात्री जी का आक्षेप है कि यहाँ यैः और येषु इन दो पदों से निर्वचन करने से तन्त्र आगम इतिहास पुराणादि का भी ग्रहण किया जा सकता है, ऐसी दशा में वे भी वेद हो जायेंगे? अतः उक्त निर्वचन निस्सार और अशुद्ध है।" (समाधान) ज्ञात होता है आपके मुख में अशुद्ध, निस्सार, निर्मूल और धाष्ट्र्य आदि शब्द भरे हुये हैं जो प्रतिखण्डनावसर पर चाहे वह युक्तियुक्त हों या न हों, टपक ही पड़ते हैं। अस्तु! वे तुम्हारी वस्तुयें तुम्हें ही शोभामय बनें। देखिये, स्वामी जी ने प्रथम करण और फिर अधिकरण अर्थ में वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है, परन्तु करपात्री जी ने प्रथम येषु और फिर यैः से व्युत्पत्ति बताकर वैकल्पिक अर्थ को प्रधान और प्रधान अर्थ को गौणरूप से प्रस्तुत किया है।

यह जो कहना है कि 'वेद' शब्द के इस निर्वचन से इतिहास आदिको का भी वेदत्व हो जायेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ ऋषि ने 'वेद' का लक्षण नहीं किया, अपितु वेद शब्द की व्युपत्ति या निर्वचन किया है।

ननु यच्चोक्तमिह यत् 'अनेन निर्वचनेन इतिहास-पुराणादीनामपि वेदता भविष्यति इति चेन्न, नेह वेदस्य लक्षणमुदिष्टमपितु वेदशब्द-स्य व्युत्पत्तिरेव प्रदर्शिता। निर्वचनं व्युत्पत्तिर्वा न कदापि कस्यापि लक्षणं भवति। लक्षणे एव पूर्णार्थत्वं भवति न निर्वचने।

अपि चैषैव व्युत्पत्तिरन्यैरपि विद्वद्भिः प्रदर्शिता अस्ति। तथाहि सायणाचार्यः—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।

एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥ इत्यादि। तथापि स्वामिदयानन्देन वेदमूलकेषु ब्राह्मणादिषु वेदत्वापत्तिनिवारणाय 'सर्वाः सत्यविद्याः' इति विशेषणमुपन्यस्तं तच्चभवता नाक्षिलक्षीकृतं, तेन न पुराणादिषु वेदत्वापत्तिः।

वेदानां सर्व-सत्य-विद्यावत्वे भवतां काचित् शङ्का चेत्, श्रूयताम्।

महर्षि-मनुना स्पष्टं प्रोक्तमस्ति यत् भूतं वर्त्तमानं भविष्यच्च यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वं वेदात् प्रसिद्धं भवति ससारे, तथा हिः—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।

व्युत्पत्ति या निर्वचन कभी किसी का लक्षण नहीं होता। लक्षण में ही पूर्णार्थ-घटित होता है निर्वचन में नहीं।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अन्य विद्वानों ने भी ऐसी व्युत्पत्ति दिखाई है जैसे कि :—'एनं विदन्ति वेदेन' इत्यादि अर्थात् इसको वेद के द्वारा जानते हैं, यहां करण कारक में सायणाचार्य ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है।

फिर भी स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'वेद' के व्याख्यान में विन्दन्ति सर्वाः सत्य-विद्याः यैः कहकर सर्वसत्य विद्या' रूप विशेषण लगा दिया है जिससे वेदत्व में इतिहास और पुराणों की व्यावृत्ति (निवृत्ति) हो जाती है।

यदि आपको वेदों के सर्वसत्य-बिद्या युक्त होने में सन्देह हो, तो सुनिये-

महर्षि मनु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि संसार में भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी है वह सब वेदों से ही प्रसिद्ध होता है जैसे कि :—

भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। (मनु)

किञ्च वेदानां विविधविद्यावत्त्व-समर्थनं सायणाचार्योऽपि करोति तथाहि :—'चतुर्दश-विद्यास्थान-परिशीलनोपेतः पुरुषः वेदार्थ-रहस्यं जानाति' इति। यदि नाम वेदा विविधविद्यास्थानं नाभविष्यन्, तदध्येत्रे चतुर्दशविद्यापरिशीलनमावश्यकं नाऽभविष्यत्।

अथापि पारौणिक-विपश्चितो मधुसूदन झा-श्री सत्यव्रत सामश्रमि-प्रभृतयोऽपि वेदेषु कला-कौशल-सूक्ष्म-विज्ञानादीनि सन्तीति समनुमोदन्ते।

परं भवादृशो मम सम्मान-भाजनमपि श्री बलदेव उपाध्यायो महानुभावः सायणाचार्य-भूमिका-सम्पादन-प्रसङ्गे अलिखत् :—

"अपरं चामी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्यविज्ञान वेदिभिः प्राकाश्यं नीतानाम् आविष्काराणां धूम्रयान, वायुयान, तडिच्छकट, स्वनग्रहादीनां नैव कल्पितां सम्भावनामपितु वास्तविकीं सत्तां वेदे मन्यन्ते। सर्वेषामाविष्कृतानामाविष्काराणां च विज्ञान-तत्त्वानामाकरो वेद एवेति तेषामभिमतं……… परन्तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्जन-मनोरमः" इति।

भोः, येषां नैष सिद्धान्तो मनोरमः ते के विद्वांसः? किं वेदेषु विविध-विद्याः अवीक्षमाणाः विद्वच्छब्द-संबोध्याः ते? अहो भारतीया-

---

इसके अतिरिक्त इसका समर्थन आचार्य सायण ने भी किया है जैसे :— "चौदह विद्याओं के अध्ययन से युक्त व्यक्ति ही वेदार्थ के रहस्य को जान सकता है" यदि वेद विविध विद्याओं के स्थान (भण्डार) न होते तो उसके पढ़ने वालों के लिये चौदह विद्याओं का (परिशीलन) अध्ययन प्रथमतः आवश्यक न होता।

पौणाणिक विद्वान् श्री सत्यवत-सामश्रमी, मधु सूदन झा इत्यादि ने भी वेदों में कला-कौशल सूक्ष्म विज्ञान आदि के होने की बात कही है।

लेकिन आप जैसे, मेरे सम्मान-भाजन श्री बलदेव जी उपाध्याय ने सायण भाष्य भूमिका के सम्पादन प्रसङ्ग में लिखा है :— वे (स्वामी दयानन्द जी) भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों से आविष्कृत रेलगाड़ी विमान, विद्युद्यान आदि की रचना-कल्पना को वेदों में वास्तविक मानते हैं और वेदों को सब आविष्कारों के तत्त्वों का (आकर) भण्डार मानते हैं परन्तु यह सिद्धान्त विद्वानों को मनोरम नहीं है।

नामुदरम्भरीणामेषां पौराणिकविदुषां वेदापमान-धारणा नाऽभविष्यत्तदा कथमपि सर्वगुरुः देशः वैदिकधर्मश्च ह्रासतां ना ऽभजिष्यताम् । चार्वाक-वाममार्ग-सदृश-सम्प्रदायानां वेदविरुद्धाः गोमेध-नरमेध, पशुवलीनां कुप्रथाः न प्राचलिष्यन् । परं स्वामी दयानन्दः वेदानां पुनः विज्ञान-दर्शिकां प्रतिष्ठामकरोत् ।

किं बहुना, सूर्यचन्द्रादिग्रहण, पृथिव्याकर्षण-धारण-भ्रमण, सृष्टि-विज्ञान, जलादि-चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, जीवन-दर्शनादि-विविध-ज्ञान-विज्ञानानामाकरः वेद इति सत्यमेवेति प्रत्यपादयत् । ग्रन्थविस्तार-भिया नाऽत्र प्रपञ्च्यते ।

इहैव स्थले भवता यच्चोक्तं 'येषु विद्वांसो भवन्ति' इति वाक्ये विषय-सप्तमी चेदधिकरण-कारके इति स्वीकृति-विरोधः इति । तदत्र कः खलु स्वीकृति-विरोध इति न प्राकाशयत् ।

अरे जिनको ये सिद्धान्त मनोरम नहीं है वे कौन से विद्वान् है ? क्या वे ही हैं जो विविध-विद्याओं को वेदों में न देखते हुये भी विद्वान कहलाते हैं ?

दुःख का विषय है कि यदि इन पौराणिकों की वेदापमान की ऐसी धारणा न होती तो सब का गुरु भारत और वैदिक-धर्म ह्रास को प्राप्त न होते । चार्वाक और वाममार्गी-सदृश सम्प्रदायों की गोवध, नरवध, पशुवलि आदि की कुप्रथायें चालू न होतीं । लेकिन स्वामी दयानन्द ने वेदों की फिर से विज्ञान-दर्शक परमप्रतिष्ठा की ।

अधिक क्या कहा जाय ?, सूर्यचन्द्रादिग्रहण पृथ्वी का आकर्षण, धारण, भ्रमण, सृष्टि विज्ञान जलादि चिकित्सा विज्ञान मनोविज्ञान, प्राणी-विज्ञान, जीवन दर्शन आदि अनेक ज्ञान-विज्ञानों का भण्डार वेद हैं । ग्रन्थ-विस्तार भय से यहां अधिक नहीं, लिखा जा रहा हैं । वे० पा० के इसी स्थल पर आपने यह जो कहा कि 'येषु विद्वांसो भवन्ति' सो इस वाक्य में च रहित पाठ अपने दिया है 'विद्वांसश्च भवन्ति' का अभिप्राय यह है कि वेदों को जानकर, विचार कर तथा लाभ उठाकर विद्वान् बनते हैं ।

इसी वाक्य के विषय में आपने कहा है कि यदि यहाँ पर विषय में सप्तमी मानें तो इससे पहले आपने (स्वामी दयानन्द ने) अधिकरण में सप्तमी मानी है सो इससे स्वीकृति विरोध होगा ।

वैयाकरणास्तावदस्य हिन्दी-कारस्य व्याकरण-ज्ञान-गाम्भीर्यं परीक्षन्ताम्:—स लिखति "यदि यहाँ पर विषय में सप्तमी मानें तो इसके पहले आपने तो अधिकरण में सप्तमी मानी है, उससे विरोध होगा।"

सोऽयं वराकः हिन्दीकारः विषये अधिकरणे चेति सप्तमीं लिखन् अधिकरणकारक-सप्तमीतः पृथक् विषय-सप्तमीं मन्यते। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेति त्रिधा[१] आधारोऽधिकरणं वेति च न जानाति। तदयं केवलं न्यायाचार्यो न व्याकरणाचार्य इति प्रतीयते। प्रसङ्ग-प्राप्ता कस्यचिद् व्याकरणानभिज्ञस्य नैयायिकस्य काचित्कथाऽत्र प्रस्तूयते, तथा हि:—एकः वैयाकरणः नैयायिकस्य किमप्यशुद्धवाक्यं श्रुत्वा प्राह, भो नैयायिक! भवान् अशुद्धं वाक्यं वदति।

नैयायिकःप्रत्यवदत्—अस्माकूणां नैयायिकेषां अर्थरि तात्पर्यं न शब्दरि।

तदा वैयाकरणः अकथयत्—इदमपि ते अशुद्धं वाक्यम्। शुद्धं तु यथा अस्माकं नैयायिकानाम् अर्थे तात्पर्यं न तु शब्दे। पुनरस्माकूणामिति कथमिति वद।

---

१. एतच्च संहितायामिति सूत्र भाष्ये स्पष्टम्।

व्याकरण के विद्वान् लोग वे० पा० के हिन्दीकार के व्याकरण-ज्ञान की परीक्षा करें उसने लिखा है:—यदि यहाँ विषय में सप्तमी मानें तो उसके पहले आपने जो अधिकरण में सप्तमी मानी है उससे विरोध होगा" सो यह वेचारा हिन्दीकार आधार (अधिकरण) के औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक इन[१] भेदों को न जानकर विषय सप्तमी और अधिकरण-सप्तमी को समानान्तर दो भिन्न वस्तुएँ समझ रहा है और उनको विरोधी मान रहा है। जबकि विषय-सप्तमी तो अधिकरण-सप्तमी का ही भेद है।

इससे ज्ञात होता है वह केवल न्यायाचार्य ही है व्याकरणाचार्य नहीं। इस प्रसङ्ग में व्याकरण ज्ञानरहित किसी नैयायिक की कहानी प्रस्तुत है:—

एक बार एक वैयाकरण ने नैयायिक के किसी अशुद्ध वाक्य को सुनकर कहा ओ नैयायिक, तुम वाक्य अशुद्ध बोलते हो। तब नैयायिक ने कहा 'अस्माकूणां नैयायिकेषां अर्थरि तात्पर्यं न शब्दरि'

नैया०—यथा-इक्ष्वाकूणां तथा ऽस्माकूणाम् ।

वैया०—अस्तु तर्हि नैयायिकेषामिति कथम् ?

नैया०—यथा सर्वेषामिति ।

वैया०—कथं तर्हि अर्थरि शब्दरि इति ?

नैया०—यथा कर्त्तरि यथा च पितरि इति ।

वैया०—(पुनरपि न्यायाचार्यस्य तस्य परीक्षां कर्त्तुमिच्छन्) अस्तु तर्हि 'झोऽन्त' इति सूत्रस्य कोऽर्थः ?

नैया०—झोऽन्त इत्यस्य कोऽर्थः स्यात्, झोऽन्त इत्येव चेष्यते। यद्यझोऽन्तोऽपि झोन्तः स्याद्, घटः किं न पटायते ।। तदेवं वे० पारिजातस्य हिन्दीकारोऽपि वैयाकरणखसूचिः वैयाकरणायते । यदा च वैषयिकी सप्तमी अपि अधिकरणसप्तम्येव तदा को विरोध इति तु

तब वैयाकरण बोला—तुम्हारा यह वाक्य भी अशुद्ध है शुद्ध वाक्य तो इस प्रकार होगा—'अस्माकं नैयायिकानामर्थे तात्पर्यं न तु शब्दे' अर्थात् हम नैयायिकों का तो अर्थ से मतलब होता है शब्द से नहीं । अच्छा तो तुम्हारा अस्माकूणां प्रयोग कैसे बना ?

नैया०—जैसे 'इक्ष्वाकूणां' बनता है वैसे ही अस्माकूणाम् ।

वैया०—अच्छा तो नैयायिकेषां' कैसे बना ?

नैया०—जैसे सर्वेषां'। वैया० अच्छा तो अर्थरि और शब्दरि शब्द कैसे बने ?

नैया०—जैसे कर्त्तरि और पितरि बने ।

वैयाकरण ने उस नैयायिक की एक बार और परीक्षा लेनी चाही और पूछा—अच्छा तो झोऽन्तः इस सूत्र का क्या अर्थ है ? नैयायिक बोला—झोऽन्त इत्यस्य कोऽर्थः स्यादित्यादि अर्थात् झोऽन्तः का क्या अर्थहोगा ? झोन्त अर्थ का झोन्त ही है। यदि अझोन्त झोन्त हो जावे तो घड़ा कपड़ा क्यों नहीं हो सकता ?

यहाँ न्यायाचार्य हिन्दीकार महोदय व्याकरणाचार्य होने जा रहे हैं । अस्माकूणाँ की तरह विषय-सप्तमी और अधिकरण सप्तमी का विरोध ठीक बता रहे हैं। इनमें क्या विरोध है ? यह तो वेही जानें । इस प्रकार तो महाराजजी,

स एव जानातु। किञ्च नैवं शैवालजालावलम्बनमगाध-ज्ञान-सलिले ब्रुडन्तं त्रातुमर्हं भवन्तमित्यलं विस्तरेण।

वे० पा० ५०६ तमे पृष्ठे यदप्युक्तं "किञ्च त्वद्रीत्या वेदा अपि ज्ञानरूपाः, ज्ञानं च प्रमारूपमेव वक्तव्यम्, ओमिति चेत् प्रमारूपाणां वेदानां कथं सत्यविद्या-जनकत्वम् ? एकत्र प्रमा-प्रमाणत्व-विरोधात्। सत्यविद्याश्च प्रमारूपाः वक्तव्याः, तथा चोभयप्रमाणं च वैलक्षण्यमपि वक्तव्यम्, अत्यन्तसालक्षण्ये साध्य-साधन-भावाऽनुपपत्तेः। ज्ञानरूपाणां वेदानां किमधिकरणं ? परमेश्वरो वा ऽन्यो वा ? नान्त्यस्तस्यैव सर्व-विद्यावत्त्व-प्रसङ्गात्। परमेश्वर एव चेत्तदाऽपि सत्यविद्यायाः किम-धिकरणम् ? ज्ञानं, वेदाः वा ? ग्राद्ये वेदेष्वित्युक्ति-विरोधात् वेदेषु चेत्तदपि नोपपद्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तराधिकरणत्वे माना ऽ भावात्।"

भगवन्, तदेतत्कथनं अज्ञ-जन-मनोरममेव, हेत्वाभासबाहु-ल्यात्। किञ्च एष ग्राक्षेपः, ग्रानुपूर्वीविशिष्टशब्दराशिरूपेऽपि वेदे भवन्मतेऽपि, समान एव।

सैवाल जाल पकड़ने वाले को ग्रगाध ग्रज्ञान सलिल में डूबने से बचाया नहीं जा सकता। इसलिए इस विषय में ग्रधिक विस्तार अपेक्षित नहीं।

वे. पा. के. ५०६ पृष्ठ पर यह जो ग्रापने कहा "तुम्हारी रीति से वेद भी ज्ञान रूप हैं, ज्ञान तो प्रमा रूप ही होता है यदि ग्राप इस बात को मानते हैं, तो प्रमा रूप वेदों को सत्यविद्याग्रों का प्रदाता कैसे मानोगे ? क्योंकि प्रमा और प्रमाणत्व दोनों एक जगह नहीं रह सकते।

सत्य-विद्या भी प्रमा रूप ही मानी जाएगी, इस परिस्थिति में वेदरूप प्रमा ग्रौर सत्य-विद्या रूप प्रमा में क्या वैलक्षण्य है ? यह आपको बताना होगा। ग्रत्यन्त सदृश वस्तुओं में साध्य साधन भाव नहीं बनता। ज्ञानरूप वेदों का ग्रधिकरण परमेश्वर है या कोई दूसरा ? दूसरा कोई हो नहीं सकता, क्योंकि इस अवस्था में उसी को सब विद्याओं से युक्त मानना पड़ेगा, ग्रौर यदि परमेश्वर को ही मानें तो सत्य-विद्याओं का ग्रधिकरण कौन होगा ? ज्ञान अथवा वेद ? पहले पक्ष में वेदेषु इस उक्ति का विरोध होगा, ग्रौर यदि वेदों में ग्रधिकरणता मानी जाय, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान के ग्रधिकरण में कोई प्रमाण नहीं।"

यदा भवन्मते शाब्दी प्रमा भविष्यति सैव च वेदः, तदा किमन्यत्प्रमाणं प्रमा-भिन्नं स्यात् ? प्रमा-प्रमाणयोश्चावश्यं भिद्यमानत्वात् ।

यदि तावदर्थज्ञानं प्रमाणं तदा किं शब्दाद्भिन्नोऽर्थः उताऽभिन्नः ? अभिन्नत्वे स एव दोषः । भिन्नत्वस्य चाऽसम्भवः, शब्दात् पृथग् अनाश्रयणादर्थस्य । तदेवं भवान् मतानुज्ञा-नाम-निग्रह-स्थानमायातः ।

अस्मत्पक्षे चेदं समाधानं, परमेश्वर द्वारा सर्गादौ-ज्ञानदान-प्रक्रियायां सत्यां सङ्गतमेव । तच्च केवलदोषोद्भावन-निपुणेन भवता ग्राह्यं, तद्धि ईश्वर-ज्ञानं प्रमेयत्वेऽपि अप्रमेयम्, सर्गादौ अग्न्यादीनां निर्मलान्तःकरणेषु स्वतःसम्भवात् तदनु तज्ज्ञानं प्रमाणं, तस्य स्वतःप्रामाण्यात् ।

वस्तुतस्तु सर्गादौ प्रमाणमपि प्रमैवासीत् । सम्प्रति तु न तथा व्यवहारे प्रत्यक्षाऽग्रहणे शब्द-प्रमाणेन ग्राह्यत्वात् । ननु वेदाः ज्ञानं, प्रमा चाऽपि

महाराज, यह सब आपका कथन अज्ञ मनुष्यों को ही सुन्दर लग सकता है क्योंकि इसमें बहुत से हेत्वाभास हैं ।

दूसरी बात यह भी है कि आनुपूर्वी-विशिष्ट शब्द-राशि को 'वेद, मानने वाले आपके मत में भी उक्त आक्षेप समान (सम्भव) ही है, क्योंकि जब आपकी शाब्दी प्रमा होगी और वही प्रमा वेद हैं तो इस प्रमा से भिन्न प्रमाण आपके पास क्या होगा ? पर होना चाहिए, क्योंकि प्रमा और प्रमाण भिन्न अवश्य होते हैं, वे आपके कथनानुसार एक नहीं हो सकते ।

यदि आप यह कहें कि अर्थज्ञान को शाब्दी प्रमा में मान लेंगे, तो फिर बताइये यह अर्थ शब्द से भिन्न है या अभिन्न, अभिन्न होने पर वही दोष बना रहा और भिन्नता सम्भव नहीं, क्योंकि शब्द से पृथक् अर्थ कहीं अन्यत्र रह नहीं सकता । इस प्रकार महाराज आप मता-नुज्ञा नामक निग्रह स्थान में आ फँसे ।

हमारे पक्ष में आदि सृष्टि में ज्ञान-दान-प्रक्रिया मानने पर समाधान संगत है, और यह समाधान दोषोद्भावन में निपुण आपको भी (मानना) ग्रहण करना चाहिए कि ईश्वर-ज्ञान प्रमेय-कोटि में आते हुए भी अप्रमेय है क्योंकि सर्ग के आदि में अग्न्यादि ऋषियों के अन्तः करण की निर्मलता की स्थिति में स्वतः संभूत हो गया था । इसके बाद वही स्वतः संभूत ज्ञान ही स्वतःप्रमाण होने के कारण प्रमाण बन गया ।

ज्ञानं, तदा प्रमा प्रमाणयोरेकत्वापत्तिरेव इति चेन्न, तत्र वेद-ज्ञानं प्रमा, अग्न्यादीनामन्तःकरणनिर्मलधारावृत्तिश्च प्रमाणं, ब्रह्मज्ञानं च फलं। प्रमाणस्य फलस्य चापि प्रमाणरूपत्वमपि क्वचिद् भवति। ज्ञान-व्यापारे भेदकथनं तु जीवात्मनः वेद-संक्रमणे ज्ञेये ज्ञाते च भेद-बुद्धेरनुपस्थानात् न सम्भाव्यते।

वस्तुतस्तु यथार्थानुभवः प्रमा तस्याश्च कारणं प्रमाणं, प्रमायाः करणानि च प्रमातृ-प्रमेयादीनि बहूनि तथापि इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणमुच्यते अतिशयितत्वात्। प्रत्यक्ष-विषयकोऽयं हि पक्षः लौकिक-सन्निकर्षे एव भवति। तत्र वेदाः प्रमाणमिति मत्वा कश्चिदपि प्रवर्तितुं शक्नोति, यश्च यथार्थानुभवो जायते स प्रमा, एतत्प्रमायाः फलं तु सत्यविद्या-जनक-ज्ञानं वेद एव।

यथा कश्चित् काष्ठं छेत्तुं प्रवर्त्तते, तत्र छेदनरूप-क्रियायाः करणं परशुः, कुठार-काष्ठसंयोगो व्यापारः, तस्य परशोः फलमपि छेदनमेव। तच्च छेदनं साधन-भूतात् परशोः भिन्नं, परन्तु तत्साधनं काष्ठ-सह-कृतमेव।

वास्तव में तो सर्ग के आदि में प्रमाण भी प्रमा रूप ही था। उस समय उसमें कोई भेद नहीं था। परन्तु इस समय व्यवहार में प्रत्यक्षतः ग्रहण न होने से बाह्य शब्द-प्रमाण से ही ग्राह्य होगा।

अच्छा तो वेद भी ज्ञान, प्रमा भी ज्ञान, तब तो प्रमा और प्रमाण की एकता हो गई, सो ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्यों कि वहाँ वेद ज्ञान प्रमा है और अन्तः करण की निर्मल धारावृत्ति प्रमाण है और फल ब्रह्म-ज्ञान है। कहीं २ प्रमाण और फल भी प्रमा रूप हो सकते हैं। ज्ञान-व्यापार में उस समय जीवात्मा का भेद कथन संभव नहीं, क्योंकि वेद-संक्रमण के समय ज्ञेय और ज्ञाता की भेद-बुद्धि उपस्थित नहीं होती।

वास्तव में यथार्थ-अनुभव प्रमा है उस प्रमा का असाधारण कारण ही प्रमाण है इस प्रमा के करण प्रमाता प्रमेय आदि बहुत हैं तब भी इन्द्रियसंयोग आदि ही अतिशयित होने के कारण प्रमा के करण कहे जाते हैं और यह पक्ष प्रत्यक्ष-विषयक लौकिक-सन्निकर्ष में ही होता है।

वहाँ तो वेदों को प्रमाण मानकर कोई भी प्रवृत्त हो सकता है जो यथार्थ अनुभव होता है वही प्रमा है इस प्रमा का फल सत्य विद्याओं का जनक-ज्ञान वेद ही है।

यच्चाप्युक्तं 'वेदाः ज्ञानं तच्च प्रमारूपं पुनः कथं वेदानां प्रमाणत्वं ? अत्रोच्यतेः—

वात्स्यायनभाष्यमते हि, आत्मा तावदुपलब्धि-विषयत्वात् प्रमेये परिपठितः, उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता, बुद्धिरेका उपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम् उपलब्धि-विषयात्तु प्रमेयम् उभयाऽभावात्तु प्रमितिरिति प्रोक्तम्।

एवममिहापि अवगन्तव्यं यत् अन्यतत्त्वविनिश्चयाय वेदाः प्रमाणं जीवात्मना अध्येतव्यत्वेन प्रमेयं, प्रमाणत्वप्रमेयत्वाऽभावे प्रमारूपमिति।

यच्चोक्तंः— "प्रमात्व-प्रमाणत्व-विरोधादिति" तत्तु शब्दविशिष्टार्थ-ज्ञानानुशीलनाऽभावादेव। विरोधशब्द-प्रयोगश्चात्र चिन्त्यः, विरोधे सति तु प्रमायाःकरणं साधनमिति नोपपद्यते।

जैसे कोई लकड़ी को काटने को प्रवृत्त होवे तो वहां छेदन क्रिया का करण कुल्हाडी है कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग ही व्यापार है और उस कुल्हाड़ी का फल भी छेदन ही है और वह छेदन, साधनभूत कुल्हाड़ी से भिन्न है परन्तु वास्तव में वह साधन, लकड़ी के साथ ही कार्यकृत् होता है।

यह जो कहा कि वेद ज्ञान है और ज्ञान प्रमारूप है फिर वेदों का प्रमाणत्व कैसे हो सकता है ? इस विषय में सुनिये, "न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में कहा है कि आत्मा उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय माना गया है, उपलब्धि में स्वतन्त्रःकर्त्ता' के अनुसार कर्त्ता के स्वतंत्र होने से आत्मा प्रमाता कहा जाता है अथवा एक ही बुद्धि उपलब्धि का साधन होने से 'प्रमाण' और उसका विषय होने से प्रमेय, तथा दोनों के अभाव में प्रमिति (उपलब्धि रूप) कहाती है" उसी प्रकार वेद भी अन्य-तत्त्व-विनिश्चय के लिए प्रमाण, जीवात्मा के अध्येतव्य होने से प्रमेय तथा प्रमाणत्व और प्रमेयत्व के अभाव में 'प्रमा' रूप भी होते हैं।

यह जो कहा कि—'प्रमात्व और प्रमाणत्व में विरोध होने से'। यह आपका कथन शब्द के विशिष्ट अर्थज्ञान के अनुशीलन के अभाव में ही कहा गया है। यहाँ पर विरोध शब्द का प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि विरोध होने पर तो 'प्रमा' का करण साधन है यह नहीं कहा जा सकता।

यच्चोक्तं "अत्यन्तसालक्षण्ये साध्य-साधन-भावानुपपत्तेरिति, तदपि नूनमविचारितचारु एव। लोके दण्डरूपसाधनेन अन्यसाध्य-दण्डत्रोटन-सम्भवतया प्रत्यक्षविरोधात्।

अनुपपत्तौ चास्यां किञ्चित्प्रमाणं युक्तिर्दृष्टान्तो वा नोपस्थापितो भवता। यच्च पृच्छ्यते वेदानां किमधिकरणममिति ? परमेश्वर एवेति तु समाधानम्। ज्ञानरूप-गुणस्य द्रव्याश्रयत्वात्। अतः वेद-ज्ञानस्य आधारः प्रभुरेव। वेदाः सर्व-विद्या-स्थानानि सर्व-विद्या-स्वरूपाण्येव, ज्ञानस्य पूर्वाऽपर-धारावाहकतायां पूर्वाधारः ईश्वरः, उत्तराधारश्च जीवः, पुनरपि अनाद्यन्तिमाश्रयस्तु परमात्मैव।

यदुक्तं 'नान्यज्ञानस्य अन्यज्ञानमधिकरणमिति', तदेतद्भवत्कथनं तु अव्यावहारिकं प्रत्यक्ष-विरुद्धं च, यतो हि वयं पश्यामः यद् गुरोर्ज्ञा-नस्य शिष्यः (तद्बुद्धिः) अधिकरणं भवत्येव।

अथापि वेदाः सत्यविद्यावन्तः, तदा सत्यविद्यावत्त्वं विशेषणं वेदाश्च विशेष्याः, विशेषणं हि व्यावर्त्तकमन्यग्रन्थेभ्यः।

यह जो कहा कि अत्यन्त सालक्षण्य (समान लक्षणत्व) में साध्य साधन-भाव की अनुपपत्ति होगी' यह भी बिना विचारे ही कह डाला है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि दण्ड रूप साधन से अत्यन्त सदृश दूसरा दण्ड, वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, इस प्रत्यक्ष बात का अपलाप नहीं किया जा सकता।

आपने इस अनुपपत्ति में कोई प्रमाण युक्ति अथवा दृष्टान्त नहीं दिया, और यह जो आपने पूछा कि वेदों का अधिकरण (आधार) क्या है ? सो इसका आधार परमेश्वर ही है, क्योंकि गुण गुणी (द्रव्य) के ही आश्रित रहता है।

वेद सब सत्य विद्याओं का स्थान है अर्थात् वे सत्य विद्या-स्वरूप ही हैं। ज्ञान की पूर्वापर-धारावाहकता में पूर्व का आधार ईश्वर है। उत्तराधार जीव है। फिर भी उस ज्ञान का अनादि और अन्तिम आधार ईश्वर ही है।

यह जो कहा कि—'अन्य ज्ञान का अधिकरण अन्य नहीं होता, यह भी अव्यावहारिक और प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि हम देखते हैं कि गुरु के ज्ञान का शिष्य (तद्बुद्धि) अधिकरण होता ही है।

वेदा० पा० ५०७ तमे पृष्ठे यच्चोक्तं "वाक्य-ज्ञानेन वाक्यार्थ-ज्ञानवत् परमेश्वर-निष्ठ-वेदात्मक-ज्ञानेन सत्यविद्यात्मकं ज्ञानं भविष्यतीति चेन्न, तथात्वे वेदात्मकाः वेदाः तदा तेषामन्यत्र संक्रमणमन्य-निष्ठ-जनकत्वं च सर्वथा नोपपद्यते।"

तदिदं सर्वं भ्रामकं भवत्कथनं, वाक्य-वाक्यार्थ-दृष्टान्ताऽसङ्गतेः। किमिह परमेश्वर-निष्ठं वाक्यं, सत्यविद्यात्मक-ज्ञानं च वाक्यार्थः? नैव, परेश-निष्ठ-वेदात्मक-ज्ञानस्यैव सम्पूर्णसत्यविद्यात्मकत्वात्।

भोः करपात्र-बद्ध-श्रद्धाः। अत्र तावद्विचारयन्तु यदयं लेखकः वेदं नेश्वरीयं ज्ञानं मनुते। ईसाई-यवनादिमतानुयायिनां समीपे तु ईश्वरीयं ज्ञानं बाइविलं कुरानं चेत्यादि वर्त्तते, परं करपात्रमहोदयस्य एतस्मिन्मते स्वीकृते तत्प्रतियोगितायां नार्याणां समीपे किमपि परेश-ज्ञानं सम्भवति। तदेवमयं करपात्रप्रयासो धर्म-वृक्षस्य मूले कुठार-

---

तथाच 'वेद सब सत्य-विद्याओं से युक्त है' यहाँ सब सत्य विद्यायुक्त होना विशेषण है और वेद विशेष्य हैं। विशेषण व्यावर्त्तक होगा अतः वेद सब सत्य-विद्या युक्त होने के कारण अन्य ग्रन्थों के व्यावर्तक हैं।

वे० पा० के पृ० ५०७ पर यह जो कहा कि "वाक्य-ज्ञान से वाक्यार्थ-ज्ञान के समान, परमेश्वर-निष्ठ वेदात्मक ज्ञान से सत्यविद्यात्मक ज्ञान हो जायेगा' वह भी ठीक नहीं, ऐसा मानने पर मनुष्यों में वेदात्मक-ज्ञान से सत्य विद्याओं की उत्पत्ति न होगी, क्योंकि अन्य में रहने वाले वाक्य-ज्ञान से अन्य-निष्ठ वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वेद ईश्वरीय-ज्ञान हैं, तब उनका अन्यत्र संक्रमण अथवा जन्म नहीं हो सकता"।

आपका यह कथन भ्रामक है, क्योंकि आपका वाक्य और वाक्यार्थ का दृष्टान्त असंगत है। भला क्या यहाँ परेश-निष्ठ-ज्ञान वाक्य है? और क्या वेदस्थ सत्य-विद्यात्मक-ज्ञान वाक्यार्थ हैं? कदापि नही। परेश-निष्ठ वेदात्मक ज्ञान ही सत्य-विद्यात्मक ज्ञान है। ओ करपात्री जी के श्रद्धालु भक्तो! यहाँ विचार करो कि यह लेखक यहाँ वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता। इस प्रकार ईसाई यवनादि मतानुयायियों के पास तो बाइविल कुरानादि हैं उनकी प्रतियोगिता में आर्यों के पास कोई ईश्वरीय-ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार इनका यह प्रयास धर्म-वृक्ष पर कुठाराघात है।

प्रहारः एव। ननु वाक्य-ज्ञानं परमेश्वरे वाक्यार्थ-ज्ञानं च जीवे तिष्ठति इति मन्येत चेत्तदपि न, सर्गादौ वाक्यार्थ-ज्ञानस्य अग्न्यादिषु व्यापकेन परमात्मना कारितत्वात्। परमेश्वरस्यैव समस्तं ज्ञानं वेदः। तच्च जीवानां कल्याणाय तत्त्व-ज्ञानाय चापेक्षितं वर्त्तते।

यच्च भवान् वक्ति 'यदीश्वरस्य समस्तं ज्ञानं वेदः. तथात्वे परमेश्वरस्य भौतिक-ज्ञानानां वेद-वाह्यत्वादसार्वज्ञ्यापत्तिः, इति, तदपि न युक्तम्। आधुनिकैर्वैज्ञानिकैः कृतानामाविष्काराणामपि वेदमूलकत्वान्न वेद-वाह्यत्वम्।

किञ्चैषां सर्वेषां भौतिक-ज्ञानानां वेदेषु मूलं वर्त्तते एव। वेद-प्रदत्तं मूल-ज्ञानमेव सर्वैर्जीवैः स्वबुद्धया पल्लवितं क्रियते। यदि परेशः सर्गादौ वेद-ज्ञानं नादास्यत् तदा नैमित्तिक-मूल-ज्ञानाऽभावे कश्चिदपि जीवः किमपि आविष्कर्त्तुं नाऽशक्ष्यत। अतः सर्वस्य भौतिक-ज्ञान-स्यापि वेदमूलकत्वेन न परमेश्वरे असर्वज्ञत्वापत्तिः।

किं च भवतां मते वेदो न समस्तं ज्ञानं, नाऽपि ज्ञानांशः, तदा का

अच्छा तो 'वाक्य-ज्ञान परमेश्वर में ठहरता है और वाक्यार्थ-ज्ञान जीव में, यह कहें तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्ग के आदि में ईश्वर ने अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वाक्यार्थ का ज्ञान कराया था। इस प्रकार समस्त वेद ज्ञान परमेश्वर का ही है और वह ज्ञान जीवों के कल्याण और तत्व ज्ञान के लिए अपेक्षित है।

यह जो आप कहते हैं कि 'यदि समस्त ज्ञान ईश्वर का वेद ही है तो उसमें आधुनिक भौतिक ज्ञान से आविष्कृत आविष्कारों के ज्ञान का समावेश न होने से ईश्वर के सर्वज्ञत्व में दोष आयेगा।' यह भी युक्त नहीं, क्योंकि आधुनिक आवि-ष्कारों का मूल वेदों में है। आविष्कारक वेदों के मूल ज्ञान को प्राप्त करके ही उसको पल्लवित करते हैं। यदि परमात्मा सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान न देता तो मूल-ज्ञान के अभाव में जीव कोई भी आविष्कार नहीं कर सकता था। इस लिए समस्त भौतिक-ज्ञान के भी वेद-मूलक होने पर परमेश्वर में असर्वज्ञत्व का दोष नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त आपके मत में वेद न तो समग्र ज्ञान हैं और न ज्ञानांश ही हैं। तब बताइए तीसरी कोटि कौन सी है? महाशय! भौतिक या अभौ-

नाम तृतीया कोटिः सम्भाव्यते ? किमस्ति भौतिकमभौतिकं वा यत् परेशज्ञानाद् बाह्यं, यदि नास्ति, तर्हि वेदानां सर्वविद्यावत्त्वे न विघातः।

यच्चोक्तं "ईश्वरस्य ज्ञानरूपा वेदाः निर्विषयाः सविषयाः वा ? नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः। ईश्वरज्ञानमेकं व्यापकं नित्यमनेकं परिच्छिन्नमनित्यं वा ? नाद्यः, वेदा इति बहुवचनानुपपत्तेः। नान्त्यः नित्यत्वोक्ति-व्याघातात्। न द्वितीयः, तज्जन्यायाः सद् विद्यायाः विषयेभ्यो भिन्नास्तद्विषयाः अभिन्ना-वा ? भिन्नत्वे के ते ? कथं वा भिन्नविषयै र्ज्ञानै भिन्नविषया विद्या जायन्ते ? कार्यकारण-भाव-नियामकाभावादतिप्रसक्तिश्च। अभिन्नाश्चेन्नैरर्थक्यापत्तिः। नहि घटविषयया प्रमया घटप्रमाजन्यत्वेऽपि किञ्चित्प्रयोजनं सिध्यति। तस्माद् वेदविषयकं सर्वमपि दयानन्दीयं मतमशुद्धमेव"।

वस्तुतस्तु करपात्रिण एवेदं सर्वमृषिखण्डनमसङ्गतम्, वेदानां विषये निर्विषय-सविषययोरेकतर-पक्षस्यानिर्धारणात्, तृतोयपक्षस्य च स्वाङ्गीकृतस्य अनुपस्थानात्। अयं हि लेखकः कुतर्क-मनो-मोदकैरसूयाद्वेषादिप्रवृद्धात्म-क्षुधां शमयितुं निष्फल-प्रयासमनुतिष्ठति।

तिक कुछ भी वेद-ज्ञान से बाहर नहीं। अतः वेदों के सर्वविद्यायुक्त होने में कोई भी रुकावट नहीं आ सकती।

आपका यह कथन कि "ईश्वर के ज्ञान रूप वेद निर्विषय हैं या सविषय ? विकल्प की अनुपपत्ति के कारण निर्विषय तो हो नहीं सकते, क्योंकि यह विकल्प उठता है कि ईश्वर का ज्ञान, एक, व्यापक, नित्य है या अनेक, परिच्छिन्न और अनित्य है ? पहली बात ठीक नहीं क्योंकि तब वेदाः' यह बहुवचन नहीं बन सकता, अन्तिम भी नहीं क्योंकि वेद जन्य सद्विद्या के विषयों से ये विषय भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हैं तो वे विषय कौन से हैं ? और भिन्न विषयक ज्ञानों से भिन्न-विषयक विद्यायें कैसे उत्पन्न होती हैं ? कार्य-कारण भाव के नियामक न होने से अतिप्रसङ्ग होगा। यदि अभिन्न हैं, तो निरर्थक हैं, क्योंकि घट-विषयक प्रमा से घट-प्रमा-जन्य होने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए दयानन्द का वेद विषयक समस्त मत ही अशुद्ध हैं।"

परन्तु बात वास्तविक यह है कि करपात्री जी का यह समस्त कथन असङ्गत है। वेदो के विषय में निर्विषय और सविषय इनमें से किसी एक पक्ष का निर्धारण नहीं किया है और न स्वीकृत तृतीय पक्ष की ही उपस्थापना की

सम्प्रति सूक्ष्मेक्षिका-विचक्षणेभ्यस्तत्समाधानं विधीयते। तथा हि:—ज्ञानरूपा: हि वेदा: ईश्वरदृष्ट्या निर्विषया: यतो हि ते परमेश्वरं नानुबध्नन्ति, परं जीवदृष्ट्या तु सविषया:। विषिण्वन्ति बध्नन्ति इन्द्रियाणि इति विषया:, तथा च विषिण्वन्ति विषयिणं येन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति सांख्यतत्त्वकौमुदी, अथवा द्व्यणुकादि-ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव भोगसाधनं विषय:, तथा हि:—सर्वमेव हि कार्यमदृष्टाधीनं, यच्चादृष्टाधीनं तत् तदुपभोगं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव नहि-बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति, तेन द्व्यणुकादि ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयं भवतीति सिद्धान्तमुक्तावली।

तदनुबन्धनात् निर्विषयत्वेऽपि वेद ज्ञानमेकं व्यापकं नित्यं च विद्यते एव। किञ्च ज्ञानस्य समष्टित्वेन एकवचनं, तस्य विभाजनात्तु वेदा: इति बहुवचनं, तथा तेषां नित्यत्वादिकमक्षतमेव। अतोऽनेकत्वपरिच्छिन्नत्वाऽनित्यत्व-शङ्काऽपि निरस्तैव।

है। लेखक ने कुतर्क मनोमोदकों से असूयाद्वेषादि से बढ़ी हुई अपनी क्षुधा-शान्त करने के लिए निष्फल प्रयास किया है।

अब सूक्ष्म-चिन्तनशील विद्वानों के लिए समाधान प्रस्तुत है। ज्ञान रूप वेद ईश्वर दृष्टि से निर्विषय और जीवात्मा कीं दृष्टि से सविषय हैं। विषय का अर्थ है जो इन्द्रियों को विशेष रूप से बाँधते हैं या सांख्यतत्त्व कौमुदी के अनुसार, विषय वे हैं जो विषयी को जिस रूप से भी निरूपणीय बनाते है अथवा सिद्धान्त मुक्तावली के अनुसार भोग-साधन का नाम विषय है, सभी कार्य अदृष्ट के अधीन हैं और जो कार्य अदृष्ट के अधीन है वह उपभोग को साक्षात् या परम्परा से उत्पन्न करता है, बीज और प्रयोजन के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं होती, अत-द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सब विषय ही हैं।

ज्ञान-रूप वेद ईश्वर की दृष्टि से निर्विषय हैं, क्योंकि एतद् वर्णित विषयों के द्वारा वह बन्धन में नही आता, जीव की दृष्टि से सविषय हैं, क्योंकि वे जीव को बाँधते हैं। और निर्विषयत्व मानने पर भी यह वेद ज्ञान एक (अखण्ड) व्यापक और नित्य ही है। अनन्त और चार वेद होने से वेदा: यह बहुवचन है, तब इस ज्ञान की नित्यता अक्षत ही है। अत: अनेकत्व सीमितत्व और अनित्यत्व की शङ्का समाप्त हो जाती है।

किञ्च जीवात्मनोऽल्पज्ञता-दृष्ट्या वेदानां विभिन्ना एव विषयाः, विभिन्न-विषय-ज्ञानत्वात्तु विभिन्न-विषयिकाः विद्याः उत्पत्स्यन्ते एव, नाऽत्र सिद्धान्त-क्षतिः।

तदेवं दयानन्द-प्रतिपादितं वेदविषयकं मतं सर्वमेव शुद्धं निभ्रन्तिं तर्कसङ्गतं च, परं करपात्रस्तु असूयाभिनिविष्टचेतसा एतत्सर्वमेव अन्यथैवापश्यत्।

(पृ० ५०७ अनु. २) यत्तु 'नियतानुपूर्वीकोऽपौरुषेयो मन्त्र--ब्राह्मणात्मक-शब्दराशिरेव वेदः इति। तदिदं नाम वेद-लक्षणं सर्वथा दूषित-मेव, यतो हि ब्राह्मणग्रन्थानां न वेदत्वं, वेद-व्याख्यानरूपत्वात् पौरु-षेयत्वाच्च, किञ्च यस्य वेदस्य (मन्त्रात्मकस्य) लक्षणं क्रियते, 'मन्त्र ब्राह्मणात्मकमिति, तन्नामग्राहं अन्यत्राति-व्याप्तिनिरा-साय कृतं लक्षणं सर्वथाऽनुपपन्नं, यतोहि न नामग्राहं गवादि लक्षणमिदं क्रियते यत् 'यं पशुं लोकाः गौरिति वदन्ति सा गौरिति। यथा वा केनचित्पृष्टेन यवनेन 'नियतानुपूर्वीकोऽपौरुषेयो मोहम्मद द्वारा प्राप्त-कुरआनात्मकशब्दराशिः ईश्वरीयं ज्ञानमिति कृतं लक्षणम-नुपपन्नमसङ्गतञ्च।

जीव की अल्पज्ञता की दृष्टि से वेदों में अनेक और विभिन्न विषय हैं। भिन्न विषयक-ज्ञान से विभिन्न विद्यायें उत्पन्न हो जाएगी इसमें कोई सिद्धान्त-क्षति नहीं। इस प्रकार ऋषि-दयानन्द-प्रतिपादित-वेद-विषयक-पक्ष इसी प्रक्रिया से ही वेदों का गौरव-वर्धक, तर्क-संगत तथा शुद्ध है।

पृ० ५०७ अनु० यह कि—नियत आनुपूर्वीक अपौरुषेय मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्द राशि ही वेद हैं। करपात्र कृत यह वेद-लक्षण सर्वथा दूषित है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं, अपितु वेदों के व्याख्यान रूप हैं और पुरुष-कृत हैं। दूसरा दोष इस लक्षण में यह भी हैं कि आप 'मन्त्र ब्राह्मणात्मक' यह नाम लेकर अन्यत्र अतिव्याप्ति के निवारण के लिये जो यह लक्षण कर रहे हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार कोई कहे कि जिसको लोग गौ कहते हैं, वह पशु गौ है, यह गौ का लक्षण ठीक नहीं। अथवा कोई किसी यवन से पूछे कि ईश्वरीय ज्ञान का क्या लक्षण है तो वह उत्तर दे-'नियतानुपूर्वीवाला पुरुष भिन्न से बनाया हुआ' मुहम्मद द्वारा प्राप्त कुरआन रूप शब्द राशि ईश्वरीय ज्ञान है, तो वह लक्षण असंगत होता है।

किं चान्यमतावलम्बिनोऽपि स्वधर्मस्य आदि-पुस्तकं नियतानुपूर्वीकम् अपौरुषेयं च मन्यन्ते । अतः अतिव्याप्त्याऽपि दूषितमिदं वेद-लक्षणम् । तस्मादतिव्याप्त्य व्याप्त्यसम्भवदोष शून्यमेव लक्षणं विधेलिमम् । तच्च यथा :—

हिताहितबोधकत्वे सति सृष्टिक्रमाविरुद्धं कल्पादौ प्रादुर्भूतं ब्रह्मेत्यादिप्रतिपादकमपौरुषेयं ज्ञानं 'वेदः' इति ।

अथापि भवान् स्ववेदलक्षणे 'एव' शब्दमवधारणार्थं प्रयुञ्जानः स्वलक्षणस्य दुष्टतां स्वयमेव सूचयति, दोषत्रय-शून्यलक्षणे तु 'एव' शब्दस्य नावश्यकता, अतिव्याप्तिदोषाऽप्रसक्तेः ।

यच्चोक्तं 'तस्य वर्णरूपेण नित्यत्व-विशिष्ट-विभुत्वेऽपि वर्णानुपूर्वी-विशिष्टपदवाक्यरूपेणाऽनित्यत्वेऽपि पूर्वोच्चारण-सजातीयोच्चा-

---

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मावलम्बी भी प्रायः अपनी २ धर्म की पुस्तक को आदिम नियतानुपूर्वीक तथा अपौरुषेय मानते हैं । वहाँ अतिव्याप्ति होगी अतः इस प्रकार लक्षण में अनेक दोष हैं, इसलिए अतिव्याप्ति असम्भव और अव्याप्ति रूप दोषत्रय से रहित ईश्वरीय ज्ञान वेद का लक्षण यह है—

हिताहितबोधकत्वे सति इत्यादि । अर्थात् जो हित और अहित का बताने वाला, सृष्टि नियम के अविरुद्ध, सृष्टि के आदि में उत्पन्न, ब्रह्म इत्यादि विषयों का प्रतिपादन करने वाला, नियतानुपूर्वी वाला, अपौरुषेय ज्ञान ही वेद है ।

आपने वेद लक्षण में राशिरेव में अवधारणार्थ 'एव' शब्द का प्रयोग करके अपने लक्षण की दुष्टता स्वीकार कर ली है क्योंकि दोषत्रय-शून्य लक्षण में अतिव्याप्ति आदि दोष की संभावना ही नहीं होती ।

यह जो कहा कि "वर्ण के रूप में यह नित्यत्व और विभुत्व से युक्त होते हुये भी और वर्णापूर्वी से विशिष्ट पद वाक्य के रूप में अनित्य होते हुए भी पूर्व उच्चारण के सदृश ही उच्चारण की आनुपूर्वी के सदा विद्यमान रहने से यह प्रवाहरूपेण नित्य है" वह भी आपका अज्ञान बचन है, क्योंकि वर्णों का नित्यत्व और विभुत्व मानते हुए पद-वाक्य के रूप में आनुपूर्वी का अनित्यत्व स्वीकार करने से आपके पूर्व-कथित नियतानुपूर्वी और इन वचनों में परस्पर-विरोध है ।

रणानुपूर्वीकत्वेन प्रवाहरूपेण नित्यत्वमिति'[तदिदमप्यज्ञानविजृम्भितम् । वर्णानां नित्यत्वस्य विभुत्वस्य च स्वीकारात्तु आनुपूर्व्याश्चानित्यत्वाऽङ्गीकारात् पारस्परिक-विरोधापत्तेः ।

वस्तुतस्तु वेदानां ईश्वरस्य ज्ञानरूपत्वाद् एतज्-ज्ञानस्य च प्रलये प्रलयाऽभावात् स्वरूपनित्यतैव । ज्ञानस्था पूर्वापरताऽनभिव्यक्तौ प्रलयकाले अक्षुण्णा । वेदरूपमीश्वरीयं ज्ञानं न प्रकृतिविकृतिरूपसृष्टि-निर्माणापेक्षामवलम्बते । वर्णानुपूर्वी-विशिष्ट-पदवाक्यस्यापि नाऽनित्यत्वं, परमेश्वर-ज्ञानस्थ-शब्दार्थ-सम्बन्धानां नित्यत्वात् ।

ज्ञानरूपाद्वेदात्पृथक् याऽस्माकं वर्णानामभिव्यक्तिस्तत्रोच्चारणेनाभिव्यक्तानामेव वर्णानां पूर्वापरता कल्पिता ऽनित्या च, परं परमात्मनो ज्ञान-क्रिये नित्ये स्वभाव-सिद्धे अनादी च स्तः ।, तस्य सर्वसामर्थ्यमपि च नित्यमेव । यथा हि बीजेऽङ्कुरः तथैव ईश्वरेऽपि वेद-ज्ञानं नित्यत्वेन वर्त्तमानं भवति ।

नन्वेवं तु सूर्यादि-पदार्थानामपि नित्यत्वं 'स्याद्, बीजाङ्कुरन्यायेन नित्यप्रकृतौ तेषां सर्वदा वर्त्तमानत्वादिति चेन्न, सत्कार्यवादे

वास्तव में वेदों के ईश्वर में अविच्छिन्न रूप से स्थित होने से प्रलय-काल में भी वेदज्ञान के प्रलय न होने के कारण स्वरूप-नित्यता ही है । ज्ञानस्थ पौर्वापर्य प्रलय-काल में अभिव्यक्ति के अभाव में अक्षुण्ण ही रहता है । ईश्वरीय ज्ञान प्रकृति की विकृतिरूप सृष्टि के निर्माण की अपेक्षा नहीं रखता, यह वर्णानुपूर्वी से विशिष्ट पद-वाक्य के रूप में भी अनित्य नहीं है, क्योंकि एकरस परमेश्वर के ज्ञानस्थ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध तो नित्य ही हैं ।

ज्ञान रूप वेद से पृथक् वर्णाभिव्यक्ति है वहाँ हमारे उच्चारण से अभिव्यक्त वर्णों का पौर्वापर्य अवश्य कल्पित और अनित्य है पर परमात्मा की ज्ञान क्रिया नित्य, स्वभाव-सिद्ध और अनादि है उसका सभी सामर्थ्य ज्ञान भी नित्य है । जैसे बीज में अङ्कुरोत्पादन सामर्थ्य रहती है वैसे ही ईश्वर में वेद ज्ञान भी नित्य अवस्थित रहता है ।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि बीजाङ्कुर-न्याय से तो सूर्यादि पदार्थों की भी नित्यता माननी पड़ेगी क्योंकि (सत्कार्यवाद के सिद्धान्त से) सूर्यादि की सर्वदा वर्तमानता रहती है । ऐसा कथन भी ठीक नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद में

सूर्यादीनामनादित्वेऽपि नित्यत्वं स्यात्, बीजाङ्कुरन्यायेन नित्य-प्रकृतौ सूर्यादीनां सर्वदा वर्तमानत्वादिति चेन्न, सत्कार्यवादे सूर्यादीनामनादित्वेऽपि प्रकृतिस्थ-सृष्टि-प्रक्रियायाः पराश्रितत्वात् ।

अयं भावः, अनादि-पदार्थाः द्विविधाः एकः अपराश्रितः द्वितीयः पराश्रितश्च । अपराश्रितोऽनादिः स्वरूपतोऽनादिरुच्यते । तत्स्वरूपे न कश्चिद्विकारो जायते, नापि परिणामः, नाऽपि तस्यास्तित्वं परावलम्बितं तिष्ठति, परन्तु पराश्रिताऽनादिः अपराश्रितानादिम् अवलम्बते, नाऽसौ स्वतन्त्रः, यथाहि अनादि-कालात् प्रकृतौ पातितः ईश्वर-क्रिया-प्रभावः स्वरूपतोऽनादावीश्वरेऽवलम्बितः, न स्वतन्त्रः।

यदि ईश्वरः-प्रभावं न पातयेत् तर्हि सृष्टौ न क्रियाशीलताऽऽपद्येत, परं कथं न दद्यादनादिकालदत्तां क्रियां ? कथमुपसंहरेदकाले चैताम् ? प्रकृतावयं प्रभावः परतन्त्रोऽपि सन् अनादिः, यतो हि ईश्वरसत्तया सार्धमेव प्रकृतौ प्रभावोऽपि विद्यते ।

यदुक्तं "पूर्वानुपूर्वी सापेक्षत्वेनाऽस्वातन्त्र्यात् प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाऽभावाच्च" तदिदमविचारितचारु, अनर्थकत्वादसम्बद्धप्रलपनाच्च । भवन्मते प्रत्येकानुपूर्वी पूर्वानुपूर्वीमपेक्षते, एवं

सूर्यादि अनादि अवश्य हैं परन्तु प्रकृतिस्थ सृष्टि की प्रक्रिया तो पराश्रित है । भाव यह है कि अनादि पदार्थ दो प्रकार के होते हैं एक अपराश्रित अनादि और दूसरे पराश्रित अनादि । अपराश्रित अनादि स्वरूप से अनादि कहा जाता है और उसके स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसमें परिणाम ही होता है तथा उसका अस्तित्व भी परावलम्बित नहीं रहता परन्तु पराश्रित अनादि अपराश्रित अनादि पर अवलम्बित रहता है, स्वतन्त्र नहीं, जैसे कि अनादि काल से प्रकृति में डाला हुआ ईश्वर-क्रिया का प्रभाव स्वरूप से अनादि ईश्वर पर अवलम्बित है' स्वतन्त्र नहीं ।

यदि ईश्वर प्रभाव न डाले तो कोई क्रिया न हो सकेगी । पर अनादि काल दत्त क्रिया को वह क्यों नही देने लगा ? असमय में उस क्रिया के प्रभाव का उपसंहार भी कैसे कर ले ? प्रकृति में यह प्रभाव परतन्त्र होकर भी अनादि है, क्योंकि ईश्वर की सत्ता के साथ ही प्रकृति पर प्रभाव विद्यमान हुआ है ।

प्रत्येक आनुपूर्वी पूर्व-आनुपूर्वी की अपेक्षा रखती है । इस प्रकार वह अपने

साऽनुपूर्वी न स्व-स्थितौ स्वतन्त्रा' इत्यनेन कि फलं निष्ठ्यूतं भवता ? किमस्यां सृष्टौ सूर्योऽपि स्वस्थिति-सम्पादनाय पूर्व-सृष्टि-स्थितस्य सूर्यस्य अपेक्षां कुरुते ? अहो, कीदृशो विस्मयावहः तर्कः ? किमस्मिन् तर्के नाऽनवस्था-दोष-प्रसङ्गः ? अवश्यमेव ।

यच्चोक्तं "एतस्याः आनुपूर्व्याः रचना अन्य-प्रमाण-सहायतां विनैव विहिता"" इति, तदत्र बोधयतु कोऽर्थोऽस्य ? अन्यप्रमाण-सहायतामुपलभ्य किं किं विरच्यते ? इति न प्रकाशितम् । ज्ञायतेऽत्रप्रसङ्गे वराको हिन्दीकारोऽपि विभ्रान्त एव ।

यदप्युक्तं "अतीताऽनागतेषु विपलपलादिषु अपूर्वायाः आनुपूर्व्याः उत्पत्तेरभावादनादिनिधनत्वेन वेदानां नित्यत्वमिति" अथ च 'ईश्वर-निष्ठायाः ब्रह्माग्न्यस्मदादिनिष्ठानां चाऽऽनुपूर्वीणां भिन्नत्वेऽपि एक-रूपत्वेन ऐक्यमेवेति, तदयमर्थ-विरोधोपन्यासः अस्वस्थमनोदशायामेव अनेन कृत इति प्रतीयते ।

में स्वतन्त्र नहीं है । इसकी रचना बिना किसी दूसरे प्रमाण की सहायता से की गई है यह कथन भी अविचार-पूर्ण अनर्थक और असम्बद्ध है ।

आपके मत में प्रत्येक आनुपूर्वी पूर्व आनुपूर्वी की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार कोई भी आनुपूर्वी अपनी स्थिति में स्वतन्त्र नहीं, यह कहकर आपने प्रकृत में क्या परिणाम निकाला ? क्या इस सृष्टि का सूर्य भी अपनी स्थिति के सम्पादनार्थ पूर्व सृष्टि स्थित सूर्य की अपेक्षा रखता है ? कैसा अटपटा तर्क है तब इस तर्क में फिर क्या अनवस्था दोष नहीं आता ? अवश्य आता है ।

यह जो कहा "इस आनुपूर्वी की रचना अन्य प्रमाण की सहायता के बिना ही हुई" इस कथन का क्या आशय है ? यहाँ प्रमाण शब्द से आपका क्या प्रत्यक्षादि से तात्पर्य है ? यदि हाँ तो रचना में उससे क्या सहायता होती है ? तथा यह भी बताइए कि अन्य प्रमाण की सहायता को लेकर क्या २ विरचित होता है ? ज्ञात होता है कि इस प्रसङ्ग में बेचारा हिन्दी-कार भी भटक गया है ।

यह जो कहा कि "अतीत अथवा अनागत क्षण, विपल, पल आदि में भी वेद की कोई अपूर्व आनुपूर्वी उत्पन्न नहीं होती अतः अनादि निधन वेद नित्य माने जाते हैं ।" और ईश्वर-निष्ठ तथा ब्रह्मा अग्नि आदि तथा अस्मदादि में

यदा च नातीतकाले अपूर्वाऽऽनुपूर्वी उत्पन्ना, न वा ऽनागते समुत्पत्स्यते, तदा ब्रह्मनिष्ठायाम् अन्यस्यां वाऽऽनुपूर्व्यां भिन्नता कुतः आपतिता ? येन भिन्नत्वेऽपि एकत्वमुपपाद्यते । अपरं च 'ब्रह्माग्न्यस्मदादिपाठे अग्न्यनन्तरं वाय्वादित्याङ्गिरसां निगलनं किमर्थं कृतं भवता ?

किंच यदा तु सुप्तप्रबुद्धन्यायेनैव प्रजापत्यादिभ्यः (त्वदभिमतेभ्यः) प्रादुर्भवन्ति वेदाः, तदा साम्प्रतम् ईश्वर-निष्ठाऽनुपूर्वी कुत आगता ? किमिह महर्षिदयानन्दानुमत-राद्धान्तः नाङ्गीकृतो भवता ? नूनमङ्गीकृतः ।

तदधुना तु करपात्रिन् ! कुतर्क-कासार-निकृष्ट-कर्दम-पटलाचित-पुराणारण्यानी-रूढ्यनल्पगल्पजल्प-कण्टकाकीर्णवीथीषु भ्रमणेनालम् ।

यदुच्यते "संस्कार-रूपेण प्रलयेऽप्यानुपूर्व्याः विद्यमानत्वेन अनादिनिधत्वमव्याहतमेव", तन्न युक्तं । किञ्चात्र भवान् कस्य संस्कारमभिप्रैति ? किं स्वरूपं च तस्य संस्कारस्य ? इति बोधयतु ।

विद्यमान आनुपूर्वियों के भिन्न होने पर भी एकता है" यह अर्थ विरोधोपन्यास लेखक ने अस्वस्थ मनो-दशा में किया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

जब अतीत काल में अपूर्व आनुपूर्वी उत्पन्न नही हुई और न अनागत में उत्पन्न होगी तो ब्रह्मनिष्ठा में अथवा अन्य आनुपूर्वी में भिन्नता कहाँ से आ पड़ी ? जिससे भिन्नत्व में भी एकत्व उत्पन्न किया जा रहा है । दूसरे आपने ब्रह्माग्न्यसमदादि पाठ में अग्नि के बाद वायु आदित्य और अङ्गिरा का निगलन कैसे कर लिया ? जबकि सुप्तप्रबुद्ध न्याय से ही तुम्हारे अभिमत प्रजापति आदि से ही वेदों का प्रादुर्भाव है तो इस समय ईश्वर-निष्ठ आनुपूर्वी कहाँ से आ गई ? अतः क्या आपने यहाँ महर्षि दयानन्दानुमत-सिद्धान्त स्वीकार नहीं कर लिया ? अवश्य कर लिया ?

इस लिए हे करपात्री जी अब तो कुतर्क के तालाब से निकली कीचड़ के समूह से पूर्ण पुराणों के महाबीहड़ जंगल की रूढ़ि ग्रस्त बहुत सी गप्पों के काँटों से युक्त वीथियों में भटकना बन्द कर दो ।

यह जो कहा कि संस्कार रूप से प्रलय में भी आनुपूर्वी रहती है, अतः वेद की अनादिनिधनता अव्याहत है, ठीक नहीं आपको यहाँ किसके सस्कार से तात्पर्य है ? और वह संस्कार कैसा है ? यह बताइए ?

अत्रावधेयं प्रथमं तावद्यत् संस्कारः न्यायशास्त्रमतेन गुणविशेषः, स च त्रिविधः (१) वेगाख्यः (२) स्थितिस्थापकः (३) भावनाख्यश्चेति । प्रथमस्तावत् मूर्त्तपदार्थस्थायी स च क्वचिद्देशजन्यः क्वचित्कर्मजन्यश्च ।

द्वितीयः पृथिवीगुणकः । तृतीयस्तु आत्मनः अतीन्द्रियगुणः स्मरण-प्रत्यभिज्ञयोः कारणं संस्कारः नेश्वरे सम्भवति, तस्य नित्यज्ञानवत्वात् ।

ननु अग्न्यादिष्वपि वेदानां नित्यस्थितिर्मन्येतेति चेन्न, नाऽग्न्यादीनां स्वीयं नित्यं ज्ञानं, प्रत्युत नैमित्तिकम् । तेषां ज्ञाने नित्ये सति तु विस्मरणानापत्तेः । नान्यथा तेषां ज्ञानविषयवती नित्यता सम्भवति ।

तस्मात् भवदुक्तं "यथा च सत्य-संकल्पस्य परमेश्वरस्य संकल्पेन ब्रह्मादिविशिष्टेषु ऋषिषु ईशनिष्ठायाः सदृश्याः आनुपूर्व्याः प्रादुर्भानम् अथवा सुप्तप्रबुद्धन्यायेन तन्निष्ठायाः एव प्रादुर्भावनमीश्वरकर्तृकवेदप्रेषणं तद्दानं वेति," सर्वमयथार्थम् ।

पहले यहाँ जानना चाहिए कि न्याय-शास्त्र के अनुसार संस्कार एक गुण विशेष है और वह तीन प्रकार का है १ वेगाख्य २ स्थिति-स्थापक ३ भावनाख्य । पहला मूर्त्तपदार्थों में स्थिर रहने वाला है वह कहीं देश जन्य और कहीं कर्म जन्य होता है । दूसरा पृथिवी-गुणक है, तीसरा आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, जो स्मरण और प्रत्यभिज्ञा (पूर्वस्मृति) का कारण है । यह स्मरण प्रत्यभिज्ञा का कारण रूप तीसरा संस्कार ईश्वर में सम्भव नहीं, क्योंकि ईश्वर तो नित्य ज्ञान वाला है ।

अच्छा तो यदि अग्नि आदि ऋषियों में भी वेदों की नित्य स्थिति मानी जाय, तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अग्नि आदि का अपना नित्य ज्ञान नहीं प्रत्युत नैमित्तिक है ईश्वर प्रदत्त है । उनके ज्ञान के नित्य मानने पर तो विस्मरण नहीं होगा । उनकी ज्ञान-विषयक नित्यता अन्यथा नहीं हो सकती ।

इस लिए इस प्रकार सत्य-संकल्प-ईश्वर के संकल्प से ब्रह्मा इत्यादि विशिष्ट ऋषियों में ईश-निष्ठ वेदानुपूर्वी के समान आनुपूर्वी का प्रादुर्भावन अथवा सुप्र-प्रबद्ध न्याय से उनमें पूर्व से विद्यमान वेदानुपूर्वी का प्रादुर्भावन ही यहाँ पर ईश्वर द्वारा वेद का प्रेषण अथवा दान है ।" यह सब बेतुकी बकवास है ।

ईशनिष्ठाया: सदृश्या:, एतस्याऽयमभिप्रायो लेखकस्य यद् ब्रह्मा-दिगतानुपूर्वी नैव सा प्रत्युत समाना इव ईशनिष्ठया, तस्या: किञ्चित् भिन्नाऽपि वा, तदैव हि सादृश्यं संगच्छते, यतोहि सादृश्यज्ञानमेव उपमिति-कारणम् यथा गौरिव गवय: । तथा चोक्तं न्यायशास्त्रे प्रसिद्ध साधर्म्यात् प्रसिद्धस्य पूर्व-प्रमितस्य गवादे: साधर्म्यात् सादृश्यात् तज् ज्ञानात् साध्यस्य गवयादि-पदवाच्यस्य साधनं सिद्धिरुपमानम् ।

न च 'सदृश्या:' इत्यस्य शब्दस्य अत्यन्त-समानाया: एव आनुपूर्व्या वाच्यत्वे प्रयोग इति वाच्यं, यतो हि न्याय-शास्त्रे अत्यन्तप्रायैकदेश-साधर्म्यादुपमानाऽसिद्धि,: (न्या० २।१।४४) अर्थाद् अत्यन्त-साधर्म्या-दुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति यथा गौरिव गौरस्ति इति ।

वस्तुत: पूर्वोक्तपक्षस्य अत्यन्तादि-विशेषणनिवेशद्वारा उपमानस्य प्रतिषेधो न युक्त:, केवलं प्रसिद्ध-साधर्म्यात् उपमान-सिद्धिर्जायते, यथा च न्याय-सूत्रं 'प्रसिद्ध-साधर्म्यात्' (न्या० २।१।४५) ।

यहाँ पर ज्ञान 'ईशनिष्ठा के सहश' इस वाक्यांश का आशय यह है कि वह ब्रह्मा आदि गत आनुपूर्वी वह तो नहीं पर ईशनिष्ठ जैसी ही है, अर्थात् कुछ भिन्न और कुछ समान है। तभी तो सादृश्य की संगति बैठ सकती है क्योंकि सादृश्य का ज्ञान ही उयमिति का कारण होता है जैसे कि गौ के समान नील-गाय। न्याय-शास्त्र में भी कहा है कि—प्रसिद्ध सार्धम्य से साध्य के साधन का नाम उपमान है (न्या० १।१।३) अर्थात् प्रसिद्ध उपमित गौ आदि के समान धर्म की समानता से साध्य नील गाय आदि पद वाच्य की सिद्धि करना ही उपमान है।

इस सरीखे लोगों को दर्शनाचार्य की पदवी कैसे मिल गई ? अच्छा तो 'सदृशी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त समानता अर्थ में ही मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि न्याय-शास्त्र में, अत्यन्त 'प्रायैक, देश साधर्म्य से उपमान की सिद्धि नहीं होती (न्या० २।१।४४) कहा गया है। इस प्रकार गौरिव गौ: यह उपमा का उदाहरण नहीं बनता।

वास्तव में पूर्वोक्त-पक्ष का अत्यन्त आदि विशेषणों के निवेश द्वारा उप-मान का प्रतिषेध ठीक नहीं है। केवल प्रसिद्ध साधर्म्य से उपमान की सिद्धि होती है। जैसा कि न्याय शास्त्र के (२।१।४५) सूत्र में कहा गया है।

अत्र भवदुक्तौ ईश्वरनिष्ठानुपूर्व्यां ब्रह्मादि-निष्ठानुपूर्व्यां च न किमपि प्रसिद्धं साधर्म्यमस्ति तादात्म्यप्रतिपादने तु 'सदृशी' इति पद्-निवेशो व्यर्थ एव । उपमेयोपमानयोः किञ्चिद्भेदे एव सति सदृशा-दिपदनिवेशो युक्तः, नान्यथा । यथा च काव्येऽपि निदर्शनम् :—

मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवःपाणिः ।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशे चपले च लोचने तस्याः ॥

अतः महर्षि-दयानन्दस्य मतं युक्तियुक्तं निर्दुष्टं चेति सिद्धम् ।

(पृ. ५०८) यदुक्तं "वेदश्रुत्यादिशब्दास्तु योग-रूढा एव इति ।" तदत्र अवधारणक एव-शब्दस्य प्रयोगो व्याकरणानभिज्ञत्वद्योतको युक्त्ययुक्तश्च यतः पाणिनिमुनिः वेदशब्दं रूढ़ं च अपि मनुते । यौगिकस्तु वहुभिर्बुधैरङ्गीक्रियते एव । तथाहि :—रूढो वेदशब्द आद्युदात्तः वृषादीनां चेति (६।१।२०३) सूत्रेण सम्मतः । दर्भ-मुष्टिरित्यर्थे रूढि-गतः । अन्तोदात्तश्च योगरूढः उञ्छादीनां च (६।१।१६०) इति सूत्रेण करणे घञ् प्रत्ययान्तो निर्दिष्टः । ऋक्प्रातिशाख्य-द्वितीय-वृत्तिकारेण विष्णु-मित्रनाम्ना चापि विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिः धर्मादि-पुरुषार्थाः इति वेदा इति योगरूढत्वेन मतः । किञ्च वेदनं वेदः ज्ञानमिति भावेऽपि दृश्यते । अतो वेदादि शब्दाः योगरूढा एवेति

आपके कथन में ईश्वर निष्ठानुपूर्वी और ब्रह्मादिनिष्ठ आनुपूर्वी में कोई प्रसिद्ध साधर्म्य नहीं है, तादात्म्य प्रतिपादन में तो 'सदृशी' पद का निवेश व्यर्थ है । उपमेय और उपमान में कुछ भेद होने पर ही सदृशादि पद का निवेश होता है जैसे कि काव्य में उदाहरण है—"उसका अमृत के समान होठ मधुर है, पत्ते के सदृश कोमल हाथ है, चकित मृगनेत्रों के समान उसके चञ्चल लोचन हैं ।" इसलिये ऋषि दयानन्द का मत युक्तियुक्त है ।

पृ० ५०८ पर कहा है कि 'वेद श्रुति आदि शब्द तो योग-रूढ़ ही हैं' यहाँ पर अवधारणार्थक 'एव' शब्द व्याकरणानभिज्ञता सूचक और अयुक्त है, क्योंकि महावैय्याकरण पाणिनि-मुनि ने वेद शब्द को रूढ और योग रूढ़ दोनों ही माना है । यौगिक तो बहुत विद्वान् मानते ही हैं । रूढ वेद शब्द वृषादीनां च' (६।१।२०३) सूत्र के अनुसार आद्युदात्त है और दर्भमुष्टि अर्थ में सब इसको रूढ़ मानते हैं और 'उञ्छादीनां च' (६।१।१६०) सूत्र के अनु-सार करण अर्थ मे घञ् प्रत्ययान्त योग रूढ़ भी है, तथा ऋकप्रातिशाख्य के

करपात्रकथनं सर्वथा दूषितमेव । स्वामिना दयानन्देन तु करणे अधिकरणे भावे चापि वेद-निर्वचन स्वीकृतम् । वेद-शब्दस्य ज्ञानार्थस्तु स्वपुस्तकस्य ६६६ तमे पृष्ठे 'धात्वर्थानुरोधेन तु ज्ञानमेव हि तदर्थः' इति ब्रुवता भवताऽपि स्वीकृत एव । तदेवमत्र भवत्-कथने 'एव' शब्द-प्रयोगात् पौर्वापर्य-विरोधोऽपि जायते । भोः करपात्रिन्, यौगिकादि-भेदत्रितयेऽपि वेद-शब्दस्य मुख्यतया ज्ञानमेवार्थः । ज्ञान-साधन-ग्रन्थोपि वा वेदः तद्वत्त्वात् । ज्ञानस्य चाऽयं स्वभावो यद् यावन्नाश्रयान्तरं लभते न तावत् शब्दवाचकता-सम्बन्धं प्राप्नोति, प्रादुर्भावे च शब्दानुपूर्वीति ख्यातिमुपयाति । यच्चापि भवता अन्य-ग्रन्थानामपि सत्य-ज्ञान-जनकता प्रोक्ता, साऽपि न मौलिकी अपि तु वेद-मूलैव ।

(पृ० ५०८।अ. २) यच्च भवान् 'न कोऽपि कदाचित् कस्यचिद् देहधारिणः सकाशाद् वेद-रचनं दृष्टवान्' इति भूमिका-पाठं तुच्छमाचष्टे तत्तु तुच्छज्ञस्य लेखकस्य तुच्छतैव, यतो हि एतस्मिन भूमिका-

---

द्वितीय वृत्तिकार विष्णुमित्र भी विद्यन्ते ज्ञायन्ते एभिः धर्मादयः इति' निर्वचन द्वारा योग-रूढ़ मानते हैं । इसके अतिरिक्त 'वेदनं वेदः ज्ञान इस प्रकार भाव-प्रत्ययान्त भी वेद शब्द ज्ञानवाची मिलता है इसी प्रकार श्रुति आदि शब्द हैं । अतः वेदादि शब्द योगरूढ़ ही हैं, ऐसा कथन सर्वथा दोषयुक्त है । महर्षिदयानन्द ने करण, अधिकरण और भाव में वेद शब्द का प्रयोग किया है और स्वयं करपात्री जी ने भी अपनी पुस्तक के ६६६ पृष्ठ पर वेद शब्द का 'ज्ञान' अर्थ स्वीकार किया है, इसलिये वेदादि शब्दों को केवल योगरूढ़ मानना अशुद्ध है और स्वबात का पूर्वापर विरोध भी है ।

करपात्री जी महाराज । देखिये, वेद शब्द यौगिकादित्रिप्रकारक होता हुआ भी मुख्य रूप से ज्ञान वाची है । ज्ञान का साधन होने से ज्ञान-युक्त ग्रन्थ विशेष को वेद कह देते हैं । ज्ञान का यह स्वभाव है कि जब तक यह आश्रयान्तर को नहीं प्राप्त करता है, तब तक शब्द-वाचकता सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता है । प्रकट होने पर शब्दानुपूर्वी ख्याति को प्राप्त करता है । आपने अन्य ग्रन्थों की रचना की सत्य-ज्ञान-जनकता कही है, वह उनकी मौलिक नहीं है, वरन् वेद-मूलक है ।

पृ० ५०८ अनु. २ पर यह कि कोई भी कभी भी किसी भी देहधारी के पास से वेदों की रचना को नहीं देख सकता 'यह भूमिका-कथन तुच्छ है ।'

पाठे महर्षेरयमेव आशयः, यत् कोऽपि मानवः कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात् तदुपज्ञारूपं वेद-रचनं न दृष्टवान् न स्मृतवान् नावगतवान् वेति। तत्र हि निरवयवेश्वरात् तेषां प्रादुर्भावादिति हेतुरुपन्यस्तः।

एतद्-हेतोः स्थानेऽयं भ्रान्त-लेखकः अपरं वाक्यं मन्तव्यत्वेन प्रस्तौति यत् "निरवयवात् परमेश्वरादपि वेद-रचनं न कश्चित् कदाचिद् दृष्टवान्' इत्यस्यापि सुवचत्वात्" इति।

तदिदं प्रस्तावनं चतुरचेतसां चमत्कारं न प्राञ्चति, वहुलसंदेहपक्षवत्त्वात्। तद्यथाः—निरवयवत्वादिति हेतुः किं परमेश्वरं विशिनष्टि, वेद-रचनं वा, आहोस्वित् कश्चिदितिपदम्, एतेषां निरवयवत्वात्। तदेवं तत्स्थानापन्नस्य अन्यस्य वाक्यस्य कल्पनमाहोपुरुषिकामात्रमेव भवतः, ऋषिपाठस्यैव गरीयस्त्वात्।

पाठकैः अग्रेऽपि तावत् करपात्रमहोदयस्य बुद्धि-वैशिष्टय-निदर्शनं

यहां लेखक का तुच्छ कहना ही तुच्छ है, क्योंकि महर्षि के भूमिका के पाठ का यह आशय है कि कोई कभी किसी भी देहधारी के पास से मौलिक ज्ञान रूप वेद की रचना को नहीं देख सका, न जान सका, न स्मरण कर सका। 'उस निरवयव' परमात्मा से ज्ञान रूप वेदों की उत्पत्ति हुई।

यहाँ यह भ्रान्त लेखक, निरवयव ईश्वर शब्द को हेतु के स्थान पर मन्तव्यवाक्य समझता है, और निरवयव शब्द को परमात्मा का भी विशेषण मानकर उससे वेदोत्पत्ति मानता है। यहाँ 'अपि' शब्द, परमेश्वर के साथ लगाने से परमेश्वर से भी वेद-रचना अर्थात् परमेश्वर से भिन्न से भी' यह अर्थ ध्वनित होता है, जो ठीक नहीं।

आपका यह प्रस्ताव बहुत से संदेहों से युक्त होने के कारण विद्वानों को रुचिकर नहीं, क्योंकि आपके प्रस्तावित वाक्य में निरवयवत्वात्' यह हेतु क्या परमेश्वर का विशेषण है ? या वेद रचना का अथवा किसी व्यक्ति विशेष का ? ये संदेह उठ खड़े होते हैं इनके निरवयव (निराकार) होने से। इसलिये आपका प्रस्तावित वाक्य ठीक न होकर ऋषिवाक्य ही ठीक है।

पाठक महानुभाव, आगे भी करपात्री जी की बुद्धि का नमूना देखिये, जहाँ उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी है, जैसे एक ने नहीं देखा,

दृश्यतां यत्राऽयं प्रश्न-ततिं प्रस्तौति, यथा "एको वा न दृष्टवान् ? सर्वे वा न दृष्टवन्तः ? नाद्यः, त्वत्कर्तृक-भूमिका-रचनस्याऽपि बहुभिरदृष्ट-त्वात्" अत्रापि अयं स्वकुटिलमतिपरिचयं ददानः भूमिका-रचनस्यापि निरवयवत्वादुत्पत्ति-प्रसङ्गादिति हेतुं प्रस्तौति।

भोः कुतर्कशील। स्तोकमिह विचार्यतां यत् स्वामिना दयानन्देन अदृष्टत्वादिति हेतुना निरवयवत्वंहेतुर्निगदितः। तदेवं भवतस्तु प्रतिपदन्यास एव छलोच्छलितः।

यदुच्यते, 'नान्त्य' इति अर्थात् सर्वे वा न दृष्टवन्तो वेद-रचनं देहधारिणःसकाशादिति" तदपि न सम्भवति, असर्वज्ञस्य मनुष्यस्य तज्ज्ञानाऽसम्भवात्।

भवानिह ब्रवीतु, असर्वज्ञः मनुष्यः किं न ज्ञातुं शक्नोति ? अतः द्वितीयप्रश्नोऽपि असङ्गत एव। किञ्च 'न कश्चिद्दृष्टवान्, इति कारणेन देहधारिणः वेद-रचनं नाऽभूदिति नास्ति महर्षेरभिप्रायः प्रत्युत वेदो निरवयवेश्वरादुत्पन्नोऽतो न कश्चिद् दृष्टवान् इत्येव।

अथवा सबने नहीं देखा ? आदिम पक्ष तो सम्भव नहीं क्योंकि तुम्हारी बनाई भूमिका को बहुतों ने नहीं देखा, और आगे भी आप अपनी कुटिल-मति का परिचय देते हुये कहते हैं कि भूमिका-रचना भी निरवयव है, अतः वेद के समान नित्य हो जायेगी। हे कुतर्कशील ! कुछ तो बुद्धि से काम लीजिये। ऋषि दयानन्द ने 'न देखने के कारण से' इस हेतु से निरवयव ईश्वर से वेद-रचना नहीं कही है प्रत्युत अदृष्ट होने में ईश्वर का निरवयत्व हेतु कहा है। इसलिये इस लेखक का प्रत्येक पद का न्यास छल से भरा हुआ है।

यह जो कहा जा रहा है कि दूसरा पक्ष भी अर्थात् 'वेदों की रचना देह-धारी के पास से सभी ने नहीं देखी, नहीं बन सकता, क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य नहीं जान सकता।

अब आप यह बताइये कि असर्वज्ञ मनुष्य क्या नहीं जान सकता ? वस्तुतः द्वितीय पक्ष भी आपका असङ्गत और ऊलजलूल है, क्योंकि नहीं देखने के कारण देहधारी से वेद रचना नहीं हुई' यह अर्थ वक्ता को अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत 'वेदों का प्रादुर्भाव निरवयव, ईश्वर से हुआ' अभीष्ट है। अतः वह किसी से नहीं देखा गया, ऐसा अभिप्रेत है।

यच्चोक्तं 'नन्वेवं सिद्धान्तोऽपि चोद्य-सम्भवः न' तत्र सम्प्रदाया-ऽविच्छेदे सत्य-प्रमीयमाण-कर्त्तृकत्वेन नित्यत्वाऽभ्युपगमेन रचन-विषयकस्य-दृष्टत्वस्याऽदृष्टत्वस्य वाऽतन्त्रत्वात् इति" तदिदं परीक्ष्यते।

इह श्री करपात्रः कर्त्तुर्यथार्थ'ज्ञानाभावं सम्प्रदायस्याऽविच्छिन्नतां च नित्यतायां कारणं मनुते, परं विवेकिभिर्विचारणीयं यदत्र कर्त्तुर्ज्ञा-नाऽभावेन अपौरुषेयत्वं तु साध्यं भवितुमर्हति परं नित्यत्वं कथमेतेन हेतुना साध्यं स्यात् ? किं यस्य वस्तुनः कर्त्तृर्ज्ञानं न भवेत् तत् किं सर्वमेव वस्तु नित्यं स्यात् ?

वस्तुतो नित्यत्व-सिद्धौ सम्प्रदायाऽविच्छेदकत्वं तु कथमपि साधकं स्यात्, परं तत्राऽपि सम्प्रदायस्य चालकः प्रथमो वेद-ज्ञानदाता परमे-श्वर एवाऽस्ति, परमयं करपात्रस्तु नेदं मन्यते, यच्च मतं सुप्तप्रबुद्ध-न्यायेन स्वीकृतमनेन, तन्न केनाऽपि शास्त्रकृता मन्यते, अतस्त्याज्यमेव। अथ च सम्प्रदायावच्छेदकता ईश्वर-द्वारा न वेद-रचने विरोधिनी, न चेश्वरस्य वेदानामकर्त्तृकत्वसधिका। परं नैतद्दिशा परमे-श्वरं वेदकर्त्तारं मनुते। 'ईश्वरात् सम्प्रदायाप्रवर्तनमतिः' महतीयमनर्थ-

---

क्या यह प्रश्न करपात्री जी के मत पर भी लागू हो सकता है ? उसका निषेध करते हुए करपात्री जी कहते हैं कि सम्प्रदाय का विच्छेद न होने और कर्त्ता को भी यथार्थ-ज्ञान न होने से वेदों का नित्यत्व स्वीकार कर रचना-विषयक दर्शन या अदर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता।' हमारे द्वारा इसकी परीक्षा की जाती है।

यहाँ पर करपात्री जी ने कर्त्ता के यथार्थ-ज्ञान का अभाव सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता की नित्यता में कारण माना है। यहाँ विचारने की बात है कि कर्त्ता के ज्ञान के अभाव से अपौरुषेयत्व तो साध्य हो सकता है पर नित्यत्व कैसे साध्य है ? जिनके कर्त्ता का ज्ञान न होवे क्या वे सब वस्तु नित्य होती हैं।

वस्तुतः नित्यत्व सिद्ध करने में सम्प्रदाय का अविच्छेकत्व तो किसी प्रकार ठीक हो सकता है, पर इस सम्प्रदाय का चालक अर्थात् आदि-वेद ज्ञान का दाता परमेश्वर ही है।······पर आप ऐसा नहीं मानते।

वेदोत्पत्ति के विषय में आप सुप्त-प्रबुद्ध न्याय मानते हैं। वह आप से भिन्न किसी शास्त्रकार ने नहीं माना। इसलिये वह सर्वथा त्याज्य है और

शीलता, सम्प्रदाय-शब्दस्य अर्थस्तु गुरुपरम्परा-गतःसदुपदेश आम्नायोवा, तत्राऽपि 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' इति स आदिगुरुः परमेश्वरः एव सम्प्रदाय-प्रवर्तकः। स च सम्प्रदायः अविच्छिन्नतया अग्न्यादिब्रह्मादिभ्यः परम्परयाऽद्यावधि संप्राप्तः।

किञ्च सायणाचार्योऽपि शरीरधारिणः सकाशाद् वेदरचनं न स्वीकृतवान् कर्त्तु रस्मृतत्वात्, यथा हि :—"किञ्च यदि वेद-वाक्यानां शरीरी कर्त्ता स्यात् तस्य च चिरवृत्तत्वेन उपलब्ध्यभावेऽपि असौ स्मृतिपथमवतरेत्। न च स्मर्यते तस्मान्नाऽस्त्येव कर्त्ता (शरीरी) निश्चीयते।'

पूर्वपक्षः—स्यादेतत्, केनचिद् अस्मरणं वा हेतुः, आहोस्वित्सर्वैर-स्मरणं, नाद्यः, देवदत्तेन अस्मृतस्यापि घटस्य विष्णुमित्र-गृहे विद्यमा-नत्वात्। नाऽपि द्वितीयः, जैमिनीयैरस्मरणेऽपि कणादाक्षचरण-पक्षिल-मुनि-पक्षपातिभिः स्मर्यमाणत्वात्।

सम्प्रदाय की अविच्छेकता भी ईश्वर द्वारा वेदों की रचना में विरोधिनी नहीं, और ईश्वर द्वारा वेदों की अकर्त्तृकता की भी साधिका नहीं। परन्तु आप परमेश्वर को वेदों का कर्त्ता नहीं मानते।

यह तो आपकी बड़ी भारी अनर्थ शीलता है कि आप ईश्वर से वेद-सम्प्रदाय प्रवर्तन नहीं मानते। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ तो गुरुपरम्परागत उपदेश अथवा वेद ही है, क्योंकि योगशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि वह परमात्मा सबका अविच्छिन्न काल से आदि गुरु है, वही सम्प्रदाय (वेद-ज्ञान-परम्परा) का आदि प्रवर्तक हैं और वह सम्प्रदाय अग्निवायु आदित्यादि तथा ब्रह्मादि से प्रारम्भ होकर आज तक चालू है।

इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि कर्त्ता के स्मरण न होने से सायणाचार्य ने भी किसी शरीर धारी से वेदों की रचना नहीं मानी है, जैसा कि उन्होंने लिखा है "यदि वेद-वाक्यों का शरीर-कर्त्ता होता तो चिरकाल के पश्चात् भी उपलब्धि के अभाव में याद अवश्य रहता और चूंकि वह किसी को स्मरण नहीं है। अतः वेदों का कर्त्ता कोई अशरीरी ही है, ऐसा निश्चित होता है।"

(पू. पक्ष) इस पक्ष में पूर्व पक्ष की उद्भावना करते हुये सायणाचार्य

(उ०प०) न तदीयैरपि वृद्धव्यवहारावगत-पद-पदार्थ-सम्बन्धस्य तदर्थ-विषय-विलक्षणक्षणिक-चक्षुरादि-जन्यवेदनस्य माता-पितृ-सम्बन्धप्रसूत-पार्थिव-शरीरस्य कर्त्तुरस्मरणत्वात्" (अथर्व० भा० भूमिका) तदेवं सायणाचार्येण महर्षिदृष्टिरेव समर्थिता ।

(पृ० ५०६ अनु०१) यच्च करपात्रिणा'अभिप्रीयते 'यदि वेदाः परमेश्वरेण रचितास्तदा अग्न्यादीनां निमित्तत्वं न सम्भवति, अथापि अग्न्यादयः परमात्म-ज्ञान-साहाय्येन रचितवन्तस्तदा अध्यापक-शिष्यकृत-रचनावद् अग्न्यादिभिरेव रचिता इति मन्तव्यम्' इति। अत्रोच्यते :—

(उ. प.) सृष्ट्यादौ वेद-श्रावणाध्यापन-परम्परां जीवयितुं शरीरधारिणोऽग्न्यादयः निमित्तीभूताः, वेद-ज्ञानं तु परमेश्वरेण तदा-

---

लिखते हैं:—यदि वह वेद रचियता अस्मृत है तो क्या वह किसी एक के द्वारा अस्मृत है या बहुतों के द्वारा ? यहां प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि घटादि एक वस्तु यदि देवदत्त को स्मरण नहीं, तो वह विष्णुमित्र को स्मरण हो सकती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि जैमिनीयों के द्वारा स्मरण न होने पर भी कणाद गोतम आदि के द्वारा वह कर्त्ता स्मृत है। (उ. प.) परन्तु उनके द्वारा भी कोई पार्थिव-शरीरधारी कर्त्ता स्मृत नहीं है।) अथर्व वेद सा० भाष्य भूमिका)

इस प्रकार सायणाचार्य से भी आचार्य दयानन्द का 'निराकार परमेश्वर से वेदोत्पत्ति' रूप मत समर्थित है।

पू० प० – पृ० ५०६ के प्रथम अनुच्छेद में करपात्री जी का अभिप्राय है कि यदि वेद परमेश्वर ने रचे, तो अग्नि वायु आदि को वेदोत्पत्ति का निमित्त मानना ठीक नहीं, और यदि यह माना जाये कि अग्नि आदि ऋषियों ने परमात्म-ज्ञान की सहायता से वेदों को रचा, तो जैसे गुरु की सहायता से कोई शिष्य किसी ग्रन्थ की रचना करता है, तो वह ग्रन्थ उसी शिष्य का माना जाता है, इसी प्रकार अग्नि आदिकों ने ही वेदों को रचा, ऐसा मानना चाहिये।

(उ. प.) इसका उत्तर सुनिये, सृष्टि के आदि में वेदों की श्रावण और अध्यापन परम्परा को जीवित रखने के लिये शरीर-धारी अग्नि आदि निमित्त बने, तब वेद-ज्ञान ईश्वर ने उनकी आत्मा में प्रकाशित किया। सायणाचार्य

त्मसु प्रकाशितम्। सायणस्याप्ययमेव आशयः यत् ईश्वरस्याग्न्यादि-प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यमिति अतएव महर्षिणाऽपि प्रोक्तम् अग्न्यादयः निमित्तीभूताः वेदप्रकाशनार्थमिति।'

यच्चोक्तं 'अध्यापक-दत्तेन ज्ञानेन शिष्यनिर्मित-ग्रन्थानां शिष्य-कर्तृकत्व-प्रसिद्धि-विरोधादिति, तत्तु अविचारितोक्तमेव करपात्रिणः, यतो हि यथा कश्चित् शिष्यः स्वगुरोर्वाक्यानि अन्यस्मै अविकलं प्रकाशयति तदा तद्वाक्यजातं गुरोरेव प्रसिध्यति न शिष्यस्य, परं यदा तज्ज्ञान-सङ्गतं किमपि व्याख्यानरूपात्मकं स्वसंस्काराभ्यासजनितं स्वार्जितं प्रकाशयति तदा तु तत् शिष्य-नाम्नैव प्रसिध्यति' इति सर्व-विदितम्। किञ्च चौरकवयो यथाऽन्यकवि-रचनां स्वनाम्ना ख्यापयन्ति न तथा कृतमेभिः अग्न्यादिभिर्वेद-रचने। अतएव इदं वेदकाव्यम् आदि-देवस्य परमेश्वरस्यैव प्रोच्यते नान्यस्य। तथा चोक्तं "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" इति

तदेवं भवान् सर्वत्र स्वसिद्धान्तसमर्थने अस्पष्ट एव, यथाहि कदा-चिद् वेदानां कर्त्तारम् ईश्वरं कदाचित् सुप्तप्रबुद्धन्यायेन अनीश्वरं (प्रजापतिं) मनुते कदाचिच्च स्वार्चनीयचरण-शंकर-सायणादि-मत मपि विरुणद्धि, क्वापि अक्षपादगोतमस्य महर्षेराशयमनवबुध्य शब्दानित्यत्ववादिनं तमाकलय्य स्वपाण्डित्याखण्डतां साधयति। तदेवं-

---

का भी यही आशय है। जैसा कि पहले भी कहा है कि 'अग्न्यादि के प्रेरक होने से ईश्वर का (वेद) निर्मातृत्व स्वीकार करना चाहिये इसीलिये ऋषि ने ठीक कहा है कि वेदों के प्रकाशनार्थ अग्नि आदि ऋषि निमित्त बने।

'अध्यापक द्वारा दिये गये ज्ञान से शिष्य के द्वारा बनाये ग्रन्थ शिष्य के ही माने जाते हैं।" यह आपका कथन अविचारित ही है, क्योंकि जब कोई शिष्य अपने गुरु के वाक्यों को ग्रन्थ-रूप में अविकल प्रकाशित करता है, तो वह ग्रन्थ गुरु का ही कहलाता है परन्तु जब शिष्य गुरु-प्रदत्त उस ज्ञान के आधार पर अपने संस्कारों से जनित व्याख्यानरूप ग्रन्थादि की रचना करता है, तो वह ग्रन्थ शिष्य का ही कहलाता है। यह बात सर्व विदित है।

जिस प्रकार चोर-कवि अन्य कवियों की रचना को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं, वैसे इन अग्नि आदि ऋषियों ने नहीं किया। उन्होंने तो अपने गुरु परमात्मा का अविकल (वेद) ज्ञान उसमें अपना बिना कुछ मिलाकर

विधो दम्भी भवान् बहुत्र परस्पर-विरोध-वचन-रचना रज्जु-पाशितोऽपि सर्वतः स्वगलान्निस्सार्य उभयतस्पाशरज्जुमन्यत्र पातयितुं प्रयतते । वस्तुतस्तु 'शास्त्रयोनित्वादित्यादिबहुशास्त्रीयप्रमाण-विरुद्धमेव वेदानामनीश्वरकर्त्तृत्वमिति दिक् ।

(पृ० ५०६ अनु. २) यदपि चोक्तं 'वेदेषु शब्दार्थ-सम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः, पूर्णविद्यावत्त्वात्, इदमपि तुच्छं पूर्णविद्यावत्त्वस्योत्पत्तावहेतुत्वादिति ।" तदपि महत्तुच्छम् ।

भोः विपथगामिन् ! वेदब्राह्मणादिप्रमाणैः महर्षिणा युक्तयुक्तिभिश्च ईश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावः पूर्वमेव साधितः । इह पूर्णविद्यावत्त्वादिति हेतुस्तु शब्दार्थ-सम्बन्धवतां वेदानां प्रादुर्भूतौ न केवलमुत्पत्तौ । तदेवम् इमे शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव

प्रकाशित किया । अतः वेद रूप काव्य उस परमात्मा का ही कहलाता है, अग्नि आदि ऋषियों का नहीं । जैसा कि कहा है :—'परमात्मा के काव्य को देखो जो कभी नहीं मरता है न जीर्ण होता है ।

इस प्रकार आप अपने सिद्धान्त के समर्थन में अस्पष्ट ही हैं, कभी आप वेदों का कर्त्ता ईश्वर को, कभी सुप्त-प्रबुद्ध न्याय से अनीश्वर प्रजापति को मानते हैं और कभी अपने पूजनीय आचार्य शंकर और सायण के मत को भी तिलाञ्जलि दे बैठते हैं, और कहीं अक्षपाद गोतम के आशय को न समझ कर उसको शब्दानित्यवादी मानकर अपने पाण्डित्य को सिद्ध करना चाहते हैं । इस प्रकार दम्भधारी आप बहुत स्थलों पर परस्पर-विरोधी वचनों के जाल में फंस जाते हो और फिर उस उभयतस्पाश रज्जु को अपने गले से निकालने का व्यर्थ प्रयत्न करते हो । वास्तव में वेदों का अनीश्वर-कर्त्तृत्वप्रतिपादन-'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों के विरुद्ध है । इस विषय में इतना ही दिग्दर्शन पर्याप्त है ।

(पृ. ५०६ अनु. ३) पर यह जो कहा कि "वेदों में शब्दार्थ सम्बन्ध परमेश्वर से प्रादुर्भूत हुये, ईश्वर के पूर्ण-विद्यायुक्त होने के कारण, यह (ऋषि) कथन तुच्छ है, क्योंकि पूर्णविद्यावत्व उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता ।"

ओ उलटमार्गगामीजी ! आपकी विपथगामिनी बुद्धि यथार्थ को नहीं समझती, क्योंकि असूयाग्नि से वह दग्ध हो चुकी है । देखिये, वेद ब्राह्मणादि के प्रमाणों से और युक्त युक्तियों से ऋषि दयानन्द ने वेद प्रादुर्भाव को पूर्व

प्रादुर्भावयितुं शक्याः, नाऽन्यस्मादिति तत्र प्रतिपिपादयिषयैव महर्षिणा 'एव' शब्दः अवधारणार्थः प्रयुक्तः, किञ्च नित्यादेव परमेश्वरात् नित्यशब्दार्थ-सम्बन्धाः सुघटाः । यच्चोक्तं 'पूर्णविद्यावत्त्वे घटादीनामपि परमेश्वरादेव कुतो नोत्पत्तिरिति ? तदिदमपि समग्रमज्ञान-विजृम्भितमेव, घटादीनां निर्माणे पूर्ण-विद्यावत्त्वस्य गुणस्यानावश्यकत्वात्, घटपटमठादिनिर्माणं तु अल्पविद्या अपि मानवा कर्त्तुं शक्नुवन्ति । यथा च कर-निर्माणे तु तस्य परमेश्वरस्य आवश्यकता, न (घटादि) पात्र-निर्माणे, तदनुग्रह प्राप्तकराभ्यां पात्ररचना-सम्भवात् । अथापि पूर्णविद्यावान् ईश्वरः अल्पविद्या-साध्य-रचना-सामर्थ्यं निदधाति जीवात्मसु । वेदोत्पत्तिसामर्थ्यं तु मानव-सामर्थ्य-परिधेर्बाह्यमल्पज्ञत्वाज्जीवात्मनः ।

यच्चाह-दर्शनाचार्यपदलाञ्छनः तदनुवादकः 'नित्य आत्माओं में भी पूर्णविद्यावत्त्व विद्यमान है' एतदुत्तरे तु इदमेव ब्रूयते ।

हा ! दर्शनं ननु धुनोति शिरः स्वकीयम्,
आचार्यतां ह्यगमयद् ब्रजवल्लभं यत् ।

ही सिद्ध कर दिया है, यहाँ तो 'पूर्ण-विद्यावत्त्वात्' यह हेतु 'शब्द, अर्थ और सम्बन्ध युक्त-वेद प्रादुर्भूत हुये' बताने के लिये दिया है । यदि कोई यहाँ यह शंका करे कि वेद तो परमेश्वर ने उत्पन्न कर दिये, पर शब्द अर्थ और सम्बन्ध किसी और ने जुटाये, इस बात के निराकरण के लिये 'परमेश्वरादेव' में 'एव' शब्द को पढ़ा है अर्थात् परमेश्वर ने ही ये शब्दार्थ सम्बन्धादि भी बनाये और नित्य परमेश्वर से ये शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य सिद्ध हैं ।

"यदि परमात्मा पूर्ण-विद्यायुक्त है तो उससे ये घटपटादि भी क्यों नहीं उत्पन्न माने जाये ।" यह बात भी आपकी अज्ञान जन्य है, क्योंकि घटादि की उत्पत्ति में, बनाने वाले में, पूर्णविद्यावत्त्व-गुण की आवश्यकता नहीं । घटादि का निर्माण तो अल्पविद्यायुक्त साधारण मनुष्य (कुम्भकार) भी कर सकते हैं । हाँ, कर (हाथ) के निर्माण में तो परमेश्वर की अपेक्षा होती है, पात्र (घटादि) 'के निर्माण में नहीं । ईश्वर के प्रदत्त हाथों से घटादि की रचना सम्भव है । इसके अतिरिक्त पूर्ण-विद्या-युक्त ईश्वर अपूर्णविद्यावाले मनुष्यों से साध्य वस्तुओं के निर्माण की सामर्थ्य जीवात्माओं में देता है । परन्तु वेदोत्पत्ति की सामर्थ्य तो अल्पज्ञ मानवों की सामर्थ्य परिधि से बाह्य है ।

जीवान् समानखिल-बोधवतोऽवदद् यः,
निष्कोषतां वत गताऽस्ति मतिस्तदीया ।।

भोः दार्शनिकंमन्य, नहि जीवात्मनां पूर्णविद्यावत्वं प्रतिपादितं क्वचित् शास्त्रेषु, क्लेशकर्म-विपाकाशयैस्तेषां परामृष्टत्वात्, बन्ध-नात्मक-कर्मकर्त्तृत्वेन भोक्तृभावाच्च क्लेशकर्मादि-दोषैरपरामृष्टत्वं तु परमेश्वरस्यैव, तथा चोक्तं योगदर्शने 'क्लेशकर्म-विपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः इति। किञ्च 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि वेद-मन्त्रे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति वाक्ये जीवात्मनः भोक्तृत्ववर्णनं सुस्पष्टमेव। अथापि अन्यत्र 'शास्त्रे' स सर्वज्ञः सर्वविदिति सर्वज्ञत्वमीश्वरस्यैव प्रतिपाद्यते न तु जीवात्मनां, तेषां च कृते एव तु वेदादि-शास्त्र-प्रणयनमित्यलं विस्तरेण।

यच्चाभिप्रेतं करपात्रिणा समानमेव नित्यत्वं (वेद) ज्ञानस्य ग्रात्मनां चेति तदा परमेश्वरादेव ग्रात्मनामुत्पत्ति र्मन्तव्येति' तदपि

ग्रन्थ के भाषानुवादक दर्शनाचार्य जी के 'नित्य आत्माग्रों में भी पूर्ण-विद्या-वत्त्व विद्यमान है' इस कथन के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र (ज्ञान) ग्रपना सिर पटक-पटक कर रो रहा है कि हाय मैंने ब्रजवल्लभ जी को दर्शनाचार्य बना दिया। न बनाता तो ही अच्छा था, क्योंकि यह कहकर तो इनकी बुद्धि का दिवाला ही निकल गया।

ग्रजी दार्शनिक जी शास्त्रों में जीवात्माओं का पूर्णविद्यावत्त्व कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया गया है वे तो योगशास्त्र के अनुसार क्लेश कर्म ग्रौर विपाकाशय से (परामृष्ट) संयुक्त हैं, ईश्वर नहीं। इसके ग्रतिरिक्त जीव बन्धनात्मक कर्म-कर्त्तृत्व के कारण भोक्ता भी है, जबकि ईश्वर नहीं। जैसा कि द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...इत्यादि मन्त्र में 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' के द्वारा कहा गया है। अन्यत्र शास्त्रों में ईश्वर के विषय में 'स सर्वज्ञः सर्ववित् कहा गया, जीवात्मा के विषय में नहीं है। जीवात्माओं के ग्रल्पज्ञ होने के कारण ही उनके लिए वेदादि शास्त्रों का प्रणयन किया है।

करपात्री जी का यह कथन है कि जिस प्रकार वेद-ज्ञान का ग्रौर जीवा-त्माग्रों का समानरूप से नित्यत्व है, उसी प्रकार वेद ज्ञान के समान जीवा-त्माओं की भी ईश्वर से उत्पत्ति क्यों न मानी जाय। यह कथन भी तर्क

न तर्क-सङ्गतम्, यतो हि आत्मनां ज्ञानस्य च समानत्वेऽपि पूर्वेषां द्रव्यत्वमुत्तरस्य तु परेशगुणत्वं; गुणिनि परमेश्वरे च यथा समवाय-सम्बन्धेन ज्ञानगुणस्य स्थिति र्न तथा जीवात्मनां, किञ्च परमात्मनः जीवोत्पत्तौ स्वीकृतायां तेषामनित्यत्वापत्तिः स्याद् उत्पद्यमानस्या-नित्यत्वात् ।

यदुक्तं "किं च सर्वे शब्दाः, सर्वे अर्थाः सर्वे सम्बन्धाः पूर्णविद्या वत्त्वेन परमेश्वरादेवोत्पन्नाः ? वैदिकाः वा ? नाद्यः, प्रत्यक्ष-विरोधात्, दृश्यन्ते एवाऽनेके शब्दाः अर्थास्तत्सम्बन्धाश्च तेभ्यस्तेभ्यः कारणेभ्यः उत्पद्यमानाः परमेश्वराच्चाऽनुत्पद्यमानाः । नान्त्यः, पूर्ण-विद्यावत्त्व-व्यभिचारात् । लौकिकशब्दार्थ-सम्बन्धानां वैदिक शब्दादिभ्यो भिन्नत्वे 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।३०) इति न्याय-विरोधाच्चेति" । तदेतत्सर्वं तर्कशास्त्र-विरुद्धं, प्रजल्पनमेव भवतः उक्तिश्चेयं घटते भवति :—

गल्लौ हि विधिना दत्तौ, व्यर्थजल्पनशिल्पिनौ ।
मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी ॥

भोः प्रजल्पक ! विचार्यतां तावत्प्रथमं तु विकल्प एवात्र निरर्थकः,

---

संगत नहीं, क्योंकि जीवात्मा और वेद-ज्ञान की समानता होते हुए भी गुण और गुणी कृत भिन्नता भी है । वेद ज्ञान गुण है, जीवात्मा द्रव्य (गुणी) हैं । जिस प्रकार वेद ज्ञान परमात्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहता है वैसे जीवात्मा नहीं रहते । दूसरी मुख्य बात यह भी है कि यदि परमेश्वर से जीवों की उत्पत्ति मानी जाये तो उनकी नियत्व हानि हो जायेगी, जबकि जीवात्मा नित्य हैं ।

यह जो आपने कहा कि "सब शब्द, सब अर्थ, सब सम्बन्ध पूर्ण विद्यायुक्त परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए या वेदों से सम्पन्न हुए ? पहला पक्ष ठीक नहीं प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से, क्योंकि अनेक शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध उन-उन कारणों से उत्पन्न होते हैं, परमेश्वर से नहीं । दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि इस प्रकार मानने से परमेश्वर में पूर्ण विद्यावत्त्व का व्याघात हो जायेगा लौकिक अर्थ और सम्बन्ध की वैदिक शब्द आदि से भिन्नता मानने पर 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थ' (११२१४०) इस मीमांसा के न्याय से विरोध भी होगा" ।

आपका वह कथन तर्क-शास्त्र विरुद्ध प्रजल्पन मात्र है, इसलिए यह उक्ति

यतो हि पूर्ण-विद्यावतः परमेश्वराद् उत्पन्ना वैदिकाः नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः यथा सन्ति न तथा अस्मदादीच्छाज्ञान-प्रयत्नजन्याः लौकिकाः। भवन्मतेन यदि परमेश्वरः घटपटादिपदार्थान् नोत्पादयति तदा तस्य पूर्णविद्यावत्त्वस्य विघातो भवति। तदेतदपार्थकम्। तस्य पूर्ण-विद्यावत्त्वस्य नित्य-शब्दार्थ-सम्बन्धवतां वेदानां प्रकाशने सदुपयोगात्।

किञ्च भवन्निर्दिष्टम् अविशिष्टेत्यादि जैमिनि सूत्रं (१।२।४०) संव्याकमस्ति, न तु (१।२।३०) संख्याकम्। यच्च भवान् जैमिनीय-सूत्रेण न्यायविरोधं प्रतिपादयतीति महदाश्चर्यम्।

भोः मीमांसकंमन्य! 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः इति मीमांसासूत्र-प्रदर्शनस्य किमिदं तात्पर्यं मनुते भवान् यद् यस्य शब्दस्य लोके योऽर्थः स एव अर्थस्तस्य शब्दस्य वेदेऽपि भवति। यद्येवं न तद्युक्तं, लोके तु अपशब्दैरपि स्वाभिप्रायप्रकाशनं जायते, क्वचित् प्रकृति-प्रत्ययाऽपरिज्ञानेऽपि अव्युत्पत्ति-पक्षे तदर्थः सम्भवति, परं नैवं वेदे।

घटित होती है कि "भगवान ने गाल दिये, तो जो मन में आये बोलते रहो। यदि हरड़ को दस हाथ लम्बा बताओ, तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता।

प्रजल्पकजी, 'यहां पर आपका वैदिकाः वा' यह विकल्प निरर्थक है पूर्ण-विद्य परमेश्वर से उत्पन्न शब्द, अर्थ और सम्बन्ध वैदिक ही हैं। परन्तु हम लोगों के अनित्य इच्छा ज्ञान प्रयत्नादि से समुत्पन्न होने के कारण वैसे नहीं। आपके मत की 'यदि परमेश्वर जब घट-पटादि पदार्थो को उत्पन्न नहीं करेगा तो उसके पूर्णविद्यावत्त्व का विघात हो जायेगा' यह बात सर्वथा असंगत है। पूर्ण-विद्यावत्त्व का उपयोग नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों के प्रकाशन करने में है।

प्रथम तो आपकी बताई जैमिनि सूत्र सं० (व्या० १।२।३०) अशुद्ध है यह (१।२।४०) शुद्ध है। दूसरे, इस जैमिनि सूत्र से अपने न्याय विरोध को प्रति-पादन किया है, यह महान् आश्चर्य हैं। ओ मीमांसकाभिमानी। आप इस मीमांसा सूत्र का अर्थ का अनर्थ कर रहे हो। क्या आपका इससे यह तात्पर्य है कि जिस शब्द का लोक में जो अर्थ होता है, वेद में भी वही अर्थ होगा, तो ठीक नहीं, लोक में तो अपशब्दों से भी अभिप्राय का प्रकाशन हो जाता है, परन्तु वेद में नहीं। लोक में प्रकृति, प्रत्यय के जानने पर भी अव्युत्पत्ति पक्ष में

अव्युत्पन्नरूढि-पक्षमाश्रित्य नाम-साम्यं च दृष्ट्वा भवादृशैरेव वेदेषु अनित्यैतिहासिकः पक्षः समुद्भाव्यते, यश्च महाननर्थकरः। अस्तु।

जैमिनीयसूत्रस्य अयमस्ति वास्तविकार्थः यस्त्रोटयित्वा भवता अन्यथा व्याख्यातः तत्र हि दर्शनेऽयं प्रसङ्गः यद् वेद-मन्त्राणां पठन-पाठन-मात्रमेव पुण्यकृद् उताहो सार्थकः स्वाध्यायः? स तदा समाधत्ते 'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) अयं भावो यदर्थसहित एव स्वाध्यायः कार्यः। तदग्रे अविद्यमानादिकारणैः वेदानां स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इति पूर्वपक्षः समुद्भावितस्तदग्रे ग्रन्थकारः समाधत्ते 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (१।२।४०) तदस्य सूत्रस्य तत्राऽयमेवार्थो यद् यथा लोके समस्तग्रन्थानामध्ययनमध्यायनं च सार्थकमेव लाभ-प्रदं भवति तथैव वेदेऽपि वाक्यानामध्ययनमध्यापनं च सार्थकमेव कर्त्तव्यं, यतो लोके वेदे च वाक्यार्थ-ज्ञानं समानरीत्यैव भवति अर्थात् यथा लोके यौगिक-शब्दानाम् अर्थज्ञानं प्रकृति-प्रत्ययावयव-बोधेन भवति तथा वेदेऽपि। एतच्च शावरभाष्ये समर्थितम्। तदेवं लौकिक-शब्दार्थ-सम्वन्ध-ज्ञानवतां वैदिक-शब्दार्थ-सम्वन्धाववोधाच्चेति यदुक्तं, तत्प्रलपनमात्रमेव।

अर्थ हो जाता है, परन्तु वैसा वेद में नहीं। वेद के अव्युत्पत्ति-रुढ़िपक्ष को लेकर ही आप सरीखे लोगों ने नित्य वेदों में अनित्य-इतिहासदि-पक्ष उद्भावित करके अनर्थ उत्पन्न कर दिए हैं।

उक्त जैमिनि सूत्र का यथार्थ इस प्रकार है, जो आपने तोड़ मरोड़कर अन्यथा कर दिया है। देखिए वहां पहले से यह प्रसङ्ग है कि वेद मंत्रों का अर्थ-हीन पठन-पाठन पुण्यकारी होता है या सार्थक? उसका समाधान दिया 'तदर्थ-शास्त्रात् (जै0 १।३।३१) अर्थात् अर्थसहित ही वेदों का स्वाध्वाय करना चाहिए। उसके बाद फिर पूर्वपक्ष उठाया कि अविद्यमान, अचेतन, और विरु-द्धार्थ आदि कारणों से वेदों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। फिर उसका समाधान दिया 'अविशिष्टस्तु' इत्यादि, इस सूत्र का तब यही अर्थ है कि जैसे लोक में सम्पूर्ण ग्रन्थ अर्थ-सहित पठित पाठित लाभकारी होते हैं वैसे सार्थक पठित वेद भी, अन्यथा नहीं क्योंकि लोक में और वेद में वाक्यार्थ ज्ञान समान-रीति से होता है अर्थात् लोक में जैसे प्रकृति प्रत्यय के विभाग से यौगिक

भवता वेदोत्पत्तिः पूर्वं ब्रह्म-द्वारा प्रतिपादिता सम्प्रति अग्न्यादि द्वारा स्वीकृता यथा हि :—'परमेश्वरेणाग्न्यादिषु वेदानाविर्भाव्य सम्प्रदायः प्रवर्तित' इति । तदेवमनिर्णीतासिद्धान्तो भवान् संशयाटव्यामटति । अग्न्यादिषु वेदाविर्भावं तु मन्वानः दयानन्दीय-मेवमतमनुसरति । तदेवं च स्वपूर्व-प्रतिज्ञातार्थत्यागेन प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तर-नाम-निग्रह-स्थानयोः निगडितः ।

किञ्च यः स्वपौर्वापर्य-विरोधमपि न प्रत्यभिजानन् विद्यमान-रागद्वेषासूयोपनिबद्धानेक-हृदय-ग्रन्थिः अकारणमनाधारं च पराक्षेप-परायणः, कथमसौ धानुकमहाभागस्य समर्पणसमर्पिताचंनाभाव-कुसुमानां भाजनं भवितुमर्हति, यथा चोक्तं धानुकमहाभागेन स्वसमर्पणवाक्ये "श्री स्वामि महाराजस्य तपश्चरणद्वारा हृदय-ग्रन्थिभेदनात् समस्त-ज्ञान-विज्ञानं करामलकवत् भासितमास्ते' इति । तदेतत् सर्वं धानुकोक्तमसङ्गतमेव ।

(पृ० ५-१०) यदुक्तं वेदानां नित्यत्व-श्रवणाद् वेदानामुत्पत्ति

शब्दों का अर्थ-ज्ञान होता है उसी प्रकार वेद में भी । इस सूत्र के शाबर भाष्य में भी यही तात्पर्य है ।

महाराज, आपने वेदोपत्ति पहले तो ब्रह्मा से मानी, अब अग्नि वायु आदि ऋषियों के द्वारा मान ली । इस प्रकार आप स्वयं में संशयात्मा हैं । अनि-र्णीति सिद्धान्त वाले आप दोनों नौकाओं में पैर रखे हैं जो बहुत खतरनाक है आपने तो अग्नि आदि के द्वारा वेदों के आविर्भाव को मानकर दयान्दीय मत का अनुसरण कर लिया, और इस प्रकार आप स्वप्रतिज्ञा-हानि और फिर प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान में निगडित हो गये ।

भला जो अपने पौर्वापर्यविरोध को भी स्मरण न करता हुआ, राग द्वेष असूर्यादि से उपनिबद्ध अनेक हृदय ग्रन्थि वाला व्यक्ति दूसरों पर अकारण और निराधार आक्षेप करता है, वह धानुका जी के श्रद्धा-सुमनों का पात्र कैसे हो सकता है ? जैसे कि धानुका जी ने अपने समर्पण-वाक्य में करपात्री जी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि स्वामी जी महाराज (करपात्री जी) को तपश्चरण के द्वारा समस्त हृदयन्ग्रन्थियों के भेदन से, समस्त ज्ञान विज्ञान हस्तामलकवत् भासित हैं ।" अतः यह कथन असंगत है ।

(पृ. ५१०) पर जो आपने कहा कि "वेदों की नित्यता होने से उनके

कालस्यैवाऽभावादिति" तदपि न विचारचारु। यथा हि गुरौ ज्ञानं तिष्ठति परं यस्मात्कालात् स कक्षामुपेत्य शिष्येषु तज्जानं पाठनेन प्रकाशयति तस्मादेव कालात् तज्ज्ञानस्य प्रकाशनमुत्पत्तिर्वा मन्यते लोके, तथैव सृष्ट्यादौ परमात्मना स्वानुग्रहेण वेदाः ऋषिषु प्रकाशिताः प्रादुर्भाविताः वा, स एव च वेदोत्पत्तिकालः। नहि प्रकाशनात्तेषां नित्यत्व-हानिः। यथा च नित्यजीवात्मा नित्यपरमात्मनः यस्मिन्काले नित्यानन्दमनुभवति, तस्यानन्दस्य स एव कालः तदुत्पत्तिकालः परिगण्यते न च तेनाऽऽनन्दस्य नित्यत्वहानिः। अतो वेदानां नित्यत्वे तत्प्रादुर्भावे न काचित् दोषापत्तिः। प्रत्युत भवद्वाक्ये वेदानामिति शब्दस्य द्विः-पठने तु दोषापत्तिरेव, द्वितीयवारं वेद-स्थाने पूर्वपरामर्शकस्य तेषामिति शब्दस्यैव सुवचत्वात्।

यदप्युक्तं 'वर्त्तमान कल्पसृष्टि-काल-गणनाप्यशुद्धैवेति' तदिदमशुद्ध-कथनं तु यतेर्भवतो विशुद्ध-मतेरभावादेव। यतो हि न भूमिकायामृषिणा क्वापि सप्त-सन्धीनां कालः समाख्यातः, टिप्पणी लेखने

उत्पत्ति-काल का ही अभाव हो जायेगा" वह भी अविचारित है। जैसे कि गुरु में उसका अपना ज्ञान रहता है, पर वह जिस समय कक्षा में जाकर अपने ज्ञान को शिष्यों में प्रकाशित करता है उसी समय से उस ज्ञान का प्रकाशन लोक में माना जाता है। उसी प्रकार सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अनुग्रह से अग्नि आदि ऋषियों में वेद प्रकाशित किए। तभी से उनका उत्पत्ति-काल अथवा प्रकाशन काल माना जाता है। वेदों के प्रकाशन से परमात्मा के नित्यज्ञान की हानि कैसे हो गई ? अर्थात् कथमपि नहीं हुई, और भी इसी प्रकार देखिये, जिस काल से नित्य-जीवात्मा को परमात्मा के नित्यानन्द की अनुभूति होती है, वही काल उस आनन्दोत्पत्ति का काल माना जाता है और जीवात्मा के द्वारा उस आनन्द की अनुभूति से परमात्मा के नित्यानन्द में कोई क्षति नहीं होती। अतः इस प्रकार नित्य परमात्मा से वेदोत्पति मानने से कोई दोषापत्ति नहीं। हाँ आपके वाक्य में 'वेदानां' शब्द के दुबारा पढ़ने में अवश्य ही दोषापत्ति है। दूसरे वक्यांश में 'वेदाना' के स्थान पर उसके पूर्व-परामर्शक 'तेषां' शब्द का प्रयोग ही समीचीन एवं सुवच है।

यह कथन कि "भूमिका में वर्त्तमान कल्प-सृष्टि काल की गणना भी अशुद्ध है" ठीक नहीं, आपको विशुद्ध-मति के अभाव के कारण यह काल गणना अशुद्ध

दायित्वं तु टिप्पणीकारस्यैव न मूललेखकस्य। किञ्च महर्षिभाष्य-भूमिकायां काल-गणना-परिगणने नैकस्याप्यङ्कस्य क्वचिदपि त्रुटिः, प्रत्युत भवत्सम्प्रदाय-प्रवर्तितेषु वर्त्तमान-पञ्चाङ्गेषु सृष्टि-काल गणनायां तु त्रुटिरेव, यतो हि सा गणना समुपलब्ध-मयासुर-रचितज्यौतिष-ग्रन्थमपि नानुसरति।

अथवा कथं न भवादृशां वेदान्त-मतानुयायिनां भ्रमि-विभ्रमः स्याद् ये ब्रह्मणि संसारसत्ताया एव भ्रमं बिभ्रति ? वेदान्ति-मत-खण्डकस्य महर्षेर्भाष्य-भूमिकायाः कालगणना तु वसिष्ठादि-मुनि-ग्रन्थ-सम्मता महर्षि मन्वादि-समर्थिता च। अतो न तत्र शङ्काक्लेशलेशस्य सम्भवः।

ननु भवादृशैः वर्त्तमाने १९८१ तमे ईसाब्दे सृष्टिकालस्य १,९५,५८,८५,०८१ गताब्दाः 'प्रदर्शिताः कथं न ते एव प्रामाण्यमावहेयुरिति चेन्न, सृष्टि-संवत्सर शास्त्रानभिज्ञैस्तत्संख्याऽऽकलनात्।

लगी। वास्तव में अशुद्ध नहीं है, क्योंकि महर्षि ने भूमिका में सात सन्धियों के काल की कहीं गिन्ती नहीं की। टिप्पणी लेखन का दायित्व तो टिप्पणी-कार का ही है ऋषि का नहीं।

महर्षि का भाष्य-भूमिका में काल गणनागत कहीं कोई त्रुटि नहीं, प्रत्युत आपके सम्प्रदाय प्रवर्तित वर्त्तमान पचाङ्गों में सृष्टिकाल गणना में तो त्रुटि अवश्य है, क्योंकि वह सृष्टि सम्वत् आपके मयासुर रचित ज्योतिष् शास्त्र के अनुकूल नहीं है। अथवा आप जैसों को तो त्रुटि न होने पर भी त्रुटि का भ्रम संभव ही है, क्योंकि भवादृश नवीन वेदान्ती ब्रह्म में भी संसार की सत्ता को भ्रम ही मानते हैं, जबकि संसार की सत्ता वस्तुतः पृथक् है।

अतः वेदान्तिमत खण्डक महर्षि दयानन्द की भूमिका में त्रुटि का भ्रम मिथ्या है। भूमिका-गत काल-गणना वसिष्ठादि मुनि-ग्रन्थ-सम्मत तथा महर्षि मन्वादि रचित स्मृति-समर्थित है, फलतः उसमें शङ्कावकाश सम्भव नहीं।

यदि यह कहा जाय कि आप जैसों ने इस वर्ष सन् १९८१ ई० सृष्टि सम्वत् १,९५,५८,८५०८१ दिखाया है उसी को क्यों न ठीक मान लिया जाय, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह गिनती प्रामाणिक शास्त्रज्ञों के द्वारा नहीं की गई है।

यच्चोक्तं 'के मनवः ? कथं मन्वन्तर-संज्ञाः ? कथं च ते चतुर्दश-संख्याकाः ? स्वायम्भुवादि संज्ञाः किंमूलाः ? मन्वादिकल्पनाश्रणात् तन्मूलस्येतिहासपुराणस्योपेक्षणं चेत्यर्धकुटी न्यायानुसरणमेव" इति !

इहोच्यते महर्षिणा लिखितं यद् 'यत्सत्यं वेदात् प्रसिद्धं क्वाप्यन्यत्र गतं तत्प्रमाणमन्यदप्रमाणम्' इत्यनुरुध्य पुराणादिषु नवीनेषु चाऽपि ग्रन्थेषु सत्यग्रन्थेभ्यो यत्सत्यं गृहीतं, तदेव ग्राह्यम् । याश्च अनृताः सृष्टिक्रम-विरुद्धाः कपोल-कल्पनाः कृताः तास्तु न कथमपि ग्राह्याः, परं नैतस्याभिप्रायोयत् पुराणेष्वेव लिखितमेतद् मन्वादिवर्णनं, नान्यत्रेति, मनुस्मृति-सूर्यसिद्धान्तादौ तत्समुपलम्भात् । मन्वन्तर-संज्ञाः कथं जाता इत्यस्योत्तरे ऋषिलेख एव दृष्टव्यः । यथा हि:—'मन्वन्तर-पर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिक-गुणानामपि पर्यावर्त्तनं किञ्चित्किञ्चिद् भवतीत्यतो मन्वन्तर-संज्ञा क्रियते' । स्वायम्भुवादि-संज्ञा-मूलत्वे तु मनुः स्वयमाह :—'स्वायम्भुवस्य च मनोः षड्वंश्याः मनवोऽपरे ।'

यह जो कहा कि "मनु कौन है ? मन्वन्तर क्यों हैं ? वे संख्या में १४ क्यों हैं ? स्वायम्भुवादि नामकरण का मूलाधार क्या है ? मनु आदि की तो कल्पनाओं का आश्रय ले लेना और उनके मूलभूत पुराण इतिहास आदि की उपेक्षा कर देना, आधा तीतर आधी बटेर वाली कहावत की याद दिलाता है।

इस (प्रसङ्ग) प्रकरण का महर्षि ने मूल-समाधान लिखा है कि 'जो सत्य वेदों से प्रसिद्ध है, परन्तु अन्यत्र चला गया है । वह प्रमाण के योग्य है और उसके अतिरिक्त सब अप्रमाण है' इस बात को ध्यान में रखते हुए अग्नि आदि पुराणों में अथवा अन्य नवीन ग्रन्थों में वेदादि सत्य ग्रन्थों से जो सत्य ग्रहण किया है, वही ग्राह्य है। जो झूठी बातें सृष्टि क्रम के विरुद्ध है, कपोल-कल्पित हैं, वे किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं । परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनु, मन्वन्तर आदि का वर्णन पुराणों में ही लिखा है । सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में भी वह लिखा मिलता है । मन्वन्तर संज्ञायें किस प्रकार हुईं इस विषय में ऋषि लेख देखना चाहिये । जैसे कि: —मन्वन्तर की पर्यावृत्ति में सृष्टि के नैमित्तिक गुणों में कुछ-कुछ पर्यावर्तन होता है, इसी लिये मन्वन्तर संज्ञायें की जाती हैं । स्वायम्भुव आदि संज्ञाओं के होने में तो मनु ने स्वयं कहा है:—

'स्वायम्भुवस्य षड्वंश्याः इत्यादि अर्थात् स्वायम्भुव मनु के छह दूसरे

मनूनां च स्वायम्भुवादिसंज्ञास्तु इतिहासमूला एव। यथा स्वयम्भुवोऽपत्यं (स्वयंभू+अण्) स्वायम्भुवः (संज्ञा-पूर्वक-विधेरनित्यत्वान्न गुणः)। सच प्रथमो मनुः। स्वरोचिषोऽपत्यं स्वारोचिषो द्वितीयो मनुः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। तदेवं मनु-मन्वन्तराहोरात्रादीनां याः निर्भ्रान्त-कल्पनाः तास्तु आर्षग्रन्थेभ्य एव अनार्षग्रन्थेषु अनुकृताः। आर्ष-ग्रन्थाश्च वेदोपलब्ध-बीजाङ्कुर-पल्लवा एव। यथा च अथर्ववेदे कल्प-गणना-बीजम्, 'शतं च तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि-कृण्मः इति, (अथर्व० ८।२।२१) अर्थात् दशसहस्रशताब्दद्वित्रिचतुर्विन्यासः कल्पः। किञ्चैतस्याः कालगणनायाः अपि मूलं वेदे यथा :—

> कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेस्य।
> एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा, कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र।
> (अथर्व० १०।७।९)

अर्थाद् भूतभविष्यत्कालरूपं गृहमेकं सहस्र-स्कम्भेषु धृतम्। अत्रालंकाररूपेण कल्पस्यैकसहस्र-युगानां वर्णनं वर्त्तते॥

और वंश हुये थे।

मनुओं की स्वायम्भुव आदि संज्ञायें तो इतिहास-मूलक ही हैं जैसे कि:— स्वयम्भुवोऽपत्यं स्वयम्भू+अण् स्वायम्भुवः (संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने से गुण नहीं हुआ)। वही प्रथम मनु हुआ। 'स्वरोचिषोऽपत्यं स्वारोचिषो' द्वितीय मनु हुये। इसी प्रकार अन्य नाम भी समझने चाहिये।

मनु मन्वन्तर अहोरात्र आदि जितनी भी निर्भ्रान्त कल्पनायें हैं, वे सब अनार्ष ग्रन्थों में भी मूल आर्ष ग्रन्थों से ही नकल कर ली गई हैं। और वे आर्ष ग्रन्थ वेदों में समुपलब्ध मूल बीजों के अंकुर और पल्लव आदि ही हैं। जैसेः—अथर्व वेद में कल्प गणना का बीज इस प्रकार हैः— शतं च तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः' (अथर्व ८।२।२१)। अङ्कन्यास बांई ओर से होता है अतः ४३२ इसके बाद दश सहस्र सौ अर्थात् सात शून्य रख-कर कल्पगणना होती है। इस काल गणना का मूल अन्यत्र भी वेद में है जैसेः—कियता स्कम्भः इत्यादि (अथर्व १०।७।९)। अर्थात् भूत भविष्यत्काल रूप एक घर है, वह एक सहस्र खम्भे पर रक्खा हुआ है, यहाँअलंकार रूप से एक सहस्र चतुर्युग ही खम्बे हैं।

यदुक्तं "नित्यवेदस्योत्पत्तिकाल एव न सम्भवति" तत् समाधानं, वेदज्ञानमपि प्रभुणा सृष्ट्यादौ एव प्रादायि मनुष्याय। अतो मनुष्योत्पत्त्यनन्तर मेव वेदानां प्रादुर्भावकालः। न खलु महर्षि-दयानन्दो महदाद्युत्पत्तेः प्राग् अग्न्यादीनामुत्पत्तिं क्वाऽप्यवर्णयत् भवांस्तु निराधारमेव तमाक्षिपति। स चाऽयं वेदोत्पत्ति-कालः पाश्चात्य-विपश्चित्सम्मत-नवीनवेदोत्पत्ति-काल-निरासाय प्रस्तुतीकृतः। यथा लिखितं 'भूमिकायां' हिन्दीभाषायाम् :—'क्योंकि आर्यलोग······ बहीखाते की नाईं (सृष्टि संवत् को) लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं' इत्यादि।

यच्चोक्तं "मानवातिरिक्त-देवतामनङ्गीकुर्वाणस्य 'देवानां युगमुच्यते' (त० १।७१) इति वचनस्यार्थोऽपि गगनकुसुमायते" इति। तदेषा शङ्काऽपि महर्षिप्रोक्तदेवानां द्विविधभेदाऽनवगमनादेव। यतोहि महर्षिणा द्विविधाः देवाः वर्णिताः चेतनाः देवाः विद्वांसः जडास्तु सूर्यादयो मताः। मानुषं दैवं च युगमित्यत्र तु परिगणनाय

यह कथन कि नित्य वेद का उत्पत्ति-काल ही सम्भव नहीं है, ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा ने वेद-ज्ञान मनुष्यों के लिये सृष्टि के आदि में दिया, अतः मनुष्य की उत्पत्ति के अनन्तर ही वेदों का प्रादुर्भाव काल है। महर्षि-दयानन्द ने कहीं पर भी महदादि की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया है। आप तो निराधार ही आक्षेप कर बैठते हो। 'ऋषि दयानन्द ने यह वेदोत्पत्ति काल पाश्चात्य विद्वानों के नवीन वेदोत्पत्ति काल के खण्डन के लिये प्रस्तुत किया है। ऋषि ने भूमिका में हिन्दी भाषा में लिखा है। "क्योंकि आर्य लोग··· बहीखाते की न्याईं (सृष्टि सम्वत् को) लिखते-लिखाते पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं" इत्यादि तथा च आर्यों ने प्रथम क्षण से लेकर प्रतिदिन का परिगणन किया है जो आर्यों द्वारा संकल्प में बोला जाता है।

यह कहना कि "मानवों से अतिरिक्त देवताओं का युग (मनु आदि ने) स्वीकार किया है, फलतः इस कथन का अर्थ भी आकाशपुष्प के समान हो जायेगा।" ठीक नहीं।

यह आपकी शंका महर्षिद्वारा बताये गये दो प्रकार के देवताओं के न समझने के कारण है। ऋषि ने चेतन और अचितन दो प्रकार के देवता माने हैं। विद्वान् लोग चेतन देवता हैं और सूर्यादि जड़ देवता हैं। कालगणना के प्रसङ्ग

संज्ञामात्रमिष्यते। यथा च मनुष्याद् विशिष्टज्ञानादिना देव-कोटि-रुत्कृष्टा तथैवाऽत्रापि। मानुषं युगं तु चतुर्युगरूपं बोध्यं परं दैवं युगन्तु एतस्मात्द्वादश-गुण-साहस्रमुत्कृष्टं मन्यते। देवादिसंज्ञा विषयमधिकृत्य कुल्लूकभट्ट आह—देवानानामहः तत्र प्रायेण दैव-कर्मणामनुष्ठानमिति। तदेवं दैवं दिनं दैवं युगमित्यादि प्रयोगे संज्ञा-मात्रमिष्यते। न तत्र कश्चन चेतन-देवविशेषः अभिप्रेतः। अतः एतस्य देवादि-शब्दस्य भेदप्रतिपादक-मात्रत्वान्न तदर्थो गगन-कुसुमायते इति बोध्यम्।

यदुक्तं "दयानन्दमते दैव-युगानुसारेण गणाना नोपपद्यते" इति। तद्भवता नाऽत्र काचिदनुपपन्नता, दर्शिता एषा तु लेखकस्यैव कथनस्य ऽनुपपन्नता, यतो हि दैव-युगानुसारमपि ऋषि-निर्दिष्टा संख्या सर्वथोपपद्यते। तच्च प्रकरणं तत्रैव द्रष्टुमर्हम्। इयं च करपात्रिणः अपरा भ्रान्तिर्यत् मनु-मन्वन्तरादिगणना पुराणेतिहासोपोद्वलिते ति। इयंहि ज्यौतिष-शास्त्रमनुसृत्य प्रवर्त्तिता, यतोहि तिथिग्रह-नक्षत्रा-दीनां बोधो ज्यौतिष-शास्त्र-गणितेनैव जायते।

में दो प्रकार से गणना की गई है मनुष्य के नाम से तथा दैव के नाम से। मानुष युग और दैव युग इस स्थल पर परिगणन के लिये संज्ञामात्र अभीष्ट है आपके अभीष्ट देवता नहीं।

दैवादि संज्ञा के विषय में मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट यह कहते हैं कि देवा-नामहःतत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानमिति। इस प्रकार दैव दिन या दैवयुग आदि प्रयोगों में संज्ञायामात्र ही अभीष्ट है। कोई चेतन देव विशेष नहीं। अतः मानुष देवादि शब्दों के भेद प्रतिपादक होने से उनका अर्थ आकाशपुष्प के समान निराधार नहीं।

यह कहना कि दयानन्द के मत में दैव युगानुसार गणना नहीं बनती यहाँ आपने कोई अनुपपन्नता तो दिखाई नहीं वरन् लेखक के कथन की ही अनुपन्नता है, क्योंकि ऋषि ने तो दैव-युगों के अनुसार भी काल गणना निर्दिष्ट की है। जो वहीं देखनी चाहिये।

---

१ कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञा क्रियन्ते' इति 'च भूमिका'।

यच्चोक्तं न क्वचिदपि त्वदभिमतेषु वेदेषु वेदकालो निर्दिष्टः न च सृष्ट्यादौ तदुत्पत्तिः वेदेन साधयितुं शक्येति।' न तद्युक्तम्, सर्वज्ञानमयोहि सः इति मनुवचनमनुरुध्य वेदानामपि सर्व-विद्याऽऽकरत्वात्। तदत्रावधेयं यन्नेयं गणना पुराणेतिहासानुसारं, मनुस्मृत्यादीनां वेदमूलकतया इयं गणाना वैदिकी एव।

'सङ्कल्पोऽपि न सामाजिकेषु प्रचलति, इत्यधिक्षिपता भवता महान् अनर्थः कृतः यतोहि स्पष्टमेव तत्रैवोल्लिखितं यथा :— 'आर्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य परिगणनं कृतं तदार्यैः प्रतिदिनं (सङ्कल्पः) उच्चार्यते। तदेवं परमोदारः ऋषिर्भवतः समानपि (सङ्कल्पं, वाचयतः) आर्येषु परिगणयति। अपि च 'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टामित्यारभ्य सृष्टिस्थितिं' यावद् वेद-ज्ञानस्य अक्षुण्णाऽऽलोकः स्थास्यति, वेदवाणी च यथोच्यते 'ऋषिषु प्रविष्टेति', स एव वेदोत्पत्ति-कालः मन्यते।

किञ्च यदुच्यते 'न सृस्ट्यादौ तदुत्पत्तिरपि वेदेन साधयितुं

करपात्री जी की यह एक और भ्रान्ति है कि मनु मन्वन्तर आदि की गणना पुराण और इतिहास से उपोद्बलित है। यहाँ यह ध्यानदेने की बात है कि यह गणना पुराण और इतिहास के अनुसार नहीं, प्रत्युत ज्यौतिष शास्त्र के आधार पर प्रवर्तित हुई हैं; क्योंकि तिथि, ग्रह, नक्षत्र आदि का बोध ज्यौतिष शास्त्र से ही होता है।

'वेदों में वेद काल कहीं भी निर्दिष्ट नहीं और न वेदों से सृष्टि के आदि में उनकी उत्पत्ति का ही वर्णन ही सिद्ध किया जा सकता है।" यह कथन भी सर्वथा अनुपयुक्त है।

'सर्वज्ञानमयो हि स' इस मनुवचन के अनुसार वेदों को सब विद्याओं का भण्डार माना गया है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के वेद-मूलक होने से यह गणना भी वैदिक ही है।

'सामाजिकों में संकल्प भी नहीं चलता है, यह आक्षेप करके आपने महान् अनर्थ किया है, क्योंकि ऋषि ने उसी प्रसङ्ग में स्पष्ट लिखा है कि आर्यों ने क्षण से आरम्भ करके कल्पपर्यन्त की गिनती की है। वह प्रतिदिन आर्यों के द्वारा संकल्प में उच्चारण की जाती है।

शक्यते' इति । तदेतेन किं भवतामेषोऽभिप्रायो यद् विना शरीरधारिणं जीवं परमाणु-प्रथमसर्जन-संक्षोभ-काले वेदोत्पत्तिः ख्यापनीयेति ? तन्न, सृष्ट्यादौ इत्यस्यायमाशयः यदस्याः सृष्टे आदौ एव यदा ज्ञानाधार-पात्राणां जीवानां शरीरग्रहणमभूत् तदैव तेषु अमैथुन सृष्टि-रचितेष ऋषिषु वेद-प्रादुर्भूतिरभूत्' ।

यदि भवत्तोषायेदं मन्येत यन्न वेदेषु अस्याः सृष्टेः संकेतस्तदा वयं नैतन्मन्तुमर्हामः, यतोहि 'सर्व-ज्ञानमयो हि सः' इति मनु-शास्त्र विरोधः आपद्येत ।

किञ्च बिबुधाः निभालयन्तु तावदस्य करपात्रस्य कुमति-कौटिल्यं यदयं 'सृष्ट्चादौ' इत्यस्य पदस्य सृष्टेः प्राग् इत्यर्थं विधत्ते । भोः करपात्रिन् । यदि तावदादि-शब्दस्य अर्थः 'प्राग्' भवति तदा तु 'वेदार्थ-पारिजातादौ श्लोकाः लिखिताः' इत्यस्य अयमर्थः संपत्स्यते यद्

इस प्रकार परमोदार ऋषि ने संकल्प वाचने वाले आप सरीखों की आर्यों में परिगणना की है । 'तामन्वविन्दन्' ऋषिषु प्रविष्टा' इससे प्रारम्भ करके सृष्टि की स्थिति तक वेद ज्ञान का प्रकाश स्थिर रहेगा । और इसी ऋषिषु प्रविष्टां से वेदोत्पत्ति काल माना जाता है ।

सृष्टि के आदि में वेदों की उत्पत्ति वेदों से सिद्ध नहीं की जा सकती' इस कथन से क्या आपका यह अभिप्राय है कि बिना शरीर धारी जीव के परमाणु के प्रथम-सृष्टि के संक्षोभ-काल में वेदोंत्पत्ति कहनी चाहिये थी ? सृष्टि के आदि में इस शब्द का आशय यह है कि इस सृष्टि में आदि में ही जब ज्ञाना-धार-पात्र जीवों का शरीर ग्रहण हुआ, उसी समय अमैथुनी सृष्टि-रचित ऋषियों में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ ।

आपके सन्तोष के लिये भी यह नहीं माना जा सकता कि वेदों में इसका संकेत नहीं, क्योंकि सर्वज्ञानमयोहिस; इस मनूक्ति से विरोध उत्पन्न होगा ।

विद्वान् पुरुष जरा विचार करें कि यह करपात्र महोदय सृष्ट्चादौ' पद का अर्थ अपनी कुटिल मति से, सृष्टि के पहले' करते हैं । यदि 'आदि' का अर्थ पहले होता है, तो वेदार्थ-पारिजात के आदि में लिखित श्लोक' का अर्थ यह होगा कि वेदार्थ-पारिजात की रचना से पहले ये श्लोक लिखे गये' तो इसको

वेदार्थ-पारिजातस्य लेखनात् प्राग्इमे श्लोकाः लिखिलाइति'' परं नेतत्
कोऽपि बुद्धि-संङ्गतमर्थ मंस्यते । तद्विरमाधुना विरुद्ध -कल्पनात्
किञ्च महोदय ! मम तु निदवेनमिदमेव यत् : —

निरगमत् प्रग एव दिनान्तके, निववृते नहिभ्रान्त उदीर्यते ।
कुटिलतां त्यज भोः चरमायुषि, ऋषिवरानुचरो रुचिरोभव ।।
अपि चेह विरम्यते प्रपञ्चनाद् —
ऋग्वेदादि-श्रुतीनां विमलमतिमतां वह्निवाताद्यृषीणाम् ।
अन्तःस्थः सुप्रकाशं व्यधित विभुवरः सर्जनाऽऽरम्भ-काले ।।
वेदोत्पत्ते विचारं ह्यक्तमुनिवरो, भूमिकायां' निजायाम् ।
शङ्कानां सन्निरासः कृत इह मयका पारिजातोद्भवानाम् ।। १।।

तथा च

तरङ्गाघात - गर्त्तान्त-र्जीर्णे तुङ्गतरे यथा ।
कृततीर्थे हि कासारे प्रत्येकोऽवतरेन्नरः ।।२।।
वेदार्थ-पारिजाताब्धेस्तथा मत्तर्क-नौकया ।
विपश्चित्कश्चिदेकोऽपि पारं गन्तुमितोऽर्हति ।।३।।

कोई भी बुद्धिसंगत अर्थ न कहेगा । इस लिये महाराज ! अब तो बस करो
विरुद्ध कल्पनायें बहुत हो लीं, मेरा तो आप से यही निवेदन है कि प्रभात का
भटका हुआ यदि शाम को घर आ जाये, तो वह भटका नहीं कहलाता ।

अतः अब तो आप अपनी कुटिलता छोड़कर अन्तिम अवस्था में ऋषि
दयानन्द के अनुयायी बन जाइये । इसलिये इस विषय में यहाँ इतना ही पर्याप्त
है ।

विमल-बुद्धि वाले, अग्नि आदि ऋषियों के अन्तः करणों में सृष्टि के आदि
काल में ऋग्वेदादि चारों श्रुतियों का प्रभु ने प्रकाश किया । स्वामी दयानन्द
जी ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में 'वेदोत्पत्ति' का विचार किया है उस
पर वेदार्थ-पारिजात में उद्भावित सभी शंकाओं का मैंने यहाँ समाधान किया
है ।

कोई भी विद्वान् इस वेदार्थ पारिजात रूपी समुद्र को मेरी तर्क रूपी नौका
से उस प्रकार पार कर सकता है जैसे तरङ्गों के आघात से गर्त्तों वाले पुराने
तट वाले तालाब में सीढ़िया बनाने वाला व्यक्ति बड़ी सुगमता से अवतरण कर
सकता है ।। ४ ।।

अपि च

विद्वांसो मत्सरग्रस्ताः केचिन्मल्लेखदूषणे ।
दर्शयिष्यन्ति पाण्डित्यं पूर्वकुण्ठित-बुद्धयः ।।४।।

परम्—

प्रकृतितः प्रवणं श्रुति-रक्षणे
अपवदन्ति बुधाः स्खलितेऽपि नो ।
सलिल-पिच्छिल-वर्त्मनि सञ्चलन्,
यदि बुधः स्खलति क्वचिदञ्जसा ।।५।।

इति गुरुवर विहारीलाल शास्त्रि-शिष्य श्रीमदाचार्य-विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीय-मतमण्डने वेदार्थ-कल्पद्रुमे वेदोत्पत्ति-विषयः सम्पूर्णः ।

कुछ विद्वान् पुरुष जो मात्सर्य-ग्रस्त हैं, पहले से उत्तर देने में कुण्ठित बुद्धि हैं, अपना पाण्डित्य दिखाने के लिये मेरे लेख में दोष निकालेंगे ।

किन्तु जो वास्तविक विद्वान् होते हैं वे श्रुति-रक्षणार्थ लगे हुये व्यक्ति के स्खलन में भी अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं बुरा नहीं कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जलवर्षण से चिकने हुये मार्ग में समझदार व्यक्ति भी फिसल जाते हैं ।।५।।

श्रीमद्-बिहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित, करपात्रिकृत वेदार्थ-पारिजातीय-मत खण्डन करने वाले और महर्षि दयानन्दमत मण्डन करने वाले, वेदार्थ-कल्पद्रुम का वेदोत्पत्ति-विषय-सम्पूर्ण हुआ ।



अथ वेद-नित्यत्व-विचारः

(वे० पा० पृ० ५११) ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो-नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यत्वात्' इति भूमिका-पाठे करपात्रमहोदयः आक्षिपति "ईश्वर-सामर्थ्यस्य नित्यत्वेऽपि तत्कार्यस्य वेदस्य नित्यत्वाऽयोगात्। तथात्वे सर्वस्यैव जगतः ईश्वर-सामर्थ्यस्य नित्यत्वेन नित्यत्वाऽऽपातात्" इति।

(समाधानम्) अयमत्र वेदान् ईश्वर-सामर्थ्यस्य कार्यत्वेन प्रतिपादयति, परं न तथा ऋषिणा प्रत्यपादि। इह तु वेदाः परमात्मनः सामर्थ्यं, समर्थयते इति समर्थस्तस्य भावः सामर्थ्यं, तच्च शक्तिरेव।

सामर्थ्य-शब्दस्य चार्थः शक्तिः, ज्ञानं, योग्यता, क्रिया चेति यथा— 'निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्' (गीता) इह सामर्थ्यं शक्ति र्योग्यता च।

(वे. पा. पृ. ५११) 'ईश्वर से वेद उत्पन्न होने के कारण वेदों का नियत्व स्वतःसिद्ध है, क्योंकि ईश्वर का सर्व-सामर्थ्य नित्य है' भूमिका के इस कथन पर वेदार्थ-पारिजातकर्त्ता का कथन है कि ईश्वर-सामर्थ्य के नित्य होने पर भी उसके कार्य वेद का नित्यत्व नहीं हो सकता, वैसा मानने पर ईश्वर-सामर्थ्य के नित्य होने से सब जगत् का भी नित्यत्व प्राप्त होगा।

(समा०) यहां आप वेदों को ईश्वर-सामर्थ्य 'कार्य' प्रतिपादन कर रहे हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द ने इन्हें कार्य नहीं माना। यहाँ तो वेद स्वयं ही परमात्मा के सामर्थ्य बताये गये हैं। समर्थ का भाव ही सामर्थ्य होता है, परमात्मा समर्थ है और उसकी शक्ति तथा ज्ञान सामर्थ्य है। अमरकोष में भी 'समर्थस्त्रिषु शक्तिस्थे' के अनुसार समर्थ का अर्थ शक्तिमान् है।

सामर्थ्य शब्द का अर्थ शक्ति ज्ञान योग्यता और क्रिया है। जैसे कि— तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे इससे अधिक दुःख क्या हो सकता है, (गीता) यहां पर सामर्थ्य शब्द का अर्थ शक्ति और योग्यता है। 'मुझे

तथा च 'नहि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्पते (वा० रा०) इह च सामर्थ्यं योग्यताऽभिप्रेता ।

श्वेताश्वतरोपनिषदि च 'पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया चेति ।

अत्र शक्तिः सामर्थ्यं ज्ञानं क्रिया चेति अभिप्रीयते ।
क्वचिच्च सामर्थ्य-शब्देन प्रकृतिरपि अभिधीयते यथाप्रकरणम् ।
(वे० शां०-भा० १।३।३०)

शक्तिमतः शक्तेर्ज्ञानस्य वेदरूपस्य उत्पत्तिरभिव्यक्तिः प्रकाशन-मृषीणामन्तःकरणेषु, ईश्वरस्य सकाशाद् उपस्थितिमात्रादुपजायते । इह सकाशाद् इति पदं महत्त्ववदस्ति, आप्टे कोशेऽपि, सकाशादित्यस्य अर्थः एष एव । जगत्तु नैव ईश्वरस्य सामर्थ्यं तस्योत्पत्तौ प्रकृतिर्हि उपादानम् ईश्वरस्य सामर्थ्यं चेह निमित्त-कारणं भवति, तस्मात् जगतो नित्यत्वाऽऽपात-सम्भावनयाऽलम् ।

द्वितीयं पदमिह 'स्वतः' इत्यपि महत्त्व-पूर्णम् । स्वनति शब्दं करोति इति स्वः परमात्मा तस्मात् स्वतः परमात्मनः, अतः स्वतः

जीवित रहने में कुछ भी सामर्थ्य नहीं दीखता' (बा. रा.) । यहाँ पर सामर्थ्य का अर्थ योग्यता अथवा सार अभीष्ट है, और श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'उसकी पराशक्ति विविध प्रकार की है, तथा ज्ञान बल युक्त क्रिया स्वाभाविक है । यहां पर शक्ति (सामर्थ्य) ज्ञान और क्रिया हैं ।

कहीं पर प्रकरणानुसार सामर्थ्य 'शक्ति' का अर्थ प्रकृति भी होता है । (वे. शा. भा. १।३।३०)

इस प्रकार शक्तिमान् की शक्ति ज्ञानरूप वेदों की उत्पत्ति अर्थात् प्रकाशन या प्रादुर्भाव ऋषियों के अन्तःकरणों में ईश्वर के सकाश अर्थात् सन्निधि मात्र से हुआ । यहां 'सकाश' पद महत्त्वपूर्ण अर्थध्वनित करता है । आप्टे कोश में भी सकाश पद का यही अर्थ है । जगत् ईश्वर की सामर्थ्य नहीं है, इसकी उपत्ति में प्रकृति उपादान कारण है और ईश्वर का यह सामर्थ्य (शक्ति) निमित्त-कारण है, अतः जगत् के नियत्व की शंका करना निराधार है ।

यहाँ द्वितीय पद 'स्वतः' भी महत्त्वपूर्ण है । स्वन अर्थात् वेद-रूप शब्द को करने या बनाने वाला परमात्मा ही स्व है, अतः स्वतः अर्थात् स्व (परमात्मा)

सिद्धं नित्यत्वं जायते वेदानाम्। "न च वेदानाम्........सामर्थ्य-जन्यत्वात्" इति वचस्तु स्वोक्तस्य प्रमादजन्यं पिष्टपेषणमेव।

भवता 'सकाशात्' 'स्वतः' इति पदद्वयस्य निरर्थकता या प्रोच्यते सा तु तदर्थवैशिष्ट्यानवबोधन-कारणादेव। अथापि एतत्पदद्वय-निरर्थकता प्रथमं स्वकीये सायणाचार्ये आरोपयितव्या, यथा ह्यसौ स्वभूमिकायां लिखति "आदि-सृष्टौ ब्रह्मणः **सकाशाद्** वेदोत्पत्ति-राम्नायते। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृ-दोषाऽभावात् **स्वतः** सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थमिति।"

भो ! सायणस्य किमत्र द्वयमपि पदं निरर्थकम् ? ऋषिप्रोक्त-योरनयोः पदयोर्विशिष्टार्थावगाहिनी-सार्थकता तु इहैव मया प्रति-पादिता।

(वे० पा० पृ० ५११ पं० ६) 'नह्यन्यस्य नित्यत्वेनाऽन्यस्य नित्यत्वमतिप्रसङ्गात्' इति उक्तिरपि स्वकल्पितैवाऽसङ्गता च।

तः से वेदों का नित्यत्व स्वयं सिद्ध है। वहां पर 'वेद के ईश्वर-सामर्थ्यजन्य होने से जगत् की भी नित्यता आ जायेगी' यह आपका पुनर्वचन प्रमादजन्य-पिष्टपेषण मात्र है।

'सकाशात्' और 'स्वतः' इन दोनों पदों के प्रयोग की निरर्थकता आपके द्वारा कहना तो इनके अर्थ की विशेषता के न जानने के कारण है।

यह पदद्वय की निरर्थकता का आरोप तो पहले आपको सायणाचार्य पर लगाना चाहिये था, क्योंकि उन्होंने भी अपनी भूमिका में सकाशात् और स्वतः इन दोनों पदों का प्रयोग किया है। क्या यहां ये दोनों पद निरर्थक हैं ? हमने महर्षि प्रयुक्त इन दोनों पदों के पाठ के विशिष्टार्थ को ध्वनित करने वाली सार्थकता सिद्ध कर दी है।

(वे. पा. ५११ पं ६) "अन्य के नियत्व से अन्य के नियत्व का अति-प्रसङ्ग होगा अर्थात् जो नित्य नहीं है वह भी नित्य होने लगेगा" यह कथन भी आपका कल्पित और असङ्गत है, क्योंकि ऋषि-दयानन्द ने अन्य के नित्वत्व में अन्य को हेतु यहां नहीं कहा है। आप ही उलटा समझ रहे हैं कि वेद अन्य है और सामर्थ्य तथा ईश्वर अन्य है।

नहि ऋषिणा अन्यनित्यत्वेऽन्यस्य हेतुत्वमुक्तम्। अपि तु भवानेव विपरीतमेव प्रतिबुध्यते यदन्यो वेदोऽन्यच्च सामर्थ्यमीश्वरो वाऽन्यः । इह तु वेदानां स्वतो-नित्यत्वे तेषां सामर्थ्य-रूपत्वाद् ईश्वरस्य सर्व-सामर्थ्यस्य नित्यत्वं व्याख्यायते । यदि नाम ईश्वरोऽन्यः, वेदरूपं ज्ञानं चान्यत्, इत्यतोऽन्यत्त्वं स्यादिति चेन्न, ज्ञानरूप-वेदाना-मीश्वरस्य गुणत्वात्तदनन्य-सामर्थ्याद् वेति ।

किञ्च ज्ञानस्य परमात्मनश्च समवाय-सम्बन्धो हि विद्यते। तदेवमेकस्य नित्यत्वेऽपरस्यापि नित्यत्वं भवत्येव, यथा चोक्तम् "अयुत सिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपरा-श्रितमेवावतिष्ठते तौ च अयुतसिद्धौ"। तदेवं गुणा-गुणिनौ क्रिया-क्रियावन्तौ च अयुतसिद्धौ एव । तस्माद् गुणिनःपरमात्मनो विभुत्वान्नित्यत्वाच्च चेतनात्मसु ज्ञान-प्रकाश-सम्भवः अभूदेव । शब्दार्थ-सम्बन्धानां सिद्धत्वात् (नित्यत्वात्) च वेदानां नित्यत्वं सर्वथा सिद्धम् ।

निमित्त-भूतेनेश्वर-सामर्थ्येन उपादानरूपायाः प्रकृतेरुत्पाद्यमान-ता जगतश्च नित्यत्वापातो न भवति, प्रकृतेः परिणामित्वेन जगतः

महोदय ! यहाँ तो वेदों के स्वतः नियत्व में वेदों के सामर्थ्य-स्वरूप होने से ईश्वर के सर्व-सामर्थ्य के नित्यत्व का प्रतिपादन किया जा रहा है। यदि ईश्वर और उसका सामर्थ्य अन्य होता तथा वेद-ज्ञान इससे अन्य होता, तब तो आपकी यह बात बन सकती थी। आपकी यह अन्यथा अशास्त्रीय और असङ्गत है, क्योंकि ज्ञान रूप वेद ईश्वर का गुण या सामर्थ्य है।

ज्ञान और परमात्मा का समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार एक के नित्य होने पर अन्य का भी नित्यत्व होता ही है। जिनके मध्य में एक नष्ट न होता हुआ अपराश्रित ही रहता है, वे अयुत-सिद्ध होते हैं अर्थात् गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि अयुत सिद्ध हैं। फिर उसी गुणी परमात्मा से विभुत्व और नित्यत्व के कारण चेतन अग्न्यादि-ऋषियों की आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश सर्वथा संभव है, तथा शब्दार्थ सम्बन्धों के सिद्ध अर्थात् नित्य होने से वेदों का नित्यत्व भी सिद्ध है।

जगत् के निमित्त-भूत ईश्वर के सामर्थ्य द्वारा उपादान-रूप प्रकृति से उत्पाद्यमान होने के कारण जगत् के नित्यत्व की बात निर्मूल हो जाती है।

सृष्टि-रूपं प्रलये प्रकृतिलीनं जायते, परं न तथा वेदाः प्रकृतौ प्रलीयन्ते, परमात्मन्येव सदा तिष्ठन्ति। अपरं चेदमवगन्तव्यं यन्न कस्यापि नित्यत्वस्य अनित्यत्वस्य वा प्रतिपादकं निमित्त-कारणं हेतु र्भवति, अतो जगतोऽपि नित्यत्वं निमित्तीभूतसामर्थ्येनोत्पन्नत्वान्न, आशङ्कनीयम्। तत्र नित्यानित्ययोर्निरवयवसावयवयोर्नियमनात्। एवं ज्ञानस्य निरवयवत्वं, जगतश्च द्वयणुकादि-संयोगजन्यत्वेन सावयवत्वं शास्त्र-सिद्धम्।

ऋषिणा नित्य-कार्य-शब्दयोरत्र भेदोऽपि व्याख्यायते: ये परमात्मनो ज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धाः सन्ति ते नित्याः। अस्मदादीनां तु ते कार्या, अनित्याः। ज्ञानरूप-वेदानां विषये दर्शने प्रोक्तं, 'ज्ञानानुपाति-शब्दानां शास्त्रैर्नित्यत्वाऽऽपादनाच्चादि,' अर्थात् वैदिकाः शब्दा ज्ञानानुपातिनो भवन्ति। अस्माकं तु शब्दानुपातिज्ञानमिति तद्भेदः।

एतमेव अभिप्रायं विज्ञाय मीमांसकास्तु नाङ्गीकुर्वन्ति वेदोत्पत्तिं, वेदान्तिनोऽपि एतदभिप्रायका एव। परमीश्वरीय-ज्ञाने न वैमत्यम्।

(वे० पा० ५११ पं० १५) यच्चोक्तं "परमात्मज्ञानस्थानां शब्दार्थ-सम्बन्धानां नित्यत्वे तदुत्पत्ति-साधन-प्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः

प्रकृति परिणामिनी है, अतः जगत् प्रलय-काल मे प्रकृति में लीन हो जाता है; परन्तु वेद प्रकृति में लीन नहीं होते, वे परमात्मा में सदा वर्तमान रहते हैं।

दूसरी बात यह भी समझिये कि किसी के नित्यत्व या अनित्यत्व के प्रतिपादन में निमित्त कारण को हेतु नहीं माना जाता, अतः जगत् के भी नित्यत्व की शंका नित्य निमित्तो-भूत सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण नहीं की जा सकती, क्योंकि नित्यता और अनित्यता में निरवयवता तथा सावयवता नियामक होती है। इस प्रकार ज्ञान का निरवयत्व और जगत् का द्वयणुक आदि के संयोगजन्य होने से सावयवत्व शास्त्र-सिद्ध है।

यहां पर ऋषि ने नित्य और कार्य शब्दों का भेद भी बताया है।

जो शद्वार्थ-सम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में स्थित हैं, वे नित्य तथा हम लोगों के अनित्य अर्थात् कार्य हैं। ज्ञानरूप वेदों के विषय में दर्शन में कहा कि ज्ञानानुपाति-शब्दों को शास्त्रों ने कहा है अर्थात् वैदिकशब्द ज्ञानानुपाती हैं और हम लोगों का ज्ञान शब्दानुपाती है। यही इन दोनों का भेद है। इसी

दयानन्दोक्तं (शब्दनित्यत्व-साधनं) प्रमत्त-प्रलपितमेव" इति । सत्यमिह कापालिकेनानेन महर्षिं दयानन्दं प्रमत्तमिति ब्रुवता स्वबुद्धेः संतुलनं सर्वथाऽपास्तम् । तदेष आरोपस्तु ऋषेरभिप्रायानवबोधादेव, यतो हि उत्पत्तिशब्देनाऽत्राभिव्यक्तिरेवाभिप्रेता, ऋषीणामन्तःकरणेषु व्यापकेन ईश्वरेण वेद-ज्ञानस्याभिञ्जनात्, अतो भवत एव प्रलापः ।

(पृ. ५१२ पं. २) यदुक्तं 'किं शब्दमयत्वं हेतुः शब्दाऽनित्यत्व-साधको नास्ति ? इति, तदेतद् भवादृशां शङ्कनमभिलक्ष्यैव महर्षिणा समाहितं यत् परमात्म-ज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धास्तु नित्याः ।

ननु निराकारस्य ज्ञानगुणस्येव पृथक्कृत्य मुक्त्युपयोगि-ज्ञानस्य दातुरीश्वरस्य निराकारस्यापि खण्डानि भवितुमर्हन्ति इति चेन्न, यथा निराकाराकाशस्य घटमठादि-कारणवत्घटाद्याकाशसंज्ञावदौपाधिक-भेदेन विभागप्रतीतौ अपि अखण्डत्वाद् तथा ईश्वरस्याप्यखण्डनीयत्वम् ।

ननु प्रत्येक-सृष्टौ वेदाः प्रलीयन्ते पुनरुत्पद्यन्ते च तदा कथं न

अभिप्राय को मानकर मीमांसक और वेदान्तज्ञवेद की उत्पत्ति नहीं कहते, परन्तु वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने में इनका कोई वैमत्य (मतभेद) नहीं है ।

(पृ. ५११ पं. १५) "परमात्म-ज्ञानस्थ शब्दार्थ-सम्बन्धों के नित्य मानने पर वेदों की उत्पत्ति का साधन-प्रयास व्यर्थ होने लगेगा, अतः दयानन्द का शब्द नित्यत्व-साधन पागल की बकवास है ।" यहाँ सचमुच इस कापालिक ने महर्षि दयानन्द को 'पागल' कहकर अपनी बुद्धि के संतुलन को सर्वथा खो दिया है ।

आपका यह आरोप ऋषि के अभिप्राय को न समझ सकने के कारण है, क्योंकि उत्पत्ति शब्द से यहाँ पर ऋषि को 'अभिव्यक्ति' अर्थ ही अभिप्रेत है । वह ईश्वर ऋषियों के अन्तः करणों में व्यापक होने से वेदों का अभिव्यञ्जन करता है । अतः आपकी नासमझी होने से आपका ही प्रलाप है ।

(पृ० ५१२ पं२) यह शंका कि क्या शब्दमयत्व हेतु शब्दानित्यत्व साधक नहीं है ?' यह आप जैसे लोगों के शङ्कोद्भावन को अभिलक्ष्य करके महर्षि ने समाधान दिया है कि परमात्मज्ञानस्थ शब्दार्थ-सम्बन्ध तो नित्य हैं ।

यदि कोई कहे कि जिस प्रकार ईश्वर ने मुक्त्युपयोगी, खण्डरूप निराकार

तेषामनित्यत्वं वाच्यमिति चेन्न, "समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि अविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" (वे० १।३।३०) तथा च 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतेः यथर्तुष्वृतु लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये' इति स्मृतेः प्रामाण्याच्च। यथा हि- होराद्वयं वापि ग्रहे निलीनः पुरुषः स एव कथ्यते न च नामरूपभेदस्तस्य, प्रत्यहं च सूर्योदयानुदयौ दिवारात्रौ प्रमाणमिह। सूर्यश्चन्द्रश्चात्रोपलक्षणमात्रं मन्त्रे। प्रत्येक-सृष्टौ जगतः प्रत्येक-वस्तुनः सूर्यादिः समानरूपत्वादिति, शाङ्करभाष्य-दिशाऽपि प्रत्येकसृष्टौ वेदानामाविर्भावेऽविरोधात् नाऽनित्यत्वम्। तथा च भाष्यं "अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलय-प्रभव-श्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तर-प्रबोधव्यवहारान्न कश्चिद् विरोधः। एवं कल्पान्तर-प्रभव-प्रलययोरपि द्रष्टव्यम्"।

वेद-ज्ञान को अपने से पृथक् करके अग्नि आदि ऋषियों को दिया, उसी प्रकार निराकार ईश्वर के भी ज्ञानवत् खण्ड हो सकते हैं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार घट पटादि उपाधिभेद से आकाश के घटाकाश मठाकाश आदि भेद प्रतीत होते हैं परन्तु आकाश अखण्ड है उसी प्रकार ईश्वर और उसका ज्ञान भी अखण्ड है।

प्र०—जब प्रत्येक सृष्टि में वेद उत्पन्न होते हैं और प्रलीन हो जाते हैं तब उनकी अनित्यता क्यों न अनुमानी जावे ?

उ० "सृष्टि और प्रलय की आवृत्ति होने पर भी शब्द और अर्थ संबंध में अनित्यता रूप विशेष संभव नहीं हैं, क्योंकि उत्तर कल्प प्रपञ्च पूर्वकल्प प्रपञ्च के समान ही नाम रूप वाला है। (वे० १।३।३०)

यहाँ "सूर्या चन्द्र मसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति तथा "यथा ऋतुषु" इत्यादि स्मृति प्रमाण है और जैसे दो घटे तक घर मे निलीन पुरुष प्रकट होने पर वही कहा जाता है, उसके नाम रूप का भेद नहीं होता तथा प्रत्येक दिन सूर्य का उदय और अस्तगमन दिन और रात्रि का प्रमाण स्वरूप है। "सूर्याचन्द्रम" इस मंत्र में सूर्य-चन्द्र नाम तो उपलक्षण मात्र हैं। प्रत्येक सृष्टि में संसार को प्रत्येक वस्तु सूर्यादि के समान नाम रूप वाली है अतः प्रत्येक सृष्टि में वेदों का अविर्भाव होने पर भी विरुद्ध कथन नहीं बनता। इसमें शांकर भाष्य प्रमाण है।—"अनादि संसार में जैसे सुषुप्ति और जाग्रति में उत्पत्ति और प्रलय के श्रवण के पूर्व प्रबोध के समान उत्तर

ननु सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन-कल्पना एव वेद-प्रवर्त्तने स्वीकार्या, सुप्त-प्रबुद्धस्येव वेदोदयादिति चेन्न, वेदस्तु परमात्मनो गुणः, गुणस्य च गुणिनः पृथगनाश्रयणात् । न च मोक्षे प्रलयावस्थायां वा जीवात्मसु वेदस्य स्थितिः स्यादिति वाच्यं, तेषामात्मनां वेदस्य स्वाभाविक-गुणाऽभावात् ।

ननु यथा कश्चित् शयित्वा प्रबुध्यते, सर्वं च पूर्वज्ञातं स्मरति, तथैव यैः पूर्वं वेदाः ज्ञाता आसन्, अग्रिम-सृष्टौ अपि ते तथैव तेषां स्मृतिमापतेयुः इत्यपि न युक्तम्, शयनादुत्थितस्य पूर्वान्तःकरणस्य वर्त्तमानत्वात् स्मृतेश्च तदधिष्ठानात्, मोक्षानन्तरं पूर्वान्तःकरणा-भावात् प्रकृति-संसर्ग-जन्यायाः पूर्वस्मृतेरनुदयनात् ।

न च किञ्चिन्निमित्तं वर्त्तते यद् ईश्वरस्य प्रेरणां विना, भूयश्च मुक्तानां जन्मकाले वेदानां प्रतिभानं जायेत । भवन्मते तु इदं कल्पन मसङ्गतं सर्वथा, मुक्तात्मनामनावृत्ते ब्रह्मणि प्रलयाच्च । तदेतदेवम-वोद्धव्यं 'यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः ।" अर्थात् यस्य ज्ञानक्रिये समवायसम्बन्धेन नित्यत्वेन तिष्ठतः । समवाय-

---

जाग्रत अवस्था में व्यवहार होने से कोई विरोध नहीं होता, उसी प्रकार पूर्व कल्प के लय और उत्तर कल्प की उत्पत्ति में भी वैदिक नित्यता में भी कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—श्री करपात्री जी की सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन कल्पना कि जीव ही पुनः सोते से उठे हुये के समान वेदों को प्रकट कर देता है, और इस प्रकार वेद ज्ञान चलता रहता है, अतः ईश्वर से वेद उत्पन्न नहीं हुये। ऐसी वेद प्रवर्त्तन कल्पना क्यों न मान ली जावे ?

समा०—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदज्ञान तो परमात्मा का गुण है और गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं रहता । मोक्ष या प्रलयावस्था में भी जीवा-त्माओं में वेद स्थिति संभव नहीं, क्यों कि इनका यह स्वाभविक गुण नहीं है ।

शङ्का—जिस प्रकार कोई सोकर जागता है और समस्त पूर्वज्ञान को स्मरण कर लेता है । उसी प्रकार जिन्होंने वेद जान लिया है, उन्हें अग्रिम सृष्टि में भी वे पूर्ववत् स्मृत हो उठेंगे ।

समा०—यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सोकर उठे हुये व्यक्ति के पास तो पूर्व अन्त-करण रहता है और उसमें स्मृति भी रहती है, परन्तु मोक्ष में

सम्बन्धेन च किं तिष्ठतीति जिज्ञासायां, यच्च स्वभावतः स्वस्य भावतः अस्तित्वेन सिद्धं भवति, तदेव हि अनादि भवति। अस्य परमात्मनो ज्ञानमपि स्वभाव-सिद्धम्, अतएव एतस्य नित्यत्ववद अनादित्वमप्याख्येयम्।

(पृ. ५१२) आक्षेपः यत्तु "यदृच्छाशब्दानामनित्यत्वमभिप्रेतम् तदपि न किञ्चित्। तथात्वे तद्भिन्नानां रामायणमहाभारतादि शब्दानामस्मदादिप्रयुक्तशब्दानाञ्च नित्यत्वमेव सिध्यति। अस्यां च स्थितौ वेदानां नित्यत्व-साधनं विरुद्धमेव स्यात्"।

(समा०) यत् टिप्पणीत उद्धृतं तदन्यत्। ऋषि-शब्दावली तु एषा 'येऽस्मदादीनां (शब्दाः) वर्त्तन्ते ते तु कार्याः' एवम् अस्माकं जीवानां ज्ञानं तत्सहकृतक्रिया च अनित्ये एव स्तः। नहि

पूर्वान्तःकरण (भौतिक) नहीं रहता, अतः मोक्ष के अनन्तर प्रकृति-संसर्ग-जन्य पूर्व-स्मृति का भी उदय नहीं हो सकता।

फिर ऐसा कोई अन्य निमित्त भी नहीं कि ईश्वर-प्रेरणा के बिना फिर से मुक्तों के जन्म काल में वेद का प्रतिभान हो जावे। फिर तुम्हारे मत में तो तुम्हारा कथन सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि तुम तो मुक्तात्मा की मुक्ति से अनावृत्ति ही मानते हो, तथा उसका ब्रह्म में लय मानते हो। तो इस प्रकार समझना चाहिये कि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव-सिद्ध और अनादि हैं अर्थात जिसके ज्ञान और क्रिया समवाय संबंध से नित्यरूप में हैं। समवाय संबध से क्या रहता है इस जिज्ञासा में यही कथन है कि जो स्व-भाव अर्थात् अपने अस्तित्व से सिद्ध होता है, वही अनादि भी होता है। परमात्मा का ज्ञान भी स्वभाव-सिद्ध है अतः इसको अनादि भी कहना चाहिये।

पृ० ५१२ आक्षेप) "यह कथन कि यहां पर यदृच्छा शब्दों की अनित्यता अभिप्रेत है पृ.३१ टि. ऐसा मानने पर यदृच्छा शब्द से भिन्न रायायण-महा-भारत आदि के शब्द तथा हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द नित्य सिद्ध हो जायेंगे। इस स्थिति में केवल वेदों की ही नित्यता सिद्ध करना विरुद्ध पड़ेगा।

समा० —यहटिप्पणी से उद्धृत भाव तो अन्यथा है, ऋषि की शब्दावली इस प्रकार है "जो हम लोगों के शब्द हैं वे तो कार्य हैं। हम लोगों का ज्ञान और तत्सहकृत-क्रिया अनित्य ही है। ज्ञान के बिना तो भावस्फुरण होता नहीं, और भावस्फुरण के बिना शब्द उच्चारित नहीं होते तथा यह स्फुरण स्वज्ञात

ज्ञानं विना भाव-स्फुरणम् भवति। न तदभावे शब्दाः उच्चार्यन्ते। भावस्फुरणं च स्वात्मजमेव, तद्धि ज्ञानं स्वार्जितं, नैमित्तिकं, यदृच्छाजन्यं वा स्यात्, तज्जन्या च शब्दोच्चारण-रूपा क्रियाप्यनित्या भवति। तेन रामायणादीनां शब्दाः अस्मदादीनां चानित्य-क्रिया-जनिताः अनित्या एव सन्ति। वस्तुतस्तु अजन्याः शब्दाः आकाश-गुणकाः समेऽपि नित्याः कूटस्था एव।

(पू. प.) किञ्च "परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ-सम्बन्धाः इत्यपि असङ्गतम्, गोतमादिरीत्या शब्दानामाकाशाश्रयत्वेन ज्ञानाश्रयत्वानभ्युपगमात्। ज्ञान-शब्दयोरुभयोरपि गुणत्वेन गुणे गुणाऽनङ्गीकारात्। अर्थस्याऽपि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्याश्रयत्वाऽसम्भवात्। सम्बन्धस्य तु सुतरां तदनुपपत्तिः। सम्बन्धस्य सम्बन्ध्याश्रयत्व-प्रसिद्धेः।

(उ. प.) इदं तु सम्यगेव यन्न ज्ञानशब्दयोराधाराधेय-सम्बन्धः सम्भवति, द्वयोरपि गुणत्वात्, परमत्रभवतां निजमतं किं वर्त्तते इति तु नालेखीद्भवान्। अर्थञ्चापि द्रव्यत्वेन लिखितवान्। एवमेतेन आयातं यल्लोकेऽपि शब्दार्थसम्बन्धाः नैव प्रतिपादयितुं शक्यन्ते, लोके

है। वह ज्ञान स्वार्जित, नैमित्तिक अथवा यदृच्छाजन्य जैसा भी है, तज्जन्य शब्दोच्चारण रूप क्रिया भी अनित्य होती है। इससे सिद्ध है कि रामायण का तथा हम लोगों का ज्ञान भी अनित्य है, अनित्य-क्रिया-जन्य शब्द भी अनित्य होंगे। निष्कर्ष यह है कि ध्वनि अनित्य है और अजन्य आकाशगुणक सभी शब्द कूटस्थ और नित्य हैं।

पू० प०—'और परमात्मा के ज्ञान में स्थित शब्द, अर्थ और सम्बन्ध नित्य हैं, यह ऋषि दयानन्द का कथन भी असङ्गत है, गोतम आदि की रीति से शब्दों का आश्रय आकाश होने से, उसमें ज्ञान का आश्रयत्व नहीं माना गया है; क्योंकि ज्ञान और शब्द दोनों गुण हैं और गुण में गुण रह नहीं सकता।

(पू. प.) अर्थ का भी ज्ञानाश्रयत्व सम्भव नहीं, क्योंकि गुण का द्रव्य के-आश्रय होना भी सम्भव नहीं। सम्बन्ध की तो फिर स्वतः ही अनुपपन्नता होगी। क्योंकि सम्बन्ध का सम्बन्धी के आश्रित रहना प्रसिद्ध ही है।

उ० प०—यह तो ठीक ही है कि ज्ञान और शब्द का आधार आधेय

त्वदारोपस्य सुघटत्वात् । एवं भवान् ब्रवीतु यत् भवत्प्रयुक्त-शब्दार्थ-सम्बन्धाः ज्ञानाश्रिताः, उताहो ज्ञानं तदाश्रितम् नोभयथाऽपि सम्भवति, भवदुद्भावित-दोषाऽऽधायकत्वात्, परं ईश्वर-ज्ञाने तु वागुरिकयाऽलम् ।

सम्प्रति बोधयतु भवान् यत् परमेश्वरे ज्ञानं तिष्ठति न वा ? तिष्ठति चेज्जीवात्मनामनुग्रहायैव, न स्वोपयोगाय, तस्य निरीहत्वात्, तस्य ज्ञानं च शब्दार्थ-सम्बन्धमयमेव, यतो हि परावाणी-स्थिति-ज्ञाने वाणी तद्रूपेणैव समाहिता भवति । तज्ज्ञानं च ऋषीणामन्तःकरणेषु संक्रमणानन्तरं ताल्वादि-साधनं प्राप्य आकाशगुणक-शब्दत्वेन प्रकटीभवति । तत्त्वतोऽर्थः परमात्मस्थः ज्ञानरूपमेव न तु द्रव्यम् । किञ्च भवद्वचोऽत्राऽप्रमाणम्, यतो हि आकाश-समवेत-शब्दः परम्परया ईश्वरेऽपि समवेतः । गगने यः समवेतो नाऽसौ ब्रह्मणीति वक्तुं को नाम वालिश उत्सहेत ? एवम् ईश्वर-ज्ञानस्य तत्र समवेतत्वे च ऋषीणां हृदयेषु सङ्क्रमण-सम्भव इत्यपि बालालपितमिव, अग्न्यादेरौष्ण्यादेर्जलादिष्वपि सङ्क्रमणस्य सर्वैः प्रत्यक्षानुभवात् ।

सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दोनों गुण हैं, पर इस सारे प्रसङ्ग में विभिन्न मत देते हुये आपने निज-मत नहीं लिखा कि वह क्या है ? इधर अर्थ को भी द्रव्य माना है । इस प्रकार इससे यह सार निकला कि लोक में भी शब्दार्थ-सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं किये जा सकते, क्योंकि आपके कथित सब आरोप लोक में भी घटित होंगे । अच्छा, अब आप यह बताइये कि आपके प्रयुक्त शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान के आश्रित हैं या कि ज्ञान उनके आश्रित है, दोनों प्रकार भी सम्भव नहीं, क्योंकि आपके उद्भावित दोष इसमें सभी होंगे । महोदय ! पर ईश्वर के ज्ञान वेद में आपका यह वाग्जाल घटित नहीं हो सकता; क्यों उसके शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य हैं ।

अब आप यह भी बताइये कि परमेश्वर में ज्ञान रहता है या नहीं ? रहता है तो जीवों के अनुग्रहार्थ ही रहता है, स्वयं के लिये कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह निरीह है । उस ईश्वर का वह ज्ञान शब्दार्थ सम्बन्धमय ही है । क्योंकि परावाणी की स्थिति में वाणी ज्ञान रूप में समाहित होती है, उसका व्यवच्छेद नहीं किया जा सकता । जब वह ज्ञान ऋषियों के अन्तःकरण में संक्रान्त हो जाता है, तब ताल्वादिसाधन को प्राप्त करके आकाश

यच्चोक्तं "भाट्टरीत्या शब्दस्य द्रव्यत्वेऽपि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्यानाश्रयादेवेति" अत्र हिन्दीकारः कथयति "शब्द को द्रव्य मानने पर भी वह ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता।" अत्रैतद् विचारणीयं यत् भाट्टरीत्या मतेऽपि-शब्दे द्रव्ये, ज्ञानं त्वन्मते द्रव्यं गुणो वा ? यदि तावद् द्रव्यं, तदा हेतु-रयं गुणस्य द्रव्यानाश्रयादित्यनुपपन्नः। चेद् गुणस्तदाऽपि नोपपद्यते हेतुर्विरुद्धोपन्यासाद्। यदा हि ज्ञानस्य गुणत्वं, शब्दस्य च द्रव्यत्व-मिह त्वया उपपादितं, तदा ज्ञानस्य आश्रयः कथं न शब्दः स्यात् क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणत्वात्। स्वयं कीदृशो बुद्धिभ्रम उभयोः, अथवा भवानेव भाट्टादिविभिन्नमतभ्रमाब्धौ भ्रान्तो ब्रुडति समुच्छलति च पदे पदे, अनिश्चित-राद्धान्तत्वात्। भवतो भिक्षुकस्य प्रतिपदम् अनियन्त्रितगतिस्खलितायामस्थानप्रयुक्तायां भवद्वाण्यां कविवरस्य भिक्षाऽनस्य इयमुक्तिः सङ्घटते इह—

गुणक शब्द रूप में प्रकट होता है, तत्त्वतः अर्थ परमात्मा के ज्ञान में स्थित ज्ञानरूप ही है द्रव्य नहीं है।

तथा आप का कथन यहाँ प्रामाणिक नहीं क्यों कि आकाश-समवेत शब्द भी परम्परया ईश्वर-समवेत है ही। गगन में जो समवेत तो हैं, पर वह ईश्वर में समवेत नहीं है, यह तो कोई बालिश ही कह सकता है। इस प्रकार ईश्वर में समवेत होने पर ऋषियों के हृदय में उस ज्ञान का संक्रमण नहीं हो सकता, यह, बाल-कथन प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है। हम देखते हैं कि अग्नि के स्वाभाविक गुण उष्णता आदि जल में संक्रान्त होते हैं।

यह कहना कि भाट्ट रीति से शब्द का द्रव्यत्व मान लिया जावे, तब भी वह (शब्द) ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं हो सकता।"

यहाँ पर आपके हिन्दीकार को यह लिखना चाहिए था कि शब्द (द्रव्य) का आश्रय ज्ञान (गुण) नहीं हो सकता। जबकि भाट्ट-रीति से शब्द का द्रव्यत्व आपने स्वीकार कर लिया और ज्ञान का गुणत्व भी आपको अभीष्ट है न कि द्रव्यत्व, क्योंकि ज्ञान के द्रव्यत्व की स्वीकृति में 'गुणस्य द्रव्याना श्रयत्वात्' यह हेतु अनुपपन्न होगा।

अस्थानगामिभिरलङ्करणैरुपेता,
भूयः पदस्खलननिह्नुतिरप्रसन्ना।
वाणीव काऽपि कुकवेर्जनहास्यमाना,
द्राङ् निर्गता निजगृहाद् वनिता मदान्धा॥

भवतामयं तर्कस्तु विद्वत्प्रदर्शन्यामुपस्थापयितव्यो यद् "विषयता-सम्बन्धस्य वृत्तिताऽनियामकत्वात् परमेश्वरस्य सर्व-विषयकत्वेन कार्यत्वेनाभिमतानामपि नित्यत्वापत्तिः।" (पृ. ५१३ पं. १)

इह प्रथमं तु भवता इदमेव विवेच्यं यदेष सम्बन्धो नियामको भवति अनियामको वा, हिन्दीकारेण त्वदनभिमतनियामकत्वाभिमननात्। अपरं चेदमपि पर्यालोच्यं यद् विषयता-सम्बन्धेन शब्दस्य ज्ञानाश्रयतायाः मन्तव्यत्वे जीवात्मनः अल्प-विषयकत्वेन नित्यत्वेनाऽभिमतानामपि किमनित्यत्वापत्तिःस्यात्? तत्त्वतो नित्यत्वाऽनित्यत्व-निर्धारणे सर्वज्ञस्य अल्पज्ञस्य वा ज्ञातृत्वं न हेतुः सम्भवति।

गुण मानने पर हिन्दीकार के इस कथन में वह शब्द ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता, यहाँ विपरीत रूप में हेतु प्रस्तुत है, जबकि आपके द्वारा द्रव्य मानने पर शब्द ज्ञान का आश्रय घटित हो रहा है, क्योंकि 'क्रिया गुणवत् समवायिकारण, द्रव्य का लक्षण है। यहां पर आप और आपके हिन्दीकार दोनों का कैसा बुद्धि का दिवालिया पन है। अथवा आप ही भाट्टादि विभिन्न मतों के भ्रम-समुद्र में पद-पद पर डूबते और उछलते हैं, क्योंकि आपका कोई निश्चित सिद्धान्त ही नहीं है।

यहां प्रतिपद पर अनियन्त्रित रूप से स्खलित अस्थान पर प्रयुक्त आपकी वाणी पर कवि भिक्षाटन की यह उक्ति ठीक घटित हो रही है कि—अनियत स्थानों पर पहने अलङ्करणों से युक्त, पदस्खलन का बहाना लेकर सुकवि की अप्रसन्न वाणी के समान अपने घर से जल्दी से निकल गई मदान्धवनिता (स्त्री) अब जनों का उपहास-पात्र बन रही है।

आपका यह तर्क तो विद्वानों की प्रदर्शनी में प्रस्तुत करने योग्य है, शब्द को ज्ञानाश्रय मानने पर परमेश्वर ज्ञान के सर्व विषयक होने से अनित्य पदार्थों की भी नित्यता माननी पड़ जायेगी" (पृ० ५१३ पं. १)-यहां प्रथम तो यही विवेच्य हैं कि यह सम्बन्ध, वृत्तिता का अनियामक होता है या नियामक? आप अनियामक मानते हैं और आपके हिन्दीकार नियामक मान रहे हैं।

(पू. प.) "यस्य ज्ञान-क्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः इत्यत्र स्वभाव-सिद्धे अनादीति द्वयमपि व्यर्थम् नित्य इत्यनेनैव समीहित-सिद्धेः ।"

(उ० प्र०) इदमेव कुशलं जातं यद्भवतो बुद्धिकर्त्तरी एतद्भावात्मिकां (न तस्य कार्यमित्यादि...) श्वेताश्वतरशब्दावलीमेव नाऽच्छिनत् । तत्रापि भवता इदमेव वक्तव्यमासीद् यद् यदेश्वरस्य स्वयं नित्यत्वं प्रोक्तं तदा तस्य ज्ञानबलक्रियाणां पृथक्त्वेन नित्यत्व-कथनं व्यर्थमिति ।

वस्तुतो यत् पदद्वयविशेषणनैरर्थक्यं भवानाह, तन्न युक्तं, इह विशेषणानां विशिष्टार्थ-प्रतिपादकत्वे सार्थक्यात् । तथा हि :- नित्य इति वचनेन नश्वरताऽभाव आख्यायते 'अनादी' इत्यनेन तु आदिराहित्यं व्याख्यायते, प्रध्वंसाऽभावेऽपि नित्यत्वातिव्याप्तिस्तद्वारणाय 'अनादी' इति विशेषणम् । एतदभावस्य (प्रध्वंसाभावस्य) नित्यत्वे-

---

दूसरा यह भी पर्यालोच्य है कि विषयता-सम्बन्ध से शब्द की ज्ञानाश्रयता मानने पर जीवात्मा के ज्ञान के अल्प-विषयक होने से नित्यत्व से अभिमत ईश्वरादि की भी क्या अनित्यत्वापत्ति आ जायगी ? तत्त्वतः नित्यत्व या अनित्यत्व के निधारण में सर्वज्ञ या अल्पज्ञ की ज्ञातता हेतु नहीं बन सकती ।

पू० प०—"जिसकी ज्ञान और क्रिया नित्य, स्वभावसिद्ध और अनादि हैं" इस वाक्य में नित्य पद से ही भूमिकाकार का काम चल चल जायेगा फिर "स्वभाव सिद्ध और अनादि" ये दो विशेषण क्यों बढ़ा दिये । उ० प०—श्रीमान् जी ! यहां यही कुशल हो गयी कि आपकी बुद्धि की कुतर्क कर्त्तरी (कैंची) श्वेताश्वर के ऋषि पर नहीं चली, नहीं तो "पराऽस्यशक्तिः यहां पर भी आपके मत से जो ईश्वर स्वयं नित्य है उसके ज्ञान, बल और क्रिया भी नित्य होंगे, फिर पृथक् से ज्ञानादि का पाठ भी व्यर्थ है अथवा ऐसा कहिये कि ज्ञान (शब्द) पाठ ही पर्याप्त था, ज्ञानके बल और क्रियारूप होने का बोध स्वयं ही हो जाता, इनका पाठ भी व्यर्थ है ।

नित्य इस वचन से नश्वरता का अभाव व्याख्यात है और अनादि' शब्द से आदि (प्रारम्भ) का अभाव व्याख्यात है, केवल (नित्य) कहने पर प्रध्वंसाभाव का नित्यत्व सादि हैं, अनादि नहीं, अतः उसके निवारण के लिये 'अनादि पद दिया है ।

ऽपि सादित्वेनाऽनादित्वाऽभावः अतस्तद्वारणाय अनादी इति पदं सार्थकम् 'स्वभाव सिद्धे' इति पदेनेह स्वभावतः स्व सत्तात्मकतया सिद्धताऽभीष्टा, अत्यन्ताऽभावे नित्यत्वमनादित्वञ्चेत्युभयमपि विद्यते, पर न स्वभाव-सिद्धत्वं तस्य अभावात्मकत्वात् । अतस्तद्वारणाय -स्वभाव सिद्धे' इति विशेषणं सार्थकम् ।

तदेवं महर्षि-वचसा उद्दण्डदण्डिमण्डलमण्डनायमानस्य भवतः पाण्डित्य-पाखण्डमखण्डं खण्डितम् ।

महाशय ! ऋषिणा तु अत्र नित्यत्वमेतत् शब्दद्वयेन भवादृशां परिमुह्यमानान्तःकरणनाँ स्थूलधियां कृते व्याख्यातम् ।

यदुक्तं "परं न शक्तिजनितेषु वेदेषु नित्यत्वं सिध्यति, तच्छक्ति-जनितप्रपञ्चेष्वपि तदापातात्" । इति तु अविचारोक्तिरेव भवतः । परमात्मनः शक्त्या स्व-ज्ञानस्य अपरिणामिनो वेद-रूपेण प्रकाशित-त्वात् । प्रपञ्चस्य च परिणामि-प्रकृतेः जनितत्वान्न परिणामि प्रपञ्चेषु नित्यत्वाऽऽपातः ।

स्वभावसिद्ध का अर्थ है, अपने भाव (सत्ता) से सिद्ध हैं । अत्यन्ताभाव नित्य और अनादि होते हुये भी अपने भाव से सिद्ध नहीं, क्योंकि यह अभावा-त्मक है । अतः 'अत्यन्ताभाव' में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'स्वभावसिद्ध' विशेषण रक्खा है ।

इस प्रकार महर्षि के वचन से ऊपर को दण्ड उठाये हुये दण्डि मण्डल के मण्डन स्वरूप आपका अखण्ड-मत-पाखण्ड खण्डित हो गया ।

महाशय ! यहाँ अव्याख्यात का ज्ञान तो प्रतिभाशालियों के लिए ही हो सकता हैं । आप सदृश परिमुह्यमान अन्तःकरण वाले स्थूल बुद्धियों के लिये तो सम्भव नहीं । पूर्व ऋषियों की भांति ऋषि दयानन्द ने भी सुगमतया बोध-नार्थ 'अनादि और' स्वाभावसिद्धे' इन दो पदों से और भी स्पष्ट कर दिया ।

"शक्तिजनित वेदों की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी शक्ति से जनित प्रपञ्च में भी नित्यत्व मानना पड़ेगा" यह आपका कथन समझदारी का नहीं, क्योंकि परमात्मा ने अपनी अपरिणामिनी शक्ति से अपरिणामी अपना ज्ञान वेदरूप में प्रकाशित किया है, परन्तु यह परिणामी प्रपञ्च उपादान-भूत परिणामिनी प्रकृति से उत्पन्न है ।

(पृ० ५१३ पं० ८)-(आक्षे०) 'विद्या-मयत्वेन, हेतुना वेदस्य नित्यत्वं सिषाधयिषितं तदपि निरर्थकम्।'

(समा०) तदिदं निरर्थक-कथनमेव निरर्थकं, भवतः। विद्यामयत्वस्य तस्येश्वरस्य सामर्थ्यात्। भवता तु छलेन वाक्यार्थो विपर्यस्तः। इह तदिति शब्देन अयमेवार्थो यत् 'तत्' तस्मात् सर्व-सामर्थ्यस्य नित्य-रूपाद् हेतोरिति यावत्।

अपि चेदमतितरां त्रपास्पदं यद् "ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायां, तु "तद् विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते" इत्यस्माद् वाक्या-त्पूर्वं विराम-चिह्नमस्ति, परं भवता, तद्विद्यामयत्वादित्यस्यानन्तरं विरामो धृतः, विपरीत कल्पना-करणोदिष्टत्वात् इति।"

(पृ० ५१४ पं० ६-८) (पू. प.) यदुक्तं "यदि तु प्रलये स्थूल-रूपेणाऽवर्त्तमानामपिं वेदानां सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वान्नित्यत्वमित्यु-च्येत, तदा सत्कार्यवाद-रीत्या सर्वस्यैव जगतः सूक्ष्म-रूपेण विद्यमान-त्वान्नित्यत्वेन, वेद-नित्यत्वे (तु) वैशेष्यानुपपत्तिः"

(पृ० ५१३ पं० ८)—आक्षेप—स्वामी दयानन्द ने विद्यामयत्व हेतु से वेद का नित्यत्व सिद्ध करना चाहा है, यह निरर्थक है।

समा०—यहाँ आपका कथन ही निरर्थक है। विद्यामयत्व उस ईश्वर की सामर्थ्य है और उसकी सामर्थ्य नित्य होती है। आपने छल से यह उलट दिया, वाक्य का अभिप्रायः वैसा नहीं। यहाँ तत् इस शब्द से लिया हुआ देखिये "इसलिये ऊपर प्रस्तुत शब्द-सामर्थ्य के नित्यत्व रूप हेतु से वेद सर्व विद्या-मय है।" अतः आपकी 'क्वचित्' से आगे की समस्त कपोल-कल्पना कुतर्क की दौड़ ही है।

सबसे बड़ी लज्जाजनक बात यह है कि 'ऋषि भूमिका में "तद्विद्यामयत्वाद्" इत्यादि वाक्य से पूर्व विराम है परन्तु श्री करपात्री जी ने उसे वहाँ से उड़ा दिया और विद्यामयत्व के बाद लाकर रख दिया। यह जघन्य कृत्य विपरीत कल्पना करने में सहायक होगा, इस उद्देश्य से किया गया।'

(पृ० ५१४ प० ६-८). पू० प०—यह कथन कि 'प्रलय में स्थूल रूप से अविद्यमान वेदों के सूक्ष्मरूपेण विद्यमान होने से नित्यत्य कहना चाहिये, तब सत्कार्यवाद की रीति से सारे ही जगत् के सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने से नित्यता हो जायेगी फिर वेदों के नित्यत्व में किसी विशेषता की तो अनुत्पत्ति ही रही।

(उ० प०) तन्न युक्तम् "उपादानरूपायाः प्रकृतेः परिणामित्वात्तज्जन्यस्य कार्य-जगतः संयोगस्य वियोगात् तदनित्यतैव। वेदानां तु ईश्वरस्य ज्ञानरूपगुणत्वान्निरवयवत्वाच्च नित्यताऽप्रतिहतैव।

सत्कार्यवादस्तु प्रकृति-जन्यजगत्येव संघटते, यथा सत्कार्यवाद इति शब्देनैव ध्वन्यते यज्जन्यं कार्यमुपादानरूपे स्व-कारणे तद्रूपेणैव तिष्ठति स सत्कार्यवादः, वेदास्तु न कार्याः। न चैतेषामुपादान-कारणमतस्ते सत्कार्यवादो नाऽत्र संगच्छते।

ननु यदि वेदानां सर्वदा-विद्यमानत्वं तदा तदुत्पत्तिकथनस्य वैयर्थ्यम्, 'स्वविद्यातः सृष्टत्वादितिवचन'-विरोधोऽपि, इति चेन्न, इहोत्पत्तेरभिप्रायस्तु मीमांसाशास्त्रदृशा एवमवधार्यः 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरिक्तश्चार्थेऽनुपलब्धेः तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्'' (मी० १।१।५) अत्र शाबरभाष्यं यथा औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्ति हि भाव उच्यते लक्षणया।

उत्तर पक्ष—यह कथन ठीक नहीं, उपादान रूप प्रकृति के परिणामी होने से प्रकृति-जन्य कार्य जगत् के संयोग का वियोजन हो जाने से जगत् की अनित्यता है। वेदों के ईश्वरीय ज्ञान रूप गुण होने तथा निरवयव होने से नित्यता है यही विशेषता है।

सत्कार्यवाद तो प्रकृति से जन्य कार्य जगत् में ही घटित होता है जैसा कि इस से ही ध्वनित हो रहा है कि जो कार्य रूप में आकर अपने उपादान रूप कारण में तद्रूप से रहे, किन्तु वेद तो इस प्रकार कार्य नहीं हैं और न कोई इनका उपादान कारण है अतः सत्कार्यवाद प्रसङ्ग यहाँ सङ्गत नहीं है।

पूर्वपक्ष—"यदि वेद सर्वदा विद्यमान हैं, तो उनकी उत्पत्ति का कथन व्यर्थ है और अपनी विद्या से सृष्ट हैं इस कथन से भी विरोध है।

उत्तरपक्ष—यहाँ पर उत्पत्ति से अभिप्राय मीमांसा के दृष्टिकोण से यही समझना चाहिए "कि वेद वाक्य में स्थित प्रत्येक पद का अपने-अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक अर्थात् नित्य सम्बन्ध है। इसी से वह पूर्वोक्त धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है, क्योंकि ईश्वर की ओर से उसका उपदेश हुआ है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो अर्थ उपलब्ध नहीं होता उसमें उसका व्यतिरेक नहीं दीखता। वादरायण आचार्य के मत में वह वाक्य अपने धर्म की सत्यता के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतः

अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः। औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थे सम्बन्धः, इत्यतो वेदानां नित्यत्वे तदुत्पत्तौ च न कश्चन विरोधः।

(पृ० ५१४ पं० ८) (पू० प०) 'अस्मत्क्रियापक्षे' इत्यत्र क्रिया पदे नोत्क्षेणावक्षेपणादिकं विवक्ष्यते, प्रलयापरपर्यायाकृतिर्वा ?

(उ. प.) किमुत्क्षेपणादि-क्रिया न प्रयत्नः ? भवता कृतिप्रलययोर्न कश्चन भेदः प्रतिपादितः। 'ईश्वरस्य क्रियायां न प्रमाण' मिति तु मिथ्यालाप एव, यतो हि स्वयमपि "स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया चेति समुद्धृतेऽपि प्रमाणे परमेश्वरस्य क्रियामात्रनित्यतां न मनुते, स्वाभाविकीति विशेषणोपस्थापनात् किं स्वाभाविक-क्रियाया अभावे परमात्मनः कस्याश्चिदन्यस्याः क्रियाया अपि सम्भावना ? न, तद-सम्भवात्। यत्र हि परमेशक्रिया परिणामिप्रकृतिं चेष्टयते, तत्प्रकृ-त्युत्पन्नस्यैव वस्तुनोऽनित्यत्वं परं चेष्टादान-क्रिया तु तस्य नित्या स्वाभाविकी चैव।

प्रमाण है। उत्पत्ति का अर्थ भाग या सत्ता है, वेद के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवियुक्त रहता है। उत्पन्न होने के बाद सम्बन्ध होता है ऐसी बात नहीं यह सम्बन्ध स्वाभाविक है। उसका ज्ञान कभी विपरीत नहीं होता ऐसा शबर स्वामी का भी आशय है, अतः उत्पत्ति शब्द का अभीष्टार्थ ज्ञान होने पर कोई विरोधोक्ति नहीं है।

पूर्वपक्ष—"अस्मत्क्रिया पक्षे" यहां पर क्रिया शब्द से उत्क्षेपण अवक्षेपणादि अपेक्षित है याकि प्रयत्न-वाचक कृति अपेक्षित है। समा०—'क्या उत्क्षेपणादि क्रिया प्रयत्न नहीं है ? आपने क्रिया और प्रयत्न में भेद स्पष्ट नहीं किया "ईश्वर की क्रिया में प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।" यह कथन मिथ्यालाप है।

आप भी "स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" से ईश्वर की किसी विशेष क्रिया को ही नित्य मानते हैं। आपका कहना है कि ईश्वर की प्रत्येक क्रिया नित्य नहीं, अन्यथा "स्वाभाविकी" यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। यह आपका अज्ञान मात्र है, क्योंकि ईश्वर की तो सभी क्रियायें स्वाभाविकी ही होंगी, इससे भिन्न प्रकार उससे किसी क्रिया का होना संभव नहीं। जहाँ पर परमे-श्वर की क्रिया परिणामिनी प्रकृति को चेष्टा देती है वहाँ उस प्रकृति (उपादान) से उत्पन्न वस्तु की अनित्यता है, पर वह चेष्टा देने की क्रिया तो

(५१४ पं. १४) किञ्च "तथा च प्रमाणान्तरेण साध्याभावनिश्चयात् बाध एव ज्ञेय" इत्यनेनाऽपि भवतो न्याय-शास्त्रानभिज्ञत्वमेव द्योत्यते।" नाऽत्र बाधो भवत्प्रज्ञाबाधादन्यः, यतो यस्य साध्याऽभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स हि बाधितो भवति, यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् अत्रानुष्णत्वं वह्नौ साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पर्शेन प्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वं, प्रकृते तु वेदानां नित्यत्वं न केनाऽपि प्रमाणान्तरेण बाधितम्।

(पृ. ५१४ पं. १५,१६) यच्चोक्तं :"परमेश्वरस्य विद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं मन्यामहे।" अत्रानुमाने भवतः स्वरूपासिद्धि-दूषण-प्रस्तावना अज्ञानमूलैव।

अत्रेदमवधेयं यत् स्वरूपासिद्धौ हेत्वभाववान् पक्षो भवति, यथा-शब्दो नित्यः, चाक्षुषत्वात्, रूपवदिति। अत्र चाक्षुषत्वं पक्षे

नित्य एवं स्वाभाविक है, अतः आपका बाध का कथन अज्ञान मात्र है। केवल आपकी प्रज्ञाबाध के अतिरिक्त अन्य कोई बाध नहीं, क्योंकि जिसका साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है वह बाधित कहलाता है जैसे बह्नि अनुष्ण है द्रव्य होने से, यहाँ बह्नि में अनुणत्व साध्य उसका अभाव उष्णत्व स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ही ग्रहीत है, परन्तु प्रकृति में तो वेदों का नित्यत्व किसी प्रमाणान्तर से बाधित नहीं है।

(पृ. ५१४ पं. १५,१६,) "परमेश्वर के सर्वविद्यामयत्व से वेदों का नित्यत्व हम मानते हैं।" इस अनुमान में करपात्री जी का कथन है कि यहाँ स्वरूपासिद्ध दोष है। यह भी इनका अज्ञान ही है, क्योंकि स्वरूपासिद्ध का लक्षण है पक्ष में हेतु का अभाव अर्थात् पक्ष में साध्य के अभाव से ही यह दोष होता है। जिस प्रकार शब्द नित्य या अनित्य है चाक्षुष होने से रूप के समान। यहां पर चाक्षुषत्व हेतु पक्ष में घटित नहीं क्योंकि शब्द श्रवण का विषय है। ऐसे ही प्रकृत में वेद नित्य है ईश्वर की विद्या होने से यहाँ वेद पक्ष में नित्यत्व साध्य है और नित्यत्व हेतु पूर्णतया घटित है अतः स्वरूपासिद्ध दोष बिल्कुल नहीं है, प्रत्युत ऐसा कहने सेआप ही निरनुयोज्यानुयोग निग्रह स्थान में आ पड़ते हैं।

(आक्षेप) "एक बात और भी है कि वादी और प्रतिवादी के सम्मत हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, एक के द्वारा स्वीकृति से नहीं, ईश्वर

नास्ति शब्दस्य श्रवण-विषयत्वात् । प्रकृते च वेदो नित्यः ईश्वरस्य विद्यावत्त्वात् । अत्र विद्यावत्त्वं हेतुः, पक्षो वेदः, नित्यत्वं साध्यम् । तदा हेतोः पूर्णतया संघटनात् नास्ति स्वरूपाऽसिद्धि-दूषणं, प्रत्युत भवानेवाऽत्र निरनुयोज्यानुयोग-नामके निग्रह-स्थाने निगडितः ।

(आक्षे०) "किञ्च वादिप्रतिवाद्युभय-सम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वं नान्यतराऽसिद्धस्य । वेदस्येश्वरविद्यामयत्वं नोभय-सम्मतम् ।" (समा.) उभयसम्मतस्यैव हेतोः साध्य-साधकत्वम् इत्यपि भवद्धेतुर्यावन्न मम सम्मतस्तावत्कथं ग्राह्यः ? न च क्वापि साध्यस्य साधनाय हेतुरेवं परिभाषितः । अतोऽमान्यमिदं भवद्वचनं मानाऽभावात् ।

ननु भवदुक्तहेतोरेव लक्षणस्याऽङ्गीकारे काऽऽपत्तिरिति चेन्न, तथा सति सर्वविषयस्याऽनिर्णयत्व-प्रसक्तेः । यथा-ईश्वरः कर्त्ता, सृष्टेः क्रियमाणत्वात् अयं हेतुर्न तावन्नास्तिक-सम्मतः । तदा ईश्वराऽसिद्धेरापातः । प्रकृते च ईश्वरस्य विद्यामयता-हेतुः, भवता न स्वीकृतः, यावता शङ्कराचार्येणाभ्युपगतः 'शास्त्रयोनित्वादिति सूत्र-भाष्ये ।

की विद्यामयता आप के द्वारा सम्मत नहीं है, अतः इस अनुमानमें स्वरूपासिद्धि दोष है ।

समा०—दोनों का सम्भव हेतु ही साध्य का साधक होता है यह भी आपका हेतु स्वकल्पित है । आपकी ही युक्ति से जब तक आपका यह दिया हुआ हेतु मेरा सम्मत नहीं है, तब तक कैसे मान्य होगा ? कहीं पर भी साध्य की साधना के लिये हेतु की यह परिभाषा नहीं दी गई । अतः यह अप्रामाणिक और अमान्य है ।

यदि कहा जाये, कि आपके ही हेतु लक्षण को स्वीकार करने में क्या हानि है ? तो यह भी ठीक नहीं, वैसा मानने पर उभय सम्मत हेतु के अभाव में सभी विषय अनिणीत रहेंगे । जैसे ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है, क्योंकि सृष्टि क्रियमाण है । यह हेतु नास्तिक को कदापि स्वीकृत नहीं है, तब तो ईश्वर की सदा असिद्धि ही बनी रहेगी, जब तक कि हेतु उभय सम्मत नहीं हो जावे । प्रकृत विषय में आपको ईश्वर की विद्यामयता स्वीकृत नहीं अतः वेदों का नित्यत्व कदापि सिद्ध न हो सकेगा । किन्तु ईश्वर की सर्वविद्यावता 'शास्त्र योनित्वात्' (वे० १।१।३) आदि प्रमाणों से आचार्य शंकरआदि के द्वारा स्वीकार की गई है ।

(पृ० ५१५ पं० १) (प्रश्नः) "वेदानामीश्वरविद्यामयत्वं इत्यत्र 'विद्या' शब्दरूपा ज्ञानरूपा वा ? मयट्प्रत्ययः प्राचुर्यार्थकः स्वार्थार्थो विकारार्थको वा ?"

(उत्त०) 'वेदानामीश्वरविद्यामयत्वम्' अत्र 'विद्या' शब्दार्थ-सम्बन्धमयी ज्ञानरूपा एव। इह 'तत्प्रकृतवचनेमयट्' (अष्टा० ५।४। २१) इत्यनेन प्राचुर्येऽर्थे मयट्प्रत्ययो जायते, न तु 'मयड्वैतयोर्भाषायाम् (४।३।१४३) इत्यनेन विकारे अवयवे वा। शब्दार्थकाद् विद्याशब्दा-दिति विशिष्यमाणाद् विधाने नानिवार्यता मयटः, यदि कथञ्चिन्म-न्येताऽपि, तदाऽस्य नैवार्थो यद् 'ईश्वरीय-शब्द-बाहुल्य-विशिष्टो वेद इति।

ननु अन्न-प्रचुरो याग इत्युक्तौ यागे अन्नातिरिक्तघृतादि-विशि-ष्टत्ववद् इहापि वाच्यमिति चेन्न, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (वेदा. १।१। १३) इत्यत्र यथा "आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वाद्यारभ्योत्तर-स्मिन्उत्तरस्मिन् स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्याति-

---

(पृ० ५१५ पं०१) प्रश्न—"वेदानामीश्वरविद्यामयत्व" यहाँ विद्या शब्दरूपा है या ज्ञानरूपा ! एवम् "मयट्" प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में है या स्वार्थ में ? अथवा विकारार्थ में है ?

उत्तर—यहाँ पर 'विद्या' नित्यशब्दार्थ सम्बन्धमयी ज्ञानरूपा है, तथा 'तत्प्रकृतबचने मयट' इस सूत्र से प्राचुर्यार्थ में 'मयट्' प्रत्यय हो जाता है। 'मयड्वैतयो-।, पा० ४।३।१४३। इस सूत्र से विकार या अवयव अर्थ में विशिष्यमाण शब्दार्थक विद्या शब्द से 'मयट्' के विधान की अनिवार्यता शब्दार्थक 'विद्या' शब्द से प्रतीत नहीं होती। यदि कथञ्चित् यह मान भी ली जाये तो भी इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि ईश्वरीय-शब्द-बाहुल्य-विशिष्ट वेद हैं।

यदि यह कहा जावे कि, अन्नप्रचुर याग कहने पर, अन्नातिरिक्त घृतादि विशिष्ट की प्रतीति की भाँति, वेद में भी ईश्वरीय शब्दातिरिक्त शब्द-वैशिष्ट्य सिद्ध होता है" यह ठीक नहीं, क्योंकि आनन्दमयोऽभ्यासात् (के० १।१।१२-१३ इन सूत्रों से जैसे मनुष्यत्व से आरम्भ कर उत्तरोत्तर, ब्रह्म का आनन्द प्राचुर्य शतगुणित है, इस शंकर भाष्य से ब्रह्मानन्द निरतिशय है,

शयत्वावधारणात् (शां. भा.)। तदेवम्अन्नप्रचुरोयागः' इत्यस्योक्त व्याख्यान-स्वीकारे तु आचार्यशङ्कस्य एतत्स्थलसङ्गत्यसम्भवत्वमेव।

यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति एष ह्येव आनन्दयाति इति यो हि आनन्दयति स प्रचुरानन्दः। यथा लोके यो ऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् यो ह्युत्तरोत्तरं शतगुणो विद्यावान्, अन्येषामपि विद्यावत्त्वमापादयति स परमेश्वरो वेदो वा विद्यामयो भवतीति मूलवाक्यमृषेरसंदिग्धं शास्त्रीयं युक्तियुक्तं च।

अपि च प्राचुर्यार्थे मयटि प्रचुरेभ्यः ईश्वरीय-शब्देभ्योऽतिरिक्त-शब्दानामपि अल्पता-सद्भावः कथमपि नैव निवार्यते इति न वाच्यं प्राचुर्यकथनेन तु नैवान्यवस्तुसत्ता बोध्यतेऽपि तु तस्यैव प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽल्पता निवार्यते। नैवान्येन प्रमाणेन च वेदे ईश्वरातिरिक्त-शब्दानां प्रामाण्यमुपपद्यते। अथवा स्वार्थेऽपि मयटि नानित्यत्वादि दोष-सम्भवः।

यही घोषित होता है। इस प्रकार 'अन्नप्रचुर-याग' इसके पूर्वोक्त व्याख्यान को माना जाये तो फिर शंकराचार्य के इस स्थल की संगति न हो सकेगी।

जिस कारण से ब्रह्म की आनन्द-हेतुता बताई है। 'एष एवहि आनन्दयाति, जो आनन्दित करता है, वह प्रचुरानन्द है। जैसे लोक में जो अन्यों का धनिकत्व आपादित करता है, वह प्रचुरधन कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना-चाहिये। जो ईश्वर उत्तरोत्तर शतगुणित विद्यावान् है, वही विद्यामय है। औरों को भी ईश्वर और वेद विद्यावत्ता प्रदान करते हैं। विद्यामय शब्द के प्रयोग करने में ऋषि दयानन्द का महत्वपूर्ण और विशिष्ट तात्पर्य है।

तथा प्राचुर्य अर्थ में मयट् करने पर ईश्वर के प्रचुर शब्दों से अतिरिक्त शब्दों की भी अल्पता किसी प्रकार भी निवारित नहीं की जा सकती। यह ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राचुर्य कहने से तो अन्य वस्तु की सत्ता का तो बोध नहीं होता, अपितु उसी प्रस्तुत वस्तु की अल्पता का निवारण किया जाता है। और न अन्य किसी प्रमाण के द्वारा ही वेद में ईश्वर के अतिरिक्त शब्दों का प्रामाण्य उपपन्न है। अथवा (विद्यामयत्व) यहाँ स्वार्थ में भी मयट् करने पर भी अनित्यत्व आदि दोष नहीं आते।

वैदिक-शब्दानामीश्वरीयत्वं निर्मातृत्वञ्च पूर्वमेव समाहितम्।

न च 'प्रतिकल्पं वेदभेदापत्तिः स्यादितिवाच्यं, परमेश्वरानुग्रहाज्जगतःपूर्वकल्पसदृश-नामरूपात्मकोत्पन्नत्वात्।

(पृष्ठ ५१५ अनु० २) यच्चोच्यते "प्राचुर्यार्थे मयटि कृते परमेश्वरस्य स्वरूप-ज्ञानेन अन्तत्वानुपपत्तेः" इति।

हन्त ! ईश्वरस्यान्तत्वोपपत्तये भवान्मयटः प्रयोजनमिह मन्यते, तदर्थं धन्यवादार्हा भवन्मतिः ! ईश्वरस्यान्तत्वेष्टापत्यनुसंधान-प्रयत्नवत्त्वात्। पुस्तकरूप-वेदाः इति कथनं तु मांसल-प्रज्ञानामेवाभिनन्दनं भवितुमर्हम्।

प्रश्न :—ईश्वर-ज्ञानस्य वेदैः कीदृशः सम्बन्धः ?

उत्तरम्—समवायसम्बन्धो गुणगुणिनोः समवायात्। नहि विषयता-सम्वन्धो यश्च भवतोद्भाव्यते यथा "यदि विषयता-सम्बन्ध

वैदिक शब्दों का ईश्वरीयत्व और निर्मातृत्व पूर्व कहा जा चुका है।

"प्रतिकल्प में उत्पन्न होने पर वेदों में भेद होगा" यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अनुग्रह से सम्पूर्ण जगत् के भी पूर्वकल्प के सदृश ही नाम और रूप उत्पन्न होते हैं।

पृ० ५१५ अनु० २) यहाँ "प्राचुर्य अर्थ में मयट् करने पर परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान से अन्तत्व की अनुपपत्ति होगी।"

यह तो किसी सिरफिरे का सा कथन है। वड़े खेद की बात है कि ईश्वर के अन्तत्व की उपपत्ति के लिये आप यहाँ पर मयट् का प्रयोजन मान रहे हैं। आपकी यह बुद्धि तो धन्यवाद के योग्य है क्योंकि वह ईश्वर के अन्तत्व की इष्टापत्ति के अनुसन्धान में प्रयत्नशील है। वेद पुस्तक रूप हैं, यह कथन तो मांसल बुद्धियों का ही अभिनन्दन-मात्र हो सकता है।

प्रश्न—ईश्वर के ज्ञान का वेदों से कैसा सम्बन्ध है ?

उत्तर – गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है, अतः यही सम्बन्ध है। ईश्वर का विषयता सम्बन्ध वेदों से नहीं है जैसा कि आपने उद्भावित किया है-जैसे—"यदि विषयता-सम्बन्ध मानें तो नित्यता का उपोद्बलक नहीं होगा। कारण यह है, कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है, तब उसके ज्ञान से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध रहने से सभी को नित्य मानना होगा। अतः विषयता

श्चेत्तर्हि न स नित्यत्वोपोद्बलतया सम्बन्धुं शक्नुयात्, सर्वस्य······ नित्यत्वाऽप्रयोजकत्वात् ।" इति । भवतामयं तर्को विचित्रोऽतितरा-मसङ्गतश्च । यदीश्वरः सर्वाणि वस्तूनि जानीते तदा तेषां वस्तूनामपि नित्यता ग्रापत्स्यते ।

श्रीमन् ! ईश्वरस्य ज्ञानेन उपादानात् प्रकृतेः रचितानां वस्तूनां नश्वरता कथं नक्ष्यति । तानि वस्तूनि तु संयोगजानि, ईश्वरोऽपि एतद्रूपे एव एतेषां वस्तूनां ज्ञाता वर्तते, यत् तानि पूर्वं संयोगेन निर्मीयन्ते । द्वयणुकादि वियोगेन विनश्यन्ति च । नहि नश्वरवस्तुवद् वेदा ईश्वर-सर्वज्ञतायाः पृथक् किमपि भौतिकं वस्तु, यदि भवन्तो नवीन-वेदान्तिनो ब्रह्मणः पृथक् सत्तां मंस्यन्ते, तदा तु बहुदोषोद्-भवः संपत्स्यते ।

प्रथमस्तु ब्रह्मातिरिक्त-वस्तुनः नान्यता सिद्धेः, ग्रपरो भवतां पक्षे विषयता-सम्बन्धोऽपि नोपपद्यते, विषय-विषयिणोरेकरूपत्वात् ।

सम्बन्ध से नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् विषयता सम्बन्ध नित्यत्व का प्रयोजक नहीं है ।" आपका यह तर्क ग्रतितराम् विचित्र ग्रौर ग्रसङ्गत है कि यदि ईश्वर सब वस्तुओं को जानता है, तो उन वस्तुग्रों की भी नित्यता होने लगेगी ।

श्रीमन् ! ईश्वर के ज्ञान द्वारा उपादान रूप प्रकृति से रचित वस्तुओं की नश्वरता कैसे विनष्ट हो जायेगी । वे वस्तुएँ तो संयोग से उत्पन्न हैं, ईश्वर भी इसी रूप में उन वस्तुग्रों का ज्ञाता है कि वे पहले संयोग से बनती हैं ग्रौर पश्चात द्वयणुकादि के वियोग से विनष्ट हो जाती हैं । इन नश्वर वस्तुओं के समान प्रकृति से उत्पन्न तो वेद हैं नहीं, वे ईश्वर-सर्वज्ञता के अन्त-र्गत ही हैं । यदि आप जैसे नवीन वेदान्ती ब्रह्म से पृथक् सत्ता मानते है, तब तो बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं । प्रथम तो ग्रापके पक्ष में ब्रह्म से अति-रिक्त वस्तु से ग्रन्यवस्तु की सत्ता ही सिद्ध नहीं है । दूसरे आपके पक्ष में फिर विषयता-सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि वहाँ तो विषय ग्रौर विषयी एक रस होगें ।

वेदों के विद्यामयत्व और ईश्वर ज्ञान में उसके वर्तमान होने पर तथा शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व के उपपादन करने पर शब्दाक्षरार्थ सम्बन्ध नित्य कहने पर भी न कोई विरोध हैं, और न ग्रसङ्गति । जैसे देखिये—

वेदानां विद्यामयत्वे ईश्वर-ज्ञाने च तद्वर्त्तमानत्वे शब्दार्थ—सम्बन्ध-नित्यत्व-कथने तु न कश्चिद् विरोधो न वाऽसङ्गतिः। यथा—

सर्वश्शब्दो नभोवृत्तिः, श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते।
वीचीतरङ्गन्यायेन, तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता॥
कदम्ब-गोत्रक-न्यायाद्, उत्पत्तिः, कस्यचिन्मते।

उत्पन्नः को विनष्टः कः, इति बुद्धेरनित्यत्वादिति उक्त्वा समाहितत्त्वात्।

परमिह शब्दार्थ-सम्बन्धे न ध्वन्यात्मकः शब्दो गृह्यते इति स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं महर्षिणा शब्दानन्तरमक्षर-पाठ कृतः। अक्षर शब्देनाऽपि नित्यताऽभिव्यज्यते। यथा महाभाष्ये अक्षरं नक्षरं विद्यादित्यादि व्याख्यातम्।

यदुच्यते "ईश्वर-विद्या-वेदयोश्चाभेदत्वे कथं साध्य-साधन-भाव इति।" तत्तु अविचारितफलमेव, यतोहि—अत्रावधेयं यत् पक्षो वेदः साध्यं नित्यत्वं, साधनमीश्वरत्वादिति। तदा क्वानुपपन्नता ? तद्भवता वाक्छलेनैव उपन्यस्तमिहेदम्।

सब शब्द आकाश वृत्तिक हैं, उत्पन्न होने पर श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। उनकी उत्पत्ति वीची तरङ्गन्याय से कही गयी है। किसी के मत में कदम्ब गोत्र न्याय से उत्पन्न होता है। "उत्पन्न होता है या विनष्ट होता है यह बुद्धि तो अतात्त्विकी है।

परन्तु यहाँ शब्दार्थ सम्बन्ध में ध्वन्यात्मक शब्द गृहीत नहीं होता इस स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए शब्द के अनन्तर अक्षर शब्द का पाठ ऋषि ने किया है। अक्षर शब्द के द्वारा भी अक्षरता अर्थात् नित्यता ही ध्वनित होती है। जैसा कि महाभाष्य में भी कहा हैं।

"ईश्वर विद्या और वेद में अभेद होने पर साध्य-साधन भाव कैसे उपपन्न होगा ?" यह आपका कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर पक्ष वेद है साध्य नित्यता है और साधन ईश्वरीयत्वात् है, तब अनुपपन्नता कहाँ है ? आपने यहाँ वाक्छल से काम लिया है। यह कथन कि "शब्द नित्य है चाक्षुष होने के कारण से इसी प्रकार विद्यानित्यत्व हेतु भी असद् हेतु है ठीक नहीं, इस हेतु को आश्रयासिद्ध कहकर शब्द में अनित्यता या नित्यता जैसे नहीं सिद्ध की जा

यच्चोक्तं "तस्माच्छब्दोऽनित्यश्चाक्षुत्वादितिवदाभाससमान-योगक्षेमत्वमेव। विद्या-नित्यत्वहेतोः" इति। इत्यत्र यथा चाक्षुषत्वा-दिति हेतोराश्रयासिद्धत्वान्न शब्देऽनित्यता नित्यता वा साधयितुं शक्यते तथेहापि वेदे। इह वे० पा० टीकाकरोऽपि ईश्वरविद्या-नित्यत्वं हेतुं मन्यमानः भ्रान्त एव।"

किञ्चात्र न्यान्यविदो विदांकुर्वन्तु यदसिद्ध-हेत्वाभासस्त्रिधा (१) आश्रयाऽसिद्धो यथा—गगनारविन्दे सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवदिति, (२) स्वरूपाऽसिद्धो यथा शब्दो नित्यश्चाक्षु-षत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुत्वं पक्षे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वादिति। कथं पुनर् आश्रयासिद्धः दोषः दर्शितः! यावता पूर्वोक्तमुदा-हरणमिदं तु स्वरूपासिद्धविषयकमेव।

सकती, उसी प्रकार वेद में भी सिद्ध नहीं की जा सकती। यहाँ पर आपके टीकाकार तो बहक गये हैं, जो कि वे ईश्वर विद्या-नित्यत्व या बिद्या-नित्यत्व को हेतु मान बैठे हैं।

यहाँ पर नैयायिक विचार करें कि असिद्धहेत्वाभास तो तीन प्रकार का होता है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध। आश्रयासिद्ध, पक्षताऽवच्छेद युक्त पक्ष होता है जैसे-आकाश का कमल सुगन्धित है अरविन्द होने के कारण से, तालाव के अरविन्द के समान। यहां पर 'गगनारविन्द' रूप आश्रय ही नहीं है।

स्वरूपासिद्ध—साध्य व्याप्य हेतु के अभाव से विशिष्ट पक्ष वाला होता है अथवा यों कहिये कि हेतु के अभाव वाला पक्ष स्वरूपासिद्ध होता है। जैसे-शब्द नित्य है चाक्षुष होने के कारण से, रूप के समान। यहाँ चाक्षुत्व हेतु पक्ष शब्द के रूप में है ही नहीं क्यों कि शब्द श्रावण अर्थात् श्रवण का विषय है न कि चक्षु का। तृतीय व्याप्यत्वासिद्ध के उदाहरण देने की यहाँ आवश्य-कता ही नहीं।

फिर समस्त दर्शन शास्त्र को निगलने के बाद भी दर्शनाचार्य ने आश्र-यत्वासिद्धि का यह उदाहरण क्यों दिया जबकि उदाहरण स्वरूपासिद्धि का है। इससे उनकी बुद्धि का दिबालियापन ज्ञात होता है।

यथा शब्दे चाक्षुषत्वं नास्ति तथा किं वेदे विद्यावत्त्वं नास्ति ? अस्त्येवेति। तदा वेदानां नित्यता साधयितुं न शक्यते इति, तून्मादोक्तिरेव भवतः।

(पू० प०) यदुक्तं 'चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये आसीदिति दयानन्दोक्तं निःसारम्, यतः 'ईश्वर-ज्ञाने को मध्यः कोऽन्त इति निरूपयितुमशक्यत्वात् ।'

(उ० प०) तदिदं शब्दप्रयोगाऽनभिज्ञत्वमेव भवतः यतोहि मध्यशब्दं भवान् केवलं केन्द्रवाचकमेवावगच्छति तस्मादेवमाह, तच्चन युक्तम् । किं भोः 'हंसमध्ये वको यथा' 'सभामध्ये' "येषु वस्तुषु मध्ये (ऐतरेयालो० पृ० १८६), अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः मध्य आत्मनितिष्ठति, (क० २।१।१२) इत्यादिषु स्थलेषु केन्द्रार्थकः मध्यशब्दः ? कदापि नैव, परमभ्यन्तरार्थः, एवमिहापि ज्ञानमध्ये इत्यस्य ज्ञाने इत्यर्थः । किं च वेदोत्पत्ति-विषयेऽपि प्रश्नस्यैतस्य भवता समुद्भावितत्वात्तत्रैव च मया समाहितत्वात् पिष्टपेषणमेवेदं विस्मरणशीलस्य भवतः।

(पृ० ५१७ अनु० २) यदाह "क्रियाश्रयस्तु कर्मैव न कर्त्ता

जैसे शब्द में चाक्षुत्व नहीं है, क्या उसी प्रकार वेद में विद्यावत्त्व नहीं है ? प्रत्युत है ही । तब वेदों की नित्यता इससे सिद्ध नहीं हो सकती यह कथन केवल उन्मत्तोक्ति है ।

पू० प०—"चन्द्रादि की रचना ईश्वर के ज्ञान के मध्य में थी" यह ऋषि दयानन्द का कथन निःसार है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में क्या मध्य और क्या अन्त यह निरूपण नहीं किया जा सकता ।

उ० प०—आप मध्यशब्द का अर्थ केवल केन्द्रवाचक ही समझ रहे हैं। इसीलिये आप ऐसा कहने लगे हैं। यह समझना आपका अल्पज्ञान ही है, बताइये—हंसमध्ये वको यथा, सभामध्ये न शोभेत, आदि में मध्यशब्द केन्द्रवाची नहीं है, प्रत्युत भीतर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह अर्थ आपकी बुद्धि के मध्य में नहीं आया ।

(पृ० ५१७ अनु० २) "क्रिया का आश्रय कर्म ही है कर्त्ता नहीं" यह आपने कहाँ पढ़ा ? तथा इस कथन में क्या प्रमाण है ? तथा आपने क्रिया

इति तदिदं क्वाधीतं भवता ? किं चात्र प्रमाणम् ? कश्च क्रियायां कर्मणि च भेदः ? भेदेऽपि प्रमाणं किम् ?

कथं न क्रियैव कर्म ? क्रियेन्द्रियं कर्मेन्द्रियमिति हेमचन्द्रः। कर्त्तुः क्रियया यद्व्याप्यते तत्कर्म। करोति, क्रियां निष्पादयति, इति कर्त्ता। 'आत्मसंयोग-प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।' तथा 'हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म।' (वैशेषिक ५।१।१-२) अनयोः कर्मशब्दस्य क्रियैवार्थः। 'संयोग-विभाग वेगानां कर्म-समानम्' (वैशे० १।१।२०) अत्रस्थले बाणादिसन्धानादि कर्म (क्रियैव) बाण-धनुः संयोगः कारणम् इत्याद्युन्नेयम्।

पुनः क्रियाश्रयः कर्म इत्यत्र स्वस्कन्धारोहणमेव। यदि क्रियाया आश्रय उक्तस्तर्हि कर्मण आश्रयः कथन्नोक्तः ? कश्चित् क्रियाजनक-व्यापाराश्रयस्तुकर्त्ता, किं व्यापारोऽपि न क्रिया ? व्यापरणमेव व्यापारः इति निर्वचनात्।

किं च क्रियाया नैवाश्रयो द्रव्यं ? किमथापि कर्त्ता न द्रव्यान्तर्गतः? वस्तुतस्तु द्रव्यमाश्रयः क्रियायाः। तथा च 'क्रियागुणवत्समवायिकारण

और कर्म के भेद का भी प्रतिपादन नहीं किया ? भेद होने में भी प्रमाण क्या है ?

क्रिया ही कर्म क्यों नहीं ? क्रियेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को हेमचन्द्र पर्याय-वाचक मानते हैं। कर्त्ता की क्रिया से जो व्याप्त होता है वह कर्म होता है और क्रिया का निष्पादन करने वाला कर्त्ता होता है। "आत्मा के संयोग और प्रयत्नों से हाथ में कर्म, हाथ के संयोग से मूसल में कर्म" आदि इन वैशेषिक सूत्रों में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया ही है।" संयोग विभाग और वेगों का कर्म समान होता है,, (वै० द० १।१।२०) इस स्थल पर बाणादिसन्धान आदि कर्म या क्रिया ही हैं बाण और धनुष का संयोग उस वेग में कारण है इत्यादि स्थलों पर आपको विचार करना चाहिये।

फिर "क्रिया के आश्रय कर्म" यह कहना अपने कन्धे पर ही चढ़ने के समान है। यदि क्रिया का आश्रय यहाँ पर आपने कहा तो कर्म का आश्रय क्यों नहीं बताया ? क्रिया-जनक व्यापार का आश्रय तो कर्त्ता माना है, तो क्या व्यापार भी क्रिया नहीं है ?

क्या क्रिया का आश्रय द्रव्य नहीं है ? और क्या कर्त्ता द्रव्यान्तर्गत नहीं है ? वस्तुतः क्रिया का आश्रय द्रव्य है। इसी लिये वैशेषिककार ने १।१।१५

मिति द्रव्य लक्षणम्, (वैशे० १।१।१५) इति द्रव्यलक्षणे स्पष्टप्रतिपादनात्। अत्र करपात्रस्यायमेवाशयो यत् सूर्यचन्द्रादि-रचन-क्रिया कर्त्तरि परमात्मनि न तिष्ठति तदा पूर्वकल्पवद् रचनं कर्त्तुं नार्हत्यसौ इत्येषाऽस्ति कपटपटुताऽस्य कापालिकस्य।

कर्मणश्च लक्षणं 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगाऽसमवायिकारणम् इति, विभिन्ने परमाणुद्वयेऽदृष्टवशात् क्रिया जायते तया द्व्यणुकस्य द्रव्यस्य कारणीभूतः परमाणुद्वयसंयोगो भवति, तस्यासमवायिकारणं सा क्रियैवेति समन्वयः। तदेवं कर्मणि क्रियायां च न कोऽपि भेदः। यथा शरीरपात्राद्यवयवद्वय-संयोगस्याऽसमवायिकारणं करपात्रसंयोगः संयोगश्चक्रिया। तस्माद्रचन-क्रियाजनक-व्यापाराश्रयः कर्त्तैवेति।

यदि न कृततोपपन्न-कर्मण आश्रयः कर्त्ता, तदा कथङ्कारं कर्मफल-भोक्ता सिद्धेज्जीवः? कर्मनिरपेक्षेश्वरस्य तु निमित्तकारणत्वे वैषम्य

सूत्र में बताया, कि क्रिया और गुण से युक्त समवायि-कारण द्रव्य होता है। तथा कर्म के लक्षण में बताया कि एक द्रव्याश्रित, गुणरहित, संयोग और विभाग के उत्पन्न करने में अपने से बाद उत्पन्न किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण कार्य होता है।

यहाँ पर श्री करपात्र का यही आशय है, कि सूर्य चन्द्रादि रचना क्रिया कर्त्ता परमात्मा में नहीं रहती, तब पूर्वकल्पवत् वह रचना भी नहीं कर सकता। यही इनका कपट-चातुर्य है।

कर्म का लक्षण नव्यों के मत में "संयोग भिन्न होने पर संयोग का असमवायि कारण कर्म होता है।" इस प्रकार विभिन्न परमाणुद्वय में अदृष्ट-वशात् क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से द्व्यणुक द्रव्य का कारणीभूत परमाणुद्वय का संयोग होता है। उसका असमवायि कारण वह क्रिया ही है। इस प्रकार कर्म और क्रिया में कोई भेद नहीं। शरीर पात्र आदि दो अवयवों के संयोग का असमवायि कारण कर-पात्र संयोग ही होता है और वह संयोग ही क्रिया है। इसलिए "रचना क्रिया का जनक व्यापार उसका आश्रय तो कर्त्ता ही है" इस कथन से आपने क्या निष्कर्ष निकाला? अथवा यह कुतर्क मात्र ही रहा।

महाभाग! यदि कृत कर्म का आश्रय कर्त्ता न होता, तो जीव कर्मफल भोक्ता कैसे सिद्ध होता? कदाचित् कर्म-निरपेक्ष ईश्वर को जगत् का निमित्त

नैर्घृण्यदोषापत्तेः। भवत्पक्षेऽपि च क्रियाजनक-व्यापाराश्रयः कर्त्ता, कर्त्तृ-व्यापारजन्या च क्रिया, क्रियाजन्यं द्रव्ये उत्पन्नं कर्म, अतः पारम्पर्येण कर्माश्रयः कर्त्ता। तद्धि कर्म संयोग-विभाग-समवायिकारण-साहाय्येन संयोग-विभागौ, उत्पादयति। अतः क्रियायाः परिपक्वा-वस्थकर्मत्वे चन्द्रादि-सृष्टिकर्मत्वधर्मवान् ईश्वर एवेति महर्षिले-खोऽविचिकित्सितो विपश्चिद्भिर्बोध्यः।

यदुक्तम् "ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाऽभावात्" इति तदपि न समीचीनं, वृद्धिक्षयाद्यभावादित्येव वक्तव्यं स्यात्" इत्यत्र भवान् स्वबुद्धेःक्षयविपर्य्ययादि-विपर्ययार्थे योजयति, अत्र भवता महर्षि तात्पर्यं नावबुद्धम्, तत्तु एवमधेयं यन्नास्मादृशज्ञानमिव ईश्वर-ज्ञानस्य कदाऽपि वैपरीत्यं जायते। स्वामिन्! दयस्वात्मनि अन्ध-विश्वासग्रस्तस्वभक्त-लक्ष्मीतनयेषु चापि। न विभ्रामय कुतर्क-संस्कृत-शब्दजालचक्रवातभ्रभौ तान्।

कारण मान लिया जावे तो वैषम्य और नैर्घृण्य दोषापत्ति होगी अर्थात् जीवों को उच्चनीचयादि बनाने से न्यूनाधिकता एवं अनेकों को अति दीन दुःखी बनाने से निर्दयता आदि दोषों की सम्भावना होने से साधारण जनों के समान राग-द्वेषादि ग्रस्त होने से ईश्वर के ईश्वरीय भाव का लोप हो जायेगा।

आपके पक्ष में भी व्यापार से जन्य क्रिया तथा क्रिया से जन्य द्रव्य में उत्पन्न (उद्भूत) कर्म हुआ, अतः परम्पराभाव से कर्म का आश्रय कर्त्ता ही ठहरा। अतः क्रिया की परिपक्वावस्था रूप कर्म में चन्द्रादि सृष्टि कर्म का धर्मवान् ईश्वर ही है; इस प्रकार महर्षि का समस्त लेख निःभ्रान्त हैं।

यह कथन कि "ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि क्षय तथा विपर्यय भी नहीं हुआ करते," ठीक नहीं है, क्योंकि वृद्धि क्षय आदि के न होने से इतना कहना ही पर्याप्त है। यह कथन भी ठीक नहीं। आप अपनी बुद्धि के क्षय और विपर्यय आदि का ही यहाँ विपर्यय (उल्टे) अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। यहाँ पर आप समझिये कि महर्षि का अर्थ यह है कि हम लोगों के ज्ञान के समान परमेश्वर के ज्ञान में कभी उलटफेर नहीं होता। जैसे हम लोगों के ज्ञान में वृद्धि तथा क्षय दोनों होते हैं और ज्ञान का उलटा भी करने लगते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर वृद्धि और क्षय के अभाव में भी अपने एकरस ज्ञान का उलटा प्रयोग भी नहीं कर सकता।

प्रश्न :—वृद्धक्षय-विपर्ययाभावः' इत्यत्र कः समासः ?

उत्तरं—वृद्धिश्च क्षयश्च विपर्ययश्च तेषामभाव इतिद्वन्द्व-गर्भित तत्पुरुषोऽभीष्टः । एतेन भवत्कुदम्भस्कम्भाधारः कल्पनेष्टिकाभिश्चितो वागाडम्बर-प्रासादः समस्तो ध्वस्तः ।

(पृ० ५१८ पं. ८-१०) "वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते" इत्यस्य स्थाने "वस्तुतस्तु वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादि-शास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते" वक्तव्यमासीत् । ष्यञ्प्रत्यये तु साक्ष्यार्थमिति वक्तव्यं, न साक्ष्यर्थमिति ।"

अत्र भवतामेष आक्षेपो यत् साक्ष्य+अर्थम् इति सन्धौ कृते दीर्घत्वं स्यादिति । भवेन्नाम मुद्रण-दोष एष, परं सिद्धान्ते का नाम क्षतिः ? साक्ष्यार्थमित्यत्राऽकारहीनतामनुतपति भवान्, परं (वे. पा. पृ. ५१७ पं. १४) अत्र 'षडविकाराणाम्' इत्यत्र अकार-विशिष्टं डकारं पठन्

स्वामिन् ! स्वय पर, व अन्धाविश्वास ग्रस्त अपने भक्त लक्ष्मी पुत्रो पर अब तो दया करो। कुतर्क-परिपूर्ण संस्कृत के शब्द-जाल के चक्रवात (लकरा) के चक्कर में उनको मत घुमाओं हमारे इस तर्क द्वारा आपके कुदम्भ के खम्भों पर आधारित कल्पना की ईंटो से चुना हुआ वागाडाम्बररूप समस्त प्रासाद स्वस्त हो गया ।

प्र०—"वृद्धिक्षय विपर्ययाभाव" इसमें क्या समास है ?

उत्तर—वृद्धि और क्षय और विपर्यय उनका अभाव इस प्रकार द्वन्द्व गर्भित तत्पुरुष समास ही यहाँ अभीष्ट हैं। इससे आपकी शेष शङ्कायें स्वतः ऐसे ही उच्छिन्न हो जाती हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार ।

(पृ० ५१८प.८१०)" वेदों के नित्यत्व में व्याकरण शास्त्र आदि के साक्षी के लिए प्रमाण लिखे जा रहे हैं" इसीभूमिका लेख के स्थान पर वास्तव में 'वेदों के नित्यत्व में व्याकरण शास्त्रों के साक्षिता रूप में प्रमाण दिये जाते हैं, यह ही कहना चाहिये था । ष्यञ् प्रत्यय करने पर तो साक्ष्य+अर्थ साक्ष्यार्थम् ऐसा लिखना चाहिए न कि साक्ष्यर्थ ।"

यहां पर आपका आक्षेप है कि साक्ष्य+अर्थ की सन्धि करने पर दीर्घ होना चाहिये। अच्छा इसे मुद्रण-दोष दुर्जन तोष-न्याय से माने लेते हैं, पर यहाँ सिद्धान्त की क्या क्षति हुई ? आप 'साक्ष्यर्थ' यहाँ पर अकार हीनता के लिए इतने दुःखी हैं, पर वे० पा० पृ० ५१७ पं० १४ में षड्विकाराणाम्

न स्वीय-मुग्धतायै खेदोभवतः, अथवा साक्ष्यर्थमित्येव सुवचम्, साक्षिणे उपद्रष्ट्रे एव द्रष्टॄणामाप्तानां प्रमाणोपन्यास-प्रयोजनात्। साक्षात्कृतधर्माण ऋषतस्त एव द्रष्टारः। साक्षी चोपद्रष्टा यश्च द्रष्टुरनन्तरं पश्यति । साक्षीतिशब्दस्य—"साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम् (अष्टा. ५।५।९१) इत्यनेन सिद्धि र्भवति । अत्र 'यद्यपि साक्षात् द्रष्टारस्त्रयो भवन्ति, दाता ग्रहीता उपद्रष्टा च, तथापीह संज्ञा-ग्रहणात्साक्षि-शब्देन उपद्रष्टैव उच्यते" इति तत्त्व-वोधिनीकार-दृष्ट्याऽपि साक्ष्यर्थमित्यस्यैव पाठस्य श्रेयस्त्वात्। इह वेद-विषये दाता परेशः, ग्रहीता आप्त, उपद्रष्टा च जिज्ञासुरित्येवं समुपपन्नं सर्वम्।

एतदग्रे ५२१ पृष्ठं यावत् समग्रोऽपि पाठस्तत्तद्ग्रन्थेभ्योऽवतारितोऽनेन स्वपुस्तक-कलेवरवर्धनाय, न किमपि मौलिकमूहितम्। जाति-व्यक्ति-स्फोटात्मकं कैयटनागेशमतोद्धरणम् अप्रासङ्गिक-मकाण्डपाण्डित्य-ताण्डवमेव।

इसके स्थान पर षडविकाराणां यहाँ डकार को अकार-विशिष्ट पढ़कर अपनी मुग्धता के लिये आप किञ्चित् भी खिन्न नहीं है। अथवा (साक्षि+अर्थ) साक्ष्यर्थ यही पाठ सर्वथा तर्क-संगत व समुचित है। क्यों कि द्रष्टा, आप्त प्रमाणों का उपन्यास साक्षी अर्थात् उपद्रष्टा के लिये ही प्रयोजनवत् मानते हैं। साक्षात् कृतधर्मा ऋषि ही द्रष्टा होते हैं। द्रष्टा के अनन्तर उपद्रष्टा (साक्षी तत्व का दर्शन करता है। साक्षी इस शब्द की सिद्धि ५।५।९१ सूत्र से होती है। यहाँ तत्वबोधिनीकार की दृष्टि से भी साक्षी यही पाठ समुचित प्रतीत होता है। जैसे—उन्होंने कहा है कि यद्यपि साक्षाद् द्रष्टा तीन होते हैं, दाता, ग्रहीता और उपद्रष्टा, तब भी यहाँ संज्ञाग्रहण होने से साक्षी शब्द से उपद्रष्टा का ही ग्रहण कहा जाता है। यहाँ वेद-विषय में दाता परमेश्वर ग्रहीता आप्त द्रष्टा ऋषि और उपद्रष्टा अन्य जिज्ञासु जन अभीष्ट हैं, अतः 'साक्ष्यर्थं, पाठ ही सुसंगत है।

इसके आगे ५२१ पृ० तक उन उन ग्रन्थों से उतारा हुआ समस्त पाठ अपने इस थोथे पोथे की स्थूलता के लिये ही है। किसी मौलिक बात की आपने ऊहा नहीं की। जाति-स्फोट और व्यक्ति-स्फोट रूप कैयटनागेश का मतोद्धरण भी अप्रासङ्गिक तथा असामयिक ताण्डव है।

उपादानकारणस्य नित्यत्वात्तत्कार्यस्यापि नित्यत्वमित्यभिप्रायिकं भवद्वचस्तु स्वीय-कल्पनैव, यतः 'पाणिपादमपि वध्नन्ती शृङ्खला नोन्मत्तं कल्पनादवरुणद्धि इति लोकोक्तिः, परमिह वेद-ज्ञानस्य ईश्वरीयज्ञानं नोपादानं तस्य गुणत्वात्। शिष्टं चर्वितचर्वणमेव भवतः, नो नव्यं-भव्यम् ।

अन्य-मुखेन (उपादानत्वेन) शङ्कितमन्येन निमित्तेन समाहितम्, परं त्वदभिहितादुपादानरूपात्परमेश्वरादपरिणामिनोऽपि न जगदुत्पत्ति-सम्भवः, नित्यप्रकृत्यनादित्वानङ्गीकरणात् । यश्च किल ब्रह्म, निमित्तकारणमुपादानं चोभयमाकलयते, स तु असम्भवमेव सम्भावयितुमीहते । अस्मन्मते तु 'अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लामितिश्रुतेः ईश्वर-जीव-प्रकृतीनां पृथक्-सत्ता स्वीकारात् सर्वं समाधीयते ।

(पृ. ५१८ अनु० १) महर्षि-र्महाभाष्यात् शब्दनित्यत्व-प्रकरणे उद्धृतवान् यत् 'नित्याः शब्दाः तेषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैरन-

---

उपादान कारण के नित्य होने से उसके कार्य का भी नित्यत्व होगा। इस अभिप्राय का आपका वचन तो आपकी कपोल-कल्पना है, जिसके करने में आप स्वच्छन्द हैं। क्योंकि हाथ-पैर बांधने वाली कोई जंजीर किसी उन्मत्त को कल्पना करने से नहीं रोक सकती। यह कहावत प्रसिद्ध है। लेकिन यहाँ पर वेद ज्ञान का ईश्वरीय-ज्ञान उपादान कारण नहीं है। शेष पिष्टपेषण है, कोई नव्य भव्य नहीं है।

अन्य मुख अर्थात् उपादानत्वेन शङ्का की और अन्य मुख अर्थात् निमित्त कारणत्वेन समाधान दिया। परन्तु तुम्हारे कहे हुये उपादान रूप परमेश्वर से जोकि अपरिणामी है-जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि प्रकृति की अनादि-नित्यता आप नवीन वेदान्ती तो मानते ही नहीं, और जो ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तो पादानकारण मानतें हैं वे तो असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं। हम आर्यों के मत में तो अजामेकाम् इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वरूपतः अनादि सत्ता मानी जाने से सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है।

(पृ० ५१८ अनु० १) स्वामी जी ने शब्द-नित्यत्व प्रकरण में 'नित्याः शब्दाः'—प्रमाण महाभाष्य से उद्धृत किया है। इनका आक्षेप है कि यह

पायोपजनविकारिर्भवितव्यम् इति । अत्रायमाक्षिपति यदेतदुद्धरणं महाभाष्ये पूर्वपक्ष-परम्, यावता महाभाष्यकृता शब्दानां नित्यत्वमेव सिद्धान्तितम् । मन्ये, शब्द-नित्यत्वे तु एष पक्षः सिद्धान्तत्वेन यथा पतञ्जलिना स्वीकृतस्तथा स्वामि-दयानन्देनापि, अतस्तात्पर्ये न कस्या अपि विप्रतिपत्तेरवकाशः, फलतः प्रदीपोद्योत-भागोद्धरणमिह अनावश्यकम् ।

(पृ० ५१८ अनु०१) इह पारिजात-लेखक आक्षिपति यत् पूर्वं भूमिका-कारेण नित्यानित्यत्वकथनपूर्वकं शब्दानां द्वैविध्यमाख्यातं, सम्प्रति महाभाष्यस्य उद्धरणेन लौकिकानामपि शब्दानां नित्यत्व-मुक्तं तदेषा विरोधोक्तिः । अत्रोच्यतेः—आकाशदेशाधिकरणस्य शब्दस्य तद्गुणत्वादाकाशस्थितिं यावदायुष्यम्, स एव शब्दस्ताल्वा-दिना उच्चार्यमाणः श्रवणादिना च गृह्यमाणः अस्मत्क्रिया-जन्यः क्षणभङ्गुरः । नैतेन शब्दस्याऽनित्यत्वं भवति, केवलमुद्भूतता एव नश्यति । एवंविध-शब्द-सङ्गतो मानस-बुद्धि-जन्योऽर्थः सम्बन्धश्चापि अनित्यः, परमाकाशगुणकः शब्दस्तु अखण्डैकरसः, अतस्तत्त्वेन न कश्चिद् विरोधः ।

पूर्वपक्ष भाष्य है । पर महर्षिपतञ्जलि ने 'शब्द नित्य' का ही सिद्धान्त माना है । तो इस विषय में तो शब्दनित्यत्व का पक्ष ही समर्थित हुआ आपकी बात मानकर भी सिद्धान्त तो यही निकाला । जिस रूप में पतञ्जलि ने स्वीकृत किया है उसी रूप में दयानन्द ने भी माना है । अतः तात्पर्य अस-न्दिग्ध है । फलतः प्रदीपोद्योत का उद्धरण अनावश्यक है ।

इस प्रसङ्ग में करपात्र जी का यह आक्षेप भी है कि पहले तो स्वामी जी ने नित्य अनित्यत्व रूप शब्द के दो भेद कहे । अब महाभाष्य के उद्धरण से लौकिक शब्दों की भी नित्यता कहने लगे, इस प्रकार यह विरोध-उक्ति है ।

इस विषय में समझिये :—कि आकाश देशाधिकरण शब्द आकाश का गुण है, तो आकाश जब तक रहेगा, तब तक वह शब्द भी रहेगा । वही शब्द ताल्वादि अभिघात के द्वारा उच्चार्यमाण होकर श्रवण के द्वारा गृहीत होता हुआ हमारी क्रियाओं से जन्य होने से उद्भूत शब्द क्षण भङ्गुर है । इससे शब्द का अनित्यत्व नहीं होता, केवल उद्भूतता ही नष्ट

प्र०—व्याकरणे ये आदेशा आगमा वा भवन्ति ते नित्येष शब्देषु कथं संगच्छेरन् ?

उ०—शब्द-नित्यत्वपक्षरक्षणाय "एवमवगन्तव्यं यत् आदेशास्तर्हि इमे भवन्ति अनागमकानां सागमकाः । फलतः इड्विधानकर्त्तुः 'आर्धधातुकस्येड्वलादेरिति सूत्रस्य 'आद्यन्तौ टकितौ' इति सूत्रेण, एकवाक्यतायां वलाद्यार्धधातकस्य इडागम इत्यर्थे संपन्ने शब्द-नित्यता-सिद्धान्तानुपपत्तौ सम्भावितायामेधितव्यमितिरूपसिद्ध्यै वाक्यान्तरकल्पना करिष्यते, इड्रहित 'तव्य' बुद्धौ प्रसक्तायां इट्सहिततव्य बुद्धिः-करणीया, इति ।"

इदमेव च (न्या० २।२ ५६) सूत्रे भाष्यकारोऽपि (वात्स्यायनः) समर्थयते "स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः" इति । भवतः शेषः नागेशादि समुद्धृतोंऽशोऽपि ग्रन्थ-स्थौल्याय एवेतिबोध्यम् ।

(पृ. ५२२ अनु०१) एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवाऽस्ति .... सुवचम्' इत्यत्र यदुक्तं 'असङ्गतमिति,

---

होती है । इस प्रकार शब्द संगत-मानसबुद्धिजन्य अर्थ और उनका सम्बन्ध (लौकिक) अनित्य है, परन्तु आकाश गुणक एक रस शब्द अखण्ड है, अतः परिणामतः कोई विरोध नहीं ।

प्र०—व्याकरण में जो आदेश और आगम होते हैं वे कैसे सङ्गत होंगे ?

उ०—शब्द नित्यत्व पक्ष के रक्षणार्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि वे अनागमकों क लिये सागमक आदेश होते हैं । फलतःइड् विधान करने वाले सूत्र की "आद्यन्तौ टकितौ" इस सूत्र के साथ एक वाक्यता करके वलादि आर्ध-धातुक को "इडागम" हो इस अर्थ के सम्पन्न होने पर शब्द नित्यता के सिद्धान्त की अनुपपत्ति की सम्भावना में "एधितव्यम्" इस रूप की सिद्धि के लिये वाक्यान्तर की कल्पना कर ली जाती है अर्थात् इड्रहित तव्य बुद्धि प्रसक्त होने पर इट् सहित तव्य बुद्धि कर लेनी चाहिए ।

इसी की पुष्टि वात्स्यामन भाष्य के द्वारा भी हो रही है आप निरर्गल नागेशादि की संस्कृत उतारकर अपनी व्याकरणज्ञता सिद्ध करना चाहते हैं ।

(पृ० ५२२ अनु०१) आक्षेप—'एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवाऽस्ति क्योंकि भ्रममूला में 'भ्रमो मूलं यस्याः सा—भ्रममूला, मूलमस्ती-

तन्न, अपि तु भवदुक्तमेवासङ्गतं तत्त्वानवबोधात् । इह भ्रमो मूलम् अस्या इति बहुव्रीहि-समास एव स्वीकार्यः । ननु चोक्तमाद्ये मूल-पदस्य कारण-परतया कारणस्य च कार्य-नियत-पूर्ववृत्तित्वेनापायबुद्धेः पूर्वं तत्कार्यभूतस्य भ्रमस्यावश्यमवश्यं स्वीकार्यत्वाऽऽपातात्, इति चेन्नो हानिः, तत्स्वीकृतौ सिद्धान्ताऽक्षतेः । यथा "मिथ्याबुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् (पा. ४।२।३६) अर्थात् मिथ्याबुद्धेर्भ्रमस्य कारणस्य तदुत्पन्न-सत्तायाश्चोपलब्धे र्मिथ्याबुद्धेरप्यस्तित्वं स्वीकृतं, भ्रमस्य च प्रमोत्पत्तेर्विनष्टत्वं प्रोक्तम् । तथाहि "मिथ्योपलब्धि-विनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्-प्रतिबोधे ।" (न्या. ४।२।३५) ।" किञ्च महोदय ! भवता तु भ्रमः सर्वथा सर्वत्र स्वीकार्य एव । भ्रमश्च तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम् । तद-भावनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता या तन्निष्ठा-प्रकारता तन्निरूपक ज्ञानत्वमप्रमात्वमिति हि तदर्थः ।

ननु चोक्तं 'तदङ्गीकारे तस्य भ्रमरूपत्वात् कर्म-सिद्धावपरबुद्धे र्निष्प्रयोजनत्वात्" इति चेन्न, तत्त्व-ज्ञान-स्थितौ पूर्व-तथाकथित-निष्फल-ज्ञानस्यापि प्रयोजनवत्त्वात् । अत्र प्रकरणे अपायत्वादि-शून्ये

त्यस्यामिति मूला भ्रमस्य मूला भ्रममूला' इन दो प्रकार के समासों में कौन सा समास करेगें । दोनों ही नहीं हो सकते, अतः स्वामी दयानन्द का कथन असंङ्गत है ।

समा०—वस्तुतः तत्व को न समझने के कारण ही आपका यह 'असंङ्गत' कथन ही असङ्गत है । यहाँ पर बहुव्रीहि-समास स्वीकार करना चाहिये । इसमें मूल पद के कारण-परक होने से और कारण के कार्य से नियत-पूर्व वृत्तिक होने से अपायबुद्धि से पहले उसका कार्यभूत भ्रम अवश्य मानना पड़ेगा तो इसके मानने पर भी सिद्धान्त की तो कोई हानि नहीं, क्योंकि न्यायदर्शन के (४।२।३५-३६) सूत्रों में मिथ्या बुद्धि अर्थात् भ्रम का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । जोकि प्रमोत्पत्ति से विनष्ट हो जाता है । फिर महोदय ! आपको तो भ्रम सर्वथा सर्वत्र स्वीकार्य ही है ।

भ्रम तद् अभाववान् तत्प्रकारक ज्ञान ही है । अर्थात् उसकी अभाव निष्ठ विशेषता से निरूपित निष्ठा की प्रकारता का निरूपक ज्ञान ही अप्रमा है ।

यह कथन निःसार है कि "उसके मानने पर तो कार्य-सिद्धि-विषयक

शब्दे अपायत्व-प्रकारक-बुद्धिः "इदं सापायमिति" स भ्रमः, मिथ्या ज्ञानस्य लोके स्वीकरणात्, मिथ्याज्ञानस्य कारणे सति तद्रूप-ज्ञान-कार्योद्भवात्तत्व-ज्ञानाऽनुदयाच्च ।

यदुक्तं 'भ्रमस्य मूलमित्यपि समासो न भविष्यति, अपायबुद्धे-रुत्तरवर्त्ति किमपि भ्रमात्मकं ज्ञानमवश्यं स्वीकर्त्तव्यमन्यथा बुद्धेस्तत्कारणत्वाऽनुपपत्तेः, परं नैष दोषः तस्य (भ्रमस्य) सिद्धान्त रूपेणाभ्युपगमात् । यदुक्तं—सा 'भ्रमात्मिकैव' इति सुवचमिति तु दुर्वचमेव, तथासति अनेक-दोष-प्रसङ्गात् नहि भ्रमस्य मूलवती बुद्धिः भ्रमरूपा सम्भवति, यथा न धनस्य मूलवान् पुरुषः धनात्मकः (धनरूपः) सम्भवति । तदेवं भवतो महता प्रयासेन पर्वतोत्खननेन

उत्तर ज्ञान भ्रमरूप कारण से उत्पन्न होने से निष्फल होगा" क्योंकि तत्त्व ज्ञान की स्थिति में उसके पूर्व का तथाकथित निष्फल ज्ञान भी प्रयोजन वाला ही माना जाता है । इस प्रकरण में अपायत्वादि शून्य शब्द में अपायत्व-प्रकारक बुद्धि अर्थात् "यह सापाय है" ऐसा समझना ही तो भ्रम कहलायेगा और मिथ्या ज्ञान की सत्ता लोक में स्वीकृत करने पर 'मिथ्या ज्ञान के कारण होने पर तद्रूप ज्ञान कार्य के उद्भव होने से आपके कथनानुसार तत्त्व ज्ञान का उदय ही न हो सकेगा ।

यह कथन है कि "भ्रम का मूल' यह भी षष्ठी समास न होगा, क्योंकि अपाय बुद्धि से उत्तरवर्ती कोई भ्रमात्मक ज्ञान अवश्य स्वीकार करने योग्य है अन्यथा उसकी कारणता उपपन्न न होगी ।" श्री मान जी इसके स्वीकार करने पर सिद्धान्त की क्या क्षति है ?

यह कहना "कि बुद्धि भ्रमात्मिका ही है" यही सुवच है । वस्तुतः तो यह सुवच नहीं दुर्वच है, क्योंकि इसमें अनेक दोष आयेगें । भ्रम की मूल-वती बुद्धि भ्रम-रूपा नहीं हो सकती जैसे धन का मूलवान् पुरुष धनस्वरूप नहीं हो सकता । इस प्रकार आपने बड़े परिश्रम से पर्वत का उत्खनन किया और चुहिया भी नहीं निकाल सके । वस्तुतः 'भ्रमात्मिका' यह सुवच विशेषण आपकी बुद्धि के लिये ही समुपयुक्त है ।

तथा आपकी ग्रन्थ-प्रस्तावना में श्रद्धेय श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने "जगत् की स्थिति धर्ममूला" है ऐसा प्रयोग किया है । तब तो जो समास वहाँ है वही यहाँ पर मान लीजिये, पर यह तो महद् आश्चर्य है, कि करपात्र जी की बुद्धि

मूषिकाऽपि न निस्सृता। अतः वस्तुतो भ्रमात्मिकेति भवद्बुद्धेरेव समुपयुक्तं विशेषणं सम्भवति।

अपि वा भवद्ग्रन्थ-प्रस्तावनायां श्री पट्टाभिराम-शास्त्रिणा 'जगत्स्थितिर्धर्मूला' इति प्रयोगः कृतः। तत्र यः समासः स एव अत्रापि अवगन्तव्यः, परमेतद् महदाश्चर्यं यत् करपात्रस्य तत्र पक्षपात-प्रलेप-पराकाष्ठया न कश्चन सामासिकः संदेहः समुत्पन्नः॥

वस्तुतस्तु इदं वचो भवदज्ञान-विजृम्भकं, यतोहि न ज्ञानं भ्रमादुत्पद्यते प्रत्युत भ्रमनाशादेव। तदेवमिह अपायबुद्धिरूपं कार्यं निष्फलं यच्चाऽस्माकमभीष्टम्।

आर्षप्रतिभानमिदमेव भ्रमात्मकस्य भवतो भ्रमभञ्जन-च्णम। अपि च निर्मलोक्तिरियमत्र संगच्छते :—

स्वामी देव-दयानिधिस्तु सकलानादर्शयद् वैदिकम्।
निर्भ्रान्तं जगृहुः सुमार्गमपि ते निर्बन्धबन्धं जहुः॥
टीकाकृद् व्रजवल्लभस्तवमतं मूलंभ्रमस्यात्यजत्।
यूयं मूलकृतोऽनुयात सरणिं विद्वद्भिरङ्गीकृताम्॥

पर पक्षपात का प्रलेप पराकाष्ठा का चढ़ा हुआ है जो कि उन्हें वहाँ कोई सन्देह नहीं दीखा।

यह कथन कि "कार्य सिद्धि विषयक उत्तर ज्ञान निष्फल होगा क्योंकि वह भ्रमजन्य है" यह वचन भी अज्ञान मूलक है, क्योंकि ज्ञान भ्रम से उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत भ्रमनाश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ पर अपाय-बुद्धि रूप कार्य का निष्फल होना ही अभीष्ट है।

ऋषि दयानन्द की यह सूझ आपके भ्रमभंजन करने में सहायक होगी। यहाँ पर यह निर्मलोक्ति सङ्गत है :—

"दयानिधि देव दयानन्द स्वामी ने निर्भ्रान्त वैदिक मार्ग सभी को दिखाया और विचारशील लोगों ने दुराग्रह छोड़कर इस मार्ग को अपना लिया। आपके टीकाकार श्री व्रजवल्लभ जी ने भी आप-सम्मत भ्रमस्य मूलम् यह विग्रह छोड़कर "भ्रमस्य मूल" यह पाठ पढ़ा है अतः आप भी मूल शङ्कर कृत ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका का अनुकरण करें तभी आपका कल्याण सम्भव है।

(पृ० ५२२ पं. ६) पू. प० - यच्चाह "भ्रममूलत्वे तस्याः कारण-मुक्तम्, कुतः ? शब्दानामेकदेश-विकारे चेत्युपलक्षणादिना, तदपि न क्षोद-क्षमं, त्वदुक्तस्य हेतो भ्रममूलत्वस्य च साध्यस्य व्याप्तिग्र-हाऽभवात् ।"

(उ. प.) सर्वमिदं भवदुक्तं न तर्कसहं, विवेचकास्तावद् विचिन्वन्तु यद् भ्रमो मूलमस्या इति समासे स्वीकृते "भ्रममूलत्वे अर्थात् अपाय-बुद्धित्वे तस्या अपाय-बुद्धेः कारणत्वमाह इत्येवार्थो निष्पद्यते । नह्यपाय-बुद्धित्वे हेतौ अपाय-बुद्धिः साध्या, न च भ्रम-मूलत्वस्य च हेतुत्वमुक्तमिह । भ्रमोनाम भ्रममूलायामपाय-बुद्धौ हेतुरस्ति । सामान्य-हेतौ भ्रमे सामान्यानिष्ट-बुद्धिर्जायते एव सर्वत्र ।

यथा--यत्र यत्र हि भ्रमस्तत्र तत्रानिष्ट-प्रतिपत्तिरिति अव्यभिचरितो हेतुः एवं व्याप्तिःसंगच्छते एव, तथैव अत्रापि ।

(पृ० ५२२ अनु० ३) इह यदाक्षिप्तं यत् पूर्वसंस्करणेषु मुद्रण-दोषेण "शब्दस्यैकदेशाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि, इति पाठ आसीत्" भवेन्नामाऽसौ, तवास्मिन् वेदार्थ-पारिजात-संस्कारणेऽपि

(पृ० ५२२ पं० ६) आपने यह कहा है, कि अपाय बुद्धि में भ्रममूलता को कारण कहना उचित नहीं, क्योंकि यहाँ व्याप्ति-ग्रहण नहीं हो सकता ।

(उ० प०) परन्तु श्रीमान् जी ! विचार कीजिये :— आपका कथन तर्क रहित है, कि "भ्रममूल है इसका" यह समास स्वीकृत करने पर तो अपाय बुद्धित्व में उसका अर्थात् अपाय बुद्धि का कारणत्व है यही अर्थ निष्पन्न होता है । अपाय बुद्धि के हेतु होने पर अपाय बुद्धि साध्य नहीं रह सकती । भ्रम-मूलत्व को यहाँ पर हेतु नहीं माना है । भ्रममूलक अपाय बुद्धि में हेतु है । सामान्य हेतुभूत भ्रम में सामान्य अनिष्ट बुद्धि होती ही है ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भ्रम होगा, वहाँ-वहाँ अनिष्ट प्रतिपत्ति होगी । यह अव्यभिचारित हेतु है । इस प्रकार व्याप्ति सङ्गत होती है ।

पृ० ५२२ अनु० ३) यहाँ पर आपने आक्षेप किया है, कि भूमिका के पूर्व संस्करणों में मुद्रण दोष था । जैसे एक देशाय तथा एक देशविकारिणि यह अपपाठ था । यह अपपाठ मुद्रण दोष से सम्भव हो सकता है जैसे आपके वेदार्थ पारिजात संस्करण में पृष्ट ४६२ पर "नमित्त-ज्ञाने" पृ० ५२४ पं० २ पर

'नमित्त-ज्ञाने' पृ० ४६२ कारणत्वऽपि (५२४ पं० २) इत्यादयः अपपाठाः सन्ति।

"एकदेशविकारिणि" इत्यस्य संगत्यर्थं सप्पम्यन्तस्य शब्देति-शब्दस्याऽध्याहारो विधेलिमः ।

यदुक्तं 'एकदेश-विकारिणि' इत्यस्य स्थाने सनातनि-विदुषां परामर्शानुसारेण 'एकदेश-विकारे इति पाठः आर्यैः कृत इति मोदास्पदं भवते, परं भवन्तोऽशास्त्रीयमृत-श्राद्धादिकस्य स्थाने जीवित-श्राद्धादिकं कुतो नाङ्गीकुर्वन्ति इति तु अस्मत्खेदास्पदम् ।

इदं पाठ-परिवर्त्तनं वास्तविकमवास्तविकं वेति तु तत्त्वविद एव विदन्ति, परमिह निर्मलोक्तिरियं नूनं संघटते ।

नभो भग्नं भूत्वा भुवि नहि पतेदेतदचिरम्,
दिवान्धो ध्यात्वेदं ह्यवनतमुखश्चोर्ध्वचरणः ।
ललम्वे नो हानिर्यदि स लभते तोषमधुना,
विदन्ति प्रज्ञानाः परमखिल-वस्तुस्थितिमिमाम् ।

'कारणत्वऽपि' इत्यादि अनेक अपपाठ है । पर "एक देश विकारिणि" इस पाठ की सङ्गति के लिये सप्तम्यन्त 'शब्दे' शब्द' का अध्याहार कर लेना चाहिये ।

"एक देश विकारिणि" इसके स्थान पर सनातनी विद्वानों के परामर्शानु-सार "एक-देश-विकारे" ऐसा पाठ आर्यों ने कर लिया, यह आपके लिए प्रमोदास्पद है । परन्तु आप लोगों ने मृतश्राद्ध आदि के स्थान पर जीवित श्राद्ध आदि आज तक नहीं अपनाये और पाषाण पूजा में ही लगे रहे । यह हमारे लिए खेदास्पद है ।

यह पाठ परिवर्तन वास्तविक है या अवास्तविक, यह तो तत्त्ववेत्ता ही जानते हैं, पर आपकी प्रसन्नता पर यह निर्मलोक्ति अवश्य घटित है ।

यह आकाश टूट कर के शीघ्र ही भूमि पर न गिर जावे, यह सोचकर दिवान्ध (चमगादड़) नीचे को मुख और ऊपर को पैर करके लटक गया । हमारी इसमें कोई हानि नहीं, यदि उसकी इस कल्पना में सन्तोष मिल रहा है । परन्तु तत्त्ववेत्ता विद्वान् इसकी वस्तुस्थिति को अवश्य जानते हैं ।

(पृ० ५२२ अनु० ४) यदुक्तं "किं निराकारेण·········

शब्दानामुच्चारणं सम्भवति ?············ नित्यत्वानपायात्" इह स्थले 'उच्चारणेनाभिप्रकाशितः, इति महाभाष्यस्य अयमेवभिप्रायो यदस्माभिः प्रकाशितः न तु निराकारेण, इन्द्रियग्राह्यशब्दस्य उच्चारणस्य आवश्यकत्वात् । ईश्वरेण तु सृष्टयादौ प्रकाशिताः वेदा इति तु पूर्वमेव सुविशदं समाहितम् ।

वाक्-क्रियायाः अनित्यत्वेऽपि नित्य-शब्दार्थं-सम्बन्धानां वेदानां नित्यत्वे न क्षतिः इत्यपि पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

"एकैकवर्णवर्तिनीवाक्" इति कथनेन वाक्-क्रिया विपरिणमते, तस्या एव च अनित्यत्वं न तु वाचः । एवमेकैक-वर्ण-निर्मित-पदवाक्य कदम्बकानां वेदानामपि नित्यत्वमक्षतम् । वर्णानां विभुत्वे नित्यत्वे च नानुपूर्व्याः असम्भवः । अस्मदादि-शब्दानां भ्रम-ग्रस्तार्थानामनित्यार्थ-सम्बन्धानां नास्ति नित्यत्वाऽऽपत्तिरिति तत्त्वम् ।

(पृ० ५२३ पं० ७) आक्षे० "विनाश-रहितत्वात् शब्दो-

(पृ० ५२२ अनु० ४) 'क्या निराकार के द्वारा उच्चारित होने पर शब्दों की श्रोत्रग्राह्यता भी हो सकती है ? इस स्थल पर 'उच्चारण के द्वारा अभिप्रकाशित' इस भाष्य वचन का अभिप्राय है, हमारे द्वारा उच्चारित ताकि निराकार के द्वारा इन्द्रिय ग्राह्य शब्द का उच्चारित होना आवश्यक है । ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में वेद प्रकाश हुआ, इस पर पर्याप्त कहा जा चुका है । वाक् क्रिया के अनित्य होने पर भी नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों के नित्यत्व में कोई क्षति नहीं, यह भी कह दिया गया है ।

'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' यह कहने से वाक् क्रिया में विपरिणाम होता है, उसी क्रिया का ही अनित्यत्व होता है न कि वाणी का । इस प्रकार एक-एक वर्ण से निर्मित पद वाक्य समूह वाले वेदों का भी नित्यत्व अक्षत है । वर्णों के विभुत्व और नित्यत्व में आनुपूर्वी की भी असम्भवता नहीं है । हमारे शब्द भ्रमग्रस्तार्थ वाले हैं और उनका अनित्यार्थ सम्बन्ध है, अतः इनकी नित्यत्वापत्ति नहीं है ।

(प्र० ५२३०६७) आक्षे०—विनाश रहित होने से शब्द नित्य है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विनाश रहित यह शब्द सूत्र से असम्बद्ध है ।

नित्योऽस्ति, तदपि न युक्तं, विनाश-रहितत्वादित्यस्य सूत्राऽसम्बद्धत्वाद् व्यर्थत्वाच्च"।"

(समा०) "नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्" (पू. मी. १।१।१८) इति सूत्रे विनाश-रहितत्वादित्यसम्बद्धं नास्ति। तथा चाऽत्र 'तु' शब्देनानित्यत्व-शङ्कावारणं क्रियते, अनित्यं किं भवति? यद् विनश्यति नित्यत्वे विनाश-रहितता एव कारणमिति स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं तद्वचनं सम्बद्धमेव सर्वथा। भवतामिदं सर्वं कथनं केन सूत्रेण सम्बन्धितम्? वस्तुतो न केनाऽपि। भवान् क्वचिद् वाक्छलेन, अन्यत्र सामान्यच्छलेन अपरत्र चोपचारच्छलेन दूषितं वाक्य-जालं प्रयुङ्क्ते।

यच्चोक्तं "प्रत्यभिज्ञानेनैव नित्यत्वसिद्धिः" इति, न सम्यक्, यतः प्रत्यभिज्ञान-भावस्तु 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इत्यग्रिमस्यैव सूत्रस्य प्रतिपाद्यः न तु अस्य। एवं पूर्व-सूत्रस्य नित्यत्वापादनं निर्हेतुकं त्वद्रीत्या सिध्यति, 'प्रत्यभिज्ञानेनैव' अत्र 'एव' करणादिति। तथा च 'संख्या-भावात्' 'अनपेक्षत्वात्' इत्यादीनामपि नित्यत्व-साधक-हेतूनां वैयर्थ्या-पत्तिः। वस्तुतोऽत्र भवान् स्वाऽज्ञानेन महर्षि-जैमिनिमेव आक्षिपति।

समा०—पू० मी० के० १।१।१८ सूत्र में 'विनाश रहित होने से' यह कारण असम्बद्ध नहीं है।

क्योंकि इस सूत्र में 'तु' शब्द से अनित्यत्व की शङ्का का वातावरण किया जा रहा है। अनित्य क्या होता है? इस जिज्ञासा में यही कथन है कि जो विनष्ट होता है। नित्यत्व में विनाश रहितता ही कारण है, इस स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यह वचन सम्बद्ध है।

आपका यह सारा कथन किस सूत्र से सम्बद्ध है? वस्तुतः कहीं पर वाक्छल से, अन्यत्र सामान्य से और इतरत्र उपचार छल से दूषित वाक्जाल आप प्रयुक्त कर रहे हैं।

आपका यह कथन कि "प्रत्यभिज्ञान से नित्यता सिद्ध हो जाती है" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रत्यभिज्ञान तो इससे अग्रिम सूत्र में है, इस सूत्र का विषय नही। अर्थात् "सर्वत्र यौग पद्यात्" इस सूत्र का विषय है। आपकी दृष्टि से पूर्व सूत्र से नित्यत्व का कथन निहेर्तुक और व्यर्थ है, क्योंकि आपने "प्रत्यभिज्ञानेनैव में एव" कथन किया है। इसका अर्थ हुआ कि नित्यत्व में आपकी दृष्टि से केवल प्रत्यभिज्ञान ही हेतु होता है।

अत्रेदमपि समवधेयं यद् ऋषिणा न ह्यत्र शब्द-स्वरूप-सिद्ध्यर्थ मुच्चारणमुक्त, प्रत्युत पर-प्रत्यायनार्थमेव तद्विहितम् अतो निरर्थक एव एष ते प्रपञ्चः ।

यदुच्यते "दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वाद्" इत्यत्र षष्ठ्याः अनुपपत्तिरेव इति, परं न सा भवतः कथनमात्रेणैव अनुपपन्ना। १८८३ ईसवीय-संस्करणे सारसुधानिधि-यन्त्रालये मुद्रिते शबर-स्वामि-भाष्ये तु "परमर्थं प्रत्याययितुम् उच्चारित-मात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यान् अर्थमित्यादि-पाठो वर्त्तते, परं भवताऽयं पाठोऽन्यथा कृतः । किमेष संस्करणस्य दोषः ? उताहो 'अन्यान्' इति शब्द-विलोपनाऽभ्यासस्य ? मन्ये, उभयोरपि तात्पर्यात् ।

(पृ० ५२३ अनु० ३ पं० १६) अकिञ्चनधियस्ते तदपि न किञ्चित्, यच्चाह "शब्द-नित्यत्वं ज्ञाप्य-ज्ञापकत्वं च नोभयम्,

---

इस प्रकार "संख्या—भावात्," "अनपेक्षत्वात्" आदि सूत्रों से निर्दिष्ट नित्यता साधक हेतु व्यर्थ हो जायेंगे । इस प्रकार आप व्याज से महर्षि जैमिनि पर भी प्रहार कर रहे हैं । यह केवल आप अपने शिष्यों के प्रदर्शनार्थ तथा प्रभावार्थ जिससे कि वे समझें: कि आपकी कल्पना की उड़ान तो ऋषियों से भी आगे जाती है ।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वामी जी ने यहां पर शब्दस्वरूप सिद्धि के लिये उच्चारण नहीं कहा है, प्रत्युत दूसरे के बोधन के लिये उच्चारण किया जाता है, यह कथन उद्दिष्ट किया है । अतः आपका यह समस्त कथन प्रपञ्च है ।

यह कहना "दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्" षष्ठी की अनुपपत्ति है, यह आपके कथन मात्र से सिद्ध नहीं हो सकता । १९८३ ईसवी के मीमांसा संस्करण में जो सुधानिधि प्रेस से मुद्रित है । वहाँ शबर स्वामी के भाष्य में "न च अन्योऽन्यान् प्रत्याययितुम्" यह पाठ है, आपने 'अन्यान्' पद को निकालकर पाठ पढ़ा है, यह शब्द विलोपन का आपका अभ्यास अनुचित है ।

क्योंकि अन्य और अन्यान् इन दोनों पदों की सार्थकता है । (पृ० ५२३ अनु० ३ पं० १६) अकिंचन-मति आपने "शब्द अनित्य होता ही नहीं अन्यथा

विद्यमानतायां प्रयोजकम् ।" महाशय ! अत्र कस्य विद्यमानता अपक्ष्यते ? विद्यमान-शद्वस्य विद्यमानता तु न सम्भवति, निष्प्रयोजन-त्वात् । गोपदार्थस्यापि न, अनन्वयापत्तेः, नान्यस्य कस्यचिद् विकल्पा नुपगमात् । वस्तुतः ज्ञाप्य-ज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् अतीतानागतयोरपि शब्द-ज्ञाप्यत्वं भवत्येव ।

"क्रोडे डिम्भः उपनिष्करे डिण्डिमघोष" इत्युक्तिमनुरुध्य सान्नि-ध्येन ज्ञाप्य-ज्ञापकयोरन्वेष्टव्यत्वे अनल्पक्लिष्टं वितण्डया भवता, अनिष्टमतित्वात् । भिक्षुक ! विरम्यतां वाक्छलात् ? प्रतिपद्यस्व अर्थोपपत्तिं यद्ज्ञाप्य-ज्ञापकयोर्विद्यमानत्वं शद्वस्य नित्यत्वे सत्येव घटते इत्यर्थः ।

भवता इह तु जतुकागतिराश्रिता, पशुपक्ष्युभयगणनायै दशन-पक्ष-निदर्शनेनेव । पौराणिकेषु दोषदर्शनेन, कोविदेषु च 'नित्यत्वे सति

गो शब्द का यह अर्थ है, यह अभिज्ञान अनित्य शब्द से कैसे हो सकता है" इसे भी आपने कह दिया कि कुछ नहीं, क्योंकि आप इसका तात्पर्य नहीं समझ सके ।

यह कथन कि "शब्द का नित्यत्व, ज्ञाप्य और ज्ञापकत्व दोनों ही विद्य-मानता में प्रयोजक नहीं हैं" यह अस्पष्ट है । महाशय ! यहाँ पर आपको किसकी विद्यमानता अपेक्षित है । विद्यमान शब्द की विद्यमानता की अपेक्षा तो सम्भव ही नहीं, निष्प्रयोजन होने से । और गो पदार्थ की भी नहीं, क्योंकि संगति नहीं बैठती, तथा अन्य किसी अपेक्षा की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि विकल्प नहीं बनता । अतः शब्द के नित्यत्यव की विद्यमानता में ही ज्ञाप्य ज्ञापक भाव की विद्यमानता संभव है, यही कथन पूर्णतया संगत है । वस्तुतः अतीत और अनागत में भी शब्द ज्ञाप्यत्व होता है ।

अन्वय की दृष्टि से सानिध्य के कारण ज्ञाप्य और ज्ञापक के साथ बिद्य-मानता का अन्वय है । आप तो 'गोद में बालक और बाजार में ढिढोरा' की कहावत सार्थक कर रहे हैं, अनिष्ट बुद्धि के कारण वितण्डा से प्रेरित भटक रहे हैं । हे भिक्षुक ! अब तो वाक्छल मत करो, अर्थ की उपयुक्ता को समझने का प्रयास करो कि ज्ञाप्य और ज्ञापक की विद्यमानता शब्द की नित्यता में ही सुघटित हो होती है ।

ज्ञाप्यज्ञापक-भावोऽप्युपपद्यते इति वचनेन, एवं तु अत्र विरोधोक्त्यापि ऋषि-सिद्धान्त एवाङ्गीकृतस्तदभिप्रायकवचन-रचनया।

(पृ० ५२४ अनु० १) आक्षे०-नित्यत्व-सिद्धौ कणाद-सूत्रोद्धरणमुपहासास्पदम्, कणादेन शब्दानित्यत्वाभ्युपगमात्।'

(समा०) मस्करी सन्नपि सत्यप्रतिरोधीति गर्हणास्पदं यदयमुद्धरणं परिवर्त्य प्रवञ्चना-पूर्वकं प्रस्तौति—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति कणादमुनिसूत्रं शब्दनित्यत्वं साधयितुमुदाजहार' (भूमिकाकारः) इति। तदिह विवेचकाः निष्पक्ष-चक्षुष्काः विभावयन्तु यदिदं प्रकरणं 'वेद-नित्यत्व-विचार' इत्यस्ति। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायाश्चाविकलमुद्धरणमिदम् "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' अस्यायमर्थः, तद्वचनात्तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद् धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेद-चतुष्टयस्य प्राणाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यमिति।"

यहाँ तो आपने चमगादड़ की गति अपना ली है, जैसे वह पशुओं में गणना कराने के लिए दाँत दिखा देता है, और पक्षियों की गणना में पंख। इसी प्रकार आप आक्षेपों के उद्भावन से पौराणिकों में और ऋषि दयानन्द के उसी कथन के कुछ शब्द बदल कर "नित्यत्व होने पर ज्ञाप्य ज्ञापक भाव उत्पन्न होता है" यह कहकर अल्पज्ञ विद्वानों में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये प्रयास पर हैं। "नित्यत्व की सिद्धि में कणाद सूत्र का उदाहरण देना उपहासास्पद है, क्योंकि उन्होंने शब्द का अनित्यत्व स्वीकार किया है।

समा०—मस्करी (सन्यासी) होकरभी सत्यार्थ का विरोध कर रहे हैं, यह उपाहासास्पद है। तथा उद्धरण को तोड़-मरोड़कर प्रवञ्चना पूर्वक कणाद् मुनि प्रस्तुत कर रहे हैं कि स्वामी दयानन्द ने तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इस के सूत्र को शब्द-नित्यत्व सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया है' सदसद् विवेचक निष्पक्षता से विचार करें कि यह प्रकरण वेद नित्यत्व विचार शीर्षक से है। ऋग्वेदादि भाष्य का अविकल उद्धरण इस प्रकार है और वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि ने भी कहा है। 'तद् वचनाद्' इत्यादि, इसका यह अर्थ है कि उस धर्म और ईश्वर के वचन के कारण धर्म का ही कर्तव्यतया प्रतिपादन करने से ईश्वर के ही द्वारा उक्त होने से आम्नाय वेद चतुष्ट्य का प्रामाण्य सबको नित्य होने के कारण से स्वीकार करना चाहिये।

इह वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं नित्यत्वेन स्वीकार्यमित्येव प्रतिपाद्यमस्ति, न च शब्दनित्यत्वमेतेन साध्यते। वस्तुतस्तु अनुत्पत्तिधर्माशब्दः नित्य एव, परंयदुक्तं तेन "तत्तु धाष्ट्र्यं" कणादैः शब्दानित्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात् इति, भोः करपात्र तत्पदेन किं काणाद-सूत्रोदाहरण मिहाभीष्टं यदर्थं धाष्टर्यमिति भवान् प्रयुङ्क्ते ? परंभोः नह्यत्र शब्द-नित्यत्व-चर्चा स्वामिना कृता, प्रत्युत वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यस्य नित्यत्वेन स्वीकृतिकथनं कृतमतो भवतः स्वमनीषादौर्बल्यमेव यद् यथार्थं नावगच्छति।

किञ्च काणादसूत्रे तदिति पदेन धर्मस्य ईश्वरस्य च द्वयोरपि ग्रहणं सर्वथा समुपपद्यते। स्वामिदयानन्दस्य आर्ष-प्रातिभ-चक्षुरुन्मीलितत्वादेतदपूर्व दर्शनम्। तत्र दर्शने सूत्राणामेषक्रमो हेतुः।

'अर्थातो धर्मं व्याख्यास्यामः,' 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः,' 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति।' अत्र तत्छब्दस्य पूर्व-

---

यहाँ पर 'वेदों का प्रामाण्य नित्यत्वेन मानना चाहिए, यही प्रतिपाद्य है। शब्द का नित्यत्व इसके द्वारा साध्य नहीं। वस्तुतः अनुत्पन्न शब्द नित्य ही हैं। यह कहना कि 'वह तो धृष्टता है, क्योंकि कणादानुयायियों के द्वारा शब्द की अनित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित है' इस कथन में 'तत्' पद से क्या कणाद सूत्र की ओर संकेत किया है। महाशय यहाँ पर— ऋषि ने इस सूत्र से शब्द के नित्यत्व को साध्य नहीं किया है, प्रत्युत वेदों का प्रामाण्य नित्यत्वेन स्वीकार करना चाहिए ऐसा कहा है। यहाँ आप वेलगाम होकर धाष्ट्र्य के द्वारा यथार्थ से भी असूया कर रहे हैं।

कणाद सूत्र में 'तत्' पद से धर्म और ईश्वर दोनों का ही ग्रहण समुपपन्न है। आर्षप्रातिभलोचन होने के कारण महर्षि दयानन्द को ही इस अपूर्वार्थ के दर्शन हो सके। क्योंकि वहाँ पर सूत्रों का क्रम भी यही है—"अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः,' 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इस अन्तिम सूत्र में तत् शब्द के पूर्व परामर्शक होने से 'धर्म' इस अर्थ की भी उपपन्नता सिद्ध है।

निष्कर्ष यह है, कि ईश्वर ने सृष्ट्यादि में धर्म का वर्णन वेदों में किया है। अतः वेदों का प्रामाण्य है। प्रकृत में यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि मीमांसाकार जैमिनी के मत में अनुत्पन्न शब्द के नित्यत्व में कणाद और

परामर्शकत्वाद् धर्मार्थोपपत्तिरपि जायते। ईश्वरेण च धर्मस्य वर्णनं कृतमतएव ईश्वरप्रोक्तत्वाद् धर्मस्य आम्नायस्य चप्रामाण्यं सिध्यति। प्रकृते इदमपि अवधेयं यन्मीमांसाकारजैमिनिमते अनुत्पन्न-शब्दस्य नित्यत्वे काणादनैयायिकयोः मते कश्चन मौलिकः न भेदः, उद्भूत शब्दस्यैव आभ्यामनित्यत्वप्रतिपादनात्।

ईश्वरोक्तवेदानां तु न्यायवैशेषिकयोरपि मते नित्यत्वमस्त्येव। तथा च न्यायमते 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च शब्दानित्यत्वम्।' ज्ञानरूपवेदस्य तु अनादित्वादनैन्द्रियकत्त्वाद-कृतकत्वाच्च नित्यत्वमेव, अग्न्यादिषु ऋषिषु प्रकाशितत्वेनापि नानादित्वं विहन्यते।

न्याय-वैशेषिकाभ्यामुत्पत्तिमतः शब्दस्याऽनित्यत्वे महर्षि-पतञ्जल्यादीनां मते शब्दस्य नित्यत्वेऽपि परस्पर-शास्त्र-विरोधात् न सिद्धान्त-भेद आकलनीयः श्रुतिस्मृतिविरोधस्यैव सिद्धान्तभेद-प्रयोजकत्वात्। यस्मिन् हि विषये श्रुति-स्मृती उदासीने, तत्र सिद्धान्त-भेदो न मन्तव्यः। आप्तशास्त्राणां च शब्दनित्यत्वाऽनित्यत्व प्रतिपादन-प्रक्रियाभेद एव, न वास्तविको भेदः।

गौतम मुनि में कोई मौलिक भेद नहीं है। प्रकृत में यह भी जानना चाहिये कि जैमिनि के मत में अनुत्पन्न शब्द के नित्यत्व में कणाद और गोतम के शब्द नित्यत्व में कोई भेद नहीं, क्योंकि इन दोनों ने शब्द की अनित्यता कही है। क्योंकि उद्भूत की ही अनित्यता इन दोनों मुनियों द्वारा प्रतिपादित है।

ईश्वरोक्त वेदों का नित्यत्व तो यास्क, वैशेषिककार, के मत में भी है। न्याय में 'आदिमान्' इन्द्रिय का विषय होने और (कृत्रिम) कृतकवदुपचार होने पर तो उद्भूत शब्द की अनित्यता है। ज्ञानरूप वेद तो अनादि, अनैन्द्रि-यक और अकृतक (नैसर्गिक) होने से नित्य ही है, अग्न्यादि ऋषियों पर प्रकाशित होने से वेदों के अनादित्व का विघात नहीं होता।

न्याय और वैशेषिक द्वारा उत्पत्तिमान् शब्द की अनित्यता और महर्षि पतञ्जलि आदि की शब्द नित्यता में परस्पर सिद्धान्त विरोध नहीं समझना चाहिये। यहाँ ऐसा समझना चाहिये श्रुतिस्मृति का विरोध ही सिद्धान्त-भेद का प्रयोजक होता है परन्तु जिस विषय में श्रुति और स्मृति उदासीन हों वहाँ सिद्धान्त भेद न मानना चाहिये।

आधुनिकाः विद्वांसः प्रायेण गोतम-काणादौ शब्दस्य अनित्यत्वपक्ष-प्रतिपादकौ मन्वते। तत्रेदं जिज्ञास्यम्—यदीमौ अन्यशास्त्रकर्तृभ्यः पृथक् मतवन्तौ तदा इमौ आप्तौ, अन्ये वा शब्दनित्यत्ववादिनः ऋषय आप्ताः ? तत्रेयमेव समाधान-दिशा या चोपरि आदिमत्त्वादिति सूत्रे प्रतिपादिता।

वाग्विषये एतद्विशिष्टं वेदितव्यं यत्

परावाङ्मूल-चक्रस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया, वैखरी कण्ठदेशगा॥

इत्यादिना वाचां गम्भीरं रहस्यं प्रोक्तं, यस्यानुसन्धानं शास्त्रीय-दृष्ट्या विधेलिममपेक्ष्यते। इह पण्डितवर्यस्य श्रीमदाद्याचरण झा-महोदयस्य वचांसि संदर्भ्यैवं पल्लवितं क्रियते।

१. यच्चतुर्विधा सा वाक् यदा क्रमशः स्थिति-वशाद् वैखरीभाव-

विचारशीलों के लिये स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यह विषय और अधिक लिखा जा रहा है। क्योंकि विद्वान् लोग प्रायः महर्षि गोतम और कणाद के विषय में कहते हैं कि ये दोनों शब्द को अनित्य मानते हैं, जबकि व्यास आदि अन्य शास्त्रकार नित्य मानते हैं। तब प्रश्न उठता है कि, इनमें आप्त कौन है ? शब्द को अनित्य मानने वाले या नित्य मानने वाले।

आप्त यथार्थ वक्ता होता है। अतः दोनों परस्पर विरोधी यथार्थ वक्ता हो नहीं सकते। वहाँ पर समाधान की दिशा वही है, जो ऊपर प्रस्तुत की गई है, कि उद्भूत शब्द ही तर्क की दृष्टि से आदिमान् इन्द्रिय-विषयक और कृतक होने से नश्वर है। इस विषय में और भी लिखा जा रहा है, कि अन्य ऋषियों से इन दोनों ऋषियों के मत में भी वास्तव में भेद नहीं है केवल नित्यत्व-प्रतिपादन की प्रक्रिया का भेद है।

किञ्च वाणी के विषय में कहा गया है, कि "परावाणी मूल चक्र में, पश्यन्ती वाणी नाभिचक्र में, मध्यमा हृदयचक्र में और वैखरी कण्ठ में रहती है। इसमें वाणियों का गम्भीर रहस्य बताया गया है, जिसका अनुसन्धान शास्त्रीय दृष्टि से करना चाहिए। यहाँ पर श्री पण्डित आद्याचरण झा महोदय के वचनों से ही इस विषय को पल्लवित करते हैं।

(१) कि यह ४ प्रकार की वाणी क्रमशः स्थितिवश वैखरी भाव उद्भुत

मुद्भूत-रूपत्वं प्रतिपद्यते तदा तर्कैकलोचनेन महर्षिणा गोतमेन आदिमत्वादित्यादिहेतुभिरनित्यत्वमभ्युपगम्यते। वस्तुतस्तु यथैकस्य आकाशस्य घटगृहादिविनाशे तद्गत आकाशो नश्यति अर्थादप्रत्यक्षतामुपैति, बुद्धेरपि तथैवाऽयंशब्दः।

२. एवमेव तर्क-वितर्कस्य बुद्धिवैशद्यस्य निवेश-प्रवेशस्य च सूक्ष्मतमसाधनमिदमेव न्यायशास्त्रमित्यत्र न कस्यचिद् वैमत्यम्, अतः शब्दानित्यत्व-विषये सर्वथा वाग्विलास- रूपेण एष विषयः।

३. वेदस्य नित्यत्वमङ्गीकुर्वताऽनेन महर्षिणा परारूप-स्थित शब्दस्याऽपि नित्यत्वं मन्यते एवेति नास्ति प्रतिभावतामपरोक्षम्। अतो समेषामपि एतेषां शास्त्रकृतां नास्ति मूले भेदः कश्चन इति दिक्।

'तद्वचनाद्'० इत्यत्र 'तत्' शब्देन प्रतिपाद्यः धर्मशब्दश्चाभ्युदय-निश्रेयस-साधकः। केवलेश्वर-वचनाद् एतस्य प्रामाण्यं तु स्यादेव, परं प्रयोजन-पुरस्सरता तु दयानन्देन दर्शिताऽस्य परम-श्लाघ्या।

रूप अर्थात् श्रोत्रग्राह्यता को प्राप्त कर लेती है, तब तर्कैकलोचन महर्षि गोतम आदिमत्त्व आदि हेतुओं से अनित्य रूप में स्वीकार करते हैं। वास्तव में जिस प्रकार घट मठादि के नष्ट होने पर तद्गत आकाश जो कि महाकाश ही है औपाधिक भेद से घटाकाशादि नामों से व्यवहृत है, उसी प्रकार, परा, पश्यन्ती और मध्यमा का ही उद्भूत वैखरी रूप यह शब्द उच्चारण करने के बाद नष्ट अर्थात् अदृष्ट या अश्रोतव्य हो जाता है, वह आदिमान आदि हेतुओं से अनित्य कहा जायेगा। यही वचन मात्र अभिप्राय न्यायकार का है।

(२) इस प्रकार तर्क वितर्क के द्वारा बुद्धि-वैशद्य के निवेश और प्रवेश के लिये सूक्ष्मतम साधन यही न्यायशास्त्र है, इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। अतः शब्द-नित्यत्व विषय में सर्वथा वाग्विलास मात्र ही है।

(३) क्योंकि जब ये महर्षि वेद का नित्यत्व तो स्वीकार करते ही हैं और वेद परावाणी-स्वरूप ही हैं परावाणी अर्थात् शब्द नित्य हैं, अतः इन शास्त्रकारों में कोई भेद नहीं।

धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधक है। वेदों के केवल ईश्वर-वचन होने के कारण प्रामाण्य तो सिद्ध है, परन्तु धर्मरूप प्रयोजन परक अर्थ तो बहुत ही श्लाघनीय है। तत् शब्द से धर्म और ईश्वर दोनों का ग्रहण करने

अत्रोद्धृतस्य तदप्रामाण्यमित्यादि-न्याय-सूत्रस्य भाषान्तरकारः सूत्रमिदं 'वेद-प्रामाण्यमनृत-व्याघात-पुनरुक्ति-दोषेभ्य इति परिवर्त्त्य पठति। एतदभ्युपगमनेन तु अनेन श्रुति-सत्यार्थ-प्रत्यर्थी कश्चित्प्रच्छन्नो नूतनः पन्थाः उद्घाट्यते।

विस्मरणशील! यच्चोक्तं "गुणवद्-वक्तृकत्वेनैव तैर्वचनस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्" इति,। तत्तु असङ्गतमेव स्यात्। यदीह वचन-शब्देन वेदस्य तात्पर्यमस्ति तदा भवतामेष लेखो वे. पा. पृ. ५० गतः विरुध्यते, स च "पौरूषेये वचसि गुणवति वक्तरि तद्गुणाप-सारितदोषतया स्वाभाविकं प्रामाण्यमेव अनपोदितं तिष्ठति। न तु गुणकृतं प्रामाण्यं, गुणानां तदनङ्गत्वात्। वेदे प्रणेतुर-भावाद् दोषाणां वक्त्रधीनत्वाद् दोषाभावात्, स्वतः प्रामाण्यमेव" इति। स एव हि पौर्वापर्यविरोधः। वस्तुतोऽयं दम्भी लेखकः प्रच्छन्न-तया शास्त्रीय-सिद्धान्तानां खण्डनेन स्वपाण्डित्यातङ्कमश्रुत पुङ्गवेषु निर्बुद्धिषु प्ररोहयितु-कामः अनुमीयते यो हि :—

से यवन, ईसाई आदि मिथ्यामतों की प्रामाणिकता अपास्त हो जाती है, यवनादि मतानुयायियों द्वारा कुरान और बायबिल आदि के ईश्वर-रचित मानने पर भी उनमें 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस वाला धर्म लक्षण नहीं घटता। अतः ऋषि लोग जीवनोपयोगी धर्म का प्रवचन करने के कारण वेदों का प्रामाण्य मानते हैं।

यहाँ नास्तिकता की पराकाष्ठा है जो कि 'तदप्रामाण्यम्' इस गोतम सूत्र को भी तोड़ मरोड़ कर भाषाकार ने प्रस्तुत किया है कि "वेद का प्रामाण्य अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति के कारण है" ऐसा मान लेने पर पूर्वपक्ष में भी अनृतादि दोषों के कारण वेद का प्रामाण्य प्रस्तुत हो जाता है जो इन पाषाण बुद्धियों का वस्तुतः यह वेद के सत्यार्थ का विनाशक प्रच्छन्न मार्ग है।

श्रीमान् जी! आपको अपनी पौर्वापर्य विरोधोक्तियों का भी ध्यान नहीं रहता। यह जो आपने कहा है, कि नैयायिकों ने गुणवद् वक्तृता के कारण ही वेदों का प्रामाण्य माना है। यह सब असङ्गत हो जाता है। यदि इस वचन में वेद से तात्पर्य है, तो वेदार्थ पारिजात पृ०५०पं० १०-१२ को देखिये: जो कि उक्त लेख के विरुद्ध है "पौरुषेय वचनों में गुणवान् वक्ता के होने पर उसके गुणों में दोषों के अपसारित होने पर स्वाभाविक प्रामाण्य बना रहता

मन्यते दोषमात्रंहि, चक्षु ज्योतिष्करं तिलम् ।
आतमनश्चक्षुषो विल्वं मन्यतेऽत्यर्थशोभनम् ।।

किञ्च भवत्प्रदत्तम् इह शङ्करमिश्रोद्धरणन्तु भूमिकोक्तमेव पुष्णाति । यच्चाभिहितं "शब्दो नित्यः प्रामाण्यात्, तद्वद्वेदो नित्यः तद्वचनात्, अत्र स्वरूपाऽसिद्ध-दोषः" इति । तदसङ्गतम् न्यायशास्त्राऽनभिज्ञानात् । यतो हि पक्षे हेतोरभावे हि स्वरूपाऽसिद्धो भवति दोषः, यथा शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्, इह चाक्षुषत्वं हेतुः शब्दे नाऽस्ति तथा ईश्वरावचनत्वं वेदे नास्तीति न घटते 'तद्वचनादिति प्रामाण्यात् ? एवं नात्राऽयं दोषः ।

न चापसिद्धान्तस्तल्लक्षणस्याऽघटितत्वात्, प्रत्युत भवानत्र स्वयमेव निरनुयोज्यानुयोग-नाम-निग्रहस्थाने निगडितः ।

है" वहाँ वक्ता का गुणीकृत प्रामाण्य नहीं है, पुरुषगत गुण शब्द के अंग नहीं हैं । वेद में उसका कोई प्रणेता न होने से दोषों की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि दोष तो वक्तृगत होते हैं, अतः इनका स्वतः प्रामाण्य सुतरां सिद्ध है" यहां पर आप नैयायिकों के विरुद्ध होकर वेदों का रचयिता ईश्वर को स्वीकार नहीं करते ।

वस्तुतः करपात्री जी प्रच्छन्न रूप से सर्वशास्त्रीय सिद्धान्तों का खण्डन कर अपने पांडित्य की धाक पोगों और थोथे लोगों पर जमाना चाहते हैं । सत्य है:—पक्षपाती लोग दूसरे के नेत्रों की ज्योति के कारणभूत काले तिल को दोष रूप में प्रस्थापन करते हैं, और अपनी आंख के बिल्व सम दोष अर्थात् टेंटरे को भी शोभाजनक मानते हैं । महाराज आपका दिया हुआ शंकर मिश्र का उद्धरण भूमिका के कथन की ही पुष्टि करता है ।

यह कहना कि 'शब्द नित्य है प्रमाण होने से, उसी प्रकार वेद नित्य है ईश्वरोक्त होने से। यहाँ पर स्वरूपासिद्ध दोष है" यह असङ्गत है, क्योंकि पक्ष में हेतु का अभाव हो वहीं पर स्वरूपासिद्ध हेतु होता है। जैसे शब्द अनित्य है चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने से, यहाँ चाक्षुषत्व हेतु नहीं घटता, क्योंकि शब्द श्रवण द्वारा ग्राह्य होता है, पर वेद नित्य हैं ईश्वर द्वारा कथित होने से, जैसा कि 'तद् वचनात्, इससे सिद्ध है । फिर यह असिद्ध हेतु तो नहीं हुआ ।

फिर अपसिद्धान्त की बात कहने से प्रतीत होता है कि आप न्याय के

(पृ. ५२५ अनु. १) मन्त्रायुर्वेदेत्यादि गोतम-सूत्र (२।१।६८) प्रसङ्गे तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम् ।" इत्युक्तौ शब्दानित्यत्व-वादिनां नये दयानन्दोक्त 'नित्याना' मिति-विशेषणानुपपत्ति र्भवतीति चेन्न, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चेति सूत्रे वात्स्यायनेन मुनिना "नित्यत्वाद् वेद-वाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्य-माप्त-प्रामाण्यात्" इत्यत्र वेद-वाक्यानां नित्यत्वं तु अस्ति परं प्रमाणत्वे आप्तप्रामाण्यादित्येव हेतुः स्वीकृतो, न तु नित्यत्वमिति वेद्यम् । तस्मान्नित्यानामिति विशेषणं सूपपन्नम् । तथा च-भाष्ये मन्वन्तर युगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाऽभ्यास-प्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्" इत्यत्र आप्त-प्रामाण्यादेव प्रामाण्यं स्वीकृतम् ।

विपश्चितो विचारयन्तु यदृषिर्दयानन्दस्तु गोतममुनिनाम्न-'मन्त्रायुर्वेद'...... सूत्रं प्रस्तुत्य नित्यवेदं प्रमाणयति,परं वे० पा० लेखा कस्तु निरुक्त-सूत्रे नित्यत्वबोधक-पदाऽभावाच्च इत्यपदेशं प्रस्तौति, किं नैतद् वञ्चनम् ? न वोपहास्यम् ?

(५।२।२४) सूत्र में कहे इस अपसिद्धान्त का लक्षण ही नहीं जानते अतः इसके अभाव में आप ही 'निरनुयोज्यानुयोग नामक स्थान में आ फंसे ।

(प्र० ५२५ अनु १) आक्षेप-मन्त्रायुर्वेद इत्यादि सूत्र में 'नित्य ईश्वरोक्त वेदों का प्रामाण्य सबको स्वीकार करना चाहिए' इस भूमिका कथन में शब्द को अनित्य मानने वालों के मत में 'नित्यानाम्' यह विशेषण अनुपपन्न होगा।"

समा०—यह कथन ठीक नहीं, इस सूत्र के भाष्य में मुनि वात्स्यायन ने यहाँ वेद वाक्यों की नित्यता है और इनकी प्रमाणता आप्त प्रामाण्य के कारण है यहाँ पर वेद वाक्यों की नित्यता तो है, परन्तु वेदों के प्रामाण्य में 'आप्त प्रामाण्यात्' यह हेतु प्रस्तुत किया है, अतः ऋषि ने भी प्रामाण्य में यही हेतु स्वीकृत किया है, 'प्रामाण्य में नित्यत्व को हेतु रूप में प्रस्तुत नहीं किया अतः 'नित्यानाम्' यह विशेषण सर्वथा उपपन्न है। वस्तुतः नित्यत्व और आप्त प्रामाण्य दोनों ही हेतु यहां पर एकरूपता से उपपन्न हो सकते हैं, कोई भेद नहीं।

इस प्रकार भाष्य में भी लिखा है कि "मन्वन्तर युगान्तरों में (जो अतीत और अनागत है) सम्प्रदाय के अभ्यास के प्रयोग का अविच्छेद वेदों का नित्यत्व है" यहाँ पर आप्त प्रामाण्य से ही प्रामाण्य स्वीकृत है।

(आक्षे.) वात्स्यायनभाष्ये यच्च वक्ष्यते-'नित्यत्वाद्वेद-वाक्यानां (मीमांसाकारेणमतेऽपि) तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति उक्तं, (पृ० ५२८ पं० ३) अत्र स्वामिना (दयानन्देन) अयुक्तमितिपाठस्य स्थाने उक्तमिति अपपाठः कृतः।

(समा०) तत्र 'अयुक्तम्' इति स्थाने 'उक्तमिति पाठे अयमभिप्रायो यत् सिद्धान्तपक्षे वात्स्यायनेन मुनिना 'प्रमाणत्वे' आप्त-प्रामाण्यात्' इत्येव सिद्धान्तितत्वेन उक्तम्। प्रामाण्ये 'नित्यत्वा दिति' तु हेतुत्वेन कथनम् अयुक्तमित्येव [ऋषिदयानन्देनाऽत्र दर्शितम्। नहि अत्राऽविकलोऽक्षरशः पाठउद्धृतः, प्रत्युत-उत्तर-पक्षे साधित-सिद्धान्त एवोपन्यस्तः।

(पृ० ५२५ अनु० २) आक्षेपः—"आप्तैर्ब्रह्मादिभिः वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतो वेदानां प्रामाण्यमिति त्वदर्थस्य (दयानन्दार्थस्य) अशुद्धत्वात् तत्कथनमसङ्गतम् यतोहि वेदानां प्रामाण्यमाप्तैरङ्गीकृत-त्वान्न प्रमाणं, किन्तु आप्तोपदेशत्वादेव वचनमात्रे प्रामाण्यमिति।

विद्वान लोग विचार करें कि महर्षि दयानन्द तो गोतम मुनि के नाम से "मन्त्रायुर्वेद" सूत्र को प्रस्तुत कर नित्य वेद की प्रमाणता सिद्ध कर रहे हैं, परन्तु वेदार्थ पार० का लेखक "निरुक्त के सूत्र में नित्यत्व बोधक पद नहीं है यह आदेश प्रस्तुत कर रहा।" क्या यह प्रवञ्चना नहीं है? और क्या इनकी समझदारी उपहास योग्य नहीं है?

आक्षेप—वात्स्यायन भाष्य में "नित्यत्व से वेद वाक्यों का (यह मीमांसा-कार के द्वारा स्वीकृत होने पर भी) प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य से 'उक्त' हुआ है।" यहाँ पर स्वामी जी ने 'अयुक्तम्' इसके स्थान पर 'उक्तम्' लिखा है।

समा०—यहाँ पर ऋषि दयानन्द का यह अभिप्राय है कि सिद्धान्त पक्ष में वात्स्यायन मुनि ने 'प्रामाणिकता में आप्त-प्रामाण्यात्' यही हेतु कहा जो ठीक है और प्रामाण्य मानने में 'नित्यत्वात्' यह हेतु अयुक्त है। यहाँ पर अक्षरशः अविकल पाठ उतारना उद्दिष्ट नहीं है। केवल उत्तर पक्ष में साधित सिद्धान्त ही प्रस्तुत करना उद्दिष्ट है।

(पृ० ५२५ अनु० २) आक्षेप—'आप्त ब्रह्मा आदि ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकृत किया है, इसलिये वेदों का प्रामाण्य है" यह स्वामी दयानन्द कथित

(समा०) 'मन्त्रायुर्वेद……' अत्र आप्तप्रामाण्यात् अर्थात् पूर्वमाप्तैर्यत् प्रमाणीकृतं तदनु उपदिष्टम् इह प्रमाणानङ्गीकरणं तु न कथमपि ध्वन्यते । अतो भवत्कथनं तु अविचारचारु, तत्रेदं विचार्यं यद् एतत् प्रामाण्यमन्येषां कृते, आहोस्वित् स्वोपदेशानन्तरं स्वकृतेऽपि ? पूर्वं प्रामाण्यमनभिध्यायद्भिः पश्चात् प्रामाण्यस्वीकृत्यसङ्गतेर्न ते समग्रं कथनं संगच्छते ।

इह तु 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इत्यनुरूपं भवता एवं वदता 'यदस्माकमृषयो नाऽऽगृह्णन् कमपि स्वोपदेशान् मन्तुम्—ते समेषां सम्मुखे स्वानुभवान् उपास्थापयन्, यत्ते उचितानुचितं विविच्य गृह्णीरन् न वेति वदता वात्स्यायनमुनेरभिप्रायः कदर्थीकृतः, आप्तानां यथार्थ-ज्ञानत्वेन उचितेषु सूपदेशेषु अनौचित्याऽसम्भवात् ।

अर्थ अशुद्ध है क्योंकि वेदों का प्रामाण्य आप्तों से स्वीकृत किया है, अतएव प्रमाण नहीं माना जा सकता, किन्तु आप्तोपदेश होने के कारण से ही वचन मात्र में प्रामाणिकता है ।

समा०—'मन्त्रायुर्वेद—' इस सूत्र में 'आप्त प्रामाण्यात्' का अर्थ है कि आप्त पुरुषों ने पहले जो प्रमाणित किया, उसे फिर उपदिष्ट किया । यहाँ प्रमाणों का अस्वीकरण तो कथमपि ध्वनित नहीं होता अतः आपका कथन प्रलापमात्र है । यहाँ पर लगे हाथों यह भी विचार कर लेना चाहिये कि यह जो प्रामाण्य है वह अन्यों का अन्यों के लिये है, अथवा अपने उपदेश के अनन्तर अपने लिये भी है यदि पूर्व प्रामाण्य न माना जावे तो पश्चात प्रामाण्य की स्वीकृति तो असङ्गत हो जायेगी, अतः आपका कथन सर्वथा असङ्गत है ।

यहाँ पर 'गणेश बनाने के प्रयास में आपने बन्दर की रचना कर डाली' यह जो कि ऐसा कह रहे हैं कि हमारे ऋषियों ने अपने उपदेशों को मनवाने के लिये किसी से आग्रह नहीं किया है । फिर 'ह्रिया देयम्' 'भिया देयम्' आदि की उपदेश्यता निरर्थक ही हो जायेगी और यह कथन कि "वे ऋषि सबके सामने अपने अनुभवों को उपस्थित कर देते थे, तब शिष्य लोग उपदेशों को उचित और अनुचित विचार करके ग्रहण करे या न करे" ऐसा इस सूत्र से ध्वनित करना आपके दिमाग का दिवालियापन है, क्योंकि आपने वात्स्यायन मुनि के अभिप्राय का विनाश कर दिया । आप्तों का ज्ञान तो यथार्थ ही होगा, उनके उचित उपदेशों में अनौचित्य कदापि सम्भव नहीं । और अनाप्त शिष्य औचित्य

अनाप्तैश्च शिष्यैः औचित्यानौचित्य-सामर्थ्याऽऽकलनाऽभावाच्च न कर्त्तव्यमतिरिच्य स्वैरितोपदिश्यते क्वचित्, तस्या अनुपदेश्यत्वात्।

किञ्च कर्त्तव्य-विधानं हि द्विधा, विधिमुखेन निषेध-मुखेन च आद्येन उपादेयमन्तिमेन हेयमिति । एवं हेयमधिगन्तव्यं चोपदिश्येते तैरेव आप्तै,र्न च अनाप्ताधीनमुचितानुचित-परीक्षणं युक्तम् । मुनेस्तात्पर्यमत्र साधितेन त्वया अपध्वस्तम् । तथा च "आप्ताः खलु साक्षात् कृत-धर्माणः इदं-हातव्यं, हानिहेतुरिदं, इदमस्याधिगन्तव्यं, इदमस्याधिगम-हेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते ।" (वात्स्यायन भाष्यम्)

तेषां खलु प्राणभृतां स्वयमवबुध्यमानानां नान्यदुपदेशाद् अवबोध-कारणमस्ति । कृतकृत्यता तु नोपदेश-श्रवणेऽपि विरोचनवद् इत्यनु-सांख्यम् ।

अहो ! कान्योत्तरा धृष्टता यत् सनातनिसाधुवेशेऽयं श्रद्धालून् स्व-

---

का आकलन कैसे कर सकेंगे ? कर्त्तव्य के अतिरिक्त महर्षियों के द्वारा कहीं भी स्वेच्छाचारिता का उपदेश नहीं दिया जाता, क्योंकि स्वैरिता उपदेश्य नहीं हो सकती । कर्त्तव्य प्रवर्त्तन विधिमुख और निषेध मुख दो ही प्रकार से होता है विधिमुख से उपदेश की उपादेयता और निषेध मुख से हेयता ही उपदिष्ट होती है ।

इस प्रकार हेय और उपादेय का उपदेश उन्हीं आप्तों द्वारा उपदिष्ट होता है । उस उपदेश का उचितानुचित परीक्षण अनाप्ताधीन करना कदापि उचित व सम्भव नहीं । मुनि का तात्पर्य तो किराये पर उठे हुये मस्तिष्क वाले आपने, ध्वस्त कर दिया और साक्षात्कृत धर्मा ही आप्त कहाते हैं वे 'यह छोड़ना चाहिए, यह हानि का हेतु है, 'यह इसे प्राप्त करना चाहिये, यह इसकी प्राप्ति का हेतु है, इस प्रकार उपदेश देकर प्राणियों को अनुगृहीत करते हैं ।' (वा० भा०) उन प्राणधारियों का स्वयं ज्ञानी जनों के उपदेश के अतिरिक्त अवबोध का कोई कारण नहीं है । उपदेश सुनने पर भी कृतकृत्यता विरोचनवत् नहीं हो पाती, यह सांख्य के सिद्धान्तों से अनुगत है । अहो ! इससे अधिक और धृष्टता क्या हो सकती है कि सनातन साधुवेश में श्रद्धालु धार्मिकों को अपने पांडित्य छद्म से कुपथ पर प्रेरित करने के लिये ऋषि मुनियों के अभिप्राय को उल्टा प्रस्तुत कर रहे हैं ।

पाण्डित्यव्याजेन अपथे गमयितुं ऋषिमुन्यभिप्रेतं विपर्यासयते । तदेवं दयानन्द-व्याख्यानमेव सूत्रभाष्यानुरोधि ।

किञ्च उपदेशस्वरूपमपि निभालयतु यथा:—'अपोऽशान, कर्मकुरु, दिवा मा स्वाप्सी:, आचार्याधीनो वेदमधीष्व इत्यादावुपदेशे नोपदेश्यस्य स्वैरितानुशिष्टा । यथा च भवान् ग्राह्यतायां स्वैरितामनुमनुते, तस्माद् उपदेशो हितावहोऽनिवार्यत्वेन ग्राह्य एव, न तु भागत्यागलक्षणाऽत्र संघटते ।

(पृ० ५२६ अनु० १) (पू० प०)—अत्र मन्त्रायुर्वेद०' इत्यादि सूत्र प्रसङ्गे असङ्गतं वक्तुर्भवतः आक्षेपद्वितयम् तथाहि:—

१. मन्त्राणामित्यस्य विचाराणामित्यर्थे भाष्यविरोधः ।

२. सत्यत्वहेतुना वेद-प्रामाण्यसिद्धि-चेष्टाऽन्योन्याश्रयदोषदूषिता, यतः सत्यत्वे सिद्धं प्रामाण्यं प्रामाण्ये च सिद्धे सत्यत्वं सिध्यतीति ।

(उ० प०) १. अस्मिन्नेव न्याय-सूत्रे (२।१।६७) मन्त्रेतिपदेन

अब निष्पक्ष विद्वान इस निश्चय पर अवश्य पहुंचेंगे कि महर्षि दयानन्द-कृत व्याख्यान ही सूत्र और भाष्य के अनुरूप है । साथ ही आप अपने मान्य ग्रन्थों में उपदेश का स्वरूप भी देखिये— 'चन्द्र-सूर्य ग्रहण में 'तीर्थ में, सिद्ध क्षेत्र मे, शिक्षालय में मन्त्र-मात्र का प्रकथन ही उपदेश कहाता है ।' जैसे आचमन करो, कर्म करो, दिन में न सोओ, आचार्य के अधीन रहकर वेद पढ़ो ।' इत्यादि उपदेश में उपदेश्य ब्रह्मचारी के लिये स्वेच्छाचारिता कहाँ है ? कि तुम इस उपदेश में जो समुचित हो उसे मानो और उस पर आचरण करो तथा जो उचित नहीं उसे न मानो । इसलिये उपदेश तो हितकारक ही होता है और उसे ग्रहण ही करना चाहिए, यहाँ पर भागत्याग लक्षणा अर्थात् कुछ मानो और कुछ न मानो यह घटित नहीं होती ।

(पृ० ५२६ अनु०१) पू० प० यहाँ पर मन्त्रायुर्वेद सूत्र प्रसंग में 'असङ्गत' कहने वाले आपके दो आक्षेप हैं । १. 'मन्त्राणाम्' इसका विचार अर्थ करना भाष्य का विरोध है ।

२. सत्यत्व हेतु से वेद के प्रामाण्य की चेष्टा अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है क्योंकि सत्य सिद्ध होने पर प्रामाणिकता होगी और प्रामाणिकता होने पर सत्यत्व की सिद्धि होगी ।

विचार इत्येवार्थो गृह्यते न तु ऋगादिमन्त्रास्तेषां प्रामाण्यस्येह साध्य-विषयत्वात् । अतएव सत्य-पदार्थविद्या-प्रकाशकाणां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन हेतुना प्रामाण्यं भवतीति कथितमृषिणा । विचारार्थे तु मन्त्र-शब्दस्य बहुत्र प्रयोगो दृश्यते, यथा 'प्रभावोत्साह मन्त्रजाः शक्तयः' 'तस्य संवृतमन्त्रस्य' 'मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य संयुतः' (म०७।५८) 'मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः' (म.७।१४६) ।

किञ्च ऋषि-व्याख्याने—भाष्य विरोधः कथमिति न दर्शितम् ।

२. भवन्मुखं हि अवलगमिति किमपि ब्रूताम्

एतत् सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायन-मुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् । द्रष्टृप्रवक्तृ सामान्याच्चानुमानं य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनामित्यायुर्वेद-प्रामाण्यवद् वेद-प्रामाण्य मनुमातव्यमिति नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यादित्युक्तम् ।

उ० प०—१ इस न्याय सूत्र में मन्त्र इस पद का अर्थ विचार ही ग्राह्य है, न कि ऋगादि वेदों के मन्त्रों का ग्रहण ।

क्योंकि ऋगादि मन्त्रों का प्रामाण्य तो यहाँ साध्य ही है । इसीलिये जैसे सत्य पदार्थ विद्या-प्रकाशक मन्त्रों का अर्थात् विचारों का सत्य होने से प्रामाण्य होता है, यह ऋषि ने कहा है । विचार अर्थ में मन्त्र शब्द का बहुधा प्रयोग भी होता है, जैसे—प्रभाव, उत्साह और मन्त्रज अर्थात् विचारज शक्तियाँ 'तस्य संवृत मन्त्रस्य' तथा मनु के ७।५८ श्लोक और ७।१४६ श्लोक में मन्त्र का अर्थ विचार है। अतः मन्त्र का अर्थ विचार नहीं होता, यह कथन निर्मूल है ।

ऋषि दयानन्द के व्याख्यान में भाष्य का विरोध कैसे है, यह नहीं बताया। भाई आपके मुख में सम्प्रति कोई लगाम तो है नहीं, जो चाहो सो कहो ।

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने प्रतिपादन किया है । द्रष्टा और प्रवक्ता के समान होने से अनुमान होता है जो वेदार्थों के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि के भी, अतः आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान वेदों का भी प्रामाण्य जानना चाहिये नित्य वेद वाक्यों के आप्त प्रामाण्य होने से वेदों का प्रमाणत्व कहा गया है इसका आशय यह है कि सर्वथा आप्त परमेश्वर से कहे वेदों का सभी आप्त पुरुषों ने प्रामाण्य माना है अतः वेद स्वतः प्रमाण हैं ।

अस्यायमाशयः ''''' तथा सर्वथाऽऽप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैःप्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वात् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम् ।
नेह च अन्योन्याश्रयदोषो यतो हि नहि सत्यहेतुदानेनप्रामाण्यकरणचेष्टा, 'निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' (सां ५।५१) अर्थात् ईश्वरस्य स्वविद्या शक्ति सामर्थ्येन वेदानामृषि-हृदयेषु अभिव्यञ्जनात् स्वतः एव प्रामाण्यं नित्यत्वं च सिद्धम्, अतः स्वयमेव भवान् निरयोज्यानुयोगेन निगृहीतः ।

(पृ. ५२६ अनु०) वेद-प्रामाण्ये "मन्त्रायुर्वेद, इति सूत्रं स्वामिना समुदाहृतं, परमार्थाविबोधनासमर्थस्य भवतः कृते तन्निरर्थकमेव जातम् ।

ननु 'स्थालीपुलाक-न्यायेन अन्य-पुलाक-प्रत्यक्षताऽर्हत्वाद् वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षवददृष्टार्थ-विषयस्य वेद-भागस्य तथा प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात्" एतदुदाहरणस्यासङ्गतिरिति चेन्न, वेदानामपि योगिनां योगजप्रत्यक्षत्वात् । किञ्च 'लीनवस्तुलब्धातिशय-सम्बन्धाद् वाऽदोषः, (सां. १।९०।९१) इति । अपि च 'दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनऽदृष्टार्थो

अन्योन्याश्रय दोष इसलिये नहीं कि यहां सत्य हेतु देने से प्रामाण्य करने की चेष्टा नहीं है । क्योंकि निज शक्त्यभिव्यक्ति से स्वतः ही प्रामाण्य है ईश्वर के अपने सामर्थ्य से ऋषि हृदयों में वेदों की अभिव्यक्ति करने से स्वतः प्रमाण होने पर सत्यत्व सिद्ध ही है, फिर अन्योन्याश्रय दोष है भी नहीं । अतः आप स्वयं ही 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रह स्थान में आ पड़े ।

(पृ० ५२६ अनु० २) महर्षि गोतम ने २।१।६८ सूत्र को वेद प्रामाण्य में प्रस्तुत किया है, उसे ही स्वामी दयानन्द ने यहां उद्धृत कर दिया, लेकिन वास्तविक अर्थ समझने की तो स्वयं में शक्ति नहीं, अतः तुम्हें सब कुछ निरर्थक सूझ रहा है ।

शङ्का—स्वामी दयानन्द ने जो 'मन्त्रायुर्वेदवत्' यह उदाहरण दिया है । मन्त्र तथा आयुर्वेद में एक देश का प्रामाण्य देखकर उनके भाग का भी प्रामाण्य स्थाली पुलाक न्याय से ही कहना होगा ।

जैसे—स्थाली के कतिपय पुलाक (चावल कण) के समान उसके अन्य पुलाक भी प्रत्यक्ष करने योग्य रहते हैं, किन्तु वेदों में वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि वेदोक्त एक देश जैसा प्रत्यक्ष है, वैसे वेद का अदृष्टार्थ विषय अन्य भाग का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं ।

वेदभागोऽनुमानतव्यः प्रमाणमिति । आप्त-प्रमाणस्य हेतोः समानत्वादिति । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत्समानमिति वात्स्यायनभाष्यम् इति प्रमाणाच्च वस्तुतो नावश्यकता ऽन्यपुलाकप्रत्यक्षताऽपेक्षिणः । अथवा न्याये विद्यमाने स्थाल्यां यथैकः पुलाको दृष्टः, परमन्ये न दृक्पथमवतीर्णाः अपरीक्षिता सन्तोऽपि पक्वा अनुमीयन्ते तथैवाऽत्रापि । आयुर्वेद-शास्त्रं हि नाम अथर्ववेदस्य उपाङ्गम्, यथाह भगवान् सुश्रुतः 'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य'' मन्त्रेषु चायुर्वेदः प्रत्यक्षरूपेण उपदिष्टस्तस्य च प्रामाण्यं लोक-सिद्धम् । तथैव अतीन्द्रिय-विज्ञान-प्रतिपादकस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यं, प्रत्यक्ष-विषयभूतायुर्वेदवत् ।

(पृ- ५२७ अनु. १) इदं तु सत्यं यन्मन्त्ररूपा एव वेदाः, परमेकतस्तु भवान् कथयति 'कस्य वेदोक्तार्थस्य प्रत्यक्षता' ? अपरतः प्रस्तौति

समा०—उक्त कथन सत्य नहीं, क्योंकि योगियों के लिये वेदों का भी योगज प्रत्यक्ष है । सां० १।९०-९१ सूत्रों में अतीतानागत तथा व्यवहित विषयों के प्रत्यक्ष करने के लिये योगी की इन्द्रियों में योगबल से दिव्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसे सब प्रत्यक्ष हो जाता है और भी देखिये—"दृष्टार्थ आप्तोपदेश से आयुर्वेद में अदृष्टार्थ वेद भाग का भी प्रमाण अनुमानमन्य है, आप्त प्रमाण का हेतु लौकिक शब्दों में भी समान है" (वा. भा.) से । इस प्रमाण से वास्तव में तुम्हारा स्थाली पुलाक न्याय जो प्रत्यक्षता अपेक्षी है वह यहां घटित ही नहीं होता । अथवा इस न्याय की विद्यमानता में स्थाली में जैसे एक पुलाक देख लिया लेकिन अन्य तो नहीं देखे गए हैं, उसी प्रकार अदृष्ट होते हुए भी अन्न के पके हुए होने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी घटित है । आयुर्वेद शास्त्र तो अथर्ववेद का उपाङ्ग है । जैसा कि भगवान सुश्रुत ने कहा है 'इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' मन्त्रों में आयुर्वेद प्रत्यक्ष रूप से उपदिष्ट है । उसका प्रामाण्य लोक सिद्ध है । उसी प्रकार अतीन्द्रिय विज्ञान प्रतिपादक वेद भाग का भी प्रामाण्य प्रत्यक्ष-विषय-भूत आयुर्वेद के समान है ।

(पृ० ५२७ अनु०१) यह तो सत्य है कि मन्त्र रूप ही वेद हैं । परन्तु एक ओर तो आप पूछते हैं कि किस वेदोक्त अर्थ की प्रत्यक्षता है ? दूसरी ओर आप आक्षेप करते हैं कि "स्वामी दयानन्द के मत में अग्निहोत्रादि का भी, वायु

यत् स्वामी दयानन्द-मते 'अग्निहोत्रादीनामपि वायुशुद्धि-रूप-दृष्ट फलस्यापि अङ्गीकारात्'। अग्रे ब्रूते 'नापि कश्चिददृष्टार्थको वेद-भाग स्त्वन्मते' सम्प्रत्येव च प्रत्यपादि 'वेदोक्तार्थस्यैक-देशप्रत्यक्षवददृष्टार्थ-विषयस्य वेदभागस्य प्रत्यक्षत्वाऽभावात्'।

भोः कापालिक ! कीदृशोऽयं भवतो वदतो-व्याघातो मानसो व्यामोहश्च ?

यदुक्तं "चित्रकारीर्यादिकर्मणां प्रत्यक्ष-फलता तु ब्राह्मण-भागमपि वेदत्वेन मन्यमानानां मते एव, न त्वन्मते ब्राह्मणं वेदः। विधेयश्च केवलं ब्राह्मणेष्वेव" इति। तदेतत्तु प्रलापमात्रमेव भवतः। कारीर्या वृष्टि-कामो यजेत (मैत्रा. सं. २।४।८) इत्यादिप्रमाणोपलम्भात्। यदुक्तं च "त्वदभिमतेषु मन्त्ररूपेषु वेदेषु विधानाऽभावात्" इति विषये इदमे-वोच्यते यन्मन्त्रा अभिधायकास्तु सन्त्येव; परं विधीनामसत्त्वेऽभिधाय-कत्वेऽवैदिकत्वमापतेत् तथा च 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः' (मीमां. २।१।३२) 'अत्र बसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' अयं मन्त्रः कर्म-विधायकोऽपि सन् न ब्राह्मणगतः। आधुनिका अनधिगत-शास्त्रतत्त्वज्ञाः

शुद्धिरूपदृष्ट फल स्वीकार किया गया है।" पुनः कहते हैं—"स्वामी दयानन्द के मत में कोई वेद भाग अदृष्टार्थक नहीं है। और अभी-अभी कहा है कि "वेदोक्तार्थ के एक देश प्रत्यक्ष के समान अदृष्टार्थ विषयक वेद भाग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।"

हे कापालिक। यह आपका सर्वथा वदतो व्याघात तथा उन्मत्त प्रलाप ही है।

यह कहना कि—"चित्रकारीरी आदि कर्मों की प्रत्यक्षफलता तो ब्राह्मण भाग को भी वेद रूप में मानने वालों के मत में ही है न कि तुम्हारे (स्वामी जी के) मत में ब्राह्मण वेद हैं और विधियां केवल ब्राह्मणों में ही हैं" यह सब आपकी बकवास है। 'कारीरी से वृष्टि इच्छुक हवन करें' मै० सं० २।४।८ 'कारीरी के समान वपन करू' इत्यादि प्रमाण से।

यह कहना कि 'तुम्हारे अभिमत मन्त्र रूप वेदों में विधियों का विधाना-भाव है' इस विषय में यह उत्तर पर्याप्त होगा कि आपके मत में मन्त्र अभि-दायक तो हैं ही, परन्तु विधियों के विधानाभाव में अभिधायकता मे अवैदिकत्व

केचन यजुषश्चतुर्विंशाध्यायं ब्राह्मणभागं मन्यन्ते। यजुर्भाष्यकृतोव्व-टेनाऽपि भूमिकायां प्रदर्शिताश्चैते मन्त्रभेदाः। तत्र 'विधिरपि' इति न्यायविदः पठन्ति :—"विध्यर्थवाद, याच्ञाशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवाह्लि-काः" इत्यादिभेदाः।

विधिर्यथा :—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते' (यजु. २४।१) शवरभाष्ये-ऽपि आशीरादयस्त्रयोदश मन्त्रभेदाः प्रदर्शिताः। तथा च मीमांसा-यामपि "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मी. २।१।३१)' इह यद्यपि विधिमन्त्रयोरेकस्यैव वेद-शब्दस्य वाच्यता तथाऽपि द्वयोरपि अर्थभेदः। यतो हि शब्द-सामर्थ्येन विधेरर्थः विधा-नम्। मन्त्रस्यार्थः अभिधानम्। वेद-वाक्यानि चापि कर्मणां विधानं कुर्वते, यथा :–'समिधाग्निं दुवस्यत।' घृतं तीव्रं जुहातेन।' (यजु.३।२)

आधुनिकैष्टीकाकारैरेष महाननर्थकरो दुष्प्रचारः कृतः यन्न मन्त्रा विधायकाः, केवलमभिधायिका एव। वेदस्यैव भागो ब्राह्मणं तच्च वि-

---

मानना पड़ेगा। जैसा कि 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या.' (मीमांसा २।१।३२) में 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" यह मन्त्र कर्म-विधायक है, पर वह ब्राह्मण का नहीं।

शास्त्र के वास्तविक तत्व को न समझकर कई आधुनिक लोग यजुर्वेद के २४ वें अध्याय को ब्राह्मण-भाग मानते हैं। यजुर्वेद का भाष्य करने वाले उब्वट ने भी भूमिका में मन्त्रों के निम्न भेद प्रदर्शित किये हैं, वहां पर विधि भी एक भेद है।

"विध्यर्थवाद याच्ञाशीः स्तुति प्रैष प्रवाह्लिकाः।" इत्यादि। विधि जैसे—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते (यजु० २४।१) शवर-भाष्य में भी आशी आदि १३ मन्त्र-भेद प्रदर्शित किये हैं और मीमांसा २।१।३१ में यद्यपि विधि और मन्त्र एक ही शब्द के वाच्य हैं, तथापि दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द सामर्थ्य में विधि का अर्थ 'विधान' और मन्त्र का अर्थ 'अभिधान' पाया जाता है। वेद वाक्य भी कर्मों का विधान करते हैं।

'समिधा से अग्नि को प्रचण्ड करो, तीव्र घृत की आहुति दो' (यजु०३।२)

आधुनिक टीकाकारों ने यह महान् अनर्थ कर दुष्प्रचार किया है कि मन्त्र विधायक नहीं है। केवल अभिधायक ही है और वेद का ही भाग ब्राह्मण है,

धायकम् अतो वेदाः ब्राह्मणान्यपि इति । परमेतन्मतमशास्त्रीयं जैमिनि-तात्पर्य-विरोधात् । तथा च :—

यद्यपि विधिमन्त्रौ वेदशब्दवाच्यौ तथापि 'विधि' शब्देन मंत्राति-रिक्तब्राह्मण-वाक्यग्रहणं न भवेदित्युक्तविधिवाक्यानामपि मन्त्रत्व-कथनं क्रियते। "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" (मी० २।१।३२) इत्यनेन यानि वेदवाक्यानि अग्निहोत्रादि-कर्म-विधायिकानि, सिद्धार्थाभिधायिकानि च, तेषामुभयार्थकानामेव मंत्रसंज्ञैव, ननु मन्त्राः अभिधायका एव केवलं, न विधायकाः, ब्राह्मणानामेव विधायकत्वादिति चेन्न, जैमिनि-सूत्रकारस्य तदाशयस्य सर्वथा विपरीतत्वात् ।

यदि सूत्रकृतो ब्राह्मणानामेव विधायकत्वाभीष्टिरभविष्यत्तदा "तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः" इति स्थाने तदभिधायकेषु मन्त्राख्याः इत्यरचयिष्यत् : अतो विधिशब्देन नाऽत्र ब्राह्मण-ग्रहणमभीष्टम्, किंतु ब्राह्मण-परिव्राजक-न्यायेन संहिताया एव विधिमन्त्रेति भेद-द्वयम-भीप्सितम् ।

जो विधायक है । इसलिए वेद ब्राह्मण भी है। लेकिन यह मत शास्त्र से सम्मत नहीं है, इसमें जैमिनि का भी विरोध है ।

यद्यपि विधि और मन्त्र दोनों ही-वेद-शब्द वाच्य हैं, तथापि विधि शब्द से मन्त्रातिरिक्त ब्राह्मण वाक्यों का भी ग्रहण न होवे, अतः उक्त विधि वाक्यों का भी मन्त्रत्व कथन किया जा रहा है । तच्चोदकेषु मन्त्राख्या.' मी० इससे जो वेदवाक्य अग्नि होत्रादि कर्म विधायक हैं और सिद्धार्थाभिधायक भी हैं उन उभयार्थकों की मन्त्र संज्ञा है।

अतः यह भी नहीं कहना चाहिए कि मन्त्र केवल अभिधायक ही है और विधायक नहीं है तथा ब्राह्मणों का ही विधायकत्व है, ऐसा कथन सूत्रकार जैमिनि के आशय के विपरीत है ।

यदि सूत्रकार को ब्राह्मणों का ही विधायकत्व अभीष्ट होता, तो 'तच्चोद केषु' के स्थान पर 'तदभिधायकेषु' यह पाठ करना अधिक ठीक था, जो नहीं किया । अतः विधि शब्द से यहां ब्राह्मण ग्रहण अभीष्ट नहीं, किन्तु ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से संहिता के ही विधि और मन्त्र दो भेद अभीप्सित हैं ।

अधुनातनाष्टीकाकृतः स्वपक्षपुष्ट्यै "तच्चोदकेषु" इति पदस्य विवरणं तदभिधायकेषु, इति कुर्वन्तस्तु भ्रान्ताः, यतोहि नहि शब्दशक्त्योरुक्तार्थलाभः । मुख्यार्थे संभवे लक्षणावृत्त्या गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । अपरञ्च परःसहस्रवाक्यानां कर्मविधायकानां संहितासु समुपलम्भात् । तदा विधिशब्देन संहिताग्रहणमकृत्वा मुख्यार्थं परित्यज्य लाक्षणिकार्थस्य ग्रहणे नौचित्यम् । आधुनिकटीकाकृतां ब्राह्मणानां वेदाभिधेयत्वे सर्वथाऽयुक्तः प्रयासः । अतो महर्षिरसूत्रयत् "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (मी० ··) इत्यनेकैतरेयादिग्रन्थानां ब्राह्मणसंज्ञा प्रतिपाद्यते । निष्कर्षोऽयं शेषिणां मन्त्राणां शेषाः ऐतरेयादयो व्याख्यान-रूपाः ग्रन्थाः, । अपरंच कात्यायनेन (का० श्रौ० सू० १।८।१७, १८) इति सूत्रयोः ब्राह्मणोच्चारणे भाषिक-स्वर विधानम् अपि तेषामवेदत्वं प्रतिपादयति ।

(पृ० ५५७ अनु० २) यदुक्तं "वेदानां नित्यत्व-साधन-प्रसङ्गे प्रामाण्य-साधनमप्रकृत-प्रक्रिया" इति दोषारोपणं तु मिथ्यैव, प्रस्तुतस्य पौर्वापर्याऽनालोचनात्, यतोहि महर्षिणा युक्त्या सर्वप्रमाणैश्च वेदानां नित्यत्वमेव साधितं मुख्यत्वेन, न त्वानुषङ्गिकापतितं प्रामाण्यप्राधान्येनोपपादितम् ।

जिससे अधुनातन टीकाकार अपने पक्ष की पुष्टि के लिए 'तच्चोदकेषु' इस पद का 'तदभिदायकेषु' यह अर्थ करते हुए भ्रान्त हुए हैं, क्योंकि शब्द शक्ति से इस अर्थ की सिद्धि नहीं होती, कारण यह है कि मुख्यार्थ सम्भव होने पर लक्षणा-वृत्ति से गौण अर्थ का आश्रय लेना अयुक्त है । दूसरे, संहिताओं में सहस्रों वाक्य कर्म विधायक मिलते हैं, तब विधि शब्द से संहिता ग्रहण न करके मुख्यार्थ छोड़ लाक्षणिकार्थ ग्रहण करने में कोई औचित्य नहीं । आधुनिक टीकाकारों का ब्राह्मणों को वेद कहना सर्वथा अयुक्त प्रयास है । इसीलिये महर्षि ने 'शेषे ब्राह्मण शब्दः' सूत्र रचकर अनेक ऐतरेयादिग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा प्रतिपादित की है । निष्कर्ष यह है कि शेषी मन्त्रों के शेष ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ हैं । दूसरे वात्स्यायन के सूत्रों में ब्राह्मणों के उच्चारण में भाषिक स्वर का विधान भी ब्राह्मण ग्रन्थों का अवेदत्व सिद्ध कर रहा है ।

(पृ० ५२७ अनु० २) (यह कहना कि 'वेदों) के नित्यत्व-साधन प्रसङ्ग में' प्रामाण्य सिद्धि करने लग जाना अप्रकृत प्रक्रिया है' आपका यह दोषारोपण

उपसंहारे चापि "एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्यानादेर्नित्यस्य सत्य-सामर्थ्येश्वरस्य सकाशात् वेदानां प्रादुर्भावात् तस्य ज्ञाने सदैव वर्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वञ्चैतेषामस्तीति सिद्धम्" इति स्पष्टतया प्रतिपादितम्। नित्यत्वे साध्ये सत्यत्वम् ब्रह्माद्याप्तोक्तत्व-मिति समानार्थ एव हेतुर्न भिन्नार्थकः। विनायक-रचनादृष्टान्तस्तु भवत्सु प्रतिमापूजार्पितमतिषु एव संघटते। तदेवं नेहाप्रकृत-प्रक्रिया-दोषो नचाप्युपक्रमोपसंहार-विरोधः।

(पृ० ५२८ अनु० १) महर्षिदयानन्देन वेदनित्यत्त्व-विचारे साध्ये प्रासङ्गिकप्रामाण्यपाठोऽप्युद्धृतः। तत्प्रामाण्ये यन्मुनिवर-वात्स्यायन-भाष्यमुद्धृतम् तत्तावदेव यावदत्र तन्मतेन प्रामाण्य-प्रतिपादनाय आवश्यकम्। मीमांसकैर्वेदानां प्रामाण्यं 'नित्यत्त्वात्' मन्यते, गोतमेन चात्र 'आप्त-प्रामाण्यात्' इति मन्यते, अतः "नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यादिति" अवतरणमेवाविकलं गोतम

सर्वथा निर्मूल हैं, क्योंकि प्रस्तुत का पौर्वापर्यालोचन आपने नहीं किया।

क्योंकि युक्ति और सब प्रमाणों से वेदों का नित्यत्व ही मुख्यतया साधित है, आनुषङ्गिकापतित प्रामाण्य का प्रतिपादन प्रधानतया नहीं किया गया है।

उपसंहार में भी देखिये—'एवंभूत सदा निर्विकार स्वरूप अनादि, नित्य, सत्यसामर्थ्यवान् ईश्वर के सकाश से वेदों का प्रादुर्भाव होने से और ईश्वर के ज्ञान में' सर्वदा वर्तमान रहने से वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व सिद्ध है।" ऐसा प्रतिपादित करने से नित्यत्व की साध्यता में सत्यत्व या ब्रह्माद्याप्तोक्तत्व हेतु समानार्थक है विपरीतार्थक या भिन्नार्थक नहीं' 'विनायकं प्रकुर्वाणः, का दृष्टान्त तो आप जैसे जड़-पूजार्पितमतियों पर ही घटित है।

अतः आपका आरोपित अप्रकृत-प्रक्रिया दोष कदापि नहीं तथा उपक्रमोप-संहार विरोध भी नहीं।

महर्षि दयानन्द ने वेद-नित्यत्व-विचार साध्य में प्रसङ्ग-प्राप्त वेदों का प्रामाण्य सम्बन्धी पाठ भी दिया। उस प्रामाण्य में जो मुनिवर वात्स्यायन का भाष्य उद्धृत किया है, वह उतना ही अंश उद्धृत किया है, जितना कि स्वामी जी की सम्मति में प्रामाण्य-प्रतिपादन के लिये आवश्यक था। मीमांसक लोगों ने 'वेदों के प्रामाण्य में' नित्यत्व हेतु दिया और गोतम ने 'आप्त प्रामाण्यात्' हेतु दिया। अतः "नित्यत्वाद् वेद-वाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्य

मतं प्रस्तोतुं पर्याप्तं मन्यमानो महर्षिः अपेक्षितांशमेवोदधरत्। तात्पर्यमदोतदुद्धरणस्य "मीमांसकैर्नित्यत्वाद् हेतोर्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वं स्वीक्रियते न तस्माद्धेतोर्गोतमेन। अनेनैव हेतुना उक्त-मीमांसकमतस्यायुक्तमित्यनन्तरपठितभाष्येण अयुक्तता प्रति-पादिता। मुनिवात्स्यायनेन तु वेद-प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यादेवेति सिद्धान्तितम्, अतः श्री दयानन्देन स्वामिनोक्तम् "आप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्" इति।

इह करपात्र-महोदयः स्वकीयं कपटपाटवं स्वामि-दयानन्दे समारोपयति यत् स्वामिना वात्स्यायन-पूर्वपक्ष-वाक्यमुत्तर-पक्षत्वेनोपन्यस्तम्, तच्च "अयुक्तमित्यस्य स्थाने उक्तम् इति विपरीतमुपन्यस्तम्" इति।

महोदय! वात्स्यायन-मते 'तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्यस्य पूर्वपक्षवाक्यत्वासम्भवः, तस्य' सिद्धान्त-पक्षत्वात्। अतो मिथ्यारोप-

---

माप्त प्रामाण्यात्' यह अवतरण ही गोतम के अविकल मत को प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त है, ऐसा मानकर महर्षि दयानन्द ने अपेक्षितांश उद्धृत किया है। इस उद्धरण का तात्पर्य है कि जिस हेतु को प्रामाण्य में मीमांसक मानते है, गोतम उस हेतु से प्रामाण्य प्रस्तुत नहीं करते। इसी से तो उक्त मीमांसक मत की अयुक्तता 'अयुक्तम्' के अनन्तर पाठ से प्रतिपादित की गई है। मुनि वात्स्यायन ने वेद-प्रामाण्य का आप्त-प्रामाण्य हेतु देकर ही सिद्धान्तित किया है। इसीलिये स्वामी जी ने 'आप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणम् इति बोध्यम्' ऐसा कहा।

यहाँ पर करपात्र महोदय ने अपना कपट-पाटव स्वामी दयानन्द पर आरोपित किया है कि स्वामी जी ने वात्स्यापन का पूर्वपक्ष ही सिद्धान्तपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर दिया कि 'अयुक्त के स्थान में' 'उक्त' यह पाठ बदल दिया। महोदय! वात्स्यापन के मत में 'उनका' प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य के कारण है,, यह कभी पूर्वपक्ष हो ही नहीं सकता, प्रत्युत यह सिद्धान्त पक्ष है। अतः यह आरोप मिथ्या है। सच है आप दूसरे के नेत्र का तिल देखते हैं; पर अपनी आंख का ताड़ नहीं, जो कि आप अपने अनुवाद के साथ-२ वाक्य-समूह ही निगल लिये। एक 'अयुक्त' शब्द के युक्ति-युक्त अनुद्धरण पर धरती सिर पर उठा रक्खी है। पर हमारी शब्द नित्यता बड़ी बलिष्ठ है, जो

एव एषः। "परनेत्रे तिलं पश्यन् स्वीयं तालमुपेक्षते इति सूक्तिम् अनुसृत्य भाषान्तरकारेण सह भवता तु वाक्य-कदम्बकमेव कवली-कृतम्। एकस्य 'ग्रयुक्तम्' इति शब्दस्य युक्ति-युक्तोद्धरणे धरणी एव शिरसोद्धृता। परम् अहो नो बलीयसी शब्द-नित्यता या त्वद्-शनावलिर्चविता गलबिलाधः-संयोगम् आपादिताऽपि वात्स्यायन-भाष्ये पुनरुज्जीवितैव यथा—

"नानित्यत्वे वाचकत्वम् इति चेन्न, लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्या इति चेन्न" इति। तत् किन्नेदं कपटपाटवमज्ञानविजृम्भि-तम् वा ?

"नानित्यत्वे वाचकत्वमिति खण्डने, अनाप्तोपदेशादर्थविसम्वादो नोपपन्नः," इतिहेतोरुपन्यासादनर्थ-प्रसवः, महदाश्चर्यञ्च, यदेतावान् पाठ-विलोपो भवताप्युपेक्षितो दर्शनाचार्येणापि अदर्शन-मिव कल्पितम् लोक-लोचनेषु अनर्थ-धूलि-राशिमुपक्षिप्य। परम्

ग्रापकी दशनावली से चर्वित होकर भी गलविल के नीचे निगली हुई भी जीवित ही बच गई। आप यहाँ जिस ग्रंश को निगल कर चबा गये है, वह है "नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेन्न लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्याइति चेन्न इति" क्या यह ग्रापका प्रवञ्चना-चातुर्य अथवा अज्ञान विजृम्भण नहीं है ? दूसरे 'ग्रनित्यत्व में वाचकत्व नहीं होगा' इसके खण्डन में ग्रनाप्तोपदेश से अर्थ का विसंवाद उपपन्न नहीं है, यह हेतु उपस्थापित करके महान् ग्रनर्थ कर रहे हो। महान् ग्राश्चर्य है कि इतना बड़ा पाठ-विलोप ग्राप द्वारा उपेक्षित होकर भी दर्शनाचार्य के द्वारा भी दर्शन का अङ्ग न मानकर लोगों के लोचनों में धूल झोंककर अदृष्ट ही बना रहा। शास्त्र ने ठीक ही कहा है कि जिसे अन्धे न देख सकें, वह ग्रांख वालों को भी दिखाई न दे यह युक्ति नहीं बन सकती, ग्रतः स्वामी दयानन्द के अनुयायी सूक्ष्म विवेचक हम लोग तो देखेंगे ही।

'वेदों का नित्यत्व व्यवहार-सम्प्रदाय-प्रयोगाभ्यास के अविच्छेद से है, न कि शब्द की नित्यता से' यह भी ग्रापकी उक्ति समीचीन नहीं है।······ न्याय के मत में यहाँ उदभूत शब्द के ही विषय में यह कथन किया गया है, क्योंकि वही ग्रादिमान्, ऐन्द्रियक तथा कृतक है, लेकिन वेद तो ज्ञान रूप होने से अनादि, ग्रनैन्द्रियक और ग्रकृतक हैं। ग्रतः प्रामाण्य का प्रतिपादन यहाँ पर

"नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः" इत्यनुरुध्य स्वाम्यनुयायिनो वयम् सूक्ष्मदृशस्तु द्रक्ष्याम एव ।

"नित्यत्वव्यवहारस्तु वेदानाम् सम्प्रदाय-प्रयोगाभ्यासाऽविच्छेदात् न तु शब्दस्य नित्यत्वात्" इत्युक्तिस्तु न समीचीना भवतः । शब्दो हि न्यायमते उद्भूतः आदिमान् ऐन्द्रियकः कृतकश्च, परं न तथा वेदाः, ज्ञानरूपत्वादनादित्वादनैन्द्रियकत्वादकृतकत्वाच्च । अतः प्रामाण्यन्त्वेषामाप्तप्रामाण्यादेव न तु नित्यत्वादिति भावः । भवदुक्तोपचारिकता तु स्वकल्पितैव ।

(पृ० ५२६ अनु० १) "स एष पूर्वेषामपि गुरुः……तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे वेद्ये" तदपि न युक्तम्, वेद-नित्यत्व-प्रक्रमे ईश्वरनित्यत्वसाधनस्य प्रकरणविरुद्धत्वात् ।" इति ।

(समा०)भवतः कल्पितोऽयम् दोषाऽत्र नैवोपपद्यते, वेदानां नित्यत्व-साधने एव पातञ्जलसूत्रोद्धरणस्य सहायकतया उपयुज्यमानत्वात् । प्रसङ्गतश्च व्याख्यानेन वेदद्वारा सत्यार्थोपदेशकत्वादीश्वरस्य (गृणातीति तस्यभावः) गुरुता, कालेनानवच्छेदत्वाच्च नित्यता सिद्धैव, एवम् अनुसूत्रम् निरतिशयनित्यज्ञानवत्त्वेन च सर्वज्ञेनोक्तानां वेदानां सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चोद्दिष्टं साधितम्-अतो नात्र प्रकरण-विरुद्धता ।

आप्त-प्रामाण्य से नैयायिकों ने माना है, न कि नित्य-हेतु से । अतः आपका कथन स्वमनीषिका-मात्र है ।

आक्षेप—"जो यह पूर्वजों का भी गुरु ईश्वर है, उससे उक्त होने के कारण वेदों का भी सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व समझना चाहिये" यह कथन भी ठीक नही, क्योंकि वेद के नित्यत्व प्रक्रम में ईश्वर के नित्यत्व साधन करने लग जाना 'प्रकरण-विरुद्ध' दोष है ।

समा०—आपका कल्पित यह दोष यहां घटित नहीं होता, क्योंकि वेदों के नित्यत्व साधन में पातञ्जल सूत्रोद्धरण हमको सहायकतया उपयुक्त है और प्रसङ्ग-वश व्याख्यान से वेद द्वारा ईश्वर ने सत्यार्थ का उपदेश किया है, गृणाति उपदिशतीति गुरुः, शब्द से यह अर्थ ध्वनित होता है, कालानवच्छेद से नित्यता भी सिद्ध है । इस प्रकार पास के सूत्र में परमेश्वर की निरतिशय ज्ञानवता और सर्वज्ञता कथित है । उसके द्वारा कथित वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व समुदिष्ट है, जिसकी सिद्धि की है, अतः यहाँ कोई प्रकरण-विरूद्धता नहीं है ।

यदुक्तम् "नात्र सूत्रे वेद-नित्यत्व-प्रतिपादनमुक्तम्" इति, तत्तु अज्ञानमेव, यतोऽग्रे "सम्प्रतिपत्ति-नित्यतया नित्यः शब्दार्थ-सम्बन्धः इत्यागमिनः प्रतिजानते" (यो० व्या० भा० १।२७) इत्युक्तमस्ति।

'तस्मात सम्प्रतिपत्तेः सदृशव्यवहार-परम्परायाः नित्यतया नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इत्यागमिकाः प्रतिजानते, न-पुनरागम-निरपेक्षाः, सर्गान्तरेष्वपि तादृश एव संकेतः इति प्रतिपत्तुमीशते, इति भोजवृत्तिः अपि नित्यत्वं समर्थयते। अपरंच नित्य-सर्वज्ञेश्वर-ज्ञानस्य तद्-गुणवत्त्वम् अपरिहार्यमेवेति, तच्च असूयोपहत-चेतसामगोचरमेव। व्यासेनापि महर्षिणा 'शास्त्रोत्कर्षयोः ईश्वरसत्त्वे वर्तमानयोः अनादिः सम्बन्धः' (१।२४) इति प्रतिपादितम्। अतोऽनादि-सम्बन्ध-वेदस्य नित्यताऽसन्दिग्धं सिद्धैव।

किञ्चैतस्मिन् योगसूत्रे 'स' 'एष' इति पदद्वयमुत्थानिकारूपेण भवता स्वीकृतम्, न तु सूत्राङ्गत्वेन। भवेन्नाम तथा, परमभिप्रायस्तु न भिद्यते। अपि च केषुचित् पुस्तकेषु 'पूर्वेषाम्' इति, अन्येषु 'स पूर्वेषामिति', अपरेषु च 'स एष पूर्वेषामिति' पाठोऽपि दृश्यते।

यह जो कहा कि 'इस सूत्र में वेद-नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है, सो यह तो आपका नितान्त अज्ञान है क्योंकि यहाँ सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः' (व्या. भा० १।२६) ऐसा कहा है।

इस पर दी हुई भोजवृत्ति के द्वारा नित्यता का समर्थन किया गया है। दूसरे यह सर्वथा तर्कसंगत है कि नित्य सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान (वेद) का भी नित्यत्व और सर्वज्ञत्व गुण अपरिहार्य रहेगा। यह असूया के कारण विनष्ट बुद्धि आपकी सूझ और समझ के बाहर की बात है। व्यास महर्षि ने भी (१।२४) सूत्र में इसी का प्रतिपादन किया है—अतः अनादि सम्बन्ध वेद की नित्यता असन्दिग्धरूप से सिद्ध है।

आपने 'स' 'एष' ये पदद्वय इस सूत्र की उत्थानिका रूप में स्वीकृत किये हैं सूत्र के अङ्गरूप में नहीं। अच्छा यह भी सही, पर अभिप्राय में इससे क्या भिन्नता आई। बस 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे' वाली स्थिति आपकी है। दूसरे कुछ पुस्तकों में 'पूर्वेषाम्' तथा कुछ में 'स पूर्वेषाम्' यह पाठ भी है तथा कुछ में 'स एषपूर्वेषाम्' यह पाठ भी देखा जाता है।

यथा लवपुरतः १९९१ वैक्रमाब्दे प्रकाशित-पुस्तकेऽपि 'स एष' इति विशिष्टः पाठः। यथा च भाष्यकारेण वेद-चर्चा कृता सूत्रेऽत्रपाठाऽभावेऽपि, तथैव स्वामीदयानन्देनाऽपि प्रातिभ-चक्षुषा दृष्टम्।

अत्र मर्षणीयमेतद् यन्नाऽविकलमुद्धृतं भूमिकातः, परन्तु पाठ-परिवर्तने न क्षन्तव्योभवान्, अनर्थ-साधनघृणिताभिला षत्वात्। यद् भवानाह,स्वामिनाप्यग्न्यादिभ्यो ब्रह्मणोऽध्ययने पूर्वताऽङ्गीकृता' तत् 'सर्वथाऽलीकमेतत्। तत्खण्डनं तु अत्रैव पाठेन भवति यथा हि "अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनाम्—" इति। किन्तु नैषा तेऽविच्छिन्ना प्रच्छन्नच्छद्मता?

(पृ०५२९ अनु०२) यदुक्तम् "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" इति, नित्यशब्दो न सूत्रे पठितः पुनर्वेदानाम् नित्यत्वम् कथम् अनेन साध्यते?" इति चेन्न, पुरुष (परमात्म) सहचारिप्रधान सामर्थ्याद् वेदानाम् प्रामाण्ये सिद्धे प्रत्येकसृष्टौ पूर्व-कल्प-वत् तेषामृ-

---

यथा लाहौर से १९९२ विक्रमाब्द में प्रकाशित पुस्तकों में 'स एष' इति विशिष्ट पाठ है। जैसे यहाँ भाष्यकार महर्षि व्यास ने सूत्र में वेद शब्द के पाठ के अभाव में भी आनुषङ्गिक वेद-चर्चा की, उसी प्रकार महर्षि दयानन्दने अपनी आर्ष प्रतिभा से उक्त विषय का दर्शन कर प्रकाशित किया है।

यहाँ पर हम आपको इसके लिये तो क्षमा कर सकते हैं कि आपने भूमिका से अविकल पाठ उद्धृत नहीं किया, परन्तु पाठ-परिवर्तन कर प्रस्तुत करने की आपकी कुचेष्टा क्षन्तव्य नहीं, क्योंकि इससे आप अनर्थ सिद्धि के लिये घृणित इरादा रख रहे हैं। आपका यह कथन कि स्वामी दयानन्द ने भी अग्नि आदि ऋषियों से पूर्व ब्रह्मा के अध्ययन की बात कही है, यह सर्वथा निराधार और मिथ्या है, उसका खण्डन तो यहीं पर अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनाम्—इस पाठ से ही हो जाता है। क्या यह आपका निरन्तर छिपा हुआ छद्म नहीं है?

यह जो कहा 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' इस सूत्र में नित्य शब्द का पाठ नहीं है, फिर इससे वेदों का नित्यत्व क्यों सिद्ध किया जा रहा है? इसका समाधान तो यह है कि पुरुष सहचारी प्रधान सामर्थ्य से वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होने पर प्रत्येक सृष्टि में पूर्वकल्प के समान उन ऋषियों के हृदयों में वेद प्रकाशित होते रहे। इस प्रकार से वेदों की नित्यता अक्षत

षीणाम् हृदयेषु प्रकाशितत्वात् नित्यत्वाक्षतेः। अपरञ्च महोदय ! असौत्रत्वात्' इत्यस्य को अभिप्रायो भवतः ? सूत्रेऽपठितत्वात्, उताहो-सूत्राऽसङ्गतत्वात्, नाद्यः, अपठित-शब्दानामपि सामर्थ्यात् अर्थोहनात्, अन्यथा सर्वशास्त्रव्याख्याऽनौचित्य-प्रसङ्गापत्तिः स्याद्, द्वितीयश्चेत्, नाक्षेप-सङ्गतिस्तदनुकूल-तद्व्यज्यमानार्थव्याख्यानात्।

यदुक्तम् 'नायं विचारोऽपि (स्वतः-प्रामाण्यनित्यत्वात्मकः) निकष-कषणे सिद्धः इत्यसङ्गतमिति'। वस्तुतस्तु न ते विचार-शैली-निकषः प्रामाणिकः महर्षि-स्वर्ण-विचारस्य त्वन्मति-काष्ठ-निकषणाऽयोग्यत्वात्। नित्यशब्दाभावेऽपि गुणगुणिनोर्नित्य-सम्बन्धात् तदर्थाक्षेपस्यौचित्य-मेव, वेदज्ञानस्य नित्येश्वरस्य गुणत्वात्।

न च ईश्वरोत्पादितत्वात् जगत्-कार्यस्यापि नित्यत्वापत्तिः, जगतः उपादानरूप-प्रकृतेः परिणामित्वात् जगतो नश्वरत्वाच्च, ईश्वरस्य च निमित्त-कारणत्वाददोषः। न घट-नाशे कुम्भकारस्य-घट-रचना ज्ञानस्य च विनाशः तथा जगन्नाशे नैवेश्वरवेदयोर्नाशः।

अभिव्यक्त है। महोदय ! यहाँ आपने 'असौत्रत्वात्' यह दोष उद्भावित किया है" इससे क्या अभिप्रेत है ? सूत्र में अपठित होने से या कि सूत्र से असङ्गत होने के कारण ? प्रथम तो घटित नहीं हो सकता; क्योंकि सूत्र व्याख्या में अपठित शब्दार्थों का भी ऊहन किया जाता है, अन्यथा सर्वशास्त्रों का व्याख्यान ही अनुचित ठहरने लगेगा। दूसरा आक्षेप पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि सूत्रानु-कूल उस सूत्र से व्यज्यमान अर्थों का व्याख्यान किया ही जाता है।

यह जो आपने कहा कि 'यह विचार कि स्वतःप्रामाण्य और नित्यत्व स्वीकार करना।" कसौटी पर कसने पर खरा नहीं उतरता, अतः असङ्गत है।' श्रीमन् ! आपके विचारने की शैली तो प्रामाणिक निकष हो नहीं सकती, क्योंकि स्वामी जी का स्वर्ण सदृश यह विचार आपकी मतिकाष्ठ कसौटी पर कैसे परखा जा सकता है ? उक्त सूत्र में नित्य शब्द के अभाव में भी गुण और गुणी का सम्बन्ध नित्य होने के कारण इस अर्थ का आक्षिप्ततया ऊहन कर लेना उचित ही है। वेद ज्ञान तो ईश्वर का गुण है।

ईश्वर द्वारा उत्पादित जगत् कार्य को भी इस प्रकार नित्य मानना चाहिये—इस शङ्का का समाधान यह है कि जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति है जो परिणामिनी है। अतः जगत् नश्वर है, ईश्वर इस जगत् का

(पृ० ५३० अनु०२) ननु स्वामिदयानन्देन शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रे श्री शङ्कराचार्यस्य भाष्यमुद्धृत्य "सर्वज्ञेश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति" इत्युक्तम्। तत् त्वत्-कथनमसङ्गतम्—"यतोहि शास्त्रस्य ब्रह्म-कारणत्वेन अर्थात् वेदकारणत्वेन परमेश्वर-सार्वज्ञ्यसिद्धिरेवाऽभीष्टा, वेदनित्यत्वाऽप्रतिपादनादिति चेन्न, "पुरुष-निश्वासवद् यस्मात् महतो भूताद् योनेः सम्भवः 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" (बृह० २।४।१०) इति शांकर-भाष्यमूलस्य शृंगेरीनिर्वाणपीठाधीश्वर-जगद्गुरु-शङ्कराचार्याभ्याम् सांख्ययोग-न्यायवेदान्त-दर्शनाचार्य-,विविधस्तुति-भूषित-स्वामिभागवतानन्दमहामण्डलेश्वर-पद्मविभूषण । श्री गोपीनाथ कविराज श्री सुब्रह्मण्यशास्त्रिभिश्च प्रशंसितां निखिलभाष्यभावाववोधिनीं टीकां कुर्वता, श्री स्वामि-सत्यानन्दसरस्वतीमहोदयेनाऽपि 'वेदरचना ईश्वरस्य स्वाभाविकी क्रिया' स्वीकृता। सा च नित्यैव भवतीति वोध्यम्, किञ्च "सूर्याचन्द्रमसौ-धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति सर्वेश्वरेण पूर्वकल्पानुसारं वेदस्मरणमेव वेदरचनेति, कथितत्वात् तदेतत् वेद-रचनं नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमेवार्हतीति सत्यम्।

निमित्त-कारण है। अतः कोई दोष नहीं बनता जैसे घट के नाश होने पर कुम्भकार और घट-रचना ज्ञान का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार जगत् के नष्ट होने पर ईश्वर और उसके ज्ञान वेद का नाश नहीं होता।

स्वामी दयानन्द ने 'शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र पर शङ्कराचार्य के भाष्य का उद्धरण देकर 'सर्वज्ञ ईश्वर का शास्त्र भी नित्य और सर्वार्थ ज्ञान युक्त होगा' यह कहा है। यह बात करपात्री जी की बुद्धि में सङ्गत नहीं बैठ रही है, यहाँ आप कहते है कि "शास्त्र का कारण ब्रह्म होने से सर्वज्ञता की सिद्धि अभीष्ट है न कि वेद का नित्यत्व, क्योंकि नित्यत्व का प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है" यह आपका कथन ही असङ्गत है। क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः (वृह० २।४।१०) अर्थात् पुरुष के निःश्वासवद्, ब्रह्म से वेद उत्पन्न हैं। इस शाङ्कर भाष्य के मूल की शृङ्गेरी निर्वाण पीठाधीश्वर और जगद्गुरु शङ्कराचार्यों द्वारा तथा सांख्य योग न्याय वेदान्त दर्शनाचार्य विविध विरुद भूषित महामण्डलेश्वर स्वामी भागवतानन्द, पद्म विभूषण श्री गोपीनाथ कविराज, और श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री से प्रशंसित सम्पूर्ण भाष्य

ननु प्रकृत्युपादानकारणादुत्पन्नकार्यस्यैवानित्यत्वनियमः इति चेत्तदपि-न, यतोहि एतत्तु असकृद् बोधितम् यद्वेदानामुत्पत्तिरिति शब्देन प्रकाशनमित्येव अर्थो गृह्यते। अभिहततालवादिसहकृतोच्चारित-शब्दस्तु विनश्यत्येवोद्भूतत्वात्। प्रकाशनं च ऋषीणाम् हृदयेष्वभूत्, तदन्तरम् उच्चारणादिकं समभवत्।

ननु वेदकर्ता ईश्वरः, ईश्वरस्य च सत्तायाम् वेदः प्रमाणम् भवति, इत्यतोऽन्योऽन्याश्रयदोषः स्यादिति चेन्न, ईश्वरसत्तायास्तु जगद्रचना-नुमानेन योगिमानस-प्रत्यक्षत्वाच्चसिद्धेः तस्याः केवल-वेदाश्रयाभावात्। यथा पितृत्वं पुत्राधीनं, पुत्रत्वं च पित्रधीनं परं पितृत्वात् पितुरस्तित्वं तु पृथगेव। ये च ब्रह्मातिरिक्तं जगतः कारणमन्यत् स्वीकुर्वते, प्रकृतेः स्वभावं च जगत्कारणं मन्वते तेषां शङ्कानिवृत्यै निमित्तकार-णं सर्वज्ञं ब्रह्मेति सूत्रकृतस्तात्पर्यम्।

भाव को बताने वाली टीका को करते हुये' श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती महोदय ने भी वेद-रचना स्वाभविकी-क्रिया मानी है, जो कि नित्य ही होती है। "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वम कल्पयत्" के अनुसार सर्वेश्वर द्वारा पूर्व-कल्प के अनुरूप वेद स्मरण ही वेद रचना है" यह कहा है। इस प्रकार यह नित्य और सर्वार्थज्ञान युक्त ही हो सकती है' यह सत्य है।

जो वस्तु प्रकृति के उपादान कारण से उत्पन्न है—वह कार्य है' अतः अनित्य होगी। यह नियम है।

यह तो अनेक बार बताया जा चुका है कि वेदों की उत्पत्ति से अभिप्राय प्रकाशन का है अभिघात युक्त तालु आदि से उच्चारित शब्द तो उद्भूत होने के कारण विनष्ट होता ही है। पहले तो वेदों का प्रकाशन ऋषियों के हृदयों में हुआ उसके अनन्तर उच्चारणादि सम्भव हो सका।

शङ्का—वेद कर्त्ता ईश्वर है और ईश्वर की सत्ता में प्रमाण वेद होता है। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है।

समा०—यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि वेदातिरिक्त जगद्रचना के द्वारा अनुमान से और योगियों के मानस द्वारा भी ईश्वर का प्रत्यक्ष होने से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित है। उसकी सत्ता केवल वेदाश्रय ही नहीं। जैसे पितृत्व पुत्र के अधीन है और पुत्रत्व पिता के बनने पर हो सकता है, पर पितृत्व गुण से पिता की सत्ता पृथक् ही है। जो लोग ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् का कारण

वेदं ईश्वरज्ञानत्वेन न समर्थयते करपात्रमहोदयः इति तु त्रपाकरम् । (पृ० ५२१ अनु० १) अतएव च नित्यत्वमित्यस्य स्वामिनोऽर्थमुद्धृत्य समानान्तरः स्वकीयोऽर्थ उपन्यस्तो यश्च न कमपि भाष्यकारम् अनुसङ्गच्छते । अस्पृश्य-प्रवेशेन भ्रष्ट-विश्वनाथमन्दिरात् पृथङ्मन्दिरं निर्मापयत् विपरीतमते विषये किमुच्येत ? यच्चोक्तं "पौर्वापर्यानुपूर्वीमूलकत्वेन पौर्वापर्यस्य च नित्येषु विभुषु वर्णेषु च असम्भवात् ऋग्वेदादेर्न नित्यत्वमिति तत् शास्त्रतात्पर्याऽज्ञानादेव। नहि वेदस्य ज्ञानरूपस्य वाक्यकदम्बकस्यापि उपादानकारणं ब्रह्म, न चात्र अस्मदादिवत् पदार्थोपस्थित्यनन्तरम् वेद-वाक्यकदम्बकनिर्मितत्वं, नित्यशब्दार्थसम्बन्धमयज्ञानस्य तद्गुणत्वात् ।

यत्र हि अर्थज्ञानपूर्वकं वाक्य-ज्ञानं वाक्यरचनायां कारणं तत्र हि

अन्य को मानते हैं अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को जगत् कारण मानते हैं, उनकी शङ्का-निवृत्ति के लिये 'निमित्त कारण सर्वज्ञ ब्रह्म है' यह सूत्रकार का अभिप्राय है ।

करपात्री जी वेद को ईश्वर का ज्ञान नहीं मानते, यह अत्यन्त त्रपाकर है ।

'अतएव च नित्यत्वम्' इस सूत्र के स्वामी दयानन्द के अर्थ को उद्घृत कर इसके समानान्तर अपना अर्थ भी करपात्री जी ने उपन्यस्त किया है, इनका यह अर्थ किसी भी भाष्यकार के अनुरूप नहीं, डेढ़ ईंट की मस्जिद की भांति इन्होंने अपनी जिद से नया ही विश्वनाथ का मन्दिर बनवा डाला ।' क्योंकि इनकी राय में अछूत प्रवेश से पुराना विश्वनाथ मन्दिर तो भ्रष्ट हो चुका, भला ऐसी औंधी खोपड़ी का क्या कहना ? करपात्री जी का यह कथन कि "पौर्वापर्यानुपूर्वी मूलक होने से पौर्वापर्य नित्य और विभु वर्णों में असम्भव है, अतः ऋग्वेदादि की नित्यता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती यह शास्त्र का तात्पर्य न समझ पाने के कारण है । ज्ञानरूप वेद के वाक्यसमूह का भी ब्रह्म उपादान कारण नहीं है और न अस्मदादि के समान पदार्थ की उपस्थिति के बाद वेदवाक्य बने हैं क्योंकि नित्यशब्दार्थ सम्बन्धमय ज्ञान तो ईश्वर का गुण है ।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि जहाँ अर्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्य-ज्ञान वाक्य-रचना में कारण होता है वह पौरुषेय है, पर वेद-ज्ञान सृष्टि के आदि में हुआ, पदार्थ बाद को बने, पदार्थों को देखकर वेद की रचना नहीं हुई,

पौरूषेयत्वं, वेदाश्चाऽपौरूषेयाः ईश्वरस्य युगपदस्यार्थवाक्यज्ञानस्य च उपस्थितत्वात्।

यदप्युक्तम् "उत्पत्तिमतः कस्यापि नित्यत्वानुपपत्तिरतएव वेदानामपिनेति, चेत्, तदपि, व्यापकस्याकाशस्य घटाद्याकाशस्य च भिन्नत्ववत्, अखण्डेश्वरज्ञानस्य मोक्षोपयोगिनो जीवज्ञानस्य परिच्छिन्नत्वे प्रतीतिर्न तु उत्पत्तिभेदः।

एवं वर्णानामुत्पत्तिः ताल्वादिनोद्भूतत्वेऽपि ज्ञानस्य तु नित्यत्त्व-मक्षतमेव, भवतु नाम ताल्वादिध्वनेर्नाशः।

यच्चाह "वेदनित्यत्वं न गम्यतेऽनेन 'शास्त्रयोनित्वादिति" सूत्रे-णति, तदेतदप्रतिभानं स्थूलदृशामेव संभवति। यतो हि ब्रह्म वेदका-रणमस्ति, वेदेषु च जगत्पदार्थानां नामज्ञानादिकमस्ति, तथाहि

सर्वेषां स तु नामानि, कर्माणि, च पृथक् पृथक्।

वेद शब्देभ्य एवादौ, निर्ममे स महेश्वरः॥ मनु०॥ अर्थात् सृष्टेरादौ वेदशब्देभ्य एव सर्वे लोकाः नामानि कर्माणि च जगृहुः

प्रत्युत वेदानुकूल सृष्टि रचना हुई अर्थात् ईश्वर को युगपत् अर्थ और तत्त्व ज्ञान था। अतः पौर्वापर्य (वर्णों का) जीव ज्ञानापेक्षित है परमात्मज्ञाना-पेक्षित नहीं।

यह कथन कि उत्पत्तिधर्मा किसी की भी नित्यता उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिये वेदों की भी नित्यता नहीं" असङ्गत है, क्योंकि व्यापक आकाश से जैसे घटाधाकाश भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार अखण्ड ईश्वर ज्ञान का अंश मोक्षोपयोगी जीव के लिये दिया वेदज्ञान परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है, वस्तुतः उत्पत्ति भेद यहाँ पर नहीं है।

इसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति ताल्वादि के द्वारा उद्भूत होने पर भी ज्ञान का नित्यत्व तो अक्षत ही है, ताल्वादि ध्वनि का नाश हो जाना दूसरी बात है।

यह कथन कि 'शास्त्र योनित्वात्' इस सूत्र से वेदनित्यत्वध्वनित भी नहीं होता, स्थूल-दृष्टि होने के कारण यह ध्वनन आपकी प्रतिभा का विषय नहीं।

ब्रह्म वेद का कारण है और वेदों में जगत् के पदार्थों के नाम और ज्ञानादि हैं। जैसा कि मनु ने कहा है "महेश्वर ने सबके नाम और कर्म पृथक-पृथक

इत्यनेन ज्ञायते वेदाः पूर्वमेव सृष्टेरवर्त्तन्त नित्यत्वात्, अतएव नित्यत्वमवगम्यते एव वेदानां सूक्ष्मदृग्भिः। किञ्च वेद-ज्ञानस्येश्वर-गुणत्वात्, गुण-गुणिनोश्च नित्य-सम्बन्धात् ईश्वरस्य नित्यत्वं, तथा तद्गुणस्यापि नित्यत्वस्यासंदिग्धत्वात्। सूत्रस्य सार्वज्ञ्येन सह ब्रह्मणश्चेतनत्व स्वातन्त्र्यसाधनत्वे पर्यवसायित्वम्। ईशस्यउपादान-कारणत्वे तु तस्मिन् अचेतनत्वपारतन्त्र्यापत्तिः जगतः।

भवता ऋषि दयानन्द कृतोऽर्थोऽवमन्यते। स्वामिना तु सूत्ररूपेण हिन्दी रूपान्तरेण यः प्रकाशितोऽर्थः सः शाङ्करप्रतिभा प्रशस्ति-द्योतकः, स एव यथार्थः, न च चतुर्गुणित-भाषाडम्बरेण प्रकाशितस्तव।

यदुक्तं श्रीमता "बुधास्तत्पाण्डित्यं विदाङ्कुर्वन्तु" इति तु सत्यम् "यद्यद्विस्तरार्थमेषां वेदानां विस्तरार्थमेव पुपुषविशेषेण विरच्यमानं शास्त्रं सम्भवति, इति वचनेन तस्य शास्त्रस्य वेदोपबृंहणोपयुज्यमानता स्पष्टैव। परं वेदभक्त-ऋषि-दयानन्दो 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमिति वेदार्थमेवान्यशास्त्र-प्रयोजनं स्वीकुरुते।

बनाये हैं, इसीलिए सूक्ष्म-दृष्टियों के लिए नित्यत्व भी अभिव्यक्त होता है। तथा वेद ज्ञान ईश्वर का गुण है, तथा गुण और गुणी का सम्बन्ध नित्य होता है। ईश्वर के नित्य होने से उसके गुण नित्यत्व का प्रकाशन भी असन्दिग्ध है। इस सूत्र में सर्वज्ञता के साथ-साथ ब्रह्म का चेतनत्व और स्वातन्त्र्य-साधनत्व भी सिद्ध होता है, ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर जड़ता और परतन्त्रता का दोष ईश्वर में भी आएगा श्री स्वामी जी ने सूत्र रूप में हिन्दी रूपान्तर में जो अर्थ प्रकाशित किया है, उस अर्थ ने शंकर का और भी गौरव बढ़ा दिया।

वह यथार्थ है, न कि चतुर्गुणित भाषान्तर में आपका कहा हुआ अर्थ। शंकर ने 'यद-यद् विस्तार्थ का' वेदार्थ विस्तार के लिये, यह अर्थ करना वेद-निष्ठ शंकर का यशोवर्धक और वेद प्रतिष्ठावर्धक है। इसीलिए सो भी (वेद-शास्त्र भी) वेदों के आश्रय से बना सके, यह अभिव्यञ्ना लिखी है। इस इस प्रकार विद्वान् लोग अवश्य ही ऋषि के पाडित्य को समझ लेंगे आप सदृश रागद्वेषग्रस्त पक्षपाती जब तक निर्मल-हृदय और निष्पक्ष नहीं बनेंगे और मिथ्या पाण्डित्याडम्बर समुद्र में डूबे रहेंगे, तब तक वेदभक्त महर्षि की प्रतिभा

स्वामिना लिखितम् "शङ्कराचार्येण वेदानां नित्यत्वमभिगम्यैव अस्य सूत्रस्य अर्थः कृतः" तद् भवान् सर्वथा अशुद्धं मन्यते। किन्तवैषा धारणा यत् शङ्करो तवमतेऽवतारः सन्नपि एतत्सूत्रप्रतिपादनात्पूर्वं वेदानां नित्यत्वं नाभ्युपागमत् ?

एवं तदनभ्युपगमे तव पाण्डित्यं शङ्करस्य नवनवोन्मेषशालिनीम् प्रतिभामज्ञान-वज्रलेपेन लिम्पति । एतत्ते वागुरिकाच्छलमेव यद्ब्रह्मणोऽस्वातन्त्र्यम् आनुपूर्व्याः परिवर्त्तने, ब्रह्मातिरिक्त-सर्वस्यैव ब्रह्मकार्यस्याऽनित्यतामनुक्तामपि च स्वामिनः शिरसि मण्डयसि त्वम् ।

वस्तुतस्तु 'विस्तरार्थमिति न तवाभिप्रेत-शास्त्र-विशेषणमेव कस्य विस्तरार्थं व्याकरणादि-शास्त्रं पुरुष-विशेषात् सम्भवति ? इत्यस्योत्तरे वेद-विस्तरार्थमित्येव समाधानम् उपयुज्यते । यतो हि शास्त्रं हि मुख्यवृत्त्या वेद एवान्यानि शास्त्राणि तु गौणवृत्त्यैवोपचर्यन्ते इति भावः ।

को नहीं समझ सकेंगे । ऋषि ने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन वेदों की रक्षा के लिए माना है । अन्य शास्त्रों का प्रयोजन भी वेदार्थ ही स्वीकार किया है।

स्वामी जी ने लिखा है कि "शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानकर ही इस सूत्र का व्याख्यान किया है" जिसे आप सर्वथा अशुद्ध मानते हैं, तो आप बताइये कि तुम्हारी यह धारणा है कि शङ्कर आपका अवतार नहीं मानते ? यदि ऐसा है तो आपका पाडित्य शङ्कर की प्रतिभा पर अज्ञान का वज्र लेप चढ़ा रहा है। यह आपका वाक्छल ही है कि—उक्त रीति से ब्रह्मातिरिक्त ब्रह्मकार्य अनित्य है और आनुपूर्वी का परिवर्तन करने में ईश्वर परतन्त्र हैं" भला इस कथन का यहाँ क्या सन्दर्भ है ?

वस्तुतः 'विस्तारार्थम्' यह शब्द तुम्हारे अभिप्रेत शास्त्र का विशेषण ही नहीं, किसके विस्तरार्थ कोई भी शास्त्र पुरुष विशेष के द्वारा सम्भव होता है ? इसके उत्तर में 'वेद-विस्तारार्थ' यही समाधान उपयुक्त है। शास्त्र तो मुख्यतया वेद है, अन्य व्याकरण न्यायादि शास्त्र गौणरूप में कहाते हैं, इनकी रचना वेद के ही विस्तृत व्याख्यान के लिए होती है। (शङ्का) वेद के स्वतः प्रामाण्य में 'सूर्य के समान' यह उपमा देना बालभाषित है।

समा०—आप ठीक कहते हैं (बालेभ्यः भाषितम्) अल्पमति वालों को

(पृ० ५३३ अनु० १) यदुक्तं वेदस्य स्वतः प्रामाण्ये सूर्यवदिति उपमानं वालभाषितमिति, तत् सत्यमेतत्, अल्पमतिभ्यो भवादृशेभ्यो वालेभ्यः सरलतया वोधनधिया ऋषिणा विशदीकृत्य भाषितत्वात् । तथैव किं वालभाषणं श्री सत्यानन्द सरस्वती स्वामिभिरपि शांकर-भाष्यव्याख्याने स्वदीपिकायाम् "वेद स्वतः प्रमाण है अर्थात् वेद अपनी प्रमाणता में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है, जैसे सूर्य अपनी सिद्धि में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता।" इति वददि्भः कृतम् ?

न च सूर्यस्य विजातीय-मनश्चक्षुरादि-प्रकाश-सापेक्षत्त्वेन (स्वप्रकाशाभावे) दृष्टान्तासङ्गतिरिति वाच्यम्, मनश्चक्षुरादिकाऽसम्बन्धत्वेऽपि सूर्य-प्रकाश-सत्तायाः अक्षतत्वात् ।

सूर्यस्य प्रकाशे मनसश्चक्षुरादेरनपेक्षत्वात् सूर्यवदिति दृष्टान्तस्य समुपपत्तिरेव । तथा हि यास्केन मुनिना "अमतिः, इति पद-निर्वचन-प्रसङ्गे (६।३।३) निगमः प्रदर्शितः---ऊर्ध्वायस्यामतिर्या अदिद्युतत्

समझाने के लिए 'सूर्यवत्' ऋषि ने लिखा। जिससे उनकी समझ में भी वेद का स्वतः प्रामाण्य आ जावे। क्या इसी प्रकार स्वा० सत्यानन्द जी ने भी यही दृष्टान्त देकर शाङ्कर भाष्य की व्याख्या दीपिका में बालभाषण किया है ? 'वेद स्वतः प्रमाण हैं अर्थात् वेद अपनी प्रमाणता में अन्य प्रमाण की अपेक्षा' नहीं रखता है जैसे सूर्य अपनी सिद्धि में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता है ।

आपके कथनानुसार सूर्य, विजातीय मन चक्षु आदि के लिये प्रकाश की सापेक्षता रखता है—यह कथन आपका बालकपन के प्रलापवत् है, मन चक्षु आदि का सम्पर्क न होने पर भी सूर्य के प्रकाश की सत्ता तो अक्षत ही रहेगी, अतः सूर्यवद् दृष्टान्त की सर्वथा सङ्गति है, क्योंकि सूर्य के प्रकाशित होने के लिये मन, चक्षु आदि की अपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार यास्क मुनि ने 'अमति' इस पद के निर्वचन प्रसङ्ग से निगमोद्धरण देते हुये आदित्य का आत्मप्रकाशगत विज्ञान बताया है। जिसे उसी स्थल पर देखना चाहिए। वह प्रकाश भी आदित्य के प्रकाश के समान अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता।' इति दुर्गाचार्य ।

सर्वामनि'' इति (सा० सं० छ० प्रा० ५।२।३।८) एवमत्र 'अमति' शब्देन आत्म-प्रकाशगतमादित्यस्य विज्ञानमुच्यते, स हि प्रकाशः सतत्त्व एव नान्यत् प्रकाशान्तरमपेक्षते इत्युपपत्तिः इति दुर्गाचार्यः ।

'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः । (अथर्व १४।१) द्यौरिति प्रकाशः' तथा च सामश्रमिमहाभागाः ऐतरेयालोचने आहुः (पृ० ११०) ''प्राणस्तदादित्येन समिन्धे तस्मादयमुष्णः'' एवं सूर्यस्य स्वप्रकाशत्वे स्वतापत्वे च सौर-सूक्तान्यपि आलोचनीयानि ।

किञ्च भोः । एतदप्यनुब्रूहि यन्मनसश्चक्षुषश्च कः प्रकाशो-भवति ? ऋषिणा तु सम्यगुपपादितम् यत् यथा चक्षुषः प्रकाशाय सृष्टेरारम्भादेव सूर्यप्रकाशस्य आवश्यकता तथैव मनसः प्रकाशाय (स्फुटनाय विकसनाय) वेद-सूर्यस्यापि अपरिहार्यता, यदीह परेशः सूर्यं नारचयिष्यत्, तदा दीपकादि-प्रकाशोऽपि नाभविष्यत्तथैव वेद शिक्षाया अभावे अन्य-सर्वशिक्षाऽसंभवापत्तिः, अभावाद्भावोत्पत्ति-प्रसङ्गश्चाप्युत्पद्येत, अतः सूर्यस्य न स्व-प्रकाशः इति वचनं तु उपहासा-स्पदमेव । भवदुक्ततर्क मनुरुध्य तु सृष्टि-रचनायै प्रकृतेः सापेक्षत्वात् ईश्वरस्याऽपि पारतन्त्र्यमापतिष्यति ।

इसी प्रकार 'सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिताः द्यौः।''···तथा च साम-श्रमि महाभाग ने ऐतरेयालोचन में 'प्राणस्तदादित्येन समिन्धे' यह उद्धृत कर सूर्य को स्वयं प्रकाशित और स्वतापत्व में दृष्टान्त दिया है । तदर्थ वे सौर सूक्त देखिये ।

आप कृपया यह बताइये कि आपके कथित मन और चक्षु का प्रकाश क्या क्या है ? आप चक्षु का प्रकाश कथन करते हुए ऋषि दयानन्द के तात्पर्य को तो नहीं समझ सके, ऋषि ने ठीक ही कहा है कि नेत्र के प्रकाश के लिये सृष्टि के आरम्भ से ही सूर्य प्रकाश की आवश्यकता है, उसी प्रकार मन के प्रकाश के लिए वेद रूपी सूर्य के प्रकाश की अपरिहार्यता है यदि भगवान् सूर्य को न बनाता तो कदापि प्रकाश भी नहीं होता, उसी प्रकार वेद-शिक्षा के अभाव में अन्य सब शिक्षाओं का भी अभाव होता । अभाव से भावोत्पत्ति होने लगेगी, अतः ''सूर्य का कोई प्रकाश नहीं'' आपका यह कथन उपहासास्पद है । आपके उक्त स्थल के तर्क से सृष्टि-रचना के लिये प्रकृति की सापेक्षता होने से तो ईश्वर भी परतन्त्र हो जाएगा ।

तथा वेदप्रामाण्येऽध्येत्रध्यापयित्रपेक्षा-कथनं तु भवतोऽनभिज्ञतैव। ननु यदा प्रामाण्यं कश्चिद्ब्रूते कमपि तदाऽपि 'कश्चिद्' 'कम्' इत्यनयोरपेक्षैव त्वत्कथनेन 'पुनः कथं स्वतःप्रामाण्यमिति चेन्न, उक्तस्य अपेक्षा-कथनस्य हेत्वाभासत्वात्।

प्रश्न :—वेदानां स्वतः-प्रामाण्यं तदा किमर्थं नित्यत्व-साधन-प्रयासः ?

समाधानम्—मैवं वादीः, येषां हि स्वतःप्रामाण्यं तेषामपि नित्यत्व-साधनाय प्रयासस्तु भवादृशवैतण्डिकमतिनिरासाय, स्वतः प्रामाण्ये मतेऽपि सूर्यादेः अनित्यत्वशङ्कानिवारणाय च क्रियते। यदुक्तं "किमिति बौद्धजैनादिभिरपि तत्प्रामाण्यम् नाङ्गीक्रियते" इति शङ्कनम् तु व्यर्थमेव, यतोहि नानिवार्यमेतत् यत् "सुलभ-प्रामाण्ये नित्यत्वे च सिद्धे जैनाः बौद्धा वापि अवश्यं मन्येरन्" नहि चेतन प्रेरणामन्तरा कृपाणश्छिनत्ति। अपि वा चेतनमपि वृकं कश्चिद्दयार्द्र-हृदयं विधातुं न क्षमते। यथा च न पौराणमत-वज्रलेपायितं भवन्त-

---

उसी प्रकार वेद प्रामाण्य में अध्यापक और अध्येता की सापेक्षता का कहना तो आपकी अनभिज्ञता ही है। यदि कोई कहे कि 'कोई' 'किसी के प्रति' कहता है। यहाँ पर दोनों की परस्पर सापेक्षता है आपके कथनानुसार, अतः दोनों की सत्ता की प्रामाणिकता करने के लिये अन्योन्याश्रयता है, उनकी स्थिति का प्रामाण्य नहीं किया जा सकता, यह कथन भी हेत्वाभास है। उसी प्रकार वेदों के पठन पाठन के लिए तो छात्र और गुरु की आवश्यकता है, परन्तु गुरु या छात्र की उपस्थित्ति से वेदों की प्रमाणता है ऐसा कहना तो हेतु नहीं हेत्वाभास ही होगा।

प्रश्न—वेदों का जब स्वतः प्रामाण्य है ही, तो इनकी नित्यत्वसिद्धि के लिये विशेष प्रयास करना व्यर्थ है अर्थात् स्वतः प्रमाण तो नित्य ही होगा।

समा०—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जिनका स्वतः प्रामाण्य है, उनके भी नित्यत्व साधन का प्रयास आप सदृश वितण्डावादियों की बुद्धि को समझाने के लिये करना ही होगा और वेदों को स्वतः प्रमाण मान लेने पर भी सूर्यादि की अनित्यता के समान वेदों की अनित्यता की शङ्का भी निवृत्त हो सके। अतः विशदीकृत व्याख्या की गई।

मपि वैदिक-सत्य-सिद्धान्ताः स्वयं सत्यपथमानेतुं प्रभवन्ति, मादृश-चेतन-प्रेरणां विना, का कथा पुन-र्बौद्धादीनाम् ।

तदेतत् "रागाद्याक्षिप्तमना विविध-विषयतृष्णापरिप्लुतो न शक्नोति सम्यग्भावयितुम् इति (पृ० ७२) भवताऽपि समर्थितम्, अत्र हि भवता वितण्डैव प्रस्तुता प्रतिपक्षस्थापना-हीनत्वात् । "वेदानां स्वतःप्रामाण्ये संशयादीनामविषयत्वमेव स्वप्रकाशता" इति कल्पनम् तु निरर्थक-प्रलपनमेव ।

अज्ञानिनामेव वेदाः संशय-विपर्ययादिविषयाः न तु बुधाम्, सर्वार्थविद्योति-सर्वज्ञ-कल्पत्वात् ।

अहो ! तव पाण्डित्यं सूर्याभावे अन्धकारवत्स्फुटम् यद्विपरीत-ज्ञानान्तर्गत-त्वदज्ञाने मते कथञ्चिद्विपर्ययज्ञानविपरीत-प्रमयोरेक-

---

यह कथन कि 'बौद्ध जैन आदियों के द्वारा भी वेदों की स्वतः प्रामाणिकता क्यों नहीं मान ली जाती ? व्यर्थ ही है, क्यों कियह अनिवार्य नहीं है कि वेदों का नित्यत्व और प्रामाण्य सुलभ होने पर भी जैन और बौद्ध भी अवश्य मान जावें । क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना कृपाण काटने का काम नहीं करती । अथवा चेतन भेड़िये को भी कोई दयार्द्र-हृदय नहीं बना सकता । जैसे पुराणों के रूढ़िमत के वज्रलेप से युक्त आपकी मति को भी वैदिक सत्य सिद्धान्त स्वयं सत्पथ पर नहीं ला सकते, फिर बौद्धों के विषय में कहना तो बहुत दूर है । अतः उपदेश्योपदेष्टृत्वात् सिद्धिः' का क्रम है ।

आपने भी पृ० ७२ पर 'राग आदि से अक्षिप्त मन वाला, विविध विषय तृष्णा से घिरा हुआ ठीक रूप में वास्तविकता को नहीं समझ पाता' ऐसा समर्थन किया है । यहाँ पर भी प्रतिपक्ष की स्थापना न कर केवल खण्डन लक्ष्यक वृत्ति आपने वितण्डा ही प्रस्तुत की है । वेदों के स्वतः प्रामाण्य से संशयादि की अविषयता ही स्वप्रकाशता है" यह कल्पना निरर्थक प्रलाप है ।

अज्ञानियों के लिए वेद संशयादि के विषय हैं, विद्वानों के लिए नहीं, क्योंकि वेद सर्वार्थविद्योतक सर्वज्ञ कल्प हैं ।

आश्चर्य है आपका पाडिण्त्य सूर्य की अनुपस्थिति में अन्धकार के समान स्पष्ट हो गया । आपके अज्ञान को विपरीत ज्ञान के अन्तर्गत मान लेने पर किसी प्रकार विपर्यय ज्ञान और विपरीत प्रमा के एक ही रूप होने से इससे

रूपत्वादेवास्मादन्या का ते विपरीत-प्रमा ? यदलेखि "विपर्यय-विपरीत-प्रमाऽज्ञानेति जिज्ञास्यमिति"। वस्तुतस्तु अप्रमाया एव प्रपञ्च एतत्। यथा च किरणावल्याम्—

"तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयो विप्रकीर्तितः॥"

न्यायादिशास्त्रेष्वुद्भावितोऽसामञ्जस्यभारस्तु समत्वेनावाभ्यां वोढव्यः, तत्त्वतस्तु न मे दृशाऽसामञ्जस्यमित्यत्राधिकविचारा-द्विरम्यते, पुस्तक-कलेवर स्थौल्यभिया। तत्त्वतस्तु प्रामाण्य-विषये न्याय-सिद्धान्त एषः, यन्मानस-प्रत्यक्ष-द्वारा ज्ञानग्रहणं भवति तथा तेन ज्ञानेन प्रवृत्त-पुरुषस्य सफल-प्रवृत्तिद्वारा तज्ज्ञानस्य प्रामाण्यस्य तथाऽप्रामाण्यस्यासफलप्रवृत्या अनुमानं क्रियते, ज्ञान-प्रामाण्या-प्रामाण्य-निश्चयो ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्र्या जायते। अतः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतो ग्राह्यता। परं सर्वेश्वर-प्रदत्तवेदज्ञाने नैषा प्रक्रिया, ईश्वरोक्त-ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यात्।

(पृ० ५३४-पृ० ५३६) भूमिकायाम् "अतः ईश्वरः

अन्य आपकी और कौन विपरीत प्रमा है जैसा कि आपने लिखा 'विपर्यय विपरीत प्रमाऽज्ञानेत्यादि ज्ञिजास्यम्" वास्तव में यह अप्रमा प्रपञ्च है, जैसा कि किरणावली में उल्लेख किया है तत् शून्य में वैसी बुद्धि बना लेना अप्रमा कहाती है, उसके प्रपञ्च को विपर्यास और संशय कहते हैं।

न्यायादि शास्त्रों पर उठाया हुआ यह 'असामञ्जस्यभार अर्थात् शास्त्रों में सामञ्जस्य नहीं है यह भार हम और आप दोनों को ही ढोना चाहिये। पर वास्तविक रूप से विचार करने पर मेरी दृष्टि से तो यहाँ कोई असामञ्जस्य नहीं है। पुस्तक कलेवर बढ़ने के भय से इस पर अधिक नहीं लिखा जा रहा है। तत्वतः प्रामाण्य विषय में न्याय का सिद्धान्त यह है, कि मानस-प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी प्रकार उस ज्ञान से प्रवृत्त पुरुष की सफल प्रवृत्तिद्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का असफल वृत्ति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अतः ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परतोग्राह्यता मान ली जाती है। परन्तु सर्वेश्वर प्रदत्त वेदज्ञान में उक्त प्रक्रिया नहीं घटती, निष्कर्षतः ईश्वरज्ञान का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है।

'भूमिका' में लिखा है 'इसलिए ईश्वर ने स्वयं प्रकाशित वेद का और

स्वयं प्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह (पृ० ४०)।

आक्षेप :—'तदपि वदतोव्याघातान्नातिरिच्यते। ततो यस्य सिद्धिकरं प्रमाणमुच्यते, न तत् स्व-प्रकाशम्, तथात्वे च त्वद्रीत्या परमेश्वरोऽपि न स्वप्रकाशः, किमुत तदुक्तो वेदः।'

समाधानम्—(१) भूमिका वचनस्यायमभिप्रायो यद् वेदास्तेन प्रकाशितास्तैश्चेश्वरसत्ता-स्वरूपस्य प्रकाशनं जायते। ईश्वरेण प्रकाशितत्वाच्च वेदानां स्वतः प्रामाण्यमपि भवति। कथं तत्र तव वदतो-व्याघातस्य कथनमुपपद्यते ? नहि क्वापि ऋषिणा उक्त-कथन विरोधे वचनं कृतमास्ते। यच्चाह "यस्य सिद्धिकरं प्रमाणमुच्यते, न तत् स्वप्रकाशं भवति" 'इदं त्वज्ञान-विजृम्भितं लोकभ्रामकं च' नैव नियमो यत् कश्चिदात्मानं प्रकाशयितुं नार्हति स्वयम्। स्वमात्मानं प्रकाशयति इति स्वप्रकाशं ब्रह्म तथा च वेदोऽपि। न च तस्यान्येन प्रकाशो जायते।

अपनी सिद्धि करने वाला प्रमाण कहा है। (पृ० ४०)

आक्षेप—'वह भी वदतो व्याघात के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसका सिद्धिकर प्रमाण कहा जा रहा है, वह प्रकाशित नहीं है, वैसा होने पर तुम्हारी रीति से स्वयं परमेश्वर भी स्व-प्रकाश नहीं रहेगा। तब उसका कहा हुआ वेद स्वप्रकाश कैसे हो सकता है।"

समाधान—(१) भूमिका कथन का अभिप्राय यह है कि वेद उस ईश्वर ने प्रकाशित किए और पुनः वेदों से ईश्वर सत्ता के स्वरूप का प्रकाशन होता है। ईश्वर से प्रकाशित होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य भी सिद्ध है, वहाँ तुम्हारा वदतो-व्याघात कथन कैसे उत्पन्न होगा ? सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि ऋषि दयानन्द ने उक्त कथन के विरोध में कहीं भी कथन नहीं किया।

यह कथन कि जिसका सिद्धिकर प्रमाण कहा जाता है, वह स्वयं प्रकाश नहीं होता। यह अज्ञान प्रेरित और लोगों को भ्रम में डालने वाला है। क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि कोई स्वयं को प्रकाशित न कर सके' "स्वम् आत्मानं प्रकाशयति" इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म स्वप्रकाश है और वेद भी स्वतः प्रमाण होने से स्वप्रकाश है, प्रमाण देकर सिद्ध तो जीवों के लिये किया जाता है।

(२) पुनश्च नवीनवेदान्तिनां स्वप्रकाशस्य पर-प्रकाशस्य वा विवेचना एव एकत्वात् कमन्यं प्रति सम्भवेत् ? को वा कस्य साक्षात्कारं कुर्यात् ? भवन्मते साक्षात्-करणीयस्य साक्षात्-कर्तृ-रूपात् अभेद एव, अतः ऋषि दयानन्द-मते एव त्रैतवादे स्वीकृते जीवात्मानं प्रति परमेश्वरेण वेद-ज्ञान-दान-द्वारा प्रकाशः कृत एव, अतः नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः । तद्वचनाद्वास्त्येव प्रामाण्यं वेदानाम् ।

पू. प.—यच्चाह—"वस्तुतस्तु 'यत् 'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. ३।४।१) इतिरीत्याऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात प्रत्यगात्मरूपेण ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वम् । तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात् ।"

समीक्षा—वस्तुतस्तु बृहदारण्यकोपनिषद एतत् प्रकरणमेव त्वया न ध्यातम् । तत्र चाक्रायण उषस्तः कथयति "यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व" तत्र शाङ्कर-भाष्यं च यथा 'यत् साक्षाद् अव्यवहितम् अपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तमम् आत्मा सर्वस्याभ्यन्तरः, एतैः समस्तैर्गुणैर्युक्त एष कोऽसौ तवात्मा ? ·· तत्र पिण्डः, तस्याभ्य न्तरे लिङ्गात्मा करण-सङ्घातो

और हाँ ! नवीन वेदान्तियों के पक्ष में स्व या पर प्रकाश की विवेचना ही नहीं उठती, क्योंकि एक ब्रह्म ही स्वप्रकाश नहीं हो सकता अर्थात् जब कोई दूसरा है ही नहीं । फिर वह किस पर प्रकाशित होगा ? स्वस्कन्धा-रोहणवत् कौन किसको प्रकाशित करे । कौन किसका साक्षात्कार करे, क्योंकि तुम्हारे मत में साक्षात्-कर्त्ता और साक्षात् करने योग्य अभिन्न ही हैं ।

अतः ऋषि दयानन्द के मत में त्रैतवाद को ही स्वीकृत करने पर जीवात्मा के प्रति परमेश्वर ने वेद-ज्ञान-दान के द्वारा स्व-प्रकाश किया है । इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठती । 'तद्वचनात्' अर्थात् ईश्वर का वचन होने से वेदों का प्रामाण्य है ही ।

पू॰ पक्ष—यह जो कहा कि 'वस्तुतो साक्षाद् परोक्षाद ब्रह्म' इस रीति से अवेद्यत्व मान लेने पर अपरोक्ष होने से ब्रह्म की प्रत्यगात्म रूप से स्व-प्रकाशता है, क्योंकि उसके प्रति किसी को संशयादि नहीं होते ।'

समीक्षा—वस्तुतः वृहदारण्यकोपनिषद् का यह प्रकरण ही आपने नहीं समझा । वहाँ चाक्रायण उषस्त कहता है कि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है, उसे मुझे कहिये' इस पर शङ्कराचार्य भी कहते हैं "जो साक्षाद्

द्वितीयः, तृतीयो यश्च सन्दिह्यमानः तेषु कतमो ममात्मा ?" इहाऽपि सन्दिह्यमान इति पदेन संशयमापन्नः एवेत्याशयः । न चेह स्वप्रकाशत्वम् ? अवेद्य त्वे सत्येवाग्रिमप्रश्नोद्भूति-सम्भवात् । परमवेद्यत्वं तु नवीन-वेदान्तिनाँ पक्षेऽसम्भवम्, ब्रह्मणो वस्त्वन्तराऽनङ्गीकारात्, कश्चान्यो वेत्ता वेद्यो वा स्यात् ! ब्रह्मणश्च सर्वदा स्वात्मबोध-सम्भवाच्च ।

न च मायाजन्म भ्रमत्वेनाऽवेद्यत्वम्, मायया द्वैतापत्त्या सिद्धान्तहानेः इति बह्वन्यत्राऽपि पल्लवितम् द्रष्टव्यम् । तस्मात् 'तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात्' इत्युक्तिस्त्वसारा ।। चार्वाकस्य माभून्नाम 'नाऽहमस्मीति प्रतीतिः, परं नवीन-वेदान्तिनि ब्रह्मरूपेऽपि भवति तु भ्रमो भवत्येव ।

पुनश्चार्वाकाणां निदर्शनेन 'अहमस्मीति' अनेन तव क आशयः ?

अव्यवहित प्रमुख ब्रह्म बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, इन समस्त गुणों से युक्त है । यह आत्मा कौन सा है ? अवमुज्यु के कहने पर कि पहला तो पिण्ड है, इसके भीतर इन्द्रिय, संघात रूप लिङ्ग देह द्वितीय है और तीसरा वह है जिसके विषय में सन्देह है । इनमें तुम किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो ? यहाँ भी 'सन्दिह्यमान्' इस पद से 'संशय को प्राप्त' यही आशय है । इसमें स्वप्रकाशत्व नहीं है ।

अवेद्यत्व होने पर ही अग्रिम प्रश्न की उद्भूति सम्भव है, परन्तु नवीन वेदान्तियों के पक्ष में तो 'अवेद्यत्व-कथन' भी नहीं घट सकता, क्योंकि वे ब्रह्मातिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते । फिर दूसरा वेद्य या वेत्ता कौन होगा ? ब्रह्म को तो सदा स्वात्मबोध सम्भव ही रहेगा ।

यदि आप कहें मायाजन्य भ्रम से अवेद्यता है, यह कथन बन नहीं सकता, क्योंकि माया की सत्ता स्वीकृत करते ही द्वैतापत्ति से सिद्धान्त हानि होगी, इत्यादि हमने अन्यत्र पल्लवित किया है, जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये । इसलिये 'तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात्' यह आपकी उक्ति सारहीन है । आपने कहा कि चार्वाक को 'नाहमस्मि' की प्राप्ति नहीं होगी, परन्तु नवीन वेदान्ती ब्रह्मरूप होने पर भी आपमें भ्रान्ति सदा वर्तमान रहेगी ही ।

पुनः चार्वाकों के उदाहरण 'नाहमस्मि' प्रस्तुत करने से आपका क्या

किन्तैरात्मा त्वदभिमतः स्वीकृतो, देहादि-व्यतिरिक्तो वा ? परं न तैश्चार्वाकैरधिगम्यते तथा। अपि च नेदं निदर्शनं तव साधकं, प्रत्युत देहेन्द्रियमनःसमुच्चयात्मकात्मत्वाऽधिगमत्वेन वाधकमेव। वस्तुतस्तु भवान् स्व-सिद्धान्तेऽस्पष्ट एव। चार्वाकास्तु देहादि-व्यतिरिक्तात्म-सिद्धये बुद्ध्यादि-गुणैर्नानुमानस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वते, न वा शब्द-प्रामाण्यम्। तथा भवानपि वेदस्येश्वरप्रणेतृत्वं न स्वीकुरुते। अस्मिन् विषये चार्वाकाणां तव च साम्यमेव।

(पृ० ५३४ अनु. २)—अत्र "यथार्थस्वरूपेण" इति स्थानेणत्वाभावस्तु अपाणिनीयः पठितः। सर्पयगादितिमन्त्रस्य च स्वामिनोऽर्थमाक्षिपन् यत्त्वाह "अकायमित्यनेन स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरत्रय संबन्ध-रहितत्वसिद्धौ 'अव्रणमस्नाविरमिति' पदयोः व्यर्थता एव विवेचकाः विचारयन्तु यदयमाक्षेपः वेदेष्वेव कृतः, न तु स्वामिनोऽर्थे, इयम् खलु प्रच्छन्नवेद-निन्दैव, स्वामिनोऽर्थस्तु उव्वटमहीधराभ्यामपि समर्थ्यतेऽत्र, यथा "य एवामात्मानमुपासते स पर्यगात् परिगच्छति

आशय है ? क्या उन्होंने तुम्हारे अभिमत आत्मा को स्वीकृत किया है या कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई अन्य। पर वे चार्वाक वैसा नहीं मानते। इस प्रकार यह उदाहरण तुम्हारी किसी बात का साधक नहीं। प्रत्युत "देह इन्द्रिय मनः समुच्यात्मक आत्मा उन चार्वाकों द्वारा माना जाने से बाधक है। वास्तव में बात तो यह है कि आप स्वयं भी अपने सिद्धान्त में अस्पष्ट और भ्रान्त हैं। चार्वाकों ने तो देहादि व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए बुद्ध्यादि गुणों से अनुमान का प्रामाण्य भी नहीं माना और न वे शब्द-प्रामाण्य को मानते हैं। उसी प्रकार आप भी वेद का ईश्वर प्रणेतृत्व नहीं मानते, इस विषय में आपकी और चार्वाकों की समानता है।

यहां "यथार्थस्वरूपेण' के स्थान पर 'स्वरूपेन' बनाना तो अपाणिनीय है। तथा 'सपर्यगात्' इस मन्त्र का अर्थ जो स्वा० दयानन्दकृत है, उस पर आक्षेप करते हुए यह कहना कि 'अकायम्' इससे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, शरीरत्रय सम्बन्धरहितता सिद्ध हो जाने पर 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' इन पदों की व्यर्थता है।' विवेक विचार करें कि यह व्यर्थता का आक्षेप वेद पर ही किया गया है न कि स्वा० दयानन्द के अर्थ पर। यह तो प्रच्छन्न वेद-निन्दा ही है। स्वामी जी के अर्थ का तो समर्थन तो आपके पूज्य उव्वट और महीधर ने भी कर

शुक्र-शुक्ल-विज्ञानानन्द-स्वभावमचिन्त्य-शक्तिम् । अकायम् न विद्यते कायः शरीरं यस्य सः तथोक्तः, अव्रणम् कायरहितत्वादेव अस्नाविरं स्नायुरहितमकायत्वादेव । शुद्धमनुपहतसत्त्वरजस्तमोभिरपापविद्धम् क्लेशविपाकाशयैरसंस्पृष्टम् ।

अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तानि 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरुक्त १०।४२), इत्यदोषः ।, महीधरभाष्ये इदमधिकम् "मनीषी मनसः ईशिता सर्वज्ञः । स नित्यः ईश्वरः सर्वम् कृतवानित्यर्थः ।" एवम् इह ऋषिरेव समर्थितः ।

आर्ष-प्रातिभचक्षुषा ऋषिणा दृष्टो विशिष्टोऽर्थः, 'अर्थान् व्यदधात्' इत्यस्य प्रतिसर्गं विदधाति इति समुपयुज्यत एवार्थः, स नित्यः सर्वं (वेदोपदेशमपि) कृतवान्, करोति करिष्यति इति वा । भो महापाणिनीय 'यथार्थ स्वरूपेन' इत्यत्र नकारोपलब्धौ मुद्रणत्रुटिः 'यथार्थ-स्वरूपेण' इत्येव पाठः समीचीनः इति निर्विवादम् । स च भाष्य-भूमिकायाः द्वितीय-संस्करणे सम्वत् १९४९ तमे विक्रमाब्दे मुद्रिते स्पष्टं द्रष्टुं शक्यः ।

यथा च भवत्पुस्तके वेदार्थपारिजाते प्रारम्भ एव प्रथमे पृष्ठे श्री गणेणायः नमः श्री लक्ष्म्यैःनमः इत्यत्र विसर्गयुक्तं रूपद्वयं मुद्रितं सर्वथा अशुद्धमेव, किमस्माभिरेवं वाच्यं यद् भवान् एतयोः शब्दयोः चतुर्थ्यन्त-रूपमपि न जानातीति, कदापि नैव, अत एवास्माभिः नैतत् त्रुटित्वेन आक्षिप्तं यावता भवता नाऽपि संस्करणान्तरं प्रकाशितं

दिया है। देखिये "जो इस प्रकार परमात्मा की उपासना करते हैं कि वह सर्वत्र व्याप्त है, शुक्र, शुक्ल विज्ञानानन्द-स्वभाव और अचिन्त्य शक्ति है। जिसका कार्य 'शरीर' नहीं है और कायरहित होने से ही अव्रण और स्नाय्वादि रहित है। शुद्ध सत्त्व, रज और तम से अनुपहत है, पापविद्ध भी नहीं, क्लेश विपाकाशयों से अस्पृष्ट है।'

'अकायम्' अव्रणम्, अस्नाविरम्, ये पुनरुक्त से प्रतीत होते हैं, परन्तु निरुक्तकार का कथन है कि यह पुनरुक्ति दोष नहीं, प्रत्युत अभ्यास-पठन सार्थक है, अतः कोई दोष नहीं। महीधर भाष्य में उक्त के अतिरिक्त इतना अधिक कहा है कि 'मनीषी अर्थात् वह मन का ईशिता, सर्वज्ञ है। उस नित्य ईश्वर ने सब कुछ बनाया है।" इस प्रकार ऋषि का समर्थन ही हुआ है।

नापि अशुद्धिपत्रम् पुस्तके संयोजितम् । अतः भूमिकायास्तु द्वितीय-संस्करणे 'स्वरूपेण' इति पाठोपलम्भाद् अपाणिनीयत्वस्य भवदाक्षेपः सर्वथा अयुक्तो द्वेष-दृष्टि-सूचकश्च ।

करपात्रमहोदयः स्व-पूर्वापर-विरोधोक्ति मेवाऽचिन्तयन् प्रलपतीव । यथा (१७६ पृष्ठे पं० १२) —

'ईश्वरस्य तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां नित्यत्व-सिद्धौ तैरेव कार्योत्पत्तौ कृतमस्य शरीर-ग्रहणेन" इत्यत्रेश्वरस्य अशरीरित्वमुक्तं, वैकुण्ठ-गोलोक-साकेत-कैलाशमणिद्वीपादिषु सपरिकरस्य सशरीरस्य भगवतोऽवस्थानं शास्त्रेषु वर्णितमेव" 'सर्वसाधारण शरीरापेक्षया तच्छरीराणां वैलक्षण्यसिद्धिः" । (१८१ पृ. पं. ६) इत्यत्र चेश्वरस्य शरीरित्वं प्रोक्तं, तदेवं विवेचकाः स्वयं विचारयिष्यन्ति किमत्र सत्यमिति ? किञ्च करपात्रिन् ।

न्यासीकृता पुराणानामाधिपत्ये मतिर्निजा ।
अतो नैव क्षमा किञ्चद्-वेदतत्त्वावगाहने ।।

परन्तु आर्ष प्रतिभा सम्पन्न दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने और भी विशिष्ट अर्थ देखा अर्थात् 'व्यदधात्' इसका अर्थ प्रत्येक सर्ग में सृष्टि रचना करता है यह अर्थ सर्वथा उपयुक्त ही है, उसने नित्य सर्व वेदोपदेश भी किया था, करता है और करेगा ।

'करपात्र महोदय तो अपनी पूर्वापर-विरोधोक्ति को न देखकर प्रलाप करने पर तुले हुये हैं । इन्होंने १७६ पृ० पं० १२ पर लिखा है—

'ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के नित्य सिद्ध होने पर उनके ही द्वारा कार्यजगत् की उत्पत्ति हो जायेगी, शरीर-धारण की क्या आवश्यकता है तथा पृ० १८१ पर—"वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास, मणिद्वीप प्रभृति में अपने भृत्य वर्ग के साथ सशरीर भगवान का निवास शास्त्रों में वर्णित ही है" 'सर्व साधारण शरीरों की अपेक्षा उसके शरीरों की वैलक्ष्यसिद्धि माननी पड़ती है" । विवेचक स्वयं ही विचार कर लेंगे कि यह चूं चूं का मुरब्बा कैसा ?

करपात्री जी ने अपनी बुद्धि पुराणों के आधिपत्य में गिरवी रख दी है, इसलिये वेदों के तत्त्वावगाहन में समर्थ नहीं हैं ।

नैवास्माभिर्लक्षितं सर्वग्रन्थ-खण्डनं बहुत्रोपलम्भनात्तद्विषयाणाम् अवतारवादादीनां खण्डनस्य । यावानंशः प्रसङ्गमनुबध्नाति भूमिकाऽऽलोचने तस्याऽप्यल्पीयानंश एव समालोच्यते, तस्य सर्वस्य तु बहु-समय-साधन-साध्यत्वात् ।

ननु "सपर्यगात्, इतिमन्त्रे 'अकायम्' अव्रणम्, 'अस्नाविरम् इति पदैः ईश्वरस्य लक्षणं विधीयते, लक्षणत्वं तु दोषत्रय-शून्यत्वम् भवति तथा 'अकायम्' पदेन वायोरपि विशेषणत्वं भवितुमर्हति इत्यति-व्याप्तिदोष-वारणाय 'अस्नाविरमितिपदं वन्धनाभावद्योतकम्, वायोश्च वन्धनार्हत्वात् नलिकादिषु ; परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मत्वात् वायोरपि तत्र प्रवेशानर्हत्व-सूचकम् 'अव्रणमिति, पदं प्रयुक्तम् । एवमिदमीश्वरलक्षणं सम्पत्स्यते, तदा नास्ति व्यर्थः पाठः 'अस्नाविरम्' 'अव्रणम्' इति पदयोरिति वाच्यम् इति चेन्न, कायशब्देन चीयन्ते अस्मिन् कर्माणि चीयतेऽन्नादिभिर्वा इत्यर्थो गृह्यते, कायश्च शरीरम्, शरीरं त्रिविधम् स्थल-सूक्ष्मकारणात्मकम्, तत्त्रिविधमपि शरीरं नास्ति ईश्वरस्येति-

---

यहाँ हमारा लक्ष्य वेदार्थ पारिजात का अविकल खण्डन करना लक्षित नहीं है, क्योंकि उसके अवतारवादादि का बहुत खण्डन उपलब्ध है । जितना अंश ऋग्वेदादि भा० भू० के आलोचन में प्रासंगिक रूप से आ गया है, उस का भी अशतः ही समालोचन किया जा रहा है, क्योंकि इसको बहुत समय और साधन अपेक्षित हैं ।

प्रश्न —'सपर्यगात्' इस मन्त्र में 'अकायम्' 'अव्रणम्' अर्थात् इन पदों से ईश्वर का लक्षण किया जा रहा है और लक्षण 'दोषत्रय' अव्याप्ति आदि तीनों दोषों से शून्य होना चाहिये तथा 'अकायम्' पद तो वायु का भी विशेषण हो सकता है, अतः अतिव्याप्ति दोष वारण के लिये 'अस्नाविरम्' यह पद बन्धनाभाव द्योतक है जबकि वायु नलिकादि में बांध ली जाती है । परमेश्वर अतिसूक्ष्म है, जिसमें वायु का भी प्रवेश नहीं हो सकता । यह बताने के लिए 'अव्रणम्' यह पद प्रयुक्त किया है । इस प्रकार यह त्रिपद पाठ की सार्थकता बन जाएगी और अस्नाविरम् और अव्रणम् पदों की भी व्यर्थता न रहेगी ।

समा०—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है—क्योंकि काय शब्द जो अन्नादि से पुष्ट होता है अथवा जिसमें कर्मों का चयन हो उसे काय कहते है, यह

'अकायमिति पदेन महर्षिणा गृहीतम्, यत्र हि आक्षिप्तं करपात्रिणा। न च वायुः क्वापि कायत्वेन प्रसिद्धः स्थूलादिष्वनन्तर्भावात्। अपि च न कायो यस्याऽस्ति इति सः अकायः इति व्युत्पत्तिस्तु पञ्च भूतव्यतिरिक्ते मुक्तजीवे एव घटते। जीवोऽपि कदाचित् मुक्त्यवस्थायां एतद्व्युत्पत्तिभाग् भवति, अपरत्र च सकायो जायते। वायोरकायत्वमेव, अन्यथा मनसो बुद्धेश्चित्तस्याप्येकैकस्य कायपदघटितताऽऽपतेत्। वस्तुतस्तु 'अकायम्' इत्यादि पदार्थानां समावेशः 'स पर्यगात्' इति पदे एव सम्भवति, सर्वव्यापकत्वात्, सर्वजगति परिपूर्णत्वात्, एकस्याऽपि परमाणोस्तद्व्याप्तेः रहितत्वाभावात् च। अतो न लक्षणत्वमेतेषु त्रिष्वेव पदेषु सीमितम्। अपरिमितप्रज्ञेन महर्षिदयानन्देन अस्मिन् मन्त्र-व्याख्याने लिखितम् यत् शुक्रादि लक्षणैर्युक्तो यः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति स स्वसामर्थ्येन वर्त्तमानोऽर्थान् स्वप्रजायै (व्यदधात्) अरचयत्।

काय अर्थात् शरीर तीन प्रकार का होता है स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। यह तीनों प्रकार का भी शरीर ईश्वर का नहीं है—

यह अर्थ महर्षि ने अकायम् पद से ही गृहीत किया है। जिस पर करपात्री जी ने आक्षेप किया है। कहीं पर भी वायु को काय नहीं कहा गया, क्योंकि स्थूलादि में इसका अन्तर्भाव हो जाता है--

और 'जिसके काय नहीं' यह व्युत्पत्ति तो पञ्चभूत व्यक्ति में ही घटित होती है।

जीव भी कभी मुक्त्यवस्था में इस व्युत्पत्ति वाला होता है, मुक्ति की अवस्था से अन्यत्र सकाय होता है। वायु का तो अकायत्व ही है अन्यथा मन, बुद्धि, चित्त में भी काय पद की घटितता आने लगेगी। वस्तुतस्तु 'अकायम्' आदि पदों के अर्थों का समावेश 'स पर्यगात्' इस पद में ही सम्भव है, ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उस परमात्मा से सर्वजगद्पूर्ण होने तथा एक भी परमाणु के उसकी व्याप्ति से रहित होने का अभाव है। इन्हीं उक्त 'अकायम' आदि तीनों पदों में ही ईश्वर का लक्षण सीमित नहीं है। इसीलिए अपरिमित प्रज्ञ महर्षि दयानन्द ने इसी मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है कि शुक्रादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर है, उस ब्रह्म ने अपने सामर्थ्य से वर्त्तमान होकर अर्थों को प्रजा के लिए बनाया।"

अतो वेदमन्त्रेण निषेधात्मकाकायादिपदैः परमात्मानं विशेषयद्भिरपि कायस्य सम्भावित-सर्व-विशेषणान्यपि व्याख्यातानि। यथा जीवकायः व्रण-स्नायु-पापादि-युक्तो भवति। किञ्च 'अस्नाविरमिति पदं वायुवारणाय मन्येत तदा 'शुद्धमितिकथने अपापविद्ध मिति पदस्य व्यर्थताऽपद्येत। तथा चेदम् कथनं महर्षि-कथनाद् विपरीतं स्यात्। यद्येतावदेव अकायत्वे सति 'अस्नाविरत्वम-व्रणत्वम्' ईश्वरत्वम् इति लक्षणं क्रियेत, तदा शरीरं हि—

'भोगायतनम् अथवा चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः, तच्च त्रिविधत्वे समाविष्टमिति कृत्वा वायुरपि पञ्चभूताङ्गत्वेन शरीर-ग्रहणेन गृहीतः स्यात्।

वस्तुतस्त्वेतन्मन्त्र-ध्वनितोऽर्थो महर्षिणा सत्यार्थप्रकाशे प्रकाशितः सप्तमे समुल्लासे। 'सपर्यगात्' अस्मिन् मन्त्रे द्विविधं पद-कदम्बकम्, एकं परमेश्वरस्य सगुणस्तुतिख्यापकम्, इतरद् निर्गुण-स्तुतिपरकम्। तथा च (१) सः पर्यगात्, शुक्रम्, कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भूः. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् इति प्रथमम् (२) अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, इति द्वितीयं निर्गुणस्तुतिकृत्।

इसलिए वेदमन्त्र के द्वारा निषेधात्मक अकाय आदि पदों से परमात्मा की विशेषता बताते हुए भी काय के सम्भावित सब विशेषण भी बता दिए। जैसे जीव का काय व्यलीकं पीड़ाकरम् स्नायु पञ्चादि युक्त होता है और 'अस्नाविरम् यह पद यदि वायु-वारण के लिए माना जावे, तो 'शुद्धम्' इस पद के कहने पर 'अपापविद्धम्' इस पद की व्यर्थता बनी ही रहेगी और यही कथन महर्षि के कथन से विपरीत हो जाएगा। यदि इतना हो तो 'अकायत्व होने पर अस्नाविरत्व और अव्रणत्व ईश्वरत्व है, यह लक्षण माना जावेगा।

क्योंकि शरीर तो भोगायतन अथवा चेष्टा इन्द्रियार्थ का आश्रय है। वह तीन प्रकार का है। वायु भी पञ्चभूतों का अङ्ग होने से शरीर के ग्रहण से से गृहीत हो जाता है।

वास्तव में इस मन्त्र से ध्वनित अर्थ को महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में प्रकाशित किया है। 'सपर्यगात्' इस मन्त्र में दो प्रकार का पद समूह है। एक तो परमेश्वर का सगुण स्तुतिपरक और दूसरा निर्गुण स्तुति परक जैसे—(१) सः पर्यगात्, शुक्र, शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू—

यथा हि (१) "सर्वत्र व्यापकः, आशुकरोऽनन्तबलवान्, शुद्धः सर्वज्ञः, सर्वान्तर्यामी, सर्वातिशायी, सनातनः स्वयं-सिद्धः परमेश्वरः सनातनानादिजीवरूपां प्रजां निजनित्यविद्यया यथावदर्थान् वेद मुखेन बोधयति । तत्तद्गुण-विशिष्टस्य परमेश्वरस्य स्तवनादियं सगुणा स्तुतिः ।

(२) देहविवर्जितस्यात्मनः, अच्छिद्रस्य, नाड्यादिबन्ध-रहितस्य, अपापचारिणः क्लेश-दुःखाज्ञानसभिन्नस्य परमात्मनः, तत्तद रागद्वेषादिगुणैः पृथक्तया स्तुतिविधानं निर्गुणा स्तुतिः ।

परमेश्वरस्येवात्मनोऽपि गुण-कर्म-स्वभाव-संविधानमस्य फलम् । यथाहि परमेश्वरो न्यायकारी तथैव स्वयमप्यनुतिष्ठेत् । (सत्यार्थ प्र० ७ स०) अतः—

एतद् गहन-बोधेन ऋषेस्तस्य तपस्विनः ।
ऋतम्भरैव प्रज्ञासीत् सत्यमित्यवसीयते ॥

तथैव भूमिकायामुपासना-विषयेऽपि "सेयं तस्य परमेश्वर-

याथातथ्यतोऽर्थात् व्यदधात् । यह प्रथम (२) अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, यह द्वितीय ।

जैसे—सर्वत्र व्यापक, आशुकर, अनन्त बलवान् शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी सर्वातिशयी, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर, सनातन अनादि जीवरूप प्रजा को निज नित्य विद्या से यथावद् अर्थों को वेद-मुख से उपदेश करता है, उन गुणों से विशिष्ट परमेश्वर के स्तवन से यह सगुण स्तुति है ।

(२) देहरहित आत्मा अच्छिद्र, नाड्यादि बन्धन रहित अपापधारी, क्लेश-दुःख अज्ञान से पृथक् परमात्मा का उन-उन राग-द्वेष आदि गुणों से पृथक् होने से स्तुति विधान ही निर्गुण स्तुति है ।

परमेश्वर के समान जीवात्मा के भी गुण-कर्म स्वभाव का संविधान भी इससे ध्वनित होता है । जैसे परमेश्वर न्यायकारी है । वैसे ही स्वयं भी न्याय का अनुष्ठान करें (स० प्र० समु०७)

इस गम्भीर ज्ञान से उस तपस्वी ऋषि की प्रज्ञा ऋतम्भरा ही थी, यह सत्य प्रमाणित हो जाता है ।

उसी प्रकार भूमिका के उपासना विषय में भी कहा है कि उस परमेश्वर

स्योपासना द्विविधाऽस्ति—एका सगुणा, द्वितीया निर्गुणाचेति। तद्यथा—"स पर्यगाच्छुक्र०" इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रं शुद्धमिति सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि-निर्गुणोपासनं च।"

श्री शङ्कराचार्येण कृतो मन्त्रार्थः "स प्रकृतः परमात्मा सर्वतोगः" इति। अतस्तेनापि शरीरत्रयरहित एव परमात्मा प्रतिपादितः। यदुक्तम् भवता "एवं परमात्मनः स्थूलसूक्ष्मकारणदेह-शून्यत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्यसच्चिदानन्दलक्षणं स्थूल-सूक्ष्म-शरीर वत्त्वमस्त्येव" इति तदेतत् परस्परविरोधिवचसां व्यर्थतैव। प्रकृतेरनुत्पन्नमप्राकृतम् दिव्यं प्रकाशस्वरूपं सच्चिदानन्द-लक्षणात्मकं भक्त-भावनादृष्ट्या स्थूलं सूक्ष्मं चापि विरुद्धं कल्पितशरीरमिति तु काल्पनिकं न तु वास्तविकमप्राकृतत्वात्। ननु तदीदृक्स्थूलं पृथिव्यादि, सूक्ष्मं च परमाण्वादि यस्य शरीरवद्वर्तते। भक्तश्च किल एतेषु पदार्थात्मकशरीरेषु सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म पश्यति यथा "यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्" इत्यादि।

न चात्र शरीरपरकार्थ एव स्वीकार्यः, "तत्परातत्पर-विरोधे तत्परं बलवदिति न्यायेन" निराकारप्रतिपादनश्रुतेरेव बलवत्तरत्वात् इति।

की दो प्रकार की उपासना है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण जैसा कि 'सपर्यगात्' इस मन्त्र में है।

श्री शङ्कराचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ किया है, कि 'वह प्रकृत परमात्मा सर्वत्र (प्राप्त) है' तथा शरीर-त्रय रहित ही परमात्मा का प्रतिपादन किया है। आपने जो कहा कि 'इस प्रकार परमात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर-त्रय शून्य होने पर भी भक्तानुग्रहार्थ अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्द-लक्षणात्मक स्थूल, सूक्ष्म शरीरवत्ता हो ही जाती है" ये परस्पर विरोधी वचन तो प्रलापमात्र व्यर्थ ही हैं। प्रकृति से अनुत्पन्न अप्राकृत, यह आपका ही कल्पित शरीर है, वास्तविक नहीं। स्थूल पृथिव्यादि और सूक्ष्म परमाणु आदि जिसके शरीरवत् हैं।

और ज्ञानी भक्त इन पृथिव्यादि पदार्थात्मक शरीरों में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म को निर्मल बुद्धि से देखते हैं। जैसा कि वेद में कहा है 'यस्य भूमिः प्रमा—' आदि।

ननु रामादीनां दिव्य-देहे बाणादिकृतव्रणवत्त्वप्रतीतिःमायाऽऽरोपितैव न तु वास्तविकीत्यपि 'न' वाच्यम्, रामादीनामपि सर्वक्लेशदर्शनेन कल्पितदिव्यदेहस्य प्रत्यक्षविरोधात्, तेषामप्राकृताभावात्। किञ्च भगवतः शङ्करस्य यद्यन्योऽभिप्रायो व्याख्यायेत तदा नास्मदादरास्पदम्' श्रुतिविरोधात्। यथा चोपनिषदि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्" (बृहद्० ३।७।३)। इत्यस्य शाङ्करभाष्ये त्वत्कल्पितशरीरस्यापोषितत्वाच्च,।

ईशोपनिषद्भाष्ये तु नैवायमर्थो यत् भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्य सच्चिदानन्दलक्षणं स्थूलसूक्ष्म-शरीरवत्त्वमप्यस्त्येवेति । तदेतत् त्वया स्वकल्पितमेव वर्धितम् । शतपथ ब्राह्मणे तु आत्मा एव शरीरं वर्णितम्, यथा "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनान्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् । आत्मनोऽन्तरो यमयति स तु आत्मान्तर्याम्यमृतः। (शत० १४।६।७)।

यहाँ शरीर-परक अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'तत्पर और अतत्पर विरोध में तत्पर ही बलवान होता है' इस न्याय से निराकार-प्रतिपादक श्रुति ही बलवत्तर है।' क्योंकि निराकारत्व-प्रतिपादक श्रुति की ही बलवत्ता है।

(पू. प.) रामादि की देह दिव्य थी, उसमें बाण आदि से की हुई व्रण-युक्त प्रतीति माया से आरोपित है न कि वास्तविक। (उ० प०) यह कहना भी सङ्गत नहीं, क्योंकि राम आदि में सब क्लेशों का अनुभूत होना सिद्ध है और कल्पित-दिव्य-देह का प्रत्यक्ष से विरोध है, क्योंकि वे देह अप्राकृत नहीं थे।

यदि भगवान् शङ्कर का अन्याऽभिप्रायक व्याख्यान किया जाये तो वह श्रुति विरुद्ध होने से हमें आदरणीय नहीं। उसी प्रकार 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इस वृहदारणक शांकरभाष्य में करपात्र द्वारा कल्पित शरीर का मानना भी समर्थित नहीं है।

ईशोपनिषद् भाष्य में तो 'भक्तानुग्रहार्थ अप्राकृत दिव्य शरीर आदि कथन नहीं है, यह तुम्हारा ही कपोल-कल्पित बढ़ाया हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में तो 'आत्मा को ही शरीर वर्णित किया है' जैसे 'जो आत्मा में स्थित होता हुआ—

न च "अनुदरीकन्या" इतिवत् नञोऽल्पार्थकत्वाद्विरोधपरिहार-वदत्रापि 'अकायमल्पकायमिति कल्पनीयम् । "अनुदरीकन्या" इत्युदाहरणस्यात्रासङ्गतेः, उदराभावे तदभावापत्तेः । न च तथा ब्रह्मणः स्थितिः, तस्य कायाभावेऽपि तत्सत्ताभावप्रसक्तेः । अत्र शाङ्करमुत्थानकं यथा "कथं पुनराकारवदुपदेशिनीषु च ब्रह्म-विषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतम् ? अत उत्तरं पठति—"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।" (वेदान्त ३।२।१४) रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत्, कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५)' दिव्यो ह्यमूर्त्तःपुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२) । तस्मादेतेषु वाक्येषु यथा श्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् ।"

का तर्ह्याकारवद्विषयाणाम् श्रुतीनाम् गतिरित्यत आह— "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्" (वेदान्त० ३।२।१५) इति । तदेवमुक्त

जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि (शत० १४।६।७) ।

शङ्का—'अनुदरी कन्या' में जैसे नञ् अल्पार्थक है, उसी प्रकार अकायम् में भी 'अ' को अल्पार्थक मान लिया जावे अर्थात् परमात्मा का लघु शरीर है, ऐसा क्यों न मान लिया जावे ?—

समा०—महाशय ! यह कथन यहाँ सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि 'उदरा-भाव में तो इस उक्ति का अभाव ही रहेगा । 'अनुदरीकन्या' के समान ब्रह्म की स्थिति नहीं, क्योंकि उसके काय का अभाव होने पर भी ब्रह्म की सत्ता तो प्रसक्त है ही । यहाँ पर शङ्कर की प्रस्तावना देखिये "साकार का उपदेश देने वाली और निराकार का उपदेश देने वाली ब्रह्म विषयक श्रुतियों के होने पर निराकार ब्रह्म का ही कैसे अवधारण किया जाता है और उसके विपरीत नहीं ? इसलिये इसका उत्तर कहते हैं—'रूप आदि आकार से रहित, ब्रह्म का अवधारण करना चाहिये 'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुति में निर्विशेष ब्रह्म प्रधान है" (वेदा० ३।२।१४)

तथा जैसे 'न वह स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है (बृह० ३।८।८) (वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित और अव्यय है, (कठ० ३।१५) वह पुरुष दिव्य, अमूर्त्त और बाहर तथा भीतर और अजन्मा है, (मुण्डक

शाङ्करभाष्येणापि त्वदनभीष्टं निराकारमेव ब्रह्म सिद्धम् । घटते चेयं निर्मलोक्तिः सत्या यत

> चतुर्वेदो गतः काशीं, यः षड्वेदबुभूषया ।
> द्विवेदीभूय चायातः कीदृग्भाग्यविडम्बना ।
> देहधारणबुद्ध्यैव शाङ्करं भाष्यमुद्धृतम् ।
> निराकारं परं ब्रह्म, सिद्धं सत्यं न चानृतम् ।।

किञ्च, दिव्यदेहे व्रणवत्त्वप्रतीतिः मायादिदर्शितब्रह्मादिवदारोपिता, इति तु उन्माद-प्रलाप एव ।

"मायादि" इत्यत्र आदिपदेन नवीन-वेदान्तिनां कृते किमवशिष्टं ? यद् ग्राह्यम् ।

वस्तुतस्तु निरर्थक एव आदि-पाठः । मायादि-दर्शित-ब्रह्मादिवदारोपितम्, किमारोपितमत्र ? आदि-पद-निरर्थकता, ब्रह्मपद प्रयोगानुपयुक्तता च तव हिन्दीरूपान्तरकृतैव स्वीकृतेति ध्वन्यते तदननुवदनात् ।

२।१।२) अतः इन वाक्यों में यथाश्रुत निराकार ब्रह्म का ही अवधारण करना चाहिये ।

प्रश्न—इस प्रकार साकार ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति होगी ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तकार कहते हैं—"प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम्" इस प्रकार फिर उक्त शाङ्कर भाष्य से भी आपका अनभीष्ट निराकार ही ब्रह्म सिद्ध है । सच है—चले तो चतुर्वेदी काशी को छब्बे होने को, पर द्विवेदी होकर लौटे, कैसी भाग्य की विडम्बना है ?

शङ्कर का भाष्य ईश्वर को देहधारी सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया था, परन्तु निराकार ब्रह्म ही सत्य सिद्ध हुआ ।

दिव्य देह में व्रण आदि की प्रतीति तो मायादि दर्शित ब्रह्मादिवत् आरोपित है, यह कथन तो उन्माद प्रलाप ही है ।

आप बताइये 'मायादि' यहाँ पर आदि पद से नवीन वेदान्तियों के लिये और क्या अवशिष्ट रहेगा, जो ग्राह्य है ?

वास्तव में आपका 'आदि' पाठ निरर्थक ही है । मायादि दर्शित ब्रह्मादि-

ननु शङ्कराचार्य-भाष्य-नाम्ना "भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतं शरीर" मित्यनेन साकारतापि नाम सिध्येद् ब्रह्मणः, का हानिः ? इति चेन्न, वेद-विरोधात् सिद्धान्त-हानेर्महाऽनर्थापत्तेश्च, यतो हि ब्रह्मणः साकारत्वे व्यापकत्त्वक्षत्यासर्वज्ञत्वादिगुणाभाव-प्रसक्तौ, परिमित-त्वाद् गुणकर्म-स्वभावानामपि परिमितताप्त्तिः स्यात ।

न च निराकारः सन्नपि ईश्वरः स्वभक्त-दर्शन-दानाय विग्रहवान् भवत्येव इति वाच्यम्, गोगोचर-शरीरस्य मायामयत्त्वात्, चर्म-चक्षुर्दर्शनार्हत्वाच्च तस्य आत्मस्थब्रह्मणस्तु दर्शनाभावः ।

न च हिरण्य-कशिप्वादिराक्षस-विनाशाय प्रह्लादादिभक्त-रक्षणाय शरीरधारणप्रयोजनमेवास्तु, सर्वव्यापकस्य तेषामपि हृदयेषु व्यापकत्वात् हृदयावरोधादिना विनाशेऽपि सर्वथाक्षमत्वात् ।

वत् आरोपित किया, यह तो अस्पष्ट रहा । आपके पठित 'आदि' पद की निरर्थकता और ब्रह्मपद प्रयोग की अनुपयुक्तता तो नीचे अनुवाद न देकर आपके हिन्दीकार ने ही ध्वनित कर दी, क्योंकि उन्होंने इसका अनुवाद नहीं किया ।

यदि कोई शङ्का करे कि 'भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतं शरीरम् इसको शंकर का कल्पित पाठ मानकर ही ब्रह्म की साकारता सिद्ध हो जाने दो, इसमें आपकी क्या हानि है ? भाई ! ऐसी बात नहीं, क्योंकि वेद-विरोध होने तथा सिद्धान्त हानि होने से महान् अनर्थ हो सकता है, ब्रह्म की साकारता मानने पर व्यापकत्व की क्षति होगी, उसमें आसर्वज्ञत्व आदि गुणों का अभाव भी आ पड़ेगा तथा ब्रह्म के परिमित मानते ही उसके गुणकार्य स्वभाव की भी परि-मितता माननी पड़ेगी । ऐसा भी नहीं कह सकते कि निराकार होते हुये भी ईश्वर अपने भक्तों को दर्शन देने के लिये विग्रहवान् हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय गोचर शरीर तो मायामय ही होगा और चर्म-चक्षुओं से दर्शनीय भी हो जायेगा । आत्मस्थ ब्रह्म का दर्शनाभाव हो जायेगा ।

और न यही कह सकते हैं कि 'हिरण्यकशिपु' आदि राक्षसों के विनाश के लिये, प्रह्लाद आदि भक्तों की रक्षा के लिए शरीर धारण करना सप्रयोजन है, क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर उनके भी हृदयों में व्यापक होगा, इस प्रकार वह हिरण्यकशिपु आदि के विनाश में हृदयावरोधादि से सर्वथा समर्थ है ।

किञ्च पुराणेऽपि (स्कन्दे ४।१३।१५) साकारत्वं स्पष्टमाक्षिप्यते।

किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः।
देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतस्तदा॥
अयमेव भावः स्वामिना सत्यार्थ-प्रकाशेऽपि द्योतितः।

उदरम्भरयो नाम किमपि लिखितुं पारयेयुः परमिदं भृशं क्लेशयते, विस्मयञ्चावहते यद्भगवतः शङ्कराचार्यस्याप्युत्तराधिकारी शङ्कराचार्य श्री १०८ श्री निरञ्जनदेव तीर्थ महाराजोऽपि पुरीपीठमलङ्कुर्वन् आद्य-शङ्करभाष्य-विरुद्धं जनमनोरञ्जनाय ईश्वरस्य साकारतां प्रतिपादयति। तथाहि:-अयं वेदार्थ-पारिजातस्यादौ स्व-वक्तव्यं प्रस्तौति "यत्स्वामिदयानन्दादयः कतिपय-भारतीय विद्वांसो वेद-सम्बन्धे स्वमनोमानितामकुर्वन्" इति।

भोः तीर्थपदलाञ्छन ! किमर्थमस्मिन् वेदकदर्थकर्मकर्दमे अवसीदति भवान् करपात्रसंस्कृतपांडित्य-हत-प्रतिभः सन्तेन सह ? यदेकतः स्वामिदयानन्दमृतम्भराप्रज्ञमभिनिन्दति, अपरतो महीधरम-

---

पुराण में भी (स्कन्द ४।१३।१५) ईश्वर की साकारता का स्पष्ट खण्डन किया है जैसे कि विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र बृहस्पति सभी विकारों से संयुक्त हैं।, यही भाव महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रकाशित किया है।

पेटू लोग कुछ भी अनर्गल लिख सकते हैं, परन्तु यह अत्यन्त क्लेशकारक और विस्मयकारक है कि भगवान् शंकर के भी उत्तराधिकारी 'श्री निरञ्जन देव पुरी-तीर्थ के अधीश्वर भी आद्य-शंकर के भाष्य के विरुद्ध मूर्तिपूजनकजनों को प्रसन्न करने के लिये ईश्वर की साकारता का प्रतिपादन करते हैं। इनकी बुद्धि जनता के थोथे सम्मान प्रदर्शन के नाम पर गिरवी रख गई और अपने महानगुरु शकर का इन्होंने तिरस्कार कर दिया। खेद है कि ये वेदार्थ-पारिजात के आदि में वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं कि स्वामी दयानन्द आदि कतिपय विद्वान् वेद के सम्बन्ध में अपनी मनमानी कर रहे हैं।

भगवन् तीर्थ जी ! आप वेद के कदर्थ कर्म रूपी कीचड़ में फँसे करपात्र जी के संस्कृत:पाडित्य से हतप्रभ होकर उनके साथ क्यों गढ़े जा रहे हो ? जो एक ओर ऋतम्भर प्रज्ञ स्वामी दयानन्द की निन्दा कर रहे हो ? और दूसरी

ऽभिनन्दति, किं कदापि भवता तद्भाष्ये "गणानांत्वा" आदि मन्त्राणां अश्लीलादिदोष-दुष्टार्थोऽप्यवलोकितः ? येन स्ववक्त-व्यान्ते भवान् आश्वस्तो 'यदनेन वेदार्थ-पारिजातेन समस्तः संसारः उपकृतो भविष्यतीति' लिखितवान्। उपहासास्पदमयं सदसद्विवेको यद् भवतोऽपि महातोषः स्वामिदयानन्द-द्वेषेणैव परिवर्धते, भवन्तं त्वभ्यर्थये श्रद्धया यत् कुपक्ष-पङ्ककलङ्काङ्कितैः शब्दप्रयोगैर्मा कल-ङ्कयतु पीठम्।

न चैवम् "नमो हिरण्यबाहवे" "नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः" इत्यादि श्रुतिशत-विरोधपरिहाराय विग्रहवत्ताऽङ्गीकृतिरेव श्रेयान् पन्थाः इति वाच्यम्, तेषां मन्त्राणाम् तात्पर्यानभिज्ञानात्। यतोहि 'नमोहिरण्यबाहवे' (यजु० १६।१७) मंत्रे प्रतिपादितम्-यत्तेजस्वि-भुजाय सेनाशिक्षकाय नमो वज्रमन्नादिकं वा भवतु, हरितपर्णभ्यो हरणशील-सूर्य-किरणवदाम्रादिवृक्षेभ्यो नमः वज्रादिकं तच्छेदनाय, एवमग्रेऽप्यूह्यम्। "नीलग्रीवाः शितिकण्ठा" इति मन्त्रेऽपि सूर्य-विद्युतो-र्विज्ञानोपदेशेन आग्नेयाद्यस्त्राणां सिद्धेरुपदेशः। महीधर-

---

और महीधर का अभिनन्दन कर रहे हो। क्या कभी आपने उनके भाष्य में 'गणानांत्वा—' आदि मन्त्रों का घोर अश्लीलार्थ भी देखा है ? क्या आपने वक्तव्य में आप आश्वस्त हैं ? जो लिखा है कि इस वेदार्थ-पारिजात से समस्त संसार उपकृत होगा।' वाह ! क्या कहने हैं आपके सदसद्विवेक के, बलिहारी है आपकी बुद्धि को। जो आपका भी सन्तोष स्वामी दयानन्द के द्वेष से बढ़ता है। आपसे हम श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करते हैं कि अधम-पक्ष के पंक कलङ्क से अंकित शब्दों के प्रयोग से पीठ को तो कलङ्कित न कीजिये।

यह कहना भी भूल है कि 'नमो हिरण्य बाहवे' नीलग्रीवाः शितिकण्ठा' इत्यादि श्रुतियों के सैंकड़ों विरोधों के परिहार के लिये विग्रहवत्ता स्वीकार कर लेनी चाहिये, आप द्वारा इन मंत्रों का तात्पर्यार्थ न समझने के कारण ऐसा कहा जा रहा है, क्योंकि 'नमोहिरण्य बाहवे' मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि जो तेजस्वी भुजावाला सेना शिक्षक है, उसके लिये नमः अर्थात् वज्र या अन्नादिक हों इत्यादि। 'नीलग्रीवाः' इस मन्त्र में भी सूर्य और बिजली के विज्ञानोपदेश के द्वारा आग्नेयादि अस्त्रों की सिद्धि का उपदेश है। यदि महीधरकृत मन्त्रार्थ तुम्हारा अभिमत है तो तद्वर्णितशंकर की भौतिक

कृतमन्त्रार्थस्य त्वदभिमतत्वे सति तु तत्रस्थ-शङ्करस्य भौतिक-विषपान-घटनाऽनन्तरमेव एतन्मन्त्ररचनायाः सिद्धौ सत्यां वेदे नश्वरेति-वृत्तापातेन महाननर्थ-सम्भवः।

यच्चोक्तं "समाभ्यः" इत्यस्य 'प्रजाभ्यः' इति काल्पनिक एवार्थ' इति शङ्का तु अनुर्वरमस्तिष्क-जनसुलभा, रूढ्यर्गलाजडीकृत-विचार-तन्तुत्वात्। सुधियो निभालयन्तु तावद्,यद् "अर्थान् व्यदधात्" इति अर्थानाम् विधानम् नहि जीवान् विना तर्कसङ्गतं स्यात्। अतः ऋतम्भर-प्रज्ञो महर्षि दयानन्दः "समाभ्यः" प्रजाभ्यः जीवेभ्यः इत्यर्थमुचितमेव चक्रे।

किञ्च नित्य-चेतनत्वात्समानधर्माणो जीवाः एव समाः, तथा च मानार्थान्माधातोः सम्मान्ति इति समाः, सह वर्तते वा मानं ज्ञानं वा आसु ताःसमास्ताभ्यः प्रजाभ्यो जीवेभ्यः इति। न च जीवेभ्यः पृथक् क्वापि परमात्मनो वेद-ज्ञानस्याधिकरणता।

न च महीधर-कृतोऽर्थः 'संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः अर्थान् पदार्थान् व्यदधात्' इति साधीयान् स्यादिति वाच्यम्' तन्मत-प्रजा-

---

विषपान घटना के अनन्तर ही इस मन्त्र की रचना की सिद्धि माने जाने पर वेद में नश्वर इतिहास को स्वीकृत करने पर महान् अनर्थ हो जायेगा।

यह जो कहा कि 'समाभ्यः' का अर्थ प्रजाभ्यः अर्थात् प्रजाओं के लिए—करना काल्पनिक है। यह शङ्का तो अनुर्वर मस्तिष्क वाले जनों को सुलभ है, रूढ़ि की अर्गला से विचार तन्तुओं के जड़ होने का ही यह परिणाम है। बुद्धिमान् विचार करें कि 'परमात्मा ने पदार्थों का विधान किया' यह अर्थों का विधान जीवों के बिना तर्कसंगत नहीं हो सकता। अतः ऋतम्भर-प्रज्ञ महर्षि दयानन्द ने 'समाभ्यः, प्रजाभ्यः' यह अर्थ किया।

नित्य चेतन होने से समान-धर्म जीव ही हैं। इस प्रकार मानार्थक मा धातु से सम्मान्ति इति समाः अथवा जिनका ज्ञान समान हो ऐसे जीवों के लिये। जीवों से पृथक् परमात्मा के ज्ञान की अधिकरणता भी कहीं नही है।

पू० प०—सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिये पदार्थों का विधान किया गया, महीधरकृत यह अर्थ ही सही क्यों न मान लिया जावे ?

समाधान—महीधर के माने प्रजापति तो अचेतन हैं, अतः उनके लिये

पतीनामचेतनत्वात् । यदि च ते प्रजापतयश्चेतनावन्तो न तदा जीवातिरिक्ताः ते ।

अथ चाऽचेतनास्तेभ्यः पदार्थ-विधानस्याप्रयोजनत्वात् । तस्मात् 'प्रजाभ्य' एष एवार्थो गरीयान्, न तु महीधरादि-कृतो वेद-महत्त्व विलोपकोऽर्थः । अपरं च यथा 'दण्डमाकार्य भोजय' इत्यत्राभिधार्थ-वाधात् लक्षणया दण्डवन्तमाकार्य इत्यर्थः उपपद्यते, तथैव समाभ्यः समावद्भ्यो वत्सरवद्भ्य जीवेभ्यः एवेत्यर्थः सूपपन्नः सर्वथा, बिद्वद्वर्यो भीमसेनोऽपि उपनिषद्भाष्ये महर्षिमतमेवानुचक्रे ।

(पृ० ५३६ अनु० १) स्वामिना 'नासत आत्मलाभो न सत आत्म-हानमिति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं युक्त्याऽपि प्रतिपादितम् । तत्र करपात्राणामेष आक्षेपः यत् "सत्कार्यवादाङ्गी-कारे घटादेरपि नित्यत्वापत्तिः स्यात्", इत्यविवेकः सः । यतोहि कार्ये कारणस्य शक्ति-मत्त्वं हि उपादानम्, उत्पत्तेः पूर्वं च कार्यस्य कारणेन सहाऽभेदः,

---

अर्थों का विधान घटित नहीं होता ।

यदि वे प्रजापति चेतन हैं, तो जीव से अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकते । अतः 'प्रजाभ्यः' यही अर्थ सर्वथा समुपयुक्त है । न कि महीधरादिकृत वेद गरिमा विलोपक कदर्थ । पं भीमसेन शर्मा ने भी अपने उपनिषद् भाष्य में 'समाभ्यः' का जीव अर्थ किया है ।

दूसरे जैसे 'दण्डे को बुलाकर खिला दो' यहाँ पर अभिधार्थ के बाध होने से लक्षणा के द्वारा 'दण्ड वाले को' यह अर्थ उत्पन्न होगा, उसी प्रकार 'समाभ्यः' समावद्भ्यः सम्वतसर वाले जीवों के लिए ही' यह अर्थ संगत है ।

विद्वद्वर्य पं. भीमसेन जी ने भी उपनिषद्भाष्य में महर्षिमत का ही समर्थन किया है ।

स्वामी जी ने 'जो वस्तु है नहीं, वह हो नहीं सकती, और सत् का अभाव नहीं हो सकता, इस न्याय से वेदों के नित्यत्व को युक्ति से भी प्रति-पादित किया है । वहाँ पर करपात्री जी का आक्षेप है कि सत्कार्यवाद स्वीकार करने पर घड़ा आदि की भी नित्यता माननी पड़ेगी, यह कथन तो अविवेक पर आधारित हैं, क्योंकि कारण में कार्यशक्तिमत्ता ही उपादान है और उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण के साथ अभेद होता ही है, तिलों में तेल होने

कार्यस्य कारणान्तर्वर्त्तित्वात्, तिलेषु तैलवत् ।

न च कारणे कार्यस्य सत्त्वात् तदुत्पत्तियोगो न घटते इति कार्य-सत्तायाः कथमप्यभिहितायामुत्पत्तौ अपि, अनादित्वान् नाशाऽनापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, अभिव्यज्यमानकार्योत्पत्तेर्व्यवहाराऽव्यवहार-योरभिव्यक्तिभावाददोषः ।

ननु 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः, इति न्यायेन घटादेः पूर्व-सत्त्वात् नाशाऽसम्भवान् नित्यत्वाऽपत्तिः स्याद् यथा ईश्वर-ज्ञाने वेदानां नित्यत्वमिति चेन्न, 'नाशः कारणलयः' इति परिभाषया कार्यस्याऽभिव्यक्तेः कारण-लयत्वात्, उत्पत्ति-धर्मत्वाच्च । न च वेदानामपि तथैव नाशो मन्तव्य इति वाच्यम्, घटादीनां तु परिणाम-धर्मप्रकृतेरुपादानस्य विकारत्वात् ।

न च तथा परमात्मनो विकारत्वेन वेदानां परिणामे आविर्भावः, अनन्तविद्यावतः परमात्मनोऽपरिणामित्वे वेदानां तद्गुण-रूपत्वे च याथातथ्येन प्रकाशितत्वात् । नेदं वाच्यं यत् "कार्यस्य कारण-लयस्यादर्शनान्नाशाऽभावो हि घटादेः," विवेकि-दृग्गोचरं हि तन्नत्व-विवेकिनाम् ।

के समान कार्य के कारण-अन्तवर्ती होने से ।

यह कथन भी ठीक नहीं होगा कि कार्य के कारण में अन्तवर्ती होने से उत्पत्ति मानना भी नहीं बन पायेगा और कार्यसत्ता की कथमपि उत्पत्ति कर भी ली जावे, तो अनादि होने से नाश की अनापत्ति अर्थात् असङ्गति होगी ।, अभिव्यज्यमान कार्योत्पत्ति के व्यवहार तथा अव्यवहार दोनों में ही अभिव्यक्त होने से कोई दोष नहीं ।

तथा यदि 'असत् का भाव और सत् का अभाव नहीं होता, इस न्याय से घटादि की पूर्व सत्ता मानने से नाश तो असम्भव हो जायेगा, तब नित्यता माननी पड़ेगी, जिस प्रकार ईश्वर के ज्ञान में होने से वेदों का नित्यत्व मानते हैं कहें"तो यह कथन भी ठीक नहीं—क्योंकि 'नाशः कारणलयः' इस परिभाषा से कार्य की अभिव्यक्ति कारण में लीन रहती है और वे (वेद) उत्पत्ति धर्म वाले हैं । तब वेदों का भी उसी प्रकार नाश मानना चाहिये—यह कथन भी

सारोऽयम् यत् सदसत्-कार्यवादिनोरिदमेवाऽन्तरम् यद्-असत्कार्य-वादिनः कार्योत्पत्तेः पूर्वदशायाम् प्रागभावं कारणलयं च ध्वंसमिति कथयन्ति, अनयो र्द्वयोरप्यवस्थयोरभावं मन्यन्ते। सत्कार्य वादिनश्चोभयोरवस्थयोर्भावं मन्यन्ते। द्वेऽपि दशे चाऽनागतातीत नामभ्यां व्यवहरन्ति बुधाः। एवं स्थवीयोधियां कृते ऋषिणाऽङ्गीकृता दृष्टिः सुस्पष्टं व्याख्याता। प्रायिकं ते प्रतितन्त्रसिद्धान्तः शरणम्।

(पृ० ५३७ अनु०१) करपात्रेण स्वग्रन्थे बहुत्रानृतव्याघात पुनरुक्तय उपन्यस्ताः। परमृषिणा तु इह यस्यानुभवस् तस्य संस्कारः, यस्य च संस्कारस्तस्य स्मरणमित्यादि न पिष्टपेषणमुच्यते, तद्विषय-विशदीकरणाय निदर्शन-पुरस्सरमुपन्यस्यते स्वामिना, न च पुनर्वचनम्। यथा यूयं 'सुप्त प्रबुद्धन्यायेन वेदानां स्मरणं प्रतिपादयथ, न तत् खलु समीचीनं वर्त्म, न चाऽपि तर्कसहम्। वेदोहि परमात्मनो

संगत नहीं, क्योंकि घड़ा आदि तो परिणाम धर्म वाली प्रकृति (उपादान) का विकार है।

वेद ईश्वर का विकार नहीं। उस प्रकार विकार होने से वेदों का परि-णाम आविर्वाव नहीं कहा जा सकता। 'अनन्तविद्यावान् परमात्मा अपरिणामी है और वेद ईश्वर का गुण है, अतः यथातथ्यरूप से प्रकाशित हुये हैं। वे ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि 'कार्य का कारण में लय होना तो दिखाई नहीं पड़ता, अतः घटादि का नाशाभाव ही मानना ठीक है' यह कारण में कार्य का लय होना विवेकियों को दृग्गोचार होता है, अविवेकियों को नहीं।

सार यह है कि 'सत् और असत् कार्यवाद का यही अन्तर है कि असत् कार्यवादी कार्योत्पत्ति से पूर्व दशा में प्रागभाग और कारण लय को ध्वंस कहते हैं। ये इन दोनों अवस्थाओं में अभाव को मानते हैं और सत् कार्यवादी दोनों अवस्थाओं में भाव मानते हैं। विद्वान् लोग दोनों दशाओं को अनागत और अतीत नामों से व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार स्थूलतर बुद्धि वालों के लिये ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट व्याख्यान की दृष्टि अङ्गीकृत की है। प्रायः तुम्हारा प्रतितन्त्र सिद्धान्त ही शरण है।

करपात्री जी ने अपने ग्रन्थ में बहुत स्थलों पर अनृत, व्याघात और पुनरु-क्तियां की हैं। यहाँ पर "जिसका अनुभव होता है, उसका संस्कार होता है और जिसका संस्कार होता है उसका स्मरण होता है, इत्यादि पिष्टपेषण

ज्ञानं स्वाभाविकं, न चान्यस्य, प्रमाणाऽभावात् । यदा कदाऽपि परेश एव त्वदभिमतं सम्प्रदायं प्रावर्त्तयत्, तत् प्रवर्त्तनस्याप्येष एवोपक्रमः । परेशोपज्ञाया एतन्मूलकत्वात् ।

सुप्त-प्रबुद्ध-न्यायाऽसङ्गतिस्तु पूर्वं विवेचिता । इह तु ऋषिणा विद्या-प्राप्तेः क्रम एव बोधितो । यथा ईश्वरोपदेशः ऋष्यात्मसु, तैश्चान्येषामध्यापनं, तेन विद्यानुभवस्ततः संस्कारस्तदनु स्मरण-मितियावत् ।

यदुक्तं 'केचिद् ऋषयः पूर्वकल्पीयं वेदं स्मरन्ति तदनुग्रहेण ।' इह अनुग्रहस्त्वपेक्षितस्ते, एवमपीश्वरस्यैवादिकारणत्वमेव ज्ञानदाने समुपपद्यते । तदेवं हस्तं परिभ्राम्यैव स्वनासाग्रहणं कृतं भवता ।

ऋषि ने नहीं किया है । उस सम्बन्धित विषय के विशदीकरण के लिए उदाहरणपूर्वक ऋषि ने विषय का उपन्यास किया है, यहाँ पुनरुक्ति नहीं । जैसे कि आप 'सुप्त प्रबुद्ध न्याय से वेदों का स्मरण प्रतिपादित कर रहे हैं,' यह मार्ग अच्छानहीं और न बुद्धिसंगत ही है । वेद तो परमात्मा का स्वाभाविक ज्ञान हैं, अन्य का ज्ञान होने में कोई प्रमाण नहीं । जब कभी भी परमेश्वर ने ही आपके अभिमत सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया, उसके प्रवर्त्तन का भी यही उपक्रम है ।

यह वेद परमेश्वर का आदि ज्ञान है । सुप्त प्रबुद्ध न्याय की असङ्गति हमने तो पूर्व ही विवेचित कर दी । यहाँ पर तो ऋषि ने विद्या प्राप्ति का क्रम ही बताया है कि जैसे ईश्वर ने ऋषियों की आत्माओं में उपदेश दिया, उन ऋषियों ने अन्यों को अध्यापन किया, उससे विद्यानुभव हुआ, उससे संस्कार बना, फिर स्मरण हुआ । यह जो कहा कि "कुछ ऋषि परमेश्वर के अनुग्रह से पूर्व-कल्पीय वेद का स्मरण करते हैं" यहाँ पर आपको ईश्वर का अनुग्रह तो अपेक्षित हुआ, इस प्रकार ज्ञानदान में ईश्वर की आदि-कारणताही समुपपन्न हुई अर्थात् हाथ को चक्कर कटवा के आपने अपनी नाक पकड़ी ।

यहाँ पर ऋषि ने यह प्रतिपादित किया है कि जो नित्य वस्तु होती है, उसके गुण कर्म भी नित्य होते हैं । इसे प्रमाण विरुद्ध कहना आपकी बालभाषिता ही है । इसमें आपका अविवेक कारण है अथवा जानबूझकर छलाचरण है ।

(पृ० ५३७ अनु० २) ऋषिणोक्तम् 'यन्नित्यं वस्तु तस्य गुण-कर्माण्यपि नित्यानि भवन्तीति प्रतिपादितम्।' अत्र प्रमाणविरुद्धत्व-कथनंतु, वालभाषितमेव ते, तच्चाऽविवेकादवगत्याऽपि छलाचरणाद्वा। यदुक्तं "नित्यात्मनो ज्ञानादि-गुणानां दार्शनिकैरनित्यत्वमभ्युपगतम्' तस्मात् स्वामिनोक्तम् अप्रमाणमेव इति।" तदिह सदसद्विवेचका विचारन्तु यत् 'तन्नित्यं वस्तु' इत्यादि पाठात् पूर्वं वाक्यमिदमस्ति "तस्मादीश्वरादेव या वेद-विद्याऽऽगता सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्य-गुणवत्त्वात् इति।" अत्र नित्यस्य ईश्वरस्य प्रसङ्गः, तत्र नित्यस्य जीवात्मनः उपक्षेपस्तु 'चौरजार-शिखामणिभक्तस्य तव सन्दर्भचौर्यं छलेनाऽभ्युपेतम् कृत्यं घृणितं त्रपाकरञ्च। कर्माण्यप्यत्र स्वाभाविकानि परमात्मन एवाऽभीप्सितानि। तदा कः प्रसङ्गस्तावद्देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिचेष्टा-लक्षण-कर्मणां नित्यतायाः।

(पृ. ५३८ अनु. १) 'नासत आत्म लाभः' इति तु न्यायावसरे समाहितम् तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्। इह सदित्यस्य तात्पर्यं यत् त्रिष्वपि कालेषु वर्त्तते, यच्च कस्याऽपि कार्यं नैव भवति, किन्तु सदैव कारणरूपेण तिष्ठति, तदेव सत्। तस्य ब्रह्मणो नान्यत् कारणमतो तन्नित्यम्।

यह कहना कि—'नित्यात्मा के ज्ञानादि गुणों और नित्य परमाणुओं के गन्धादि गुणों का दार्शनिकों ने अनित्यत्व स्वीकार किया है, इसलिए स्वामी जी का कहा हुआ अप्रमाण है। यहाँ पर सदसद् विवेकी पाठक विचार करें कि 'यन्नित्यं वस्तु—' इत्यादि पाठ से पूर्व भूमिका में यह वाक्य है कि 'इसलिए ईश्वर से ही जो वेद विद्या आई है वह नित्य ही है, सत्यगुणवत्ता के कारण'। यहाँ पर नित्य ईश्वर का प्रसङ्ग है, वहाँ नित्य जीवात्मा' का उपक्षेप करना 'चोर जार शिरोमणि' कहकर महापुरुषों को कलङ्कित करने वाले भक्त आपका सन्दर्भ चौर्य छलयुक्त, लज्जाकर घृणित कृत्य है। यहाँ तो स्वामी जी को परमात्मा के स्वाभाविक कर्म ही अभीष्ट हैं, तो फिर देहेन्द्रिय मनोबुद्धि आदि चेष्टा लक्षण वाले कर्मों की नित्यता ढूंढने का आपका प्रयास तो बालू से तेल निकालने के समान व्यर्थ है।

'नासत आत्म-लाभ' इस न्यायावसर पर आपके इस प्रलाप का समाधान किया जा चुका है। आपकी मति कुण्ठा के कारण यह भी नहीं सोच सकती कि सत् का तात्पर्य तीनों कालों में रहने वाली वस्तु से है, जो किसी का कार्य

सत्कार्यवादिनां साङ्ख्यानां नैतेन विरुध्यते सिद्धान्तः अत्रोद्धरणे भूमिकातः 'अवतिष्ठतीतिलेखोऽपपाठं कृत्वा प्रस्तावितो न तु वास्तविकः। तत्र 'एव तिष्ठती'ति पठनात्। अन्यथा 'समवप्रविभ्यःस्थः, इति सूत्रेणात्मनेपद-विधान- प्रसक्तिदोषः स्यात्।

अनु० २—बालोऽपि नाम सुविशदीकृतं विषयमवबोद्धुं पारयति, परं रागद्वेषाऽसूयोपहतचेतसोऽसारग्राहिणस्तेऽप्रतिभानमेव, अतो निःसारमुक्तं त्वया।

'यथा संयोग-वियोगानन्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां, न प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोग-वियोगकारणे सामर्थ्यमस्ति, तथेश्वरेऽपि असामर्थ्यं भवेदर्थात् यदि सोऽपि कर्त्ता संयोग-वियोजजन्यः समभविष्यत् तदा परमाण्वादीनां संयोग-वियोगकरणे न समर्थोऽभविष्यद् इति समेषां सूक्ष्ममतीनामुत्प्रेक्ष्यम्, परं भवद्-बुद्धिस्तरादुच्चैः स्तर एष शास्त्रविस्तरः।

नहीं प्रत्युत सदा कारण रूप से वर्तमान है वही सत् है। वह ब्रह्मसत् है और ब्रह्म का अन्य कोई कारण नहीं है अतः वह नित्य है। सत्कार्यवादी सांख्यों के सिद्धान्त का इससे कोई विरोध नहीं पड़ता। यहाँ भूमिका से उद्धरण देते समय 'अवतिष्ठति' यह अपपाठ करके उद्धृत किया है। वास्तविक पाठ तो 'एवतिष्ठति' है, यह आपका छल है जिससे लोग 'समवप्रविभ्यःस्थः, से आत्मनेपद का अभाव देखकर स्वामी दयानन्द के पाठ में अपाणिनीयत्व की धारणा कर लें।

बच्चा भी सुविशदीकृत विषय को समझने में समर्थ हो जाता है। राग-द्वेष और असूया से उपहत चित्त वृत्ति वाले असारग्राही आपकी बुद्धि के यह बाहर ही रहा, अतएव आपने ऋषि कथन को 'निःसार' कहा है। जैसे संयोग वियोग के अन्तर्गत न होने के कारण हम लोगों का परमाण्वादि का संयोग-वियोग करने में सामर्थ्य नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर में भी असामर्थ्य होने लगेगा, यदि वह कर्त्ता भी संयोग-वियोग जन्य होता तब परिमाण्यादि के संयोग-वियोग करने में समर्थ न होता। यह बात सभी सूक्ष्मबुद्धियों द्वारा ज्ञातव्य है, परन्तु यह शास्त्र-चिन्तन आपकी बुद्धि के स्तर से परे है।

आश्चर्य है कि आप यहाँ असम्बद्धता देख रहे हैं यह सर्वथा असङ्गत है। आप पूर्वापर सम्बन्ध ग्रहण कर सकने मे सर्वथा असमर्थ हैं जो कि 'कर्त्ता संयोग-जन्यश्चेत्' यहाँ पर 'कर्त्ता' शब्द की उपेक्षा कर रहे हैं अथवा समझ नहीं पा

श्रीमन् ! न काऽप्यसम्बद्धताऽत्र, पूर्वापर-सम्बन्ध-ग्रहणाऽक्षमो भवान् यत् "कर्त्ता संयोगजन्यश्चेदत्र 'कर्त्तृ' शब्दमुपेक्षते नोत्प्रेक्षते वा। न वा संयोगजन्या आकाशात्मादयः, न वा कर्त्तृत्वेन जगतः स्मर्यन्ते। ऋषिणा परम-सूक्ष्मत्वेन सह-कर्त्तृत्वमेव प्रयोजकं गदितं न न तु केवलं सूक्ष्मत्वम्। पुनरनभीष्टस्येष्टापत्तेश्चेष्टायाः प्रश्न एव क्व ? शिष्टमविशिष्टं पूर्वमेव विस्पष्टं समाहितम्। अत एव सत्य-सामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां (परमात्म-ज्ञानस्थ) शब्दार्थसम्बन्धानां प्रादुर्भावात् तस्य ज्ञाने सदैव वर्त्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धमितिदिङ्मात्रम्।

ऋग्वेदादे ऋर्षिवर-दयानन्द-सद्भाष्य भूमौ,
मिथ्याचारोन्मदन-कथनाऽ वोध-वाल-प्रलाप-।
हेत्वा भासच्छल-बल-कलाऽरोपितानां समेषाम्,
आक्षेपाणां निरसनमभूद् वेद-नित्यत्व-सिद्ध्यै ॥
आदौ छलेन, निज पुस्तकमारभेत,
'मध्ये'ऽत्र यश्छलबलेन सदर्थलोपम्।

रहे हैं। आकाश आत्मा आदि तो संयोगजन्य है नहीं और न ये जगत् के कर्त्तृत्वेन गृहीत ही होते हैं स्वामी जी ने परम सूक्ष्मत्व के साथ कर्त्तृत्व को ही प्रयोजक माना है केवल सूक्ष्मता को नहीं। फिर श्रीमन् ! अनभीष्ट की इष्टापत्ति की चेष्टा करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? शिष्ट सामान्य का पहले ही स्पष्ट रूप से समाधान कर दिया गया है। इसीलिए सत्यसामर्थ्यवान् परमेश्वर के सकाश से परमात्मा का ज्ञान नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। वह ज्ञान सदा परमात्मा के ज्ञान में वर्तमान रहता है। अतः इन वेदों का सत्यार्थवत्त्व और नित्यत्व सिद्ध ही है। यह विषय संक्षेप रूप में दर्शाया गया।

ऋषि दयानन्द की उत्तम ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पर वेदों की नित्यता सिद्ध करने में मिथ्याचार (ढोंग, पाखण्ड) उन्माद-कथन और अबोध, बाल-प्रलाप, हेत्वाभास, छल-बल की कला से आरोपित किए गये सभी आक्षेपों का निरसन (समाधान) मेरे द्वारा कर दिया गया है।

जिन्होंने प्रथम पंक्ति में दयानन्दीय ऋग्वेद भाष्य भूमिका लिख कर ऋग्वेदादि शब्द से 'आदि' आदि शब्द को विलुप्त कर अपनी पुस्तक के

अन्ते प्रसङ्ग-परिलोपन-कर्म-दक्षम्,
नौम्यर्थवञ्चनकरं करपात्रमत्र ।।
अन्तेऽहं स्वामिदयानन्दे बद्धश्रद्धानभ्यर्थये,
यन्न ते अतत्त्ववित्-करपात्रि-
खण्डनेन स्वीयं मनो मलिनीकुर्वन्तु,
यावत् संसारे सदसद्-विवेकिनो विपश्चितो जीवन्ति ।।
पण्डितराज जगन्नाथस्येमां सूक्ति च ध्यायन्तु ते—
कमलिनि ! मलिनींकरोषि चेतः,
किमिति वकैर वहेलिताऽनभिज्ञैः ।
परिणत मकरन्द मार्मिकास्ते,
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ।।

इति श्रीमद्विहारीलाल शास्त्रि-शिष्य श्रीमदाचार्य-विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने वेदार्थकल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेद-नित्यत्व-विषयः सम्पूर्णः ।

आरम्भ में छल किया है। 'वेदास्तेनाऽदौज्ञानमध्ये प्रेरिताः' इस पाठ के मध्य शब्द के उत्तम अर्थ का छल-बल से विलोप कर दिया तथा अन्त में बहुत से स्थानों पर प्रसङ्ग के लोप करने में दक्ष तथा आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे लोगों से अर्थ (धन) छीनने में चतुर एवं शास्त्र के उत्तम अर्थ का भी विलोपन करने में दक्ष श्री करपात्री जी को मैं नमन करता हूं।

अन्त में मैं महर्षि दयानन्द के श्रद्धालु भक्तों से निवेदन करूंगा कि वे अतत्ववित् करपात्री जी के इस खण्डन से अपना मन मलिन न करें, जब तक कि संसार में सदसद् विवेकी विद्वान् जीवित हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की इस सूक्ति का भी ध्यान कर लें कि—

अनभिज्ञ वकों (वगुला) से निरादृत कमलिनी तू अपना चित्त क्यों मलिन करती है बस, मकरन्दरसिक मर्मज्ञ मिलिन्द (मधुकर) संसार में चिरायु रहें, इतना भर चाहो।

श्रीमद् बिहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित, करपात्रीकृत वेदार्थ-पारिजातमत खण्डक और महर्षि दयानन्दमतमण्डक 'वेदार्थ कल्पद्रुम' का वेद-नित्यत्व-विचार विषय सम्पूर्ण हुआ।



'वेद-विषय-विचारः'

(पृ० ५३९ अनु० १) भवता "वेद-विषय-विचारविषयः" इति शीर्षकमुद्धृत्य समास-जिज्ञासायां मुधैव महान् मस्तिष्कव्यायामः कृतः जलप्रताडनवत्। कः प्रसङ्गस्तावत् बहुव्रीहेः? षष्ठीसमासे तवैषा विपत्तिर्यत् पुनर्विषयशब्दो नोपन्यस्तव्यः, व्यर्थत्वात् इति।

अत्रोच्यते "वेदेषु ये केचन विषयाः सन्ति तेषां विचाररूपो विषयोऽयम् इत्येवार्थः स्वामिनः। भवताऽपि अभ्युपगन्तव्य एवासीत् पूर्वतः षष्ठीसमासपन्थाः। बहुव्रीहिविश्लेषण-कृतायासस्य व्यर्थत्वात् अतसीराशिसन्तरणवत्। न च षष्ठीसमासे द्वितीयविषयशब्दविन्यासो व्यर्थः, विचारस्याऽपि विषयत्वात् (प्रतिपाद्यत्वात्)।

'वेद-विषय-विचार'

आपने 'वेद-विषय-विचार-विषयः' इस शीर्षक को उद्धृत कर यहाँ कौन समास है? इस जिज्ञासा में जल प्रताड़नवत् व्यर्थ ही अपने मस्तिष्क को बड़ा व्यायाम करवा डाला। आपका कथन है कि यहां बहुव्रीहि मानने का तो प्रसङ्ग ही नहीं। षष्ठी समास मानने में आपका आक्षेप है कि फिर विषय शब्द का रखना व्यर्थ होगा। महोदय! स्वामी जी का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट है कि वेदों में जो कोई विषय हैं उनका विचार रूप-विषय यहाँ प्रस्तुत है। आपको भी तो यही अर्थ अभीप्सित है, फिर बहुव्रीहि की बात छेड़ना अलसी पैरने के समान मुधा-प्रयास है। अतः षष्ठी समास ही है। इसमें द्वितीय विषय शब्द व्यर्थ नहीं है, क्योंकि विचार भी विषय-बाह्य नहीं है।

अथवा बहुव्रीहि समास भी स्वीकार्य है। आप इसमें वितण्डा खड़ा करते हैं कि फिर अन्य पदार्थ क्या होगा? ग्रन्थ भाग या उपक्रम। इसमें ग्रन्थ भाग विशेष कहा जा सकता है, जो कि "अत्र चत्वारो वेद विषया सन्ति' इससे आरम्भ कर 'तद्वचनमप्रमाणम्' तक विज्ञात है। इसके स्वीकृत करने में भी कोई दोष नहीं।

अथवा बहुव्रीहिरपि स्वीकार्यः । यच्च बहुव्रीहिसमासं प्रस्तुवन् अकाण्डे वितण्डामयं वैतण्डिकस्तनोति तत्र तेन "वेद-विषयस्य विचारो विषयो यस्यसः" इत्यत्र ग्रन्थः, ग्रन्थभागः उपक्रमो वाऽन्य-पदार्थः सम्भाव्यते इत्युपक्रान्तम् । तत्र ग्रन्थभाग एव विशेष्यः । 'अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यारम्य 'तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते' इत्यन्तस्यैवान्य-पदार्थत्वेनाङ्गीकरणान्न किमपि व्याहन्यते ।

अतो वेदविषयाणां विचाररूपो विषय इति विग्रहे न काऽपि विप्रतिपत्तिः, तदेवं 'मणिमय-सुरेन्द्र भवनेऽन्विष्यति पिपीलिका-रन्ध्रम्' इति सूक्तिमनुरुध्य भवान् निश्छिद्र-भूमिकायामपि छिद्रान्वेषणपरः एव ।

यच्चोक्तम् 'सम्वत् २०२४ तमे संस्करणे "अथ वेद-विषय-विचारः" इति पाठः परिवर्तितः' एतदसत्यं सर्वथा, संवत् १९७३ तमे संस्करणेऽपि "अथ वेद-विषय-विचारः" इति पाठोपलब्धेः, यदि उच्येत, न भवता दृष्टम्, तदा तु गोतम-सूत्र-प्रमाणम् अवधेयं यत् नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।' किञ्च एतस्य ग्रन्थस्य शताब्दीसंस्करणेऽपि 'अथ वेद-विषय-विचारः' इत्येव पाठः । तद्धि यथा कश्चित् जलबुद्बुदान् मोदकान् मन्यमानो भजते तोषम्, तथा भवानपि संवत २०२४ तम संस्करण-पाठ परिवर्त्तन-कथनेन ।

अतः वेद के विषयों को विचार रूप अथवा विचार का विषय, यह षष्ठी मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । मणिनिर्मित सुरेन्द्र भवन से चीटीं छिद्र ही ढूंढती है, इस उक्ति के अनुसार आप उत्तम विचार मणिनिर्मित भूमिका में छिद्र ही खोज रहे हैं ।

आपका यह कथन कि सम्वत् २०२४ के संस्करण में 'अथ वेद-विषय विचारः', यह पाठ परिवर्तित कर लिया, यह असत्य है । सम्वत् १९७३ के संस्करण में भी 'अथ वेद-विषय-विचारः' पाठ उपलब्ध है । यदि यह कहा जाये कि आपने तो देखा नहीं, तो इस विषय में महर्षि गोतम कहते हैं 'चक्षुविहीनों की अनुपलब्धि प्रामाणिक नहीं हो सकती ।' इस ग्रन्थ के शताब्दी संस्करण में भी यही पाठ उपलब्ध है । तब तो जलबुद्बुदों को मोदक समझ सन्तुष्टि कर लेने के समान आप इसी में सन्तुष्ट हैं कि सं० २०२४ में पाठ परिवर्तित किया गया है ।

पूर्वपक्ष :—यच्चोक्तं "चत्वारो वेद-विषयाः विज्ञानकर्मोपासना-ज्ञानकाण्डभेदात्" अत्र काण्डपदं व्यर्थम्, काण्डपदस्य प्रकरण-परार्थत्वात्, वेदेषु च विज्ञानादि-प्रकरणप्रतिपाद्यत्वाभावात्।"

उ० प० :—(१) अविचारमूलकमेतत् यत् काण्डपदं केवलं प्रकरणपरम्।' तस्य विषय, विभाग, वर्गाद्यर्थेष्वप्युपलम्भात्। वर्गश्चैकजातीयसमवायो यथा भागवते (४।२४।६) "क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह।" परिच्छेदार्थे तु 'इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप' (अथर्व १२।३।४५)।

(२) वेदेषु काण्ड-पदप्रदर्शक-प्रयोगोपलब्धिः आचार्य साय-णानुमता, यथा "तस्मिंश्च वेदे कर्मकाण्डः प्रथममाम्नातः। यद्यपि ब्रह्मणोऽभ्यर्हितत्वाद् ब्रह्मकाण्डस्यैव प्राथम्यमुचितम्, तथाऽपि कर्मभिः साध्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण पुरुषस्य ब्रह्मकाण्डेऽधिकाराभावात् अधिकार-हेतु-कर्मप्रतिपादकः काण्डः प्रथमं समाम्नातः।" (काण्व-संहिता सा. भाष्योपक्रमणिका)। वेदेषु ज्ञान-कर्म-विज्ञान-प्रकरणा न्यपि सन्ति, अतः काण्ड-शब्दस्य प्रकरण-परत्वेऽपि नो हानि। किञ्च 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभि-सम्बध्यते' इति नियमात्, काण्डशब्दस्य प्रत्येकशब्दमभिसम्बध्यमाने, विज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डम् उपासनाकाण्डं ज्ञानकाण्डञ्चेति अर्थः संपद्यते।

पूर्वपक्ष—'चत्वारो वेद विषयाः विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड भेदात्' यहां पर 'काण्ड' पद का पाठ व्यर्थ है, क्योंकि काण्ड पद का अर्थ 'प्रकरण' होता है और वेदों में विज्ञान आदि प्रकरण प्रतिपाद्य होते नहीं।

उ० प०—(१) यह कथन अविचार-मूलक है कि यह काण्ड पद केवल प्रकरणार्थक है। वह विषय, विभाग, वर्णादि अर्थों में भी उपलब्ध है, एक जातीय समवाय को वर्ग कहते हैं जैसा कि भागवत ४।२४।६ में देखिये 'क्रिया काण्डेषु निष्णातः'। परिच्छेदार्थ में अथर्व १२।३।४५ में काण्ड पद प्रयुक्त हैं।

(२) वेदों में प्रकरणार्थ व अधिकारार्थ में भी काण्ड पद का प्रयोग उपलब्ध है, जैसा कि सायणाचार्य भी कहते हैं 'तस्मिंश्च वेदे कर्मकाण्डः प्रथमं समाम्नातः" अधिकार-हेतु-कर्म-प्रतिपादकः काण्डः प्रथमं समाम्नात' यह काण्वसंहिता भाष्य की की उपक्रमणिका में द्रष्टव्य है। इसलिये काण्ड शब्द के प्रकरण-परक मानने में भी कोई हानि नहीं। 'द्वन्द्वादौ० इस व्याकरण नियम से काण्ड शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड यह अर्थ होगा, फलतः 'काण्ड' भूमिकावाक्य में आवश्यक है। प्रकरण शब्द का यौगिक अर्थ—जिससे कर्म ज्ञानादि विषय प्रकृष्टता से गृहीत

अतः काण्डपदं सार्थकमावश्यकञ्चेति 'भूमिकावाक्ये इति सिद्धम्। प्रकरण-शब्द श्चात्र प्रक्रियते कर्मादि विषयोऽनेनेति प्रकरण-मिति यौगिकत्वेन गृह्येत। ततश्च वेदेषु विज्ञानप्रकरणं कर्मप्रकरणं उपासनाप्रकरणं ज्ञानप्रकरणञ्चेति सर्वं वरीवर्त्ति' इति ऋषिप्रोक्तं सर्वं साधु।

(३) तथापि यद्युच्येत, वेदे विषया नाम स्युः परं प्रकरणत्वेन न क्वाप्युपन्यासो मन्त्राणाम्, अतः प्रकरणपरः काण्डपदसन्निवेशस्तु व्यर्थ एवेति चेन्न, प्रकरणशब्देनाऽपि मन्त्राणां यास्काचार्येण व्याख्याय-मानार्हत्वात्। यथा—"न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्ववतव्याः, नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति" (नि. १३।१२)। दुर्गाचार्योऽपि तथा—"प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" तन्मते प्रकरणानि मन्त्राणां याज्ञं दैवतमाध्यात्ममितिहासाऽनुप्रवेश इति", अतः काण्डपदसन्निवेशः समुचितः सार्थक एव।

तस्मात् 'नहि वेदेषु प्रकरणपरत्वेन क्वाप्युपन्यासः' इति कथनमपि उन्मत्त-प्रलाप एव। समेषां हि विषयाणामेतत्-काण्ड-चतुष्टये समा-विष्टत्वाम्।

(५४० पृष्ठे तृतीयपंक्तिः) अत्र विज्ञान-पदार्थः कः ? ज्ञान-

हो—होने से, कर्मकाण्ड या (कर्मप्रकरण) ज्ञान काण्ड आदि कहना सर्वथा समुपयुक्त है।

(३) तब भी यदि कहा जाय कि वेद में विषय हो सकते हैं, पर प्रकरण-त्वेन कहीं भी मन्त्रों का उपन्यास नहीं है, अतः प्रकरण-परक काण्ड शब्द का प्रयोग करना तो व्यर्थ ही हुआ। इसका समाधान यहहै कि प्रकरणार्थ में भी मन्त्रों का यास्काचार्य ने व्याख्यान करना उचित समझा है यथा—'पृथक् रूप से मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिये, प्रत्युत प्रकरण से ही निवर्चन करना चाहिए।' इनका अर्थ प्रत्यक्ष अनृषि और अतपस्वी को नहीं होता, पारोवर्य वेत्ताओं में अधिक-विद्य प्रशस्य होता है। (नि० १३।१२)

दुर्गाचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है कि 'प्रकरण से ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिये।' मन्त्रों के प्रकरण यज्ञ सम्बन्धी, देवता सम्बन्धी, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक होते हैं। अतः ऋषि द्वारा प्रयुक्त काण्ड पद प्रकरणार्थक भी सर्वथा सार्थक है।

शब्दार्थश्च कः ? इति विचारयता करपात्रेण बह्वनर्गलमप्युक्तम् । एतन्नहि ध्यातम् तेन यत् प्रत्येकग्रन्थकृत् स्वशास्त्रीयशब्द-विशेषस्य परिभाषामपि प्रस्तौति, यथा स्वयमृषिः दयानन्दोऽपि प्रास्तावीत् । ऋषि विचारे 'विज्ञानविषयः' परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयवान् अस्ति, हिन्द्यां चेदं तेन व्याख्यातमपि ।तथा हि-कर्मोपासनाज्ञानानामुपयोगः तृणपर्यन्तं साक्षाद्बोधश्चेति विज्ञान-मिति ।

यच्च "मोक्ष धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" इत्यमरकोश-प्रमाणत्वेन प्रस्तूयते यः ज्ञानविज्ञानयोरर्थः, सोऽप्रामाणिकः, एवं व्यवस्थायाः अशास्त्रीयत्वात् । "मोक्षे शिल्पे शास्त्रे च या धीः सा ज्ञानम् विज्ञानं चोच्यते, इत्येषा विशेषप्रतिपत्तिः । अन्यत्र "घट-पटादौ या धी साऽपि ज्ञानं विज्ञानं चोच्यते" एषा सामान्य-प्रवृत्तिः । मोक्षे धी र्ज्ञानं, विज्ञानं च, यथा 'ज्ञानान्मुक्तिररिति "सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति" इति च । अन्यत्र यथा "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे" इति, घटत्वप्रकारकज्ञानमिति "ये केचित् प्राणिनो लोके सर्वे विज्ञानिनो मताः" इति, 'ब्रह्मणो नित्यविज्ञाना-नन्दरूपत्वात्' इति । एवं चित्रज्ञानं, व्याकरण-ज्ञानं, घटपट-विज्ञान-

---

५४० पृष्ठ पर पंक्ति ३ में—'ज्ञान व विज्ञान क्या है' इस पर विचार करते हुये करपात्री जी ने बहुत सा अनर्गल प्रलपन भी किया है, उन्होंने यह नहीं विचारा कि प्रत्येक ग्रन्थकार अपने प्रयुक्त-शास्त्रीय विशेष शब्द की परि-भाषा भी प्रस्तुत करता है । जैसी कि स्वयं ऋषि दयानन्द ने भी प्रस्तुत की है । ऋषि के विचार में 'विज्ञान' विषय परमेश्वर से आरम्भ कर तृण पर्यन्त पदार्थों तक साक्षात् बोधकारक है । हिन्दी में यह व्याख्यात भी है कि कर्म, उपासना, ज्ञान का उपयोग और तृणपर्यन्त साक्षाद् बोध करना विज्ञान है ।

यह 'मोक्षधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' अमरकोश के प्रमाण से प्रस्तुत ज्ञान-विज्ञान का अर्थ यहां प्रामाणिक नहीं है । अमरकोष के अर्थ का नियन्त्रण शास्त्रों पर लादने की आपकी नीयत गर्हणीय है । वस्तुतः 'मोक्ष शिल्प और शास्त्र में जो धी है, वह ज्ञान और विज्ञान दोनों नामों से अभिहित है यह विशेष प्रतिपत्ति है । 'घट पट आदि में रहने वाली धी भी सामान्य प्रवृत्या ज्ञान और विज्ञान कहलाती है । मोक्ष सम्बन्धिनी धी को ज्ञान भी

मित्यादिकं प्रयुज्यते एव । नहि ज्ञानशब्दस्य प्रयोगः मोक्ष-विषये एव, ज्ञानेन्द्रियाणाम् इतिप्रयोग-वैयर्थ्यापत्तेः, मोक्षस्यातीन्द्रियत्वात् ।

यच्चोक्तम् "ईश्वरधियश्च मोक्षविषयत्वात् ज्ञानरूपत्वमेव भवतीति न तस्याः विज्ञानरूपत्वम्" इति, तत्तु ज्ञान-विज्ञानशब्दयोः अर्थ-विषये अमरकोशं परमाप्तप्रमाणं मन्वानः शिल्पे शास्त्रे च विज्ञान-प्रयोगं मनुते नान्यत्र । तदज्ञानमेव भवतः । अन्यत्र परा-विद्यार्थेऽपि विज्ञानशब्दस्य प्रयोगात्, यथाहि "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्डक० १।२।१) अत्र शाङ्कर-भाष्यं 'निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थम् विशेषेणाधिगतार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरु-मेवाऽऽचार्यं शमदमादिसम्पन्नमधिगच्छेत्" (शां० भा०) ॥

किञ्च "येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाऽक्षरमदृश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात्, पुरि शयनात् च, सत्यं तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वात् अक्षयत्वाच्च, वेद

कहते हैं और विज्ञान शब्द से भी अभिहित किया जाता है । यथा—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' 'याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति' । अन्यत्र भी उदा-हरणों में देखिये ।

चित्रज्ञान, व्याकरण-ज्ञान, घट-पट-विज्ञान आदि उदाहरणों में भी ज्ञान और विज्ञान का प्रयोग है । आपका सीमित अमरकोष वाला अर्थ नहीं है । महोदय ! ज्ञान शब्द का प्रयोग मोक्षार्थ में ही नहीं होता, अन्यथा मोक्ष के अतीन्द्रिय होने से 'ज्ञानेन्द्रियां, यह पारिभाषिक शब्द ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि मोक्ष तो अतीन्द्रिय है ।

यह कथन कि 'ईश्वर सम्बन्धी धी मोक्ष विषयक होने से ज्ञान रूप ही है विज्ञान रूप नहीं ।' अज्ञान ही है । अमरकोष को परमाप्त-प्रमाण मानने वाले आप शिल्प, शास्त्र में ही विज्ञान शब्द का प्रयोग मानते हैं ।

अन्यत्र विज्ञान शब्द का प्रयोग तो 'पराविद्या' अर्थ में भी हुआ है, यथा 'उस ब्रह्म के विज्ञान के लिये समित्-पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त करे" (मु० १।२।१२) इस पर शाङ्कर भाष्य में तथा 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः' (मुण्डक) आदि स्थलों में विज्ञान शब्द का प्रयोग मोक्ष सम्बन्ध में भी किया गया है ।

विजानाति"। "यस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तत्परस्याः ब्रह्म विद्यायाः विषयः।" (शाङ्करभाष्यम्) इत्यत्र, "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः।" (मु॰ ३।२।६) इत्यादिषु स्थलेषु च विज्ञानशब्दस्य मोक्षसम्बन्धेऽपि प्रयोगदर्शनम्।

अथापि "निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानम्। (वे॰ १।१ शां. भा.) तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति। (शां. भा.)। तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म। (तै॰ ३।१) इत्यादिस्थलेषु अपि मोक्ष-विषयक-ब्रह्मणो ज्ञाने विज्ञानशब्दस्य प्रयोगोपलब्धिः। न्यायमते तु—"अप्रमा च प्रमा चैव ज्ञानं द्विविधमुच्यते। अन्यत्र ज्ञान-विज्ञानयोर्लक्षणं यथा:—

"चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमितरं विद्यात् येन धर्मो विवर्धते॥
अधीत्य विधिवद्विद्यामर्थं चैवोपलभ्य तु।
धर्मकार्यान्निवृत्तश्चेत् न तद्विज्ञानमिष्यते॥
यथा स देवो भगवान् विद्यते यत्र विद्यते।
साक्षादेव महादेवस्तज् ज्ञानमिति कीर्तितम्॥

(इति कौर्मे उपविभागे १४ अध्यायः)

'निःश्रेयसफलं तु ब्रह्म विज्ञानम्। (वेदा॰ १।१) में तथा शांकर भाष्य और तैत्तिरीयादि में भी मोक्ष विषय में विज्ञान शब्द का प्रयोग है, फिर अमरकोष को ही शास्त्रों के ऊपर नियन्त्रक बनाना तो बुद्धि का दिवालियापन है।

शां॰ भाष्य में 'ब्रह्म विज्ञान से भी परम पुरुषार्थ को दिखाता है" 'उस ब्रह्म को जानो' (तै॰ ३।१) यहाँ भी ब्रह्म-ज्ञान के विषय में विज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्रीमन्। न्याय में तो 'अप्रमा प्रमाच' द्विविध ज्ञान कहा गया है। फिर आपका 'मोक्षे धी र्ज्ञानम्' यह अमरकोष कहाँ चला गया? अन्यत्र कौर्म उपविभाग १४ अध्याय में,

"चतुर्दश विद्याओं का यथार्थतः धारण करना विज्ञान बताया है" अतः ज्ञान और विज्ञान शब्दों का प्रयोग अपने-अपने ग्रन्थों में करते हुये ऋषि मुनि और विद्वानों ने केवल अमरकोशार्थ को निदर्शन नहीं माना।

एवम् ज्ञान-विज्ञानयोः विविधार्थयोः स्वामी दयानन्दः स्वग्रन्थे ग्राह्यार्थं निरणैषीत्। विज्ञानविषयस्य च मुख्यता जीवने, उपयोगपक्षस्य बलीयस्त्वादेव। 'साक्षाद्बोधो ज्ञानं तस्य चान्वयः उपयोगो विज्ञानमितिभावः।

आक्षेपकोऽयं न पूर्वापर-विरोधमप्यालोचयति स्वीयं, यथा 'ईश्वरधियश्च मोक्ष-विषयत्वात् ज्ञानरूपत्वमेव भवति इति न तस्याः विज्ञानरूपत्वम्, (पृ· ५४०) एतद्विरोधे "अनित्यम् ईश्वरविज्ञानं विज्ञानत्वात्" (पृ.१८७) अत्र ईश्वर-विषयकं विज्ञानम्, न तु ज्ञानम् इति स्वयं विलिखति। शङ्कराचार्येणाऽपि ऋषिदयानन्दसम्मतेऽर्थे एव विज्ञानशब्दस्य प्रयोगो व्यधायि, तथाहि 'श्रुतिर्हि वैदिकात्मैकत्व-विज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति' (वे० भा० २।१।२।३)।

ऋषिरत एव विज्ञानस्य मुख्यतां साधयति 'साक्षाद् बोधान्वयत्वा-दिति हेतुदानेन। यत्र हि साक्षाद् ज्ञानम्, यस्य च उपयोगो जायते तस्य कथं न मुख्यत्वम्? ब्रह्मादितृणान्तेषु पदार्थेषु विज्ञानस्य साक्षाद् बोधान्वयत्वं भवत्येव। एतस्य वाक्यस्य यथार्थं वयं तु जानीमो

इस प्रकार विविधार्थ ज्ञान और विज्ञान शब्दों के प्रयुक्त होने पर ऋषि ने अपने ग्रन्थ में ग्राह्यार्थ को लिया। विज्ञान-विषय की मुख्यता जीवन में उपयोग पक्ष की बलीयस्ता से ही है अर्थात् साक्षाद्-बोध ज्ञान और उसका उपयोग विज्ञान है।

ये आक्षेपक अपने ग्रन्थ के पूर्वापर विरोध स्थलों को भी नहीं देख पाये। यथा ५४० पृ० पर ईश्वर विषयक धी को ज्ञान रूप कहा है और पृ० १८७ पर इसके विरोध में ईश्वर विषयक ज्ञान को विज्ञान स्वयं लिखते हैं। श्री शंकराचार्य ने भी ऋषि दयानन्द सम्मत अर्थ में वेदान्त भा० २।१।२।३ में विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिए ऋषि ने विज्ञान की मुख्यता साक्षाद् बोधान्वय हेतु प्रस्तुत कर सिद्ध की है।

जिसका साक्षाद् ज्ञान और उपयोग हो उसकी मुख्यता क्यों न होगी? ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों में विज्ञान का साक्षाद् बोधान्वयत्व है ही, इसके यथार्थ को हम सब दयानन्दानुयायी तर्कशील बुद्धि होने के कारण जानते हैं। आपको संकीर्ण वृत्ति के कारण बोध नहीं होता। अतः यह कथन कि "विज्ञानस्य ब्रह्मादि तृणान्तेषु पदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वम्" इसका अर्थ नहीं

दयानन्दानुयायिनः, तर्कशीलबुद्धिमत्वात्। परं कदर्थग्रथितमतीनां भवादृशां यदि नाववोद्धुं क्षमता, तदा तत्रायं हेतुः—

ज्ञातुं शक्तः शास्त्रविद्यां मनुष्यः,
आर्षग्रन्थस्यानुशीलेन नित्यम्।
नो वाऽनार्षग्रन्थ-पाठानुघोषी,
मेधाशून्यः कश्चिदेवाऽविचारः॥

ननु साक्षाद्बोधो ब्रह्मादितृणान्तान् सर्वान् पदार्थान् न विषयीकरोति इति चेन्न 'अतीन्द्रियाणामपि विषयाणाम् सूक्ष्मबुद्ध्या आत्मना वा प्रत्यक्षत्वात्। योगजप्रत्यक्षत्वाद् वा।'

सम्प्रति विपश्चितो विचारयन्तु यदयं करपात्रः प्रश्नमुद्भावयति— "तथाहि सम्वन्धिता च विषयतया एव वक्तव्या। न च स्वस्यैव विषयता सम्भवति न वा स्वस्यैव हेतुता सम्भवति, तस्यः भेदसापेक्षत्वात्। (पृ० ५४० अनु० २ आक्षे०) अत्र हि दयानन्देन विज्ञानस्य साक्षाद् बोधान्वयत्वं न प्रतिपादनीयमासीत्। यतः साक्षाद् बोधान्वयत्वं ब्रह्मादितृणान्त-पदार्थेषु प्रतिपादनीयं कथं नाम स्यादिति ?"

(समाधानम्) एवमवगन्तव्यं यदत्र सर्वेभ्यः कर्मादिभ्यः विज्ञानस्य

जानते, प्रलापमात्र है। आपकी बुद्धि में कदर्थ भरा हुआ है तथा इस हेतु से आप नहीं समझे कि "शास्त्रीय रहस्यों को आर्ष ग्रन्थों के नित्य अनुशीलन के कारण मनुष्य जान सकता है, पर अनार्ष ग्रन्थों के पाठ के रट्टू मेधा से काम न लेने वाले अविचारक नहीं जान सकते।"

यह भी नहीं कहा जा सकता कि साक्षाद् (अक्षि सम्बन्धी) बोध ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का विषय नहीं बन सकता है। अथवा योगज प्रत्यक्ष हो सकता है।

विवेचक लोग विचार करें कि ये करपात्र महोदय प्रश्न उठाते हैं :—

(शङ्का) 'यदि कहते हो कि साक्षाद् बोध का हेतु होने से साक्षाद् बोधान्वयत्व है या साक्षाद् बोध का सम्बन्धी होने से है ? दोनों दृष्टियों से यह सम्भव नहीं, क्योंकि सम्बन्धिता तो विषयता को लेकर ही कहनी होगी, स्वनिरूपित विषयता का स्व में होना सम्भव नहीं।"

क्योंकि हेतुता शब्द भेद-सापेक्ष है। साक्षाद् बोध ब्रह्मादि तृणपर्यन्त पदार्थों

मुख्यत्वं प्रतिपाद्यते, हेतुस्तत्र तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वं, यत्र यत्र हि साक्षाद्बोधान्वयत्वं तत्र तत्र हि मुख्यत्वम्। इह साध्यं मुख्यत्वम् साधनं साक्षाद्बोधान्वयत्वम्। तत् सिद्धम्। तदा न स्वस्यैव विषयता। साध्यमन्यत् साधनं चान्यत् इति स्पष्टम्।

यच्चोक्त 'हेतुत्वं निरर्थकम्, साध्याऽसाधकत्वात्, इति अत्रेदं विचार्यम् यत् पदार्थानां साक्षाद्बोधो भवति, तस्य बोधस्य च अन्वयः सङ्गमनम्, अथवा एतेषु पदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयो भवतीति, एक एवार्थः। यथाहि इन्द्रियसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं तस्य चान्वयः तथैवेहापीष्टः, परमेश्वरस्य तु युक्त-युञ्ज्ञानयोगजसन्निकर्षेण साक्षाद्बोधः।

को विषय भी नहीं करता क्योंकि ऐसे भी पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों के विषय नहीं हैं अर्थात् अतीन्द्रिय हैं" यहां पर ऋषि दयानन्द को विज्ञान का साक्षाद् बोधान्वयत्व नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मादि तृणपर्यन्तों में साक्षाद् बोधान्वयत्व नहीं बन सकता।

समाधान—यहाँ इस प्रकार समझना चाहिए कि कर्म ज्ञान व उपासना तीनों की अपेक्षा विज्ञान की प्रमुखता है। प्रमुखता में हेतु साक्षाद् बोधान्वयत्व दिया गया है, तो जहाँ-जहाँ साक्षाद् बोधान्वयत्व है, वहां-वहां मुख्यत्व है, यहाँ साध्य मुख्यत्व है और साधन साक्षाद् बोधान्वयत्व है, वह सिद्ध है। फिर 'स्व निरूपित विषमता का स्व में होना सम्भव नहीं, यह उद्भावित दोष कैसे सम्भव हो सकता है? क्यों कि साध्य अन्य और साधन भी अन्य है।

यह जो कहा कि हेतु, 'साक्षाद् बोधान्वयत्व देना व्यर्थ है, क्योंकि उसमें साध्य को सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं, विचार करें कि साध्य को सिद्ध करने की सामर्थ्य न होने से क्या यह कोई हेतु युक्तियुक्त हुआ? यह तो सत्-प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी हो सकता है यथा—'साक्षाद् बोधान्वयत्व हेतुः सन्नेव साध्यस्य सिद्धकरण-सामर्थ्यात्।" अतः यहां यही कहना चाहिए कि पदार्थों का साक्षात् बोध होता है और उस बोध का अन्वय अर्थात् सङ्गम भी होता है, जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और उसकी सङ्गति भी होती है, वही प्रकार यहाँ अभीष्ट है। परमेश्वर का भी 'युक्त युञ्ज्ञान योगज' सन्निकर्ष से ही साक्षाद् बोध हो जाता है।

एतस्य बोधस्यान्वयप्रकारोऽपि अन्यबोधोपमः। वस्तुतः साक्षाद्-बोध एव विज्ञानम्।, अन्वयश्च स्थूलपदार्थानां यथा 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।' ततो निर्विकल्पकज्ञानपूर्वकं सविकल्पकज्ञानान्वयो भवतीति विवेकः। तदान्वयत्वे कथं वा साक्षाद् बोधो हेतुर्भवेत् कथं वा तत्सम्बन्धः? एवं सर्वमपि इदं निरर्थकं वाग्जालम् एव उद्भावितम्, शिष्टोविषयो न्याये द्रष्टव्यः।

यदुक्तं 'न च साक्षाद्बोधो ब्रह्मादितृणान्तान् सर्वान् पदार्थान् विषयीकरोति, प्रत्यक्षानुमानाविषयाणामपि पदार्थानां सत्त्वात्' (पृ. ५४१ पं. १)। इदमपि अज्ञानवचो, योगशास्त्रादीनामनालोचनादेव। 'प्रातिभाद् वा सर्वम्' इत्यादि पातञ्जलानुशासनाद् योगिनामतीतानागत-सूक्ष्म-व्यवहित-दूरस्थादिवस्तुज्ञानसम्भवात्, साक्षाद्-बोधान्वयस्य सार्वभौमसम्बन्धस्य च हस्तामलकवत् प्रत्यक्षत्वाच्च।

(पृ. ५४१ अनुच्छेद १) यच्चोक्तम् "स्वामि-दयानन्द-प्रतिपादिते

इस बोध का अन्वय प्रकार भी अन्य बोध के समान ही है। वस्तुतः साक्षाद् बोध ही 'विज्ञान' यहां परिभाषित है।

स्थूल पदार्थों का अन्वय प्रकार तो यह है यथा आत्मा, बुद्धि से अर्थों को प्राप्त कर मन को विवक्षा आदि से युक्त करता है, तब निर्विकल्पक-ज्ञानपूर्वक सविकल्पक ज्ञानान्वय होता है। फिर 'अन्वय होने पर क्यों कर साक्षाद् बोध हो अथवा उसका सम्बन्ध ? यह पूरा ही निरर्थक वाग्जाल है, शेष विषय न्यायशास्त्र में देखना चाहिये।

यह कथन कि "साक्षाद् बोध, ब्रह्मादितृणपर्यन्त समस्त पदार्थों को विषय भी नहीं करता, क्योंकि ऐसे भी पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष, अनुमानादि के विषय नहीं है अर्थात् अतीन्द्रिय हैं" अज्ञान वचन है, क्योंकि आपने योग शास्त्र आदि का सम्यक् अध्ययन नहीं किया है। 'प्रातिभाद् वा सर्वम्' इत्यादि सूत्रों में महर्षिपतञ्जलि ने स्पष्ट कर दिया है कि योगियों को अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित दूरस्थ आदि वस्तुओं का ज्ञान सम्भव है और साक्षाद् बोध का तो सार्वभौम सम्बन्ध होने से उन्हें वस्तुओं का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष होता है।

पृ० ५४१ अनु० १—'स्वामी दयानन्द प्रतिपादित विज्ञानार्थ में कोई प्रमाण नहीं।" करपात्र जी का यह कथन प्रलापमात्र है, क्योंकि ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान श्रीधराचार्य के मत में भी ज्ञान शब्द के

विज्ञान-शब्दार्थे न प्रमाणम् अस्ति" इति तून्मत्तप्रलपनमेव, यतोहि इयं परिभाषा तु ऋषिणेह स्वग्रन्थाय कृता ।

ब्रह्मादिस्थावरान्त-पदार्थानां ज्ञानं, ज्ञानशब्दातर्गतं श्रीधरेणाऽपि मतम् । तस्य ज्ञानस्य च वैशिष्ट्येन उपयोगिता एव विज्ञानं, विज्ञानस्य च सम्बन्धः साक्षाद्बोधान्वयितपदार्थे एव । का तवात्र विप्रतिपत्तिः ? वैशिष्ट्येन तदर्थे च प्रमाणं यथा, "अधीत्य विधिवद् विद्यामर्थं चैवोपलभ्य चेत्यादि ।" ऋषिणा विज्ञानशब्दः परिभाषितो हिन्दी भाषायां, न केवलं शब्दानुवादः कृतः, अतोऽर्थः सङ्गच्छते एव । यन्च ते मतिर्नावबोद्धुं क्षमते ।

(अनु० २) यदपि च 'मर्यादायाम् पञ्चम्याश्रयणेन परमेश्वरातिरिक्त-तृणपर्यन्त-पदार्थ-ज्ञानस्यैव विज्ञानत्वम् इति ।' अत्र हि करपात्रस्य व्याकरण-ज्ञानस्य शून्यता एवावगम्यते यद्मर्यादायामेव पञ्चमीं-कल्पयते । "तेन विना हि मर्यादा सह तेनेत्यभिविधिः' इति परि-भाषणात् अग्रे तत्रैव—'ईश्वरानुभवो मुख्योऽस्तीति' निर्देशेन महर्षे अभिविध्यर्थस्याभीष्टार्थत्वात् इति स्पष्टं, तथैव च "मनुष्यत्वा-दारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते" (वे० १।४) इति

अन्तर्गत आता है और इस ज्ञान की वैशिष्ट्येन उपयोगिता ही है, जो विज्ञान है और साक्षाद् बोधान्वयित पदार्थों से ही विज्ञान का सम्बन्ध अभीष्ट है। आपको इसमें क्यों सन्देह हुआ ? ऋषिनिर्दिष्ट अर्थ में कौर्म उपविभाग का प्रमाण प्रस्तुत है "विधिवद् विद्या का अध्ययन कर और उसके अर्थ को उपलब्ध कर धर्म आचरण करे, वही विज्ञान अभीष्ट है ।" ऋषि ने यह विज्ञान शब्द विशद रूप में परिभाषित कर दिया है । हिन्दी भाषा में केवल शब्दानुवाद न कर पूर्णार्थ दिया है, अतः ऋषि का अर्थ सुसंगत है, जिसे आपकी बुद्धि समझने में समर्थ न हो सकी ।

अनु० २—यह कथन है कि 'मर्यादा के अर्थ में पञ्चमी करके परमेश्वराति-रिक्त तृणपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान ही विज्ञान है" यहां प्रथम बात तो यह है कि ऋषि ने मर्यादा में पंचमी नहीं कही है। यह केवल लेखक का छल है, दूसरे मर्यादा में आपकी कल्पना आपकी व्याकरणज्ञता का खोखलापन भी प्रस्तुत कर रही है ।

शांकरभाष्यम् । अयं हि विपरीत-कल्पनासुखी मर्यादायामत्रापि पञ्चमीं कल्पयित्वा किं मनुष्यातिरिक्तेष्वेव सुखतारतम्यं मंस्यते ? यच्चानभीष्टम् अशास्त्रीयम् च ।

यच्चोक्तं "न च ऋग्वेदे परमेश्वरमारभ्य तृण-पर्यन्त-सर्व पदार्थानां वर्णनं दृश्यते, तथात्वे न्यायादि-शास्त्राणां गतार्थता स्यात् ।" इतिलेखनेन तु एवं प्रतीयते यत्—

"पौराणिका ऋषि-विनिर्मित-दर्शनानां,
वैशेष्य-बोधनमवाप्तुमशक्नुवन्तः ?
तस्मात्परस्पर-विरोधमुदीरयन्ति,
निष्कोशतां वत गताऽस्ति मतिस्तदीया !

अयं खलु प्रच्छन्नतया वेदनिन्दापरायणो न वेदेषु सर्व-सत्य-विद्यानां पदार्थ-विद्यानां च मूलं मनुते, यथा च मन्वादयः समेऽपि ऋषयश्चात्रैकमत्यं वहन्ति यत्—

"सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च, ।

क्योंकि बिना उसके अर्थात् परमेश्वर को छोड़कर यह अर्थ मर्यादा में और परमेश्वर (सहित) यह अर्थ अभिविधि में होगा, अभिविधि में ही ऋषि को अर्थ अभीष्ट हैं । जैसा कि आगे स्पष्ट है कि 'उसमें भी ईश्वर का अनुभव मुख्य है ।' उसी प्रकार 'मनुष्यत्व से लेकर ब्रह्मान्त देहधारियों में सुखतारतम्य अनुश्रुत है, (वेदा० १/४) शांकर भाष्य में भी है । विपरीत कल्पानुगामी करपात्री जी यहाँ भी मर्यादा में 'पञ्चमी की कल्पना करके मनुष्यातिरिक्तों में ही सुख का तारतम्य मानकर अनर्थ कर डालेंगे और इस कथन से कि "ऋग्वेद में परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता, यदि उपलब्ध कहा जाय तो न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, आयुर्वेद तथा विज्ञान के विषय के जो आधुनिक पदार्थ हैं, उनको सबको व्यर्थ या गतार्थ कहना होगा।" मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि—

"पौराणिक लोग ऋषियों के रचित दर्शनों के वैशिष्ट्य को समझने में समर्थ न होकर परस्पर विरोधी बातें ही करते हैं और उनकी समझ का का तो दिवाला ही निकल गया है ।"

करपात्री जी प्रच्छन्न रूप से वेद-निन्दा-परायण हैं, जो कि वेदों में सर्वसत्य

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति । (मनु०)
"भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।" (मनु०)

किञ्च कृष्णद्वैपायनोऽपि —

'यानीहागम-शास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रकृतयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथा-क्रमम् ।।
महर्षियाज्ञवल्क्योऽप्याह ।
'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु, वेद शास्त्रात् सनातनात् ।।

अथापि 'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य' (म.भा.शा.प. २८४।९२) इत्युक्तम् ।

तदेवं 'न्यायादिशास्त्राणां गतार्थता स्यादितिवचनमल्पाधीतस्य तव मतेरेव गतार्थता, यथा च महर्षिकणादः 'तदवचनादाम्नायस्य प्रामाण्य'मिति वचनेन वैशेषिकशास्त्रस्य वेद-मूलकतां दर्शयति । एवं हिमकरकादीनाम् उत्पत्तिः तेजःसंयोगाद् भवति इति ह वैदिकं प्रमाणम्, 'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु" (तै. सं. ५।६।१) । न्यायकारोऽपि तथा 'मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्याच्च इत्यादिना वेदं प्रमाणत्वेन निदर्शयति ।

विद्या और पदार्थ-विद्याओं का मूल भी नहीं मानते, जबकि सभी ऋषि इसमें एक मत हैं । महाराज मनु की भी उक्ति देखिये—"सेनापत्य, राज्य, दण्डनीति और समस्त लोकों का आधिपत्य वेदशास्त्र को जानने वाला कर सकता है । तथा भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् का सर्वज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है ।

महर्षि कृष्ण द्वैपायन भी ऐसा ही मानते हैं 'लोक में जितने भी आगम शास्त्र हैं विभिन्न विषयों के मूल ग्रन्थ और जो लोक प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वे सब वेद के आधार पर ही क्रमानुसार आरम्भ हुईं ।" ऋषि याज्ञवल्क्य भी ऐसा कहते हैं 'वेद शास्त्र से भिन्न कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है, समस्त शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं ।

शान्तिपर्व महाभारत में भी कहा है 'वेद से छः अङ्गों को उद्धृत करके' इन न्यायादि शास्त्रों की निरर्थकता कहने वाले आपकी मति को ही निरर्थक समझना ठीक प्रतीत होता है । जबकि महर्षि कणाद स्वयम् 'धर्म तथा ईश्वर का

न्याय-व्याकरणादिशास्त्रैस्तु वेद-मूलकज्ञानमेव पल्लवितवन्तस्ते ऋषयः, मूलाभावे विकासनासम्भवात्। विविध-सत्यपदार्थ- विज्ञान-विषयका मन्त्रास्तत्प्रसङ्गे ऋषिणैव स्वभूमिकायां प्रदर्शिताः निदर्शन-रूपेण। अतः ऋग्वेदे तथा चान्येषु वेदेषु सर्वपदार्थ-वर्णनमस्ति, न्यायादि-शास्त्राणि तु वेदावगमन-पथ-प्रशस्तिकराणि एव।

तदेवं नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति! किन्नामाधिकेन-आधुनिक-विषयाणामपि ज्ञानं प्रज्ञावन्तः पश्यन्त्येव तत्र इति न संशयः।

(पृ० १४१ अनु० ४) पूर्वपक्ष :—"यच्च उच्यते "सर्वे वेदा यत्

प्रतिपादन करने से वेद का प्रामाण्य' कथन कर वैशेषिक शास्त्र की वेद मूलकता निर्दशित कर रहे हैं। इस प्रकार हिमकरक (ओलों) आदि के पदार्थों की उत्पत्ति तेजः संयोग से होती है, इसमें वैदिक प्रमाण है "या अग्निम्" आदि। न्यायकृत् गोतम भी वेद को अपने में प्रमाण मानते हैं। फिर यह कथन नास्तिकता से पूर्ण है कि 'इस प्रकार का कोई एक भी विज्ञान ऋग्वेद में प्रतिपादित नहीं हुआ।'

वस्तुतः विगत कल्मष ऋषि दयानन्द सदृश महर्षि ही समाधि में उन अनेकार्थों को देखा करते हैं।

(सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, खाद्य पदार्थ, औषधियाँ, काल, प्रकृति शब्दार्थ परमेश्वरादि सभी विषयों का वेदों में ज्ञान भरा हुआ है।)

यह खम्भे का अपराध नहीं कि कोई अन्धा खम्भे से जा टकरावे। और अधिक क्या लिखें।

आधुनिक विषयों का बोध भी प्रज्ञावान् वेदों से कर लेते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों से तो वेद मूलक ज्ञान को ही महर्षियों ने पल्लवित किया है, क्योंकि मूल के अभाव में विकास असम्भव है। विविधपदार्थों के विज्ञान विषयक मन्त्र उस प्रसंग में ऋषि ने ही अपनी भूमिका में निदर्शन रूप में प्रदर्शित किये हैं। अतः ऋग्वेद के समान अन्य वेदों में भी सर्व पदार्थ वर्णन हैं, न्यायादि शास्त्र रचना तो वेद के समझने के पथ को ही प्रशस्त करती है, न्यायादि की गतार्थता (निरर्थकता) कदापि नहीं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा बीजरूप वेद ज्ञान की व्याख्या की गई है।

(पृ० ५४१ अनु० ४)—पू० प०—'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' आदि

पदम्··· ·''इत्यादीनि प्रमाणानि वेदान्तदृष्ट्या तु घटन्ते परन्न ऋषि-दयानन्द-दृष्ट्या।'' इति

उ. प.—(१) इति तु सर्वथा प्रलपनमेव, यतः सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' इत्यादिवचनं नाद्वैतवादप्रतिपादकम्। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' इत्यत्र ये ब्रह्मचर्यं चरन्ति' के ते? अत्रोत्तरं, मानवाः जीवात्मान इति वा। यदा हि आमननीयमक्षरमोम् ब्रह्म, ब्रह्मचर्यं चरन्तश्च जीवात्मानः, तदा ब्रह्मणः जीवात्मनां च पृथक् प्रतिपादनान्नात्राऽद्वैतवाद-समर्थनं कथञ्चित्। किञ्च अद्वैतरीत्या तु नेदं स्थलं संगच्छते यतः इच्छुकः साधकः, साध्यश्च मननीयोऽन्यः। तत्पदमक्षरमोमिति यदिच्छन्तः साधकाः जीवाः। नहि कदापि साध्य एव साधको भवितुमर्हति। अतो जीव-ब्रह्मणोः सतोरेवाऽत्र संगतिः भवितुमर्हा।

भवतः नवीन-वेदान्त-दृष्टिस्तु न वैदिकी। रज्ज्वां सर्प इव शुक्तौ रजतमिव च जगदिदमसत्यं स्वप्नवद्वा वर्तते, केवलं ब्रह्मैव सत्यमितिवादिनां नवीनानाम् वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः, इति च वदताम् रज्जुपदार्थे चापदार्थं मन्यमानानाम् भ्रमजालमेव।

वाक्य वेदान्त दृष्टि से ही घटित होते हैं. ऋषि दयानन्द की दृष्टि से नहीं।

उ० प० (१)—उक्त कथन तो बेसमझी का है, क्योंकि 'सर्वे वेदा० इत्यादिवचन अद्वैतवाद का प्रतिपादक नहीं है। 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति. यहाँ जो ब्रह्मचर्य का पालनकरते हैं वे कौन हैं? इसका उत्तर है मनुष्य या जीवात्मा। जब मननीय अक्षर 'ओम' या ब्रह्म है और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले मनुष्य (जीवात्मा) हैं तब ब्रह्म और जीवात्मा दोनों का पृथक् प्रतिपादन होने से यहाँ अद्वैतवाद का समर्थन नहीं है तथा च 'अद्वैतवाद' के सिद्धान्त मानने से यहाँ संगति ही नहीं बैठ सकती क्योंकि इच्छुक साधक हैं मननीय साध्य अन्य है वह अक्षर 'ओम' है जिसकी इच्छा करते हुये साधक जीव है। कभी भी साध्य साधक एक नहीं होते अतः जीव और ब्रह्म दो को पृथक्-पृथक् मानने पर ही यहाँ संगति सम्भव है।

आपकी नवीन वेदान्त दृष्टि सर्वथा अवैदिक है। यथा—रज्जू में सर्प की भाँति, सीप में चाँदी की भांति, मृगमरीचिका में जल की भांति गन्धर्वनगर और इन्द्रजाल के सदृश यह जगत् असत्य है, स्वप्नवत् है, केवल

प्रत्यक्षापलापात् । ब्रह्मण्यपि जगतो भ्रमस्य ब्रह्मण एव प्रसज्यमानत्वापत्तेश्च । उपाधेर्जडचेतनत्वानिर्वचनीयत्व-कथनस्य च वदतोव्याघातदोषग्रस्तत्वात् । त्रैतवादे तु सर्वशङ्कासमाधानोपलम्भात् नवीन-वेदान्तदृक् न तर्क-संगता ।

किञ्च यत्र क्वाऽपि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि-प्रसङ्गेषु यदद्वितीयादिशब्दानाम् 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यत्रैव तात्पर्ये पर्यवसीयमानता । "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इत्यादीनि वचनानि तु अयुक्तियुक्तानि एव, एभिः अनन्तब्रह्मणः शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावत्वे बाधात् । सर्वशक्तिमत् सर्वज्ञे ब्रह्मणि अज्ञानापत्तेः गुणगुणिनोश्च मध्ये मायाद्यन्यसत्तायाः निवेशाऽसम्भावाच्च ।

विचारयन्तु विपश्चितो यत्, "स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति अर्थात् ये सुकृत-दुष्कृते स्तस्ते भगवदङ्गभूते

ब्रह्म की ही सत्ता है, ऐसा कहने वालों का रज्जु पदार्थ में सर्प अपदार्थ को मानना भ्रम मात्र ही है, क्योंकि सर्प आदि प्रत्यक्ष पदार्थ देखे जाते हैं, फिर वे अपदार्थ कैसे ? नवीन अद्वैत मत में इसी प्रकार ब्रह्म में भी जगत् का भ्रम ब्रह्म को ही होगा । उपाधि का जड़ चेतनत्व अनिवर्चनीयत्व कहना भी वदतो व्याघात दोष से युक्त है । त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों की वास्तविक सत्ता स्वीकार करने पर समस्त शङ्काओं का निरास हो जाता है, इस प्रकार नवीन वेदान्त दृष्टि प्रमाण व तर्क से शून्य है ।

(२) जहां कहीं भी 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्-इत्यादि प्रसङ्गों में अद्वितीयादि शब्दों का 'उस प्रभु के समान या उससे अधिक कोई नहीं, यही तात्पर्य है । 'कार्योपाधि यह जीव है और कारणोपाधि ईश्वर, इत्यादि मनगढ़न्त वचन युक्ति शून्य है । ऐसे वचनों से ईश्वर के शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव में बाधा उत्पन्न होगी । सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ब्रह्म में अज्ञानापत्ति होने लगेगी । पर गुण (ज्ञान) और गुणी परमात्मा के मध्य में मायादि अन्य सत्ता का आ जाना सर्वथा असम्भव है ।

विद्वान् विचार करें कि यह लिखते हुये करपात्री जी की बुद्धि को (फालिज) पक्षाघात मार गया कि "स्वाङ्ग अपना व्यवधायक नहीं होता

एव । अतस्तन्मध्यत्वमागतेऽपि परमेश्वरस्य न स्वातन्त्र्यभङ्गः ।" इति लिखतः महाभागस्य करपात्रस्य बुद्धिस्तु पक्षाघातेनोपहता ।

अहो, अज्ञानस्य बलीयस्ता यदयन्तार्किकः सुकृतं दुष्कृतं च भगवतोऽङ्गं प्रतिपादयते । अहो नास्तिकतायाः अपि पराकाष्ठा यदयं (पृ. १८५) मीमांसकाननीश्वरवादिनो वक्ति, तथा हिः—"बुद्धिमत्-पूर्वकत्वं तु विश्वस्यानीश्वरवादिनो मीमांसका अपि मन्यते" (पृ० १८५) इति । एवंविधमनर्गलं वदन्तः स्वोक्त्या एव नवीनवेदान्तिनः पराजिताः भवन्ति । बालोन्मत्तादयो स्वकार्याणाम् अपि न प्रयोजनादिवेदिनः, निरभिप्रायाणामेव तेषां प्रवृत्तेर्दर्शनात् । लेखक-स्यास्यपि इयमेव गतिः ।

(पू० प०)—अत्र मोक्षेश्वयोरभेदोऽयमुक्तः, तन्न सङ्गच्छते । मोक्षस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वात् (पृ०५४२ पं ३३) ।

(समीक्षा)—स्वामिदयानन्देन "यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्म प्राप्ति-लक्षणम् सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरत् अस्ति, तदेव ओङ्कारपदवाच्यम् अस्ति" इत्युक्तम् । अत्र मोक्ष-शब्देन

अर्थात् जो पाप और पुण्य है, वे भगवान् के अङ्गभूत ही हैं, अतः उनके बीच में आ जाने पर भी परमेश्वर की स्वतन्त्रता भङ्ग नहीं होती ।"

अहो ! अज्ञान की बलवत्ता और पराकाष्ठा है, जो यह कुतर्की पुण्य और पाप को भगवान् का अङ्ग मान रहा है और नास्तिकता की आश्चर्य-कारक सीमा है, जो कि यह मीमांसाकार को भी १८५ पृ० पर अनीश्वरवादी कहता है—

"अनीश्वर वादी मीमांसक भी विश्व की रचना बुद्धि पूर्वक ही मानते हैं" इस प्रकार बे लगाम बोलने वाले नवीन वेदान्ती अपनी उक्तियों से ही पराजित हो जाते हैं।

'बालक और उन्मत्त आदि अपने कर्त्तव्यों का भी प्रयोजन नहीं समझ पाते, उनकी प्रवृत्ति निरभिप्राय ही देखी जाती है, वही गति इस लेखक की है।

पू० प०—यहाँ पर स्वामी जी ने मोक्ष और ईश्वर का अभेद कहा है, वह असङ्गत है क्यों कि मोक्ष ब्रह्मज्ञान का फल होता है ।

(समीक्षा) यहां पर स्वामी दयानन्द ने, वह परमपद मोक्ष नाम वाला है, अर्थात् पर ब्रह्मप्राप्ति लक्षण सर्वानन्दमय सर्व दुःख से इतर है, वही

परब्रह्म-प्राप्ति-लक्षणमेवोक्तम् । तत्र त्वयाऽक्षिप्तम् "मोक्षेश्वरयोर-भेदो न भविष्यति" इति ।

तद् इदं कथनन्तु तर्कासहम् । पुनर्भवादृश-वेदान्तिनां कृते मोक्ष-ब्रह्मणोः को भेदः ? महर्षिरत्र शब्द-शक्तेर्दर्शनमकारयत् यत् मोक्ष-शब्दो ब्रह्म-वाचकोऽपि । यतो जीवानाम् प्रपञ्चात् मोक्षः अर्थात् ईश्वरप्राप्तिः जायते । एतस्मिन्नर्थे मोक्ष इति नाम ईश्वरस्यापि सम्भ-वति । तदा क्व सिद्धान्त-हानिः ? दुःखं मोक्षयतीति मोक्षः ईश्वरः । मोक्ष्यते दुःखमनेनेति वा मोक्षः ईश्वर । एवम् मुक्तिः मोचनम् विश्लेष-आत्मस्वरूपदर्शनम्, आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः, नित्य-सुखावाप्ति-रित्यादयोऽपि मोक्षार्थाः सन्ति ।

किञ्च श्रीमद्भागवतान्तर्गतम् भवदीयं ब्रह्म अपवर्गाख्यमिति, निभालयतु तावत् 'सर्वागमाम्नाय महार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय' (गजेन्द्र मोक्ष प्रसङ्गे)"

यच्चोक्तम् 'नहि ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानफलम्' 'तमेव विदित्वा' इति विरोधात्" तदिदमविचारित-रमणीयम् । ब्रह्मज्ञानस्य ब्रह्मरूपत्वात्,

---

ओंकार पदवाच्य है, यह कहा है । मोक्ष के दोनों अर्थ अर्थात् ब्रह्म तथा मोक्ष होने में भी कोई बाधा नहीं । अतएव ऋषि ने इसी मन्त्र में पुनः स्पष्ट किया "तत् पदं ब्रह्माऽपि वर्तते" अपि शब्द से स्पष्ट किया है ।

'मोक्ष और ब्रह्म का अभेद नहीं हो सकता' यह आपका आक्षेप तर्क से दूर है, फिर आप जैसे नवीन वेदान्तियों को तो मोक्ष, ब्रह्म में क्या अन्तर ? महर्षि ने यहाँ शब्द-शक्ति का दर्शन कराया कि मोक्ष ब्रह्म का भी वाचक होता है । क्योंकि जीवों का 'प्रपञ्च' से छूटना ही मोक्ष है । ईश्वर प्राप्ति इस अर्थ में ईश्वर का भी वाचक हो जायेगा अर्थात् जो प्रपञ्च छुड़ाये, इसमें हमारे सिद्धान्त की हानि कहाँ पर हुई, यह बताइये, दूसरी व्युत्पत्ति भी हो जायेगी, इसी प्रकार श्रीमन् ! मुक्ति, मोचन, विश्लेष, आत्मस्वरूप दर्शन, आत्यान्तिक दुःखनिवृत्तिः नित्य सुखावाप्ति इत्यादि मोक्ष के पर्याय ही हैं । आपके भागवत में ब्रह्म का पर्याय वाचक अपवर्ग (मोक्ष) पढ़ा है ।

यह कथन कि 'ब्रह्म ही ब्रह्मज्ञान का फल नहीं हो सकता' तमेवविदित्वा' इससे विरोध होने के कारण, यह तर्क जब तक विचार न किया जाय तभी तक अच्छा लगता है । महोदय ! ब्रह्मज्ञान तो स्वयं ब्रह्मरूप ही है ब्रह्म से

नहि ब्रह्मणः पृथक् तज्ज्ञानमन्यत्र तिष्ठति। यदाहि मुक्त्यर्थको मोक्ष-शब्दस्तदा तु, ब्रह्मज्ञानफलम् मोक्षः।

वस्तुतस्तु 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्'' यज्ज्ञानं पदार्थस्य यथार्थ-स्वरूपे न स्थिरम् अर्थात् पदार्थस्य स्वरूपं न विषयी-करोति, कालान्तरे च यथार्थज्ञानेन नश्यति। एवंविधस्य मिथ्या-ज्ञानस्य उत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः। स च तत्त्वज्ञानेन भवति। न चात्र जीवब्रह्म-विषयक-मिथ्याज्ञानभूतमेकत्वज्ञानमभि-प्रेतम्। ब्रह्म-सम्बन्धि-ज्ञानम् यत् श्रवणादि वर्तते तेन अन्ते ब्रह्मज्ञानम् परमानन्दप्राप्तिफलं प्राप्यते।

(आक्षे०) ''दयानन्द-रीत्या मोक्षोऽप्यनित्यः मोक्षादावृत्ति-स्वीका-रात्'' (पृ०५४२ पं० ११)। (समा०) ऋषि दयानन्दस्य दार्शनिक-सिद्धान्ताः सुविचारितास्तर्क-सङ्गताश्च सन्ति। तत्रेदं विचार्यत :—

प्र०—ब्रह्मणि मुक्तौ जीवस्य लयो जायते, पृथगवतिष्ठते वा जीवः?

पृथक् उसका ज्ञान अन्यत्र नहीं रहता, अतः असंङ्गतोक्ति है। और जब मोक्ष का अर्थ मुक्ति है, तब तो यह ब्रह्मज्ञान का फल है।

वास्तव में अतद्रूपप्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय हो जाता है जो ज्ञान पदार्थ के यथार्थ ज्ञान से नष्ट हो जाता है, इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान के उत्तरोत्तर अपाय होने पर उसके अनन्तर के भी अपाय होने पर अप-वर्ग होता है।

वह अपायतत्व ज्ञान के कारण होता है, यहाँ पर मिथ्या ज्ञान भूत जीव और ब्रह्म का एकत्व अभिप्रेत नहीं है। ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान जो श्रवणादि है, उससे अन्त में ब्रह्म ज्ञान परमानन्द प्राप्ति रूप फल होता है। इस प्रकार मोक्ष की व्याख्या इस न्याय-सूत्र में की गई है।

पू० प०—''स्वामी दयानन्द की रीति से 'मोक्ष भी अनित्य है, क्योंकि वे मोक्ष से आवृत्ति (आना) स्वीकार करते हैं।''

उ० प०—ऋषि दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त वेदसम्मत, सुविचारित और तर्क संङ्गत है, उस विषय में विवेचन इस प्रकार है।

प्र०—मुक्ति की अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय हो जाता है, या जीव पृथक् रहता है?

उ०—विद्यमानो भवति, पृथगवतिष्ठते च। लयं प्राप्नुयाच्चेत् कः खलु सुखमुपभुञ्जीत? कैवल्यसाधनानि च नैष्फल्यमापद्येरन्। ब्रह्मणा सायुज्यं हि नात्मनो मोक्षः, परं प्रलयः एव समधिगन्तव्यः।

यदाहि जीवः परमात्मनो निदेशपरिपालनम्, धर्मकर्मानुष्ठानं, सत्सङ्कल्पयोगाभ्यासेन च पूर्वोक्तानि साधनानि चानुतिष्ठति, तदैव निःश्रेयसमधिगच्छति। तथा च श्रुतिः—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्'' सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। (तैतिरीय ब्रह्मानन्दवल्ली। अनु० १, सत्यार्थ प्र० समु० ६)

नवीनवेदान्तिनः, जीवस्य ब्रह्मणि लयं प्रतिपादयन्तो मुण्डकोपनिषदः इदं वचनं प्रस्तुवन्ति :—

उ०—पृथक् सत्ता में विद्यमान रहता है, लय को प्राप्त हो जावे, तो सुख की अनुभूति को न करे तथा कैवल्य के साधनों का प्रतिपादन निष्फल हो जायेगा। ब्रह्म से सायुज्य होना आत्मा का मोक्ष नहीं, प्रत्युत प्रलय समझना चाहिए।

जब जीव परमात्मा की आज्ञा के परिपालन, धर्मकर्मानुष्ठान, सत्संकल्प और योगाभ्यास से पूर्वोक्त मोक्ष साधनों का अनुष्ठान करता है, तभी निःश्रेयस को प्राप्त करता है, यह सब तैत्तिरी० आनन्दवल्ली अनु० १ तथा सत्यार्थ-प्रकाश में (समु०) विशद-रूपेण प्रतिपादित है।

नवीन वेदान्ती जीव का ब्रह्म में लय प्रतिपादित करते हुये मुण्डकोपनिषद् का यह वचन प्रस्तुत करते हैं:—जैसे नदियां बहती हुई नामरूप को छोड़ समुद्र में अस्त को प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नामरूप से विमुक्त होकर परात पर दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है, परन्तु वे इस दृष्टान्त को एक देशीय रूप में समझते हैं, देखिये कि नदियां नाम और रूप से नष्ट (णश् अदर्शने) या अदृष्ट हो जाती हैं, परन्तु जलसत्ता तो समुद्र में कहीं न कहीं अवश्य रहती है, उसका अभाव तो होता नहीं, उसी प्रकार जीव अपने भौतिक शरीर को धारण करने पर नाम और रूप को तो छोड़ देता है, क्योंकि उसके नाम रूप, देहादि संघात के आश्रित होते हैं और उस सङ्घात का मुक्ति में विनाश हो जाता है।]

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुष मुपैति दिव्यम्"। (मुण्डक० ३।२।८) परमयं दृष्टान्त एकदेशीयत्वेन अवगम्यते यन्नद्याः नामरूपे तु नश्यत, परं जलसत्ता तु अवशिष्यत एव' न चाऽभावो जायते जलस्य। तथैव जीवःस्वीये नाम-रूपे तु जहाति, तयोः नामरूपयोर्देहादिसघाताश्रितत्वात्। सङ्घातस्य च मुक्तौ नाशात्।

वस्तुतस्तु भगवान शङ्करो बौद्धमत-निरासायैव जीव-ब्रह्मणोरैक्यं जगतश्च मिथ्यात्वं स्वीकृतवा न् परं नहि स्वप्नवज्जगन्मिथ्यास्ति यथाह "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।' (वे० २।२।२९ सू० भाष्ये) नहि स्वप्नादि-प्रत्ययवज्जाग्रत-प्रत्ययाः भवितुमर्हन्ति।" इति।

श्री रामानुजाचार्यस्तु अत्रैवं शङ्कते—

'किंच जीवाश्रयाया अविद्यायाः नाशे तत्त्वज्ञानादानन्दे प्राप्ते सति जीवो नश्येद् वा, न वा ? यदि नश्येत्तु विनाश-लक्षणे मोक्षःस्यात्।" जीवस्य ब्रह्मणि लये कः खलु आनन्दमुपभुञ्जीत ? पायसं स्वदितुमुद्यतः पायसरूपेण परिणतः स्याद्यदि, तद्वत्।

वस्तुतस्तु आद्यशङ्कराचार्योऽपि लक्षिते बौद्धपराजये, स्वीकृते

भगवान् शंङ्कर ने बोद्धमत के निःश्रेयस के लिये ही जीव ब्रह्म की एकता और जगत् का मिथ्यात्व स्वीकार किया था, वस्तुतः स्वप्नवत् जगन्मिथ्या नहीं है। जैसा कि वेदा० २।२।२९ में वैधर्म्य के कारण जाग्रत ज्ञान स्वप्नादिवत् नहीं, क्योंकि शंकर स्वयं कहते हैं कि 'स्वप्नादि प्रत्ययवत् जाग्रत-प्रत्यय नहीं होते।"

श्री रामानुजाचार्य ने तो नवीन वेदान्त पर कठोर प्रहार करते हुये निम्नोक्त विचार किया है, "क्या जीवाश्रित अविद्या के नाश होने पर तत्त्वज्ञान से आनन्द की प्राप्ति होने पर जीव नष्ट हो जाता है' अथवा नहीं ? यदि नष्ट हो जाता है, तो विनाश होने पर मोक्ष हुआ और जीव के ब्रह्म में लय होने पर आनन्द का उपभोग कौन करेगा ? यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई खीर का स्वाद लेने को बढ़ा और स्वयं खीर बन गया।

वस्तुतः आद्यशङ्कराचार्य को बौद्धों का पराजय अभीष्ट था, अतः तदर्थ अद्वैत स्वीकृत कर लेने पर भी उन्होंने जीव ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त में अपना

चाऽपि जीवब्रह्मणोरेकत्वसिद्धान्ते 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चेति (वेदान्त. ४।४।७।१६ भाष्ये) "जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः ? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसन्निहितत्वाच्चेतरेषाम्। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्, नित्यशब्द-निवन्धनत्वाच्च" इत्यादौ अपि जीवस्य ब्रह्मणः पृथगवस्थितिं निरूपितवान्।

सत्यां च पृथगवस्थितौ, न अनन्तकालाय मुक्तिः, सीमित-कर्म-साधनत्वेऽनन्त-फलानवाप्तेः। भगवच्छङ्करवचनैः "जगद्व्यापारस्तु नित्य-सिद्धस्येश्वरस्यैव" इति एवं मुक्तजीवस्य मुक्ताऽवस्थाऽप्यनित्यैवेति सूच्यते।

अतः मुक्तेः पुनरावृत्तिः सिद्धा, यतो ह्यनित्य-पदार्थः प्रागभाव-प्रध्वंसाभावयोर्मध्ये भवति। नित्यस्तु द्वाभ्यामपि विरहितः। एकाभावस्पर्शी पदार्थस्तु न सम्भवति। यदि मुक्तेरादिता तर्हि कथं-नान्तता ? एवं मोक्षादनावृत्तिर्नवीनाद्वैतता च अपाकृता। शास्त्रेषु 'अनावृत्ति-शब्दः अथवा 'न च पुनरावर्तते, इति परान्तकालार्थे एव पर्यवसितम्, तथा च "ते ब्रह्मलोकेषुपरान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। (मुण्ड० ३ ख० २।६)

मत स्पष्ट दिया है कि "जगदुत्पत्ति के कार्य को छोड़कर अन्य अणिमा आदि प्रभु का ऐश्वर्य जीवों को प्राप्त हो सकता है, जगद् व्यापार तो केवल नित्य सिद्ध ईश्वर का ही कार्य है क्योंकि वह ईश्वर जगत् में वर्तमान है, अन्य जीव उसमें सन्निहित नहीं हैं, परात्पर ईश्वर ही जगत् व्यापार में अधिकृत है, प्रकृति के नित्य साथ रहने से उत्पत्ति आदि घटित होते हैं" इत्यादि में जीव की ब्रह्म से पृथक् अवस्थिति ही निरूपित की गई है।

तथा पृथक् अवस्थित होने पर अनन्त काल के लिये मुक्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि सीमित कर्म साधनों के होने पर तज्जन्य अनन्त फल की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं. अतः शंकर के सन्दर्भित अंश से भी मुक्त जीव की मुक्तावस्था भी अनित्य ही प्रमाणित होती है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्ध है, क्योंकि अनित्य पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाऽभाव के मध्य में रहता है, नित्य दोनों से विरहित होता है और एक

शङ्का—नन्वेदंभ्रम-ग्रस्तं यद्यस्यारम्भस्तस्यान्तोऽपीति, एकत संख्यायाः प्रारम्भेऽप्यनन्तत्वात्तस्याः।

समा०—तदेष भवद्भ्रम एव अनन्ताया संख्यायाः अपि $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{१०}$, $\frac{१}{१००}$ आदिरूपेण नादितायाः सत्त्वात्।

परान्तकालश्च षट्त्रिंशत्-सहस्र-सृष्टि-प्रलयकालः। मुक्तेरनावृत्ति मन्वानास्तु अन्ये आचार्याः न साधुसमाधानपथं लेभिरे। अतः सडिण्डिमम् घोष्यते यन्महर्षि-दयानन्दस्य दार्शनिक-सिद्धान्तास्तु शास्त्रसङ्गति-पुरस्सरम् असन्दिग्धाः।

"दयानन्दस्य सिद्धान्ताः शुद्धास्तर्क समन्विताः।
न च खण्डयितुं शक्याः मायावादविमोहितैः॥
इति अस्मद्गुरवः॥

अभाव वाला पदार्थ तो होता नहीं। यदि मुक्ति का प्रारम्भ है, तो उसका अन्त कैसे नहीं होगा? एक किनारे का दरिया नहीं होता। इस प्रकार मोक्ष से अनावृत्ति और नवीन अद्वैतता की आपकी मान्यता धराशायिनी हो गई।

शङ्का—महोदय! यह आपका कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है कि जिस वस्तु का प्रारम्भ होता है, उसका अन्त भी होता है, क्योंकि दखिये संख्या १ से आरम्भ होती है और अनन्त तक चलती रहती है।

समाधान—महाशय! विचार कीजिये तो संख्या का प्रारम्भ नहीं जैसे १ का $\frac{१}{२}$-$\frac{१}{१०}$, $\frac{१}{१०००}$, एक बटा, एक करोड़ आदि।

शास्त्रों में अनावृत्ति शब्द अथवा 'न च पुनरावर्त्तते' यह परान्त काल का सूचक है, जैसा कि मुण्डक ३.२.६ म कहा है 'वे मोक्ष मे रहत हुये मुक्तात्मा महाकल्प पर्यन्त ब्रह्मानन्द का उपभोग करक पुनः मोक्ष सुख को छोड़कर इस संसार मे आते है, परान्त काल ३६ हजार बार का सृष्टि-प्रलय-काल होता है। मुक्ति से अनावृत्ति को मानने वाल अन्य आचार्यों क पास अनेक उत्थित शकाओं का कोइ समाधान नहीं है। अतः सडिण्डिम घोषणा है कि महर्षि दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त शास्त्र-संगति पुरस्सर असन्दिग्ध हैं।

'दयानन्द के सिद्धान्त शुद्ध और तर्क से युक्त है, वे माया से विमोहित नवीन वेदान्तियों (श्री करपात्री जैसों) से खण्डित नहीं किये जा सकते।'

यह अस्मद् गुरू कथन है।

आक्षेपः—यच्चोच्यते 'ब्रह्मणः नित्यत्वे मोक्षस्याऽपि नित्यत्वम्."
तत्तु बालमतिप्रेरितम्।

समाधानम्—तत्र शब्दाः ध्यातव्या, ऋषिणोल्लिखितम्—
"परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं मोक्षाख्यम्, परब्रह्म तु नित्यम्, परं जीवात्मना
तत्प्राप्तिस्तु न नित्येति समाहितं समम् सद्य एव। ब्रह्मणो ज्ञानमपि
ब्रह्मवद् नित्यं परं यदधिगतं स्वोत्तमज्ञानेन जीवात्मना तत्तु सावधिक-
मनित्यम् च परिमित-साधन-देहादिभिरनन्त-फलानवाप्तेः।
मुञ्चन्ति दुःखेभ्यः पृथक् भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः, दुखं हि
हेयम्।"

किञ्च अत्राऽपि छलेनाऽभ्युपेतं वचस्ते, कः प्रश्न ईश्वर-ज्ञान-
स्यानित्यतायाः ? नहि मोक्षेश्वरयोरैक्यमुक्तम् यदि च ईश्वरवाच-
कत्वेन सह मोक्षार्थः प्रतिपाद्येत तदन्यत्, अथ च मोक्षार्थो मुक्तिः
तदा 'तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गोऽभीप्सितः, इति समाधीयताखिलम्।

आक्षेप—यह जो कहा जा रहा है। ब्रह्म और मोक्ष की एकरूपता मानने पर मोक्ष की नित्यता तो स्वतः सिद्ध हो जाती है।

समा०—यह शंका बाल-बुद्धि प्रेरित है। वहाँ के शब्दों पर ध्यान दीजिये, ऋषि ने लिखा है—'परब्रह्मप्राप्तिलक्षण मोक्ष ईश्वर का वाचक है, परन्तु छूटने अर्थ में जीवात्मा द्वारा माया बन्धन से मुक्त होना है, ब्रह्म तो नित्य है पर जीवात्मा तो बन्धन में आता है। यह पूर्व भी कहा जा चुका है कि मोक्ष का अर्थ अमृत (ईश्वर) और दुःखों से छूटना दोनों हैं। ब्रह्म का ज्ञान भी ब्रह्मवत् नित्य है, परन्तु जीवात्मा ने जो अपने उत्तम ज्ञान के माध्यम से सावधिक ज्ञान प्राप्त किया है वह तो नित्य नहीं, क्योंकि वह परिमित साधन-देहादि से अनन्तकाल तक नहीं प्राप्त किया जा सकता।

जिससे दुःख से छूट जाते हैं वही मुक्ति है, क्योंकि दुःख ही हेय है।

यहाँ पर भी छल से भरा हुआ आपका कथन है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान की अनित्यता का प्रश्न ही कहा है ? मोक्ष और ईश्वर की एकता नहीं कही गई, प्रत्युत मोक्ष का अर्थ ईश्वर भी है और मुक्ति भी, जैसा कि पहले सर्व समाधान कर दिया है।

श्री राधाकृष्णन्मते तु शाङ्करमतं बौद्धिकभ्रमस्यातिस्वच्छं सुन्दरमुदाहरणम् वर्त्तते।

(पृ० ५४२) (आक्षेपः)—किञ्च स्वर्गादिवत् स्वभिन्नस्यैव सतो ब्रह्मणो भोग्यत्वेन प्राप्तिरात्मत्वेन वा ? नाद्यः, तथात्वे बहुभोग्यत्वेन क्षयिष्णुतापत्तेः। नान्त्यः, अपसिद्धान्तापातात्।

समा०—इह तु शास्त्रज्ञतायाः अविकलं प्रदर्शनम् विहितम् ! किन्नैषा बालिशता ? 'बहुभिर्भोग्यत्वेन ब्रह्मणः क्षयिष्णुतापत्तेः" इति वदन् भवान् सीमितं, सावयवं, साकारं ब्रह्म ध्यायन् अनन्तस्यापरिपेयस्यापि ब्रह्मणः क्षयिष्णुतामाशङ्कते, यतो हि जीवात्मभिन्नस्य आनन्दमयस्य ब्रह्मणो मुक्तेन जीवात्मना आनन्दोपभोगेन क्षीणता प्रसज्येत इति मन्यते भवान्।

(१) भोः धन्यवादार्हा ते मतिः ! श्रीमन् ! मोक्षे तु जीवः आनन्दमुपभोक्तुमक्षमते, स्वसत्यसङ्कल्पादि-स्वाभाविक गुणैः। भूतसंघश्च जीवात्मनः परिहीयते, तथा च शतपथे:—"शृण्वन् श्रोत्रं भवति स्पर्शयन् त्वग्भवति", (शतपथ का. १४) एवम् हि मुक्तावपि स्वीय-

---

श्री राधाकृष्णन् के मत में तो शाङ्करमत बौद्धिक-भ्रम का अति स्वच्छ सुन्दर उदाहरण है।

आक्षेप—स्वर्ग आदि की तरह अपने में इसी सद्ब्रह्म की प्राप्ति भोग्यत्वेन है, या आत्मत्वेन है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अनेक लोगों के द्वारा भोग्य होने से उसमें क्षयिष्णुता का प्रसंग प्राप्त होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अपसिद्धान्त हो जायेगा।

समाधान—यहाँ तो आपने अपनी शास्त्रज्ञता का खोखलापन ही प्रस्तुत कर दिया। क्या यह आपकी बालिशता नहीं है ? जो कि आप कहते हैं, कि ब्रह्मानन्द का यदि बहुत से लोग भोग करेंगे, तो उस (ब्रह्म) में क्षीणता आ जाएगी" यह कहकर आप ब्रह्म को सीमित, सावयव, साकार ध्यान करते हुये अनन्त और अपरिमेय निरवय ब्रह्म की क्षयिष्णुता की शंका कर रहे हैं, क्योंकि आप मानते हैं कि जीवात्म भिन्न आनन्दमय-ब्रह्म, मुक्त जीवात्मा के द्वारा आनन्द के उपभोग करने से क्षीण हो जायेगा। महाशय ! अनन्त ब्रह्म की क्षयिष्णुता सोचने वाली आपकी बुद्धि धन्यवाद के योग्य है। महोदय ! मोक्ष में जीव स्वसत्य सङ्कल्पादि स्वभाविक गुणों से आनन्द का उपभोग करने में

सामर्थ्येनाशेषानन्दमुपभुङ्क्ते, यतोहि "दुःखेभ्यः परिमुच्यानन्द-स्वरूपे सर्वव्यापकानन्त-ब्रह्मणि जीवात्मन आनन्देन समवस्थानंमुक्तिरिति ।" मुक्तिविदः सङ्गृणन्ति (सत्यार्थ प्र० ६)। अथवा आत्मत्वरूपेणापि यदि ब्रह्मणस्तदानन्दावाप्तिः, तदापि नापसिद्धान्तो जायते, उपरि-व्याख्यातरूपेण सत्यार्थावगतेः। ननु "ज्ञातत्वोपलक्षित प्रत्यगभिन्न-परेशस्य मोक्षत्वम् गन्तव्यमिति चेन्न, "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञात त्वेनोपलक्षितः" इति सिद्धान्तस्य अवैदिकत्वात् एकस्यैव ब्रह्मणो जीवरूपत्वे घटनायाः बाधितत्वात्। एकस्यैव च ब्रह्मणो व्याप्यव्यापक सम्बन्धत्वेन भ्रमाद्यविद्याग्रस्तत्वेन असम्भवाच्च। अवैदिकत्वं तु, जीवात्मनः परमात्मनश्च पृथक्त्व-प्रतिपादकश्रुतेः स्पष्टप्रतिपा-दकत्वात्, यथा :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

विद्वांसः सन्तोऽपि शङ्कररामानुजाचार्यादयस्तु शास्त्रीय-सिद्धान्त प्रकाशने भ्रान्ता, उत तात्कालिककारणवशात् वेदरक्षणाय तैः बौद्धानां समक्षे अङ्गीकृतोऽयं सिद्धान्तोऽद्वैतः। अन्य-मतावलम्बिषु अपि 'मोक्षशिलायां शिवपुरं गत्वा तूष्णीं भावेनावस्थानमेव 'मोक्ष' इत्या-र्हताः, चतुर्थे त्रिविष्टपे वनितोपभोगेन, इति ईसामतानुयायिनः, श्री पुरे इति वाममार्गिण कैलाशे इतिशैवाः, वैकुण्ठे इति वैष्णवाः, 'गोलोके चेतिगोकुलवासिनो गोस्वामिनः, पौराणिकास्तु ब्रह्मलोकेषु निवासेन सालोक्यादि-पञ्चविधां मुक्ति स्वीकुर्वन्ति, तत् सर्वम् असत्यमेव ।

समर्थ होता है । जीवात्मा का पचभूतो सङ्घ छूट जाता है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है :

सुनते हुए कान होता है, छूते हुए त्वग् हो जाती है, इत्यादि । इस प्रकार मुक्ति में भी अपनी सामर्थ्य से मुक्तात्मा अशेष-आनन्द का उपभोग करता है।, क्योंकि 'दुःखों से छूटकर आनन्द-स्वरूप सर्वव्यापक अनन्त ब्रह्म में जीवात्मा का आनन्द पूर्वक समवस्थान होना ही मुक्ति है, मुक्ति के रहस्य को जानने वाले कहते हैं (सत्यार्थ प्र० ६ समु.) ।

आत्मस्वरूप से भी ब्रह्म के उस आनन्द की प्राप्ति होती है, इस दूसरे पक्ष के मानने में भी अभिप्राय भेद नहीं, तब ब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति हो

एवम् योगे 'स्वरूप-प्रतिष्ठा' न्याये-तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः, सांख्ये "दुःखात्यन्तनिवृत्तिः" तथा च छान्दोग्ये "परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिसंपद्यते" एवमेव यजुषि च "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इति प्रोक्तम्, तदेव सत्यम् ।

(पृ० ५४३) यत्तु "ब्रह्म च्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च" तत्तु निरर्थकमेव, व्यापके ब्रह्मणि सर्वेषामेवा-ध्यासनादुपवेशनाच्च" इत्याक्षिपतस्ते मतिस्थौल्यमेव भाति ।

(समा०) इह 'विद्वांसो ज्ञानवन्तः तदेव ब्रह्म स्वाश्रयं मन्यमाना अध्यासते, आनन्दमनुभवन्तश्च उपविशन्ति । एकरसो भगवान् सर्वत्र स्वानुग्रहेच्छायां वितरति भक्तानुग्रहकांक्षया तथापि "यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः" इति वेदे, व्यासभाष्ये च यथा "तस्यात्मानुग्रहाऽभावेऽपि भूतानुग्रहप्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि इति (यो० १।२५) ।

जाती है, इसमें अपसिद्धान्त नहीं है। ऊपर के व्याख्यान से सत्यार्थ का ज्ञान हो ही जायेगा। 'ज्ञातत्वोपलक्षित प्रत्यगभिन्नपरेश' को मोक्ष कहना, वेद विरुद्ध सिद्धान्त है, क्योंकि एक ब्रह्म वेदान्तियों की दृष्टि में जीव बन जाता है, जैसा होना सर्वथा असम्भव है और एक ही ब्रह्म का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध तथा भ्रम आदि अविद्या से ग्रस्त होना असम्भव आदि दोष युक्त है। क्योंकि जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों की पृथक् सत्ता का श्रुतियों में स्पष्ट प्रतिपादन है जैसे —

"दो सुपर्ण साथ-साथ रहने, वाले सखा हैं, समान प्रकृति (सृष्टि) रूपी वृक्ष पर हैं। उनसे एक जीव 'पिप्पल स्वाद का भोग करता है, और अन्य परमात्मा द्रष्टामात्र है।"

विद्वान होते हुए भी शङ्कर, रामानुजाचार्य आदि भी शास्त्रों के सत्य-सिद्धान्त के प्रकाशन में भ्रान्त हो गये अथवा तात्कालिक कारणों से वेदों की रक्षा के लिये उन्होंने बौद्धों के समक्ष यह अद्वैत-सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। अन्यमतावलम्बियों में भी अभी, 'मोक्षशिला में, शिवपुर में जाकर मौन-भाव से अवस्थित रहना मात्र मोक्ष आर्हत, मानते हैं, चौथे आसमान पर वनिताओं का उपभोगमात्र ईसाई, श्रीपुर में वाममार्गी, कैलाश पर शैव, वैकुण्ठ में वैष्णव, गोकुलिये गोस्वामी गोलोक में तथा पौराणिक लोग ब्रह्म-लोक में निवास करने पर पाँच प्रकार की सालोम्यादि मुक्ति स्वीकार करते हैं, यह सब असत्य ही है।

यथा सर्वव्यापके आनन्दपर्जन्ये वर्षति अभाग्यच्छत्रछन्नेषु नानन्दवारिबिन्दवो निपतन्ति, तथैव केचन अध्यासमाना: अपि नानुभवन्ति ब्रह्मसामीप्यानन्दम्, अज्ञानकृत-विप्रकृष्टता-वशात्, विद्वांसस्तु अनुभवन्ति एवेति ।

(३) भो: भवन्मते 'ब्रह्मणि वेदानां मुख्यं तात्पर्यं नास्ति', चेत् एष आक्षेप: तदा किं "सर्ववेदा यत्पदम्" इति श्रुतौ पृष्ठतो न वर्तते प्रहार: ?

आक्षेप :—"तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेद':' यत्तदद्रेश्यम-ग्राह्यमगोत्रम् (मु० १।५), उद्धरणे इमे विरुद्धार्थके, न स्वामिनो-ऽभिप्राय-पोषके इति ।

समाधानम्—इदं कथनं तु प्रत्यक्षे एव पाठक-चक्षुषोर्धूलिक्षेप: मुण्डकश्रुतिभ्यां विद्याद्वय-प्रतिपादन-द्वारा मुख्यतया परया ब्रह्मण: प्रतिपादने एव तात्पर्यावसानात् । तथा च शङ्करभाष्यम् "अथेदा-नीमियं परा विद्या उच्यते यथा तद् वक्ष्यमाण-विशेषणमक्षर मधिगम्यते प्राप्यते । अधिपूर्वस्य गम् धातो: प्रायश: प्राप्त्यर्थत्वात् । न च पर-प्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति, अविद्याया: अपाय एव पर-प्राप्तिर्नार्थान्तरम्" (मुण्डक० १।१।५) ।

इस प्रकार योग में 'स्वरूप-प्रतिष्ठा' न्याय में तदत्यन्त विमोक्ष अपवर्ग, सांख्य में दुखात्यन्त निवृत्ति और उसी प्रकार छान्दोग्य में 'पर ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से सम्पन्न हो जाता है, इस प्रकार यजुर्वेद में भी कहां

कहा है—'उसी ईश्वर को जानकर अतिमृत्यु अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है" यही सत्यमत है ।

आक्षेप—आपका कथन कि "जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश करते हैं । निरर्थक है, क्योंकि व्यापक ब्रह्म में सभी का अध्यासन और उपवेशन होता है" ठीक नहीं ।

समा.—यहाँ पर अभिप्राय है कि ज्ञानवान् लोग उसी ब्रह्म को अपना आश्रय मानते हुए, आनन्द का अनुभव करते हुए, अध्यासन या उपवेशन करते हैं, जैसे—'एकरस भगवान् सर्वत्र अपने अनुग्रह की छाया को देता है भक्त पर अनुग्रह की आकांक्षा से । वेद में कहा है, 'जिसकी छाया (अनुग्रह) अमृत है,

न केवलमृषिर्दयानन्द एव अपितु कठोपनिषत्कृद् ऋषिरपि वेदानां ब्रह्मणि मुख्यतात्पर्यं समर्थयते तथाहि :—सर्वे वेदा० इति, तथैव च गीतायामपि वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि।

(४) पूर्वपक्ष :—करपात्रिण एष आशयोऽस्ति यन्न वेदेषु पराविद्या, अतएव स्वामिनाऽपि न वेद-मन्त्राणामुदाहरणमदायि।

और छाया का अभाव ही मृत्यु है।" इससे आपकी बुद्धि की स्थूलता ही प्रतीत होती है। दूसरे, व्यास भाष्य में भी लिखा है, "उस प्रभु का आत्मानुग्रह का अभाव होने पर भी प्राणियोंपर कृपा करना प्रयोजन है कि ज्ञान धर्मोपदेश के द्वारा कल्पों के प्रलय और महाप्रलयों में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा।" (यो. १।१५)

जैसे सर्वव्यापक आनन्द-रूप बादलों के बरसने पर भी-अभाग्य-रूप-छत्र से ढके हुओं पर आनन्दवारि-बिन्दु गिरते ही नहीं, उसी प्रकार कुछ लोग ब्रह्म में रहते हुये भी अज्ञानकृत दूरी होने से ब्रह्म के सामीप्यानन्द का अनुभव नहीं कर पाते, विद्वान् लोग तो उस आनन्द का अनुभव करते ही हैं।

(३) आपके मत में यदि 'वेदों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में नहीं है तो क्या यह आक्षेप "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" श्रुति पर पृष्ठतः प्रहार नहीं है ?

आक्षेप—उनमें (विद्याओं में) अपरा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अर्थवेद तथा जो अद्रेश्यम्, अग्राह्म, अगोत्रम्, (म० १।५) "ये दोनों विरुद्धार्थक, हैं, स्वामी दयानन्द के अभिप्राय के पोषक नहीं।

समाधान—कह कह कर आप पाठकों की आंखों में प्रत्यक्ष ही धूल झोंक रहे हैं, मुँडक की दोनों श्रुतियों से दो विद्याओं का प्रतिपादन करने से मुख्य रूप से पराविद्या द्वारा ब्रह्म में ही अन्तिम तात्पर्य ठहरता है उसी की पुष्टि शांकर भाष्य में भी है।

'अब यह पराविद्या बतलाई जाती है।" जिससे आगे कहे जाने वाले (मंत्र में) विशेषणों से युक्त उस अक्षर की प्राप्ति होती है, क्योंकि वे अधि-पूर्वक गम् धातु का प्रायः प्राप्ति अर्थ होता है, परमेश्वर की प्राप्ति और उसके ज्ञान में अर्थतः कोई भेद नहीं।

"अविद्या की निवृत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं।" मुं० १।१।५

उ० प०—इयं वेदान्प्रति महती भ्रान्तिरुद्भाविता तेन यत्परा विद्या तु केवलमुपनिषत्सु एव न वेदेषु। विमृशन्तु, तावद् यदीयं ब्रह्मविद्या वेदबाह्या तदेयं कथं मोक्षसाधनपरा-विद्या प्रामाण्यमधिगच्छेत्।

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥मनु० १२।९

एवं कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वाच्च ब्रह्मविद्या नादेया स्यात् उपनिषदश्च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं प्रसज्येत।

ये केचनाहुः—"वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः, इति तु न सत्यम्, वस्तुतस्तु वेदशब्देन शब्दराशौ निहितमर्थज्ञानमेवाभीष्टम्, विशेषरूपेण उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाः प्रतिपादनात्। पराविद्यया उपनिषदान्तु ग्रहणं जायते एव। परमेतत् समस्तं उपनिषद्दर्शनं वास्तवेन वेदमूलकमेव, आद्या ईशोपनिषत् अवैकल्येन वेदमन्त्र-स्वरूपा,

---

केवल ऋषि दयानन्द ही नहीं, कठोपनिषद् के ऋषि भी वेदों का ब्रह्म में मुख्य तात्पर्य होने का समर्थन करते हैं, यथा "सर्वेदवो इति।" गीता में भी "वेदैश्च सवरहमेव वेद्यः।"

(४) पूर्वपक्ष—करपात्री जी का आशय है कि वेद में पराविद्या है ही नहीं, इसलिए स्वामीजी ने भी वेद मन्त्र का उदाहरण नहीं दिया।

उ. प.—ऐसे लोगों ने यह कथन करके वेदों के प्रति बड़ी भारी भ्रान्ति पैदा कर दी है कि परा-विद्या वेदों में नहीं है, केवल उपनिषदों में है। विचार करिये कि यह ब्रह्म विद्या यदि वेद बाह्य है, तो मोक्ष-साधन-परक इस विद्या का प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? क्योंकि "जो वेद बाह्य स्मृतियां हैं और जो कुविचार हैं, वे पर-लोक में निष्फल और नरक के साधन माने गये हैं" (मनु. १२।९) इस प्रमाण से उपनिषद् आदि भी अग्राह्य होंगे, और उपनिषदों की वेदबाह्यता होगी।

जो कोई कहते हैं, कि वेद शब्द से तो सर्वत्र शब्द राशि ही विवक्षित है, यह ठीक नहीं, वस्तुतः वेदशब्द से शब्द राशि में निहित अर्थज्ञान ही है। उपनिषदों में उसी वेदमूलक ब्रह्म-विद्या का विशेष रूप से प्रतिपादन है। पराविद्या से उपनिषदों का ग्रहण तो हो ही जाता है, परन्तु यह समस्त दर्शन वास्तव में वेदमूलक हैं। आद्या ईशोपनिषत् प्रायः समस्त वेद मन्त्रमय है।

नास्ति अत्र कस्यचिद् विचारवतो विप्रतिपत्तिः। श्वेताश्वरोपनिषदाऽपि "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।' तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाय, एवंविध-वेदमन्त्र दर्शन व्याख्यानमेव विधीयते, अतएव निष्कर्षोऽयं, न ब्रह्माक्षर-विज्ञानात् पृथक् काऽप्यन्यास्ति पराविद्या। "तत्रापरा—इत्यत्र तत्रेति पदेन वेदेषु इतिव्याख्यानं त्वार्षप्रातिभम्।

मध्यकाले वेदप्रतिष्ठां विलोक्य सम्प्रदायानुरागिभिः कैश्चित् 'वेदेषु पराविद्या नैवास्तीति प्रचारः कृतः, तत् समूलमुन्मूलयितु-मृषिणा तत्रेतिपदं मौलिकप्रतिभया व्याख्यातं वेदेषु इति, प्रमाणं चात्र वेदमूलतैव। न वेदातिरिक्तशास्त्रस्य प्रमाणत्वमत्राभीष्टम्। यथा (शां. भा. १।१।४) "द्वे विद्ये वेदितव्ये, इत्येवं ह्स्म किल ब्रह्म-विदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति" अत्र वेदशब्दराशिज्ञाः इत्यनुक्त्वा "वेदार्थाभिज्ञाः" इति वचन-प्रामाण्यादपि तत्रेति पदेन 'वेदेषु' इत्याक्षिप्यते सङ्गतत्वात्।

स्वयमपि च "केचन मन्त्राः ब्रह्मप्रतिपादनपरा" (पृ० ५४४

किसी विचारवान् को इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी वेदाहमेतम्" इस प्रकार के वेद मन्त्रों का व्याख्यान है। इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि वेद के द्वारा ब्रह्माक्षर विज्ञान से पृथक् कोई अन्य परा-विद्या नहीं है। "तत्रापरा—" यहां पर तत्र इस पद से 'वेदों में' यह व्याख्यान तो आर्षप्रतिभा से उदित हुआ है।

मध्यकाल में वेदों की प्रतिष्ठा को देखकर किन्हीं साम्प्रदायिकी लोगों ने यह प्रचार कर दिया कि वेदों में पराविद्या नहीं है। उसका समूल उन्मूलन करने के लिए ऋषि ने अपनी मौलिक प्रतिभा से 'तत्र, इस पद का' वेदेषु' यह व्याख्यान किया। वेदातिरिक्त शास्त्र की प्रामाणिकता यहां अभीष्ट नहीं है। जैसे शंकर भाष्य (१।१।४) में "दो विद्यायें जानने योग्य हैं, ऐसा वेद के जानने वाले कहते हैं" यहाँ पर वेद-शब्द-राशि को जानने वाले, ऐसा न कहकर 'वेदार्थ के अभिज्ञ' यह कहा है। इस वचन से सिद्ध है कि वेद के जानने वाले पराविद्या को जानते थे।, अतः महर्षि ने 'तत्र' 'वेदों में' यह अतितराम् संगत आक्षिप्त किया।

आपको पूर्वापर का तो ध्यान रहता नहीं, आपने स्वयम् भी पृष्ठ ५४४

पं० ६) इति कथनेन वेदेषु पराविद्यामङ्गीकुरुते पूर्वापर विरोधवचन-पण्डितोऽयम् ।

(पृ० ५४३ पं० १३)—यच्चाह—"नहि ऋग्वेदादिभ्योऽन्ये वेदाः प्रसिद्धाः", इति कथनं त्वस्माकमेव कृते शोभते ये च वयं चतुरो वेदान् मन्यामहे । भवन्तस्तु इतिहास-वेद, पिशाच-वेद,-सर्प-वेदादीनपि बहून् वेदान् मन्यन्ते । अवशिष्टं तु भवदुक्तमनर्गलम् ।

(४६१ पृष्ठे) "शास्त्रं पठित्वा, उपदेशं श्रुत्वा, व्यवहारं दृष्टैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति" इति वाक्ये समानकर्तृत्वाभावे क्त्वा न भविष्यतीति शङ्कायाः समाधानं तत्रैवोपन्यस्तं मया । परमत्र करपात्रस्य वाक्यरचनाम् अवलोकयन्तु विबुधाः, यथा "महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्या-प्राप्तिपरम्परामुक्त्वा ततो ब्रह्मविद्यामधिजिगमिषुर्महाशालः शौनकस्तं पप्रच्छ" (५४४ पृ०) अत्र पपृच्छ इत्यस्य कर्त्ता शौनकः 'उक्त्वा' इत्यस्य च को ऽस्ति कर्त्ता ? वाक्यस्य चैषा कीदृशी विचित्रा सङ्घटना ? 'महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्या-परम्परामुक्त्वा' इत्यस्य कथङ्कारं सङ्गतिस्ते ? पुनः "ततो" इति अङ्गिरसः एव

पं. ६ पर लिखा है 'कुछ मन्त्र ब्रह्मविद्या परक हैं' जब ब्रह्मविद्या प्रतिपादक है, तो क्या ये पराविद्या के नहीं है ।

'जादू वो जो सिर पर चढ़कर बोले' इस उक्ति के अनुसार पूर्वापर विरोध वचन में दक्ष आप भी स्वीकार करने लगे कि 'ऋग्वेदादि से अतिरिक्त वेद प्रसिद्ध नहीं है' वस्तुतः यह कथन तो हम आर्य लोगों को शोभा देता है जो कि चार ही वेद मानते हैं । आप लोग तो इतिहास वेद, पिशाच वेद, सर्प-वेद आदि अनेक वेद मानते हैं । यहाँ का आपका शेष कथन अनर्गल है ।

(४६१ पृष्ठ पर)—'शास्त्र को पढ़कर, उपदेश को सुनकर, व्यवहार को देखकर ही मनुष्य को ज्ञान होता है' इस भूमिका वाक्य में समान कर्ता के अभाव में 'क्त्वा' नहीं होगा, इस शंका का समाधान हमने वहीं कर दिया । परन्तु पाठक यहां (पृष्ठ ५४४) श्री करपात्री जी की वाक्य-रचना पर किंचिद् विचार करें—'महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्या की परम्परा को कहकर उससे ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की इच्छा से महाशाल शौनक ने उनसे पूछा' यहां 'पप्रच्छ' इसका कर्त्ता शौनक है और 'उक्त्वा' इसका कर्त्ता वह नहीं है तो समानकर्त्ता न होने पर 'क्त्वा' कैसे संभव है ? 'उक्त्वा' इसका कर्त्ता कौन

वाच्यत्वात् पुनरुक्तिः। यथा च ते हिन्दीकृता अंगिरा से', इति पञ्चमी स्वीकृता।

इह स्वयमेव वक्ति "वस्तुतो द्वौ एव विषयौ वेदप्रतिपाद्यौ पुनर्वक्ति "चित्त-शुद्धि-तदेकाग्रता-सम्पादन-पारम्पर्येण सर्वे वेदाः ब्रह्मपरा एव" इति, स एष परस्पर-विरोधः। वस्तुतस्तु विश्लेषणात्मकबुद्ध्या भेदाश्चत्वारः सुसङ्गता एव। मुण्डके विद्याद्वयत्व-प्रतिपादन-सारप्रस्तुति-धियैवेति नान्ते कश्चिद् विरोधः।

पू० प०—'मूलश्रुति-विरोधात् पृथिवीतृणमारभ्येत्यादि न विचारसहम्, किञ्च वेदस्य कतमो भागोऽपरा विद्यारूपः? पृथिवी तृणमित्युभयोपादानस्य किं प्रयोजनम्? ग्रहणशब्दस्य-ज्ञानमित्यर्थस्तदा ज्ञाने यथावदुपकारज्ञानमित्यपि निरर्थकम् इति।

है? और इस वाक्य की कैसी संगठना है? फिर 'ततः' की क्या संगति बैठेगी? 'अङ्गिरा' यदि वाच्य ठहराया जाये तो पुनरुक्ति ही होगी।

उस पर भी आश्चर्य है कि आप स्वयं भी कह रहे हैं। "वास्तव में दो ही विषय (अभ्युदय और मोक्ष) वेद के प्रतिपाद्य है। आप फिर कहते हैं कि चित्त शुद्धि और उसकी एकाग्रता सम्पादन परम्परा से सब वेद ब्रह्माक्षर प्रतिपादक ही हैं" यह परस्पर विरोध वचन कैसा? वस्तुतः पक्षपात की जड़ में फंसी और रूढ़िग्रस्त बुद्धि सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकती। "जब ब्रह्म परक समस्त श्रुतियां हैं तो वेदों के विषयों के चार भेद कैसे संगत होंगे?" आपका यह प्रश्न रहस्य को न समझने के कारण है। वस्तुतः वेदों की आधि-भौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक आदि व्याख्यान प्रक्रिया की दृष्टि से चार विषय हैं, परन्तु ब्रह्म ही अन्ततः वेद्य है। अतः उसके जान लेने पर सब कुछ विज्ञात हो जाता है" इस अर्थ में मुख्य विषय एक ही है। मुण्डक में दो विद्याओं के प्रतिपादन सार की प्रस्तावकबुद्धि से अन्त में कोई विरोध नहीं।

(पृ० ५४४ अनु.२) पू. प.—पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृतिपर्यन्त' भूमिकाकार की व्याख्या मूल श्रुति-विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है। दूसरा कारण यह भी है कि आप वेद के किस भाग को अपराविद्या के रूप में मान रहे हैं? पृथ्वी और तृण से लेकर यहां दोनों को उपादान करने का क्या प्रयोजन है?"

उ० प०—"तत्र यथा पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृति-पर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावद् उपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते" इति तु विशदं व्याख्यातं विशेष-प्रतिभा-सङ्गतमल्प-धियामपि तदर्थबोधनाय, अन्यथा व्याख्येय-व्याख्यानयोर्मूल-शब्दोपन्यासे भेदानाकलनं स्यात्। नहि तत्रापरा—इतिविरोधस्तस्या एव एवंव्याख्यानात्, "वेदस्य कतमो भागोऽपरा-विद्यारूपः, कतरश्च परा विद्यारूप इति कृतो न विभागः, परन्तदर्थ-निदिध्यासन-परा अध्येतारस्त्वधिगच्छन्त्येव यथास्थलम्। न चेद्भवतोपलभ्यते "नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः" इति न्यायवचनेन वेदेषु कृतश्रमाणामेव युक्तधियामेव सर्व-विषयावगमनात् इति हेतुस्तत्र।

'पृथिवीमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तम्' इति सुवचत्वं तु न, कार्य-पदार्थेषु महल्लघूभयोः प्रतिपाद्यमानयोः पदार्थयोः कारण-पदार्थस्याऽपि च अपरा-विद्यया ज्ञेय-विषयत्वेन अत्राभीष्टत्वात्। अत्र पृथिवीतृणकार्यस्य, प्रकृती त कारणस्य चोल्लेख एव वस्तुतः अपरा विद्या किञ्च।

"कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पङ्किलम्।
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते, किं सौरभं सैरिभः"

और ग्रहण शब्द का ज्ञान अर्थ है, तब 'पदार्थों के ज्ञान से यथावद् उपकार ज्ञान होना, यहां 'ज्ञान' निरर्थक है।

उ. प. —'जिससे पृथ्वी और तृण से लेकर ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है' उसे अपराविद्या कहते हैं। यह तो 'तत्रापरा'—'आदि श्रुति की व्यावहारिक विशद व्याख्या की गई है जो विशिष्ट-प्रतिभा-सगत और अल्प-बुद्धियों के लिये भी स्पष्ट बोधनार्थ है। अन्यथा मूल के शब्द ही व्याख्या में उठाकर रख लिये जावें' तो व्याख्येय और व्याख्यान में क्या अन्तर होगा? ऋग्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्रों का प्रयोजन स्थूल से सूक्ष्म वस्तुओं तक का उपयोग लेने में ही है। वेद का कौन सा भाग अपरा रूप है? आपका यह प्रश्न तो अनर्गल है, क्योंकि वेद मन्त्रों का क्रम अपरा और पराविद्या को पृथक्-पृथक् मानकर नहीं किया गया प्रत्युत उन-उन मंत्रों के अर्थ निदिध्यासन द्वारा अध्येता लोग यथास्थल तत्तद् विद्या सम्बन्धी जान लेते हैं। आप नहीं जान सकते, तो "चक्षुर्विहीनों की अनुपलब्धि से किसी वस्तु का अभाव प्रमाणित नहीं हो सकता" इस न्याय वचन से जो वेदों में कृतश्रम हैं, उन्हीं को ज्ञान होता है।

इत्युक्तिरत्रसङ्गता भवत्सु । योगगम्य-विषय-महत्ताम् नाधुनिकाः नग्नकाः केवलकाषायवस्त्र-धारणेन ग्रवबाद्धुं पारयन्ते । यच्चाच्यते "पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकार ग्रहणम्" अत्र ग्रहणस्यार्थ उपयोगो न तु ज्ञानम् ।

फलं कतक-वृक्षस्य यद्यप्यम्बु-प्रसादकम् ।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति । यथा कतकनाम्ना उच्चारण-मात्रेण न जलप्रसादस्तथा समुपयोगं विना नाभिलषितं सेत्स्यतीति भावार्थः ।

किञ्च ग्रहण-शब्दस्य ज्ञानस्यैव पर्य्यायत्ववचनमल्पज्ञत्वमेव भवतः । न कस्मिंश्चिदपि कोशे 'ग्रहण पर्य्यायेषु ज्ञान शब्दपाठः' । शब्द-कल्पद्रुमेऽपि 'स्वीकारः, ग्रादरः, करः, उपलब्धिः, नेह ज्ञानमर्थः वन्दी, उपरागः, इन्द्रियं, शब्दः, एतेऽर्थाः । मेदिनीकोशेऽपि "ग्रहण स्वीकारादर करोपरागोपलब्धि वन्दिषु च" नाऽत्र ज्ञानार्थ-ग्रहणम्, कुत्रापिचेत्, तथापि 'तन्न निरर्थकम्' इति त्वद्बलात्कारपीडितैषास्वमनीषिकोत्था शब्दावली एव निरर्थिका । वक्तुः हिन्दीगत-तात्पयार्थ-विरोधात् । वस्तुतस्त्वेतस्य छलादयं प्रसङ्गः ।

आपका यह कथन कि 'पृथ्वी से लेकर' इतना कहना ही पर्याप्त होगा, तृण 'कहना व्यर्थ है । यह ठीक नहीं' क्योंकि कार्य-पदार्थों में महत ग्रौर लघु दोनों प्रतिपाद्यमान हैं । ग्रौर कारण पदार्थ प्रकृति भी' ग्रपरा विद्या के द्वारा ज्ञेयत्वेन ग्रभीष्ट है । पृथिवी ग्रौर तृण कार्यरूप ग्रौर प्रकृति कारण रूप है' बस इतनी ही अपराविद्या है ।

'वस्तुतः स्वच्छ जल वाले' तालाब में दिन भर रहता हुग्रा महिष भी कमलों के सौरभ ग्रौर पराग का मूल्यांकन नहीं कर पाता ।

यह उक्ति ग्राप पर घटित है । योग-गम्य विषय के महत्व को ग्राधुनिक नग्नक केवल काषाय वस्त्र धारण कर नहीं समझ सकते ।'

यह कथन कि 'ग्रहण' शब्द का ग्रर्थ उपयोग नहीं प्रत्युत ज्ञान है, ठीक नहीं ।, क्योंकि ग्रहण 'शब्द का ग्रर्थ ज्ञान करना अल्पज्ञता है ।' नहीं जैसे कोई कतक (निर्मली) फल को जल में बिना डाले उसके नामोच्चारण मात्र से जल को स्वच्छ नहीं कर सकता' वैसे ही पृथिव्यादि का ज्ञान मात्र उपयोग-शून्य रहने पर व्यर्थ ही है । अतः ऋषि दयानन्द ने जीवनोपयोगी व्यावहारिक व्याख्या की है ।

"तज्ज्ञानं ज्ञानाकरणकत्वाभावेन प्रत्यक्षात्मकम्" इति न सन्दर्भमुपसङ्गच्छते । ग्रहणस्य ज्ञानार्थत्वाभावात् । महता स्तम्बेन लटालुकर्षणमिह ।

अयं दम्भी ऋषिभ्योऽप्यात्मानं बहुप्रज्ञतरं मन्यमानो गोतमस्य ऋषेः लक्षणं खण्डयितुं दुः साहसं तनोति, अतो ज्ञानाकरणं ज्ञानमिति लक्षणं परीक्ष्यते प्रत्यक्षस्य ।

पूर्वपक्ष :—नैयायिकादिरीत्यात्विन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । ईश्वर-प्रत्यक्षे नेदं लक्षणं घटतेऽतो नव्यैर्द्वितीयं लक्षणं कृतम् । 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, शाब्दे पद-ज्ञानस्य, स्मृतावनुभवनस्य करणत्वात् तत्र नाऽव्याप्तिः । इदं चेश्वरज्ञान-साधारणं लक्षणम् । पूर्वं तद् व्यावृत्तमेव" (वे० पा० पृ० ६) ।

यथा हिन्द्यां "क्योंकि प्रथम लक्षण में इन्द्रियत्वेन रूपेण' उनस

किसी भी कोश में ग्रहण शब्द का ज्ञान के ही पर्यायवाचियों में पठन नहीं है । श्रीमानजी ! को अंधेरे में दूर की ही सूझती है । शब्द-कल्पद्रुम और मेदिनी कोश में 'ग्रहण' का अर्थ उपलब्धि (प्राप्ति) अवश्य है । दुर्जन तोषन्याय से मान भी लें, तो यह अर्थ करना होगा कि 'पदार्थों के ज्ञान से उपकार ज्ञान करना ।' पर यह निरर्थक कल्पना है हिन्दी गत तात्पर्य विरुद्ध होने से आपके बलात्कार से पीड़ित यह शब्दावली ही निरर्थक है तथा यह आपकी छलोक्ति अप्रासङ्गिक भी है ।

यह कथन 'क्योंकि वह ज्ञान ज्ञानाकरण होने से प्रत्यक्षात्मक नहीं है, की संगति ठीक नहीं बैठती, क्योंकि ग्रहण शब्द का अर्थ ज्ञान नहीं है । वस्तुतः बड़े लम्बे स्तम्भ से लट्वा (लावी पक्षी) के कर्षण के समान लेखक का यह महाप्रयास व्यर्थ है ।

यह दम्भी लेखक ऋषियों की अपेक्षा भी स्वयं को महाप्राज्ञतर मानता हुआ गोतम महर्षि के प्रत्यक्ष लक्षण को खण्डित करने को नवीन नैयायिक के रूप में उद्यत है, अतः 'इसके' 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस नवीन लक्षण की परीक्षा की जा रही है ।

पू. प.—नैयायिकादि रीति से इन्द्रियत्व रूप से इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, परन्तु ईश्वर के प्रत्यक्ष में उक्त लक्षण घटित नहीं होता, अतः

उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। ईश्वर अशरीरी है, उसके इन्द्रियां नहीं हैं, अतः प्रथम लक्षण तद्व्यावृत्त है।"

समीक्षा–(१) अयम् हि करपात्रः आप्तानाम् महर्षीणाम् अक्षपादानां लक्षणे दोषं समुद्भावयति। यतोऽनार्षग्रन्थाऽध्येतॄणाम् मतिर्न गूढतमभावावगाहिनी भवतीति। तथा च "ननु परमेश्वरे समवेता या प्रमा नित्यज्ञानात्मिका प्रत्यक्षप्रमाणनित्यत्वात् नेन्द्रियजन्या, तत्र परमेश्वरसमवेत-प्रत्यक्षप्रमायाम् अव्याप्तिरित्याशङ्कायां परमेश्वर प्रमाया एतल्लक्षणाऽऽलक्ष्यत्वम्, "ईश्वर-प्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्" किन्तु जैवजन्यप्रत्यक्षमेव लक्ष्यम्। अतोऽव्याप्तेः प्रश्नः, पूर्वपक्षीयः।

(२) यच्चोच्यते "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणेन अनुमितौ व्याप्ति-ज्ञानस्य शाब्दे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात् तत्र नाऽव्याप्तिः" इति तु तव भ्रान्तिश्छलं वा यदृषेः

नव्यों ने यह लक्षण निर्दुष्ट माना कि 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान के, उपमिति में सादृश्य के, शाब्द में पदज्ञान के और स्मृति में अनुभव ज्ञान के कारण होने से इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है। यह दूसरा लक्षण ईश्वर ज्ञान साधारण है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान वाला प्रथम लक्षण जीवों के प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है तथा यह ईश्वर ज्ञान-व्यावृत्त है।

टिप्पणी—मूलकार लिखता है कि अनुमित्यादि में 'अव्याप्ति नहीं है' और टीकाकार लिख रहा हैं कि अतिव्याप्ति नहीं है। वस्तुतः ये दोनों ही संग्रहालय के योग हैं।

समीक्षा (१)—यह करपात्री जी अक्षपाद जैसे महर्षि के लक्षण में दोष दिखला रहे हैं, वस्तुतः अनार्ष ग्रन्थ-पाठियों की मति ऋषियों के गूढ़तम रहस्यों की अवगाहिनी नहीं होती। "परमेश्वर-समवेत नित्य ज्ञानात्मक प्रत्यक्षप्रमा भी नित्य है, इन्द्रिय जन्य नहीं है, अतः परमेश्वर समवेत प्रत्यक्ष प्रमा में गोतम-कथित लक्षण की अव्याप्ति होगी, इसी आशङ्का में परमेश्वर प्रमा इस पूर्व) लक्षण से अलक्षित रहेगी, और इसका लक्ष्य ईश्वर-प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, किन्तु जैव-जन्य प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है, इसीलिये "अव्याप्ति का प्रश्न उद्भूत हुआ।" यह पूर्वपक्ष का कथन है।

(२)–ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, यह लक्षण करने से अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान के, शाब्द में पद ज्ञान के और स्मृति में अनुभव के

पूर्णसूत्रम् नोपन्यस्यति यत् इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मक प्रत्यक्षमिति (न्या० १।४)

अत्र अव्यपदेश्यम् इतिपदेन "अयं घटः" इति व्यपदेशः शब्दव्यवहारः तस्य अयोग्यं निर्विकल्पकमित्यर्थः। व्यवसाय-पदेन "अयं घटः" इत्यादि विशिष्ट-व्यवहार-विषयकम्, सविकल्पकमित्यर्थः, अव्यभिचारि—इति पदेन 'शुक्तौ इदं रजतमिति जायमानं भ्रमज्ञानमपि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यम्, अतस्तत्रातिव्याप्तिवारणम्।

इदं हि लक्षणम् जोव-समवेताऽनित्य-प्रत्यक्ष-प्रमात्मक-ज्ञानस्य तु नवीनानामपि मते पूर्णम् लक्षणम्। न तदर्थम् नव्यन्याय-संस्थापक-तत्त्वचिन्तामणिकृच्छङ्करस्य ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणस्यावश्यकता। यदुक्तम् "अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतौ अनुभव-ज्ञानस्य करणत्वेऽातव्याप्तिवारणाय" इदं द्वितीयं लक्षणं कृतमिति, दम्भ एव सः।

कारण होने से उसमें अव्याप्ति नही होगी।' यह कथन तो भ्रान्ति मात्र है।

'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' यह लक्षण पूर्ण है और गोतमकृत अपूर्ण है। तुम्हारा यह कथन भी भ्रान्ति और छल से पूर्ण है क्योंकि आपने महर्षि का पूर्ण सूत्र उद्धृत ही नहीं किया, यथा "इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न अशाब्द, भ्रम भिन्न और संशयरहित ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है, (न्या. १।४)।

यहां पर 'अव्यपदेश' पद से 'यह घट है' ऐसा शब्द व्यवहार के अयोग्य निर्विकल्पक ज्ञान, 'व्यवसाय' पद से 'यह घट' ऐसा सविकल्पक ज्ञान और अव्यभिचारी पद से 'शुक्ति में रजत' भ्रमज्ञान भी इन्द्रियार्थ सन्निकृष्ट है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति वारण इन पदों से हो जाता है।

यह लक्षण जीव समवेत अनित्य प्रत्यक्ष प्रमात्मक ज्ञान का नवीनों के मत में भी पूर्ण लक्षण है। इसके लिये तो नव्य न्याय संस्थापक तत्त्वचिन्ता मणिकार शकर के "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इस लक्षण की आवश्यकता है नहीं, क्योंकि न्याय-वृत्ति में विश्वनाथ ने "साक्षात्करोमीत्यनु व्यवसाय-सिद्ध साक्षात्त्व जात्यवच्छिन्ने ज्ञानम् इत्यन्तस्य तात्पर्यम्" लिखा है, अर्थात् मैं साक्षात् जानता हूं, इस अनुभव विशेष प्रत्यक्षत्व जाति वाले ज्ञान की विवक्षा से कोई दोष नहीं। अनुमिति आदि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व जाति के न होने से अतिव्याप्ति और ईश्वरीय प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व जाति के पाये जाने से अव्याप्ति नहीं हो सकती।

(३) ननु "ईश्वर-प्रत्यक्षे अव्याप्तिदोष-वारणाय, ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इत्यदुष्ट-लक्षणं कृतम् इति चेन्न, निदिध्यासन-द्वारा मननादि-द्वारा वा ज्ञानकरणके योगिप्रत्यक्षे एतल्लक्षणस्याव्याप्तेः। अज्ञानाकरणकम् अपि ज्ञानं भ्रम-ज्ञानं तत्रातिव्याप्तिरस्य।

(४) तदा तु गोतम-प्रोक्तमेव लक्षणमनुसर्तव्यम्। न च तत्र जीव-समवेताऽनित्य-प्रत्यक्ष-प्रमात्मक-ज्ञानस्यैव लक्षितत्वम्। मनसोऽपीन्द्रियत्वात् ईश्वरज्ञानस्याऽपि तज्जन्यत्वाददोषः। न च मनःस्वरूपं यदिन्द्रियं तज्जन्यं सर्वमेव प्रत्यक्षानुमित्युपमिति-शाब्द-ज्ञानं भवति ज्ञानत्वाऽवच्छिन्न प्रति आत्मना सह मनःसंयोगस्य कारणत्वात्।

अनुमित्यादौ वाऽपि न लक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यात्, तत्र योगिना मभौतिक (अलौकिक) मनसेन्द्रियेणोद्भूतस्य ज्ञानस्य विवक्षितत्वात् न दोषः। इन्द्रियं चात्र "इन्द्र-जुष्टम् इन्द्रदत्तम्, आत्मना जुष्टम् परमात्मना च दत्तम् एव वक्तुं योग्यम्। अतः गोतम-मुनि-कृतमेव लक्षणं सर्वथा दोषबाह्यं विशेषविवृतिसहितं सुस्पष्टं वर्त्तते। नव्यं

---

(३) यदि यह कहा जाये कि ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति दोषवारण के लिये "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" यह लक्षण किया है—तो ठीक नहीं, क्योंकि निदिध्यासन और मनन द्वारा ज्ञानकरणक योगी के प्रत्यक्ष में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी और अज्ञानाकरणकं भी ज्ञान जो भ्रमज्ञान है, वहां इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी।

(४) तब तो महर्षि गोतम-प्रोक्त लक्षण का ही अनुसरण करना चाहिये। इस लक्षण में जीव समवेत अनित्य प्रत्यक्ष प्रमात्मक ज्ञान ही लक्षित है. एसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि मन भी अभौतिक सर्वविषयग इन्द्रिय है। ईश्वर का ज्ञान मन द्वारा जन्य होने से गोतमकृत लक्षण सर्वथा दोषरहित है। यदि कहा जाये कि मनः स्वरूप जो इन्द्रिय है, तज्जन्य ही सभी प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्दिक ज्ञान होता है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रति आत्मा के साथ मन संयोग का कारण होता है।

यह कहना कि अनुमिति आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, भी ठीक नहीं क्योंकि योगियों के अलौकिकमन इन्द्रिय से उत्पन्न उद्भूत ज्ञान ही वहाँ विवक्षित है, अतः कोई दोष नहीं। यहां इन्द्रिय का अर्थ इन्द्र अर्थात् आत्मा से जुष्ट है अथवा इन्द्र परमात्मा से प्रदत्त ऐसा कहना चाहिए। निष्कर्ष

लक्षणं तु बहुदोषवद्, आर्षदृष्टि-विरहितस्यानाप्तस्यास्याविवृतित्वाद् असंशीत्या सरलतया लक्ष्यानवबुधकत्वाद्, "ज्ञानस्य अकरणकत्वम्" इति लक्षणस्य अभावात्मकत्वात्; अनार्षतया अप्रामाण्याच्च, न मन्तव्यम्।

(५) अथवा गोतम-मुनि-कृत-प्रत्यक्ष-लक्षण-सूत्र-व्याख्या ऋषि-दयानन्द-कृताऽवलोकनीया सत्यार्थ-प्रकाशे ७मे समुल्लासे, सा ईश्वरेऽपि सङ्गमयति गोतमकृत-लक्षणम्। यथा—"श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणमनसां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धसुखदुःखात्मकसत्यासत्य-विषयैः सहसम्बन्धेन समुत्पन्नं निर्भ्रमात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं। अत्रेदं विचारणीयम्—इन्द्रियैर्मनसा च गुणा एव प्रत्यक्षीक्रियन्ते न तु गुणवान् यथाहि—त्वगादिचतुर्भिः करणैः स्पर्शरूपरसगन्धानां ज्ञानेन गुणवती पृथिवी आत्मसंयुक्तेन मनसा प्रत्यक्षीक्रियते तथैव पुरोवर्त्तिन्यामस्यां सृष्टौ रचना-विशेषप्रमुख-ज्ञानादि-गुणानां प्रत्यक्षतया परमेश्वरस्याऽपि प्रत्यक्षं भवति।

यदा चायमात्मा मनो, मनश्चेन्द्रियाणि नियोजयति यस्मिन्

यह है कि गोतमकृत लक्षण दोष बाह्य, विशेष, विस्तृत और स्पष्ट है। नवीनों का ज्ञानाकरणक लक्षण बहुदोषवान्, तथा अस्पष्ट है। यह आर्षदृष्टि-विरहित, अनाप्तकृत, अविवृत, निस्संदिग्धतया सरलता से लक्ष्यावबोधन में असमर्थ तथा 'ज्ञान का अकरणक' इस प्रकार अभावात्मक तथा अनार्ष होने से अमान्य है।

(५) गोतम-मुनिकृत प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र की व्याख्या सत्यार्थ प्रकाश ७ वें समुल्लास में है, वह ईश्वर में भी इस लक्षण को घटित करती है। यथा "श्रोत्र त्वचा, चक्षु जिह्वा, घ्राण और मन के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख दुःखात्मक सत्यासत्य विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न निर्भ्रमात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।, यहाँ पर यह विचारणीय है कि इन्द्रियों और मन से गुण ही प्रत्यक्ष किये जाते हैं न कि गुणवान्। जैसा कि त्वचा आदि चार इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस गन्ध के ज्ञान से गुणवती पृथ्वी आत्म-संयुक्त मन के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है, उसी प्रकार पुरोवर्त्तिनी इस सृष्टि में रचना विशिष्टप्रमुख ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है।

जब यह आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को जिस किसी विषय में

कस्मिन्नपि विषये, अथवा स्तेयादि-दुरितानि परोपकारादि-पुण्यानि वा समारभते तदानीं जीवात्मनः इच्छा-ज्ञानादयो गुणास्तमेवाऽभीष्ट-विषयं प्रति प्रवणा भवन्ति। तस्मिन्नेव क्षणे पापाचरणे भयवितर्क-लज्जाः सत्कर्मानुष्ठाने चाऽभयनिःशङ्कतानन्दोत्साहाः समुदयन्ते। तत् सर्वमिदं परमात्मनः प्रेरणया, न तु जीवात्मनः।

यदा च जीवात्मा विशुद्धः सन् परमात्मानं ध्यायति तदैव तमुभावपि प्रत्यक्षतामापद्येते। सति च परमात्मनः प्रत्यक्षेऽनुमित्यादिना तज्ज्ञाने कोऽवकाशः संशयस्य। कार्यं हि दृष्ट्वा कारणमनुमीयते।

(६) तथा च वात्स्यायन-मुनिनाऽपि स्वभाष्ये "आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्। अनिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजं हि तत् इति। इन्द्रियस्य वै सतः मनसः, इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्म-भेदात्। भौतिकादीनीन्द्रियाणि नियत-विषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभावः इति, मनस्त्वभौतिकं सर्व-विषयं च, नास्य सगुणस्ये-

---

नियुक्त करता है अथवा चोरी आदि पाप और परोपकार आदि पुण्यों का प्रारम्भ करता है। उस समय जीवात्मा की इच्छा ज्ञानादि गुण उसी अभीष्ट विषय की ओर प्रवृत्त होते हैं। उसी क्षण पापाचरण में भय, वितर्क, लज्जा, सत्कर्मों के अनुष्ठान में अभय, निःशङ्कता, आनन्द व उत्साह उदित होते हैं, यह सब परमात्मा की प्रेरणा से होता है, न कि जीवात्मा की।

जब जीवात्मा विशुद्ध होकर परमात्मा का ध्यान करता है, तो दोनों प्रत्यक्ष हो जाते हैं, परमात्मा के प्रत्यक्ष होने पर अनुमान आदि के द्वारा उसके जानने में संशय का अवकाश ही कहाँ? कार्य को देखकर ही कारण का अनुमान होता है।"

(६) उसी प्रकार वात्स्यायन मुनि ने भी अपने भाष्य में "आत्मा आदि और सुखादि में भी प्रत्यक्ष लक्षण पृथक् से करना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज से भिन्न है। मन भी यद्यपि इन्द्रिय है, फिर भी धर्म-भेद के कारण इन्द्रियों से पृथक् इसका उपदेश किया गया है, भौतिक इन्द्रियाँ नियत विषयक हैं। इनका सगुणों का ही इन्द्रिय भाव है, मन तो अभौतिक और सर्वविषय है। इस के सगुण होने से इन्द्रिय भाव नहीं। यह मन मध्यम परिमाण वाला होकर भी इन्द्रिय और अर्थ की सन्निधि या असन्निधि

न्द्रियभावः इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिंचास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्यामः (अ. १ आ १ सूत्र १६) इति मनसश्चेन्द्रियभावात्तन्न वाच्यं लक्षणान्तरम्। अतएव योगिनः भूत-भविष्यद्-वर्तमानकाल-विद्यमान-पदार्थानां प्रत्यक्षं कर्त्तुं शक्नुवन्ति, अलौकिक-प्रत्यक्षेऽलौकिक-सन्निकर्षस्य सत्त्वात्। योगाभ्यास जनितो धर्म-विशेषश्च योगज-धर्म-लक्षण-सन्निकर्षः।

न्याय-वैशेषिकयोः ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष-सिद्धान्तस्य च महत्त्वं तथा च वैशेषिके "आत्मन्यात्म-मनसोः संयोग-विशेषात् आत्म-प्रत्यक्षम्" भवति (वै० ६।१।११) इति प्रोक्तम्।

यदा हि योगी चित्तं वाह्यविषयेभ्योऽपाकृत्य आत्मनि योजयते तदा तत्साक्षात्कारो भवति। योगेश्वरदयानन्दस्य तु इन्द्रियातीत-परेश-प्रत्यक्षत्वे युक्तिद्वयं प्रशस्ततरम्, "ईश्वरस्यारूपत्वादतीन्द्रियत्वे गुणिनो गुणैः प्रत्यक्षत्वात्, पापाचरणे मनसः स्वाभाविक-भय शङ्का-लज्जानुभवाच्च।"

मात्र से युगपज्ज्ञान का अनुत्पादक होगा, यह न्याय (१।१६) में कहा है और मन तो इन्द्रिय है ही, अतः लक्षणान्तर बनाने की आवश्यकता नहीं" अतएव योगी लोग भूत, भविष्यत् और वर्तमान में विद्यमान पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं, क्योंकि अलौकिक प्रत्यक्ष में अलौकिक ही सन्निकर्ष होगा अर्थात् योगाभ्यास से उत्पन्न होने वाले धर्म विशेष का नाम योगज धर्म सन्निकर्ष है। उक्त सनिन्कर्ष द्वारा योगियों को करामलकवत् साक्षात् होता है।

न्याय और वैशेषिक में ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष सिद्धान्त का महत्व है और विशेष रूप से वैशेषिक में आत्मा और मन के संयोग विशेष से आत्म प्रत्यक्ष होता है (वैशे० ६।१।११) में कहा है।

जब योगी चित्त को बाह्य विषयों से दूर कर आत्मा में योजित करता है तब उसका साक्षात्कार होता है। योगेश्वर दयानन्द की इन्द्रियातीत परेश के प्रत्यक्ष करने में दो युक्तियां प्रशस्ततर हैं। ईश्वर के अनुरूप होने से अतीन्द्रिय होने पर गुणी का गुणों से प्रत्यक्ष होता है और पापाचरण में मन को स्वाभाविक भय, लज्जा और शका का अनुभव होता है।

एष वै वेदार्थ-पारिजातोद्यान-मालाकारः इदमेव विस्मरति यत् मया क्व बब्बुलारोपणं कदलीदल-सन्निहितं विहितम्, येन, अङ्गानि तु दलानां दीर्यन्ते एव, विशुद्धमतीनामपि विचरतां प्रतिपद-क्रमे कण्ट-कटङ्कणमपि जायते। का नाम चिन्ता तस्य विघटनपटोः ऋषि-मुनि-बहुश्रमपरिष्कृते पथि गर्त्तखनननिपुणस्य कण्टकव्रात-विकिरणशीलस्य, उच्छिद्येरन् नामाप्तस्मृतयः, भिद्येरन् च वेदभक्तहृदयानि।

(७) अधस्तनं सन्दर्भं पुरस्कृत्य पूर्वापर-विरोधे तु देव दुर्लभ-तत्प्रज्ञा प्रदर्शनीमञ्चाञ्चनमेव गवेषयते! अथवा क्वापीयम् असुर-क्षितव्या सुरक्षितव्या वा अद्भुतसङ्ग्रहालये।

तथा हि अत्र तु पृ. ६ "ईश्वर अशरीरी है, उसके इन्द्रियां नहीं हैं" किञ्चान्यत्र "परमात्मनः.........अप्राकृतदिव्यसच्चिदानन्द-लक्षणं स्थूल-सूक्ष्मशरीरवत्त्वमप्यस्त्येव" इति (वे० पा० ५३५ पृ०) भोअनयोः कतरा ते सत्य-मान्यता? नैकतराऽपि सम्भवति पूर्वापर-विरोधात्। किं नैष ते प्रमत्तप्रलापः?

यह पारिजात-उद्यान का माली यही भूल जाता है कि "मैंने कदली पौधों के साथ बबूल लगा दिये हैं, जिससे कदली दलों के अङ्ग तो विदीर्ण हो ही जाते हैं और विचरण करने वाले पवित्रमतियों (सम्प्रदायों से अछूते) के पदों में काँटे भी चुभते हैं। शास्त्रों के विघटन में पटु कर पात्री जी को इसकी चिन्ता ही क्यों होगी? ऋषि-मुनियों के बहुत-श्रम-परिष्कृत मार्ग में गड्ढे खोदने में निपुण, कण्टक जाल बिछाने में यह कुशल हैं वे क्यों सोचें आप्त स्मृतियाँ उच्छिन्न हो जायेंगी और ऐसी कुव्याख्याओं से वेद भक्तों के हृदय टूट जायेंगे।

(७) पौर्वापर्य विरोध में निम्नलिखित सन्दर्भ को प्रस्तुत करके तो मानों देव दुर्लभ प्रज्ञा की प्रदर्शनी का मंच पर प्रदर्शन करने लगे हों या यह प्राणों से रक्षणीय मति अद्भुत संग्रहालय में सुरक्षणीय है!

वे० पा० पृ० ६ पर—"ईश्वर अशरीरी है, उनके इन्द्रियां नहीं हैं।" और वे० पारि० पृ० ५३५ पर आप लिखते हैं "परमात्मा का स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर न रहने पर भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्द लक्षण स्थूल-सूक्ष्म शरीर तो रहता है" इन दोनों में तुम्हारी सिद्धान्त मान्यता कौन सी है? इनमें से पौर्वापर्य विरोध होने से एक भी नहीं हो सकती। क्या यह आपका प्रमत्त प्रलाप नहीं है?

परं वयं, संसार-कल्याण-चिकीर्षोः पुराण-कुरान वाईविल-कर्दमा-दुद्धर्त्तुं भवादृशान् सप्तदशवारं विषपानं कुर्वतो दयानन्दस्य शिष्याः गालिदान-मुखरस्याऽपि ते भद्रं कामयामहे यत् ते वेदानुगामिनी सदसद्विवेकिनी बुद्धिर्भवतु येन न ते शेषाशेषजीवननाशो जायेत ।

(८) "उनके इन्द्रियां नहीं हैं, एतद् वचसा तु बुद्धेस्ते असन्तुलन-मेव प्रतीयते। यतोहि 'इन्द्रिय-सन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र स्थले जीव-सङ्गतेन्द्रियप्रसङ्गो न तु ईश्वरस्य।' प्रत्यक्षज्ञानाय जीवस्यैवेन्द्रियस्य करणत्वापेक्षत्वात्। निर्मलोक्तिरेषाऽत्र घटते—

"आप्तर्षेस्तु त्रुटीस्तावत् प्रस्तोतुं यतसे पुनः।
उपहासास्पदं याता, मतिस्ते करपात्रक ।।
भवता तु कृता व्याख्या, सङ्गता नैव कर्हिचित्।
तथ्यहीना मृषाऽऽधारा दुष्ट-प्रज्ञा-प्रकल्पिता ।।

हम लोग संसार के कल्याण काम, पुराण-कुरान-बाइविल की कीचड़ से आप जैसों का उद्धार करने के लिए सत्रह बार विषपान करने वाले महर्षि दयानन्द के शिष्य हैं, गाली-दान देने में भी प्रवीण आपका कल्याण चाहते हैं। कि आपकी बुद्धि वेदानुगामिनी, सद् और असद् का विवेक करने वाली हो जाये, जिससे आपके अशेष जीवन का तो कुपथ पर नाश न हो।

(८) "उनके इन्द्रियाँ नहीं है' इस उक्ति से तो आपकी बुद्धि असन्तुलित हो गई'—ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि 'इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' यहाँ पर जीव सङ्गत इन्द्रियों का प्रसङ्ग है न कि ईश्वर की इन्द्रियों का।

क्या आप ईश्वर को इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का साहस रख रहे थे और फिर आपके साकार ईश्वर के तो इन्द्रियां भी हैं, फिर क्या उस ईश्वर और संसार के पदार्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहेंगे अर्थात् इनका प्रत्यक्ष आपके मत में ईश्वर का होगा, ? धन्य हो, आपके टीकाकार भी नुमायशी व्यक्ति ही निकले।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये जीव को ही इन्द्रियों के करणत्व की अपेक्षा है। यह निर्मलोक्ति यहां घटित हो रही है कि—

"आप्त ऋषि की त्रुटियां ढूंढने का यह यत्न कर रहे हो, परन्तु हे करपात्रिन् यहाँ पर आपकी मति ही उपहासास्पद हो गई।" श्री करपात्र द्वारा की गई व्याख्या किसी प्रकार भी संङ्गत नहीं है। जो तथ्य हीन, मिथ्या पर आधारित और दुष्ट-बुद्धि से प्रकल्पित है।

अस्तु घ्रातन्यायशास्त्रस्यास्य करपात्रिणः पाण्डित्यं विवेचका निभालयन्तु तावत्" अनुमितौ व्याप्ति ज्ञानस्य, शाब्दे पद-ज्ञानस्य, स्मृतौ अनुभवस्य कारणत्वात् तत्र नाऽव्यातिः, इति मूलकृता, 'नाऽव्याप्तिस्थाने "नाऽतिव्याप्तिरिति' रूपान्तरकारेणोक्तम्। तत् कतरदनयोः सत्यम्? नहि मूलकृतः, व्याप्तेरभावात्। न वाऽपि प्रामाण्यं हिन्दीकारस्य, मूल-विरोधात्, वस्तुतस्तु

"गुरुरत्र गुडीभावं प्राप्तः शिष्यस्तु शार्करम्।
अतिव्याप्तेरभावत्वे तवेष्टापत्तिरास्थिता।"

(पृ० ४४५ अनु० १)—अयं हि तावद् तथाकथितसनातनधर्मि-साधुश्छलेनाभ्युपेतः ऋषिदयानन्देनाऽनुक्तमपि तदुक्तमिव लिखति। यथा न ऋषिणा क्वाऽपि लिखितम् यत् अपराविद्यया सर्वं विज्ञातम् भवति" इति।

न्याय शास्त्र को सूंघकर आये श्री करपात्री जी का पाण्डित्य अब विवेचक लोग देखें, कि अनुमिति आदि में व्याप्ति ज्ञान आदि के कारण होने से अव्याप्ति नहीं' यह तो मूलकार करपात्री जी ने लिखा और टीकाकार ने अति व्याप्ति नहीं, यह लिखा इनमें कोई प्रमाण नहीं, परस्पर विरोधी होने से। वास्तव में 'गुरु करपात्री जी तो गुड़ हो गये और चेला टीकाकार शक्कर हो गये, क्योंकि अतिव्याप्ति का अभाव होने पर ही करपात्री जी की इष्टापत्ति हो सकती है। पृ० ४४५ अनु० १ पौराणिक तथा कथित साधु ऋषि दयानन्द के न कहे हुए को भी उन पर आरोपित कर रहे हैं जैसे कि अपराविद्या से सब कुछ विज्ञात हो जाता है, और आगे आरोपित करते हैं— इस प्रकार आत्मातिरिक्त तृणादिप्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के ज्ञान में सर्व विज्ञान का होना सम्भव है। इसलिए विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाऽ भाव को लेकर लक्ष्य मात्र वृत्ति होने से गोरेकशकत्व के समान, असम्भव दोष से दूषित होने पर तुम्हारा बताया हुआ अपराविद्या का लक्षण सर्वथा लक्षणाभास ही है।"

यहाँ आपने यह नहीं बताया कि क्या विशेषणाभाव से प्रयुक्त है और क्या विशिष्टाभाव का आदान है? विवेचक विचारकरें कि महान न्यायवेत्ता करपात्री जी ने और इनके हिन्दीकार दर्शनाचार्य ने असम्भव का ही लक्षण उलट कर रख दिया। जब कि ये लक्षण मात्र में वृत्ति होने पर असम्भव मानते हैं।

(पृ ५४५) पू. प. यह कहानी कि, यद्यपि अपरा विद्या से'परा विद्या उत्कृष्ट होती है तथापि आपका स्वोक्ति-विरोध अपरिहार्य ही रहा। आपने तो विज्ञान की

भवता अत्र न वोधितम् 'किं विशेषणाभाव-प्रयुक्तम्" ? च किं च विशिष्टाभावादानम् ? निभालयन्त्वालोचकाः ! असम्भवस्य लक्षणम् विपरीतमेव अयं महान् न्यायविदेतस्य ग्रन्थस्य च टीकाकृद्दर्शनाचार्योऽपि प्रस्तौति 'लक्ष्यमात्रवृत्तित्वेन गोरेकशफत्वम् असम्भवम्", यदा च "लक्ष्यमात्राऽवृत्तित्वम् असम्भवम् । तदा 'एकशफत्वं गोत्वं, न सम्भवति लक्षणम् । अश्वस्यैकशफत्वात्, न तु गोः ।

(पृ० ५४५) यदुक्तं—यद्यपि पराविद्या अपरा विद्याया सकाशाद् उत्कृष्टैवाऽस्ति, तथापि तव स्वोक्ति-विरोधोऽपरिहार्यः । त्वया तु विज्ञानस्य मुख्यतां प्रतिपाद्य ईश्वर-विषयकानुभवरूपज्ञानस्य मुख्यता उक्ता" तन्न युक्तमेतद् । भवता विज्ञानशब्देन लक्षितार्थो न ध्यातः अत्रहि परा विद्याऽपि लक्षिताऽस्ति अतः तत्र यया पृथ्वीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते" इति परिभाषिते न काचिद् विप्रतिपत्तिः । उपरि च मया सर्वविज्ञातार्थक-विज्ञानशब्दस्यार्थो दर्शितः । विज्ञानेन ज्ञातेऽपि सर्वस्मिन् ईश्वर-ज्ञानस्यैव मुख्यतेत्यभिप्रयणात् समं सङ्गच्छते । न कश्चिद् विरोधः । विपर्ययग्रस्तमतेरेव रोध इह । ज्ञानविज्ञानशब्दयोर्विशेषार्थास्तु पूर्वं निर्दशिताः ।

मुख्यता बताकर उसके अनन्तर ही ईश्वर विषयक अनुभव रूप ज्ञान की मुख्यता बताई है ।"

उ० प्र०— यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि आपने ऋषि-प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द का पूरा अर्थ नहीं समझा, अथवा उसे स्पष्ट करने में जान बूझ कर छल किया, विज्ञान शब्द से यहाँ पराविद्या भी उपलक्षित है । देखिए हिन्दी में भी 'विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद्-बोध का होना, उनसे यथावत उपयोग का करना इससे यह विषय इन चारों में भी, प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है । सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुये सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिये रचे हैं । और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो

(पृ० ५४६ अनु० १) पू. प.—सर्व-वेदतात्पर्यमीश्वरविषयकानुभवमुख्यतायाम्, 'चत्वारो वेद-विषयाः च, इति प्रतिपादने विरोधः स्यात् ।

समा०—भूमिकायाम् विज्ञान,-कर्मोपासना ज्ञानानि इति चत्वारो विषयाः प्रतिपादिताः । एषु चतुर्ष्वपि विज्ञानस्य मुख्यता । विज्ञानं च द्विविधम्-ईश्वर-ज्ञानम् तद्रचितपदार्थज्ञानं च, द्वयोरपि ईश्वरज्ञानं मुख्यम् तत्रैव वेदानां मुख्यतात्पर्यात् । इह विज्ञान-विषयः पक्षः, ईश्वरानुभवः साध्यः वेद-मुख्यतात्पर्यात् इति हेतुः । यत्र यत्रहि वेदमुख्य-तात्पर्यं तत्र तत्र ईश्वरानुभवः इति व्याप्तिः सङ्गच्छते । अतः ईश्वर-विषयकस्याऽनुभवस्य मुख्यत्वे वेदानां तात्पर्य-विषयत्व-हेतौ 'वेद-विषयाणां चतुष्ट्वेऽपि न कश्चिद् विरोधः' । विषयेषु चतुर्षु तन्मुख्यत्वात् ।

शङ्कराचार्येणाऽपि तदभिन्नार्थप्रतिपादनं कृतम् यथा "सर्वे वेदाः यत् पदनीयम् अविभागेन प्रतिपादयन्तीति ।" न च त्वया प्रतिपादितं

प्रतिपादन है, सो ही प्रधान है" इसमें कहीं भी भ्रान्ति नहीं है । विज्ञान के अन्तर्गत ईश्वर का भी ज्ञान समाविष्ट है ।

ऊपर हमने सर्व विज्ञातार्थक विज्ञान शब्द का अर्थ दिखलाया है । विज्ञान के द्वारा सब कुछ जान लेने पर भी सब में ईश्वर ज्ञान की ही मुख्यता है, इस अभिप्राय से समस्त की संङ्गति हो जाती है कोई विरोध नहीं रहता, विपर्यय से ग्रस्त मति का ही यहां रोध है । ज्ञान और विज्ञान शब्दों के विशेषार्थ पूर्व दिखला दिये हैं ।

पृ० ५४६ अनु०१ पू० प०—'सब वेदों का तात्पर्य ईश्वर विषयक अनुभव की मुख्यता और वेदों के विषय चार हैं' इस प्रतिपादन में तो विरोध प्रतीत होता है ।

समा०—भूमिका में विज्ञान कर्म, उपासना और ज्ञान में चार विषय प्रतिपादित किये गये हैं, इन चारों में मुख्यता विज्ञान की है विज्ञान दो प्रकार का ऊपर वर्णित कर दिया गया है ।

यहाँ पर विज्ञान विषय पक्ष है, उसमें ईश्वरानुभव साध्य है, इसमें हेतु है वेदों का मुख्य तात्पर्य होने से । जहाँ २ वेद का मुख्य तात्पर्य है, वहाँ-वहाँ ईश्वरानुभव, है इस प्रकार व्याप्ति संङ्गत है । अतः ईश्वर विषय के अनुभव

यत् सर्ववेदतात्पर्य-विषय-हेतुत्वे कतमः खलु असिद्धः ? वस्तुतस्तु नाऽसिद्धः, तद्भेदाश्रयस्वरूप-व्याप्यत्वासिद्धाऽघटितत्वात् । शिष्ट-मपि निखिलमसङ्गतमनर्गलं तर्कनिकषाऽसहमेवोक्तम् ।

अत इह घटते निर्मलोक्तिः सत्या—

"कपोलौ विधिना दत्तौ गल्पजल्पनशिल्पिनौ ।

अतस्त्वया हि वक्तव्यं ,दशहस्ता हरीतकी ।"

यश्चायमन्त्यस्ते पक्षो यत् 'हेतुर्न सङ्घटते' इति तत् तु धरा-शायित्वमगात्, साधकत्वे सति साध्यसिद्धेर्युक्तत्वात् ।

अविद्यायाः अपाय एव पर-प्राप्तिरिति नवीन-वेदान्तिनां ब्रह्मातिरिक्तसत्तामनन्यमानानाम् मते अविद्यायाः वस्तुतः सत्तायाः स्वीकारे अद्वैतविघातोपपत्तिरापद्येत ।

के मुख्य तत्व में वेदों का तात्पर्य विषयत्व हेतु होने पर वेदों का विषय चतुष्टय होने पर भी विरोध नहीं, चारों विषयों में मुख्य होने से । इस प्रकार साध्य और साधक की उपपन्नता है ।

शङ्कराचार्य ने ऋषि दयानन्द से अभिन्नार्थ ही प्रतिपादन किया है, तथा सब वेद उस प्रापणीय का अविभाग से प्रतिपादन करते हैं । यह कथन कि जब 'चत्वारो वेद विषयाः' यह सत्य है तब 'सर्व वेद तात्पर्य विषयम्' यह हेतु असिद्ध है, मैं आपसे पूछता हूं कि त्रिविध असिद्धों में यहाँ कौनसा है ? वास्तव में असिद्ध है ही नहीं, क्योंकि आश्रय स्वरूपा सिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध तो घटित ही नहीं होते, शेष कथन भी आपका असङ्गत और अनर्गल है तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । सत्य ही कहा है "गप्प मारने में कुशल गाल जब भगवान ने दिये हैं, तब आपको कहना ही चाहिये कि हरीतकी दश हाथ लम्बी होती है" ।

यह आपका अन्त्य पक्ष है कि 'ईश्वरानुभव की मुख्यता सिद्ध करने में वेदों की तात्पर्य-विषयता का हेतु संघटित नहीं होता, धराशायी हो गया, क्यों कि साधक है वेदों का मुख्य-तात्पर्य और साध्य ईश्वरानुभव सिद्ध है जैसा कि ऊपर दिखाया है ।

अविद्या का अपाय ही पर प्राप्ति है, यह नवीन वेदान्तियों (ब्रह्मातिरिक्त सत्ता को न मानने वालों के) मत में वास्तविकता में अविद्या की सत्ता स्वीकार करने पर अद्वैत विघात की उपपत्ति होने लगेगी अर्थात् वेदान्त का "ब्रह्मैव नान्यत्" वाला पक्ष स्वयं साध्य कोटि में होगा, अतः यह मोक्ष की परिभाषा अमान्य है ।

न च वाच्यं भ्रमएषः, सोऽपि भ्रमः कस्याज्जायत ? अथ चेद् ब्रह्मणः ? तन्न सम्भवति, सर्वदा तस्य ज्ञानैकरसत्वात् । शङ्कराचार्यादि-मतम् यदुद्धृतमत्र तदपिवेदानां मुख्यम् तात्पर्यं न विघटयति, प्रत्युत साधयते एव । यथा तवैवोद्धृतम् "सर्वे वेदा यत् पदं पदनीयं प्रापणीय-मविभागेन प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति यत्प्राप्त्य-र्थान्येवेत्यर्थः ।"

यावन्नैतदवधार्येत किं-सिद्धान्तभाग् भवान् तावन्न भवतश्चिन्तन व्यवस्थितिः सम्भाव्यते । अथ चेत् नवीन-वेदान्तानुगः तदोत्तयताम् 'यस्याः अविद्यायाः अपायो भवताऽभीष्टः, सा किं वस्त्वन्तरं न वेति ?, न प्रथमः पक्षः त्वयादर्त्तव्यः स्यात् अन्य-वस्तुत्वे अद्वैतसिद्धान्त-हानेः । न द्वितीयः, अविद्यायाः विद्या-विपरीतज्ञानानन्तरम् विद्येति" योगभाष्येण वस्त्वन्तरत्व-सिद्धत्वात् ।

न च 'विद्यायाः अभाव-रूपा अविद्या भवति' इति, यतस्तत्रैषा विम र्शना किमविद्येति नञ् समासः ? तदा पूर्वपदार्थप्रधानो वा स्यात् यथा-

---

यदि कहो कि अविद्या भ्रम है, तो प्रश्न है कि यह भ्रम किसे हुआ ? यदि ब्रह्म को हुआ ? तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि वह ब्रह्म सर्वथा ज्ञानैकरस है । आपने जो शङ्कर का मत उद्धृत किया है, वह भी वेदों के उक्त मुख्य तात्पर्य का विघटन नहीं करता, प्रत्युत सिद्धि करता है । जैसा कि आपने ही उद्धृत किया है कि "सर्वे वेदायत् पदंपदनीयं प्रापणीयम् अविभागेन प्रतिपाद-यन्ति, तपांसि सर्वाणिच यद् वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानि एव' इति ।

अविद्या के विनाश में विद्या भी मुख्य कारण है । जब तक यह अवधारित नहीं होता कि आपका सिद्धान्त क्या है ? तब तक आपकी चिन्तन व्यवस्थिति सम्भावित नहीं । बताइये तो—

'जिस अविद्या का विनाश आपको अभीष्ट है वह वस्त्वन्तर है या नहीं ? आपको प्रथम पक्ष तो अभीष्ट नहीं होगा, क्योंकि अन्य वस्तु सत्ता स्वीकार करने पर अद्वैत सिद्धान्त का विघात होता है और द्वितीय पक्ष भी आपका अशा-स्त्रीय है, क्योंकि 'विद्या के विपरीत 'ज्ञानान्तरम् अविद्या' कहकर योगभाष्य में वस्त्वन्तर सिद्ध किया है ।

यदि विद्या का अभाव ही अविद्या मान लिया जाये, तो भी ठीक नहीं, क्यों-कि प्रश्न होता है—

ऽमक्षिकमिति, उत्तरपदार्थप्रधानो वा यथाऽराज-पुरुषः इति, अन्य-पदार्थ-प्रधानो वा यथाऽमक्षिको देश इति। तत्र पूर्वपदार्थप्रधानत्वे विद्यायाः प्रसज्य-प्रतिषेधो गम्येत, सा न चास्य क्लेशादिकारणत्वम्, उत्तर पदार्थ-प्रधानत्वे वा विद्यैव कस्यचिदभावेन विशिष्टा गम्येत, सा च क्लेशादि परिपन्थिनी न तु तद्-बीजम्, नहि प्रधानोपघाती प्रधानगुणो युक्तस्त-दनुपघाताय गुणे त्वन्याप्यकल्पना।

तस्माद् विद्यास्वरूपाऽनुपघाताय नञोऽन्यथाकरणम् अध्याहारो वा निषेधस्येति। अन्य पदार्थप्रधाने त्वविद्यमानविद्याबुद्धिर्वक्तव्या, न चासौ विद्यायाः अभावमात्रेण क्लेशादि बीजं सम्भवति, विवेक-ख्याति-पूवक-निरोध-सम्पन्नाया अपि तथात्वप्रसङ्गात्, तस्मात् सर्व-थैवाऽविद्यायाः क्लेशादि मूलतेति, चेन्न "तस्याश्चाऽमित्राऽगोष्पदवद् वस्तु-सतत्त्वं विज्ञेयम्। यथानाऽमित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रम् किन्तु तद् विरुद्धः सपत्नः, यथावाऽगोष्पदं न गोष्पदाऽभावो न गोष्पद मात्रं, किन्तु देश एव ताभ्याम् यद् वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाऽभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति। (यो. भा. २।५।) अथवा 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते, इत्यपि कर्म वाचकत्वे सङ्गमनीयम्।

अविद्या शब्द में नञ् समास है, तो क्या यह पूर्व पदार्थ प्रधान है ? जैसे अमक्षिक अथवा उत्तर-पदार्थ-प्रधान जैसे अराजपुरुषः या अन्य पदार्थ प्रधान मानेंगे, जैसे अमक्षिको देशः इति।

इसमे पूर्व-पदार्थ-प्रधान मानने पर विद्या का प्रसज्य प्रतिषेध प्रतीत होता है, तो वह इस जीवात्मा के क्लेशादि का कारण नहीं हो सकती उत्तर पदार्थ प्रधान मानने पर विद्या ही किसी के अभाव से विशिष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है। वह तो क्लेशादि की नाशक होगी न कि उनकाकारण, क्योंकि प्रधान का उपघाती प्रधान गुण नहीं होता और, उसके अनुपघात के लिये गुण में अन्य भी अकल्पना होती है।

इसलिये 'विद्या स्वरूप के अनुपघात के लिये नञ् का अन्यथाकरण अथवा निषेध का अध्याहार है अन्य पदार्थ मानने पर अविद्यमान विद्या-बुद्धि कहनी चाहिये और विद्या के अभावमात्र से क्लेशादि का बीज नहीं हो सकती, फिर विवेकख्यातिपूर्वक-निरोध सम्पन्न होकर भी वैसा करने में समर्थ होगी। अतः सर्वथा ही अविद्या क्लेशादि की मूल है, मानो पर ऐसा नहीं है,

(५४७ पृष्ठतः आरम्य ५४६ अनु० १ पर्यन्तम्):—एतेषु पृष्ठेषु यदुक्तं तन्न स्वजनितं, किन्तु शङ्कराचार्यादिमतं पुस्तककलेवरवर्धनाय मुधैव पल्लवितम्, तत्र 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयत्वं यत् प्रतिपादितम् तदुत्तरिष्यते तत् प्रकरणे एवाग्रे मया, इह च विभिन्न-मत-सङ्कलनं व्यधायि भवता।

यदुच्यते "उपनिषद्-रूप-वेदाक्षर-विषयं हि विज्ञानमिह पराविद्येति प्राधान्येन विवक्षितमित्यादि, तत् कपोलकल्पितमेव। वेदानां सर्वविद्यास्थानत्वात्। कियदधिकं ब्रूम एतस्य मलं विचारयन्तु "आम्नायस्य" (जै० १।२।१।) 'त्रैगुण्य विषया वेदा:' 'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' नाहं वेदैर्न तपसा "दृष्टवदानुश्रविकः"। (समा.) करपात्रः एतैरुद्धरणैः वेदानामवरत्वप्रतिपादनान्निन्दां प्रस्तौति, तस्य अत्र जैमिनि सूत्रस्यएतस्य सिद्धान्तत्वेनोद्धरणे छलबलावलेपः,

---

क्योंकि अविद्या को अमित्र, अगोष्पद वस्तु के समान सतत्त्व वस्तु ही समझना चाहिए अथवा 'अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत प्राप्त करता है।' यह भी कर्मवाचक में सङ्गमनीय है।

५४७ पृष्ठ से आरम्भ कर ५४६ अनु० १ पर्यन्त का समाधान :—

इन पृष्ठों में जो कुछ लिखा है, वह स्वामी करपात्री जी का स्व प्रतिभाजन्य नहीं, इन्होंने भगवान् शङ्कर आदि का मत अपनी पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिये व्यर्थ ही प्रस्तुत कर दिया है, वहाँ पर 'मन्त्र और ब्राह्मण का वेदत्व प्रतिपादित किया है उसका उत्तर तत्सम्बन्धित प्रकरण में मेरे द्वारा दिया जायेगा। यहाँ तो इन्होंने विभिन्न मतों का संकलन मात्र कर दिया है।

यह कहना कि 'उपनिषद् या अक्षर विषयक विज्ञान परा विद्या रूप में प्राधान्येन विविक्षित है, कपोल-कल्पित ही है क्योंकि वेद सर्वविद्या-स्थानी होने से पराविद्या के भी मूल स्रोत हैं। अधिक क्या कहें, करपात्री जी के मूल को आप देखिये, 'आम्नायस्य जै० १।२।१ 'त्रैगुन्य विषया:' आदि इसीलिये जैमिनि ने पूरे आम्नाय को क्रियार्थक मानकर, जो भाग क्रिया-प्रतिपादक नहीं है, उसको अनर्थक कहा है। इस हिन्दीकार के साथ मूल ग्रन्थकार भी मीमांसा के १।२।१-६ सूत्रों के पूर्वपक्ष को ही उत्तर पक्ष मान रहे हैं जबकि मी० १।२।७ से आगे सूत्रों में मीमांसा के पूर्वपक्ष १।२।१-६ का खण्डन या समाधान प्रस्तुत किया गया है। विशेष जिज्ञासु शास्त्रीय स्थलों को वहीं पढ़े।

कपटपाटवमज्ञानविजृम्भितं च, पूर्वपक्षस्योत्तरपक्षत्वेनोपन्यासात्। एतस्य हिन्दीकारो लिखति 'इसीलिये जैमिनि ने पूरे आम्नाय को क्रियार्थक मानकर जो भाग क्रिया प्रतिपादक नहीं है, उसको अनर्थक कहा है" हिन्दी कृता साकं न मूलकृताऽपि अदर्शि यत् "आम्नायस्य (१।२।१-६) प्रभृति पूवपक्षस्य तु 'विधिना लोकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (मी० १।२ ७)-इत्यादि सूत्रैः जैमिनिना समाधानं व्यधायि। विशिष्टं च जिज्ञासवस्तत्स्थले एवावबुध्येरन्।

५२८ पृष्ठे (वे० पा०) ऋषिदयानन्देन तु वात्स्यायनभाष्ये पूर्वपक्षोद्भावितपक्षमयुक्तं मत्वा 'उक्तम् इतिविलिख्य सिद्धान्ततया स्वीकृतौ उद्धृतम्, परं तत्रानेनाक्षिप्तम् 'इयमखिलाऽसूयाखेलैव।' (५४६ पृ० अनु० २)-पू. प.-यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति इत्यत्र "यत्तु ब्रह्मचर्यपदमुपलक्षणंमत्वा ब्रह्मचर्य-गृहस्थवानप्रस्थ-संन्यासाश्रमाचारणानीत्यर्थः कृतः इति तन्न, पारम्पर्येण सर्वाश्रमाचाराणां ब्रह्मज्ञाने उपयोगसत्त्वेऽपि ब्रह्मचर्यस्यैव तत्र साक्षादुपयोगः:' इति।

उ. प.—ऋषेर्विशाल-दृष्टेर्बहुज्ञतायाश्चाभिद्योतकं ब्रह्मचर्यशब्देन गृहस्थाद्याचरणग्रहणम्। भावत्कीकूपमण्डूकता योगिनस्तात्पर्यं नावबोद्धु पारयते।

क्या यह छल और दम्भ नहीं! क्या यह आपका कपट पाटव या अज्ञान विजृम्भण नहीं? ऋषि दयानन्द पर आरोप लगाने का कौशल उल्टा ही स्वयं पर घटित हो रहा है।

वेदार्थ पारिजात के ५२८ पृ. पर ऋषि दयानन्द पर न्यायसूत्र के 'अयुक्तम्' के स्थान पर 'उक्तम्' पाठ का आक्षेप आपने लगाया, जबकि वा० भाष्य के पूर्वपक्षोद्भावित पक्ष को ऋषि दयानन्द ने अयुक्त मान सिद्धान्त पक्ष से 'उक्तम्' कहकर समाधान कर दिया है। यह सब आपकी असूया खेला है।

(पृ० ५४६ अनु० २, (पू० प०)--'यदिच्छन्तो-ब्रह्मर्यम्' इससे, ब्रह्मचर्य पद को उपलक्षण मानकर स्व० दयानन्द ने ब्रह्मचयं, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के आचरणों को, यह अर्थ किया है, यह ठीक नहीं, क्योंकि परम्परा से सभी आश्रमों के आचरणों का ब्रह्मज्ञान में उपयौग रहने पर भी साक्षात् उपयोग वहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का ही माना जाता है।

उ० प०—यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द से गृहस्थाद्याचरणों का ग्रहण करना,

शङ्कराचार्येण तु ईदृक् स्थलेषु ऋषि-दयानन्दाङ्गीकृतैव पद्धतिः साध्वी मन्यते यथा—"तेषामेवैषलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठम्" ऋतौ अन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम्" (शां. भा. प्रश्न. १।१५।) "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया-चेति।" शां० भा०—'मायेत्येवमादयो दोषाः येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव-तेषाम् असौ विरजो ब्रह्मलोकः इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः (प्रश्नो. १।१६।) न केवलमेतावदेव अपितु 'ब्रह्मचर्यमेव यद तद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते" इत्येवं समग्रं समालोच्य ऋषिणा व्याहृतम् ब्रह्मचर्यम् उपलक्षणमिति तच्च शास्त्र-तर्कसङ्गतम्।

(५४६ पृ. अनु. ३)—इह यदुक्तं 'नहि शंसनं पदार्थ-विज्ञानमर्थः:" यतोहि 'एनं परमात्मानम् ऋग्भिः शंसन्ति वर्णयन्ति' इत्यर्थात्। उ० प०—ऋषि-दयानन्देन शंसनम् इत्यस्यार्षप्रतिभया परमात्मन आरभ्य तृणपर्यन्त-पदार्थानां शंसनं विज्ञानमुक्तम्। वेदस्य सर्वविद्या-मूलत्वात्। भवादृशाः कूपमण्डूका वेदेषु आधुनिकविज्ञानस्य सर्वथा-ऽभावमेव मन्यन्ते।

ऋषि की तपः पूत विशाल दृष्टि और बहुज्ञता का द्योतक है। यहाँ पर भी आपकी कूप-मण्डूकता योगी के तात्पर्य को समझने में समर्थ नहीं है।

शंकराचार्य ने तो ऐसे समान स्थलों में ऋषि दयानन्द द्वारा अङ्गीकृत पद्धति को ही उत्तम माना है। यथा—'उनका ही यह लोक है जिनका तप, ब्रह्मचर्य है और जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है, ऋतुकाल से अन्यत्र मैथुन न करना ब्रह्मचर्य है' (शां० भा० प्रश्नोप १।१५) 'उनका ब्रह्मलोक है, जिनमें कुटिलता, अनृत और माया नहीं है।

शां० भा० 'माया आदि दोष जिन अधिकारी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान-प्रस्थ और संन्यासियों में निमित्ताभाव से नहीं है उनके साधनानुरूप ही उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, यह गति ज्ञानयुक्त कर्मशीलों की होती है। (प्रश्नो० १।१६।) केवल इतना ही नहीं और भी देखिये शंकर कहते हैं "वह भी ब्रह्मचर्य है जो रात्रि में रति से संयुक्त होते हैं। यह सब पर्यालोचन कर ऋषि का ब्रह्मचर्य को उपलक्षण कहना शास्त्र तथा तर्क से सर्वथा संगत है।

पृ० ५४६ अनु० ३—यहाँ आपका यह कथन कि "ऋग्भिः शंसन्ति"

न चात्र शंस् धातोः केवलं परमात्मनः एव शंसनम् इत्यर्थ-ग्रहणे किमपि नियामकम्, ऋषिकृतव्यापकार्थग्रहणसम्भवात् । एतच्च तव टीका कृताऽपि 'भी' शब्देन पोषितम् ।

(पृ० ५५१।अनु. १) "तद् विष्णोः परमंपदंचक्षुराततम्' अस्यार्थः ऋषिणा लिखितोऽयं 'यद्विष्णो व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमं प्रकृष्टानन्दस्वरूपं पदं पदनीयं सर्वोत्तमोपायैः प्रापणीयं मोक्षाख्यम् अस्ति तत् सूरयो विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति । कीदृशम् ? आततम्, आ समन्तात् ततं विस्तृतं यद्देशकाल-वस्तु परिच्छेद-रहितमस्ति,···प्राप्तुमिच्छन्ति" इति ।

यहाँ 'शसन' का अर्थ 'पदार्थ विज्ञान' नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ऋचाओं से परमात्मा का शसन या वर्णन करते हैं । ऐसा अर्थ होता है ।

(उ. प.) कैसी विचित्र बुद्धि है, कहीं आप कहते हैं, ऋचाओं में पराविद्या नहीं है, 'वेद' केवल शब्द-राशि का ही बोधक है और यहाँ कहने लगे कि ऋचाओं से परमात्मा का ही वर्णन है, फिर वेद में 'पराविद्या है या नहीं ?' महोदय ! वेद समग्र विद्याओं के मूल है, अतः परमात्मा से प्रारम्भ कर तृण पर्यन्त का भी विज्ञान वेदों में भरा पड़ा है, बस उसके देखने के लिये आर्ष-प्रतिभा चाहिये, जैसा कि निरुक्त ने कहा है "नह्यनृषेरतपसो वा" अनृषि और अतपस्वी को वे अर्थ नहीं सूझते ।

साथ ही आपके साथी दर्जनों पण्डितों ने आपके हिन्दीकार के भी कमाल नहीं देखे जबकि वे स्वयं लिखते हैं "क्योंकि/उसका (ऋग्भिः शसन्ति' का) दूसरा 'भी' अर्थ हो सकता है इन दर्शनाचार्य की 'भी' ने भी ऋषि के अर्थ की तो पुष्टि कर दी, अब आपका 'ही' अर्थ साध्य कोटि में आ गया । केवल 'परमात्मा का शंसन अर्थ करने में कोई नियामक नहीं ।

पृ. ५५१।अनु. १ 'तद्विष्णोः' का भाष्य ऋषि ने लिखा है, अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है । इसका अत्यन्त उत्तम आनन्द स्वरूप, जो प्राप्त होने योग्य, जिसका नाम मोक्ष है उसको विद्वान् लोग सब काल में देखते हैं, क्योंकि वह देशकाल वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है और विभु है । उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है, इसलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं ।

तत्राक्षेपः तदपि न सङ्गतम् वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्यर्थ-प्रतिपादनेऽस्य वचनस्यानुपयोगित्वात् तादृशार्थ-बोधकपदाऽभाच्चेत्यादि ।

(समीक्षा)—यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ? इत्यनुरुध्य भवान् शास्त्र-विपरीतमपि भाषितुं शक्नोति । अस्मिन् मन्त्रे स्पष्टतया ब्रह्मणो महिमा वर्णितोऽस्ति । समान्यपि पदानि तदर्थमेव बोधयन्ति अभिधयैव, काऽवश्यकता ध्वनेः ! तथा च भवान् स्वयमपि कथयति "सूरयो ब्रह्मविद एव तत्पदमवगाहितुं क्षमाः" इति । महर्षिणा दयानन्देन स्पष्टमेवाऽत्र लिखितं यत् मोक्षस्य ब्रह्मणः सर्वोत्कृष्टतया विद्वांसः तस्यैव प्राप्त्याः वाञ्छां कुर्वन्ति । अतः वेदाः विशेषतया तदेव प्रतिपादयन्ति ।

सूक्ष्म-दृशां योगिनामेव तद्दर्शनं जायते ऋषिदयानन्द-सदृशानाम् । भवता कृतो ब्रह्म-वर्णनापलापस्तु प्रत्यक्ष-द्वेष एव । किञ्च भवद्ग्रन्थ

आक्षेपः—किन्तु यह कथन भी संगत नहीं है, वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है, इस अर्थ के प्रतिपादन में, यह मन्त्र असमर्थ है, अर्थ का बोधक कोई पद न होने के कारण से ।

समीक्षा—(१) 'जिसकी स्वप्रकृष्ट बुद्धि न हो उसका शास्त्र क्या कर सकता है' इसके अनुरूप आप शास्त्र-विपरीत कहने में भी स्वतन्त्र हैं । जबकि इस मन्त्र में स्पष्ट रूपेण विष्णु (परमात्मा) की महिमा का वर्णन है, अभिधा से ही सारे पद, उसी अर्थ का बोधन करा रहे हैं । ध्वनि की आवश्यकता ही नहीं । जबकि आप स्वयं भी कहते हैं कि 'विद्वान् ब्रह्मविद् ही उस पद को जान सकते हैं ।

ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि मोक्ष अर्थात् ब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट होने से विद्वान् उसी की प्राप्ति की इच्छा करते हैं । अतः वेद विशेष रूप से उसी का प्रतिपादन करते हैं अर्थात् तदुद्देश्य से ही सामान्य रूपेण अन्य पदार्थों का भी वर्णन करते हैं ।

ऋषि दयानन्द सदृश सूक्ष्मदृक् योगियों को ही उसका दर्शन होता है, आपके द्वारा यहाँ 'तद्विष्णोः' मन्त्र में ब्रह्म वर्णन का अपलाप करना प्रत्यक्ष द्वेष है । आपके टीकाकार ने हिन्दी में तो आपके भाव के अनुकूल या अननुकूल अनुवाद किया कि 'मोक्षरूपी स्थान,' पर पौराणिक धारणा के अनुसार वस्तुतः यह स्थान कहीं नहीं है । जैसा कि पौराणिक वैकुण्ठ आदि, जैन सिद्ध शिला आदि और

टीकाकृता हिन्द्यां तु भावत्कभावनाऽनुकूलो वाऽनुवादो विहितः 'मोक्ष-रूपी स्थान' इति। न चेदं स्थानं क्वापि ? यथा च पौराणिकाः वैकु-ण्ठादिकं, जैनाः सिद्धशिलादिकमन्यमतावलम्बिनश्चाकाशे विभिन्न-स्थानेषु मोक्षस्थानं मन्यन्ते, न तथा विष्णोः व्यापकस्य सीमितं सम्भ-वति स्थानम्, देशकालवस्तु-परिच्छेद-रहितत्वात् तत्पदस्य मोक्षस्य ब्रह्मरूपस्य।

भवत्कथनमिदं यत् "तात्पर्य-निर्णये उपक्रमोपसंहारादिषड्लि-ङ्गानि भवन्ति कथं पुनरत्र तात्पर्यं निष्कृष्टमिति तदत्र नावबोधितं भवता यत् 'का नामात्र बाधा तात्पर्यग्रहणे ? यतोऽत्र विषयोपक्रा-दिकं तु वर्त्तते एव, तदनु तात्पर्यमपि सङ्गच्छते। विष्णु-पद-प्रापण-साधनानि तु यथाप्रकरणमुक्तानि। अत्र तु 'सदा सूरयः आततं ब्रह्म पश्यन्ति' इतीमानि पदानि ब्रह्मण्येव तात्पर्यं बोधयन्ति। देशादि-परिच्छेद-रहितमितिचाऽऽकाङ्क्षा-समाधायकमिति। अतः 'अतः' इति पदं सर्वथा युक्तियुक्तम्।

अन्य मतावलम्बी आकाश में विभिन्न स्थानों पर मोक्षस्थान मानते हैं, उस प्रकार व्यापनशील विष्णु का सीमित स्थान नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म रूप मोक्ष पद देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। आपका यह कथन कि तात्पर्य-निर्णय में उपक्रम उपसंहार आदि षड्लिङ्ग होते हैं, फिर यहां तात्पर्य कैसे निकला ? आपने यह नहीं बताया कि तात्पर्य ग्रहण में यहां बाधा क्या है ? विषय के उपक्रमादि में यहाँ स्पष्ट ही विष्णु की व्यापकता में हेतु देशाद्य परिच्छिन्नता है ही। विष्णु के प्राप्ति के साधन यथास्थान वर्णित हैं, वहाँ देखना चाहिए। यहाँ 'विद्वान्' सदा देखते हैं, का तात्पर्य ब्रह्म में सङ्गत है और देशाद्यपरिच्छिन्नता पद आकांक्षा का सम्यक् समाधायक है। इसलिए 'अतः', पद सर्वथा युक्ति-युक्त हैं। सद् असद् विवेकी देखें कि वेदार्थ पारिजात कर्ता ऋषि के शब्दों को प्रायः तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करता है।

आपका यह कहना कि 'सर्वव्यापक पद तो नित्य प्राप्त है तो उसको प्राप्त करना चाहिए'। विजृम्भरण मात्र है, क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापक होने पर भी जीव की ज्ञानकृत अथवा अज्ञान के कारण तो दूरी है ही। अतः ईश्वर की प्राप्तव्यता बनी रही। नवीन वेदान्ती आप लोगों के मत में तो प्राप्त और प्राप्तव्य भेद हो ही नहीं सकता। अतः आप अपनी चिन्ता कीजिए। क्योंकि

सदसद् विवेकशीलाः इदमपि परिशीलयन्तु यदयं वेदार्थपारिजात-कर्त्ता तत्रैव ऋषि-शब्दपाठमपि अन्यथा उद्धृतवान् ।

(पृ० ५५१ पं. १२) यच्चोक्तं 'सर्वव्यापकस्य नित्यप्राप्तत्वे प्राप्तव्यत्वाऽसम्भवः इति, तदिदमज्ञान-विजृम्भितमेव, सर्वव्यापकत्वेऽपि ज्ञानकृत-विप्रकृष्टत्वात् प्राप्तव्यत्वात्तस्य । किञ्च नवीनवेदान्तिनां भवतां मते तु प्राप्त-प्राप्तव्य-भेदानाकलनात् जीवब्रह्मणोरभेदः सिद्धान्तितस्तु अवैदिकः एव ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

इति वेदमन्त्रेण त्रित्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च जीवस्य मोक्षे ब्रह्मणः आनन्दानुभवो न तु स्वरूपत्यागे ब्रह्मणितल्लयः, 'यः आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरमित्यादिवचनैर्जीवब्रह्मणोः व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध-प्रतिपादनात् । कैवल्यस्यापि अनन्तत्वे दोष एव प्रवाहरूपाऽविद्यायाः अनादित्वेन अनन्तकालाय तदुच्छेदस्य (अविद्योच्छेदस्य) सर्वथा असम्भवात् ।

आप जीव ब्रह्म की अभेदता जो अवैदिक है इसे मानते हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा' मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का भेद, संसार वृक्ष के फल को खाने वाला और न खाने वाला कह कर स्पष्ट ही बताया गया है। इस प्रकार त्रैतवाद स्पष्ट है।

जीव मोक्ष में ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है, न कि स्वरूप त्यागकर ब्रह्म में लय अर्थात् अभाव को प्राप्त हो जाता है। 'जो आत्मा में रहता है तथा जिस ईश्वर का यह जीव व्याप्य होने से शरीर हैं, इत्यादि वचनों से जीव और ब्रह्म की व्याप्य व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है।

कैवल्य को अनन्त मानना भी दोषग्रस्त है, क्योंकि प्रवाह रूप से अनादि अविद्या का सर्वथा अनन्त काल के लिए उच्छेद (अभाव) सम्भव नहीं। ईश्वर के आनन्द के उपभोग के अवधिकाल में वासना चक्र का निरोध एक निश्चित अवधि के लिए होने पर भी आनन्द भोग की निरवधिता और जीवों का असंख्यातत्व कथन करके वाचस्पति आदि दार्शनिक भी भ्रान्त हुये हैं, ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसे जीवों की संख्या सर्वथा ज्ञात है, उसके ज्ञान से बाहर नहीं, अन्यथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी, हां, जीवों की उतनी संख्या को गिनने के लिए हमारी महाशंख तक की गणना पर्याप्त नहीं है।

ईश्वरानन्दोपभोगावधि-काले वासना-चक्र-निरोधस्य सावधित्वेऽपि भोग-निरवधित्वस्य जीवासंख्यातत्वस्य च कथने वाचस्पतिप्रभृतयो दार्शनिकास्तु भ्रान्ताः एव, ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वात् जीव-संख्यायाः सर्वथा तेन ज्ञातत्वात्। अस्मद्गणना तु जीवानां संख्यानेऽपर्याप्तैव। अस्मन्मते सांख्यरीत्या तु 'समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (सां० ५।११६) इति ब्रह्मरूपता संपद्यते जीवात्मनां। परं भवन्मते तूपास्योपासक-भेदानुपपत्तेः उपासना-विधान-शास्त्रस्य वैयर्थ्यापत्तिरापद्यते। साक्षात्कर्त्तुः जीवात्मनः परमानन्दावाप्तिस्तु न जीवाभावरूपता, तथासति कः कं परमानन्दमनुभवेत् ?

यदपि चोक्तं 'साक्षात्कर्त्तृभिन्नत्वेन पुरुषार्थत्वाऽसम्भव इति, तत्तु दर्शन-शास्त्राऽनवगमादेव। नहि शास्त्रे क्वापि पुरुषार्थस्य लक्षणं 'जीवात्मनः स्वसत्ताऽभाव-रूपकम् निगदितम्' अपितु, 'अथत्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः' (सां. १।१) इति प्राप्यप्रापक-रूपेणैव पुरुषार्थलक्षणोपपत्तिः समर्थिताः।

हमारे मत में तो 'समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में जीव को ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है, (सां. ५।११६।) आप वेदान्तियों के मत में ब्रह्म एकमात्र होने से उपास्य उपासक भाव नहीं बन सकता, परिणामतः उपासना-विधायक शास्त्रों की व्यर्थता का प्रश्न उद्भूत हो जाएगा तथा साक्षात् करने वाले जीवात्मा की परमानन्दानुभूति करने का अर्थ जीवात्मा का अभाव को प्राप्त होना नहीं है।

(३) यदि लय अर्थात् जीवज्ञता का अभाव मान लिया जावे, तो कौन किस परमानन्द का अनुभव करेगा ? आपका कथन है कि 'साक्षात् कर्त्ता के भिन्न रह जाने पर पुरुषार्थता की असम्भवता या निष्फलता होगी। सो यह तो दर्शनशास्त्रों के सार को न समझने के कारण ही हैं, क्योंकि शास्त्र में कहीं पर भी पुरुषार्थ का यह लक्षण नहीं किया गया है कि जीवात्मा का अभाव हो जाना'। वस्तुतस्तु जीवात्मा यदि अपनी सत्ता ही खो बैठे तब तो उसका समग्र पुरुषार्थ ही निष्फल समझना चाहिए। यथा तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम अत्यन्त पुरुषार्थ (परम पुरुषार्थ) हैं" (सां-१।१) इस प्रकार प्राप्य और प्राप्तिकर्ता के रूप में ही पुरुषार्थ लक्षण की उपपत्ति (सार्थकता) हो सकती है।

ननु जीवब्रह्मणोरभेदान्नित्य-विज्ञानस्वरूपत्वं जीवस्य निर्बाधमिति चेन्न, ज्ञानाज्ञान-सुखित्वादिभिर्जीवानां भेद-सिद्धौ सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थाया अनुपपत्तिः स्यात् ।

न चापि तदन्तः करणावच्छिन्नचैतन्यस्यैकत्वेऽपि तदन्तः करणस्य नाशे तदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य मुक्तत्वव्यवहारः, यदन्तःकरणस्य न नाशः तदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ये बद्धत्वव्यवहारः इति बद्धमुक्त-व्यवस्थायाः नानुपपत्तिः स्यादिति वाच्यम मोक्षार्थं प्रयत्नाऽनुष्ठानवैकल्यापत्ते-र्दुर्वारत्वात्, एकान्तःकरणनाशेऽपि अन्तःकरणावच्छिन्ने स्वात्मनि दुःखोत्पत्तेरावश्यकतया प्रवृत्तिफलस्य निर्दुःखत्वस्याऽसम्भवात् ।

यदि चान्तःकरणस्यैव सुखदुःखादिर्न चैतन्यस्येत्युच्येत, तदा विमुक्त्यर्थप्रयासो व्यर्थ एव, स्वस्य नित्यमुक्तत्वात् । यदि च भ्रान्ति-निवृत्यर्थः प्रयासः आवश्यक इति वक्तव्यमिति चेत्तदपि न, तदाऽप्यन्तःकरणावच्छिन्ने स्वस्मिन्नेव भ्रान्तेरावश्यकत्वेन प्रयत्नस्य निष्फलत्वापत्तेर्दुर्वारत्वात् ।

ननु 'जीव ब्रह्मणोः परस्परभेदस्वीकारे 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यभेदश्रुतिविरोधापत्तिः स्यात् इति चेन्न, यथा च नवीन

---

(४) यदि यह कहा जाए कि जीव और ब्रह्म के अभिन्न होने से जीव का विज्ञान स्वरूपत्व निर्बाध है, तो भी ठीक नहीं; ज्ञान, अज्ञान, सुखी दुःखी आदि होने से जीवों की ईश्वर से भिन्नता है, क्योंकि ईश्वर नित्य शुद्ध ज्ञान-आनन्द स्वरूप सर्वज्ञ है पर जीव नहीं। इस भेद को न मानने पर तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

यदि 'अन्तःकरण को ही सुख दुःखादि की अनुभूति होती है, चैतन्य को नहीं, यह कहा जाये तो जीवात्मा का मुक्ति के लिये प्रयास व्यर्थ ही हो जायेगा क्योंकि तब तो जीव नित्य-मुक्त मानना होगा, और भ्रान्ति निवृत्यर्थ यह प्रयास है, ऐसा भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि अन्तःकरण से युक्त जीव को अपने में भ्रान्ति होने से प्रयत्न की निष्फलत्वापत्ति दुर्वार हो जायेगी।

जीव और ब्रह्म का भेद स्वीकार करने में 'तत्वमसि, 'अहं ब्रह्मास्मि' इन अभेद प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होगा, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि

वेदान्तिनो भेदाऽभाव-प्रतिपादने तत्पदेन परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यम्, जहदजहल्लक्षणया विरुद्ध परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वादि विशिष्टांशं परित्यज्याऽविरुद्धमखण्डं चैतन्यम् इत्यर्थं कल्पयन्ति; ते तु भ्रान्ताः, यतः क्लिष्टकल्पनया उभयपदलक्षणाऽपेक्षया-लाघवात्, पूर्वपदे एव लक्षणया अर्थं निर्वाह्य नवीनानाम् वेदान्तिनाम् अर्थं खण्डयन्ति नैयायिकाः।

तत्त्वमसीत्यादीन्युपनिषद्वाक्यान्यभेदरूपेण स्वामि-सेवक-भाव-सम्बन्ध-बोधकतया अभेद-भावनया जीव-प्रशंसापरा परमात्मनि प्रेम-निष्ठा कर्त्तव्येति शिक्षयन्ति। अतः 'सर्वं एवात्मनि समर्पिताः, इति सर्वे जीवात्मानः परब्रह्मणि समर्पिताः, परमेश्वर-शरणाऽगतिर्जीवानाम् परमेश्वर-भिन्नानामेव युक्ता, नत्वभिन्नानाम् इति भावः।

न च परमेश्वरसमर्पित्या 'तत्त्वज्ञानादेव मुक्तिरिति सिद्धान्तहानिः स्यात्' इति वाच्यम्, पदार्थतत्त्वज्ञानस्यैव पराकाष्ठाभूतनिदिध्यासन-रूपत्वात् समर्पितेः।

जैसे नवीन वेदान्ती भेदाभेद प्रतिपादन में 'तत्' पद से परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य और त्वम्, से अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य में से 'जहदजहत् लक्षणा' द्वारा विरुद्ध परोक्षत्वादि विशिष्टांश को छोड़कर 'अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य ब्रह्म' इस अर्थ की कल्पना करते हैं, वे तो वस्तुतः भ्रान्त हैं। उक्त क्लिष्ट कल्पना के द्वारा उभय पदों के लक्षणार्थ की अपेक्षा पूर्व पद में ही लक्षणा द्वारा अर्थ का निर्वहन कर नवीन वेदान्तियों के अर्थ का नैयायिक लोग खण्डन करते हैं।

'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् वाक्य 'अभेद रूप से स्वामि-सेवक भाव संबंध बोधन से परमात्मा में अभेद भावना से जीव प्रशसाप्रक प्रेम निष्ठा करनी चाहिए' यह बताते हैं। अतः सर्व एवात्मनि समर्पिताः इसका तात्पर्य यही है कि सब जीवात्मा परमात्मा में समर्पित हैं क्योंकि परमेश्वर शरणागति, परमेश्वर से भिन्न जीवों की ही युक्ति-युक्त है

एक स्थान पर परमेश्वर की समर्पिति के द्वारा और अन्यत्र तत्व ज्ञान से मुक्ति कथन करने से तो सिद्धान्त हानि होगी ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि पदार्थ के तत्व ज्ञान की पराकाष्ठा ही निदिध्यासन होता है और यहा निदिध्यासन समर्पण कहलाता है।

आरोप—'वस्तु परिच्छेद रहित ब्रह्म वेदान्तरीति से ही सम्भव **है;** पर

(आरोपः)—ननु 'त्वद्रीत्या वस्तुपरिच्छेदरहितं ब्रह्म नैव सम्भवति, तस्यान्योन्याभाव-प्रतियोगित्वात्' (पृ० ५५१ पं. १५)।

(समीक्षा)—अत्रेदमवगन्तव्यं यत् प्रतियोगी तु स यस्याऽभावः सम्भवति, यथा घटस्य प्रतियोगी घटाऽभावः। एवमभावाश्चतुर्विधाः

(१) प्रागभावः, अनादिः, सान्तः उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।

(२) प्रध्वंसाऽभावः, उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य, सादिरनन्तः।

(३) अत्यन्ताऽभावः, त्रैकालिक-संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकः, यथा-भूतले घटो नाऽस्ति, अयमनादिरनन्तश्च।

(४) अन्योन्याभावः, 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकः, यथा–घटः पटो नाऽस्ति।

स च परमात्मा नैककालपरिच्छिन्नो नित्यत्वात्, अतोऽसौ पूर्व-द्वयाऽभावप्रतियोगी अर्थात् पूर्वद्वयाऽभावाऽभावात्मकः। एकदेश-परिच्छिन्नत्वाऽभावेन च तृतीयाऽभावाऽभावात्मकः सर्वव्यापकत्वात्, एक-वस्तुना परिच्छिन्नाऽभावत्वे अन्योन्याभावप्रतियोगी' इति अस्माकं मते तु ब्रह्मणो विभुत्वे न कश्चिद्दोषः।

इह श्री करपात्रमहोदयः विषयं जटिलीकृत्य प्रास्तावीत् यदद्वैत-वादे एव चतुर्णामभावानामप्रतियोगि ब्रह्म सिद्धं भवितुमर्हति यत्

स्वामी दयानन्द के त्रैतवाद मानने पर सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ वह (ब्रह्म) अन्योन्याऽभाव का प्रतियोगी है।

समीक्षा—इस स्थल को इस प्रकार समझिये कि जिसका अभाव होता है, उसे प्रतियोगी कहते हैं। जैसे घट का प्रतियोगी घटाभाव है, इस प्रकार अभाव के ४ भेद हैं, १- प्रागभाव जो कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व अनादि पर सान्त होता है। २- प्रध्वंसाभाव, कार्य की उत्पत्ति के बाद पर सादि और अनन्त होता है। ३- त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव होता है जैसे—भूतलपर घड़ा नहीं है। ४- तादात्म्य संबध से अवच्छिन्न प्रतियोगी अन्योन्याभाव होता है। जैसे घट पट नहीं है।

वह परमात्मा तो एककाल-परिच्छिन्न है नहीं, क्योंकि वह नित्य है, अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का उसमें अभाव है, एक देश परिच्छिन्नत्वाभाव

त्रिविध-परिच्छेद-शून्यं भविष्यति अर्थात् ये ईश्वर-जीव-प्रकृतित्रय-स्यापि नित्यां स्थितिं मन्वते, तेषां देश-काल-वस्तु-परिच्छिन्नता-रहितं ब्रह्म नाऽस्ति इति।

तदेतद् विशदीकृत्य व्याख्यायतेऽत्र सुविज्ञ-पाठकानां तोषाय एतद्भ्रामक-पाण्डित्य-निस्सारता-प्रकाशाय च। तथाहि:—अभावो द्विधा, संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गो हि नाम सम्बन्धः तद-भावः एकवस्तुनि अपरवस्तु-सम्बन्धाऽभावः, यथा—भूतले घटाऽभावः, भूतले संयोग-सम्बन्धेन घटाऽनुपलब्धिरित्यर्थः।

अन्योन्याभावश्च वस्तुद्वयतादात्म्य-भिन्नत्वं, यथा-घटो नैव पटः। इहाभेद-निषेधः। न्यायशास्त्रे प्रतियोगीतिशब्दस्यार्थो विरोधी। तदैवं पर्यवस्यति यत् प्रागभाव-प्रध्वंसाभावात्यन्ताभावप्रतियोगि ब्रह्म अस्ति अर्थात् तद ब्रह्म त्रिषु कालेषु अस्ति विभु च। नित्यप्रकृतितः सृष्ट्युत्पत्तौ ब्रह्मणो जीवात्मनः प्रकृतेश्च भिन्नत्वेऽन्योन्याऽभाव एव। तदेवं श्री करपात्रेण कथितस्याद्वैतस्य न कश्चिदर्थः, अतस्तत्कथनम-सङ्गतम्।

के कारण उसमें अत्यन्ताभाव घटित नहीं और वह ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न भी नहीं और जीव तथा प्रकृति रूप भी नहीं अतः अन्योन्याभाव का अप्रतियोगी ब्रह्म हुआ। पर हमारे त्रैतवादीय मत में ब्रह्म के विभु होने से कोई दोष नहीं है।

यहाँ पर करपात्री जी ने विषय को जटिल करके प्रस्तुत किया है। यह कह कर कि अद्वैतवाद में ही चारों अभावों का अप्रतियोगी ब्रह्म सिद्ध हो सकता है जो त्रिविध (देश, काल, वस्तु) परिच्छेद से शून्य होगा अर्थात् जो लोग ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की नित्य सत्ता मानते हैं उनका ब्रह्म देश काल और वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित नहीं हो सकता।

इस बात को समझाने तथा सुविज्ञ पाठकों के समक्ष इसपाण्डित्य की पोल खोलने के लिए—विशिष्ट लिखा जा रहा है। यथा—अभाव दो प्रकार का होता है संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध, अतः संसर्गाभाव का अर्थ हुआ एक वस्तु में दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध से रहने का अभाव। जैसे—भूतल पर घटाभाव है तो इसका अर्थ है भूतल पर संयोग सम्बन्ध से घट की उपलब्धि नहीं है।

भोः ! साम्प्रतं विमृश्यतां तावद् यन्नवीन-वेदान्तिनां मते ब्रह्म-भिन्न-समस्त-वस्तुसत्तायाः मिथ्यात्वात् अन्योन्याभावकथनमपि मिथ्यैव । अज्ञानावस्थायां भेदे मतेऽपि जीवब्रह्मणोरभेद एव स्यात् । तदेवमन्योन्याभावप्रतियोगि ब्रह्मेति कथं सेत्स्यति ? अन्योन्याभावस्तु वस्तुतः तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽभावः । यथा—देहो न आत्मा, आत्मा वापि न देहः, अद्वैतवादिनां मते तु परमार्थतो ब्रह्मातिरिक्तं नान्यदस्तित्वं, तदा तन्मते कथं नाम तादात्म्य-सम्बन्धोपपत्तिः स्यात् ? अतोऽद्वैतवादप्रसङ्गोऽसङ्गतो भ्रामकश्चेति ।

अद्वैतवादस्तु वस्तुतः बौद्धनास्तिक्योन्मूलनाय भगवता शङ्कराचार्येण स्वीकृतो विशिष्ट एव सिद्धान्तः । यदा हि बौद्धा अब्रुवन् यद् घटदर्शने तद्रूपाकृत्यातिरिक्तं नास्ति अन्यद्द्रव्यम्, यस्मिन् रूपादिगुणा एकत्र दृश्यन्ते अर्थात् दृश्यमानसंसारातिरिक्तस्येश्वरस्य न काऽपि सत्ता । ब्रह्म नाम द्रव्यं हि कल्पना-मात्रम् । एष

अन्योन्याभाव वहाँ होता है जहाँ दो वस्तुओं का व्यक्तित्व अथवा तादात्म्य भिन्न हैं । जैसे—घट पट नहीं है । यहाँ अभेद का निषेध है । न्याय शास्त्र में प्रतियोगी का अर्थ होता है विरोधी.। इस प्रकार हमारे मत में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी ब्रह्म है अर्थात् वह तीनों कालों में है और विभु है ।

रही बात अन्योन्याभाव की, सो जब हम नित्य प्रकृति से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति तथा सत्ता मानते हैं, तो वह ब्रह्म यहाँ पर अन्योन्याभाव वाला कहलायेगा अर्थात् वह जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है तथा जीव और प्रकृति उस ब्रह्म से भिन्न हैं । इस प्रकार करपात्री जी द्वारा कथित अद्वैत का कुछ अर्थ नहीं निकला अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त किसी वस्तु के अभाव में इस चतुष्टय के अप्रतियोगी ब्रह्म की सत्ता का कोई अर्थ नहीं हो सकता । अतः इनका कथन ऊलजलूल है ।

अब विचार कीजिये कि नवीन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं के मिथ्या होने से अन्योन्याभाव भी मिथ्या है और अज्ञान अवस्था में भेद मानने पर भी जीवात्मा और ब्रह्म का अभेद हो ही जायेगा । इस प्रकार अन्योन्याभाव का अप्रतियोगी 'ब्रह्म' कैसे ठहरेगा ? वस्तुतः अन्योन्याभाव तो

गुण एव बौद्धानां धर्मो यथार्थः । प्रत्येकं प्रथमक्षणं नश्यति, नैजं न तत् किमपि तदनुत्यजति अग्रिमं च सर्वथा नवीनं क्षणमायाति । तदेवं कारणे न कश्चिन्निजतत्त्वकार्यभावः ।' स एष वादः बौद्धमते 'प्रतीत्य समुत्पादो' नाम कथ्यते ।

वेदान्तिनः केवलं धर्मिणं (ब्रह्म) याथार्थ्येन मन्यन्ते तद्धर्मास्तु भ्रमजालमेव । परं बौद्धास्तु एतद्-विपर्ययं मन्यन्ते । तदेवमुभाभ्यां वाह्यजगतोऽवस्थितिः यथार्था न मन्यते ।

तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव होता है । यथा—देह आत्मा नहीं है और इसी प्रकार आत्मा देह नहीं है । अद्वैत वादियों के मत में परमार्थ में ब्रह्मातिरिक्त अन्य वस्तु है ही नहीं, फिर तादात्म्य सम्बन्ध की उपपत्ति किस प्रकार हो सकेगी ? अतः आपके द्वारा अद्वैतवाद का पुनः प्रसङ्ग छेड़ना असङ्गत और भ्रामक है ।

यदि गहराई से देखा जाय तो अद्वैतवार बौद्धों की नास्तिकता के उन्मूलन के लिए आचार्य शंकर के द्वारा एक विशिष्ट स्वीकृत सिद्धान्त था, जबकि बौद्धों ने यह कहा था कि घट के देखने पर उसकी रूपाकृति के अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं । ये रूपादि गुणही एकत्र होकर दीखते हैं अर्थात् बाह्य संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है, उसके अतिरिक्त ब्रह्म की कोई सत्ता नहीं, अतः यह ब्रह्म द्रव्य कल्पना मात्र है । इसी गुण को बौद्ध लोग 'धर्म' कहते हैं और उसे यथार्थ मानते हैं । प्रत्येक प्रथम क्षण नष्ट हो जाता है और पीछे अपना कुछ भी (प्रभाव) नहीं छोड़ता, और अगला क्षण सर्वथा नया आता है । इस प्रकार कारण में कोई अपना तत्व कार्यभाव नहीं है । इसी को बौद्ध मत में 'प्रतीत्य समुत्पाद' कहते हैं ।

नवीन वेदान्ती केवल धर्मी (ब्रह्म) को यथार्थ मानता है धर्मों को भ्रम-मात्र स्वीकारता है और बौद्ध लोग ठीक इसके विपरीत धर्मों को यथार्थ तथा धर्मी 'ब्रह्म' को कल्पनामात्र मानते हैं । पर दोनों के मत का निष्कर्ष यही है कि बाह्य जगत् और ब्रह्म यथार्थ नहीं, अद्वैतवाद में धर्मों से रहित ब्रह्म वास्तविक है और उसमें प्रतीत होने वाले सब धर्म मिथ्या हैं । बौद्धमत में जगत् वास्तविक है ब्रह्म कल्पना मात्र है । ब्रह्म और जगत् दोनों के अपलाप को मानने वाले इन दोनों प्रकार के लोगों को दृष्टिगत करते हुये ही रामानुजानुगत वैष्णव विद्वान् यह लिखने को विवश हुये कि 'तुम वेदान्तिलोग और बौद्धलोग एक ही पंक्ति के हों ।

निष्कर्षस्त्वयमत्र यन्नवीनवेदान्ते बौद्धमते च कियदपि दार्शनिकं गाम्भीर्यं भवेन्नाम, परमुभौ सामान्यजनानुभूतजगतः योगिजनानुभूतब्रह्मणश्च याथार्थ्यमपलपन्तौ समानकोटिकौ इति प्रणिभाल्य रामानुजानुग-वैष्णव-विद्वांसोऽलिखन् यूयं (वेदान्तिनः) च बौद्धानां-समानपङ्क्तयः' इति।

वेदान्तिनामभावाऽप्रतियोगिब्रह्मणः कल्पना तु अविवेकानुगता, यतोहि यथाहि घटत्वाभावाऽभावो घट एव भवति, तथैव ब्रह्मत्वाभावाऽभावोऽपि ब्रह्मैव, तदा नु कथंकारमभावाऽप्रतियोगि ब्रह्म? अतः वेदान्तिन्! सरलसरण्या एवमेव वाच्यं यत् न ब्रह्मणः प्रागभावः प्रध्वंसाभावः अत्यन्ताभावो वा भवति।, परं जीवप्रकृत्योः सत्तायां स्वीकृतायामन्योन्याभावस्तु सङ्घटते इति दिक्।

ननु नवीनवेदान्तिनां मते ब्रह्म-भिन्नस्य सर्वस्य वस्तुनः मिथ्यात्वात् अन्योन्याभावेऽपि मिथ्या, तथाचाऽज्ञानकाले भेदसत्त्वेऽपि मोक्षकाले तु जीवात्मनां ब्रह्मण सहाभेदः स्यादेवेति चेन्न।

(समा०) तत्त्वज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणेऽज्ञाननिवृत्तौ संस्कारनाशेन स्मरणानुत्पादे, तेन रागाद्यनुत्पादे तेन धर्माधर्मयोरनुत्पादे, तेन च

वेदान्तियों की यह कल्पना कि 'ब्रह्म' अभावाऽप्रतियोगी है, अविवेक पर आधारित है क्योंकि जिस प्रकार घटत्व के अभाव का अप्रतियोगी घट ही होता है उसी प्रकार ब्रह्मत्व के अभाव का अप्रतियोगी (अभाव) ब्रह्म ही होगा। फिर ब्रह्म किस प्रकार ब्रह्माऽभाव का अप्रतियोगी है? अतः सरलरीति में इस बात को इस प्रकार कहना चाहिए कि ब्रह्म का प्रागभाव. प्रध्वसाभाव और अत्यन्ताऽभाव नहीं होता। जीव तथा प्रकृति की वास्तविक सत्ता मानने पर अन्योन्याभाव तो ब्रह्म में घटित हो जाता है।

(शङ्का) नवीन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म भिन्न सभी वस्तुयें मिथ्या हैं अतः अन्योन्याभाव भी मिथ्या है तथा अज्ञान-काल में जीव और ब्रह्म का भेद होने पर भी मोक्ष में जीवात्मा की तद्रूपता हो ही जायेगी, फलतः अन्योन्याभाव मानना ठीक नहीं।

(समा०) तत्व-ज्ञान के अव्यवहितोत्तर क्षण में अज्ञान-निवृत्ति होने पर संस्कार. स्मरण. राग. धर्माधर्म. सुखादि की पूर्व क्षणों में अनुत्पत्ति होगी।

सुखाद्यनुत्पादे जीवेश्वरयोः समानधर्मवत्त्वेन बाधकाभावादभेदे कल्पिते वास्तविकभेदस्य अन्योन्याभावस्य नाशाऽसम्भवात् । तथा च जगद्-व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' (वे० ४।४।१७) । इति सूत्र-भाष्ये भगवान् शङ्कराचार्यः अभिप्रेतवान् यत् 'जगदुत्पत्त्यादिव्यापार-वर्जं मुक्तपुरुषः अणिमादिकमैश्वर्यमवाप्तुं शक्नोति । जगदुत्पत्त्यादि-व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्यैव, यतो ह्यसौ सृष्टौ प्रकृतः सन्नि-हितश्च ।'

वेदान्ताभिमताऽनियताऽपेक्षबुद्धिजन्यानेकपृथक्त्वरूपान्योन्याभा-वस्य नष्टत्वेऽपि जीवात्मक-परमात्मकव्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव । न च ब्रह्मभिन्नस्य द्वित्वस्यापि मिथ्यात्वात् द्वित्वमप्यपेक्षाबुद्धिनाशात् नश्यति, तथा च विशेषणाऽभावात् विशिष्ट-व्यक्तिद्वय-स्थितिर्न स्या-दितिवाच्यम्, तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाऽभावे सत्यस्वरूपं तदिति-वत् द्वित्वाऽभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ तौ इति सुवचत्वात् । अतो नाद्वैतवादः कथमपि तर्क-कषणे तिष्ठति अवैदिकत्वात् युक्त्यसहत्वाच्च ।

जीव और ईश्वर की समान धर्मवत्व से किसी बाधकता के न होने पर, अभेद की कल्पना कर लेने पर भी वास्तविक भेद रहता ही है अतः अन्योन्याभाव घटित होता ही रहेगा । जैसाकि (वेदान्त सूत्र ४।४।१७) के भाष्य में आचार्य शंकर ने भी कहा है कि जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर मुक्त-पुरुष को अन्य अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है, परन्तु जगत् की उत्पत्ति आदि जो व्यापार है वह तो नित्य सिद्ध ईश्वर का ही है क्योंकि वह ईश्वर में ही प्रकृत तथा सन्निहित है ।

वेदान्ती से अभिमत अनियत अपेक्षा बुद्धि जन्य अनेक पृथक्त्व रूप अन्योन्याभाव नष्ट होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा में दो व्यक्ति तो रहेंगे ही । यदि वेदान्ती कहे कि द्वित्व भी अपेक्षा-बुद्धि के नाश होने से नष्ट हो जायेगा तो विशेषण के अभाव में विशिष्ट व्यक्ति द्वयकी स्थिति नहीं होगी यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे वेदान्तियों के मत में ब्रह्म में सत्यत्व धर्म न होने पर भी वह ब्रह्म सद्रूप है, उसी प्रकार मोक्ष काल में जीव और ईश्वर-निष्ठ द्वित्वरूप धर्म के नाश होने पर भी वह परस्पर द्वयात्मकत्व रहेगा ही । अतः नवीन अद्वैतवाद तो किसी प्रकार भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि वह अवैदिक है और युक्ति नहीं सह सकता । पर ऋषि

ऋषि-मतन्तु वेदशास्त्रसम्मतं संशीतिरहितम् । संस्कृतभाषाऽपरिचितजनानां पौराणिकधर्मभक्तानां सरलानां वेदविरुद्धमत-प्रचारेण प्रतारणे सर्वथा कुशल एव भवान् ।।

(५५२ अनु० प्रथमः)-यदाक्षिप्यते भवता "देशकाला ऽपरिच्छिन्न त्वात्तद् ब्रह्म सर्वैरुपलब्धव्यम्" इति त्वद्विवक्षितोऽर्थो न उपपद्यते प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षाद्यन्यतमेन वा प्रमाणेन तदनुपलब्धेः ।

(समीक्षा) (१)—'प्रत्यक्षप्रमाणेन अतीन्द्रियत्वात् ब्रह्मणोऽनुपलब्धिः, इति तव कथनं निःसारम्, "योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वात्" "मनसैवेदमाप्नोति शुद्धेन मनसेत्यर्थकत्वात् ।

भोः करपात्र ! सर्वैः सर्वत्र ब्रह्मोपलब्धव्यमिति महर्षिवाक्यस्य अयमेवाऽभिप्रायो यत् ब्रह्मप्राप्तियोग्यतावद्भिरेव सर्वैः सर्वत्र ब्रह्मोपलभ्यते, न त्वन्यैर्मल-विक्षेपादिलिप्तमानसैः ।

दयानन्द का त्रैतवाद सिद्धान्त वेदशास्त्र सम्मत है और संशय रहित है । संस्कृत भाषा से अपरिचित पौराणिक धर्म के भक्त सरलजनों में वेदविरुद्ध मत के प्रचार से प्रतारण में आप सर्वथा कुशल है ।

(५५२ अनु० १) आक्षेप—देशकाल से अपरिच्छिन्न, होने से वह ब्रह्म सभी के द्वारा सदा उपलभ्य है, यह स्वा० द० का कथन ठीक नहीं ।

(समीक्षा)—(१)आप यहाँ कहते हैं कि वह ब्रह्म न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्धव्य है और न अनुमिति के द्वारा और न शब्द प्रामाण्य से । फिर क्या वह आपकी दृष्टि में उपलब्ध ही नहीं होगा । स्वा० दयानन्द ने तो केवल यहाँ पर इतना ही कहा है कि वह देशकाल और वस्तु से अपरिच्छिन्न है, व्यापक होने से ब्रह्म सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है आपने कुतर्क का तूफान खड़ा कर दिया । अब उसी की परीक्षा की जाती है ।

आपका यह कथन कि वह अतीन्द्रिय होने के नाते प्रत्यक्ष से प्राप्त नहीं, ठीक है क्योंकि अस्मदादि को प्राप्त नहीं है, पर योगियों द्वारा उसका योगज सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष किया जाता है, योगियों को प्रत्यक्ष हो जाता है । वे अतीन्द्रिय विषयों का भी साक्षात्कार कर सकते हैं उसे शुद्ध मन से अर्थात् ज्ञान से प्राप्त किया जाता है । पर आपका अवतारी ब्रह्म तो बाह्य इन्द्रियों से भी प्राप्त होता है, फिर आपको यह कथन कैसे उचित लगा ? भाई, ब्रह्म

(२) यदुक्तञ्च नाप्यनुमितिः सम्भवति व्याप्तिज्ञानाऽनुपपत्तेः' इतितद्भवद्वचनमेवानुपपन्नम्, अनुपपन्नबुद्धीनां ज्ञानलव-दुर्विदग्धानामाप्तग्रन्थ-द्वेषिणां भवतां कृते। तथाहि :—अनुमानप्रमाणमपि ईश्वर-सिद्धौ विद्वत्सम्मतं तर्कसंगतञ्च, सृष्टिरूपकार्यस्य कर्त्तुरीश्वरस्य अवश्यानुमानप्रमाण-विषयत्वात्।

यच्चोक्तं 'कालाद्यपरिच्छिन्नं तु ब्रह्मणः रूपमेव न तदुपलब्धौ तदेव हेतुः' इति तु असंदिग्धम्, तथापि इहोपलब्धिः साध्या, विभुत्वं च हेतुः, तदा अत्र साध्य-साधनयोर्व्याप्तिः स्पष्टैव। अतो भवतोऽनुमानाऽप्रामाण्यशङ्कापि समूलमुच्छिद्यते। किञ्च तवायमुपन्यासः छलेनाऽभ्युपेतः।

यद्यपि वैदिकानां नस्तु मते ईश्वरप्रणीतत्वाद् भ्रान्तिशून्यवेदस्य

प्राप्ति की योग्यता वाले ही तो मलविक्षेपावरण रहित होकर उसे देख सकते हैं।

(२) "अनुमिति भी व्याप्ति ज्ञान की अनुपपत्ति के कारण नहीं बन सकती,, आपका यह कथन भी बेतुका है। वास्तव में ज्ञानलवदुर्विदग्ध, आप्त ग्रन्थ विद्वेषी, गीर्वाण वाणी के शब्दचक्र से भ्रामित हिन्दी जानने वाले करपात्रोप जीवित आप सबका यह विचार अनुपपन्न ही है। क्योंकि ईश्वर सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी है। आपका यह कथन कि "कालादि से अपरिच्छिन्न तो ब्रह्म का स्वरूप ही है, उसकी उपलब्धि में वही हेतु नहीं हो सकता ? यह सब अप्रासङ्गिक है। तथापि समझिये यहाँ पर उपलब्धि साध्य है, और विभुत्व हेतु है। फिर साध्य और साधन की व्याप्ति तो स्पष्ट है। तब अनुमान के अप्रामाण्य की शङ्का भी इस प्रकार समूल उच्छिन्न हो गई। यहाँ पर व्याप्ति ज्ञान और अनुमिति की चर्चा करना आपका अपना अनर्गल प्रलाप है। जहाँ तक अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि की बात है, वह सृष्टिरूप कार्य का कर्त्ता ईश्वर कर्त्तृत्वेन अनुमिति है ही, और जगद्वैलक्षण्य में क्या सपक्षता नहीं है ? यह कुछ भी आपने स्पष्ट नहीं किया। साथ ही वाक्य रचना की उधेड़बुन के चक्र में साधारण पाठक को फांसना चाहते हैं। मैं आपसे पूछता हूं कि ब्रह्म जगत् से विलक्षण है या नहीं ? देशादि से अपरिच्छेद्य है नहीं ? विभु है या नहीं ? यदि हाँ, तो फिर सिद्धान्त में क्या दोष आया ? और वाक्य रचना को भी आप कदापि दूषित नहीं कर सके।

मुभयप्रमाणत्वं सिद्धमेव, तथापि भवादृशचार्वाकादयो निरीश्वरवादिनोऽपि जल्पन्ति, 'नास्ति कश्चिदीश्वरः जगदुत्पत्तेः स्वाभाविकत्वात् स्वतः-सिद्धत्वाद्वेति तस्याः, परं तन्न सङ्गतं, जगद्रूपस्य कार्यस्यावश्यं कर्तृजन्यत्वात्। न च मही महीधरादयोऽशरीरिकर्तृजन्याः अतएव न कार्यम्। यच्च कार्यं भवति तच्च शरीरकर्तृजन्यं यथा चाकाशम्, परं शरीरिकर्तृजन्यमेव कार्यं भवतीति न वाच्यम्। समेषां सावयवपदार्थानाम् घटादिवत् कर्तृजन्यत्वात् यथा च निरीश्वर वादिनोऽपि कथयन्ति :—

कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि चेष्यते।
नेश्वराधिष्ठितत्वं स्यात् अस्ति चेत् साध्यहीनता।"

अयमर्थः—घटदृष्टान्तेन कुम्भकारेण कर्तृत्वात् नेश्वर-सिद्धिः, यतोहि न घटकर्त्ता कुलाल ईश्वरः, अतएवेश्वर-सिद्धौ घटस्य दृष्टान्तः साध्यहीनता एव।"

देश कालादि से अपरिच्छेद्य ब्रह्म है, यहाँ पर यह कथन भ्रामक व अप्रासंगिक है कि उसकी उपलब्धि में वही हेतु दिया है, क्योंकि यहाँ पर उपलब्धि साध्य है तो विभुता साधन है और साध्य तथा साधन की व्याप्ति स्पष्ट है। अतः अनुमान के प्रामाण्य की व्यवस्था के अभाव की शङ्का भी निर्मूल है तथा यह सारा आपका वचन उपन्यास छल से पूर्ण है।

हम वैदिकों के लिए भ्रान्ति शून्य वेद की ईश्वरोक्त होने से मुख्यतया प्रामाणिकता है। तब भी आपके सदृश चार्वाक आदि भी निरीश्वरवादी भी कहने लगते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। जगत् की उत्पत्ति स्वतः सिद्ध व स्वाभाविक है; परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि कार्य अवश्य ही कर्तृजन्य होता है, और जगत् कार्य हैं। मही, महीधर और महार्णव आदि भी कार्य होने से घट के सदृश चेतन-जन्य है।

यह कथन ठीक नहीं कि मही महीधर आदि अशरीरी कर्त्ता से जन्य है। इनका कोई शरीर धारी कर्ता नहीं है अतः ये कार्य नहीं, जो कार्य होता है, वह शरीरधारी कर्त्ता से जन्य होता है, जैसे आकाश, परन्तु यह कथन ठीक नहीं कि शरीर से जन्य ही कार्य होता है।

घट के समान सभी सावयव पदार्थों का कर्त्ता अवश्य होता है, जैसा कि

अत्रेदं समाधानम्-यथा धूमहेतुत्वेनाऽग्निसिद्धेरनुमानम्, न च अग्निरत्र करीरस्य शमीवृक्षस्य वाऽभिप्रेतः। एतदभिप्रेतत्वे न पर्वते वह्निसिद्धिर्जायेत। पर्वते उक्तवह्नेरभावात्। अतो यथा दृष्टान्ते सामान्यो वह्निरिष्टस्तथैव घट-दृष्टान्तेन सामान्यकेतनाऽभीष्टत्वे न साध्य-हीनता। एवं व्याप्तिज्ञानस्य सर्वथोपपत्तिर्जायते एव।

कदाचिद्व्याप्तौ व्यभिचारशङ्कितायामपि 'कर्तृत्वावच्छिन्नं, कार्यत्वावच्छिन्नस्य कारणस्य इति कार्य-कारणभावोऽसन्दिग्ध एव। बहुत्र चाऽयं करपात्रः एवमपि नास्तिकवत् शङ्कते यद् वेदेन च ईश्वर-सिद्धिः क्रियते, ईश्वरोक्तत्वाच्च वेद-प्रामाणिकता-सिद्धिः, एवमन्योन्याश्रय-दोषः इति।

तत्र समाधीयते 'ईश्वर सिद्धिस्त्वनुमान-प्रमाणेन, वेद-प्रमाणता

निरीश्वरवादी भी कहते हैं कि "यदि कुम्भकार आदि का अधिष्ठान घटादि में इष्ट है, तो भी ईश्वर का अधिष्ठान नहीं है, नहीं तो साध्य-हीनता है अर्थात् घट के दृष्टान्त से कुम्भकार कर्त्ता होने से ईश्वर सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि घट का कर्त्ता कुलाल ईश्वर नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर सिद्धि में घट का दृष्टान्त साध्य हीनता है।"

यहाँ यही समाधान किया जा सकता है, कि जैसे धूम हेतु से अग्नि सिद्धि का अनुमान होता है, न कि यहाँ यह अग्नि करीर की है या शमीवृक्ष की जैसे यह नहीं अभीष्ट है, यदि यह करीरादि अग्नि अभिप्रेत हो तो पर्वत में वह्नि सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पर्वत में उक्त करीरादि वह्नि नहीं। अतः जैसे दृष्टान्त में सामान्य अग्नि अभीष्ट है, उसी प्रकार घट दृष्टान्त में सामान्य-चेतना अभीष्ट है, अतः साध्य हीनता नहीं और इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान की सर्वथा उपपत्ति है।

कभी व्याप्ति के व्यभिचार द्वारा शंकित होने पर भी कर्तृत्व से अवच्छिन्न कार्यत्वावच्छिन्न का कारण है। इस प्रकार कार्यकारण भाव असन्दिग्ध है। बहुत स्थलों पर नास्तिकवत् करपात्री जी शङ्का करते हैं कि वेद से ईश्वर की सिद्धि की जाती है। और ईश्वरोक्त होने से ही वेद की प्रामाणिकता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हुआ।

यहाँ समाधान है कि ईश्वर सिद्धि तो अनुमान प्रमाण से है और वेद

चेश्वर-वचनेन, एवं नाऽयं दोषः। अथ च अस्माकं मते तु वेदप्रामाण्ये न काचित् शङ्का, स्वतः प्रमाणत्वात् तेषाम्। ब्रह्म-स्वरूपस्य च विभुत्वात् सर्वैः योग्यैः सर्वत्रोपलभ्यता,। अत एव यो विद्वान् यत्र यस्मिन् वा देशे ब्रह्म ध्यायति तत्रैवोपलभते इति तात्पर्यम्।

वस्तुतस्तु अयम् लेखकः उपलब्धि-शब्दार्थमेपि नावगच्छति अत्र, येन अनुमिते-र्व्याप्तिज्ञानमन्विष्यति, अनुमानेन तु केवलं सामान्य रूपास्तित्वमेव गम्यते यत् 'सोऽस्ति' शवलस्वरूपः, तत्त्वस्वरूपस्य त्वनुमानात्परत्वात्। अतः एवोक्तम् "विद्वांसः सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति"।

यदत्र केचन प्रस्तुवन्ति यन्न योगिनोऽतीन्द्रियद्रष्टारो प्राणित्वात् अस्मदादिवत्। तत्र पृच्छ्यते यदस्मिन्ननुमाने सर्वे पुरुषाः पक्षीकृता, आहोस्वित् विशेष-प्रकारकाः? आद्ये सिद्धसाधन-दोषः, यतोहि नहि सर्वान् कश्चिदतीन्द्रिय-दृष्दृन् मन्यते। द्वितीये अतीन्द्रियार्थ-दर्शनाऽभाव-सिषाधयिषा चेत् पक्षाऽसिद्धिः, पक्षस्य तदा साधारण-धर्मेणसह-साहचर्यानिवार्यत्वात्। यदि मीमांसकः विशेषपुरुषं साधयितुमभिषेच्चेत्, धर्मिग्राहकप्रमाणेन योगिनाम् अतीन्द्रियार्थ-दर्शन-विशेष-सिद्ध्यापत्तिः, तया च उक्तानुमानबाधितत्वम्।

प्रामाण्य ईश्वर वचन होने के कारण है, अतः उक्त दोषही नहीं। किञ्चहमारे सिद्धान्त में तो वेद प्रमाणता में कोई शङ्का ही नहीं, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण हैं। ब्रह्म का स्वरूप विभु है, अतः सब विद्वान् योगीजनों के द्वारा वह सर्वत्र उपलब्धव्य है, यही बात यहाँ दिखाई गई है। अतः जो विद्वान् जिस देशकाल में ब्रह्म का ध्यान करता है उसकी वहीं उपलब्धि होती है, यह तात्पर्य है।

वस्तुतः यहाँ यह लेखक उपलब्धि शब्द के अर्थ को भी नहीं समझ सके, क्योंकि यह अनुमिति के व्याप्ति ज्ञान की खोज कर रहे हैं। अनुमान से तो केवल सामान्य रूप अस्तित्व ज्ञात होता है 'वह है' ऐसा शवल रूप। तत्वस्वरूप तो अनुमान से परे है। इसीलिये कहा गया है कि 'विद्वान् (योगी) लोग सब कालों में उसे देखते है।

यहाँ पर कतिपय मीमांसक लोग यह प्रस्तुत करते हैं कि वे विद्वान् योगी लोग भी हमारी भाँति प्राणी हैं, अतः वे भी अतीन्द्रिय विषय को नहीं देख सकते। तो उनसे इस प्रसङ्ग में यह पूछना चाहिए कि इस अनुमान में सभी पुरुष पक्ष हैं? या विशेष प्रकार के पुरुष? यदि सभी पुरुषों को पक्ष मानें तो

अथ चेत् प्रसङ्गसाधनायेदमनुमानं, प्रसङ्ग-साधनस्य च न प्रसङ्ग साधनायोपादानं भवति, किन्तु परस्याऽनिष्टापादनार्थम् भवति। परानिष्टं च तदभ्युपगमसिद्धैरेव धर्मादिभिः शक्यमापादयितुम्। नैतदावश्यकम् यत् यत्रापत्तिस्तत्र स्वप्रमाणैः साधनीया, न ह्येवं परः प्रत्यवस्थापयितुमर्हति यत् 'तत्रासिद्धा धर्मादयो नाहं स्वसिद्धेष्वपि तेषु प्रतिपद्ये' इति।

नैतद्युक्तं प्रसङ्ग-साधनस्यापि अनुमानत्वात्, यद्यन्यत्, क्वाऽपि उक्त-लक्षणेषु प्रमाणेष्वन्तर्भावो वर्णनीयः, लक्षणान्तरं च वक्तव्यम्। न च लक्षणान्तरं कृतम्। अतो विद्वांसो योगिनः अतीन्द्रिय-द्रष्टारो भवन्त्येवेति दिक्।

उक्त अनुमान में सिद्ध साधन दोष आयेगा, क्योंकि सभी पुरुषों को अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा तो कोई भी नहीं मानता। यदि विशेष प्रकार के पुरुष में अतीन्द्रियार्थ दर्शन के अभाव की सिद्धि करना चाहते हैं, तो फिर इसमें आपके मत से पक्षाऽसिद्धि होगी; क्योंकि पक्ष का उसके असाधारण धर्म के साथ निश्चित रहना अनुमान के लिए आवश्यक है। मीमांसकों के मत में 'विशेष प्रकार के पुरुष' सिद्ध नहीं हैं। यदि उसे सिद्ध करना चाहेंगे, तो धर्मी के ग्राहक प्रमाण से ही योगियों में अतीन्द्रियार्थ दर्शनरूप 'विशेष' की भी सिद्धि हो जायेगी, जिससे उक्त अनुमान बाधित हो जायेगा।

यदि यह कहें कि उक्त अनुमान तो प्रसङ्ग साधन के लिए है और प्रसङ्ग (आपत्ति) साधन का उपन्यास तो दूसरों के मत खण्डनार्थ किया जाता है अपने मत के खण्डन के लिए नहीं। दूसरों अर्थात् प्रतिपक्षियों के न माने हुए धर्मों की आपत्ति तो उनके मत से सिद्ध धर्मादि के द्वारा भी दी जा सकती है, पर यह आवश्यक नहीं है कि जिसकी आपत्ति देनी है, उसके विषयों को अपने मत के अनुसार प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध होना चाहिये, क्योंकि प्रतिपक्षी यह आरोप कर ही नहीं सकते कि तुम्हारे मत के अनुसार जिन धर्मों की उपपत्ति नहीं हो सकती. उन धर्मों की केवल अपने मत से सिद्ध पदार्थों में मुझे प्रतीति नहीं होती।

उक्त कथन ठीक नहीं. क्योंकि प्रसङ्ग साधन भी तो अनुमान ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। कारण यह है कि अन्य होने पर उसका लक्षण भी बनाना पड़ेगा। अतः योगी विद्वान् अतीन्द्रिय द्रष्टा नहीं हो सकते यह अनुमान भी प्रमाणयोग्य नहीं।

(५५२ पं. ६) आक्षेप :—यदुच्यते "नाऽप्यस्ति दृश्यमान-जगद्-विलक्षणं ब्रह्म देशाद्य-परिच्छिन्नत्वादिति मूलोक्त एव हेतुः" तदपि न युक्तं जगद् वैलक्षण्ये सपक्षानुपपत्या व्याप्तिग्रहासम्भवात् । कालाद्य परिच्छिन्नं तु ब्रह्मणः स्वरूपमेवेति न तदुपलब्धौ तदेव हेतुः, किञ्च हेतुसाध्ययोः कथं व्याप्यव्यापक भाव ? इत्यपि वक्तव्यम् ।

(समा०)—पारिजात-लेखकः सर्वत्र छलेन भूमिका-वाक्यानि विपरिवर्त्य प्रस्तौति यथा ह्यत्र नहि मूले लिखितं यत् 'दृश्यमान-जगद्-विलणं ब्रह्म देशाद्यपरिच्छिन्नत्वात्" इति, मूले तु 'व्यापकस्य परमेश्वरस्य प्रकृष्टानन्दस्वरूपं—प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तदाततं विस्तृतं देशकाल-परिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्म-स्वरूपस्य विभुत्वात्" इति लिखितं विद्यते ।

(५५२ पं० ६) आक्षेप—यह जो कहा गया कि "दृश्यमान जगत् से ब्रह्म विलक्षण है, क्योंकि यह देश आदि से अपरिच्छिन्न है, यह मूल में कहा गया ही हेतु है, यह भी ठीक नही । क्योंकि जगत् के वैलक्षण्य में 'सपक्ष के न होने से व्याप्तिग्रह नहीं बनेगा । काल आदि से अपरिच्छिन्न ब्रह्म का स्वरूप ही है, अतः उसकी उपलब्धि में वही हेतु नहीं होगा । हेतु और साध्य का व्याप्य व्यापक भाव कैसे बनेगा ? यह भी बताना चाहिए ।

(समा०)—पारिजात लेखक सर्वत्र भूमिका के वाक्यों को प्रायः लौट बदलकर ही प्रस्तुत करते हैं । जैसा कि यहाँ पर मूल में कहीं भी "जगत् विलक्षण ब्रह्म है, देश कालादि से अपरिच्छिन्न होने से" ऐसा नहीं लिखा है । मूल में तो "व्यापक परमेश्वर का प्रकृष्टानन्द स्वरूप समन्तात् विस्तृत अर्थात् जो देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित है, इसलिये सब विद्वानों को सर्वत्र उपलब्ध होता है ब्रह्म स्वरूप के विभु होने से" यह पाठ है । स्वामी जी की इस संस्कृत-वाक्य-रचना में यहाँ जगद् वैलक्षण्य साध्य नहीं है और देशाद्य परिच्छिन्न हेतु भी नहीं दिया गया है । केवल देश कालादि से अपरिच्छेद्य ब्रह्म स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । तब आपकी विपरीत शब्दावली से उत्थापित सपक्षानुपपत्ति और व्याप्तिग्रह की असम्भवता का प्रश्न ऋषि की वाक्य-रचना पर असङ्गत हो गया । यह आपने भी लिखा कि कालाद्यपरिच्छिन्न तो ब्रह्म का स्वरूप है" फिर उक्त पंक्तियों पर खड़ा किया गया आपका शंका भवन तो धूलिसात् हो गया । वैलक्षण्य शब्द से यहाँ पर ऋषि ने विचार नही किया है;

अत्र ब्रह्मणो जगतो वैलक्षण्यं न साध्यं, न वा वैलक्षण्ये देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वं हेतुरुपन्यस्तः केवलं देशकालवस्तु परिच्छेदरहितं स्वरूपं प्रस्तूयते। कः प्रश्नस्तदा सपक्षानुपपत्त्या व्याप्ति-ग्रहाऽसम्भवतायाश्च ? तच्च त्वयाऽपि लिखितं 'कालाद्यपरिच्छिन्नत्वं तु ब्रह्मणः स्वरूपमेव। पुनः प्रश्नतति-समुद्भावनरूप-भवनं तु ते निराधारत्वाद् भूमिसादेवाऽवर्त्तत। वैलक्षण्यं तु न ऋषिणाऽत्र विचार्यते। दुर्जन-तोष-न्यायेन यदि वयमेव विचारयामस्तदा वैलक्षण्यं तावद्भिन्नता, सा च चेतनस्याचेतनत्वेन भवति।

चेतनं हि ब्रह्म, जगदचेतनम्, यथा च वेदान्ते-'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् इति (वे० २।१।४)। तत्र (शां० भाष्यम्) इदं हि ब्रह्म-कार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं 'जगद्' ब्रह्म विलक्षणम् अचेतनम् शुद्धं च दृश्यते' इति। इह जगद्पक्षो, वैलक्षण्यं साध्यम्, अचैतन्याऽशुद्धिदर्शनादिति हेतुः तथैव आक्षिप्तं ब्रह्मापि पक्षः।

सम्प्रति भवान् वदतु यद् इह शाङ्करभाष्ये सपक्षानुपपत्या व्याप्ति-ग्रहस्य सम्भवः अस्ति न वा ? अस्ति चेदिह कथं हेतुसाध्यो व्याप्यव्यापकभावः सम्भवति ? नवानवेदान्तिनां मते ब्रह्मणोऽद्वैतत्वे न किमपि

अस्तु हमी विचार किये लेते हैं। तो वैलक्षण्य का अर्थ है भिन्नता, वह चेतनत्व की अचेनत्व से होती है।

चेतन ब्रह्म है, जगद् अचेतन है। जैसा कि वेदान्त में 'इस जगत् का ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म चेतन और जगत् अचेतन' है जोकि शब्द अर्थात् श्रुति से ज्ञात है २।१।४। वहाँ शाङ्कर भाष्य भी है, 'यह ब्रह्म के कार्य रूप से माना हुआ जगत् ब्रह्म से विलक्षण अचेतन और अशुद्ध देखा जाता है, और ब्रह्म जगत् से चेतन और शुद्ध सुना जाता है' इस शंकर वाक्य में जगत् पक्ष है वैलक्षण्य साध्य है। अचैतन्य तथा अशुद्धि दर्शन हेतु (साधन) है। उसी प्रकार ब्रह्म पक्ष और उसमें वैलक्षण्य साध्य और शुद्धि वा चैतन्य हेतु है।

अब आप बताइए कि इस शाङ्कर वाक्य में आपको सपक्षानुपपत्ति और व्याप्ति-ग्रह की असम्भवता दीख रही है या नहीं ? यदि हाँ तो यहाँ पर कैसे हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव सम्भव है ? उसी प्रकार ऋषि दयानन्द के कथन में भी समझिये। पारमार्थिकता में नवीन वेदान्तियों के ब्रह्म

सङ्गच्छते । तदेवं न कश्चिदाक्षेपो भवत: 'भूमिकायां' सम्भवति इति विवेचका: अधिगन्तुमर्हन्ति । शिष्टं तु भवदुक्तमप्रासङ्गिकं कुतर्कानुगतं वाग्जालमात्रमेव ।

(पृ० ५५३ अनु. २) 'ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वादित्यत्र स्वामिवाक्ये भवान् उदृङ्कते यत् हेतुरयं साध्यस्य सिद्धौ द्वितीयो हेतुरस्ति न वा ? यदि न, तदा पुनरुक्तिदोष:, यदि हेत्वन्तरं तदा विकल्प-समुच्चयो न, विकल्पे पक्षान्तरे अयं हेतुर्न भविष्यति, समुच्चये अधिकनामनिग्रहस्थानापत्तिर्भविष्यतीति वाग्जालं प्रस्तारयन्तं भवन्तमहं पृच्छामि यत् भवन्मते ब्रह्मस्वरूपं दयानन्दप्रतिपादितं न वा ? यदि तावद् ब्रह्म नो व्यापकं, तदा किं विधम् ? यद्यस्ति तर्हि विभुत्वात् (व्यापकत्वात्) सर्वत्र तदुपलब्धतया भवदुक्ता इमे दोषास्तत्र स्युर्नवा ? स्युश्चेत् किं समाधानं ? केवलमनर्गलप्रलापै: कुतर्कैर्वा किमर्थं पुर्नविषयोऽपलाप्यते ।

भो: बहुतर्कशील ! साध्यमत्र पदं, तत् विद्वांसो विभुत्वात् लभन्ते

की अद्वैतता में, ब्रह्म के एकमात्र होने से, साध्य और साधन बन ही नहीं सकते फिर भूमिका लेख पर आपका कोई आक्षेप घटित नहीं हो सकता । यह बात विवेचक समझ लेंगे । शेष तो आपका कुतर्कमय वाग्जाल मात्र है ।

(५५२ अनु० २)—स्वा० द० का 'ब्रह्म स्वरूपस्य विभुत्वात्' यह हेतु साध्य की सिद्धि के लिए दूसरा हेतु है या नहीं ? यदि नहीं तो पुनरुक्ति दोष होगा, हेत्वन्तर है तो विकल्प समुच्चय नहीं बनेगा, विकल्प में पक्षान्तर में यह हेतु नहीं हो सकेगा, समुच्चय में अधिक-नामक निग्रह-स्थान की आपत्ति होगी इत्यादि वाग्जाल फैलाने वाले आपसे मैं पूछता हूं कि आपके मत में ब्रह्म का स्वरूप स्वामी दयानन्द प्रतिपादित है या नहीं, ? यदि ब्रह्म व्यापक नहीं है तो कैसा है ? यदि है तो विभुत्वात् अर्थात् व्यापक होने से सर्वत्र उसकी उपलब्धि हो सकेगी क्या ? आपके ब्रह्म की व्यापकता में ये (शङ्कायें) तब दोष होंगे या नहीं । यदि हाँ तो समाधान क्या करेंगे ? जबकि आप ब्रह्म को ऐसा मानते हैं । फिर अनर्गल शङ्का-शत-प्रलापों से विषय का अपलापन क्यों कर रहे हो ?

साध्य यहाँ पर पदोपलब्धि है और साधन व्यापकता है । 'विभुत्वात्' इस हेतु के देने पर पुनरुक्ति क्या है ? हेत्वन्तर होने पर कौन सा विकल्प-समुच्चय

इति हेतुः तदा विभुत्वादिति हेतौ उक्ते किं पौनरुक्त्यम् ? हेत्वन्तराभावे विभुत्वादिति नाऽयं हेतुर्भवितुमर्हः । तदेवं भूमिकाकारं अधिक-नाम-निग्रहस्थानमाकर्षणस्य स्थाने स्वयमेव भवान् निरनुयोज्यानुयोगे नाम निग्रहस्थाने निपतति ।

सदसद्विवेकनो विचारयन्तु अत्र ऋषिणा दयानन्देन "अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । अत्र तस्योपलब्धिः साध्या हेतुश्च विभुत्वादिति" एक एव हेतुरत्रोपन्यस्तः 'विभुत्वादिति ।' पुनः कथमुक्तमनर्गलविकल्पनं सङ्गच्छते ?

(शङ्का)—'दिवीव चक्षुः' अत्र सादृश्यार्थकेन इव शब्देन सादृश्यम् उपलब्धिर्व्याप्तिर्वाऽभीष्टा ?

(समा०)

पक्षाघातरुजाग्रस्ता भवतो धिषणाऽधुना ।
सत्यं तन्नार्हति द्रष्टुं दयानन्द-प्रकाशितम् ।।

ब्रूहि साम्प्रतम् केह ते विप्रतिपत्तिः ? यदि सादृश्यम् स्यात् । सर्वजनचक्षुः यथा सूर्यप्रकाशे आकाशे सर्वान् पदार्थान् वीक्षितुं क्षमते, तथा सूरयस्तन्मोक्षाख्यपदम्ः द्रष्टु क्षमाः । 'ब्रह्मसूर्यप्रकाशवत् सूरयश्च

है जो न हो सकेगा ? हेत्वन्तर के अभाव में 'विभुत्वात्' यह हेतु नहीं हो सकेगा । क्यों ? यह सब कुछ आपको स्पष्ट करना चाहिए था, वस्तुतः अधिक नामक निग्रह-स्थान में भूमिकाकार को खींचने के स्थान पर आप ही स्वयम् निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रह स्थान में आ गये । विवेचक विचारें कि ऋषि दयानन्द के वाक्य में यहाँ उस ब्रह्म की उपलब्धि साध्य है और विभुत्व साधन है । यह एक ही हेतु उपन्यस्त किया गया है । फिर क्यों अनर्गल कल्पना की जा रही है ?

(शङ्का) —'आकाश में विस्तृत चक्षु के समान' यहाँ पर 'इव' शब्द से सादृश्य, उपलब्धि अभीष्ट हैं या व्याप्ति ?

(समा०)—आपकी बुद्धि तो पक्षांघात रोग से ग्रस्त है जो कि स्वा० दयानन्द द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ को नहीं देख सकती । यहाँ पर आपको क्या विप्रतिपत्ति है ? सादृश्य माने तो 'सब लोगों के नेत्र, सूर्य के प्रकाशयुक्त आकाश में सब पदार्थों को देख सकते हैं । उसी प्रकार विद्वान् लोग मोक्षाख्यपद को देख सकते हैं यहाँ ब्रह्म को सूर्य के प्रकाश का और विद्वानों को चक्षुओं का

चक्षुर्वत् उपमीयन्ते "यथा दिवि विस्तृतं चक्षुरुपलभ्यते तथा ब्रह्माऽपि इति तवार्थस्तु न सम्भवति, कुकल्पनाजनितत्वात्, केनाऽपि ऋषिणाऽनुक्तत्वाच्च।

न च चक्षुर्भ्यां ब्रह्मोपलब्धिरत्रोपमिता, 'चक्षुषोरतीन्द्रियत्वहेतुस्त्वदुपन्यस्तस्तु स्वतो निरस्तः। पुनस्तद्ग्रहणार्थेन्द्रियान्तरकल्पनोत्थानिका अपि न सम्भवति, अप्रसङ्गोपात्तत्वात्। 'इन्द्रियान्तरकल्पननिरासाय 'अनवस्थापातादिति उपन्यासस्तु असङ्गतः बुद्धिवाह्यत्वात्।

व्याप्तं प्राप्तमित्यर्थोऽत्र, न तु व्यापकार्थः। इयं तु मन्दमतिकल्पना यत् 'यथा दिवि चक्षुः विस्तृतं (व्यापकं) भवति तथा ब्रह्म।' एतेन करपात्रस्य साहित्य-ज्ञानं यत् 'कथङ्कारमुपमादीनाम् अर्थः सङ्गमनीयः' इत्यपि स्पष्टं जायते ! इदं सममपि तस्य स्वकपोलकल्पितमेवाप्राकरणिकञ्च।

औपम्य दिया है। यह कथन कि "जैसे आकाश में चक्षु विस्तृत होता है, ऐसे ही ब्रह्म भी सर्वत्र विस्तृत है" सर्वथा असङ्गत खींचातानी है। यह आपकी कुकल्पना से जनित है और किसी भी ऋषि द्वारा नहीं कहा गया है।

यहाँ पर ब्रह्म प्राप्ति नेत्रों से उपमित नहीं है अत. नेत्रों से ब्रह्म नहीं देखा जा सकता, यह आपकी कल्पित अर्थोद्भावना स्वयं निरस्त हो गई। फिर उसके ग्रहण के लिए इन्द्रियान्तर कल्पना की भूमिका भी निर्मूल और और प्रसंग बाह्य है, और इन्द्रियान्तर कल्पना के निरास के लिए अनवस्था दोष भी बुद्धि बाह्य होने से असङ्गत रहा।

ऋषि द्वारा नेत्र दृष्टि की व्याप्ति अर्थाथ् प्राप्ति या पहुंच के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे आकाश में व्यापक नेत्र हैं, उसी प्रकार (ब्रह्म) यह तो आपकी मन्दमति जनित कुकल्पना है। इस प्रकरण से करपात्री जी का अर्थ सङ्गति लगाने सम्बन्धी साहित्य ज्ञान कितना अच्छा है ! पता चल गया। यह सब कुछ लेखक की कपोल कल्पना है और अप्राकरणिक है। यह जो परिभाषा की है कि यावन्मात्र मूर्त्त-द्रव्य संयोगित्व ही व्यापकत्व है ? यह चिन्त्य है क्योंकि संयोग तो अप्राप्तों की प्राप्ति है, यह प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है। जो पहले अप्राप्त हों और पश्चात् प्राप्त अर्थात् परस्पर संश्लिष्ट हों वे संयुक्त होते हैं। प्रशस्त पाद भाष्य में 'अप्राप्तयोः' यह पद समवाय के व्यवच्छेनार्थ पढ़ा गया है। ईश्वर का अमूर्त्त-द्रव्य-जीव, परमाणु आदि का भी व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नित्य है।

यदिदं परिभाषितं "व्यापकत्वं हि यावन्मूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वम्" इति, तदिदं चिन्त्यम् यतोहि "संयोगश्च अप्राप्तयोः प्राप्तिः, इति प्रशस्त-पादभाष्यम्, पूर्वमप्राप्तयोः पश्चाद् या प्राप्तिः परस्पर-संश्लेषः सः संयोगः। अप्रातयोरितिपदं समवायव्यवच्छेदार्थम्। ईश्वरस्यामूर्त्त-जीवपरमाण्वादीनामपि च व्याप्य-व्यापक-सम्बन्धस्य सत्त्वात्। तथा हि मूर्त्तगुणा :—

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्व स्नेह वेगाश्च मताः मूर्त्तगुणाः अमी॥

अमूर्त्त गुणा :—

धर्माधर्मौ भावना च, शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च।
एतेऽमूर्त्त-गुणाः सर्वे, विद्वद्भिः परिकीर्त्तिताः॥ सिद्धान्त मु०।

एवम् दशदश मूर्त्ताऽमूर्त्त गुणाः वर्तन्ते। विभुत्वं हि मूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं, न तु व्यापकत्वम्, विभुत्वव्यापकत्वभेदः। मूर्त्तिमद्द्रव्य-संयोगी विभुः, न परमाण्वादीनामन्तः, यश्चान्तर्बहिस्तिष्ठति स व्यापकः। अत्रहि पारिभाषिको विभु शब्दः।

यथा नाऽकाशो परमाण्वभ्यन्तरे परमीश्वरस्त्वस्त्येव, तस्मादीश्वरोविभुरपि व्यापकोऽपि, सर्वव्यापकार्थे चाऽपि विभुशब्दः। स्वरूपेण ब्रह्म विभु, जात्या च जीवात्मा।

(पृ० ५५३।१) पूर्वपक्षः—"दिविमार्त्तण्डप्रकाशे नेत्र-दृष्टेर्व्या-

---

मूर्त्त द्रव्यों में रहने वाले गुण, रूप, रस आदि और अमूर्त्त गुण धर्म, अधर्म भावना आदि सिद्धान्त मुक्तावली में पठित हैं। इसके अनुसार मूर्त्तद्रव्य संयोगित्व को विभुत्व कह सकते हैं व्यापकत्व को नहीं। क्योंकि यहाँ कालादि के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक 'विभु' शब्द है। यह विभुत्व परमाणु आदि के अन्दर और बाहर नहीं रहता। पर ऋषि दयानन्द ने यहाँ सर्व व्यापकार्थ में विभु शब्द का प्रयोग किया है। जैसे आकाश परमाणु और जीव के भीतर नहीं, परन्तु परमेश्वर है। निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म, स्वरूप से व्यापक है और जीव, जातित्वेन विभु है।

(पृ० ५५३ अनु० १) पू० प०—"जैसे सूर्य का प्रकाश आवरण रहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त

प्तिर्यथा भवति, तथैव तत्पदं ब्रह्माऽपि वर्त्तते, मोक्षस्य सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् ।" इदमपि न सम्यक् अत्र किं साध्यं किं च साधनं, का वा प्रकरणसङ्गतिः इति दयानन्दीया एव जानन्तु ।" (उ. प.) सत्यम्,

सामाजिका विजानन्ति, दयानन्दर्षिदर्शनम् ।
असमाजिक-दृष्टेर्नो मतिगम्यमसूयया ॥

भवानपि ज्ञातुं यतताम्, यथा अत्र हि साध्यम् पदम् मोक्षाख्यम्, साधनं च सर्वोत्कृष्टत्वम् । प्रकरणं च स्पष्टमेव ब्रह्म-प्रतिपादनम् । नह्यत्र काचिद् विप्रतिपत्तिः । व्यर्थम् एव वितण्डा तायते भवता ।

(५५३ पृ० अनु०२)—सायण भाष्यं प्रस्तुवता कलेवरमेव वर्धितम्, न किमपि गहनतत्वं गवेषितम्; अपरं च लिखितमृषिणा 'नेत्र

होती है । उसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयं-प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । उस मोक्ष पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्कृष्ट नहीं, इसलिए चारों वेदइसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं" यह बात भी सर्वथा अस्तव्यस्त है । यहाँ क्या पक्ष है ? साध्य की सिद्धि के लिए किस हेतु का उपन्यास किया है ? और प्रकरण की संगति कैसे होगी ? वह बात तो दयानन्द ही समझ सकते हैं या उनके अनुयायी ।

(उ. प.)—ठीक है आर्य सामाजिक लोग ही महर्षि दयानन्द के दर्शन को समझ सकते हैं असामाजिक दृष्टि वाले को असूया के कारण मतिगम्य नहीं है । अब आप भी समझने का प्रयास कीजिए । यहाँ साध्य मोक्षाख्यपद है और हेतु सर्वोत्कृष्टता है और ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकरण है । यहां पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं, आप स्वपक्ष की स्थापना तो करते नहीं व्यर्थ ही वितण्डा फैलाते हैं ।

टिप्पणी—करपात्रिन् ! प्रत्येक वर्णन में साध्य साधन आदि का दिग्दर्शन कराना तो लक्षित नहीं, यह केवल न्यायादि शास्त्रों द्वारा उल्लेखनीय है' यदि वे ग्रन्थ आपके सम्यक् अधीत होते तो आप स्वयं ही साध्य साधनादि खोज लेते जिस प्रकार यहाँ हमारे द्वारा समाधान किया गया है ।

पृ० ५५२ अनु० २—सायण भाष्य को लिखकर पोथे का कलेवर आपने बढ़ाया है, किसी गहन तत्व की तो गवेषणा की नहीं । दूसरे, ऋषि ने लिखा 'नेत्र-दृष्टेर्व्याप्तिः' सायणाचार्य ने इसे 'सर्वतः प्रसतं चक्षु.' लिखकर समर्थन ही कर दिया । विवेचक देखें कि लेखक ने शास्त्र-विवेचन में कोई निश्चित दृष्टि

दृष्टेर्व्याप्ति,' रिति "सायणाचार्येण, सर्वतः प्रसृतं चक्षुरिति" लिखता समर्थितमेव ।

निभालयन्तु विवेचका यन्नैका दृक् निश्चिता विवेचने शास्त्रस्य शास्त्रेषु भेदबुद्धिं विश्वसता करपात्रेण. यतोहि स कदाचित् वेदार्थं वेदान्त-दृष्ट्या ग्रन्यत् कदाचिच्च अन्यदृशाऽन्यदेव पश्यति कौशिका-क्षिपुटानेकत्ववत् । अन्यच्च वदतोव्याघातदोषेण तु भूयान् तद्-ग्रन्थ भागो लिप्तः, यथा पूर्वं प्रत्यपादि 'न मनसा ब्रह्म प्राप्यते' आक्षेपदृष्ट्या, अत्र स्वपुष्टयै तदेव प्रस्तौति "मनसैवाऽनुदृष्टव्यम्, दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरित्यादि।' वस्तुतस्तत्रोपनिषदि न भिन्नता, सा तु तव दृष्टौ एव ।

(५५४। अनु० १)—'तत्तु समन्वयात्' इत्यस्य स्वा० दयानन्द कृतमर्थमेव (यमशुद्धमाह) शङ्कराचार्योऽपि पुष्णाति तथा हि :—

"सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ।" इति परिव्राजकाचार्यवर्यः सत्यानन्द सरस्वती अपि च भाषानुवादे "सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य समन्वित तात्पर्य से सिद्ध वस्तु ब्रह्म

नहीं पकडी है, क्योंकि करपात्री जी सभी शास्त्रों में पारस्परिक विरोध मानते हैं। जोकि कभी वेदार्थ की वेदान्त की दृष्टि से तथा कभी ग्रन्य शास्त्र के ग्रर्थ को ग्रन्य का ग्रन्य ही देखते हैं । जैसे उलूक के ग्राँख में कई पुट (परदे) होते हैं उनको वह दिखाता है । दूसरे, वदतोव्याघात दोष से तो ग्रापका सारा ही ग्रन्थ लिप्त है । जैसा कि पहले आपने प्रतिपादन किया ग्राक्षेप दृष्टि से कि मन से ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता । यहाँ पर ग्रपनी बात की पुष्टि के लिए उसी को प्रस्तुत कर दिया कि मन से ही उसे देखा जा सकता है सूक्ष्मदर्शी लोग सूक्ष्मबुद्धि से उसे देखते हैं । वस्तुतः उपनिषद् वाक्यों में भिन्नता नहीं, वह भेद बुद्धि तो ग्रापकी ही है ।

(५५४ ग्रनु० १)—'तत्तु समन्वयात्' २।१।४ इसके स्वा० द० कृत ग्रर्थ की पुष्टि तो शंकर ने भी की है, जिसको ग्राप ग्रशुद्ध कह रहे हैं ग्रौर पता दे रहे हैं । (१।१।४) देखिये

"तु' शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्त्तन करता है कि 'तस्मान्न ब्राह्मणः शास्त्र-योनित्वमिति प्राप्ते उच्यते' तत्तु समन्वयात्' ग्रर्थात् इसलिए ब्रह्म के शास्त्र प्रमाण नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं । वह ब्रह्म वेदान्त शास्त्र से ही

का ज्ञान कराते हैं, वेदान्त वाक्यों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में है।" इतिलिखितवान्। त्वद्वचनरचनावली तु भिन्नैव अशुद्धवचनपरा। विश्वनाथ-मन्दिर-निर्माणवत् 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः, इति लोकोक्ति-मनुध्य। न किमपि वैशिष्ट्यमत्र प्रेक्षावद्भिः तव कथने समुप्लप्स्यते, वाग्जालातिरिक्तम्।

(५५४। अनु० २) आक्षेप :—'अतोऽयमेव परमाऽर्थो वेदितव्यः' इत्यर्थस्तु न सङ्गतः 'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति ··इत्येतन्मन्त्राक्षरबहिर्भूतत्वात्।

समाधानम्—अभिधाधीकरपात्रस्तु तात्पर्यार्थमपि विरुणद्धि! किं नैव प्रथमचरणस्य 'यस्मात् परः उत्कृष्टो नाऽन्यः" इत्यर्थः? अस्य अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः। किं भाष्यं व्याख्यानं वा पूर्व-पठितैरेव शब्दैः प्रकाशयिष्यते तदा तु सूत्र-भाष्याणां वैयर्थ्यापत्तिः स्यात्। मन्त्राक्षर-बहिर्भूतभीतेः। अस्मिन्मन्त्रे तव 'उव्वटेनाऽपि' षोडशी पर-ब्रह्मरूपेण स्तूयते इत्यपि मन्त्राक्षरेभ्योबहिरेवोक्तमेव।

जाना जाता है समन्वय के कारण। सभी वेद वेदान्त वाक्य तात्पर्येण इसी ब्रह्म अर्थ के प्रतिपादन में समनुगत हैं,, परिव्राजकाचार्य स्वा० सत्यानन्द सरस्वती ने समर्थन किया है। अशुद्ध वचन में दक्ष तुम्हारी वचन-रचनावली तो भिन्न ही है। अतः बुद्धिमानों को आपका कथन वाग्जाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

(५५४ अनु० २) आक्षेप—"इसलिए इसी (ब्रह्म) को परम अर्थ के रूप में जानना चाहिए,, यह अर्थ असङ्गत है, क्योंकि 'यस्मान्न' इस मन्त्र के अक्षरों से बहिर्भूत है।

(समा०)--अभिधाबुद्धि श्री करपात्री जी तात्पर्यार्थ का भी विरोध कर रहे हैं क्या यह प्रथम चरण 'यस्मात्' 'जिससे उत्कृष्ट अन्य नहीं है।' इसका ही यह अर्थ नहीं है?

यदि भाष्य अथवा व्याख्या उन्हीं पूर्व पठित शब्दों से ही दुहराई जानी चाहिए तब तो सभी शास्त्र-सूत्र और भाष्यों की व्यर्थता उत्पन्न हो जायेगी। मन्त्र के अक्षरों से बहिर्भूत होने के डर से। इस मन्त्र में तुम्हारे आचार्य उव्वट का 'षोडशी परब्रह्म रूप से स्तुत है' यह कथन मन्त्राक्षर से बहिर्भूत है तथा

महीधरेणापि "षोडशकलात्मकलिङ्ग-शरीरोपहितः स एव सर्वव्यवहाराश्रय" इत्यर्थोऽपि वहिस्तादेव गृहीतः इति मन्तव्यम् तदेवं विपर्ययार्थ निष्कोषणमतेस्तवेयं कुटिल-कुशाग्रधीस्तु अद्भुत-सङ्ग्रहालये एव विनिवेश्या, यैवं विचित्रं तात्पर्यं कल्पयते।

"यस्मात् परः उत्कृटो न प्रकटः अर्थात् उत्कृष्टः कश्चिदप्रकटोऽस्ति।" इति तथैव किम् उवटस्यापि भाष्ये भवान् कल्पयिष्यते ?" उत्कृष्टो जातो देवो नास्ति" अर्थात् "उत्कृष्टो जातो राक्षसोऽस्ति ?" एवमेव "भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यस्य ध्वन्यर्थो भवता एवमपि कल्पयितुं शक्यते" यद् "भूतस्य अप्रसिद्धास्तु अनेके पतयः आसन् इति।" विचक्षणाः विचारयन्तु नाम "योऽर्थो नाद्याऽवधि केनाऽपि ऋषिणा ज्ञातः ? कथमसौ कल्प्यतेऽनेन।

'यस्मान्न जात'—इत्यस्मिन् मन्त्रे उव्वटेन 'प्रजया क्रीडन्' मही-

---

महीधर का 'षोडश कलात्मक लिङ्ग शरीर से उपहित वह ही सर्व व्यवहारों का आश्रय है।, यह कथन भी मन्त्र के बाहर का है। अतः उलटे अर्थ का निष्कासण करने वाली आपकी यह कुटिल कुशाग्रबुद्धि तो अद्भुत संग्रहालय में रखने योग्य है, जो विचित्र तात्पर्य की कल्पना करती है।

'जिससे उत्कृष्ट कोई प्रकट नहीं है, ऐसा कहने से यह विरुद्ध प्रतीति भी हो सकती है कि उससे उत्कृष्ट कोई अप्रकट अर्थ विद्यमान है।,

मैं आपसे पूछता हूं कि जैसे आप स्वा० दयानन्द के वाक्य को उलटा कर रहे हैं तो क्या उव्वट के भाष्य को भी उलटेंगे ? उवट ने कहा है 'उत्कृष्ट प्रसिद्ध देव नहीं है' तो क्या 'उत्कृष्ट प्रसिद्ध राक्षस है, क्या यह कल्पना करेंगे ? और क्या इस प्रकार—

'भूत का प्रसिद्ध एक पति है या था तो क्या इसका ध्वन्यर्थ आप 'भूत के अप्रसिद्ध अनेक पति थे' यह औंधी कल्पना करेंगे ? निष्पक्ष लोग विचार करें जो कल्पना आज तक अर्थ में कोई ऋषि करने में समर्थ नहीं हुआ, वह आप कर रहे हैं। आपके मत में तो यह वाक्य भी ध्वन्यर्थ में बदल कर हो जायेगा कि जिस अर्थ की कल्पना आज तक किसी ऋषि ने की नहीं अर्थात् सक्षम ने तो की है।

'यस्मान्न— इस मन्त्र में उवट ने 'प्रजा से खेलता हुआ' और महीधर ने 'प्रजारूप से रममाण' यह अर्थ किया है। क्रीडनशील और रमणशील आपका

धरेण "प्रजया प्रजारूपेण रममाणः, कृतोऽर्थः । क्रीडनशीलोरमणशी-लश्चेति तवैव विग्रहवान् कल्पित ईश्वरः । ऋषिणा तु योग-दृष्ट्या अपूर्वार्थ एव उद्भापितः तथाहिः—"सर्व-प्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् ण्यन्त-रम्-धातोः संरमयमाणः" इत्यर्थः, न तु स्वयमेव सुखं भुङ्क्ते, आनन्दस्वरूपत्वात्, जीवेभ्य आनन्द-वितरणाच्च ।

यश्च 'प्रजा' शब्दस्य सृष्टिरेवार्थः ऋषिणा कृतस्तत्रप्रमाणम, यत् किमपि प्रजायते तत् सर्वं प्रजा, यौगिकोर्थः सृष्टिरेव । उत्पत्त्यर्थे प्रजा प्रयोगः " ऋग्वेदे (१०।७२।९) मन्त्रे दृष्टव्यः सृष्ट्यर्थे च प्रयोगस्त-वैव विष्णु-पुराणे (प्रजा शब्दस्य) यथा—

"स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्म श्चतुर्विधाः । (१।५।२९) । प्रजापतिः प्रजासृड् विश्वसृडिति पर्याया एव, किंच विश्व-सर्जनं सृष्टिर्न बिद्यते ? इदं हि पांडित्यम्कि ? यत् संयोजनम् न अवबुध्यते ज्योतिषा। किं पाडित्यमेतावदेव यत् सामान्यसृष्ट्या सह अग्न्यादिविशिष्ट सृष्टेः सङ्गतिं कर्तु मनर्हो भवान् ।

ही शरीरधारी कल्पित ईश्वर है । ऋषि की यौगिक प्रतिभा से अपूर्वार्थ का उद्भासन हुआ कि 'सब प्राणियों को अत्यन्त सुख दिया' यहां ण्यन्त रम् धातु से सम्पूर्वक रमयमाण शब्द बनाया अर्थात् वह स्वयं ही सुख नहीं भोग लेता । क्योंकि वह तो स्वयम् आनन्दस्वरूप है, जीवों के लिए अनानन्द का वितरण करता है ।

आप कहते हैं कि प्रजा पद का अर्थ 'सृष्टि' बिना प्रमाण के कर दिया, महोदय ! रूढ़ि बुद्धि को छोड़कर वेद में यौगिक वृत्ति से सोचिये कि जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह सब 'प्रजा' शब्द वाच्य है अतः सृष्टि भी अर्थ है । उत्पत्ति के अर्थ में 'जायै मृत्यवेत्व पुनर्मार्ताण्डमाभरत् (ऋग्' १०।७२।९) में, है प्रजा शब्द का सृष्टि के अर्थ मे तुम्हारे विष्णु पुराण में है देखिये 'सुरों से स्थावर पर्यन्त चार प्रकार की सृष्टियाँ हैं' क्या विश्वसर्जन समस्त सृष्टि रचना नहीं है । आपका यही पाण्डित्य है कि आप कहते हैं सृष्टि के साथ ज्योतिकासंयोजन भी असङ्गत है क्योंकि ज्योति भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है ।

आपका पाण्डित्य बस इतना ही है कि आप सामान्य सृष्टि के साथ अग्नि आदि विशिष्ट सृष्टि की संगति नहीं लगा पाये ।

ऋषिणोक्तम् 'अग्नि-सूर्य-विद्युदाख्यानि अन्यसृष्ट्या समवेतानि करोति' अर्थात् शिष्टा सृष्टिः समवायसम्बन्धेन स्थिता "नैतैर्ज्योतिर्भिविनां शेष-सृष्टि-स्थितिः सम्भाव्यते इति रहस्यम्, सृष्टौ एतेषामन्तः स्यूतत्वात् । यथा च सर्वत्र जगत् सृष्टं प्रजापतिनेत्युक्तौ अपि जगति किं किं वर्त्तते इति विवरणं वेदादि-शास्त्रेषु ज्ञानायैव प्रस्तूयते, तथैव नेह पुनरुक्तिः । सृष्टि-शब्देन पूर्वं-दृश्यमान-जगतो वर्णनं, तदनु कला-सौक्ष्म्यनिर्मितिस्तु सूक्ष्मा । गोतमस्तु एवंविधे स्थले अनुवादमाह "अनुवादे तु अपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थ-विशेषोपपत्तेः" (न्या० ५।२।१५) निष्प्रयोजनं पुनरभिधानं हि पुनरुक्तम्, अनुवादस्तु व्याख्यारूपः सः सप्रयोजनक इति भावः ।

यदुक्तं 'ज्योतिषामपि सृष्ट्यन्तर्गत्वात्-कथंपुनः ज्योती रचनोक्तेति तन्नयुक्तं, सामान्येन गृहीतेऽपि तस्मिन् ज्योतिषो वैशिष्ट्य-प्रतिपादनाय पृथगुक्तेः, यथोक्तं कैयटेन "वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानम् । यथा-ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति वसिष्ठस्य ।"

ऋषि ने कहा कि अग्नि आदि को अन्य सृष्टि के साथ समवेत करता है अर्थात् शिष्ट (शेष) सृष्टि समवाय सम्बन्ध से स्थित है इन ज्योतियों के बिना शेष सृष्टि स्थिति की सम्भावना नहीं। यह रहस्य है। क्योंकि समस्त सृष्टि में अग्न्यादि की शक्तियाँ अन्तः स्यूत हैं। 'प्रजापद से सृष्टि अर्थ लेने पर षोडश कलाओं की सृष्टि भी तदन्तर्गत हो गई, "पुनः कथन दोष युक्त है" यह आपका आरोप ठीक नहीं, क्योंकि जैसे सब जगत् प्रजापति ने बना दिया अब वित्ररण के साथ 'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजा वयः, इत्यादि विवरण वेदशास्त्रों में किया है, यह सब पुनरुक्ति नहीं है।

सृष्टि शब्द से पहले दृश्यमान स्थूल जगत् की उत्पत्ति कही गई है फिर ईक्षण, प्राण, श्रद्धा आदि सूक्ष्म कलात्मक जगत् की भी उत्पत्ति कही गई है गोतम ऋषि ऐसे स्थलों पर पुनरुक्ति नहीं, प्रत्युत अनुवाद मानते हैं (५।२।१५) निष्प्रयोजन अभिधान ही पुनरुक्ति होता है विशेषार्थाभिधायक व्याख्यान रूप अनुवाद है जो प्रयोजन सहित है।

यह जो कहा कि सृष्टि के अन्तर्गत ज्योतिः अग्न्यादि भी आगये पुनः

(५५५ अनु० १।२)--महीधर-भाष्यमुद्धृतमविकलम् रूढ़ि-कीलक-बद्धबुद्धिना भवता, न किमपि मौलिकोन्मेषणम् कृतम् सत्त्वमति योगाद्यनुष्ठानाभावात्। अहो, चमत्कृतिस्ते मतेर्यत् "सर्व-वेद-तात्पर्य-विषय-बोधकं शब्दं मार्गयते यते!" सर्वेषां वेदानां ब्रह्मबोधने तात्पर्य-माख्यातं तथा च निदर्श्यते स्वामिना मन्त्र एषः "यस्मान्न जात, इति त्वयाऽपि अङ्गीक्रियते "एवं तत्तत्-कर्माङ्गरूपेण परमेश्वर एव स्तूयते - ···प्रतिपद्यते," इति।

आक्षेप :—यच्च 'तदपि न सङ्गतमिति-वचनचतुर :—आक्षिपति "ओमित्येतद् यस्य नामास्तीत्येतस्यादक्षरत्वात्। इह चोमित्यस्याक्षरत्वं प्रतिपाद्यते। यच्चराचरं जगदश्नुते, अस्यैव सर्वं वेदादिभिः शास्त्रैः व्याख्यानं क्रियते इति व्याख्यानस्य किं मूलम्?"

उनका संयोजन क्यों कहा गया, यह आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि अग्न्यादि का सामान्य सृष्टि में ग्रहण होने पर भी ज्योतिः का वैशिष्ट्य के कारण पृथक् रचना-कथन किया गया। कैयट्ट ने भी लिखा है कि वैदिक शब्दों के भी लौकिक शब्दों में आ जाने पर भी प्राधान्येन पृथक् उपादान किया गया जैसे, 'ब्राह्मण आ गये और वसिष्ठ भी आ गये' का प्रयोग करते हैं।

(पृ० ५५५ अनु० १) रूढ़ि के खूंटे से बद्धमति आपने महीधर का अविकल भाष्य उद्धृत किया पर इससे मौलिक उन्मेषण कुछ भी नहीं हुआ, क्योंकि महीधर आदि तथा आप सत्त्वगुणमयी मति और योगानुष्ठान से शून्य हैं। आप लिखते हैं कि यद्यपि इस (यस्मान्न) मन्त्र में 'ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता, सारे जगत् की प्रकाशकता, सर्वरूपता, सर्वव्यवहारों की आश्रयता और लोकोत्तर गुण विशिष्टता बताई गई है, पर ब्रह्म की सभी वेदों की तात्पर्य-विषयता का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, तथापि ऋषि दयानन्द द्वारा निष्कृष्टार्थ 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' का तात्पर्यभूत है। अतएव उन्होंने कहा 'वेदों का मुख्यार्थ परमेश्वर और गौणार्थ जगत् है।'

पृ. ५५५ अनु.२) आक्षेप:—"वेदों में परमेश्वर का मुख्यार्थ और जगत् का गौण अर्थ है,, यह कथन भी संगत नहीं। यहाँ पर ओ३म् यह जिसका नाम है इस अर्थ को व्यक्त करने वाली यहाँ कोई शब्दावली नहीं। यहां पर 'ओ३म्' की अक्षरता का प्रतिपादन है जो चराचर जगत् की व्याप्ति करता है और इसी का वेदादिशास्त्रों में व्याख्यान किया जाता है। इस व्याख्या का क्या आधार है? यह भी बताना पड़ेगा।"

(समाधानम्)—व्याख्यानम् तु विशिष्टम् आसमन्तात् ख्यानं प्रकथनम् भवति। यत्र तत्तद्व्याख्येय-सम्बन्धि-विवरणं प्रस्तूयते। "यच्चराचरमश्नुते, इत्यस्य मूलं त्वक्षर-शब्द एव। तथा च महाभाष्ये- "अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्" अक्षरस्याश्नोतेरप्युत्पादनात्। शिष्टस्य मूलं तु पूर्वमुक्तं 'सर्वे वेदा: यत् पदमामनन्ति इत्यादि, ओमित्येतद् यस्य नामास्ति' इति व्याख्यान-मूलम् ऊहात्मिका मतिरेव ऋषेः। तथा 'ओमिति वाचकम्, वाच्यं च ब्रह्म" "सर्वं हीदं नामनि" इत्यनुसृत्य चाऽस्ति।

शङ्कराचार्योऽपि अनयैव दिशा व्याचष्टे "यद् इदमर्थजातमभिधेयभूतम् तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्वम्" (माण्डू० १।१।)। एवम् भवान् निरर्थकमसङ्गतं च विमर्शति सर्वत्र।

अत्र चतुर्मात्रोङ्कारशब्देन ब्रह्मणोऽभिधेयस्यैव प्राधान्येन तात्पर्यम् असन्दिग्धम्।

यदुक्तं 'यदि ह्यत्र ओमिति पदेन परमात्मरूपोऽर्थो जिघृक्षितः स्यात् तदा ओमिति पदात् कार प्रत्ययो न स्यत्, वर्णादेव कार प्रत्ययस्य व्याकरणे विधानात्", इति तु ते व्याकरणानभिज्ञत्व

(समा०) व्याख्यान का अर्थ है विशेषतया सम्यक् कथन, जिसमें व्याख्येय-सम्बन्धी वाञ्छित विवरण प्रस्तुत किया जाता है। महाभाग, जो चराचर को व्याप्त करता है' इस अर्थ (व्याख्या) का मूल तो 'अक्षर' शब्द में ही निहित है जैसा कि महाभाष्य में कहा है 'अशू व्याप्तौ' धातु 'से सर' प्रत्यय करने पर 'अक्षर' शब्द बनता है। शेष अर्थ का मूल पूर्वत्र 'सर्वे वेदा: यत्पदमामनन्ति' इत्यादि में है ही 'ओ३म्' यह जिसका नाम है, इस व्याख्या का मूल ऋषि दयानन्द की अपनी ऊहात्मिका बुद्धि है क्योंकि 'ओ३म्' वाचक है और ब्रह्म वाच्य है।

आचार्य शंकर ने भी इसी दिशा से व्याख्या की है कि यह समस्त अर्थ जो अभिधेय है वह अभिधान (नाम) से पृथक् नहीं और अभिधान ओंकार से भिन्न न होने से ओंकार ही सब कुछ है।' (माण्डू० १।१) इस प्रकार सिद्ध है कि आप सर्वत्र ही निरर्थक और असङ्गत कहने में अभ्यस्त हैं।

यहाँ पर चतुर्मात्र ओंकार पद से अभिधेय ब्रह्म का तात्पर्य असंदिग्ध है। यह कहना कि 'यदि यहां 'ओ३म्' पद से परमात्मा का अर्थ विवक्षित होता तो

सूचकम्, एवेत्यवधारणार्थकस्य पाठात्। भोः, 'उच्चै स्तरां वा वषट्-कारः, इति लिङ्गात् समुदायादपि कार-प्रत्यय-विधानात् इहापि-प्रत्ययः ।।

(५५६ पं० ८) शङ्का—नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवति" इह 'अग्र'—इत्यस्य, पूर्वकालावच्छेदेनाप्रधाने, उत प्रधानसम्मुखीनेऽप्रधाने, अथवा प्रधानस्य पर-कालाऽवच्छेदेनोपस्थितेऽ प्रधाने कार्यं न भवति, इत्येतेषु कतमोऽर्थोऽभीष्टः ?

(समा०)—सरलतायामपि दुःख-बोध्यतोपपादनप्रकृतिस्ते, अत्र स्पष्ट एवार्थोऽस्य यद् यत्र प्रधानस्य अवलम्बनं विषयो वा उपतिष्ठति नैव तत्पुरस्तात् अप्रधानस्य ग्रहणं भवतीति। तदेवं भवतामेषैव स्थितिर्यत्—वस्तुतः,

पिपासितो गतो गङ्गां, स्रोतःपार्श्वस्थितोऽपि सन् ।
गूढाज्ञानादपश्यन् तत् निकषा पर्वतं खनेत् ।।

इस पद से कार प्रत्यय न होता, क्योंकि व्याकरण में वर्ण से कार प्रत्यय का विधान है।' ठीक नहीं, क्योंकि इससे आपकी व्याकरण शास्त्र की अनभिज्ञता ही प्रकट होती है जो कि आप यहाँ पर 'एव' अर्थात् ही' का प्रयोग कर रहे हैं।

देखिये, 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' इस पाणिनीय सूत्र में वषट् शब्द से 'कार' प्रत्यय से ध्वनित है कि वर्णसमुदाय से भी 'कार' प्रत्यय होता है।

(पृ० ५५६ पं. ८) आक्षेप—प्रधान के आगे अप्रधान का ग्रहण नहीं होता। यहाँ 'अग्रे' शब्द का सम्बन्ध कैसे होगा ? पूर्वकालावच्छेदेन अप्रधान में कार्य नहीं होगा, यह इसका अर्थ है अथवा 'प्रधान के सम्मुख अप्रधान में कार्य नहीं होता' यह अर्थ है अथवा वांचिइये' अब समय बीत गया, आगे स्पष्ट होगा' इत्यादिवत् प्रधान के परकालावच्छेदेन उपस्थित अथवा अप्रधान में कार्य नहीं होता' इन सब पक्षों में कौन सा पक्ष अभीष्ट है ?

(समा०) सरलता में भी कठिनता और दुःखबोध्यता उत्पन्न करना करपात्री जी की प्रकृति है क्योंकि देखिये, यहाँ पर यह अर्थ स्पष्ट है कि जहाँ प्रधान का अवलम्बन या विषय उपस्थित हो, वहाँ उससे पहले अप्रधान का ग्रहण नहीं होता।' पर करपात्री जी की तो वही स्थिति है कि कोई प्यासा

तद्वदग्रपदस्यार्थम् अविचिन्वन् भवानिह वर्त्तते । शब्दकल्पद्रुमेऽन्विष्यात् "पुरस्तादवलम्बनम्" इति । एवम् हिन्द्यामपि व्यवहारः 'आगे' इति, तस्यैव संस्कृतमत्र विलिखितम् । किञ्च 'अग्रे' इत्यस्य अन्यापेक्षप्रमुखतायामपि प्रयोगो भवति ।

स एष : कथं स्वबहुविकल्पजल्पना-सिकता-राशिं सञ्चित्य मुधैव मुग्धः श्राम्यति तैलार्थनिःसारणाय । उन्मत्तः स्व-शिरसि कृत-कुठार प्रहारमन्य—शिरसि कल्पयते । इह तु तवैवाग्रशब्दार्थानभिज्ञता सिद्धा । त्वदनुवादकेनाऽपि 'यदपि' इत्यस्यार्थः 'आगे' इति किमभिप्रेत्य विहितोऽत्र ? इह तु 'नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हतीत्यत्र तु 'अग्रे' इति सम्बन्धः समाहितः ।।

शङ्का (पृ० ५५६ पं० २५) यदुक्तं "प्रधानाऽप्रधानयोरित्यादि-परिभाषया-साधक-हेतुत्वेनोपन्यासोऽपि वृथैव" नैतत्महाभाष्यीयं च वचनमिति ।

(समा०) यथोत्तरं-मुनीनां प्रामाण्यस्य बलीयस्त्वात् प्रधानाऽप्रधानयोः प्रधान एव कार्य-संप्रत्ययः इति परिभाषाया अपि भगवता

गंगाप्रवाह के पास खड़ा हुआ भी अज्ञानवश पर्वत पर कुआ खोदने के लिये चल दे ।

महाराज ! इसी प्रकार 'अग्र' पद के अर्थ को न समझने के कारण आपकी यह दशा है । शब्दकल्पद्रुम कोष में 'पुस्तादवलम्बनम्' यह अग्र शब्द का अर्थ लिखा है और आपने हिन्दी में 'आगे' यह स्वयं लिखा ही है । तथा अन्यापेक्ष-प्रमुखता में भी अग्रे शब्द का प्रयोग होता है ।

खेद है इस प्रकार यह लेखक न जाने क्यों बहुत से विकल्पों का जल्पन कर रहा है जो बालू से तेल निकालने के सदृश व्यर्थ प्रयास है । इसके अनुवादक ने भी 'यद्यपि' इसका अर्थ 'आगे' यह क्या सोचकर लिखा है ? अतः 'अग्रे' पद के स्पष्टार्थ में इतना प्रपञ्चरचन व्यर्थ है ।

शङ्का-(पृ० ५५६ पं २५)—यह कथन कि 'प्रधानाऽ प्रधानयोः' इस वाक्य को अभीष्ट साधक हेतु रूप में स्थित करना भी व्यर्थ है, क्योंकि यह महाभाष्य का वचन न होकर परिभाषा है ।

समा०—यथोत्तर मुनियों का प्रामाण्य बलवत्तर होता है । उक्त 'प्रधाना

पतञ्जलिना मान्यता-प्रामाण्ये गौरवमाकलय्य महाभाष्य-वचन-प्रामाण्यादित्युक्तम्, तद् उचिततरमेव । अस्मिन् पाठे महाभाष्ये वचनस्य परिभाषारूपस्य प्रामाण्यादित्यर्थे सति नास्ति शङ्कावकाशः । यद्यपि नेदं महाभाष्यीयं वाक्यं परं तत्रोद्धृतं वचनमस्तीत्यभिप्रयणात् तथोक्तम् । यदि नाम प्रधानाप्रधानयोः प्रधान-कार्य-सम्प्रत्यये महाभाष्यीयमेव वचनमभीष्टं भवता, तदा तु निभालयतु तावत् प्रधाने एव च कृतो यत्नः फलवान् भवतीति' (म० भा० १।१।१) अप्रधानत्वात्, न खल्वपि एतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते इति (व्या० म० भा० १।१।२) ।

मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमित्यत्र 'मुख्य' द्वय-प्रयोगस्य प्रयोजनं वालोऽप्यवगन्तुं समर्थः, वेदे बहूनि तात्पर्याणि मुख्यानि सन्ति, तत्राऽपि मुख्यत्वं तावदीश्वर-सम्बन्धिन एव तात्पर्यस्य, यतो हि वेदानां प्रतिपाद्योऽयमीश्वरो मुख्यः ।

प्रधान' परिभाषा की प्रामाण्य मान्यता में पतञ्जलि मुनि ने गौरव देखा है, अतः ऋषि दयानन्द ने भी इसे यहाँ प्रामाणिक मानना उचित समझा । वास्तव में आपने छल से भूमिका के पाठ को सही प्रस्तुत नहीं किया । आपने लिखा 'महाभाष्य के प्रामाण्य से' पर भूमिका में पाठ है महाभाष्य में इस परिभाषा रूप वचन के प्रामाण्य से । अतः इसमें कोई शङ्कावकाश रहता ही नहीं । यहाँ यही अभिप्राय है कि यह महाभाष्यकार का तो वचन नहीं, पर महाभाष्य में उद्धृत वचन है ।

यदि 'प्रधानाप्रधान' में प्रधान में कार्य-सम्प्रत्यय में महाभाष्य का ही प्रमाण वचन चाहते हो, तो देखिये, 'प्रधान में किया हुआ यत्न ही बलवान् होता है अर्थात् अप्रधान में किया यत्न फलवान् नहीं होता । यहाँ 'दधि+णकारीयति' में प्रश्न उठा कि 'इकोयणचि' से णकार परे होने पर अचों में आ जाने पर भी यण् क्यों नहीं होता, इसका समाधान मुनिवर पतञ्जलि देते हैं । अचों में 'अनुबन्धों' का प्राधान्येन उपदेश नहीं अप्रधानतया उपदेश है, अतः यण् नहीं होता ।

'मुख्य अर्थ में मुख्य तात्पर्य' दो 'मुख्य' शब्द ग्रहण पर आप कहते हैं कि दो बार मुख्य शब्द क्यों पढ़ा ? इस प्रयोग का कारण तो बालक भी समझ सकता है कि वेद में बहुत से मुख्य अर्थ हैं उनमें मुख्यता ईश्वर सम्बन्धी तात्पर्य की ही है क्योंकि वेदों का प्रतिपाद्य यह ईश्वर मुख्य है ।

आक्षेपः (पृ० ५५७ पं० ५) 'तदुपदेश-पुरस्सरेण इति कस्य विशेषणं ? न कर्त्तुः, न कर्मणः, न प्रयोजनस्य न वा क्रियायाः विशेषणं सम्भवति। आद्यानां त्रयाणां विभिन्नविभक्तिकत्वेन सम्बन्धाऽभावात्। क्रिया-विशेषणे तु नपुंसकत्वैकवचनत्वापातात्।

(समा०) 'तदुपदेश-पुरस्सरेण' इत्यत्र तु 'मनसा' इति विशेष्यं विवक्षितम्। तदुपदेशपुरस्सरैरेव इति वा पाठः, ततश्च वेदै रित्यस्य विशेषणम्। 'मनसा' इति विशेष्यमध्याहार्यं वा। यदुच्यते- "प्रकरण-रूपाणां काण्डानामनुष्ठानाऽसम्भवात्" इति, तत्तु अबोध-विजृम्भितम्, अनुष्ठानशब्दस्य तु

व्यवस्थापन चर्चा च, आनुरूप्योपपादने।
अनुशीलनमभ्यासो ऽनुष्ठानमुपयोगिता॥

इत्येतावदर्थवत्त्वात्। किञ्चैतेष्वर्थेषु न कतमप्यर्थं ते मति-रभ्येतीत्याश्चर्यं महत्। कथं च नाम न कर्मादीनामनुष्ठान-सम्भवः उपयोगितार्थस्तु सर्वथा घटते एव।

कर्मणा ज्ञानेन उपासनया च पारमार्थिक-व्यावहारिक-फलसिद्धि-र्जायते इत्येवं त्रयाणामुपयोगः आत्मनः प्रयोजन-साधनाय, पर-प्रयोज-नाय तु उपकारस्य करणीयत्वेन विशिष्टोपादानमत्र विज्ञेयम्, अतएव

आक्षेपः—'तदुपदेश पुरः सरेणैव—' इत्यादि में यह तृतीयान्त कर्त्ता, कर्म, प्रयोजन और क्रिया का तो विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम तीन से विभक्ति भिन्नता के कारण संबंध नहीं; और क्रिया—विशेषण मानने पर नपुंसक लिङ्ग तथा एक वचन होना चाहिए।

समा०—महोदय ! इस तृतीयान्त के बाद 'मनसा' या वेदेन या ज्ञानेन यह विवक्षित या अध्याहृत है।

यह कहना कि 'प्रकरण रूप काण्डों का अनुष्ठान सम्भव नहीं,' अबोध विजृम्भण है। क्या 'व्यवस्थापन चर्चा आनुरूप्य उपपादन, अनुशीलन, अभ्यास, उपयोगिता से इन अनुष्ठानों में आपकी मति से कोई अर्थ घटित नहीं ? आश्चर्य है। क्या कर्मादिकों की उपयोगिता नहीं है ?

कर्म, ज्ञान और उपासना से पारमार्थिक और व्यावहारिक सिद्धि तो होती ही है। इस प्रकार कर्मादि तीनों का उपयोग आत्म-प्रयोजन साधन के लिए

आर्य-समाज-नियमेषु ऋषिरसौ समादिशत् "अपनी ही उन्नति से सबको सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये", अथवा काण्डशब्दस्य विषयोऽर्थोऽत्र प्रस्तावो वा ग्राह्यः, परं नैतस्य भावस्योदरम्भरीणां कृते महत्त्वं किञ्चित् । अतः बोध्यमिद यत्

सर्वथैव तु निर्मूलम् अत्रेदं वचनं तव ।
विशुद्धमनसा ध्येयं, समाधानं कृतं मया ॥

(पृ० ५५७ अनु० १) (पू० प०) "नैतेन (कर्मकाण्डेन) बिना विद्याभ्यास-ज्ञाने पूर्णे भवतः" । अत्राक्षेपः यन्नैतयोः स्वरूप-निरूपणं कृतं, न विद्या-पदेन 'ज्ञानमिति (वक्तुं) ग्रहीतुं शक्यते, ज्ञान-शब्द-पाठस्य वैयर्थ्यापत्तेः, न चोपासनाऽर्थेऽपि प्रयुक्तोऽसौ ।

(समा०) समेषां शब्दानां यथाप्रकरणं तत्र तत्र स्वरूप-निरूपणं विहितमास्ते । अन्य-शास्त्राश्रयणे तु नहि प्रतिपदस्य स्वरूप-निरूपणं

है, पर प्रयोजन में उपकार की कर्त्तव्यता से विशेष उपपादन है । इसीलिये ऋषि ने आर्य समाज के नियमों में लिखा 'अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए' । अथवा काण्ड शब्द का अर्थ भी, विषय या प्रस्ताव लिया जावे परन्तु इस उत्तमभाव का महत्त्व उदरम्भरियों को नहीं । महाराज !

'यह आपका वचन सर्वथा निर्मूल है, विशुद्ध मन से ध्यान कीजिये । मैंने सभी शङ्काओं का समाधान कर दिया ।'

(पृ० ५५७/अनु० १)-पूर्वपक्षः—'इस कर्म काण्डके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होते' इस पर आक्षेप है कि विद्याभ्यास और ज्ञान का स्वरूप निरूपण नहीं किया । विद्या पद से ज्ञान का अर्थ नहीं कहा जा सकता है, यदि हाँ तो ज्ञान शब्द का पढ़ना व्यर्थ हो जायेगा । ज्ञान शब्द यहाँ उपासना अर्थ में भी प्रयुक्त नहीं हुआ ।

समाधान— सब शब्दों का यथा-प्रकरण वहाँ-वहाँ स्वरूप निरूपण किया गया है, अन्य शास्त्रों में कृत स्वरूप-निरूपण का भी आश्रय न लेना ठीक नहीं, प्रतिपद का स्वरूप-निरूपण सर्वत्र सम्भव भी नहीं है । जैसा कि यहाँ आपने भी स्वरूप और निरूपण शब्दों का यहाँ स्वरूप निरूपण नही किया है । अतः

सम्भवति। यथा च न भवताप्यत्र स्वरूप-निरूपणयोरपि स्वरूप-निरूपणं परिभाषितम्, अतो नावश्यकः सव्याख्यान-प्रतिपद-पाठः, तत्तदर्थानां शब्दानां शास्त्रेषु प्रसिद्धत्वात् तथा चान्येषु विद्यार्थेषु सत्स्वपि।

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा-न्याय-विस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थ-शास्त्रं चतुर्थं च, विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥

एतासु ज्ञानशब्देन न गतार्थता।

शङ्का—कर्मकाण्डेन ययोः पूर्तिः तयोः किं प्रयोजनम् ? (समा०) विद्याभ्यासेन पूर्वं चञ्चलवृत्ति-निरोधस्ततो ज्ञानेन मोक्षः, अतः मोक्ष एव तयोः पूर्त्याः फलमिति विज्ञेयम्।

परं भवन्मते तु 'अपि चेत्सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य······

इत्यादिना वचनेन गीतानुसारं-सुदुराचारोऽपि मोक्षभाक् भवितु-मर्हति !

सर्वत्र व्याख्यान सहित प्रतिपद पाठ आवश्यक व सम्भव नहीं है, क्योंकि उन-उन शब्दों के अर्थ उन-उन शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार विद्या के अन्य-अन्य अर्थ होने पर भी, षडङ्ग, वेद, मीमांसा, न्याय, धर्म शास्त्र, पुराण ये चौदह तथा ३ उपवेद और अर्थशास्त्र मिलाकर ये अट्ठारह विद्यायें होती हैं। इनकी ज्ञान शब्द से गतार्थता नहीं, अतः आपका आक्षेप निःसार है।

शङ्का—कर्मकाण्ड के द्वारा जिन दोनों की पूर्ति होती है, उनका क्या प्रयोजन है ?

समा०—अभ्यास के द्वारा आप सदृशों की चञ्चल कुटिल वृत्तियों का निरोध होगा, तब ज्ञान के द्वारा मोक्ष भी सम्भव हो सकता है। क्योंकि गीता में 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्य' ऐसा आश्वासन भी दिया गया है।

वस्तुतः यहाँ पर ऋषि का अभिप्राय है कि 'न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् मन बिना कर्म किये नहीं रहता। बाह्य तथा आभ्यन्तर क्रिया में

महर्षेस्त्वत्रायमाशयः यत् मनः न जातु अकर्मकृत् तिष्ठति बाह्याभ्यन्तर-क्रियायामवश्यं युक्तं भवति अतः कर्मकाण्डे विद्याभ्यासेन पूर्वं तन्निरसनमावश्यकमतस्तव व्याप्तेः पक्ष-धर्मतायाः प्रश्न एव न सङ्गच्छते, कर्मणस्तु हेतुत्वं विद्याभ्यास-ज्ञानयोः पूर्त्तौ सुस्पष्टमेव, यतोहि कर्मणा विना न तयाः सम्भवः। शिष्टं तु गुरुसन्निधावध्येतव्यम्।

(पृ० ५५८ अनु० १) आक्षेपः—'तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः,……स चानेक-विधोऽस्ति, परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः इत्यत्र 'तु' च' शब्दयोः प्रयोगो निरर्थकः। किञ्च 'एकः पुरुषार्थ-सिद्ध्यर्थोऽर्थाद् य ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना-ऽऽज्ञापालन-धर्मानुष्ठान-ज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते' इत्यत्र वाक्ये 'प्रवर्तते' इत्यस्य किं कर्म ? कश्च कर्त्ता ? यदि चैको भेदो मोक्षमेव साधयेतुं प्रवर्तते, तदा भेदस्य मोक्ष-साधनता न सम्भवति, तस्याः चेतन-धर्मत्वात्।

(समा०)—कक्षायां मन्दमतेश्छात्रस्याऽवबोधनं दुष्करं, विशेषरूपेण तु तस्य योऽल्पबोधः सन् विषयं ग्रहीतुं न यतते, प्रत्युत दुर्वचनैः

अवश्य युक्त रहता है, अतः कर्मकाण्ड में विद्याभ्यास के द्वारा मन का नियमन परमावश्यक है। 'तुम्हारी व्याप्ति (पक्ष धर्मता) का प्रश्न ही सङ्गत नहीं होता' कर्म की हेतुता विद्याभ्यास और ज्ञान की पूर्ति में स्पष्ट ही है, क्योंकि बिना कर्म के उन दोनों की सम्भावना नहीं, शेष गुरु-मुख से सुनिये।

(५५८।अनु० १)-आक्षेप—'और' 'वह (कर्म) अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं'।

यहाँ पर 'तु' 'च' शब्दों का प्रयोग निरर्थक हैं। भूमिका में एक (कर्म भेद) पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अर्थात् जो ईश्वर की स्तुति आदि से मोक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होता है, इसमें 'प्रवर्त्तते' इस क्रिया का कर्म क्या है ? कर्त्ता कौन है ? वह प्रतीत नहीं होता। यदि एक भेद ही मोक्ष साधन के लिए प्रवृत्त होता है तो भेद की मोक्ष-साधकता सम्भव नहीं, क्योंकि साधकता चेतन का धर्म है।

समा०—कक्षा में मन्दमति छात्र को पढ़ाना सर्वथा दुष्कर है अथवा उसको तो और भी कठिन है, जो अल्प-बोध होता हुआ ज्ञान ग्रहण का प्रयास तो न करे, उल्टा दुर्वचन और कुतर्कों से कक्षा में अनुशासन-हीनता पैदा करे

कुतर्क-प्रश्नै श्चाव्यवस्थामुत्पादयते, एवमेव करपात्रोऽपि निरर्थककुतर्ककर्त्तर्या क्षौमं शाणं वेति अविचिन्वन् कृन्तति। सत्यं, न धन्वन्तरिरपि चिकित्सितु क्षमते ज्ञानोन्मत्ती-भूतमीदृशम्।

भोः महामते ! प्रथमं त्विह भवता 'तु' 'च' शब्दयोः अशुद्ध एव क्रमः लिखितः । च तु इति क्रमागतववतव्यतायाः वलीयस्त्वस्यापेक्षितत्वात्। विपर्यये पाठे च न कश्चन हेतुरुक्तः ।

द्वितीयं तावत् 'तु' च शब्दयोः निरर्थरकत्व-कथनमयुक्तम्, एतयोः वाक्य-रचनायां विशेषाथ-प्रदानेन सर्वथा सार्थकत्वात्। तथाहि:— 'तु पादपूरणे भेदे समुच्चयेऽवधारणे। पक्षान्तरे नियोगे च प्रशंसायां विनिग्रहे ।। इति मेदिनी, परम् इदमत्रावधेय यत्तु शब्दस्तु नाऽत्र केवलः अपितु 'परं+तु' इति संयुक्त-शब्द-प्रयोगः स च 'तथाऽपि" इत्यर्थे सार्थकः ।

क्योंकि कहा भी है 'ज्ञान लव दुर्विदग्ध' को ब्रह्मा भी रञ्जन नहीं कर सकता' इसी प्रकार निरर्थक कुतर्क की कैंची से श्री करपात्री जी भी 'रेशम है या सन' है' इस बात को बिना विचारे काट रहे हैं। सच है, जान बूझकर उन्मत्तता का अभिनय करने वाले की चिकित्सा धन्वन्तरि भी नहीं कर सकते ।

भो महाबुद्धिमन्, पहले तो आपने यहाँ तु च शब्दों के क्रम ही को अशुद्ध लिखा है क्योंकि क्रमानुसार च तु ऐसा लिखना चाहिए। आपने विपर्यय पाठ में कोई हेतु भी नहीं दिया।

दूसरा आपका तु और च शब्दों का निरर्थक कहना ही अयुक्त है क्योंकि इन दोनों की वाक्य-रचना में विशेषार्थ-प्रदान करने से सार्थकता है। यहाँ यह विशेष जानना चाहिए कि 'तु' शब्द यहाँ अकेला नहीं पढ़ा अपितु 'परं+तु' इस संयुक्तशब्द का प्रयोग है जोकि 'तथापि' अर्थ में सार्थक है। जैसा कि वहाँ प्रसङ्ग है कि वेदों का कर्मकाण्ड नामक दूसरा विषय है वह अनेक प्रकार का है तो भी उसके दो भेद मुख्य हैं। इस प्रकार 'परन्तु' शब्द का 'तो भी' अर्थ में महर्षि का स्पष्ट आशय है।

---

१. 'तु' An adversative partical meaning 'But', 'on the contrary', on the other hand', 'never the less', in this sence तु is often added to कि and परं, and किन्तु and परन्तु are, unlike तु alwags used to the begining of a sentence, (आप्टे कोष)

तथाहिः—तत्र प्रसङ्गः वेदानां द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स चानेकविधोऽस्ति परन्तु (तथापि) अनेकभेदत्वेऽपि तस्य द्वौ भेदौ मुख्यौ इति, तदेवं 'परन्तु' शब्दस्याऽत्र तथाप्यर्थे महर्षेराशयः स्पष्ट एव। एवमेव 'च' शब्दोऽत्र अन्वाचयेऽर्थे[2] वर्त्तते न तु समुच्चये। तथाहि—तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्व-क्रियामयोऽस्ति 'स चानेकविधोऽस्ति' इत्यत्र द्वितीयविषयस्य कर्मकाण्डाख्यस्यप्रधानता, तस्यानेकविधप्रतिपादनस्य च आनुषङ्गिकता चेन द्योत्यतेऽतोऽत्र अन्वाचयः। तदेवं च शब्दः तु शब्दश्चोभौ साथकौ, तयोः विषये निरर्थकौ इति कथनमेव निरर्थकम्।' यच्चोक्तं 'एकः मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते' इति असम्बद्धमेव, प्रवर्तते' इति क्रियापदस्य कर्मानिर्णयात्, इति।' भो महावैयाकरण! 'प्रवर्तते' इति क्रियापदं किं सकर्मकं? यस्य सम्बन्धे भवान् कथयति 'कर्मानिर्णयात्' इति। प्रवर्तनं हि नाम अकर्मकमित्यपि न जानाति किं वेदार्थपारिजातकृद् भवान्? भवतस्तु वराकः हिन्दीकारोऽपि बुद्धिमत्तरः यो हि 'प्रवर्त्तनस्याकर्मकत्वं विजानन् 'कर्मानिर्णयात्' इत्यस्य भवद्-वाक्यस्यानुवादमेव नाऽकरोत्।

यच्चोक्तं 'भेदस्तु अचेतनः स मोक्षं साधयितुं कथं प्रवर्तेत' इति।

इसी प्रकार 'च' शब्द भी अन्वाचय अर्थ में सार्थक है समुच्चय अर्थ में नहीं। जैसे कि- 'वहाँ दूसरा कर्मकाण्ड नामक विषय है जो क्रियामय है और वह अनेक प्रकार का है। यहाँ द्वितीय विषय की प्रधानता और अनेक विध प्रतिपादन की आनुषङ्गिकता है। इस प्रकार च शब्द और तु शब्द दोनों ही सार्थक हैं उनके विषय में निरर्थक कहना ही निरर्थक है।

यह जो कहा कि– 'एक मोक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है' यह असम्बद्ध है क्योंकि 'प्रवर्त्तते' इस क्रिया पद के कर्म का कोई निर्णय नहीं। अजी महावैयाकरण जी, क्या 'प्रवर्तते' यह क्रियापद सकर्मक है? जिसके विषय में आप कर्म के अनिर्णय का प्रश्न उठाते हैं। आप वेदार्थ-परिजात नामक वेदभाष्य करने में प्रवृत्त 'प्रवर्त्तन' क्रिया अकर्मक है इतना भी नहीं जानते! आपसे तो बेचारा आपका हिन्दी अनुवाद करने वाला अनुवादक ही अच्छा है जिसने 'कर्मानिर्णयात्' को छूआ ही नहीं है।

---

२. चान्वाचय समाहारेतरेतर समुच्चये इत्यमरः।

तदत्रावधेयं यत् भेदस्य मोक्ष-साधनाऽसम्भवत्वे लक्षणया तद्वतः (भेदवतः) चेतनधर्मणः जीवात्मनः मोक्ष-साधने प्रवर्त्तनान्नास्ति शङ्कोत्थानिकावकाशः। तदेवं विपर्ययं गाहत एव वक्रा, मतिस्त्वदीया नहि विस्मयो मे।

(पृ.५५८ अनु. २) शङ्का—'य ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना-ज्ञापालन-धर्मानुष्ठान-ज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते' इति वाक्ये 'ज्ञान' शब्दस्य द्वन्द्वान्ते, ईश्वरपदस्य द्वन्द्वादौ च श्रूयमाणस्य स्तुत्यादि-प्रतिपद-सम्बन्ध स्यात्।

(समा०) 'ईश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासना ··धर्मानुष्ठानज्ञानेन' इत्यत्र स्तुत्यादिज्ञानान्तः समाहारो द्वन्द्वस्ततः ईश्वरस्य स्तुतिप्रार्थना···ज्ञानेन षष्ठी समासः नाऽत्रज्ञानस्य प्रतिपद-सम्बन्धः। अथवा अनुष्ठानं च ज्ञानं च अनुष्ठानज्ञानमिति समाहारः ततः स्तुतिप्रार्थनादि-धर्मस्य अनुष्ठान-ज्ञानमिति षष्ठी-समासः, ततश्च ईश्वरस्य स्तुति··ज्ञानमिति षष्ठी समासः। तथाहि एतत्समर्थनमृषिकृतं तत्स्थलस्य हिन्दीभाषानुवादे द्रष्टव्यम् 'इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है

यह जो कहा कि भेद (कर्म का) अचेतन होने से मोक्ष साधन में कैसे प्रवृत्त हो सकता है, सो यहाँ यह जानना चाहिये कि लक्षणावृत्ति से भेद का अर्थ भेदवान् चेतनधर्मा जीवात्मा का ग्रहण होगा जो मोक्ष साधन में समर्थ है अतः आपके लिए यहाँ शङ्का उठाने का अवकाश ही नहीं है।

(पृ०५५८ अनु० २)-शङ्का—'य ईश्वर स्तुति .....धर्मानुष्ठान ज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते' इस वाक्य में 'ज्ञान' शब्द द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण होने से उसका ईश्वरादि प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है अथवा द्वन्द्व के आदि में श्रूयमाण 'ईश्वर' पद का स्तुत्यादि प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध है?

(समा०)—ईश्वरस्तुति......धर्मानुष्ठान ज्ञानेन यहाँ स्तुति से 'ज्ञान' पर्यन्त समाहार द्वन्द्व है फिर ईश्वर शब्द के साथ उसका षष्ठी समास है। अथवा अनुष्ठान और ज्ञान इन दोनों का पहले समाहार द्वन्द्व फिर ईश्वर स्तुत्यादिधर्म का अनुष्ठानज्ञान के साथ षष्ठी समास होने से अर्थ की संगति हो जाती है जिसका समर्थन इसी 'भूमिका' की हिन्दी में इस प्रकार किया है:—इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का

सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है।' किञ्च अनुष्ठान-ज्ञानयोः समाहारे एकवचनमेव साधु न बहुवचनम्, एतेन करपात्रिणः ईश्वरस्य प्रतिपद-सम्बन्ध-बहुवचन-प्रस्तावनमत्र असङ्गतम् इति वेद्यम्।

यच्च भवान् वक्ति 'अनुगतस्यैकस्य साधनत्वानिर्णयात् न च समुच्चितानामेवेश्वर--स्तुत्यादीनां मोक्ष-साधनत्वमिति' तत्तु वितण्डा एव, समेषामेव पारम्पर्येण स्तुत्यादीनां सहायकत्वे सति ज्ञानस्य मुख्य-साधनत्वेन शास्त्रेषु प्रतिपादनात्। स्तुत्यादिभिश्चित्त-स्यैकाग्र्ये जाते 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति (यो. द. समा. ४८) सूत्र व्यास-भाष्यानुसारम्'

आगमनानुमानेन ध्यानाऽभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥'

अर्थात् आगमादिभिः उत्तमं योगं लभते। अथवा स्पष्टमेव प्रोक्तम् 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, 'तत्त्वज्ञानान्निश्श्रेयसाधिगम' इति वा।

(पू. प.) ईश्वरस्तुति धर्मानुष्ठानज्ञानेन' इत्यत्र ज्ञानेन इति तृतीयायाः अपि व्यापार एवार्थो वक्तव्यः, तथात्वे भेदेनेश्वरज्ञानं व्यापारीकृत्य मोक्षः साध्यत इत्यायातम् तेन भेदस्यैव व्यापारवद-

---

प्रधान भाग है। अनुष्ठान और ज्ञान में समाहार द्वन्द्व मानने से उक्त वाक्य में करपात्री जी का ईश्वर का प्रतिपद सम्बन्ध और बहुवचन का प्रस्ताव भी निरस्त हो जाता है।

'अनुगत स्तुत्यादि में से एक के भी साधनत्व के निर्णीत न होने से, समुच्चयीभूतों का भी मोक्ष-साधनत्व नहीं हो सकता।' यह तो आपका वितण्डा ही है। इन सभी स्तुत्यादिकों का परम्परा से सहायकत्व होने पर ज्ञान का मुख्यसाधन होना शास्त्रों में प्रतिपादित है। स्तुत्यादि से चित्त की एकाग्रता होने पर 'ऋतभम्रा' ० इत्यादि योग-सूत्र के व्यासभाष्य के अनुसार आगमेना-नुमानेन इत्यादि प्रमाण से मनुष्य उत्तम योग को प्राप्त करता है अथवा अन्यत्र स्पष्ट ही कहा है कि ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः अथवा तत्व ज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः इत्यादि।

(पू० प०) 'ईश्वर स्तुति...ज्ञानेन' यहाँ तृतीया विभक्ति का अर्थ व्यापार कहने से भेद के द्वारा ईश्वर ज्ञान को व्यापार मानकर मोक्ष सिद्ध होता है

साधारण-कारणत्वात् करणत्वमप्यायातम्', तदपि विरुद्धम् । ऋते ज्ञानन्न मुक्तिरित्यादि ज्ञानकरणत्वबोधक श्रुति-विरोधात् ।

(उ. प.) 'ज्ञानेन' इति तृतीयायाः व्यापारे एवार्थे कृतेऽपि समस्ताज्ञाननाशे ज्ञानरूपसाधनस्य ब्रह्मणश्च साध्यस्य अभेदत्वे न काचिद् विप्रतिपत्तिः । ईश्वरस्य ज्ञानमेव तत्र साधनं भवति । ज्ञान-भेदस्यापि ज्ञानरूपत्वेन, ज्ञानस्यैव करणता, न तु कर्मभेदस्य, भेद-शब्दस्य वेति विवेकः ।

(पृ. ५५६ अ. १) आक्षेपः (क) 'अपरो धर्मभेदो लोक-व्यवहार-सिद्धये यो धर्मेण अर्थकामौ निवर्त्तयितुं संयोज्यते' इति यदुक्तं, तदप्यसङ्गतम् । केवलाभ्यामर्थकामाभ्यां तदसिद्धेः । किञ्च धर्मभेदः तृतीया-निर्दिष्टेन 'धर्मेण' भिन्नोऽभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत् को भेदस्तयोः किं स्वरूपं लक्षणं च तस्य ? अभिन्नश्चेत् कथमभिन्नस्यैव कर्त्तृत्वं साधनत्वं चेति, किञ्च स ईश्वरस्तुत्यादिलक्षणः एव ततो-भिन्नोऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तरूपो वा अथापि न धर्मेणैवार्थकामसिद्धिः

इसलिये भेद के व्यापारवान् असाधारण कारण होने से करणत्व निकलता है ।' यह बात भी विरुद्ध है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्यादि श्रुति विरोध होने से ।

(उ० प०) 'ज्ञानेन' यहाँ तृतीया का व्यापार अर्थ करने पर, समस्त अज्ञान का नाश होने पर ज्ञानरूप साधन और साध्य रूप ब्रह्म के अभेदत्व होने पर कोई शङ्कावकाश नहीं । ईश्वर का ज्ञान ही वहाँ ईश्वर के जानने का साधन होता है । ज्ञान भेद के भी ज्ञानरूप होने से उसकी कारणता है कर्मभेद की नहीं और न भेद शब्द की, यह विवेक है ।

(पृ० ५५६ अनु० १)-आक्षेप—'दूसरा धर्म भेद जो लोक व्यवहार की सिद्धि के लिए धर्म के द्वारा अर्थ और काम के निष्पादन के लिए सयुक्त किया जाता है' यह कथन भी असङ्गत है क्योंकि केवल अर्थ और काम से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, और क्या धर्म भेद तृतीया निर्दिष्ट धर्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उनमें क्या भेद है ? और उसका क्या स्वरूप और लक्षण है ? यदि अभिन्न है तो फिर अभिन्न का कर्त्तव्य और साधनत्व कैसे ? और फिर जो ईश्वर स्तत्यादि लक्षण वाला है वह उससे भिन्न है ? या अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त रूप है ? इसके अतिरिक्त धर्म से अर्थकाम की

अभिचारादिभिरपि तत्सम्भवात्।

(समा०) भो: ! अनर्गलप्रलपनमेव भवदुद्देश्यम्, वक्तुस्तात्पर्यानवबोधात्। ऋषिणा प्रोक्तं 'अपरो य: (कर्मभेद:) लोकव्यवहारसिद्धये धर्मेणार्थकामौ निवर्त्तयितुं संयोज्यते' तदिह अर्थकामौ धर्मयुक्तौ स्यातामित्येवाभिप्राया निष्काश्यते। कुतस्तावत्केवलौ (अर्थकामौ) इत्यर्थो निष्पीडितो भवता ? स द्वितीयस्य कर्मकाण्डाख्यस्य विषयस्यान्तर्गतो धर्म:, तत्स्वरूप एव स:। अहो महदाश्चर्यं भवद्बुद्धौ भेदान्तर्गतमपि तद्रूपत्वेन नावबुध्यते। किन्तावत् कर्त्तृत्वमभीष्टमत्र ? कस्याश्च क्रियाया: ? इति नोक्तं भवता। अथवा स्वात्मनि भ्रान्तस्य जनस्य इयमेव पयवसीयमानता। धर्मादित्रिकं लोकव्यवहाराय साधनं भवति साध्यता तु केवलस्य मोक्षस्य। इदमेवावधृत्य समग्रमग्रे निष्कामत्वेन प्रतिपादयत्याचार्यो दयानन्द:।

(ख) यच्च पृच्छ्यते 'किमीश्वरस्तुत्यादिलक्षणो धर्म: ? उत ततो

सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उसका सम्पादन अभिचार आदि के द्वारा भी होता है।

(५५९।अनु० १)-समा०—(क) आपका अनर्गल प्रलपन ही उद्देश्य है। ऋषि ने कहा कि "दूसरा (कर्म भेद) जो लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये धर्म से अर्थ और काम को निवृ त्त करने के लिये संयुक्त किया जाता है।" यहाँ अर्थ और काम धर्म से युक्त हों यही अर्थ सम्पन्न होता है, केवल 'अर्थ और काम' यह अर्थ कहाँ से आविष्कृत कर लिया ?

द्वितीय कर्मकाण्डरूप विषय के भेद के अन्तर्गत धर्म आ जाता है, वह तत् स्वरूप ही है। आश्चर्य है आपकी बुद्धिमता पर, जो भेदान्तर्गत को भी उसी रूप में समझतो है। आपको यहाँ क्या कर्त्तव्य अभीष्ट है ? और किस क्रिया का ? यह आपने नहीं बताया, अथवा अपने में भ्रान्त जन का यही पर्यवसान होता है। धर्म, अर्थ और काम यह त्रिक यहाँ पर लोक-व्यवहार का साधन है। साध्यता तो केवल मोक्ष की है। यही सब कुछ विचार कर आचार्य योगी दयानन्द ने आगे निष्कामत्व का प्रतिपादन किया है।

(ख) आप यह पूछ रहे हैं, कि क्या स्तुति आदि लक्षण वाला धर्म है ? या उससे भिन्न अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघ पर्यन्त है ? इस प्रश्न का विकल्प

भिन्नोऽग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तो वेति ?' तदिह प्रश्नविकल्प एवासङ्गतः 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म' इति परिभाषया स्पष्टोक्तेः।

(ग) धर्मलक्षणानि यथास्थलं समङ्कितानि तानि तत्रैव द्रष्टव्यानि। अभिचारादि-कर्मभिः अर्थकामयोः सिद्धिस्तु असिद्धिरेव विनाशायैव च। अतएव मनुनोक्तम्:—

अर्थकामेष्वसक्तानां, धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः (म. २।१३)
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारात् अविद्वांसो नराधमाः॥ (म. २।१३)

अतएव धर्मार्थकामात्मकः परपराऽविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतयाश्रेय इति विनिश्चय इति कुल्लूकभट्टः (म. २।२२४)। सर्वकल्याणकामस्तु स्वामी दयानन्दः धर्मेण नियमितामेव मान्यतां लोक-व्यवहार-सिद्धये स्वीकुरुते।

(घ) यस्त्वभिचारस्त्वदभिमतः, स तु न तथा, अपितु अभिआभि-

ही असङ्गत है, क्योंकि 'यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सः धर्मः' इस परिभाषा से ही सब स्पष्ट है।

(ग) आगे इन वैतण्डिक ने जो प्रश्न किये हैं वे वितण्डा पर आधारित हैं, जो बाल-बुद्धि से भी समाधेय है। धर्म के लक्षण तो यथास्थान किये गये हैं। वहीं पर आपको देखना चाहिए। आप अभिचार आदि के द्वारा अर्थ और काम की सिद्धि मानते हैं, वह सिद्धि नहीं असिद्धि ही है जो विनाशोन्मुख है। इसीलिए महाराज मनु ने कहा है।

"अर्थ कामों में अनासक्तों को धर्मज्ञान का विधान है। धर्म के विषय में श्रुति परम प्रमाण है तथा 'इन्द्रियों' के प्रसंङ्ग और धर्म के असेवन से अविद्वान् नराधम पापों को प्राप्त करते हैं। अतएव 'धर्म, अर्थ और कामरूप परस्पर अविरुद्ध त्रिवर्ग ही पुरुषार्थ में कल्याण-कारक है" ऐसा कुल्लूकभट्ट ने (म० २। २२४) में कहा है।

सर्वकल्याण-काम दयानन्द ने लोक व्यवहार सिद्धि के लिये धर्मानुशासित मान्यता स्वीकार की है। यह सभी संगत कथन है।

(घ) जो आपका अभिप्रेत अभिचार है वह तो अन्य है। आभिमुख्य से

मुख्येन शत्रुवधार्थः चारः कार्यकरणमभिचारः राजनीत्यङ्गभूतः । 'कृत्या' प्रयोगश्चाथर्ववेदे (१०।१।२९) निषिद्धस्तथा हि:—

"अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये, मा नो गामश्वं 'पुरुषं' वधीः" अर्थात् तस्याभिचारस्य प्रयोगः गोषु अश्वेषु निरपराधव्यक्तिषु वा निषिद्धः । एवं धर्मेणैवार्थकामसिद्धिर्नत्वभिचारेण, अतो भवतस्तद्वचनमपार्थकम् ।

शङ्का—(पृ० ५५९।अनु० २) यदुक्तं परमेश्वर-प्राप्तिमुद्दिश्य कृतं कर्म निष्कामसंज्ञां लभते" तदपि न विचारसहम्, अत्रात्म परमात्मप्राप्तिः संयोगः परमात्मज्ञानं वा ? नाद्यः, परमात्मनो विभुत्वेन नित्यत्वेन चोभयोः संयोगस्यापि सनातनत्वात् नूतनफलानुपपत्तेः फलत्वं तु कार्यत्वमेवातो नित्यत्वं फलत्वं च व्याहतमेव। ज्ञानस्य साधनत्वे तु तस्यैव फलभावानुपपत्तिः । फलोद्दिष्टकर्मणश्च कथं निष्कामता?"

समा०—आत्मपरात्मप्राप्तिर्नसंयोगः, अज्ञानकृतत्रिप्रकृष्टता-

शत्रु को बध के लिये कार्य करना 'अभिचार' राजनीति का अङ्ग भूत है । और 'कृत्या' का अथर्ववेद १०।१।२९ में प्रयोग निषिद्ध है ।

'अनागोहत्यावै भीमाकृत्या मानो गामश्वं पुरुषं बधीः" इस अभिचार का गाय, अश्व अन्य पशु या निरपराध व्यक्तियों में द्योतक परिणाम (क्रिया) अति भयङ्कर है, अत निषिद्ध है । यहाँ पर 'धर्म' शब्द से कल्याण काम लोकों की व्यवहार सिद्धि अभीष्ट है । इस प्रकार आपका यह कथन कि धर्म से ही अर्थ काम सिद्धि नहीं होती, किन्तु अभिचार से भी होती है । यह अपास्त हो गया ।

शङ्का (पृ० ५५९।अनु० २)— परमेश्वर प्राप्ति को उदिष्ट करके किया हुआ कर्म निष्काम सञ्ज्ञक होता है' यह ठीक नहीं । यहाँ आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति संयोग है या परमात्मा का ज्ञान ? परमात्मा के विभु और नित्य होने से इनके संयोग के भी सनातन होने से नया संयोग नहीं बनेगा ।

अतः उससे कोई नया फल भी पैदा नहीं होगा, फल तो कार्य है, यह नित्य कैसे हो सकता है ? ज्ञान-साधन नहीं श्रुति विरोध होने से । ज्ञान को साधन माना जाये तो वह फल नहीं हो सकता, क्योंकि वही फल नहीं होता । और फलोद्दिष्ट कर्म निष्काम कभी नहीं होता ।

समा०—आप आत्म-परमात्म प्राप्ति को संयोग कह रहे हैं, तब सनातन ये दो सत्तायें तो सिद्ध हो गई, अब कहाँ गया आपका नवीन वेदान्त ?

अपसारणे ज्ञाने सहायके सति तस्योपलम्भः, भवन्मते साकारस्यैव भगवतः संयोग-सन्निकर्षजन्याप्राप्तिर्भवितुं शक्यते। वस्तुतस्तु निरयवयोरनयोः संयोग-सम्बन्धाऽसम्भवः-इह तु व्याप्यव्यापक जीवात्म-परमात्मनोर्नित्यसम्बन्धः। संयोगस्य तु वियोगान्तत्वान्नाशा पत्तिः।

संयोग-सम्बन्धं प्रतिपादयतस्ते पाण्डित्याडम्बरता स्पष्टी भूता। यथा

"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।
कीर्त्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतर कर्मजः॥
तथोभयोः कर्मजन्यो भवेत् संयोगजाऽपरः॥
इतिभाषा-परिच्छेदः।

अनन्त सुख-योगत्वे तु मुक्तेरनावृत्या तवैवापसिद्धान्तः' इति भवद् वचस्तु भ्रामकम्, अनन्तपरमात्मनः सुखेन योगादित्यर्थवत्वात्। स्वर्गादिप्राप्तिरूपफलस्याऽनित्यत्वमस्माकं तु सिद्धान्तगतम्, मुक्तेरपि

महोदय! आत्मा द्वारा परमात्मा की प्राप्ति संयोग नहीं है। अज्ञान जनित दूरी को दूर करने में ज्ञान सहायक है, तब ईश्वर का साक्षात् होता है। आपके मत में ही साकार भगवान् की संयोग-सन्निकर्ष-जन्य प्राप्ति हो सकती है, वस्तुतः निरवयव इन जीवात्मा तथा परमात्मा का संयोग सम्बन्ध नहीं कहा जायेगा। यह व्याप्य आत्मा और व्यापक परमात्मा का गौणभाव से व्याप्य व्यापक नित्य सम्बन्ध है, संयोग सम्बन्ध मानने पर तो वियोगान्त होने से संयुक्तों की नाशापत्ति होगी।

संयोग सम्बन्ध प्रतिपादन करने वाले आपकी पाण्डित्याडम्बरता प्रकट हो गई। आप समझिये, यथा—अप्राप्त दो वस्तुओं की प्राप्ति का नाम संयोग है, यह तीन प्रकार का कहा गया है। प्रथम अन्यतर कर्मज, द्वितीय उभय कर्मज तथा तीसरा संयोगज संयोग। (भाषा परिच्छेद)। यह कथन कि 'अनन्त सुख से योग होने पर मुक्ति की आवृत्ति न हो पाने से आपका (स्वा० दयानन्द का) सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा, भ्रामक है क्योंकि अनन्त का अर्थ अपार है अथवा अनन्तस्य परमात्मनः अनन्त परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति हो जाने से' यह अर्थ है।

स्वर्गादि प्राप्ति रूप फल की अनित्यता तो हमें अभीष्ट है, क्योंकि मुक्ति से आवृत्ति होती है। आप अपने पक्ष में बताइये, संगति कैसे होगी? और नित्य

पुनरावृतेः। कथङ्कारं पुनर्भवत्पक्षे सङ्गति ? इति तु भवानेव जानातु। नित्यत्व-फलत्वव्याहृतिरपि भवतैव चिन्त्या।

वस्तुतस्तु ज्ञान-सह-कृताभ्यास-वैराग्यशमदयादि-साधनेन तत्व-ज्ञानेऽधिगते मिथ्याज्ञानस्या-ऽसहायत्वात् तन्निवर्त्तते, सम्यग् ज्ञानस्य च विषयः सहायो भवति कस्मात्तथात्वेनाऽवस्थानात् तथा भूतोऽसौ विषया यथा तत्र तत्त्वज्ञानम्।

एवम् साधनमन्यत् फलञ्चान्यल्लोके, परमत्र हि परमेश्वर-प्राप्तौ ब्रह्मानन्दोपभोगः फलम्, तत्सम्बन्धिज्ञानं च साधनम् परन्न तथा ते। अतएवैष वैदिकसिद्धान्त उपपद्यते, तत्त्वज्ञानेन दुखात्यन्त-निवृत्ति-पूर्वकस्वरूपेण ब्रह्मानन्दाऽनुभूतिर्नाम मोक्षः। केवलं दुःखात्यन्तनि-वत्तिरेव न मोक्षः। तथापि दुःखात्यन्त-निवृत्त्यनन्तरं ब्रह्मानन्दाप-भोगस्यावश्यं भावित्वेन तस्य सम्पादनीयत्वाभावः, ततः तस्य स्वयं-सिद्धत्वात्, किन्तु दुखात्यन्त-निवृत्तिस्त्ववश्यं सम्पादनीयैवेति। एवं शङ्कराचार्योऽपि वेदान्त-भाष्ये आह :—

फलत्व का कथन भी आपकी ही चिन्ता का विषय होना चाहिए। वास्तव में, ज्ञान सहकृत, अभ्यास, वैराग्य, शम, दम आदि साधन से तत्व-ज्ञान प्राप्त होने पर मिथ्याज्ञान के असहाय होने के कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है और सम्यक् ज्ञान का विषय सहायक होता है, क्योंकि वह उसी रूप से अवस्थित रहता है, ऐसा वह विषय तत्त्व-ज्ञान है।

इस प्रकार साधन और फल लोक में अन्य होते हैं। यहाँ परमेश्वर प्राप्ति में आत्मा द्वारा ब्रह्मानन्द फल का योग साध्य और सत् सम्बन्धी ज्ञान साधन है। पर आपके मत में तो नवीन वेदान्तनुसार साधक, साधन और साध्य सभी एक हो जाते हैं। पर 'प्रत्यक्षिपल्लोष्ठं स्वयम् काचगृहे स्थितः' पर आप स्वयं कांच के घर में बैठकर दूसरे के सुदृढ़ पाषाण निर्मित प्रसाद पर ढेले फेंक रहे हैं। अतः ऋषि का यह वैदिक सिद्धान्त सर्वथा उपपन्न हैं, दुःखात्यन्त निवृत्तिपूर्वक स्वरूप तत्त्व ज्ञान से जो ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, यही मोक्ष है तथापि दुःखात्यन्त निवृत्ति के अनन्तर ब्रह्मानन्द का भोग निर्व्यवधान अवश्यंभावी है। अतः उस आनन्द की पृथक् सम्पादनीयता का अभाव स्वय सिद्ध है। परन्तु दुःखात्यन्त निवृत्ति तो अवश्य-सम्पादनीय है, ऐसा ही शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त भाष्य में कहा है।

'निष्काम-कर्म यत् परमेश्वर प्राप्तिफलमेवोद्दिश्य क्रियते तदेव। अन्यथा 'कामरहितत्वात्' इति कर्मणो विशेषणत्वस्य वैयर्थ्यापत्तिः स्यात्।'

कर्त्तव्यबुद्ध्या कर्मफलासक्तिं विहाय कर्मकरणम् निष्कामता। तथाहि

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः॥
'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये। (गीता अ० ५)

(पृ.५६०।अनु० १)- यच्च "अस्य खल्वनन्त-सुखेन योगात्" अत्र भवानाक्षिपति यदनन्तसुखयोगे मुक्तेरनावृत्तिसिद्धेः सिद्धान्त-हानिः स्यात्। होमेन वाय्वादिशुद्धिर्न शास्त्रोक्ता, प्रत्यक्षसिद्धा चेदवैदिकी।

समा० :—प्रथमं तु, अनन्त-शब्देन मुक्तेस्तावान् महान् कालो बहुत्वादनन्तोऽवगन्तव्यः। अपरञ्च 'अनन्तस्य परमात्मनः सुखेन

आपका कथन कि परमेश्वर प्राप्ति की कामना भी तो सकाम कर्म हुआ, यह अविचारित है। परमेश्वर प्राप्ति के उद्देश्य से किया हुआ कर्म वस्तुतः निष्काम है, अन्यथा कर्म के काम-रहित होने पर विशेषण की वैयर्थ्यापत्ति होगी। कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करना ही निष्कामता है। देखिये गीता— जो ब्रह्म में कर्मों का आधान कर सङ्ग को छोड़कर, मैं कुछ नहीं करता हूं, इस प्रकार योग युक्त तत्त्ववेत्ता माने" काय, मन वाणी तथा केवल इन्द्रियों से भी योगी-लोग सङ्ग छोड़कर आत्म शुद्धि के लिये कर्म करते हैं" आप तो इस कर्म को भी निष्काम कर्म मानने को सज्जित न होंगे, क्योंकि यह भी आत्मशुद्धि रूपी फल के लिये किया गया है।

(५६०।अनु० १)-शङ्का—'अस्य अनन्त सुखेन योगात्" इस पर आप आक्षेप करते हैं कि अनन्त सुख योग में मुक्ति से अनावृत्ति सिद्ध होने से आपकी सिद्धान्त हानि होगी। तथा होम से वायु आदि की शुद्धि शास्त्रोक्त नहीं हैं, यदि इस शुद्धि को प्रत्यक्ष सिद्ध कहैं तो अवैदिकता आयेगी।

समा०—प्रथम तो अनन्त शब्द से मुक्ति के लिये निर्धारित काल ही समझना चाहिए तथा बहुत्व के कारण अनन्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

योगात्' इत्यर्थेन सर्वाऽपि ते भ्रान्तिः क्वाऽपि विलयं स्वतो याति । किंच, 'मुक्तेरावृतामभ्युपगम्यमानायाम्' इत्यत्र आवृत्तामिति द्वितीयायाः कथ सङ्गतिरुपपद्येत ? सर्वथा अशुद्धमेवेदं द्वितीयाविभक्तिकरणम् व्याकरणस्य वाक्य-रचनायाः दृष्ट्या । किम् भो अयमेव ते पाण्डित्य-दम्भः शास्त्र कण्टकस्य ! नूनमत्र 'आवृत्तौ', इति सप्तम्या भाव्यम्

यत्तु प्रोक्तं—"स चाऽग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु होमः क्रियते सः सर्व-जगत् सुखायैव भवति" इदमविचाररमणीयम् इति, तदिदं तवैव वचनेन यदा त्वादृशानामविचाराणामपि रमणीयं तदा विचा-रवतां तु कथनातीतमसन्दिग्धं रमणीयं सेत्स्यति एव । अहो ! भवदुर्वरा कल्पनाशक्तिरत्र नभस्तलं चुम्वति निश्चप्रचम्, यदेतच्छङ्कने प्रतीयते। किञ्च "किमत्र स चेत्यपरः कर्मभेदः परामृष्टः ? ओमिति चेत् कथं तस्य केनान्वय : ? "यज्ञेन वाय्वादिशुद्धिरपि न शास्त्रोक्ता" इति, अनेन तु एतावतीं भूमिकामवतीर्णो, यद् यज्ञस्यैव वैयर्थ्य-प्रतिपादने न मनागपि सङ्कोचमञ्चति भवान् ।

दूसरे 'अनन्त परमात्मा के सुख का योग होने पर" इससे आपकी भ्रान्ति स्वतः ही विलीन हो जाती है। तथा 'मुक्तेरावृत्तामभ्युपमभ्यमानायाम्" यहाँ "आवृत्ताम्" इस द्वितीयान्त की कैसे सङ्गति होगी ? व्याकरण वाक्य रचना दृष्टि से यह सर्वथा अशुद्ध है । क्या शास्त्र-कण्टक आपको इसी पाण्डित्य का दम्भ है ? यहाँ पर "आवृतौ" यह सप्तमी का प्रयोग ही शुद्ध होगा ।

आक्षेप—'और वह अग्नि होत्र से आरम्भ कर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों में होम किया जाता है, वह सब जगत् के सुख के लिये ही होता है" यह स्वामी जी कथन भी जब तक विचारा न जाये तभी तक रमणीय है।

यह सच है, आपके ही बचन से आप सदृश अविचारकों के लिये भी रमणीय है, तब विचार शीलों के लिये इसकी रमणीयता निःसन्देह कथनातीत होगी । आश्चर्य है, आपकी उर्वरा कल्पना शक्ति यहाँ तो नभस्तल को चूमने लगी है । जोकि इस शङ्का से प्रतीत होता है । "क्या यहाँ पर दूसरा कर्म भेद अभीष्ट है ? यदि हाँ तो उसका किसके साथ कैसे सम्बन्ध होता है ? यज्ञ के द्वारा वाय्वादि शुद्धि भी शास्त्रोक्त नहीं है" इस प्रकार आप इस भूमि तक उतर आये हो कि लौकिक दृष्टि से यज्ञ की व्यर्थता सिद्ध करने में भी सङ्कोच नहीं करते ।

ऋषिणा कर्मणोऽत्र द्वैविध्यं विशदीकृतम् यदाहि सकामो यज्ञस्तदा सकामस्य पुरुषस्य दृष्टौ वाय्वादिशुद्धिजल-वृष्ट्यन्नाद्युत्पादन-हेतुस्तु प्रत्यक्षसिद्धः, यदा च निष्काम-भावनया धर्मानुष्ठानाङ्गभूतो यज्ञो विधीयते तदाऽन्तः करणशुद्धिकारणं भवति ।

श्रीमतः प्रवदनमेतद् यद् "वाय्वादिशुद्धिः न शास्त्रविहिता, प्रत्यक्ष-सिद्धाऽपि अवैदिकत्वादवमन्तव्या"। विचित्रा एषा तार्किकी प्रतिभा भवतः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, कथमपि न प्रत्यक्षापलापः कर्त्तुं शक्यते। प्रत्यक्षं हि लोके वाय्वादिशुद्धिरुपल-भ्यते। शास्त्रं हि नाम न प्रत्यक्षापलापाय, ससारघटितसमस्तवस्तू-पपादनत्वात्।

वेदो हि सर्वज्ञान-निधिः। नहि सितोपलादि-चूर्णं वेदेषु लिखितं किमतोऽवैदिकत्वादग्राह्यम् तत्? तस्य रोगहारित्वं प्रत्यक्ष-सिद्धम्। अतएव मया वेदलक्षणे प्रमाणविरुद्धमिति पदं न्यस्तम, शास्त्रमपि

ऋषि ने कर्म द्वैविध्य की विशद व्याख्या कर दी कि जब सकाम यज्ञ होगा तब सकाम पुरुष की दृष्टि में भी वाय्वादि शुद्धि, जल वृष्टि, अन्नादि उत्पादन का हेतु तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। और जब निष्काम भावना से धर्मानु-ष्ठानाङ्ग भूत यज्ञ किया जाता है तब अन्तःकरण की शुद्धि का कारण सिद्ध होता है।

आपका कहना है कि 'यज्ञ के द्वारा वाय्वादि शुद्धि का विधान शास्त्रों में नहीं है, प्रत्यक्ष सिद्ध भी शुद्धि अवैदिक होने से अग्राह्य है" आपकी यह तार्किकी प्रतिभा विचित्र है?

'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न, निर्भ्रान्ति ज्ञान, अव्यभिचारी, प्रत्यक्ष ज्ञान का आप अपलाप कथमपि नहीं कर सकते, लोक में वाय्वादि-शुद्धि प्रत्यक्ष है। शास्त्र प्रत्यक्षालाप के लिये नहीं होता, क्योंकि— संसार घटित समस्त वस्तुओं का उपपादन प्रत्यक्ष से होता है।

वेद सर्वज्ञान का निधि है। 'सितोपलादि' चूर्ण वेदों में नहीं लिखा है, क्या वह वेदाऽविहित होने से अग्राह्य है, उसका अनेक रोग–हारित्व तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसीलिए मैंने वेद-लक्षण में प्रमाणाऽविरुद्ध यह पद निविष्ट किया है। शास्त्र का प्रमाण भी वायु की शुद्धि में है:--'ये भैषज्य यज्ञ हैं ऋतु सन्धियों में व्याधि न हो, अतः ऋतु सन्धियों में प्रयुक्त होते हैं। (शतपथ ब्रा०) 'भैषज वृत

'भैषज्ययज्ञा वा एते' ऋतुसन्धिषुव्याधिर्जायते तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते (शतपथ ब्रा० ४)।

"भेषजकृतो ह वा यज्ञो यत्रैवं विद् ब्रह्मा भवति" (छान्दो० ४।१७।८) 'प्राणाय स्वाहेत्यादि (यजुः २२।२३) इतिदिङ्मात्रमत्र ग्रन्थकायवर्द्धनभिया।

(५६०। अनु० २) (पू. प.) "यं च भोजनाच्छादनादिसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति।" अत्र 'यं' सर्वनाम्ना किं परामृश्यते?" (उ० प०) इत्यपि यो नाऽवबोधुं पारयते स तु वेद-भाष्यम् (वेदार्थपारिजातं) करिष्यन्-कदर्थमेव विधास्यति। विभेत्यल्प श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" इति वचन-प्रामाण्यात्।

भो महाबुद्धे! 'यमिति' सर्वनाम्ना सकामोऽपरः कर्मकाण्डा-ख्यो होमः परामृश्यतेऽत्र। तच्च स्पष्टम्, यथा अयं सकामः पूर्वोक्त-प्रकारकः होम-लक्षणः सर्व-जगत्सुखकारी, भोजनाच्छादनाद्यर्थस्तु तदपेक्षयाऽपि सीमिततरः अधिकांशतया स्व-सुखकारी एवेति।

यह यज्ञ है, जिसमें भेषज गुणों को जानने वाला ब्रह्मा होता है, 'प्राणाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, यजु० २२।२३ इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ऋतु-सन्धियों में उत्पन्न तत्तद् रोग निवारणार्थ तत्तद् गुण-विशिष्ट ओषधियों का चयन औषध-विशेषज्ञ ब्रह्मा करे, जिससे प्राणादि वायु की सिद्धि यथावत् हो सके।

(५६०।अनु० २)-(पू० प०)—जिसको भोजनच्छादनादि सिद्धि के लिए करता है, वह अधिकतया उत्तम सुख के लिए ही है। यहाँ 'यम्' सर्वनाम से क्या परामृष्ट है? (उ० प०) यह तक जो नहीं समझ सकते, वे वेदभाष्य वेदार्थ पारिजात करके कदर्थ ही करेंगे। ठीक है 'अल्पश्रुत से वेद भयभीत होता है, कि अब यह मुझ पर ही प्रहार करेगा। देखिये 'यम्' सर्वनाम से सकाम दूसरा कर्म काण्डाख्य होम (विषय) ही यहाँ परामृष्ट हैं। वह स्पष्ट है जैसे यह सकाम पूर्वोक्त प्रकारक सर्वजगत् सुखकारी है, पर भोजन, आच्छादनादि अर्थवाला तो, निष्काम की अपेक्षा सीमिततर अपना सुखकारी ही है।

(पृ० ५६० प० १४)—ये करपात्री जी यज्ञ के प्रत्यक्ष फलबोधक ऋषि दयानन्द के विचार को चार्वाकोच्छिष्ट कह रहे हैं। वस्तुतः ये महाशय प्रगाढ़

'वस्तुतस्तु चार्वाकोच्छिष्टमेवेदं सर्वं दयानन्दीयं मतम् इति वदन् अयं कर-पात्रो यज्ञस्य प्रत्यक्षफलबोधकमृषिवरस्य विचारं चार्वाकोच्छिष्टं घोषयते। अस्य प्रगाढाज्ञानाल्पश्रुत-निमीलित लोचनस्य चार्वाक-सिद्धान्तस्य लवज्ञानमपि नास्ति। चार्वाकास्तु वेदं धूर्त्तप्रणीतं तद् विहिताग्नि-होत्रादि-क्रियाकलापमुपासनां ज्ञानकाण्डञ्च मूढमतित्वं मन्वते, तथाहि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्म-गुण्ठनम्।
बुद्धि पौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

आचार्यदयानन्दस्तु पञ्चविधयज्ञानुष्ठानपूर्वकतत्त्वज्ञानविधानेन मोक्षमार्गं परिष्कृतं व्यधात्। वस्तुतस्तु करपात्र-सदृशाः अप्रत्यक्ष-धृत वाममार्गश्रद्धाशरीराः वेदादिसच्छास्त्र-नाम्ना कुक्षिभरयः। एतेषां मान्याः महीधराद्याश्च यज्ञेषु पश्वादि-हिंसनं व्यधुः, तेनाऽपि प्राप्तावकाशाः दुष्प्रचारक-वामा लोकानां हृदयेषु पवित्राऽध्वरेषु घृणामजनयन्। हा हन्त ! कुल्लूकोऽपि—'जप्यैव तु संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नास्ति सशंय, इत्यस्य टीकायाम् 'यागादिषु पशुबीजादिबधान्न सर्वप्राणिप्रियता सम्भवति तस्माद् यागादिना विनाऽपि प्रणवादि-जपनिष्ठोनिस्तरतीति'' अलिखत्।

अज्ञान पर आधारित अल्पश्रुत निमीलित नेत्र हैं जिनको चार्वाक सिद्धान्त का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। सभी जानते हैं कि चार्वाक तो वेदों को धूर्तप्रणीत और उनसे विहित अग्निहोत्र आदि क्रियाकलाप, उपासना और ज्ञान-काण्ड को मूढ़-मतित्व मानते हैं—तथाहिः—

''अग्निहोत्र, तीनवेद, त्रिदण्ड, भस्मगुण्ठन तो बुद्धि और पौरुष विहीन पुरुषों की जीविका साधन हैं, ऐसा बृहस्पति ने कहा है''

आचार्य दयानन्द ने तो पञ्चविध यज्ञों के अनुष्ठान पूर्वक तत्त्वज्ञान करने में मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है। वास्तव में, करपात्री सदृश वाममार्ग के प्रच्छन्न श्रद्धालु शरीर धारण कर प्रचार कर रहे है और वेदादि उत्तम शास्त्रों के नाम पर अपनी उदर पूर्ति करते हैं और इनके मान्य महीधर आदि ने यज्ञों में पशु आदि मारने का विधान स्पष्ट रूप में किया है, उसके द्वारा इन निठल्ले वाममार्गी दुष्प्रचारकों ने पवित्र यज्ञों के प्रति विवेकशील लोगों में घृणा उत्पन्न कर दी है।

तर्कं च ते चार्वाकाः प्रास्तुवन् विचाराय ।

पशुश्चेन्निहत : स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ।

कथयन्तु महाऽभागाः ! क्व स्वमुखकालुष्यं केन फेनिलेनापसारयिष्यन्ति भवन्तः, पश्यन्तु, भवद्गुरुमहीधरादिकुव्याख्याः समीक्ष्यैव ते वाममार्गिण एवमुदाहरन् ।

अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नी ग्राह्यं प्रकीर्त्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत् परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम् ।।

योषिताऽश्वशिश्नं संग्राह्य समागमानुज्ञापनं, यजमान-कुमारीभिः परिहासानुष्ठानमृते वाममार्गिभ्यो नान्ये जनाः कर्तुं क्षमन्ते ।

एतान् महापातकिनो वाममर्गिणो विहाय भ्रष्टानि वेदार्थविरुद्धानि अशुद्धव्याख्यानानि को नु विदधीत ? तथापि चारवाकादयो नितरां शोच्यन्ते ये ह्यविचार्यैव वेदान्निन्दितुं प्रवृत्ताः तैरात्मनोऽपि

हा ! महान् दुःख है, अन्धपरम्परा के पुजारी विद्वान् कुल्लूक ने भी 'जप्यैव तु संसिद्ध्येत् ब्राह्मणोनास्ति सशयः' इसकी टीका में 'यागादिक' में पशुबीज्ञादि के वध से सर्वप्राणिप्रियता सम्भव नहीं है, अतः यागादि के बिना भी प्रणवादि जप में निष्ठा रखने वाला तर सकता है' ऐसा लिखा है ।

उन चार्वाकों ने इन यज्ञ में पशु हिंसा करने वालों के समक्ष तर्क प्रस्तुत किया है कि "ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जाता है, तो यजमान उस यज्ञ में अपने पिता को क्यों नहीं मार कर चढ़ा देता ?"

कहिये महाभाग ! अब अपने मुख की कालिमा को किस साबुन से धोयेंगे ? देखिये आपके गुरु महीधर आदि की कुव्यख्याओं को ही देखकर उन्होंने ऐसे उदाहरण दिये हैं । "यहां इन भांडों ने" अश्व के शिश्न को पत्नी के द्वारा ग्राह्य बताया है" योषित् (स्त्री) के द्वारा अश्व-शिश्न ग्रहण करना और समागम का विधान करना, यजमान की कुमारी कन्याओं के परिहास (मजाक) का विधान, इन वाममार्गियों से अन्य कोई नहीं कर सकता ।

इन महापातकी वाममार्गियों को छोड़कर वेद के वास्तविक अर्थ के विरुद्ध भ्रष्ट, अपवित्र व्याख्यानों को भला कौन विवेकी करेगा ? तथा चारवाकादि नितरां शोचनीय हैं, जो बिना विचार किये वेदों की निन्दा करने में

बुद्ध्या किञ्चिद विचारणीयमासीत्, अथवा किन्ते कुर्बन्तु वराकाः। नासीत्तेष्वियती विद्या यया ते सत्यासत्ये विनिर्णीय सत्यस्य मण्डनमसत्यस्य च निराकरणं कर्त्तुं प्राभविष्यन्।

यन् मांस-भक्षणं तदपि तेषामेव वेदव्याख्यातॄणां वाममार्गिणां विलसितम्, तस्मात् तेषां निशाचरेषु व्यपदेशः सुतरामुपपुज्यते।

नहि क्वाऽपि वेदेषु मांसभक्षण-विधानम्। अत एवमादिमिथ्या वार्त्तानां पापेन ते टीकाकृतो वेदानविज्ञायानाकर्ण्य च यथेष्टं निन्दन्तश्चासशयं संयोक्ष्यन्ते। वस्तुतस्तु ते वेदानद्विषन्, द्विषन्ति, द्वक्ष्यन्ति वा नूनम् ते अविद्यान्धतमसे निमज्जन्तः सुखं विहाय दारुणं दुःखमुपभोक्ष्यन्ते, यावच्च ते दुःखमाप्नुयुस्तावदेव न्यूनम्" (सत्या० प्र.स. ११)

सत्यम् एतादृशा :—

अन्तः शाक्ता वहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥"

प्रवृत्त हो गये। उनको इन धूर्त-व्याख्याकारों का अन्धानुसरण न करके अपनी बुद्धि से भी थोड़ा विचारना चाहिये था, अथवा वे बेचारे क्या करते? उनमें इतनी विद्या ही नहीं थीं, जिससे सत्य और असत्य का निर्णय कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करने में समर्थ हो पाते। जो मांस-भक्षण विधान किया, यह भी उन्हीं वाममार्गी वेद-भाष्य करने वालों की ही कुचेष्टा है। अतः उनकी निशाचरों में ही गणना करना उपर्युक्त है। वस्तुतः वेद में कहीं भी मांस-भक्षण विधान नहीं है, अतः ऐसी मिथ्या बातों के टीकाकार वेदों को न जानकर इधर-उधर से सुनकर ही भरपेट निन्दा करते हुये पाप से युक्त होंगे। वास्तव में, निश्चय ही उन्होंने वेदों से द्वेष किया है, द्वेष करते और करेंगें। वे अविद्यान्धकार में डूबते हुये सुख को छोड़ दारुण दुःख भोगेंगे। जितना वे दुःख पायें वह भी न्यून है।" सत्यार्थ प्र० ११ को समु.।

सच यह है ऐसे लोग—भीतर शक्ति के उपासक, बाहर से शैव और सभामध्य में वैष्णव बनते हैं। ये कौल नाना रूप धर के महीतल पर विचरण करते हैं।" उध्वट के अनुगामी महीधर को देखिये उनके भाष्य में वाममार्ग को फैलाने वाली अश्लीलता प्रसारित हो रही है—

महीधर-मुव्वटानुगामिनम् पश्यन्तु तद्भाष्येण कथमश्लीलता वाममार्ग-प्रसारिणा पोष्यते :—

"गणनां त्वां गणपति ँ हवामहे·· ······यजु० २३।१९

"महिषी (यजमानस्य पत्नी) यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजाम् अश्वसमीपे शेते"। शयाना सत्याह "हे अश्व ! गर्भधं गर्भ-धारकं रेतः अहम् आअजानि आकृष्य क्षिपामि" कथय, किमेतावताऽपि न महीधरानुयायिना त्वया वामः पन्था अनुसृतः ? नूनमनुसृतः । किञ्च वेदार्थसरणिं विशुद्धां कुर्वाणम् योगिनं दयानन्दम् आक्षिपन् न लज्जसे ? एवं-विधानां स्थलानां सत्यार्थं महर्षि-कृतं यथास्थलं निभालय। तदेवं दयानन्दीयं मतं तु चार्वाकोच्छेदकं, न तु तदुच्छिष्टमिति शिष्टा अवधारयन्ते ।

(५६१। अनु पृ॰ १) आक्षेप :-द्रव्य संस्कार कर्मसु-इति प्रभृत्या··· ऋतुना धर्मो जायते नान्यथा इति यावत् स्वामिनोक्तं सर्वं बाल-भाषितम्, नास्तिक्यावहमपि, शास्त्रार्थानभिज्ञानमूलकत्वात् वेद-वाह्यनास्तिक्यप्रभावितान्तःकरणप्रसूतत्वाच्च । सूत्रार्थस्तु सर्वथाऽसङ्गत एव ।

गणानांत्वा—' यजु० २३।१९ के भाष्य में 'यजमान पत्नी (महिषी)-यज्ञशाला में सब ऋत्विजों के समक्ष अश्व समीप में सोती है और सोती हुई कहती है । 'हे अश्व त्वं मम पतिर्भूयाः' तथा हे अश्व । गर्भधारकरेतः (वीर्य) को मैं आकृष्ट करती हूं।" कहिये क्या इतने पर भी तुमने वामपथ का अनुसरण नहीं किया है ? निश्चय ही किया है । वेदों के अर्थ करने के मार्ग को प्रशस्त करने वाले योगी दयानन्द पर आक्षेप करते हो । ऐसे स्थलों के सत्यार्थ जो महर्षि ने किए हैं उन्हें यथास्थान देखिये । अब समझा आपने, दयानन्दीय मत तो चार्वाक मत का उच्छेदक है न कि उनका उच्छिष्ट, इस बात को शिष्ट विद्वान् पुरुष जानते हैं ।

(पृ॰ ५६१।अनु०१)—पू० प० 'द्रव्य संस्कार कर्मसु' से लेकर 'ऋतु से धर्म होता है' एतत् पर्यन्त स्वामी द्वारा सारा कथन बाल भाषित है तथा इससे नास्तिकता को भी बढ़ावा मिलता है । यह शास्त्रों की अनभिज्ञता मूलक और वेद-बाह्य नास्तिकता से प्रभावित अन्तःकरण से प्रसूत है ।

उ० प०—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकायाम् "द्रव्य-संस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फल-श्रुतिरर्थवादः 'द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारस्तु क्रतुधर्मः स्यात्" मी० ४।३।१८ आभ्यां सूत्राभ्यां केवलमियमेव पुष्टिर्विहता, यद् 'यज्ञेषु द्रव्यं, संस्कारः, कर्म चैतत्त्रिकमावश्यकं जायते, तद् यज्ञ-कर्त्रा कर्त्तव्यम्। संस्कृत-द्रव्यैश्च होमेन वायुमण्डले विचित्रमेव परिवर्त्तनं जायते स होमः वायु वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति।" यज्ञः परोपकारायैव भवति। कुतः तस्य परार्थत्वात् अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादो स्तुतिनिन्दा परकृति पुराकल्प रूपः) अनर्थवारणाय भवति। तथैव होम क्रियार्थानां द्रव्याणां-पुरुषाणां च यः संस्कारः स तु क्रतु-धर्म एव।' किमयं नार्थो ध्वनितः आभ्याम्? किन्नाऽसौ सङ्गतः? नूनं न केवलं ध्वनितः अपितु सर्वथा सङ्गतः एव।

यथा हि व्याकरणस्य नियमो व्याकरणातिरिक्त-विषयेष्वपि सङ्घटते यथा "गौण मुख्ययोर्मुख्य एव कार्यसम्प्रत्ययः" इति तथैव 'तयोः सूत्रयोः सामान्यो ध्वनितोऽर्थोऽत्रप्रमाणीकृतः संगतश्च।

उ. प.—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में 'द्रव्य संस्कार' कर्मसु. तथा द्रव्याणां तु क्रियार्थानाम०। मीमांसा ४।३।१ तथा ८ सूत्रों से केवल यही पुष्टि की गई है, कि यज्ञों में द्रव्य, संस्कार और कर्म यह त्रिक प्रधानतया आवश्यक होता है। वह यज्ञकर्त्ता को करना चाहिये। संस्कृत-द्रव्यों के होम करने से वायुमडल में विचित्र ही परिवर्तन होता है। वह होम वायु और वृष्टिजल को निर्दोष करके सर्वजगत् के सुख के लिये ही होता है···यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है क्योंकि वह परार्थ होता है। इसलिये यज्ञ की फलश्रुति अर्थवाद रूप अनर्थ के निवारण के लिये होती है। इसी प्रकार होम की क्रिया के अर्थ द्रव्यों का तथा पुरुषों का संस्कार ही क्रतु-धर्म है। क्या यह अर्थ सूत्रों से ध्वनित नहीं होता? क्या यह अर्थ सङ्गत नहीं है? न केवल ध्वनित होता है अपितु सर्वथा सङ्गत भी है।

जैसे व्याकरण का नियम व्याकरणातिरिक्त विषयों में भी घटित हो जाता है यथा "गौण और मुख्य उभय के विचार आने पर मुख्य में ही कार्य सम्प्रत्यय होता है" उसी प्रकार उक्त दोनों सूत्रों का सामान्य ध्वनित अर्थ यहाँ प्रमाणीकृत तथा सङ्गत है। जो विशिष्ट अर्थ है, उसकी यहाँ व्याख्या नहीं की गई,

यश्च किल विशिष्टोऽर्थोऽसौ न व्याख्यातोऽनुपयोगित्वादिह। प्रकरणस्य नामैवोक्तार्थं सङ्गमयति "द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थाऽधिकरणम्" इति, उदाहरणन्तु स्पष्ट-प्रतिपत्तये।

भवदुक्तिर्यदेतत् समग्रं बालभाषितम्, सत्यं "बालेभ्योबालमतिभ्यो भाषितम् अल्पमतिका अपि उदाहरणेन सम्यगवबोद्धुं शक्नुयु र्येन। अन्यथाऽवगतौ भावत्की बालिशता।

आक्षेप :—"उपरिर्दर्शित-उभयसूत्रार्थो नास्तिक्यावहः, वेद-बाह्यत्वात्"

समा०—का नामात्र वेदबाह्यता? कथं च? किं नैष शब्दार्थः? मध्यकालीन-टीकाग्रस्तमतित्वान्न तत्त्वार्थमवगच्छति भवान्। परम भागवतस्य महर्षेर्व्यासस्य शिष्यस्य जैमिनेः अनीश्वरतां, जगन्नित्यत्व-वादितां, जीवात्मनश्च व्यापकत्वप्रतिपादनां प्रचारयतां पुराण-परायणमतीनां भवादृशां किन्नैषा नास्तिकता?

क्योंकि यहाँ उसका उपयोग नहीं था। प्रकरण का नाम ही उक्तार्थ को सङ्गत बना रहा है कि "द्रव्य संस्कार कर्मणां क्रत्वर्थाधिकरणम्" यह उदाहरण स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये है।

आपका कथन इस समग्र कथन को बालभाषित मान रहा है, यह सच भी है चतुर्थी समास के अनुसार बालों के लिये भी यह कहा गया है जिससे अल्पबुद्धि भी उदाहरण द्वारा सरलता से समझ सकें, अन्यथा समझें को बालिशता ही कहा जायेगा।

आक्षेपः — ऊपर दिखाया हुआ उक्त सूत्रों का अर्थ नास्तिकता को बढ़ावा देता है क्योंकि वेद वाह्य है।"

समा०—इस अर्थ में वेदबह्याता क्या है? यह बताना चाहिए, क्या यह शब्दार्थ नहीं है? मध्यकालीन टीकाओं से आपकी मतिग्रस्त होने से तत्त्वार्थ को नहीं समझ पा रही है। परम भागवत महर्षि व्यास के शिष्य जैमिनी की अनीश्वरवादिता जगन्नित्यता और जीवात्मा की व्यापकता का प्रचार करने वाले पुराण-परायण-मतियों की क्या यह नास्तिकता नहीं है? क्योंकि वे मानते हैं कि लय या जगदुत्पति नहीं होती, यह सृष्टि सनातन है अतः जगत् के निमित्त-कारण ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है।[1]

यथा हि ते मन्वते :—

न लयो न भवोत्पत्तिर्नित्यः सर्गः सनातनः ।
तस्माज्जगन्निमित्तार्था व्यर्थैवेश्वरकल्पना ॥ १
वेदेऽप्यपौरुषेयेऽतः स्वतः प्रामाण्य-सम्भवात् ।
नेश्वरापेक्षि-प्रामाण्यं ततो नासौ प्रकल्प्यताम् ॥ २
कश्चिन्मीमांसकम्मन्यस्तर्काभास-समाश्रयः ।
वेदानुगोऽपि वैचित्र्यं प्रत्याचष्टे परेश्वरम् ॥ ३

(१) 'जाघनो चैकदेशत्वात्' (मी० ३।३।२०) इत्यादि-सूत्रैः पशुपुच्छकर्त्तनपुरसर-यज्ञविधाने भवादृशघोराज्ञानान्धानां वेदादि-सच्छास्त्रदूषण-दुर्मतिता, विद्यते, किं तदापि अक्षण्णैव आस्तिकता भवतः ? किञ्च भोः !

यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यस्य भूत्यै च सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृ-देवत-कर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन् मनुः ॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थ-विद्द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥
(मनु० ५।४०, ४१, ४२)

"वेद के अपौरुषय होने तथा स्वतः प्रामाण्य सम्भव होने पर प्रामाण्य के लिये ईश्वर की अपेक्षा नहीं, अतः वह अकल्पनीय है।[२] कोई आप सदृश स्वयं को मीमांसकमन्य कुतर्कों का आश्रय लेने वाला वेदानुयायी भी (प्रत्यक्षतः) आश्चर्य है कि ईश्वर का भी प्रत्याख्यान करने लगता है। जबकि नासदीय सूक्त में स्पष्ट रूप से जगदुत्पत्ति तथा लय का वर्णन किया गया है।

(१) "जाघनीचैक देशत्वात्" (मी० ३।३।२०) आदि सूत्रों से पशुओं की पूंछ काटना यज्ञ विधान में सिद्ध करना, आप जैसे घोर अज्ञानान्धों की वेदादि उत्तम शास्त्रों के दूषण में जब दुर्गति है, क्या तब भी आपकी आस्तिकता अक्षुण्ण बनी रही ?

'यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा, आदि (म. ५।४०,४१,४२) प्रक्षिप्त श्लोकों से मांस-भक्षण विधान के पाटव को धारण करने वाले आप दम्भी वेद-शास्त्र विरोधियों की आस्तिकता क्या अब भी अक्षुण्ण है ?

इत्यादिभिः (अस्मन्मते तु प्रक्षिप्तैः) श्लोकैः मांसभक्षणविधान पाटवं बिभ्रतां भवतां दम्भिनां वेद-शास्त्र विरोधिनामक्षतमेव आस्तिक्यम् अद्यापि किम् ?

(२) यस्याऽश्वमेधस्य वर्णनं कुर्वद्भिः मीमांसादि टीकाकृद्भिरसंख्यातजीवहनन-विधानं मीमांसादि-शास्त्रेषु मण्डित, परं तत्र नैवास्ति तद्वधविधानमिति सर्वकल्याणकामेन दयालुना दयानन्देन प्रत्यपादि, येन परःसहस्रजीवरक्षणमभूत्। येन च षट्शास्त्रकृतां परस्पराऽविरोधं प्रतिपाद्य वेद-समर्थकत्वं परिपोषितम्, तमास्तिक-शिरोमणि योगिनं 'नास्तिक' शब्देन लाञ्छयन्नत्र करपात्रः कथं न त्रपते ? इति महदाश्चर्यम्।

(३) तेन सौत्रामण्यां सुरापानस्वैरिताऽपहृता वः, किमत एव तस्य ऋषेर्नास्तिकता प्रोच्यते भवता।

(४) तेन चौरजारशिखामण्यादिविशेषणैर्भगवतः कृष्णस्य चरितं दूषयतां पौराणिकानां भवता निःसारताद्घोषिता, वेदानामश्लीलार्थ-विधान-दक्षाणां वेदविनाशिनाम् महीधरादीनां भवदर्चनीयानां दुष्कृत्यार्थश्च समालोच्य प्रकाशितः, किमेषास्ति नास्तिक-

---

(२) जिस अश्वमेघ का वर्णन करते हुये मीमांसा आदि के टीकाकारों ने असंख्यात जीवों का हनन विधान मीमांसादि शास्त्रों में मढ़ दिया है पर वहाँ वैसा विधान नहीं है—यह बात सर्व कल्याण करने वाले दयालु दयानन्द ने प्रतिपादित की, जिससे सहस्रों जीवों का संरक्षण हुआ। उन्होंने छः शास्त्र कर्त्ताओं के परस्पर अविरोधभाव का प्रतिपादन कर वेद-समर्थकत्व परिपुष्ट किया। उन आस्तिक शिरोमणि योगी दयानन्द को 'नास्तिक' शब्द से लाञ्छित करते हुये करपात्रीजी निर्लज्ज क्यों बन गये ?

(३) आप लोगों की सौत्रमाणी यज्ञ में मदिरापान की स्वेच्छाचारिता ऋषि ने समाप्त कर दी। क्या इसीलिये आप नास्तिकता का लाञ्छन लगा रहे हैं ?

(४) चोर जार शिरोमणि आदि विशेषणों से योगिराज कृष्ण के चरित को दूषित करने वाले पौराणिकों की पोल खोल दी। वेदों के अश्लील अर्थ करने में दक्ष वेद विनाशक महीधर आदि आपके अर्चनीयों के दुष्कृत्यार्थ की

भावो महनीयस्य महर्षिदयानन्दस्य ?

(५) मूर्त्तिपूजाऽवतारवादो वा सर्वथाऽवैदिक इति घोषयता महर्षिणा वेदविरुद्ध भैरवादि-पूजा-परायणानामुदरम्भरिता निराकृता, किमदोऽस्ति नास्तिक्यम् महर्षेः ?

(६) 'राजसूये यजमानोऽक्षै र्दीव्य इत्यादि कुचक्रचालन चतुराणां निःसारता प्रदर्शिता, सर्वमेधयज्ञे कात्यायन महीधराभ्यां प्रतिपादितं कमलकमनीयकलेवरकन्या-शिरश्छेदविधानरूपकुकृत्या-चरणं गर्हितवैदिकं चेति प्रतिपादितम् ऋषिणा। एतद् अस्ति किं नास्तिकतावहत्वम् वन्दनीय-लोक शङ्करस्य मूलशङ्करस्य ?

पक्षपात निपातेन मतिर्याता विपर्ययम्।
असूयोपहता सेर्ष्या न तथ्यं विचिनोति हा ॥ १ ॥
रूढिग्रस्तधियो नैव विकासः सम्भवेत् क्वचित्।
लिखत्यनुकृतावेष मक्षिका भुवि मक्षिकाम् ॥ २ ॥

(पू० प०) द्रव्य संस्कारकर्मसु, इति सप्तम्यन्तं पदं। सौत्रीं श्रुतां सप्तमीमपलप्य प्रथमारूपेण तस्या विपरिणामो बलात्कार उच्छृङ्खलत्वमेव द्योतयति। 'कर्त्तव्य' पदाध्याहारो निर्मूल एव। तस्माद् द्रव्यं संस्कारकर्मसु वार्त्तात्रयं कर्त्तव्यमिति तु अशुद्धार्थ एव।

(पू० प०) (उ. प.) अत्र हि न ऋषिणासूत्रे विभक्ति विपरिणामो व्यधायि, एतत्तु द्रव्यसंस्कारकर्मसु ते वचो-धाष्ट्र्यमेव, यद्

समालोचना की, क्या महनीय महर्षि का यही नास्तिकता का भाव है ?

(५) या कि मूर्त्तिपूजा, अवतरवाद सर्वथा अवैदिक है, यह घोषणा करते हुये महर्षि ने वेद-विरुद्ध भैरवादि की पूजा-परायणों की उदरपूर्त्ति समाप्त कर दी। क्या यही महर्षि का नास्तिक्य भाव है ?

'राजसूय में यजमान जुआ खोलता है' इत्यादि कुचक्रचालन में चतुर लोगों की पोल प्रदर्शित कर दी। सर्वमेध यज्ञ में कात्यायन और महीधर के द्वारा प्रतिपादित कोमल-कमनीय-कलेवर कन्याओं का शिरश्छेद विधानरूप कुकर्माचरण गर्हित और अवैदिक हैं एसा ऋषि ने बता दिया, क्या वन्दनीय लोककल्याणकारक मूल शङ्कर का यही नास्तिकतावहत्व है ?

(५६२।अनु० १)—द्रव्य संस्कारकर्थसु, यह सप्तस्यन्त पद है। सूत्र में सुनी गई सप्तमी का अपलाप करके प्रथमा के रूप में विपरिणाम जबर्दस्ती

ऊहितार्थाभिव्यञ्जने प्रयुक्तकारकं बलात्-कारेण विपरिणामेन योजयते। किमत्र कर्त्रा द्रव्य संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं नहि क्रियते ? पदेषु प्रथमा वाक्य-विग्रहाऽपेक्षिता। कर्त्तव्यशब्दस्याध्याहारोऽर्थात् वाक्याकाङ्क्षासमापक-पदानुसन्धानमुपयुज्यते एव, यतोहि द्रव्यादीनि ऋत्वर्थान्येव, कथमपि क्रतुः सिध्येत् क्रतुरपि धर्मार्थश्चास्ति।

ऋषिणाभ्यूहितोऽर्थस्तु पदैर्बुद्ध्या च सङ्गच्छते, शास्त्राभिप्राया-ऽनुसरणात्। न हि पूर्वकृतटीकैवाऽनुसृता तेन 'अन्धेनैव नीयमानाः यथा-ऽन्धाः इत्यनुरुध्य, अतोनायमर्थोऽशुद्धः, भवद्दूषितमति-कल्पनैवा ऽशुद्धा या अनीश्वरवादे जैन-मतानुवर्त्तक-शबर-स्वामिनां रूढिश्रृंङ्खलया निगडिता।

यदुक्तं 'केन प्रमाणेन द्रव्य-शब्देन सुगन्ध्यादीनां ग्रहणमित्यत्र तु क्रत्वधिकरणमेव प्रमाणम्, यदस्ति नहि दुर्गन्धपदार्था यज्ञे प्रयोज्याः

और उच्छृङ्खलता को ही सूचित करता है। 'कर्त्तव्य पद का अध्याहार भी निर्मूल है। इस तरह द्रव्य, संस्कार, कर्म से तीन बातें मनुष्य को करनी चाहियें, यह अर्थ अशुद्ध ही होगा।

उ० प०—पक्षपात में गिरने से आपकी मति उलटी हो गई, जो असूया (गुणों में दोष ढूंढ़ना) से विनष्ट तथा ईर्ष्यायुक्त होकर तथ्य का चयन नहीं करती।१।। सत्य है, रूढ़ि से ग्रस्त मति वाले का कभी विकास नहीं हो सकता, क्योंकि अनुकरण में वह मक्खी के स्थान पर मक्खी ही बैठाता है।।२।।

यहां द्रव्य संस्कार और कर्म में जो फलश्रुति है, वह अर्थवाद है तथा पदार्थ है। इसमें ऋषि ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ये तीनों भी यज्ञकर्त्ता पुरुष से ही करणीय हैं। इस पर आप कहते हैं कि विभक्ति सप्तमी का प्रथमा में विपरिणाम कर दिया, ऊहित अर्थ की अभिव्यञ्जना करने में (द्रव्याणि च, संस्काराश्च, कर्माणि च तेषु, इन पदों को प्रथमा का प्रयोग तो वाक्य रचना से अपेक्षित है जो कि आवश्यक है, इसमें क्या अनर्थ किया ?)

कर्त्तव्यता प्रतिपादक सूत्र की विपरीतता क्या हुई, ऋषि ने सूत्रगत पद-वाक्य की आकांक्षा अर्थात् इन तीनों में फलश्रुति है, तो ये किसके द्वारा

इति। नास्ति इह विरोधस्त्रितयस्य तदन्तर्गतस्यैवैकस्य द्रव्यस्य प्राथम्येन विशेष-संस्कार-वोधकत्वात्।

यदुच्यते "इमानि चतुर्विधानि एव द्रव्य-शब्देन कथं गृह्यन्ते? इत्यसङ्गतः प्रश्नः, हवने एषामेव प्रसङ्गोपात्तत्वात्। नहि 'पृथिव्याप्तेजोवाय्वादिनव-द्रव्य-ग्रहणमुपयुज्येत।

तथा च द्रव्य-पदेन इटावा-निवासी श्री भीमसेन शर्मणाऽपि-षोडशसंस्कारविधौ हवनीय-द्रव्यादि-प्रमाणानि ग्रलिख्यन्त, तान्येव सम्प्रति प्रस्तूयन्ते "यदाग्नौ जुहुयाद् यजमानः तदा"—

"यथोक्तवस्त्वसम्प्राप्तौ ग्राह्यं तदनुकारि यत्।
यवानामिव गोधूमाः, ब्रीहीणामिव शालयः॥
ग्राज्य-द्रव्यमनादेशे………………………………?
दध्यलाभे पयः कार्यं मध्वलाभे तथा गुडः।
कर्पूरमगरुश्चैव कस्तूरी चन्दनं तथा॥
कर्पूरं चन्दनं दर्पं, कुङ्कुमं च समांशकम्।
सर्वगन्धमिति प्रोक्तं समस्त-सुरवल्लभम्॥

कर्त्तव्य है? इस आकांक्षा समापक पद का ग्रनुसंधान करना ठीक समझा, ये द्रव्यादि त्रय क्रत्वर्थ है, और क्रतु धर्मार्थ है।

यह ग्रर्थ पदों तथा बुद्धि के ग्रनुकूल है जो ऋषि दयानन्द ने अभ्यूहित किया है। ग्रतः ग्रशुद्ध नहीं है। उन्होंने पूर्वक्त टीका का ग्रनुसरण नहीं किया।

आपकी दूषित-मति की कल्पना ही अशुद्ध है, जो कि ग्रनीश्वरवाद में जैनों का अनुवर्त्तन करने वाले शवर स्वामी की रूढ़ि शृङ्खला से निगडित है। यह कथन कि 'किस प्रमाण से द्रव्यशब्द से सुगन्धित द्रव्यों का ग्रहण किया? उत्तर है कि बुद्धि तथा प्रमाण के द्वारा ही, क्रतु का ग्रधिकरण होने से ग्रहण किया, क्योंकि यज्ञ में दुर्गन्ध पदार्थों का ग्रहण नहीं होता। यह कहना कि 'चार संख्या वाले द्रव्यों का संस्कार करना चाहिये ग्रथवा द्रव्य' संस्कार ग्रौर कर्म इसत्रितय का पूर्वोक्त वाक्य से विरोध है।" ग्रापका प्रलापमात्र है। उस त्रिक के ग्रन्तर्गत द्रव्य का प्रधानत्वेन विशेष संस्कार करना चाहिये।

यह कथन कि 'ये चतुर्विध ही द्रव्य शब्द से क्यों लिये जाते हैं? ग्रसङ्गत प्रश्न है, क्योंकि हवन के प्रसङ्ग में ये ही उपादेय हैं न कि पृथिवी, जल, तेज,

कुष्ठमांसी हरिद्रे द्वे, मुराशैलेय चन्दनम् ।
वचा चम्पक मुस्ता च सर्वौषध्यो दशस्मृताः ।।
एवमन्यान्यपि प्रमाणनि यथा च·················

षट्त्रिशन्मते सप्तधान्यानिः-
"यव गोधूमधान्यानि तिलाःकङ्गुश्च मुद्गकाः ।
श्यामाकाश्चणकाश्चैव सप्तधान्यमुदाहृताः
"हेमाद्रौ चाष्ट धान्यानि"
पायसान्नै स्त्रिमध्वक्तै द्राक्षारम्भाफलादिभिः ।
मातुलुङ्गैरिक्षुदण्डै र्नारिकेल युतैस्तिलैः ।।

जातीफलैरामफलैरन्यैर्मधुर वस्तुभिः ।" इति प्रमाणानि चतुर्विधद्रव्य-होमे । भव्यानुभावाः विचक्षणाः ! साम्प्रतं तन्यमानां करपात्र-

---

वाय्वादि नव द्रव्य । तुम्हारे ही मान्य इटावा निवासी श्री भीमसेन शर्मा ने षोडश संस्कार विधि में हवनीय द्रव्यादि के प्रमाण लिखे हैं, वे ही सम्प्रति प्रस्तुत किये जा रहे हैं "जब यजमान अग्नि में आहुति दे तब 'यथोक्त वस्तु की अप्राप्ति में उसकी अनुकारी वस्तु ग्रहण की जावे । जैसे यवों के स्थान पर गोधूम, ब्रीहि के स्थान पर शालि, दधि के स्थान पर दूध, मधु के अभाव में गुड़, कपूर, अगर, कस्तूरी, चन्दन इत्यादि औषधियाँ देव-प्रिय हैं ।

तथा अन्य प्रमाण भी हैं यथा—यव, गोधूम, तिल, कङ्गु, मूंग, श्यामाक, चना ये सप्तधान्य हैं । इत्यादि ।

भव्यानुभाव विद्वज्जन ! अब विकासशील करपात्रीजी की प्रतिभा का दर्शन कीजिये । यह कैसा बालिशत्व है कि क्या मनुष्य अन्न, घृत, दुग्ध, केसर, कस्तूरी आदि को उत्पन्न करने में समर्थ हैं ? यतिवर ! मनुष्य तो अन्नादिक को भी उत्पन्न करता है । ओह ! आपका यह अभिप्राय है कि जैसे गो दूध देती है, उसी प्रकार क्या मनुष्य भी दूध उत्पन्न कर सकता है, हाँ, क्यों नहीं ? परन्तु कोई पौराणिक मतिशल्य चिकित्सक पैदा हो, वह गणपति के कटे हुये सिर के स्थान पर हाथी का सिर काट के जोड़ने के समान मनुष्य के भी उदर के अधोभाग में गाय का अर्ध सस्तन पृष्ठ भाग जोड़ दे तब दूध देना सम्भव हो सकता है ।

परस्पर संमिश्रणात्मक संस्कार क्या है ? आदि कथन अबोध मूलक है। क्योंकि आपने ऋषि की शब्दावली पर विचार नहीं किया, "तेषां संस्कारः

प्रतिभां निभालयन्तु कीदृग् बालिशत्वम् प्रतिभाति यत् "किं मनुष्यः अन्न-धृत-दुग्ध-केसर-कस्तूर्यादिकमुत्पादयितुमर्हति ? यतिवर! मनुष्यस्तु उत्पादयति एव । ओह ! नैव, तवायमभिप्रायः, यथा गौर्दुग्धं ददाति तथा किं मनुष्योऽपि दातुं प्रभवति ? आम् कथं न ? परं कश्चित् पौराणिकमतिः शल्यचिकित्सको जायेत स गणपतेश्छिन्नमस्तिष्कस्थाने करिमस्तकयोजनवत् मनुष्यस्याऽपि उदराधोभागे गोरर्धपृष्ठभागंसस्तनं योजयेत् तदा सम्भाव्यते । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ।

अधुनाऽपि विज्ञानेन परीक्ष्य वाय्वादि-शुद्धिरन्ये च यज्ञ-गुणा प्रख्यापिता एव । संस्कारः एकैक-द्रव्यस्य मिश्रितानां वा द्रव्याणाम् यथाविधानं चरुपुरोडाशादि-निर्माणे यथायथं कुर्यात्, न काऽपि विप्रतिपत्तिः । आचार्यदयानन्दस्य लेखः सप्रमाणं साधित एवेह । ऐतरेयालोचने पृ० ८५ सनातनधर्मिणामग्रजेन श्री सत्यव्रत सामश्रमिणा सन्दर्भितमप्यालोकनीयम्, यया-तत्र चाग्नौ विविध सुगन्धादि द्रव्य-दानविधानं च श्रुतमस्ति । तद् यथा "कुलापमिव ह्येतद् यज्ञे क्रियते यत् पैतुदा र वाः परिधयो गुग्लूर्णास्तुकासुगन्धि-तेजनानीति" इति तैत्तिरीय (१.५.२) । तैः सुगन्ध्यादिभिःगृहजातवायुदोषोऽपि-प्रशमितो भवतीति च दृष्टम् यदग्नौ आज्याशिरपयः पयस्यासान्नाय्य

कर्त्तव्यः परस्परमुत्तमगुणसम्पादनार्थम्" अर्थात् यज्ञ द्रव्यों का संस्कार करना चाहिये, क्योंकि अन्य-अन्य विविध द्रव्य जो ऋतु के अनुकूल संचित किये जाते हैं, उनके विविध मिश्रण में पृथक्-पृथक् रोगनाशक क्षमता तथा आरोग्य-दान शक्ति होती है, लिखा है ।

अब तो विज्ञान के द्वारा परीक्षा करके वाय्वादि शुद्धि तथा और भी यज्ञ के गुण प्रसिद्ध किये हैं । एक-एक द्रव्य का अथवा मिश्रितों का विधानानुसार चरु, पुरोडाश आदि निर्माण करें, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं ।

आचार्य दयानन्द का लेख हमने सप्रमाण सिद्ध कर दिया । ऐतरेयालोचन के पृ० ८५ पर सनातन धर्मियों के अग्रज श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी ने इस विषय में जो सन्दर्भित किया है, उसे भी देखिये यथा—"कुलापमिव" आदि प्रमाणानुसार इन सुगन्धित द्रव्यों से घर का उत्पन्न वायुदोष भी प्रशान्त हो जाता है, ऐसा देखा गया है—

और जो अग्नि में घृत दूध चरु पुरोडाश सोम आदि आहुतियाँ दी

चरुपुरोडाशसोमाद्याहुतयः प्रदीयन्ते, ततस्तद्वाष्पप्रसूता वृष्टि-धारास्त-त्तद्गुणयुक्ताः भवन्त्येवेति तज्जातौषध्यादीनां भक्षणतः आज्यादि साराहार एव सम्पद्यतेऽस्माकमिति च दृष्टमेव। अदृष्टं तु स्वर्गादि, श्रुतिमानगम्यम्" इति सनातन-धर्मिमान्य एष आचार्य-दयानन्दलेखं सडिण्डिमघोषं पुष्णाति।

(५६२।अनु·२)—शङ्का-अन्नेषु किं गोधूमादयोऽपि ग्राह्याः-यज्ञे ?"

समा०—अल्पाधीतेन भवता ऋषि-प्रणीतः 'संस्कार-विधिरेवाव-लोकनीयः, तत्र चतुर्विध-होम-द्रव्य-सूच्यां पुष्टिकारकाणि घृत-दुग्ध-फल-कन्दान्नव्रीहि गोधूममाषादीनि विलिखितानि। तत्रापि यथर्तु-द्रव्योपयोगविचारः समादर्त्तव्यः।

यदुच्यते "तेषां द्रव्याणामुत्तम-गुण-संस्कारः कथं कर्त्तव्यः ? यथासूपे घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य चमसं चालयति तथैव मुखं वद्ध्वा चमसं चालयेत् ?"

समा०—सत्यम् एवं, कुण्ठितधियामपि संस्कारं कुर्वीत, सुप्रतप्त

जाती हैं उनसे वाष्प प्रसूत वृष्टिधारायें तत्तद् गुण युक्त होती हैं उस जल-धारा से समुत्पन्न औषधियों के खाने से आज्यादि-सार का आहार हमको प्राप्त होता है यह भी देखने में आता है। स्वर्गादि की प्राप्ति तो अदृष्ट और श्रुतमात्र है।' इस प्रकार एक सनातन-धर्मि-विद्वान् आचार्य-दयानन्द के मान्य लेख की पुष्टि करते हैं।

(पृ.५६२।अनु० २)—शङ्का-'अन्नों में क्या गेहूं आदि का भी ग्रहण है ?'

समा०—अल्प अध्ययन वाले आपको ऋषि प्रणीत संस्कार विधि पढ़नी चाहिये वहाँ चतुर्विध होम द्रव्य सूची में—पुष्टि कारक घी, दूध, फल, कन्द, अन्न व्रीहि, गोधूम, उड़द आदि लिखे हैं, वहाँ भी ऋतु के अनुसार द्रव्य के उपयोग का विचार करना चाहिए।

शङ्का—यह कहना कि उन द्रव्यों का उत्तम गुण संस्कार कैसे करना चाहिए ? क्या जैसे दाल में चमसा में तपे घी को पात्र का मुख ढाँप कर चलाते हैं ? क्या उसी प्रकार अन्न, दूध, सोमलतादि को पकाकर उसमें धुंआ निकलने पर मुंह बांध कर चलावे ?

समा०—सत्य है, यदि ऐसे कुतर्की कुण्ठित बुद्धि वालों का संस्कार किया

घृत-चमसं मुखे प्रवेश्यान्तश्चालयेत्, मुखं पिधाय येन न चीत्कारोऽपि निःसरेत्। द्रव्य-संस्कारं तु बाललीलायितमेव वक्ति भवान्। किं संस्कार-शब्देन सर्वत्र चमसचालनावगमनम्? न महा-मौर्ख्यमेतत् न वा धाष्ट्र्य-व्याजृम्भणम्? अयमेव संस्कारार्थोऽभिलषितश्चेत्-त्वय्यपि त्वद्भक्तानामेव कर्त्तव्यतेष्टा। करपात्रे द्वौ हेतू तु उपस्थितौ (करश्च पात्रंच) एवं केवलं सघृतचमसोऽन्वेषणीयः। सत्यमिदम्

करपात्र - करौ धन्यौ सत्य - खण्डनतत्परौ,।
मतिपात्रं तथा धन्यम् अनृतं यद् बिभर्त्ति वै।"

भवान् संस्कार-शब्देन 'चमसे घृतं प्रतप्य' इत्येवावगच्छति, तर्हि "कुण्डसंस्कारादिकर्म" इत्यत्राऽपि 'चमसे घृतं प्रतप्य, एवमर्थं योजयिष्यति? परिसमूह्योपलिप्योल्लिख्यादिकं विहाय, तथैव च किं "प्रोक्षणीः संस्कृत्य" अत्रापि? साधुवादार्हाऽस्ति ते मतिः! एतस्य पृष्ठस्यान्तिमपङ्क्तौ सधूमे इति प्रयोक्तव्ये "सधमे इत्यपशब्दमसंस्कृतमेव प्रायुङ्क्त। सर्वचमसन्यायेन, संस्कारकरिष्णुर्नात्रास्मरत् अपेक्षित-संस्कारम्।

जावे, तब निश्चित ही सुप्रतप्त घी वाले चमचे को मुख में प्रविष्ट कर भीतर चलावे, मुख इसीलिये भी बन्द कर ले, जिससे चीत्कार भी न निकले। आप द्रव्यों के संस्कार वर्णन को बाल-लीला (खिलवाड़) बता रहे हैं, आश्चर्य है आप की बुद्धि पर, क्या संस्कार शब्द से सर्वत्र हाथ से चमसाचालन ही समझते हैं? क्या यह भी मूर्खता या धृष्ट-प्रजल्पन नहीं है? यदि आपको संस्कार का यही अर्थ अभिलषित हो, तो क्या आपके प्रति भी आपके भक्तों के द्वारा भोजन समय ऐसा ही करना अभीष्ट है? करपात्री जी में कर और पात्र दो तो उपस्थित हैं, केवल सघृत चमसा ही और लाना पड़ेगा।

"करपात्री जी के हाथ तो धन्यवाद के योग्य हैं, जो कि सत्य का भी खण्डन लिखने में तत्पर हैं, क्या उसी प्रकार उनका बुद्धिपात्र भी धन्य है? जो कि अनृत से भरा है।" और जो कि संस्कार शब्द से 'चमचे में घी तपाकर' यही समझते हो तब तो 'कुण्डसंस्कारादि कर्म' यहाँ पर भी 'चमचे में घी तपाकर' यही समझोगे और परिसमूहन, उपलेपन, उल्लेखनादि को छोड़ दोगे। उसी प्रकार 'प्रोक्षणी का संस्कार, यहाँ पर भी चमचे में 'घी तपाकर' यही अर्थ लगाओगे? आपकी यह बुद्धि तो साधुवाद के योग्य है! इस पृष्ठ के

(पृ० ५६३ पं. २) यच्चोक्तम् "चमसस्तु काष्ठमयो भवति, तत्र घृतं निक्षिप्य प्रतापयितुं न शक्यते।" इति

तत्र पृच्छामि भवन्तमनिकेतनम् 'भक्ताः संस्कृतानि स्वादूनि प्राशनानि भोजयन्ति, किं तेषामपि गृहे काष्ठचमसा एव प्रयुज्यन्ते शाक सूपादि-संस्कारे ?, अथवा स्वर्णरजतलौहादि-निर्मित-चमसाकाराणां वस्तूनां किं संस्कृतं स्यात् ? यज्ञे पुरा प्रयुक्ताः काष्ठ-चमसाः। आधुनिकाः 'पित्तलादि-निर्मितान् तदाकारान् चमसत्वेन ख्यापयन्ति हि। इयं तु प्रयोक्तुमतिर्यत् घृतं काष्ठमयेऽन्यस्मिन् वा चमसे प्रतापयेत्।

काष्ठस्य चमसश्चेत्ते, बुद्धिः काष्ठमयी कथम् ?
नाद्याऽपि या विनिर्माति, चमसान् पैत्तलादिकान्॥
सन्द्रक्ष्यन्ति स्वयं शिष्टाः अग्रेऽनर्गल-भाषणम्।
नातो ग्रन्थ शरीरस्य वर्धनाय प्रपञ्च्यते॥

(५६३।अनु० १)—सुधियो ध्यायन्तु, अयं प्रच्छन्नश्चार्वाकोऽन्तरात्मना यज्ञीय-संस्कृति-विद्वेषी, लोकान् वञ्चयितुं घृतबृहद् याग-

---

अन्तिम पंक्ति में 'सधमे' यह असंस्कृत शब्द ही प्रयुक्त किया है। सर्वचमस-न्याय से संस्कार करने वाले आपको क्या अपेक्षित संस्कार स्मृतिगत नहीं हुआ ?

(पृ० ५६३ पं. २)—वह कथन 'चमसा तो काठ का होता है उसमें घी डाल कर तपाया नहीं जा सकता' बुद्धिबाह्य है। अनिकेतन आप इस विषय में बताइये कि जब आपके भक्त संस्कारयुक्त स्वादिष्ट भोजन खिलाते हैं, तो क्या उन सभी के घर काष्ठमय चमसों का ही सूपादि संस्कार में प्रयोग होता है अथवा बताइये स्वर्ण रजत, लौहादि निर्मित चमसाकार पात्रों की संस्कृत क्या होगी ? यज्ञ में पहले काष्ठ चमसों का विधान था। आधुनिक लोग पातल आदि से निर्मित चमसाकार पात्रों को चमसा ही कहते हैं। यह तो प्रयोक्ता की बुद्धि है कि वह घी को काठ के चम्मच में तपाये या धातु निर्मित में।

अरे भाई ! 'अगर काठ का ही तुम्हारे पास चम्मच उपलब्ध है तो बुद्धि तो काठ की मत रक्खो, जो कि आज भी पीतल आदि धातुओं से चम्मच तैयार करने को तैयार नहीं है। शिष्ट लोग स्वयं देखें, जो आगे भी इन्होंने अनर्गल भाषण किया है, अतः ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के लिये अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है।

(५६३। अनु० १)—बुद्धिमान् ध्यान दें कि ये प्रच्छन्न चार्वाक

विधायक-कपट-वेशो उल्लिखति (पू. प.) "यज्ञादुत्पन्नो वाष्पो न जगद्धिताय, नेह च वेद प्रमाणम्-कथं सीमितघृत कस्तूरिकादिहोमेनाऽपरिमितमलमूत्रचर्ममज्जामांसास्थ्यादिदौर्गन्ध्यापसारणं सम्भवति ? पृथिवी जलाग्न्यादिभिरपि स्वभावादेव तद्दौर्गन्ध्यमपाक्रियते, तदा तैरेव तत्सम्भवेत्, किमन्तर्गडुना घृत-दुग्धान्नौषधि-प्रज्ज्वालनेन ? आधूनिक वैज्ञानिकव्यवस्थायान्तु होमादिमन्तराऽपि महाशुद्धिः दृश्यते।"

समा०—इदं तु सुपरीक्षितं वैज्ञानिकं तथ्यं यदग्निरुत्तमोविभाजकः पदार्थानाम्। किञ्च "धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातस्तु मेघः।"

अग्निः मरुद्भिः सह कथं च मेघान् वर्षणाय सज्जयते, कथं वा वायुमण्डलं शोधयति ? कथं चान्नाद्युत्पादने हेतुरित्यादीनां समासामपि शङ्कानां समाधानमविकलम्, परमिह तु किञ्चिदेवोपन्यस्यते। प्रमाणानि यथाः—(क) मरुद्भिरग्न आगहि। (ऋ० १।१।२९)

अन्तरात्मा से यज्ञीय-संस्कृति के विद्वेषी, लोगों को ठगने के लिये बड़े-बड़े याग कर्त्ता के कपट वेश में लिखते हैं।

पं० १—"यज्ञ से उत्पन्न वाष्प संसार के हित के लिये नहीं है, और न यहाँ वेद प्रमाण है, सीमित घृत, कस्तूरी आदि के होम से अपरिमित मल, मूत्र, चर्म, मज्जा, मांस, अस्थि आदि दुर्गन्ध के दूर करने के लिये कैसे सम्भव है ? पृथिवी, जल, अग्नि आदि के द्वारा भी स्वभाव से ही वह दुर्गन्ध दूर हो जाती है, तब इनसे ही होती रहेगी। फिर क्योंकर घी आदि जलाया जाये ? आधुनिक-वैज्ञानिक-व्यवस्था में होम आदि के बिना भी जैसी शुद्धि देखी जाती है, वैसी अग्नि होत्रियों के घर में नहीं मिलेगी।"

समा०—महोदय ! यह तो सुपरीक्षित वैज्ञानिक तथ्य है कि 'अग्नि पदार्थों का उत्तम शोधक, भेदकएवं विभाजक है। कालिदास ने लिखा है कि 'धूम ज्योति.' जल और वायु का समूह मेघ है।"

अग्नि वायु के साथ मेघों को बरसने के लिये कैसे सम्बद्ध करती है ? और वायुमण्डल को कैसे शुद्ध करती है ? और कैसे अन्नादि के उत्पादन में कारण है ?—इत्यादि सभी शङ्काओं का अविकल समाधान है,परन्तु यहाँ तो कतिपय प्रमाण ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा—

हे यज्ञाग्ने ! मरुद्भि: वायुभि: प्राणैर्विशेषपवनैश्च प्राप्तो भव। किञ्च ऋषेरभिप्रायम् समर्थयते सनातनधर्मिधुरीणः सामश्रमी महाभागः "तदेव यज्ञेषु पार्थिवेऽस्मिन्नग्नौ आहूयमानं बलकरमाज्यचरुसोमादिहव्यं सर्वमेव भस्मीभूय पूर्वं वाष्पाकारेणोपरि गच्छति तदेव वृष्टं पुनरिहागत्य ओषध्यात्मना परिणत्याऽस्मच्छरीरादीनां विशेषतो बलं सम्पादयति तद्धि बलं तत्तदाहारजन्य-बलतोऽपि प्रबलम् इति। अतएवोक्तं 'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै···" इति।

(ख) अयं हि यज्ञीयः पवनः "ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासोरिशादसः मरुद्भिरग्न आगहि"

ये पदार्थच्छिन्न-भिन्नकर्त्तारो रोगनाशकाः उत्तम-गुण-युक्ताः पवनाः सन्ति, तैः सह अयं भौतिको यज्ञीयोऽग्निः कार्यसिद्धिम् प्रयच्छति।

(ग) 'य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्।
मरुद्भिरग्न आगहि।'

(क) हे अग्ने ! मरुतों के साथ आओ। ऋक् १।१।२६

'हे अग्ने ! वायु, प्राण विशेष पवनों के साथ प्राप्त होओ।' सनातन-धर्मि-धुरीण श्री सामश्री भी ऋषि के ही अभिप्राय का समर्थन करते हैं। देखिये—'वही यज्ञों में इस पार्थिव अग्नि में आहूत किया, घृत चरु, सोम आदि द्रव्य सब भस्म होकर पहले वाष्प रूप में ऊपर जाता है, वही बरस कर यहाँ आकर ओषधि रूप में परिणत होकर हमारे शरीर आदि को विशेषतया बलयुक्त करता है। वह बल विभिन्न आहारों से प्रबल हो जाता है। इसीलिये कहा है।' "यज्ञ भी उसी जनता के लिये है" इति।

(ख) यह यज्ञीय पवन 'ये शुभ्रा घोर वर्पसः—"जो पदार्थों के छिन्न-भिन्न करने वाले रोग-नाशक उत्तम-गुण-युक्त पवन हैं, उनके साथ यह भौतिक अग्नि अभीष्ट कार्य-सिद्धि प्रदान करती है।

(ग) 'ये ईङ्खयन्ति' जो वायु पर्वत अर्थात् मेघों को छिन्न-भिन्न करके वर्षा करते हैं, भूमिस्थ समुद्र का भी तिरस्कार करने वाले अन्तरिक्ष के जल से पूर्ण कर देते हैं, उन वायुओं के साथ अग्नि आता है।

ये वायवः पर्वतान् मेघान् छिन्न-भिन्नान् कृत्वा वर्षयन्ति, समुद्र-तिरस्कारिणमन्तरिक्षं जलेन पूरयन्ति, तैर्मरुद्भिः सहाऽयमग्नि-रायाति।

सायणाचार्योऽपि स्वभाष्ये, पावकं द्रव्य-वाहम् शोधकं मनुते (ऋग् १।१।२२।१) मन्त्रार्थे, द्वितीय-मन्त्रस्य भाष्ये "विशां प्रजानां पालकं हव्यवाहं यजमान-समर्पितस्य हविषो देवान् प्रतिवोढारम् अतएव पुरुप्रियमग्निं हविर्भिराह्वानमन्त्रैः सदा आह्वयन्ति" इत्याह। अतो 'जनतायै, जन सुखायेति सिध्यति'। यद् वक्ति 'सुखमयं' कस्य शब्दस्यार्थः? 'यज्ञो जनतायै कल्पते' स्वर्गकामो यजेत' सामर्थ्या-र्थक कृपू धातोः कल्पते इति सिध्यति अर्थात् समर्थो भवति सम्यक् त्वद्धितकारोऽर्थो यस्येत्यर्थे, अतो जनतायै यज्ञः सम्यगर्थवान् भवति, ध्वनितोऽर्थः सुखाय भवतीत्येव, नाऽतो विपरीतः।

यज्ञ-प्रकारस्तु यथा-प्रकरणं न्यगद्यत, एकत्र समग्रसमावेशस्या-सम्भवात्। भवतां तु "याज्ञिक-जन-समूह-पर एव जनता शब्दः, न जन साधारणपरः यतः तत्तद्यजमानकर्तृणां यज्ञानां जनसाधारणा-ऽसम्बद्धत्वात्" इत्यर्थं ध्यायता यज्ञस्य उपयोगः जनसाधारणाऽसम्बद्ध-त्वादिति कथयता त्रिशङ्कुवदाकाशेऽवलम्बितः, परम् ऋषि-दयानन्देन तु यजमान-फलदायकस्याऽपि यज्ञस्य तस्याऽदृष्ट-फलकत्वे सति, जन-साधारणाय वाय्वादि शुद्धि-दृष्ट फल-प्रतिपादनेन पृथिव्यामपि अवता-रितो यज्ञः इत्येवास्त्यन्तरं तव स्वार्थिनो यजमान-क्रीतस्य भाटको (किराये) स्थापितमतेः, जनताकल्याण-साधनसमर्पिताखिल-जीव-नस्य परार्थ-निरतस्य योगिनो दयानन्दस्य च।

सायणाचार्य भी अपने भाष्य में 'पावक हव्यावह को वायु आदि का शोधक मानते हैं (ऋग् १।१।२२।१) द्वितीय मन्त्र भाष्य में कहा है "प्रजाओं के पालक हव्यवाह (अग्नि) यजमान के समर्पित हवि को देवों के प्रति ले जाने वाला है इसीलिए वे प्रिय अग्नि को वेद मन्त्रों से सदा आह्वान करते हैं।" अतः जनता के सुख के लिए यज्ञ सिद्ध है। यह कहना कि 'सुखमयम्' यह किस शब्द का अर्थ है? 'यज्ञ भी उस जनता के लिए समर्थ होता है तथा स्वयं को कामना वाला यज्ञ करें' तो सामर्थ्यार्थक कृपू धातु से 'कल्पते' यह रूप बनता है। समर्थ का अर्थ है सम्यक अर्थात् अच्छे प्रकार हितकारक अर्थ है जिसका। अतः

कश्चिदपि जनता-प्रतिनिधिर्भूत्वा यजमानो जगत्कल्याणाय यज्ञवितानं कर्त्तुमर्हत्येव, यदि नैव तदा पौराणिकानां महतां यज्ञानां समायोजनंप्रवञ्चनाकिम्नैव ? भोः स्वामिन् ! न च तत्र धनव्ययं कुर्वतामेव भद्रं केवलं "धनिनां दानेनाल्पमदृष्टफलं कल्प्यते, शिष्टं तु जनतायै भवति, यदुक्तं 'तस्यै' इति पदं निरर्थकं जायते, तव मते तु प्रकरणमेव निरर्थकं विहितं, त्वया यज्ञानां जनतायै अप्यनुपयोग-प्रतिपादनात् ।

आर्षग्रन्थैस्तु अन्नौषध्यादिज्वलनेन वाय्वादिशुद्धिः, "यज्ञाद् भवति पर्जन्यो पर्जन्यादन्न-सम्भवः इत्यादि यज्ञमहिमा सर्वविदितः। अयं तु नास्तिकः यज्ञं निष्फलमेव मन्यते इति तु धिक् ।

जनता के लिये यज्ञ सम्यग् अर्थवान् होता है । ध्वनित अर्थ 'सुख के लिये ही होता है, इसके विपरीत नहीं ।'

यह कहना कि 'अमुना प्रकारेण' इससे सूचित प्रकार का निर्देश नहीं किया सर्वथा बाल-भाषित है, । यज्ञ का प्रकार तो यथाप्रकरण किया गया है, एकत्र सम्पूर्ण का समावेश नहीं किया जा सकता । आपने तो "याज्ञिक जनसमूह परक ही जनता शब्द है' न कि जन-साधारण परक', 'क्योंकि तत्तद् यजमान कर्त्तृक यज्ञों का जन-साधारण से कोई सम्बन्ध नहीं होता' यह अर्थ करके यज्ञ का उपयोग ही त्रिशङ्कुवत् आकाश में लटका दिया कि जन-साधारण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु ऋषि दयानन्द ने यजमान फलदायक यज्ञ का भी अदृष्ट फल जनक होने के साथ सर्वजनों के लिये वाय्वादि शुद्धि रूप इष्ट-फल प्रतिपादन के द्वारा तुम्हारे अदृष्ट लोक से पृथिवी पर भी यज्ञ अवतीर्ण कर लिया"

बस यही अन्तर है यजमानों द्वारा क्रीत स्वार्थी आपकी किराये पर उठी बुद्धि वाले आप में और जनता के कल्याण-साधन में समस्त जीवन को समर्पित करने वाले परोपकारी योगी दयानन्द में ।

कोई भी जनता का प्रतिनिधि होकर यजमान जग-कल्याण के लिये यज्ञ-वितान कर सकता है, यदि नहीं तो पौराणिकों के बड़े-२ यज्ञ जगत्कल्याण के लिये समायोजित करना क्या धोखा मात्र नहीं है ? यज्ञार्थ धन व्यय करने वालों का ही कल्याण नहीं होता, प्रत्युत धनियों के दान से अल्प अदृष्ट फल होता है, शेष जन-साधारण के लिये भी फल होता है । यह कहना कि 'तस्यै' पद निरर्थक

अन्यच्च "धूम्रलाभान् फ्रांसदेशीयः" ड्राक्तर ट्रिलवर्ट महोदयो 'लिलेख' ज्वलच्छर्करायां वायुशोधनस्य महतीशक्तिर्विद्यते या च क्षय-विशूचिकादिरोगान् तत्कालं नाशयति।" डा० एम० ट्रस्ट महोदयो-द्राक्षाऽबीजादि फलानि अग्नौ हुत्वा पर्यैक्षिष्ट, एतद् धूम्रेण (टायफाइड) रोग कीटाणवः ३० (मिनट्केषु) पलेषु अन्यरोगाणां च होराद्वयेन विनश्यन्ति" इति। मद्रास प्रान्तस्य कर्नल किंग आई० आई० एम० एस० महानुभावोऽपि सम्परीक्ष्य प्रमाणीकुरुते यद् घृत-तण्डुल-मिश्रित-केसरहवनेन क्षिप्रं रोगकीटाः म्रियन्ते। इदमपि परीक्षितम् यन्मनुष्योच्छ्वासेन कार्वण दायि अक्षायित (कार्वन डाय आक्साइड) रहितेन वायुना मूषिका अम्रियन्त ४५ (मिनट्केषु) पलेषु।

पुरा काले महायज्ञाः आयोज्यन्त प्रायोऽरण्येषु तथा सति हवनोत्थ दूषितो वायुर्वृक्षाणाम् भोजनमभवत्। कार्वनधूलिर्जलघनतां विदधाति प्राणदाः वृक्षा धूलय श्चापि जलद-हेतवो भवन्तीति। अधुनाऽपि निर्बन्धजनिताऽज्ञानमुन्मुच्य यज्ञीय-संस्कृति-विनाशक-विचारेभ्यो-

---

हो जाता है, तुम्हारे मत में तो पूरा यज्ञ प्रकरण ही निरर्थक है, क्योंकि आपने यज्ञ का जनता के लिए अनुपयोग प्रतिपादन किया है।

आर्ष ग्रन्थों से तो अन्न औषधि आदि के जलने से वाय्वादि शुद्धि होती है 'यज्ञ से बादल और बादलों से अन्नोत्पत्ति होती है, इत्यादि यज्ञ महिमा विश्व विदित है। यह करपात्री जी तो यज्ञ को भी निरर्थक मानते हैं, अतः धिक्कार है।

धुयें के लाभों को फ्रांस देशीय ट्रिलवर्ट महोदय ने लिखा है 'जलती हुई शकर में वायुशोध की महती शक्ति होती है, क्षय विशूचिका आदि रोगों को तत्काल नष्ट करती है"।

डा० एम० ट्रस्ट महोदय द्राक्षा आदि फलों को अग्नि मे डालकर परीक्षण करके लिखते हैं कि 'इसके धुयें से टायफायड रोग के कीटाणु ३० मिनट में और अन्य रोगों के दो घण्टों में विनष्ट हो जाते हैं" मद्रास प्रान्त के कर्नल किङ्ग० आई० आई० एम० एस० महोदय ने भी— परीक्षा करके प्रमाणित किया है कि घी चावल मिश्रित केसर के हवन से शीघ्र ही रोग-कीट मर जाते हैं। यह भी परीक्षा की है, कि मनुष्य के श्वास से कार्बन डाई आक्साइड रहित वायु से चुहियाँ ४५ मिनट में मर जाती हैं।

विरम्य करपात्र-महोदयः स्तदनुयायिवर्गश्च भारतीयसंस्कृतिरक्षा (साधुता) मा चरिष्यतीत्याशासे।

(५६४।अनु० १)—भूमिकायाम् "यस्मिन् यज्ञे अमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृत-द्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात् यज्ञः परोपकारायैव भवति। अतएव फलस्य श्रुतिरर्थवादोऽनर्थ-निवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति, स एव क्रतुधर्मो बोध्यः" इति लिखितम्:—

तत्र आक्षेप:—"द्रव्यादिषु कानि फलानि, तानि च कथमनर्थ-निवारणाय? अनर्थ-निवारणं च कथमर्थवादः? द्रव्य-संस्कारवत् किं पुरुषाणामपि संस्कारश्चमस-न्यायेन? 'क्रतुना धर्मो जायते, इत्यत्र च किं वीजम्?

समा०—इमे प्रश्नास्तु अनाघ्रात-मीमांसा-शास्त्र-गन्धस्य रूढ्या-लीढमस्तिष्कस्य देवानां-प्रियस्यैव सम्भवन्ति। यतोहि-

(१) विहित-प्रकारेण विद्वान् द्रव्याणामग्नौ होमं करोति इत्यर्थो

प्राचीन काल में महायज्ञ प्रायः अरण्यों में आयोजित किये जाते थे, क्योंकि यज्ञ करने पर कुछ उत्पन्न दूषित वायु वृक्षों का भोजन हो जाती है। कार्बन धूलि जलों को घन बनाती है तथा प्राणप्रद वृक्ष और धूलियाँ भी बादल बनाने में कारण होती हैं। अब भी दुराग्रह जनित अज्ञान को छोड़कर करपात्री जी तथा उनका अनुयायी वर्ग यज्ञीय सस्कृति के विनाशक विचारों से दूर होकर साधुता का आचरण करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूं।

(पृ० ५६४।अनु० १)—भूमिका के 'यस्मिन् यज्ञे----क्रतुधर्मो बोध्य" इस पाठ पर सारांश में आपने आक्षेप किया है कि द्रव्यादि में कौन फल होते हैं, वे अनर्थ निवारणार्थ कैसे होते हैं? और अनय-वारण, यह अर्थवाद का अर्थ कैसे हुआ? द्रव्यसंस्करण के समान क्या पुरुषों का संस्कार भी पूर्ववत् घी तथा चमसे को मुंह बन्दकर करना होगा? क्रतु से धर्म होता है, इसमें क्या कारण है।

समा०—उक्त आक्षेप (प्रश्न) तो मीमांसाशास्त्र की गन्ध तक से अपरि-चित रूढ़ि से चाटे हुये मस्तिष्क वाले देवानां-प्रिय के हो सकते हैं; क्योंकि—

(१) विहित प्रकार से विद्वान् द्रव्यों का अग्नि में होम करता है, यह

होतृ-पदेनैव। समाख्या हि नाम यौगिकसंज्ञागृह्यते, नैतदर्थ-बाधिका। तस्य द्रव्यस्य परार्थत्वाद् क्रत्वर्थत्वात्। क्रतुर्यज्ञश्च परोपकारायैव भवति। न तु प्रधानत्वेन पुरुषार्थः फलम्, अत्र हि फलस्य गौण-भावः। अतएव ऋषिणा द्रव्यादीनां क्रत्वर्थता प्रतिपादिता, क्रतोश्चार्थता (प्रयोजनं) सर्वोपकारायैव प्रोक्ता।

एतदेव हि दृष्टं फलमस्य, 'स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादेस्तु अदृष्टार्थता फलम्। फल-श्रवणस्य गौणार्थता एव दर्शिता। न द्रव्यादयस्त्रयोऽप्यत्र पुरुषार्थाः परं क्रत्वर्थाः। तथा च "उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्। फलन्तु तत्प्रधानायाम्। (मीमां० ४।३।२, ३।) इत्येत-

योरभिप्रायमवगत्य ऋषिणा प्रथम-सूत्रस्य पदार्थ एव दर्शितः। (२) संस्कृत द्रव्याणि क्रतौ शास्त्र-निर्दिष्ट-फलदानि भवन्ति।

यथा च हव्य-द्रव्यं तथैव "यस्य पर्णमयी जुहू (द्रव्यं) भवति न च पापं श्लोकं श्रृणोति" जुहू-द्रव्येऽपि पापाऽश्रवणं फलम्, एवं सर्वत्रोन्नेयम्। एवंविधानि फलान्यर्थवादत्वात् पाप-श्रवण-फल-निवारणे।

अर्थ होतृ पद से ही लिया जाएगा। समाख्या तो यौगिक संज्ञा है। अतः जुहोतीति होता। द्रव्य पदार्थ अर्थात् क्रत्वर्थ है। क्रतु अर्थात् यज्ञ परोपकार के लिये होता है, प्रधानत्वेन पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि फल का यहाँ गौण भाव है। इसीलिये ऋषि ने द्रव्यादिकों की क्रत्वर्थता और क्रतु की अर्थता (प्रयोजन) सर्वोपकार के लिए कही है। यह इसका दृष्ट फल है 'स्वर्ग कामो यजेत' इत्यादि से अदृष्टार्थता फल है। यहाँ फल श्रवण की गौणार्थता ही दिखाई गई है। द्रव्यादि तीनों ही यहाँ पुरुषार्थ नहीं वरन् क्रत्वर्थ हैं। (मीमांसा ४।३।२, ३) सूत्रों का भी क्रत्वर्थ अभिप्राय समझकर ऋषि दयानन्द ने प्रथम सूत्र का यह पदार्थ दर्शाया है।

(२) यज्ञ में संस्कृत-द्रव्य शास्त्र-निर्दिष्ट-फल देने वाले होते हैं। जैसे हव्य-द्रव्य उसी प्रकार 'जिसकी जुहू पलाश की होती है वह अपने अपयश को नहीं सुनता' जुहू द्रव्य में भी पाप का अश्रवण फल है, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। इसी प्रकार के फल अर्थवाद होने से पाप श्रवण फल के निवारण में है। उसी प्रकार संस्कार और कर्मों की फलार्थता मीमांसा में स्पष्ट है

तथैव संस्काराणां कर्मणां च फलार्थता सुस्पष्टं मीमांसायां प्रतिपादिता, "संस्कृते कर्मसंस्काराणां तदर्थत्वात्" इति। (मी० ५।३।२१)

फलार्थत्वात्—कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् (मी० ६।१।४)-इत्यादिसूत्रैः कर्मणः फलार्थता सिद्धा। पुरुषाणां संस्कार : प्रतप्त-घृत-चमसादिन्यायेन कार्यः अथवा कथं (संस्कारः) कार्यः इति पूर्व समाहितमन्यच्च यथाशास्त्रम् बोध्यम्, अलमन्यथा सम्बुद्ध्या। स्वामिना 'संस्कारो होमकरण-श्रेष्ठ-विधा' इत्यर्थोऽपि आर्यभाषायां स्वीकृतः।

संस्कारो नाम यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य, न च प्रोक्षणादि-संस्कारैर्विनोक्त-कर्मसिद्धिः।

वस्तुतस्तात्पर्यमदो यत् मांसल-बुद्धि-मीमांसकास्तद्-व्याख्यातारोऽपि च तस्मिन् काले क्रतुकर्त्तव्यतामपि क्रतुना सम्पाद्यमानं लोकापकारं धर्ममिति नामन्यन्त, अतः ऋषिरिहाऽपि तृतीयान्तेन

"पवमानेष्टि रूप संस्कारों से युक्त अग्नि में अग्निहोत्रादि कर्म कर्त्तव्य हैं, क्योंकि उक्त संस्कार उक्त कर्मों की कर्त्तव्यतार्थ ही विहित हैं" (मी० ५।३।२१)।

टिप्पणी—इस प्रकार उक्त वैदिक कर्म प्रभूत फल-जनक होते हैं अर्थात् जैसे मनुष्य स्नानादि संस्कारों से संस्कृत हुआ सन्ध्या वन्दनादि वैदिक कर्म के अनुष्ठानार्ह हो जाता है। उसी प्रकार इष्टि रूप संस्कार से संस्कृत अग्नि भी वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्ह हो जाती है।

फलार्थत्वात् कर्मणः (मी० ६।१।४) आदि सूत्रों से कर्म की फलार्थता सिद्ध है। पुरुषों का संस्कार प्रतप्तघृत वाले चमसे से उनके मुंह में डालकर करने से आप आशङ्कित और आतङ्कित हैं। पर यह कल्पना तो आपकी है। स्वा० दयानन्द ने होम करने की श्रेष्ठ विधा को भी संस्कार माना है यह अर्थ आर्य भाषा में स्पष्ट है। जिसके करने से पदार्थ किसी अर्थ के लिये उपयुक्त होता है, वह संस्कार है, प्रोक्षण आदि संस्कारों के बिना उक्त कर्मसिद्धि नहीं होती।

वास्तविक निष्कर्ष यह है कि उस काल में मांसल बुद्धि के मीमांसक और उनके व्याख्याता भी क्रतुकर्त्तव्यता को क्रतु (यज्ञ) से होने वाले परोपकार को धर्म नहीं मानते थे। अतः ऋषि ने यहाँ भी 'क्रतुना धर्मो जायते' यह समस्त शब्द-लभ्य अपर-विग्रह भी दे दिया। धर्म शब्द के विशेषार्थ में थोड़ा सा यहाँ

क्रतुनेति विग्रहेण तमपि (धर्मं) साधयति इति वैशिष्ट्यम्। धर्म-शब्द-विशेषार्थे किञ्चिदिह दर्श्यते। यदुच्यते भवता "क्रतुना धर्मो जायते' इत्यर्थकरणे किं बीजम्,, तदुच्यते, यदाह जयन्तभट्टः

'यागदानादिनाधर्मो भवतीत्यपि लौकिकाः।
प्रयोगाः सन्ति ते चामी संस्क्रियापक्षसाक्षिणः ।।

एवं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋक्-१०।९०।१६) इति वैदिकोऽपि प्रयोगस्तद्विषये व्याख्येयः। तस्य संस्कारस्य स्थायित्वेन आत्मगुणत्वे कालान्तरे फलदान-योग्यता-पक्षे :—

संस्कारो नृगुणः स्थायी तस्माद् धर्म इति स्थितम्।
तस्माच्च फलनिष्पत्तेर्न चित्रादौ मृषाथता।।

अथवा प्रादुर्भावार्थक-जनीधातोः; क्रतुना धर्मो जायतेऽ-ऽभिव्यज्यते' इत्यथः। तथा च भर्तृहरिमतमपीह 'अवस्थित एव

दिया गया है। धर्म क्रतु से होता है इसमें भी बीज देखिये:—जयन्त भट्ट ने कहा है—'याग आदि से धर्म होता है'। इसकी पुष्टि में 'यज्ञेन यज्ञम्' आदि भी प्रमाण है। संस्कार आत्मा का गुण स्थायी है, उससे धर्म की निष्पत्ति होती है अथवा क्रतु से धर्म अभिव्यक्त होता है, ऐसा मत भर्तृहरि का भी है।

टिप्पणी—शवर स्वामी जैसे भाष्यकार और उनके अनुयायी तो यहाँ तक बढ़ गये थे कि कुमारिल भट्ट को लिखना पड़ा:—

"प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायती कृता।
तामास्तिकपथे कर्त्तुमय यत्नः कृतो मया।।

ये लोग वेद के प्रकाशक, सृष्टि के रचयिता किसी पुरुष-विशेष ईश्वर, महाभूत या ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ऐसा ही मानने वाले करपात्री भी जैनमत पोषक प्रच्छन्न नास्तिक प्रतीत होते हैं।

(पृ० ५६४ पं. १०)—यह कहना कि दक्षिणा से क्रीत ऋत्विक् के कर्मों का फल यजमान को मिलता है। इसका केवल इतना ही आशय समझना चाहिए कि उतना ही फल मिलता है जितना वह दक्षिणादि से यज्ञ व सत्कार करता है। अध्ययनादि-स्व-कर्त्तव्य निर्वाह जनित फल तो ऋत्विक् भी पायेंगे, क्रीत ऋत्विक् या जपकर्ता आधुनिक फल दान के लिये सेठ के स्थान पर जपादि-

धर्मः। स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते। तत्⋯रितस्तु फलप्रदो भवति। (महाभाष्य दीपिका)।

यदुच्यते भवता "दक्षिणा क्रीतर्त्विक् कर्त्तृक-कर्मणामपि फलानि यजमानगामीन्येव" तस्य एतावानेवाऽऽशयोऽवगन्तव्यो यद् यजमानो यावद् दक्षिणादिभिः सत्करोति तावदेव यज्ञफलमाप्नोति। परं "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा" इत्यादिस्व-कर्त्तव्य-निर्वाहेण यत् जायते फलं तद्भाक् तु ब्राह्मणोऽपि स्यात्। न चायं क्रीतः ऋत्विग् जपकर्त्ता वा आधुनिकफलदानाय श्रेष्ठिनः स्थाने जपादिकं करोति, तेन च श्रेष्ठिनो मन आदिकं तावत् शुद्धं न भविष्यति, स्वकृतकर्म-फलभोग-नियमात्। तथा च "अन्यार्थेनाऽभिसम्बन्धः (मी० ६।२।८) अन्य-पुरुष-कृत-कर्म-फलस्यान्येनाप्राप्तेः, अन्यथा अकृताभ्यागमदोष-प्रसङ्गः स्यात्।

ननु लाके दृश्यते अन्य कृतकर्मफलमन्येनाऽपि भुज्यते, तत् पुरुष निमित्त-कर्माचरणात् आनुषङ्गिक-फलार्थमन्यस्य स्वर्ग-कामोऽन्यो यजेत "इति चेन्न, न नित्यत्वात्" (मी० ६।२।१०) (शाब० भा०) नैतदस्ति, यस्यैव प्रधान-कर्मफलं तस्यैवानुषङ्गिकमपि भवितुमर्हति।

न च यथालोके एकः पुरुषो धनमुपार्ज्य अन्यस्मै एव प्रददाति तथैव परलोकेऽन्यकर्मणां फलमन्य उपयुञ्जीत।

कर्त्ता है, उससे सेठ का मन आदि शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अपने किये कर्म का ही प्रारब्ध बनता है, जिसके भोग करने का ईश्वरीय विधान है। जैसाकि (मी० ६।२।८) में कहा है कि अन्य पुरुष-कृत कर्म-फल अन्य को प्राप्त नहीं होता अन्यथा अकृताभ्यागम-दोष-प्रसङ्ग होने लगेगा।

यदि कहो कि लोक में अन्य-कृत कर्म का फल दूसरे के द्वारा भी भोगा हुआ देखा जाता है, तो पुरुष निमित्तक कर्माचरण से आनुषङ्गिक फल के लिए अन्य की स्वर्ग-कामना से यजन हो सकता है— तो यह भी ठीक नहीं, (मी० ६।२।१०) मी० में लिखा है ऐसा नहीं होता, क्योंकि जिसका प्रधान कर्मफल होता है उसका ही आनुषङ्गिक भी होता है।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे लोक में एक पुरुष धन का उपार्जन करके अन्य के लिये ही दे देता है, उसी प्रकार परलोक में अन्य कर्म के द्वारा

"कर्म तथेति चेत् (मी० ६।२।११) इति वाच्यम्, 'न समवायात् (मी० ६।२।१२) यः पुरुषः कर्म-कर्त्ता तेनैव कर्म सम्बन्धनात्, अन्य-कर्मणोऽन्येनोपभोगाऽप्रसक्तेः। तद्धनस्यापि स्वशुभकर्माऽयोगे अभोग्यत्वाच्च। अन्यथा ईश्वर-नियम-बाधाऽऽपाते अकृताभ्यागगम-दोषप्रसङ्गः।]

पाप पुण्यात्मनोरन्योन्यस्योपभोगापातात् सर्वव्यवस्थानामनुपपत्तिः स्यात्। अतो नैतद् ध्यातव्यं सर्वथा यत् क्रेता यजमानः ऋत्विजां क्रीतानां कर्मभिः संसार-सागरात् परं पारं यातुं शक्ष्यते। इयं च ते प्रस्ताविता क्रयरूपा-वृत्तिः प्रच्छन्न-प्रतारण-लीलाङ्गत्वात् न सम्मान्या, किञ्च महदाश्चर्यम् यद् अस्य टीकाकृत्तु "दक्षिणा देकर खरीदे गये ऋषियों के द्वारा" इत्यनेन ऋषीणां क्रयविक्रयं समर्थयते इति-अतितरां लज्जास्पदम्।

साम्प्रतम् करपात्रमहोदयस्य शब्द-शास्त्रज्ञत्वं पुरस्क्रियते, केवलं गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः (५।४।१३) इति सूत्रमधीत्य एतेन आक्षिप्तं-यत्—'सुगन्धि'-शब्दः सेत्स्यति, अतः स्वामिदयानन्द-प्रयुक्तः सुगन्ध-शब्दोऽशुद्धः।"

जनित फल अन्य उपभुक्त करेगा, क्योंकि मीमां० के (६।२।११, १२) सूत्रों में बताया है कि जो कर्म कर्त्ता पुरुष है उसी से कर्म का सम्बन्ध होता है, अतः अन्य कृत कर्म फल का अन्य के द्वारा उपभोग नहीं किया जा सकता।

पाप अथवा पुण्य करने वालों को अन्योन्यभोग्य मानने पर सर्वव्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। अतः यह नहीं सोचना चाहिये कि क्रेता यजमान, क्रीत ऋत्विजों के कर्मों से सर्वथा संसार-सागर के पार जाने में समर्थ हो जायेगा। यह आपकी प्रस्तावित-क्रय-रूप-वृत्ति यजमानों को ठगने की प्रच्छन्न लीला का अङ्ग होने से सम्मान्य नहीं। महान् आश्चर्य है कि इन करपात्री जी का हिन्दी रूपान्तरकार तो, "दक्षिणा देकर खरीदे गये ऋषियों के द्वारा" "वह लिखकर निर्लोभ विश्व-जनीन ऋषियों पर क्रय-विक्रय का लाञ्छन लगा रहा है यह अतिलज्जास्पद है।

अब करपात्र महोदय की व्याकरणज्ञता पुरस्कृत है, केवल ,गन्धस्येद—" (अष्टा० ५।४।१३) सूत्र का अध्ययन कर यह प्रस्तुत कर रहे हैं कि:—

(समा०) :—"सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति" इहाचार्यदयानन्दस्याशय एष 'सुगन्धः सूपमात्मरूपेएव परिणमयते" असुगन्धस्य, अस्वाभाविक-तद्-गन्धस्य सूपस्य, दुर्जन,तोषन्यायेन विशेषणत्वेऽपि स्वीकृते नेत्वम्। 'गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम्" इति वार्त्तिके तदेकान्तशब्देन स्वाभाविकत्वं विवक्षितं तेनाऽऽगन्तुकस्य नेत्याहुः केचित्। तथा च भट्टिः "आघ्रायिवान् गन्धवहः सुगन्धः" इति। व्याख्यातं च जयमङ्गलायाम् 'गन्धस्य' इत्यादिनेकारः समासान्तो न, "गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणमिति वचनात्। सुगन्ध आपणिकः इति यथेति। अतएव "भग्न बाल सहकार सुगन्धो" इत्यादीनां प्रामादिकत्वं दुर्घटवृत्तिकृतोक्तम्।

अथवा सुगन्ध दुर्गन्ध शब्दौ गन्धाद् अचि प्रत्ययेऽपि निष्पद्येते। न चाचार्य-दयानन्दस्य 'गन्धस्यत्" इति सूत्रं न स्मृतिपथं जातमतो भ्रान्त्यैषः प्रयोगइति वाच्यम्, इहैव प्रकरणे त्रिचतु:-पङ्क्ति-पूर्वमेव

आक्षेप'-सुगान्ध' शब्द बनगा, अतः यहाँ स्वामी जी का प्रयुक्त सुगन्ध शब्द अशुद्ध है।

समा० —'सर्वः सुगन्धोहि—' सब सुगन्ध जल रूप बन प्रविष्ट होकर सब सूप को सुगन्ध बना देता है" यहाँ पर आचार्य दयानन्द का आशय है कि यह सुगन्ध सूप (दाल) को आत्मरूप में परिणत कर लेता है। असुगन्ध की अस्वाभाविक उस गन्ध वाले सूप का विशेषण भी यदि सुगन्ध शब्द को मान लिया जावे तब भी 'इत्व' नहीं होगा 'गन्धस्येत्त्वे तदेकान्त-ग्रहणम्' इस वार्त्तिक में 'तदेकान्त शब्द से स्वाभाविकता विवक्षित है। इससे आगन्तुक सुगन्ध में नहीं होता, ऐसा किन्ही विद्वानो का मत है। जैसा कि भट्टिकाव्य में 'गन्धवहः सुगन्धः' यह उदाहरण भी है और जय मङ्गला में व्याख्या की गई है कि 'गन्धस्य ' इत्या द सूत्र द्वारा 'तदेकान्त ग्रहण वचन से समासान्त इकार नहीं होता। जैसे 'सुगन्धः आपणिकः। अतएव 'भग्न बाल सहत्कार सुगन्धौ' इत्यादि प्रयोगों की प्रामादिकता दुघट-वृत्तिकार ने मानी है।

अथवा सुगन्ध, दुर्गन्ध शब्द गन्ध शब्द से 'अच्' प्रत्यय करने पर भी बन जायेंगे। कदाचित् आप यह कहने लगें कि आचार्य दयानन्द को 'गन्धस्येद –' यह पाणिनि सूत्र याद नहीं था, अतः भ्रान्ति से यह प्रयोग हो गया तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उन्होंने यहीं पर इसी प्रकरण म ३-४ पङ्क्ति पूव ही चार

द्रव्य-प्रकार-चतुष्टयप्रतिपादने "सुगन्धि, मिष्ट, पुष्टादिपाठे द्रव्य लक्ष्यत्वेन 'सुगन्धि" इति, अग्रेच "अग्नि-मध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते" इति द्रव्यत्वे गुणवाचकत्वाभावे तस्य सेत्त्व-प्रयोग-दर्शनात्।

भट्टि-प्रयोगानुरूप प्रयोगोऽपि विहितोऽस्मिन्नेव प्रकरणे "अग्नि संयोग रहित सुगन्धेन वायुना" इत्यनेन वार्त्तिक-गतैकान्त-शब्दस्य स्वाभाविकोऽर्थोऽङ्गीकृत इति ध्वन्यते।

अग्रे चायमुल्लिखति करपात्रः आश्चर्यमिदं यदेतादृशा अपि जनाः महर्षि-पदवाच्यतां लभन्ते" इति। भोः कथन्न, लभरेन्, यावता साम्प्रतमेव व्याकरणमर्मज्ञतामुपन्यस्य आचार्यत्वं महर्षित्वं च तेषाम् असंशीति-प्रमाणितम्। परमिदन्तु अतितरामुपहासास्पदम् यदयम् षड्दर्शन-सिद्धान्त-समन्वय-परिपन्थी गालिदान-वृत्तिः रागद्वेष मलिनान्तः करणः 'वेदभाष्यं विधित्सति' इति। एवं-विधजनेषु-घटते महाभारतोक्तिरियम् यत् "विभेत्यल्पश्रुताद् वेदोमामयं प्रहरिष्यति" इति। तदनु निर्मलोक्तिरप्येषा सङ्गच्छते,

---

प्रकार के द्रव्य प्रतिपादन करने में 'सुगन्ध' यह और आगे भी 'अग्नि मध्ये सुगन्ध्यादि द्रव्यस्य होमः क्रियते' में गुण वाचकत्व के अभाव में तथा द्रव्य वाचक सुगन्धि शब्द में इत्व सहित प्रयोग किया है।

भट्टि प्रयोग के अनुरूप भी प्रयोग देखिये। जैसे 'अग्नि संयोग रहित सुगन्धेन वायुना' इस प्रयोग से स्वामी जी ने भी उक्त वार्तिक में पठित 'तदेकान्त शब्द का स्वाभाविक अर्थ स्वीकृत किया है, ऐसा ध्वनित होता है। आगे भी करपात्र जी लिखते हैं कि 'आश्चर्य है कि ऐसे लोग भी महर्षि कहलाये जाते हैं' महोदय! क्यों नहीं कहलायें, इसी समय हमने महर्षि की व्याकरण-मर्मज्ञता को दिखलाकर उनका आचार्यत्व और महर्षित्व प्रमाणित किया है। परन्तु यह तो अतितराम् उपहासास्पद है, यह (करपात्री जी) षड् दर्शनों के सिद्धान्तों के समन्वय के विरोधी गालिदान प्रवृत्तवाणी वाले, रागद्वेष से मलिन अन्तःकरण होकर 'वेद भाष्य करना चाहते है' ऐसे जनों पर महाभारत की यह उक्ति घटित होती है कि अल्पश्रुत से वेद भयभीत हैं कि अब यह मुझ पर प्रहार करेगा' उसके साथ यह निर्मलोक्ति घटित हो रही है:—

"वेद-द्वेष-परान्तरल्पविदितो रूढ्यर्गलाग्रस्तधीः,
भाष्यं हन्त विधित्सतीति निगमा भीताः रुदन्त्यञ्जसा ।
साधोःहस्त-गता वत श्रुतिसुधा साऽप्यद्यमद्यायिता,
किंभोः-कीट-करे नु हा निपतितं तत् पाटला-पुष्पकम् ?

यदुच्यते 'सत्यार्थ-प्रकाशे शावर-भाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतम्' इति । तत्तु न सत्यम्, वेद-विरोधे तु कस्याऽपि ग्रन्थस्य प्रामाण्यं न सम्भवति, का कथा पुनर्वराकस्य शावर-भाष्यस्य ।

(५६५ पृ० तः ५६६ पृष्ठं यावत्) यदुच्यते "त्वदुक्तरीत्या सर्वेषा-मेव वैदिक-कर्मणां परार्थत्वेन गुणकर्मत्वमेव स्यात्, प्रधान-कर्म-त्वाऽनुपपत्त्या तद्बोधक सूत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात्" इति, तत् तु तत्त्वा नवधोधादेव । इह प्रधानाऽप्रधानकर्म विवेचने वस्तुतः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थ शब्दाभ्यामेव विवेचनं प्रकरणसंस्पृक् स्यात् । अतः किं कर्म-प्रयोजकं ? निमित्तं वा, किं च प्रयोज्ये नैमित्तिकं वेति ? तन्निरूपणार्थं तदु-पयोगि क्रत्वर्थ-पुरुषार्थ-सम्बन्धि-जिज्ञासा-कर्त्तव्यताऽऽख्यातव्या । तथाहि अथातः क्रत्वर्थ-पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (मी० ४।१।१) ।

"वेद द्वेष परक अन्तःकरण वाले अल्पज्ञानी, रूढ़ि के शृङ्खला से जकड़ी हुई बुद्धि वाले वेद भाष्य करना चाहते हैं, यह सुनकर वेद भयभीत होकर रो रहे हैं कि हाय अफसोस ! कि आज श्रुति-सुधा साधु के हाथ में पहुंचकर मद्य बन गई (जायेगी) और क्या-कीट के हाथ में गुलाब का फूल आ फँसा है" ?

यह कथन कि 'सत्यार्थ प्रकाश में शावर-भाष्य का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है' सत्य नहीं, वेद के विरोध में तो किसी भी ग्रन्थ का प्रामाण्य सम्भव नहीं हो सकता, फिर वेचारे शावर का भाष्य किस खेत की मूली है ।

(५६५ से ५६६ पृ० पर्यन्त) — "आपकी पद्धति से तो सभी वैदिक कर्मों के परार्थ होने के कारण गौण कर्मता ही होगी, इस प्रकार उनकी प्रधान कर्मता न होने से उनके बोधक सूत्र व्यर्थ हो जायेंगे"—

यह कथन तत्त्व न समझने के कारण है । यहाँ पर प्रधान और अप्रधान कर्म विवेचन में वस्तुतः क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ शब्दों से ही विवेचन, प्रकरण को छूने वाला हो सकता है । अतः कौन सा कर्म प्रयोजक या निमित्त और कौन

क्रतुः स्वोपकाराय पुरुषार्थश्च स्व-सुखाय यस्य कर्मणोऽनुष्ठानस्य निमित्तं तत् 'प्रयोज्यम्'। क्रतु-पुरुषौ प्रयोजकौ। एवं प्रयोज्य-प्रयोजक भाव-ज्ञानं क्रत्वर्थ-पुरुषार्थज्ञानाधीनम्, यच्च यदधीनं तज् ज्ञानमावश्यकम्। अतः "यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थ-लक्षणाऽविभक्तत्वात्" (मी० ४।१।२) यत् कर्मसम्यगनुष्ठितं पुरुषवाञ्छित-फल-साधनं तन्नाम 'पुरुषार्थः', यच्च साक्षात् उक्तफलस्य न साधनं, किन्तु फलजनककर्मण उपकारि तन्नाम 'क्रत्वर्थः।"

सारोऽयम्-प्रधान-कर्म नाम पुरुषार्थः, अङ्ग कर्म नाम क्रत्वर्थः, इति। पुरुषार्थ-कर्म चेदं "तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वात्, न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते। तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियाणां, पुरुष श्रुतिः॥ (मी. ४।१।३) यथा च याग-विशेषे 'नेक्षतोद्यन्तमादित्यं-नास्तं यान्तं कदाचन" इत्यादि वाक्यानि एतदधिकरणस्य विषयाः। इह सूर्यानीक्षण-कर्म-विधानं 'प्रजापति-व्रतमुच्यते। 'एतावता हैनसा मुक्तो भवति' इत्यादि वाक्योक्त-कर्मभिः सह पुरुष-सम्बन्धः।

प्रयोज्य में नैमित्तक हो? इसके निरूपण के लिये उसके उपयोगि क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ सम्बन्धी जिज्ञासा करनी चाहिये। यह कथन किया गया है, जैसे "अथातः क्रत्वर्थ पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" (मी० ४।१।१)

यज्ञ स्वोपकार के लिए तथा पुरुष स्वसुख के लिए जिस कर्म के अनुष्ठान का निमित्त होता है, वह 'प्रयोज्य' और क्रतु तथा पुरुष दोनों प्रयोजक हैं। इस प्रकार प्रयोज्य प्रयोजक भाव का ज्ञान क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ ज्ञान के अधीन है, जो जिसके अधीन है, उसका ज्ञान आवश्यक है, अतः (मी० ४।१।२) के अनुसार जो कर्म सम्यक् अनुष्ठित और पुरुष वांछिक फल का साधन है वह 'पुरुषार्थ' कहाता है, जोकि उक्त फल का साक्षात् साधन नहीं होता, किन्तु फल-जनक कर्म का उपकारी होता है वह 'क्रत्वर्थ' कहाता है।

सार यह है प्रधान कर्म 'पुरुषार्थ' और अङ्ग कर्म 'क्रत्वर्थ' हैं। और पुरुषार्थ कर्म यह है कि —तदुत्सर्गे० इत्यादि (मी० ४।१।३)। तथा च किसी याग विशेष के प्रकरण में "वैदिक कर्मों के अनुष्टान में प्रवृत्त हुआ पुरुष उदय तथा अस्त होते हुये सूर्य को न देखे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय हैं' सूर्य के अनीक्षण आदि रूप कर्म-विधान 'प्रजापति व्रत' कहा जाता है, जो प्रजापति व्रत को करता है वह पापमुक्त हो जाता है, इत्यादि वाक्योक्त कर्मों

पाप निवृत्तिरूपं च फलं स्पष्टम्। इदं प्रजापति संज्ञकं कर्म' 'पुरुषार्थः'। समिधो यजति, तनूनपातं यजति'' इत्यादि प्रयाज-संज्ञक-कर्माणि श्रुतिलिङ्गवाक्यादि-प्रमाणेषु कतमेनाऽपि प्रमाणेन प्रधान कर्मणा सह अङ्ग-रूपतया सम्बद्धानि प्रमाणितानि 'क्रत्वर्थः'।

'तथा च लोक भूतेषु' (मी० ४।१।६) यथा लोके 'स्नान' कुरु' 'पाकंकुरु' एवमुक्ते स्नानस्य पाकार्थ-विधानम्, इति बुद्धिस्थं जायते। यदा च ''स्नानं कुरु'' इति कथ्यते तदा केवलस्नान-विधानम्। एवमेव ''दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति विधानं कृत्वा'' समिधोयजति, इत्यादि-विधाने पाकार्थं स्नानविधानवत् क्रत्वर्थता। दर्शपूर्णमासयोश्च पुरुषार्थता। एवं प्रधानाप्रधान-कर्मणोः सर्वत्र सङ्गतिः।

(५६९। अनु० १): (प्र०) ''अग्नेर्धूमोजायते, धूमादभ्रम्-इत्यादि शतपथोद्धरणम् किमर्थम्, ? (उत्तरम्) यज्ञ-फलद्योतनाय व्याख्यातम् इति स्पष्टमेव हिन्द्याम् यानि होम द्रव्याण्यग्नौ हूयन्ते इति। तैत्तिरीयोपनिषदः प्रमाणमपि'शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवतीति द्योतनाय। विस्तरार्थस्त्वन्यत्र लिखितः। जनता-सुखाय प्रतिपादने नैव स्वर्गादिफलप्राप्ति विरुध्यते। स्वर्गस्य तद्रूपकत्वात्

के साथ पुरुष का सम्बन्ध है और पाप निवृत्तिरूप फल स्पष्ट है। यह 'प्रजापति-संज्ञक कर्म-पुरुषार्थ है। 'समिधोयजति—' इत्यादि वाक्यों से प्रयाज-संज्ञक कर्म, श्रुति लिङ्गादि प्रमाणों में से किसी एक भी प्रमाण से प्रधान कर्म के साथ अङ्ग रूपतया सम्बद्ध, प्रमाणित हैं, अतः 'क्रत्वर्थ' हैं।

(मी० ४।१।६) में जैसा कि लोक में 'स्नान करो' 'पाक करो' ऐसा कहने पर स्नान का विधान पाकार्थ है, यह बुद्धिगत होता है। जब 'स्नान करो' इतना कहा जाये तो केवल स्नान-विधान अपेक्षित है। इसी प्रकार 'दर्श और पौर्णमास से स्वर्ग-काम होकर यजन करे' यह विधान करके 'समिधोयजति' आदि विधान करने में पाकार्थ स्नान-विधान के समान क्रत्वर्थता है तथा दर्श और पौर्णमास की पुरुषार्थता है, इस प्रकार प्रधान और अप्रधान कर्म की सर्वत्र सङ्गति समझनी चाहिए।

(५६९ अनु० १।५७० अनु० १, २)-(प्रश्न)—'अग्नेर्धूमोजायते' इत्यादि शतपथ ब्रा० का उद्धरण किस अर्थ की पुष्टि के लिए है? (उत्तरम्) प्रकरणानुसार तो यज्ञ से धर्म होता है, इसी अर्थ की पुष्टि के लिए होना चाहिये।

वाय्वादि-शुद्धिः, जनता-सुखं च न कपोल-कल्पितं, प्रत्यक्षानुभूतत्वात्, प्रत्यक्षापलापस्याऽसम्भवाच्च। यदुक्तं "न कश्चिदाप्त-पुरुषा वाय्वादि शुद्धि-फलमपि अद्यावधि ज्ञातवान् नापि प्रतिपादितवान्" इति तून्मत्त प्रलाप एव, पूर्वं प्रमाणैः साधितत्वात्। प्रत्यक्षादन्यत् फलं त्व-दृष्टम् यत् मन्त्रपूर्वक-पवित्र-कर्मानुष्ठानेन सम्भवति। समग्रं त दृषिणाऽपि यथायथं स्वग्रन्थेषु प्रत्यपादि।

यदुच्यते "तत्तद्देशेषु होममन्तराऽपि प्रभूतवृष्ट्यादिर्भवतीति, हेतो वृष्ट्यादि-प्रयोजनं न यज्ञस्य" इति, तदपि अवैदिकी विचारणा। यदुक्तं च सीमित-होम-धूमै विश्वनभोव्यापि-पर्जन्यमण्डलस्योत्पत्त्य सम्भवात् इति,। न तद्वभोः यते : ह्येतत् प्रतिपाद्यते यत् विश्वगतं समस्तं मेघमण्डलं यज्ञेनाऽनेनायोज्यते, प्रकृतौ परमेश्वर-रचित सूर्यादि संचालित स्वाभाविक-प्रक्रियायाः मेघरचनायां यज्ञस्य पवित्रतया वायु-मण्डलस्य च नियन्त्रणेन" निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षत्वित्यभि प्रायेण यज्ञानामवश्यकर्त्तव्यता व्यधायि।

निश्चय ही यह उद्धरण यज्ञ फल के द्योतनार्थ ही है जैसा कि हिन्दी अर्थ में व्याख्यात है, तैत्तिरीयोपनिषद् का 'यह पुरुष अन्न रसमय है' इत्यादि प्रमाण भी शुद्ध अन्न जलादि द्वारा ही प्राणियों को सुख होता है, यह द्योतित करने के लिये है। विस्तार अन्यत्र दिया है, यज्ञ जनता सुख के प्रतिपादन के लिये है, इस कथन से यज्ञ द्वारा स्वर्ग फल प्राप्ति का विरोध कहाँ पर है ? क्योंकि स्वर्ग भी तो सुखरूप हीं है, जल वायु आदि की शुद्धि और जनता का सुख कपोल कल्पित नहीं है, प्रत्यक्षानुभूत है, प्रत्यक्ष का अपलाप करना असम्भव है। यह कथन कि 'किसी आप्त पुरुष ने यज्ञ का वायु आदि शुद्धिफल आज तक न जाना और न प्रतिपादन किया है" उन्मत्त प्रलाप ही है, यह पहले प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। प्रत्यक्ष से अन्यत् फल तो अदृष्ट है जैसाकि मन्त्र पूर्वक पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से सम्भव है, यह सब कुछ ऋषि दयानन्द ने भी स्व ग्रन्थों में यथास्थान प्रतिपादित किया है।

यह कहना कि उन-उन देशों में होम के बिना भी बहुत वृष्टि आदि भी होती है, अतः वृष्ट्यादि प्रयोजन यज्ञ का नहीं हो सकता' यह आपकी वेद विरुद्ध विचार धारा है। और 'सीमित होम के धुँये से विश्वनभोव्यापी बादलों की उत्पत्ति असम्भव है", यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यह नहीं कहा जा

धूमोत्पत्तिमात्र-प्रयोजनं यज्ञस्य मन्वानस्य भवतो मतिरपि वाष्पायिता धूमायिता वा। पापाणेङ्गालाग्रय डीजल पैट्रोलादिभिर्यज्ञ धूमम् तुलयतस्ते बुद्धित्वत्सम्वन्ध-विच्छेदमेवाऽकृतइत्यनुमिनोमि, अग्र चाऽपि यज्ञविषयकविचारा एतस्य द्रष्टव्याः।

(पृ० ५८०) "आधुनिक-चूर्ण-फिनायलादिमन्तरा पूर्वं विषूचिकादयः जनसंहारकरोगाः अपि आक्राम्यन्ति स्म, इदानीन्तने विधाने तु यज्ञादिमन्तरा दौर्गन्ध्यमपैति, शुद्धिरारोग्यं च सार्वजनीने इत्यनुभवसिद्धम्। किञ्च, इदानीन्तनानां तादृक् सेकचूर्ण धूमादिकमाविष्कृत येन विकृत-कीटाणवो मशक-मक्षिकादयोऽपि नश्यन्ति, तेषां कृते वेदोपदिष्टहोमादिकं व्यर्थमेव। किञ्च "सुगन्धादि-द्रव्यस्य होमेन-तस्य पृथक्त्व-लघुत्वाभ्यामाकाशगमन-सम्भवेऽपि दौर्गन्ध्यादे रूर्ध्वगमने होमस्याकिञ्चित्-करणात्। होममन्तरैवाग्नि-प्रज्ज्वालने-

---

रहा है कि सारे विश्व के बादल केवल इसी सीमित यज्ञ से आयोजित होते हैं, प्रत्युत प्रकृति में परमेश्वर रचित सूर्यादि संचालित स्वाभाविक प्रक्रिया से मेघ रचना में और यज्ञ की पवित्रता द्वारा वायुमण्डल के नियन्त्रण से 'जब-जब हम पवित्र कामनायें करें तो पर्जन्य वरसे' इस अभिप्राय से यज्ञों की अवश्य कर्त्तव्यता का विधान किया गया है। धूमोत्पत्ति मात्र यज्ञ का प्रयोजन मानने वाले आपकी मति भी वाष्पायित और धूमायति हो चुकी है। पत्थर के कोयले, आग्नेय डीजल, पैट्रोल आदि से यज्ञ की तुलना करने वाले आपकी बुद्धि का आपसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है, ऐसा अनुमान हो रहा है। पाठक गण आगे भी इनके विरोधी यज्ञ विषयक विचार पढ़ें।

यथा "आधुनिक चूर्ण फिनायल आदि के अभाव में पहले विषूचिकादि जनसंहारक रोग आक्रमण करते थे। इस समय तो यज्ञादि के बिना दुर्गन्ध दूर हो जाती है, शुद्धि और आरोग्य सर्व-जन-हितार्थ हो जाते हैं यह अनुमान सिद्ध है। और यह कथन कि इस समय के सिञ्चन, चूर्ण धूमादि आविष्कृत हैं जिससे विकृत कीटाणु, मशक, मक्खी आदि भी नष्ट हो जाते हैं, उनके लिए तो वेदोपदिष्ट होम आदि व्यर्थ ही है (पृ०५८०) तथा 'सुगन्धादि द्रव्य के होम से उसके पृथक् लघुकरण होने से आकाश गमन सम्भव होने पर दुर्गन्ध आदि के ऊपर जाने में होम की व्यर्थता ही है, क्योंकि होम के बिना ही अग्नि

नैव च दौर्गन्ध्य-युक्त पदार्थानां भेदेन पृथक्त्व लघुत्वाभ्यामूर्ध्वगमन सम्भवात् ।" एवं करपात्र-दृष्टया न यज्ञस्य किमपि प्रत्यक्षफलं भवति ।

(पृ. ५७२)--"स तपोऽतप्यत, तपस्तप्त्वा स अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्युद्धरणे केवलमन्नमपि ब्रह्म जीवनवृहद्हेतुत्वाद् इत्येव प्रतिपादितम् न तु, सर्वजगद् विवर्त्तत्वेन इति, ब्रह्म तत्सिद्धान्तस्य निः सारताऽवैदिकता च प्रथमं व्यचार्यत, नातः पिष्टपेषणम् करिष्यते मतिमद्भ्यः ।

(पृ० ५७२।अनु० २) — "यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता, सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यम्, परतामाज्ञा मुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेश मीश्वर-व्यवस्थया प्राप्नोति ।" इहाक्षेप एषः, यन्नेश्वरेणाज्ञा दत्ता, वेदे विधिरूप मन्त्राणाम् अभावात्" एतत्-समाधनं पूर्वमवलोकनीयं नेहाधिकं विस्तरभिया प्रपञ्च्यते । पुनरपि एकमुदाहरणम् प्रस्तूयते । न पूर्वोक्तं संगच्छते इह ।

"प्रदेवं' देव्या धिया भरता जात वेदसम् । हव्यानो वक्षदानुषक्" (ऋ० मं० १०।१७७।२) इह स्पष्ट (आदेशः) विधिः "हे ऋत्विजः प्रज्वलितमग्निं द्योतमानया प्रज्ञया सावधानतया प्रणयनं कुरुत" इति ।

जलाकर दुर्गन्ध युक्त पदार्थों के भेद से द्रव्य का पृथकत्व और लघुत्व हो सकता है । इस प्रकार करपात्री जी की दृष्टि में यज्ञ का कोई प्रत्यक्षफल नहीं है ।

(पृ० ५७२)—"उसने तप किया, तप करके उसने अन्न को ब्रह्म जाना" इस उद्धरण से केवल अन्न को भी जीवन का बृहद् हेतु होने से ब्रह्म कहा है । सर्वजगत् के ब्रह्म विवर्त्तत्वेन नहीं, इस सिद्धान्त की तो निःसारता और अवैदिकता पहले विचारी गई है मतिमानों के लिये । अतएव पिष्ट-पेषण नहीं किया जा रहा है ।

(अनु० २)— 'जैसे ईश्वर ने आज्ञा दी है कि सत्य भाषण ही करना चाहिये मिथ्या नहीं, जो उस आज्ञा का उल्लङ्घन करता है वह पापी होकर ईश्वर की व्यवस्था से क्लेश भोगता है इत्यादि । इसमें आक्षेप यह है कि ईश्वर ने वेद में कोई आज्ञा नहीं दी है, क्योंकि वेद में विधि मन्त्रों का अभाव है । इसका समाधान पूर्व ही देखना चाहिये यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा जा रहा है तथापि एक उदाहरण प्रस्तुत है । ऋ० १०।१७६।२ में स्पष्ट विधान है कि हे ऋत्विजो ! देव अथवा अग्नि को पुष्ट करो ।

(पृ० ५७४ पं०२)—आक्षेप :—स्वामिनोक्तं 'दुर्गन्धादि विकाररस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् मनुष्यः एव निमित्तम्' तत्रायमाक्षिपति "मनुष्यादि प्राणि समुदाययस्याऽपीश्वरसृष्टत्वात् तन्निमित्त कस्य दुर्गन्धादेरपीश्वरनिमित्तत्वानपायात्। यो हि यस्य निर्माता भवति स एव तन्निमित्तकाऽनिवार्यपरिणामस्याऽपि निमित्तम् भवति।" इति

समा०—मनुष्य एव मनुष्य-पश्वादिसमुदायं स्वोपभोगायएकत्रीकुरुतेऽतो तज्जनितदुर्गन्धनिवारणाय मनुष्य एव बुद्धिमत्वाद् यज्ञाद्युपायं कुर्यादिति ऋषेरभिप्रायः।

शङ्ककस्तु दुर्गन्धकारणमीश्वरं मनुते। प्रश्नश्चात्र, ईश्वरः कीदृक्कारणम्? समवाय्यसमवायिनोरसम्भवे निमित्तमीश्वरम् मनुते। तच्चोभयभिन्नम्, यथा च पटस्य समवायि-कारणं तन्तुः, असमवायिकारणं च तन्तु संयोगः। अनयोः परस्पर-सम्वन्धोऽप्यस्ति। अन्य शास्त्रेषु व्यवहारे उपादान-कारणत्वेन ग्रहणमनयोः। एतदतिरिक्तानि यावन्त्यन्यकारणानि तानि निमित्तानि कर्त्तृकारणादीनि अर्थात् घटकार्य-विषये कुम्भकार-दण्डादीनि। तर्हि किं दुर्गन्धं प्रति

(पृ० ५७४ पं० २)–आक्षेप—'स्वा० दयानन्द ने कहा है कि मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से दुर्गन्धादि विकार उत्पन्न होते हैं इस पर करपात्री जी का आक्षेप है कि मनुष्यादि प्राणि समुदाय भी ईश्वर रचित है, तन्निमित्तक दुर्गन्धादि भी ईश्वर निमित्तक है। जो जिसका निर्माता होता है, वही उसके निमित्त से होने वाले अनिवार्य परिणामों का भी निमित्त होता है।

समा०—मनुष्य ही मनुष्य, पशु आदि समुदाय को अपने उपभोग के लिए एकत्र करता है—अतः तज्जनित दुर्गन्ध निवारण के लिए मनुष्य ही बुद्धिमान् होने के कारण यज्ञादि उपाय करे। यह ऋषि का अभिप्राय है। शङ्का करने वाला तो दुर्गन्ध का कारण ईश्वर को मानता है।

प्रश्न यह है कि—ईश्वर इस दुर्गन्धादि उत्पन्न करने में कैसा कारण है? समवायी और असमवायी कारण के असम्भव होने पर, आप निमित्त कारण मानते हैं, जोकि पूर्व उपाय से भिन्न है। जैसे पट का समवायिकारण तन्तु और असमवायिकारण तन्तु संयोग है। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध भी है। अन्य शास्त्रों में व्यवहार में उपादान कारण में इन दोनों का ग्रहण हो जाता

ईश्वरस्य कारणता ? नैव, तस्य पुरुष-जन्यत्वात् । न च पुरुषो दुर्गन्धं प्रतिकारणं, पुरुषं प्रति चेश्वरः, एवं परम्परया ईश्वरोनिमित्तमिति-वाच्यम् ।

अत्र विषये तस्यान्यथा-सिद्धत्वात् । न च हृदये ईश्वर-प्रेरणया एव मनुष्यः कार्याणि कुरुते नान्यथा कार्य-सम्भवः इतिवाच्यम्, तथा सति आत्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वाभावे कर्मणईश्वरस्यापि भोगापत्तेः ।

अन्यथा-सिद्धत्वं च पञ्चधा—

'येन सहपूर्वभावः, कारणमादाय वा यस्य ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते, यत् पूर्वभाव-विज्ञानम् ।।
जनकं प्रति पूर्ववर्त्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।
अतिरिक्तमथाऽपि यद् भवेत् नियतावश्यक-पूर्वभाविकः ।।

यथाहि घटं प्रति दण्डः, दण्डरूपम्, आकाशं, कुलालजनकः रास-भादिः । एवम् चतुर्थाऽन्यथासिद्धे कस्यचित् कार्यस्य कारणं तत् कार्यं प्रति निमित्त-कारणं भवितुं न शक्नोति । तथात्र हि दुर्गन्ध-कार्यस्य निमित्तं मनुष्यः, तस्य च कारणं निमित्तं परमेश्वरो दुर्गन्धं प्रति न

है । इनके अतिरिक्त निमित्त कारण हैं घटकार्य में कर्त्ता और कारण कुम्भकार तथा दण्ड आदि निमित्त हैं, तो क्या दुर्गन्ध के प्रति ईश्वर की निमित्त कारणता है ? नहीं; क्योंकि दुर्गन्ध पुरुष (मनुष्य) से जन्य है ।

परम्परा से ईश्वर को ही निमित्त क्यों न माना जाय ? इसवा उत्तर है कि वह दुर्गन्ध के प्रति कालादि के समान अन्यथा सिद्ध ही है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि हृदय में ईश्वर की प्रेरणा होने से ही तो मनुष्य कार्य करता है, वैसा मानने पर भोक्तृत्व भी ईश्वर में मानना होगा तथा आत्मा की स्वतन्त्र कर्तृकता नष्ट हो जायेगी । अन्यथा सिद्ध ५ प्रकार का होता है— येन सह आदि परिभाषा गत । जैसे घट के प्रति १ दण्ड २ दण्ड रूप ३ आकाश ४ कुम्भकार पिता ५ रासभ आदि । इस प्रकार थे अन्यथा सिद्ध में किसी कार्य के कारण का कारण उस कार्य के प्रति निमित्त कारण नहीं हो सकता । जैसे घट के प्रति कुम्हार का पिता उसी प्रकार मनुष्य कृत दुर्गन्ध के प्रति ईश्वर निमित्त नहीं हो सकता ।

शंका—कुम्हार का पिता, भी कुम्हार है, तो घट के प्रति कारण क्यों नहीं हो सकता ?

निमित्तम् भवति । ननु कुम्भकार-पिताऽपि कुम्भकारोऽतो घटं प्रति कथं न निमित्त-कारणम् ? इति चेन्न, यं घटं कुम्भकारोऽरचयत् तं प्रति कुलालपिता न कारणं, स्वरचित-घटं प्रति तु भवत्येव । तथैवो पगम्यतामिह । एवं सुस्पष्टमेव सामान्यमतीनामपि यत् करपात्रिणो न्याय-शास्त्र-ज्ञानम् कीदृक् इति ।

अतः सूर्य-पुष्पादि-सुगन्धि-वनस्पत्यादिभिरपि, यथाशक्ति संशो-धितेऽपि जलवायु-मण्डले यज्ञेन विशेषरूपेण संशोधनं जायते इति समम् प्रज्ञाबतां प्रत्यक्षम् । यावान् वै बृहद्यज्ञः तावानेवाधिक-क्षेत्र व्यापि-प्रभावोऽपि ।

यज्ञविषये प्रच्छन्नार्यज्ञीयसंस्कृति-द्वेषिणः करपात्रिणो विचारान् दिङ्मात्र-प्रदर्शितानवलोकयन्तु तावन् निष्पक्षाः विद्वांसः यथा-"आधु-निकैस्तु होमादिमन्तरैव भूमि-जलाग्निभिः उग्रक्षारचूर्णफिनायलादि-भिर्यादृशी शुद्धिर्जायते, न तादृशी शुद्धिर्होमादिभिः सम्भवति । परिमित-सुगन्धिद्रव्यैः प्रभूतदौर्गन्ध्याभिभवाऽ सम्भवात् ।" (पृ०५७५) । अत्र 'आधुनिक' नाम्ना करपात्रिणा स्वकीय-सम्मतिरेव पुरस्कृता । किञ्च (पृ० ५७४ पं० १) इत्यत्रानेन छलेन पाठ-परिव-

---

समा०—जिस घट को कुम्भकार ने बनाया है, उसके प्रति कुम्हार का पिता कारण नहीं है, स्वरचित घट के ही प्रति कारण हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए, इस प्रकार सामान्य लोग भी श्री करपत्री जी का न्याय शास्त्र ज्ञान समझ ही लेंगे ।

अतः सूर्य पुष्पादि और सुगन्धित वनस्पत्यादि द्वारा भी यथाशक्ति जल-वायु मण्डल के संशोधित होने पर भी यज्ञ द्वारा विशेष रूप से संशोधन होता है । यह बात प्रज्ञानियों के लिये प्रत्यक्ष है, जितना बड़ा यज्ञ होगा उतना ही अधिक क्षेत्रव्यापी प्रभाव भी होगा ।

यज्ञ विषय में आर्य यज्ञीय संस्कृति के प्रच्छन्न द्वेषी श्री करपात्री जी के **दिङ् मात्र** दर्शित विचारों को निष्पक्ष विद्वान् लोग देखें, जैसे—आधुनिक वैज्ञा-निक होमादि के बिना ही भूमि, जल, अग्नि से उग्रक्षार चूर्ण, फिनायल आदि से जिस प्रकार की शुद्धि करते हैं, वैसी शुद्धि होमादि से नहीं हो सकती ।

र्त्तनमप्यकारि, येन तस्य अन्य एवार्थो ध्वनितः स्यात्। यथा:—मनुष्यै'र्यज्ञः'इत्यस्य स्थाने सर्वैमनुष्ययज्ञः कर्त्तव्य' इति पाठः कृत। यज्ञे मांसादिक्षेपणं पुराणाभ्यासफलितमेवास्य कर्म। निष्कर्ष-स्त्वेष:—

अनर्गलं यो नितरांप्रभाषते, शुभार्यसंस्कृत्यतुलोविनाशकः।
अतीतकाले नहि भूतईदृशो, न भाविकालेप्यपरो भविष्यति॥

(पृ० ५७५ अनु० १) (आक्षे०) "द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति, इत्य-सङ्गतमेव। यथा 'जीवेश्वर-भेदेन प्रयत्न-द्वैविध्यं, तथैव जीवाना मानन्त्येन प्रयत्नानन्त्यसम्भवेन द्वैविध्याऽसम्भवात्''।

(समा०) नहि प्रयत्नेन विना कर्त्तुः कार्याणि जायन्ते इति नियमात् ईश्वरस्य प्रयत्नस्तु नित्यः जलादिशोधक-सूर्यादिरचनारूपः यथा चोक्तमुपनिषदि स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया चेति।' परं जीवकृतः प्रयत्नस्तु अनित्यः यज्ञादिकरणरूपः, तदेवं नित्याऽ नित्यकृतं ईश्वर-जीवाधीनं प्रयत्न द्वैविध्यं सम्भवत्येव, प्रयत्नानन्त्यवचनं तु अनर्गलमेव।

ननु जीवानामानन्त्येन प्रयत्नानामपि आनन्त्यमिति चेन्न, इह

परिमित सुगन्धि द्रव्य अपरिमित दुर्गन्ध को दूर नहीं कर सकते। (पृ० ५७५)

यहाँ आधुनिक नाम से करपात्री जी ने अपनी सम्मति ही प्रकट की है। तथा च (५७४ पृ० की प्रथम पंक्ति में) छल से पाठ परिवर्तन भी कर दिया है जिससे भिन्न अर्थ ध्वनित होने लगे। जैसे—मनुष्यों के द्वारा यज्ञ करना चाहिए। इसके स्थान पर 'मनुष्या का यज्ञ' सबके उपकार के लिये सबको करना चाहिए। यज्ञ में मांसादि डालना पुराण अभ्यास से फलित उनका कर्म है। निष्कर्ष यह है कि "शुभ आर्य संस्कृति का अनुपम विनाशक जो निरन्तर अनर्गल बोलता है, ऐसा अतीतकाल में कोई न हुआ और न होगा।

(५७५।अनु० १)-आक्षेप—जैसे जीव और ईश्वर भेद से प्रयत्न दो प्रकार का है, उसी प्रकार जीवों के अनन्त होने से प्रयत्न भी अनन्त होगे फलतः उनकी द्विविधता ठीक नहीं है।

समा०—ठीक है, बिना प्रयत्न के कर्त्ता के कार्य भी नहीं हो सकते, इस नियम से ईश्वर का प्रयत्न जलादिशोधक-सूर्यादिरचनारूप तो नित्य है।

प्रयत्नस्य ईश्वरजीव कृत प्रकारबोधनमभीष्टं, नेह जीवकृत प्रयत्न-संख्यागणनमुद्दिष्टम् ।

यच्चोच्यते भवता "ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः' इत्यत्र कर्त्तु रीश्वरस्यैव कारणवर्णनं न च कृतेः ।" तत् न सम्यक्, कर्तृत्वक थनेकृनेः स्वतःक थनात कृतेरपि कारणत्वम् 'स्वोपादान-गोचरापरोक्ष-ज्ञान जन्यत्वादिकं शेषोऽशेषोऽप्रासङ्गिकवाग् जालमेव, प्रकृतानुपयोगित्वात् ।

(पृ० ५७६ अनु १) इति स्थलगतं वाग्वैदग्ध्यमेतस्य परीक्षन्तां तावत्पाठकाः। भूमिकायां पाठोऽस्ति 'ईश्वरेण खल्वग्नि मयः सूर्यो-निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च । स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति' इति। इहाक्षिप्यते तेन तत्पदस्य प्रकृतपूर्वपरामर्शित्वेन प्रत्यासत्तिन्यायेन च पूर्वप्रकृतः सुगन्धपुष्पादिरेव तत्पदार्थो मन्तव्यः, न तु तत्पदेन सूर्यः, इति ।

(समा०)—शब्दसामान्यं प्रति वृत्ति-ज्ञान-सहकृत-पदज्ञान-जन्य

कहा भी है 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'। और जीवकृत प्रयत्न यज्ञादि करना अनित्य है। अतः नित्य अनित्य रूप से ईश्वर जीवकृत दो प्रयत्न हुये। यहाँ जीव के प्रयत्नों की संख्या उद्दिष्ट नहीं है।

आपका यह कहना कि 'ईश्वर ने सूर्य को अग्निमय बनाया' यहाँ पर कर्त्ता ईश्वर को ही कारण कहा गया है, प्रयत्न को नहीं। ठीक नहीं, क्योंकि कृति (प्रयत्न) सर्वत्र कर्त्ता के ही अधीन होती है। और कर्त्ता के कथन में कृति का स्वयं ही कथन हो जाता है। इसलिये कृति का भी कारणत्व है (करपात्र जी का) कथन शेष अप्रासङ्गिक वाग्जाल और असङ्गत है, क्योंकि प्रकृत में इस कथन का कोई उपयोग नहीं।

(५७६।अनु० १)—पाठक गण ! करपात्री जी के वाक्चातुर्य का परीक्षण करें। ऋग्वेदादि भा० भू० में पाठ है, ईश्वर ने अग्निमय सूर्य और सुगन्ध पुष्पादि बनाये। वह (सूर्य) निरन्तर सब जगत् से रसों को खींचता है।

आक्षेप—यहाँ पर आक्षेप किया जा रहा है-'तत् शब्द प्रकृत पूर्व का

पदार्थोपस्थितिद्वारा पदज्ञानात्मकस्य कारणत्वम् भवति, गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन' 'वह्निना सिञ्चति, 'घटः कर्मत्वमानयनं कृतिः इत्यादौ कारणस्य सत्त्वेऽपि शाब्द-बोधाऽनुदयादन्वय-व्यभिचारः। एतद्दूरीकरणाय 'पदसमूहनिष्ठा 'आसत्तिः' अव्यवधानेन पदोच्चारण-सन्निधिरूपा अर्थ-निष्ठा च 'योग्यता', एक-पदार्थेऽपर-पदार्थवत्त्व रूपा पदनिष्ठा "आकाङ्क्षा" पदस्य यत् पदविरहप्रयोज्य शाब्दबोध जनकत्वाऽभाववत्त्वं तत्पदे तत्पदवत्त्वरूपा प्रकृति-प्रत्यययोः साकाङ्क्षत्वात्, शब्द-निष्ठं 'तात्पर्यं' तच्च तत्प्रतीतीच्छयोच्चारितत्व रूपम्। एतेषां ज्ञानं शाब्द-बोधे हेतुर्भवति। वस्तुतस्तु यत्-पदार्थेन, सह यत् पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोः पदयोरव्यवधानम् 'आसत्तिः'।

करपात्र महोदयः "सः सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति" अस्मिन् वाक्ये 'सः' इति पदेन पूर्ववाक्यप्रयुक्तसूर्यपदमगृहीत्वा 'पुष्पादिः' इति

परामर्शक होता है, अतः प्रत्यासत्ति से सुगन्ध पुष्पादि पदार्थ लेना चाहिये, न कि तत् पद से 'सूर्य'।

समा०—शब्द सामान्य के प्रति वृत्तिज्ञान-सहकृत पदज्ञान से जन्य पदार्थ की उपस्थिति द्वारा पद ज्ञानात्मक कारण होता है और गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन 'वह्निना सिञ्चति' 'घटकर्मत्वमानयनं कृतिः इत्यादि में कारण होने पर भी शब्द बोध के अनुदय से अन्वय नहीं है। इसके दूर करने के लिये (आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा) और तात्पर्य ज्ञानों की सहकारी कारणता होती है। अतः पद-समूह-निष्ठा 'आसत्ति', अव्यवधान से पदोच्चारण प्रयुक्त सन्निधि-रूपा अर्थ निष्ठा 'योग्यता', एक पदार्थ में अपर पदार्थवत्त्व रूपा पद-निष्ठा 'आकांक्षा' और जो पद विरह से प्रयोज्य शब्द-बोध जनकत्व का अभाव, उस पद में अव्यवहित पर या बाद में प्रयुक्त पद के सम्बन्ध से तथा शब्द निष्ठ तात्पर्य जो कि उसकी प्रतीति की इच्छा से उच्चरित है। उसका ज्ञान शब्द बोध में कारण होता है।

श्री करपात्री महोदय ने "वह सब जगत् से रसों का आकर्षण करता है: इस वाक्य में 'वह' इस पद से पूर्व वाक्य प्रयुक्त 'सूर्य' पद का ग्रहण न कर 'पुष्पादि' का ग्रहण किया है और हेतु 'प्रत्यासत्ति' को माना है। अर्थात् 'स' के

गृह्णाति हेतुं च तत्र प्रत्यासत्तिं (सान्निध्यं) प्रस्तौति, परमत्र केवला प्रत्यासत्तिरेव न वाक्यार्थबोधं विधातुं क्षमा ।

पुष्पादावाकांक्षा-योग्यता-तात्पर्याणाम् विरहात् । न पुष्पादिः रसानाकर्षति, अतो योग्यता-विरहस्तत्र, अन्ये तथैव सङ्गमनीये । इयमस्ति योग्यता न्यायशास्त्रे वाग्जालं प्रस्तुवतो, वाग्वाणान् मुञ्चतः प्रव्रज्याऽऽवर्जित-वेशस्य करपात्रस्य !

सत्यं, निर्मलोक्तिरिह सङ्गता :—

व्याकरणं चरित्वा वै, लेहित्वा ब्रह्मसूत्रकम् ।
न्याय-शास्त्रं समाघ्राय, पण्डितव्याघ्र आगतः ।।

(पृ० ५७६ पं०४) (पूर्वपक्षः) :—तथाऽपि 'सुगन्ध-पुष्पादिश्च' इति पदं निरर्थकं स्यात्, साधुत्वं चास्य चिन्त्यम्"

समा०—इदन्तु बिशेषरूपेण सार्थकम् । निरर्थकं तु तव चिन्तनम् नापि साधुत्वमस्य चिन्त्यम्, प्रत्युत तवैव साधुत्वं चिन्त्यम् । सत्य मिदमत्र यत्

पास 'पुष्पादि' पद आया है । परन्तु भोले भाई । यहाँ केवल प्रत्यासत्ति ही वाक्यार्थ-बोध कराने में समर्थ नहीं है । तथा 'पुष्पादि' में आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्य घटित नहीं है । पुष्पादि रसों का आकर्षण नहीं कर सकता है, अतः योग्यता का विरह है, अन्य दो भी इसी प्रकार घटित हो जायेगीं ।

संन्यास वेश धारण करने वाले, वाग्जाल प्रस्तुत करने वाले तथा वाग् वाण छोड़ने वाले साधु करपात्री जी की न्याय-शास्त्र में यह योग्यता है ! जिसे आपने देख लिया

यह निर्मला-उक्ति यहाँ सत्य रूपेण घटित है:—

व्याकरण चरके, ब्रह्म सूत्रों को चाटकर और न्यायशास्त्र को सूंघ कर ये पण्डित व्याघ्र आ रहे हैं ।

(५७६ प० ४)-पूर्व पक्ष—तब भी सुगन्ध पुष्पादि' यह भूमिका पाठ निरर्थक है, इसकी साधुता चिन्तनीय है"

समा०—यह पद तो विशेष रूप से सार्थक है, निरर्थक तो आपका चिन्तन है अथवा सुगन्ध पुष्पादि पद की साधुता चिन्त्य नहीं; प्रत्युत आपकी साधुता चिन्त्य है । सत्य है कि करपात्र जी के मतिपात्र में पहुंच कर अमृत विष वन रहा है और गुणगण दोष वन रहे हैं ।

"पीयूषं तु विषायते गुणगणो दोषायते त्वन्मतौ"

भोः स्थूलबुद्धेः अत्र ऋषिणा एतद्दार्शनिक-सूक्ष्मता-प्रदर्शिता यत् सुगन्ध-गुणयुक्त-पुष्पादिर्यो भगवता निर्मितस्तस्याऽपि अग्नि-स्वरूप-सूर्येण-शोधने उपयोगिता। अपरं च ईश्वरेण गुणाः गुणमयानि द्रव्याणि च प्रकृतेरुत्पादितानि एतदतिरिक्ता सृष्टिस्तु गुणद्रव्य-सम्बन्धत एव प्रसिद्धा।

'सुगन्ध' पद-साधुता समाधाने एवमवगन्तव्यम् यत् सुगन्धः शोभनो गन्धः गुणोऽथवा गन्ध-शब्दवाच्यं द्रव्यम् अथवा सुगन्धेन युक्तः पुष्पादिरिति मध्यम पदलोपी समासः। अतः सर्वथा एतत्-प्रयोगस्य साधुता, "एवमेव तस्य सुगन्ध-दुर्गन्धाणुयोगत्वेन।" अत्र तस्येति 'सूर्याकृष्टस्य' इत्येवान्वयः। सुगन्धो दुर्गन्धो वाऽपि बिना द्रव्याणुभिः न सञ्चरतः, सूर्य-किरणैर्जलांशो गृह्यते तदा तेन सार्धम् अणवः सुगन्धं दुर्गन्धं वा वोढ्वा उत्पतन्ति एव। 'सुगन्धाणवः, इत्यत्र सुगन्ध-युक्ता अणवः, मध्यम-पद-लोपी समासः आश्रयणीयः, स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थम्।

महोदय ! उक्त स्थल पर महर्षि के द्वारा इसकी दार्शनिक सूक्ष्मता प्रदर्शित की गयी है कि सुगन्ध गुण युक्त पुष्पादि जो भगवान् ने बनाये हैं उसकी भी शुद्धि करने में अग्नि स्वरूप सूर्य की उपयोगिता है तथा ईश्वर ने गुण और गुणयुक्त द्रव्य प्रकृति से उत्पन्न किये हैं, इसके अतिरिक्त सृष्टि तो गुणों और द्रव्यों के सम्बन्ध से ही प्रसिद्ध हुई है। सुगन्ध गुण अथवा गन्ध शब्द वाच्य द्रव्य अथवा सुगन्ध से युक्त पुष्पादि, यहाँ पर 'युक्त' इस मध्यम पद को लोप करके समास किया गया है। अतः प्रयोग की साधुता तो सब प्रकार से सिद्ध है।

इसी प्रकार "उसके सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओं के योग से" यहाँ पर 'सूर्य से आकृष्ट, इसका यही अन्वय होगा। आपका यह कथन भ्रामक है कि "सूर्याकृष्ट रस का सुगन्ध और दुर्गन्ध से योग नहीं होता" क्योंकि रसों के साथ भी सुगन्ध दुर्गन्ध अणुओं का योग प्रत्यक्ष होता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध गुण बिना द्रव्याणुओं के सञ्चरण नहीं करते, सूर्य किरणों से जब जलांश ग्रहण किया जाता है तव अणु सुगन्ध वा दुर्गन्ध को ढोकर ऊपर जाते हैं। (यह कथन कि नचतैः रसस्य सम्बन्धः सम्भवति, रस गन्धयोः सम्बन्धाऽनिरूपणात्' अनर्गल और बुद्धि-बाह्य है, क्योंकि रस अर्थात् जलीय अणुओं के साथ सुगंधित या दुर्गन्धित अणुओं का संयोग होना सिद्ध है।) 'सुगन्धाणव' यहाँ पर सुगन्ध

(५७६ अनु०२)—आक्षेप :—"तस्य सुगन्ध-दुर्गन्धाणुयोगत्वेन-त्वद्ग्रन्थेन पार्थिव-परमाणोः रस-समवेतत्वोक्त्या जले वायौ वा कः प्रभावस्तस्य ? वायौ रसाभावः जले चाऽपि पार्थिव-कटुकषायतिक्ता-दिरस-विजातीयो मधुर एव रसः।"

समा०—भवत एषोऽभिप्रायो यद् गन्धगुणयुक्त-पार्थिवाणूनां जले वायौ च न कश्चित् प्रभावो भविष्यति। वायौ रसाऽभावात् जलस्य च मधुर-स्वभावत्वात्।

अत्रैवमवगन्तव्यम्—यदा हि 'सुगन्धि सलिलम्' 'सुगन्धिः समीरणः, इति कथनं तदा सलिल-समीरणयोर्गन्धप्रतीतौ अपि या समवाय-सम्बन्धेन 'गन्धवती पृथ्वी' तस्याः तिष्ठत्येव पार्थिवांशः। पृथिव्या एतत् लक्षणस्य जल-वाय्वोः ना ऽतिव्याप्तिः, गन्धस्यासमवेत त्वात्, तयोश्च या गन्ध-प्रतीतिः सा स्वसमवायि-संयोगेनाऽस्ति, पृथिव्याः ये समवायिनः सूक्ष्मांशाः अणवस्तेषां संयोगो जलादिभिः भवति। एवैव रीतिः स्पर्शादीनाम् औपाधिक-प्रतीता अवगन्तव्या।

युक्ताः अणवः इति मध्यम पद लोपी समास स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए समझना चाहिए।

(५७६ अनु० २)-आक्षेप—उसके सुगन्ध दुर्गन्धाणु योगत्वेन "इस आपके वाक्य के आधार पर पार्थिव परमाणु के रस समवेत माने जाने पर जल अथवा वायु में उसका क्या प्रभाव होगा ? वायु में तो सर्वथा रस का अभाव होता है और जल में पार्थिव कटुकषाय आदि से भिन्न मधुर रस है।"

समा०—आपका अभिप्राय स्यात् यह है कि गन्ध गुण युक्त पार्थिव अणुओं का जल तथा वायु में कोई प्रभाव नहीं होगा, क्योंकि वायु में रस नहीं होता और जल मधुर-स्वभाव होता है। आप यहाँ इस प्रकार समझिये कि जब लोक में हम 'सुगन्धित जल या सुगन्धित वायु' ऐसा प्रयोग करते हैं, तो सलिल और समीर में गन्ध की प्रतीति होने पर भी गन्ध समवाय सम्बन्धिपृथिवी अंश तो रहता ही है। इसके अणु जल या वायु में मिल जाते हैं, इस लक्षण की जल वायु में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वे मिले सुगन्धादि अणु जलवायु के नहीं है। जलवायु में जो गन्ध की प्रतीति होती है वह समवायि-संयोग के कारण है। पृथिवी के समवायी सूक्ष्मांश अणुओं का संयोग ही जलवायु से हुआ है। यही रीति स्पर्शादि की औपाधिक प्रतीति में जाननी चाहिये।

तात्पर्यमेतत् यथा वस्त्रे पुष्पगन्धो न वस्त्रस्य स्वाभाविको गुणः, तत्-कारणगुणपूर्वकत्वाभावात् शीतोष्णस्पर्शवत्, यतोहि पुष्पगन्धः पुष्पावयवेषु समवेतः न च वस्त्रावयवेषु, तथैव जलवाय्वोर्नात्र गन्धः समवेतः परं स्व-समवायि-संयोग-सम्बन्धेनावश्यमुपस्थितः। सुगन्ध दुर्गन्धाणु-मिश्रितत्वात् जलवाय्वोर्मध्यमगुणवत्त्वमेव सिद्धम्। तस्मात् जलानिलादि-शोधन-फलमग्निहोत्रादिकर्म सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यमेवेत्यसन्दिग्धं सिद्धम्।

अत्र तु द्रव्य-गुणादि-शास्त्रस्यानभिज्ञतैव करपात्रिणः, एवं विपरीताशय-व्याख्यानेन प्रतीयते, नो चेदेवम्, ज्ञातेऽपिद्रव्यादि-लक्षणे छलाभ्युपेतमनसस्तस्य प्रवञ्चनैव। संन्यासवेश-धारिणां तच्छास्त्रानभिज्ञानाम् कृते नेदं शोभते यज्ञेन जलादिशोधनानर्थक्य-प्रतिपादनम्।

वस्तुतस्तु पौराणिकानां 'यज्ञस्यादृष्ट-फलमेव'' इति मतेन तु सृष्टि-गुण-विज्ञानज्ञापनं वेदानां प्रमुखं प्रयोजनमेव विलुप्तम्। अश्रद्धया यज्ञांश्च तत्यजुर्जनास्तेन ब्राह्मणवृत्तिनाशे वेदाध्ययन-प्रवृत्तिः सङ्को-

---

तात्पर्य यह है कि जैसे वस्त्र में पुष्पगन्ध बसा हुआ वस्त्र का स्वाभाविक गुण नहीं है। उसके कारण-गुण-पूर्वकत्व के अभाव होने से, शीतोष्ण स्पर्श के समान, क्योंकि पुष्पगन्ध पुष्प के अवयवों में समवेत है, परन्तु स्व-समवायि-संयोग सम्बन्ध से अवश्य उपस्थित है। इस प्रकार सुगन्ध-दुर्गन्ध-अणुओं के मिश्रित होने से जल और वायु का मध्यम गुणत्व सिद्ध है। अतः जलवायु का शोधन-फल वाला अग्नि-होत्रादि-कर्म सिद्ध है। जो सब मनुष्यों को करना ही चाहिये यह सब प्रकरण असन्दिग्ध रूप में समाहित कर दिया गया।

यहाँ द्रव्य-गुणादि शास्त्र की अनभिज्ञता ही श्री करपात्री जी की सिद्ध है, क्योंकि वे विपरीत व्याख्या करने लगे हैं। अथवा द्रव्यादि लक्षण ज्ञात होने पर भी छलाभ्युपेत उनके मन की यह वञ्चना ही है। महाराज ! तर्कशास्त्र से अपरिचित लोगों के लिये तो साधुवेशधारी आपको यज्ञ द्वारा जलादिशोधन की अनर्थकता प्रतिपादित करना शोभा नहीं देता।

वास्तव में 'यज्ञ का अदृष्ट फल ही होता है' इस मत से यज्ञ द्वारा सृष्टि गुण विज्ञान के ज्ञापन का प्रयोजन ही विलुप्त हो गया। लोगों ने अश्रद्धा करके यज्ञ करना छोड़ दिया। इससे ब्राह्मण वृत्ति का नाश हो गया और वेदाध्ययन

चमापन्ना। ततस्तपोनिष्ठज्ञानां ब्राह्मणानां प्रतिष्ठाऽपि प्राणश्यत्। साधारण-रूढ़िग्रस्त-समाज-भावानुपूज्य-पाखण्डिपुरुषवर्धनम्, डार्विन समर्थकानां चोपचये संस्कृतेर्विनाशश्चाऽ जायत।

(पृ० ५७७। अनु० २)—यदुक्तं "कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्त द्रव्याणामग्नौ होमेन नात्यन्त-विनाशः अर्थात् नाऽभावः। तथात्वे होमस्य जलवायु-शुद्ध्यादिप्रयोजनासिद्धेः इति, तन्न, णश् धातोरदर्शनार्थकत्वात्। "नात्यन्तो विनाशः कस्याऽपि भवति" इत्यत्र कस्यापि इत्यनेन द्रव्यस्येत्यर्थः, अतोऽनेन दौर्गन्ध्यादीनामविनाशाऽपत्तिरूपस्त्वदाक्षेपो निरस्यते। मनुष्याणां समुदाये संयुक्ते दुर्गन्धावहो वायुर्जायते तस्मिन् वियुक्ते दुर्गन्धाभावो भविष्यति अथवा संयोगजन्य दुःश्वासोत्पन्न दुर्गन्धात्यन्तनाशस्तु भविष्यत्येवाऽद्रव्यत्वात्। यतोहि नैतेषां द्रव्याणां दुर्गन्धेन शाश्वतिकः सम्बन्धः। किञ्च दुर्विचाराणामपि जायते एवाऽपायः सद्भावोत्पत्तौ।

(५७७ अनु० १ पं० १०-१२) भूमिकापाठः "प्राणिनां मध्ये विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्याः एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणु-संयोगविशेषेण विज्ञानभवनानु-कूलानामवयवानामुत्पादित्वात्" आक्षेप :—

"तदपि सारशून्यम्, पर-माणु-संयोग-विशेषेण विज्ञानोत्पादकावयवाऽभ्युपगमे चार्वाकमत प्रवेशापत्तेः। परमाणुभ्यस्तन्निर्मितावयवेभ्यश्च विज्ञानोत्पत्तेरास्तिकैरनभ्युपगमात्"

प्रवृत्ति संकुचित हो गई। तब तपो-निष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों की भी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। साधारण, रूढ़िग्रस्त समाज के भावों से अनुपूज्य परिवादी पुरुष बढ़ गये और डार्विन समर्थकों के बढ़ने पर आर्य संस्कृति का विनाश हो गया।

(५७७ अनु० २) प्र०—कस्तूरी आदि सुरभित द्रव्यों के अग्नि में होम करने से दुर्गन्धादि का अत्यन्त विनाश अर्थात् अभाव तो नहीं होगा, क्योंकि 'नाभावो विद्यते सतः' ऐसा मानने पर होम द्वारा जलवायु शुद्धि आदि प्रयोजन भी असिद्ध हो जायेगा।

(उ० प.) ऐसा नहीं; क्योंकि णश् का अर्थ है अदर्शन होना, किसी का अत्यन्त विनाश नहीं होता, यहाँ पर किसी सत् द्रव्य का अभाव नहीं होता; यही तात्पर्य है। अतः दुर्गन्धादि की अविनाशापत्ति रूप आपका दोषोद्भावन व्यर्थ है। मनुष्यों के समुदाय के मिलने पर जो दुर्गन्ध वायु उत्पन्न होता है,

समा०—इह तव कथनेन हेतौ सारशून्यताऽऽपाद्यते "प्राणिनां मध्ये विज्ञानं, कर्त्तुं मनुष्याः एव सृष्टाः,, इत्यत्र, न विकल्पः सम्भवति। मनुष्याणामेव विज्ञानकरणोपलम्भात्, त्रिकालाबाधित-सत्य-प्रत्यक्षत्वात्। "मनुष्यः कस्मात् मत्वा कर्माणि सीव्यतीति निरुक्त-वचनात् च।"

ननु तर्हि हेतौ स्यात् एष आरोपः, परमाणुनिर्मितावयवानां विज्ञानात्पत्तिकारणत्वे नास्तिकमत-प्रवेशभीतिरापद्यते इति चेन्न, नास्तिकचार्वाकमतस्य सिद्धान्ताज्ञानादेवोक्तमदः। ते तु देहादिव्यतिरिक्तस्य आत्मनो नित्यतामपि नाभ्युपगच्छन्ति। तेषां मतं यत् पृथिव्यप्तेजोवायूनां चतुर्भूतानां परिणामेनोत्पद्यते खल्विदं शरीरमेषां

उनके न मिलने पर तो दुर्गन्धाभाव होगा ही। अथवा मिलने पर अधिक दुःश्वासों से उत्पन्न दुर्गन्ध का अभाव हो जायेगा, क्योंकि यह अद्रव्य है। द्रव्यों का शाश्वतिक सम्बन्ध दुर्गन्ध से यहाँ नहीं है। और जैसे कि सद्भावों की उत्पत्ति में दुर्विचारों का भी अभाव हो जाता है।

(५७७ अनु० प० १०-१२)-भूमिका पाठ—प्राणियों के बीच में विज्ञान करने योग्य मनुष्य ही बनाये गये हैं; उनके शरीरों में परमाणु आदि के संयोग विशेष से, विज्ञान होने के अनुकूल अवयव उत्पन्न किये गये हैं"।

आक्षेप—"यह भी निःसार है, परमाणु संयोग विशेष से विज्ञान के उत्पादक अवयव मान लेने पर चार्वाक मत में प्रवेश हो जायेगा। आस्तिक-जन परमाणुओं से अथवा तन्निर्मित अवयवों से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते।"

समा—यहाँ आपके कहने से हेतु में निःसारता है अथवा प्राणियों के मध्य में विज्ञान करने के योग्य मनुष्य ही है" इसमें सार-शून्यता है? विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि मनुष्यों को ही विज्ञान के अनुकूल इन्द्रियां मिली हैं, यह त्रिकालाऽबाधित सत्य-प्रत्यक्ष है। और निरुक्त वचन से भी सिद्ध है—यथा मनुष्य क्यों कहलाता है, क्योंकि यह मनन कर कार्य करता है।

(प्रश्न) तब तो यह आरोप हेतु में ही घटित होगा, तब परमाणु निर्मित अवयवों के विज्ञानोत्पत्ति कारण होने से नास्तिकता आयेगी।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि नास्तिक चार्वाक मत में सिद्धान्त का ही आपको ज्ञान नहीं है। अतएव यह कथन आपने किया। चार्वाक तो देहाति-

संयोगेनैव चैतन्यमपि जायते । अतस्ते प्राहुः 'तच्चैतन्य-विशिष्ट-देह एवात्मा देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्' । सत्यार्थ-प्रकाशे च एतत्खण्डनं व्यधित ऋषिः ।

श्रीमन् ! विज्ञानस्य चैतन्य-धर्मत्वात्, चेतनस्य चात्मनो नित्यत्वात्, इहापि ऋषिणा 'परमाणूनां संयोगविशेषेण विज्ञानभवनस्यानुकूलावयवानामुत्पादनमेव हेतुरभ्यधायि ।

न च परमाणवः एव संहता विज्ञानरूपत्वे परिणमन्ते, यथा नास्तिकमते । न च पश्वादि-सदृशा एवावयवाः मनुजानामपि अविशेषत्वात् इति वाच्यम्, परमाणूनां विशेष-संयोगेन चिताः सत्त्वादि

रिक्त आत्मा की नित्यता ही नहीं मानते । उनका मत है कि भूमि, जल, अग्नि और वायु चार भूतों के परिणाम से यह शरीर उत्पन्न होता है और इनके परस्पर संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, इसलिये वे कहते हैं कि तच्चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, देहातिरिक्त आत्मा के मानने में कोई प्रमाण नहीं । सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि ने इस चार्वाक मत का खण्डन किया है।

श्रीमान् जी ! विज्ञान तो चैतन्य का धर्म है और चेतन आत्मा नित्य है । यहां पर भी भूमिका में ऋषि ने 'परमाणुओं के संयोग विशेष से विज्ञान होने के अनुकूल अवयवों की उत्पत्ति को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है ।

यह भी नहीं कह सकते कि परमाणु ही मिलकर विज्ञान रूप में में परिणित हो जाते हैं, जैसा कि नास्तिक मत में है। और यह भी कहना ठीक नहीं है कि पशु आदि और मनुष्यों के अवयवों में कोई (संयोगादि) विशेषता नहीं है, परमाणुओं के विशेष प्रकार के संयोग से चुने गये सत्त्वादि गुणों से युक्त अवयव इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा आदि-आदि नाड़ियों, अवरदल कमलादि, मूलाधार स्वाधिष्ठानादि चक्र, विशिष्ट सत्त्व गुणाधिकपरमाणुओं से रचित अन्तःकरणादि, विशिष्ट परिष्कृत बाह्य रसना आदि इन्द्रियाँ, विज्ञान भवन के अनुकूल हैं, क्योंकि उन्हें उनके वैशिष्ट्य से उत्पन्न किया है ।

देखिये 'पुण्डरीके धारयते' या बुद्धिः संवित् । योगभा० १।३६ भोजवृत्ति में उदर और उर के मध्य में अष्ट दल…' उनके मध्य में सूर्य मण्डल उसके ऊपर व्योमात्मक ब्रह्मनाद को ब्रह्मवादी कहते हैं, उसकी कर्णिका में उर्ध्वमुखी सूर्यादि मण्डल के मध्य चलने वाली ब्रह्मनाड़ी, उसके भी ऊपर सुषुम्णानाड़ी

गुणोपेताः अवयवाः इडापिङ्गला सुषुम्णादयो नाड्यः अष्टदल कमलादीनि, मूलाधार स्वाधिष्ठानादि-चक्राणि विशिष्ट-सत्त्व-गुणाधिक परमाणु-रचितान्तःकरणादीनि, विशिष्टपरिष्कृतबाह्यरसनादीन्द्रियाणि विज्ञान-भवनानुकूलानि, तद्-विशेषोत्पादितत्वात् ।

तथा 'हृदय-पुण्डरीके धारयते या बुद्धिः 'संवित्' (योग व्या० भा० १।३६)—"उदरोरयोर्मध्येऽष्टदलं.........। तन्मध्ये सूर्यमण्डलं तस्योपरि चन्द्रमण्डलं तस्योपरि वह्निमण्डलं तस्योपरि व्योमात्मकं ब्रह्मनादं ब्रह्मवादिनो वदन्ति। तत्र कर्णिकायामूर्ध्वमुखी सूर्यादिमण्डलमध्यमा, ब्रह्मनाडी, ततोऽप्यूर्ध्वं' प्रवृत्ता सुषुम्णा नाम नाडी, तदाधारवतो योगिनश्चित्तसंविदुपजायते । तथा च—

वटो यथा च बीजस्थस्तथा शुक्रगता तनुः ।
सङ्घाटे काञ्चनं यद्वत् क्रिया दीपेन दृश्यते ॥

इति विश्वकर्मकृता पराजित पृच्छा सूत्रम् । एवमेव जरायुजाण्डजादीनां बीजनानात्व-कारणम् ।

उक्तं च "क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः" (यो० ३।१५)—"बीजेषु अवयवानां परमाणूनां च भेदेन परिमाण-विभिन्न-क्रम निर्देशादप्रतिषेधः" (न्या० ४।१।१८) उपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमनिर्देशात् भावोत्पत्तिर्न प्रतिषिद्धा अर्थात् कारणमनुरुध्य सृष्टि वैचित्र्यमस्ति ।

प्रवृत्त है, उसके आधार वाले योगी को चित्त संवित् हो जाता है । और भी 'जैसे बीज में स्थित वट वृक्ष, उसी प्रकार शुक्रगत शरीर होता है जैसे सङ्घाट में कांचन क्रिया दीप के द्वारा दिखाई देता है। (विश्वकर्म कृतपराजित पृच्छा सूत्र १।) इसी प्रकार जरायुज और अण्डज आदि का बीजनानात्व कारण है।

कहा भी है "क्रमान्यत्वं..." (यो० ३।१५) "बीजों में अवयव और परमाणुओं के भेद से परिमाण विभिन्न क्रम के निर्देश से प्रतिषेध नहीं किया जा सकता" (न्या० ४।१।१८) उपमर्द और प्रादुर्भाव के पौर्वापर्य नियम-निर्देश से भावोत्पत्ति प्रतिषिद्ध नहीं है । अर्थात् कारणानुरोध से ही सृष्टि की विचित्रता है।

विकास वाद में यही महान् दोष है, क्योंकि सर्व बीजों की एकता में सृष्टि

विकासवादेऽयमेव महान् दोषः, सर्व-बीजैक्ये सृष्टेः वैविध्यानापत्तेः । अतः मनुष्यशुक्रेण विज्ञानानुकूलावयवानाम् उत्पत्तेः सम्भावना, नान्यतः, अतस्तव वचो निराधारं कपोल-कल्पना कलित-कलेवरम अतो निरस्तम्, प्रत्यक्षापलापानर्हत्वात् ।

(५७८।अनु०१)—'भूमिकायाम्' 'एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते 'अत्र दर्शन-ज्ञान-शब्दौ पर्यायवाचिनौ, तथा च दृश्यते अनेन, ज्ञायतेऽनेन इति वा समानार्थौ शब्दौ प्रयुज्येते ।

आक्षेप :—अस्याक्षेपोपन्नाऽष्टविधम् दर्शनम्, गौतम-सूत्रोपन्यासस्तु धाष्ट्र्यमेव, गोतमरीत्या प्रमाण-चतुष्टयस्यैवाऽभ्युपगमात् इति ।

समा०—उक्ताक्षेप-मूलं दर्शन-प्रमाणयोरेकार्थावगम एवास्य । अत्र हि दर्शनमर्थाज्ज्ञानमष्टविधं मतम् ।

की विविधता उपपन्न नहीं हो सकेगी अतः मनुष्य के शुक्र से विज्ञानुनाकूल अवयवों की उत्पत्ति सम्भव है, अन्य से नहीं। इसलिये आपका निराधार, कपोल कल्पना से कल्पित-कलेवर-वचन निरस्त हो गया, प्रत्यक्ष का आप अपलाप नहीं कर सकते ।

(५७८।अनु० १)—भूमिका में 'इस प्रकार आठ प्रकार का दर्शन अर्थात् ज्ञान मेरे द्वारा मान्य है, यहाँ पर दर्शन और ज्ञान शब्द पर्याय वाची हैं जिनके द्वारा देखा जाये या जाना जाये ।

आक्षेप—यहाँ आक्षेप है कि अष्टविध दर्शन नहीं है। गोतम-सूत्र का उद्धरण देना तो धृष्टष्ता ही है क्योंकि गौतम रीति से प्रमाण चतुष्टय ही है ।

समा०—उक्त आक्षेप का मूल यहाँ पर दर्शन और प्रमाण शब्दों की एकार्थता मानना है । यहाँ पर दर्शन अर्थात् ज्ञान आठ प्रकार का माना है । यहाँ पर कोई शब्द ऐसा नहीं है, जिससे प्रमाण चतुष्ट्य का व्याहनन हो । यहाँ पर प्रमाणों की संख्या का कोई विवाद भी नहीं है । यदि दुर्जन तोष न्याय से भी विवाद ही मान लिया जाये, तथापि ऐतिह्यादि आठ प्रमाणत्वेन तो न्याय में भी माने गये हैं, क्योंकि ऐतिह्यादि के द्वारा भी प्रमा होती है और ऐतिह्यादि की प्रमाणता तो न्यायानुसङ्गत होने से वात्स्यायन मुनि ने स्पष्ट रूप में मानी है ।

न प्रमाण-चतुष्टय-संख्या व्याहन्यते शब्दैः, नह्यत्र प्रमाण-संख्यायां विवादः परमष्टौ इमानि प्रमाणानि तु सन्त्येव न प्रमाणान्तराणि, यतोहि ऐतिह्यादिभिरपि प्रमीयते, प्रमाणता चैषां वात्स्यायन-मुनिना स्पष्टं स्वीकृता।

तथा च (न्या० २।२।२)" सत्यमेतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि, प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन प्रतिषेध उच्यते" एतत् समग्र-भावमवगत्य ऋषि दयानन्दः सत्यार्थ-प्रकाशस्य तृतीय-समुल्लासे अलेखीत्" इमान्यष्ट-प्रमाणानि। तत्र यद्यैतिह्यं शब्देऽर्थापत्ति-सम्भवाऽ भावाश्चानुमानेऽन्तर्भाव्येरंस्तर्हि प्रमाण-चतुष्टयमेवाव-शिष्यते।" इहाऽपि "अष्टविधं दर्शनं ज्ञानं मन्यते मया, इत्येवं व्यलेखीत्, प्रमाण-शब्दस्याऽपि प्रयोगं नाकार्षीत्। यद्यपि वात्स्यायनेन मुनिना 'एतानि प्रमाणानि 'इति प्रमाण-शब्देन व्याहृतानि, तथाप्ययं करपात्रः स्वीयं धाष्टर्यमन्यत्र धाष्टर्यारोपेण वितनोति। अत इयं निर्म-लोक्तिः सङ्गच्छते एव यत्—

"धूर्तो धाष्टर्यमहोनिजं न मनुते चारोपयन्नन्यतः,
चौरो भर्त्सयतेऽ त्रपोऽनवरतं तं कोटपालं यथा।
प्रव्रज्यां धनसञ्चयं छलभृतां वाचालतां मन्यते,
वाचालङ्कृतिमेव सङ्गतमिदं किं हा प्रभावः कलेः ?

जैसे—(न्या० २।२।२) यह सत्य है कि ऐतिह्यादि प्रमाण हैं, प्रत्यक्षादि से विरुद्ध प्रमाणान्तर नहीं है, जैसा कि प्रतिषेध है।" इस समग्र भाव को जानकर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है "ये आठ प्रमाण हैं, वहाँ यदि ऐतिह्य को शब्द में, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव मानें तो प्रमाण चतुष्ट्य ही अवशिष्ट रह जाता है" यहाँ भूमिका में "मेरे द्वारा आठ प्रकार का दर्शन या ज्ञान माना जा रहा है," ऐसा लिखा है, प्रमाण शब्द का प्रयोग नहीं किया है। यद्यपि वात्स्यायन मुनि ने ऐतिह्यादि को प्रमाण शब्द से अभिहित किया है। तब भी श्री करपात्री महोदय अपने धाष्ट्र्य को अन्यत्र धाष्ट्र्यारोप से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

अतः यहाँ यह निर्मलोक्ति आपके विषय में घटित हो रही है कि-अन्य पर मिथ्या आरोप लगाने वाला दुर्मन व्यक्ति अपने धाष्ट्र्य (धृष्टता) की ओर

(५७६।अनु० १)—आक्षेप :—(१) 'मातापितृभ्यां सन्तानं जायते' इति, अत्र सन्तानशब्दे नपुंसकलिङ्गप्रयोगोऽशुद्धः। सन्तान-शब्दस्य पुंस्त्वात्, इति।

समा०—अयं हि ऋषिणा तत्र सम्भव-प्रमाण प्रसङ्गे "सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः, केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम" इति पठितम्। पूर्वमिह सन्तान-शब्दस्य निष्पत्तौ विचारः कार्यः "सम्यक् तनोतिपुष्णति" इति सन्तानम् 'तनोते रुपसंख्यानम् (वा० ३।३।१४०) इति णे कृते कर्त्तरि सन्तानः इति, स्त्री तथा पुरुषोऽपि सन्तानशब्द वाच्यः, अग्रिम-सन्तानस्य कर्त्तृत्व-सामर्थ्य-सम्भवात्।

सम्यक् तन्यते इति अधिकरणे 'हलश्च' ३।३।१२१ घञि सन्तानो विशेषेण स्त्री (स्त्यायते गर्भोऽस्याम् इतिव्युत्पत्तेः) विवक्षिता यथाहि सम्भव-शब्दस्य व्युत्पत्तौ अपि करणेन विशिष्ट-रूपेण पिता सामान्येन माता तथैव सन्तान-शब्देनाऽपि। परमत्र सम्भव-प्रमाणो-

---

ध्यान नहीं देता, आश्चर्य है जैसे निर्लज्ज चोर कोतवाल की ही निरन्तर भर्त्सना करता है। धन सञ्चय को प्रव्रज्या और छलभरी वाचालता को वाणी की अलङ्कृति मानता है, कष्ट है कि क्या यह सब कलियुग का ही प्रभाव है?

(५७६।अनु०) आक्षेप (१) "माता-पिता से सन्तान उत्पन्न होती है, यहाँ पर सन्तान शब्द में नपुँसक लिङ्ग का प्रयोग अशुद्ध है। क्योंकि सन्तान पुल्लिग है।

समा—यह आक्षेप वैयाकरण खसूची जी कर रहे हैं। ऋषि दयानन्द ने सम्भव प्रमाण प्रसङ्ग में 'जिससे सम्भव हो यह अर्थ सम्भव का किया है। किसी ने कहा माता-पिता से सन्तान उत्पन्न होती है, इसे सम्भव प्रमाण में कहना चाहिए, यह पाठ दिया है। पहले यहाँ पर सन्तान शब्द की निष्पत्ति पर विचार करना चाहिए। 'सम्यक् रूप से जो तनोति अर्थात् विस्तार करती या पोषण करती है। वार्त्तिक (३।३।१४०।) से 'ण' प्रत्यय करने पर 'सन्तान' सिद्ध होता है, स्त्री तथा पुरुष दोनों सन्तान शब्द से वाच्य है, क्योंकि स्त्री तथा पुरुष ये दोनों ही अगली सन्तान (विस्तार, पालन) करने की सामर्थ्य का सम्भव रखते हैं।

जिसमें अच्छे प्रकार विस्तार किया जाय, इस अधिकरण ३।३।१२१ से

दाहरणे 'माता पितृभ्यां सन्तानं जायते' देश-जात्युपकार-भाव-शून्यस्य करपात्रतालवादनपुरः सर गालिगान प्रवीणस्य सन्तानोत्पादनाऽक्षमस्य क्लीवस्याऽपि जन्म सम्भवः।

तथा उपरिनिर्दिष्ट व्युत्पत्ति द्वयात् पृथक् 'सम्यक् तन्यते' इत्यर्थे 'अकर्तरिचकारके संज्ञायाम् (अष्टा ३।३।१९) इत्यनेनाऽपि घञिक्लीवत्वे सन्तान-शब्द-निष्पत्तिः स्यात्। तदा लिङ्गत्रयस्यापि वाचकत्वे सन्तानस्य सामान्ये नुपुंसकम् इति नपुसंकत्वं भविष्यति।

लिङ्ग-विषये तु भगवतो महाभाष्यकारस्योक्तिरियम्'' लिङ्गम शिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य।'' लिङ्गानुशासनस्य प्रायेण लोक व्यवहाराऽऽश्रितत्वात्। न च 'घञ्वन्तः' इत्यौणादिकेन घञन्तत्वात् सन्तान शब्दस्यापि पुंस्त्वमेव स्यादिति वाच्यम्, भावार्थे एव 'घञ्वन्त· इति सूत्र-प्रवृत्तेः, नपुंसकत्वविशिष्टे भावे क्तल्युड्भ्यां, स्त्रीत्व विशिष्टे तु क्तिनादिभिर्बाधेन परिशेषात्,'' कर्मादौ तु घञाद्यन्तमपि विशेष्य-लिङ्गम्। तथा च भाष्यम् ''सम्बन्धमनुवर्त्तिष्यते'' अत्र सम्बन्धम् इति क्लीवविधानादपि शब्दानां लिङ्गप्रयोगस्तु न निश्चितः इति बोध्यम्।

घञ् प्रत्यय करने पर 'सन्तान' इससे विशेष रूपेण स्त्री (जिसमें गर्भ विस्तार हो इस व्युत्पत्ति लभ्या) विवक्षित है जैसे सम्भव शब्द की व्युत्पति में भी कारण से विशिष्ट रूप में पिता और सामान्यतः माता का अर्थगृहीत होता है उसी प्रकार सन्तान शब्द से भी ग्रहण होगा। परन्तु यहाँ सम्भव प्रमाण के उदाहृण में 'माता पितृभ्यां सन्तानं जायते' यह लिखा गया है। देश जाति के उपकार से शून्य करों के ताल-वादन-पूर्वक गाली देने में प्रवीण, सन्तान (प्रजा तन्तुँमाँ व्यवच्छेत्सीः) के अनुरूप उत्पादन में असमर्थ नपुँसक का भी जन्म सम्भव है।

तथा ऊपर निर्दिष्ट व्युत्पत्ति द्वय से पृथक् 'सम्यक् फैलायी जाती है' इस अर्थ में (अष्टा० ३।३।१९) सूत्र से भी घञ् प्रत्यय होने पर क्लीवत्व में सन्तान शब्द की निष्पत्ति हो जायेगी। तब तीनों लिङ्गों की वाचकता में 'सन्तान शब्द' का 'सामान्ये नपुंसकम्' इससे नपुँसक लिङ्ग हो जायेगा।

लिङ्ग विषय में तो भगवान् महाभाष्यकार की उक्ति है कि 'लोकाश्रय से लिङ्ग विधान होता है' लिङ्गानुशासन प्रायः लोकव्यवहाराश्रित है। यह कथन ठीक नहीं कि 'घञ्' प्रत्यय होने से सन्तान शब्द पुंल्लिङ्ग ही होगा; क्योंकि

तथा च—योगभाष्ये ४।८ चर्चा स्थाने चर्च इति, (महाभारते शान्ति प० ३३४।५) तर्केण इति स्थाने तर्कया, 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति आनन्दस्यघञन्तत्वेऽपि क्लीवत्वम् (महा. भा.) "पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पंचमम्। घञन्तोऽप्याकाश शब्दः क्लीवम्, आश्व० २०।२८ इत्यादि प्रयोगैः लिङ्गानुशासनस्य प्रायिकता सिद्धा।

वेदार्थ पारिजाते प्रकाशकस्तुतौ 'तेषांस्मारकमेतद्' स्मारकशब्दस्य ण्वुलन्तत्वात्, वेद-विरुद्धानि सिद्धान्तानि पृ० ४८३ सिद्धान्तस्य च पुंस्त्वं प्राप्तम्, परं न तत्र कृतम् भवता, क्वगतोऽसौ लिङ्गानुशासन नियमस्ते लिङ्गवृतेः।

अत्र करपात्र महोदस्यकूपमण्डूकतैवार्षशास्त्राऽश्राद्ध-पर्यालोचनेन। सिध्यति आचार्य दयानन्दस्य तु न केवलं व्याकरणरहस्य-प्रकृष्टाऽभिज्ञानम प्रत्युत 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति योगानुशष्टाचमत्कृतिः आर्ष प्रतिभा चोन्मिषिता, यदसावज्ञासीत् सम्भवोदाहरणे पुत्रस्य, पुत्र्याः क्लीव

भाव अर्थ में ही 'घञवन्तः' सूत्र की प्रवृत्ति होती है। नपुंसक विशिष्ट भाव में क्त और ल्युट् से, स्त्रीत्व विशिष्ट में क्तिन् आदि से बाध होने पर परिशेषात् नपुसंक हो जायेगा। 'कर्मादि में तो घञवन्त भी विशेष्य लिङ्ग हो जाता है। जैसा कि भाष्य में लिखा है' कि सम्बन्धमनुवर्तिष्येते यहाँ 'सम्बन्धं' यह क्लीव विधान किया है।

इसी प्रकार योग भाष्य में ४।८ की 'चर्चा' के स्थान पर 'चर्च' पुलिंग तथा म० भारत शा० पर्व में ३३४।५ 'तर्केण' के स्थान पर 'तर्कया' स्त्रीत्व 'प्रज्ञानमानन्दम्' यहाँ आनन्द शब्द घञन्त होकर भी क्लीवत्व, म० भारत आश्व० २०।२४ इत्यादि प्रयोगों के घञन्त भी 'आकाश' का नपुंस्त्व में प्रयोग किया है, इससे लिङ्गानुशासन की प्रायिकता सिद्ध होती है।

वेदार्थ पारिजात के प्रकाशक की स्तुति में प्रयुक्त 'स्मारकं संज्ञा ण्वुलन्त को तथा ४८३ पृ० पर सिद्धान्त शब्द को पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त क्यों नहीं किया, जो सर्वथा अशुद्ध है।

यहाँ पर आर्ष शास्त्रों के श्रद्धारहित मानस से पर्यालोचन करने से श्री करपात्री जी की कूप-मण्डूकता ही सिद्ध हो रही है। आचार्य दयानन्द को तो न केवल व्याकरण-रहस्य का ही प्रकृष्ट परिज्ञान है, प्रत्युत योगानुशिष्ट, ऋतम्भरा प्रज्ञाकी चमत्कृति प्राप्त है, जिससे आर्ष प्रतिभा का उन्मेष हुआ है।

स्याऽपि च सम्भवनाम् । अतस्त्रिष्वपि लिङ्गेषु नपुंसकं प्रायुङ्क्त । सामान्येन वैयाकरणेन भैरवमिश्रेण, यद्यपि शब्दानामर्थानां चाऽऽनन्त्यात् प्रातिस्विकरूपेण तेषां ज्ञानं योगिनां युक्तयुञ्जानत्वेन व्यवहार-योग्यानामेव सम्भवति न त्वस्मदादीनामज्ञानाम् ।" तथा घञन्तोऽपि लिङ्गशब्दो नपुंसके एव प्रयोज्यते, ऋषि-दर्शितसरणिमनुसरता विदुषा आप्टे महोदयेनाऽपिस्वकोषे सन्तानमित्यपि अपठ्यत । सन्तान-शब्दस्य नपुंसक-लिङ्गेऽपि प्रयोगः प्राचीनः सन्तानं नर्त्तकं घोरमास्यमोदकमष्टकम् । एतै-र्विद्धाः सर्व एते मरणं यान्ति मानवाः (हलायुधको० महा० भा० ५।९६।४)

केचन विद्वांसः पुंल्लिङ्गनाभिशब्दस्य स्त्रीत्वे प्रयोगदर्शनेन-सन्तानशब्दस्य नपुंसकत्वप्रयोगे समाधानं साहाय्यरूपेण निदर्शयन्ति तन्नास्मद्रमणीयम् । नाभेरुभय-लिङ्गत्वात् । तथा च मेदिनी—

"नाभिर्मुख्यनृपेचक्रे मध्यक्षत्रिययोः पुमान् ।
द्वयोः प्राणि प्रतीके स्यात् स्त्रियां कस्तूरिकामदे ।"

जैसाकि ऋषि ने जान लिया था कि 'सम्भव' प्रमाण के उदाहरण में पुत्र: पुत्री और नपुंसक की उत्पत्ति की भी सम्भवता है । अतः तीनों लिङ्गों में उन्होंने सामान्य में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया है ।

लिङ्ग ज्ञान के विषय में तुम्हारे भी मान्य वैयाकरण भैरव मिश्र ने कहा है—यद्यपि शब्दों और अर्थों के अनन्त होने से प्रातिस्विक रूप से उनका ज्ञान योगियों को युक्त तथा युञ्जानत्वेन व्यवहार योग्यों को सम्भव होता है हम जैसे अज्ञानियों को नहीं होता ।" तथा घञन्त 'लिङ्ग' शब्द भी नपुंसक में प्रयुक्त होता है क्योंकि वह तीनों लिङ्गों का प्रतिनिधित्व करता है । ऋषि दर्शित सरणिका अनुसरण करने वाले विद्वान् आप्टे महोदय भी अपने कोष में 'सन्तानम्' यह भी पढ़ते हैं । तथा प्राचीन प्रयोग भी है देखिये 'सन्तानं नर्तकं घोरम्', (म० भारत ५।९६।४।)

कोई विद्वान् पुंलिङ्ग नाभि शब्द का स्त्रीत्व में प्रयोग दिखाकर सन्तान शब्द का नपुंसकत्व के प्रयोग में साहाय्य रूप से समाधान उपहृत करते हैं; वह हमें आदरणीय नहीं है, क्योंकि नाभि शब्द तो उभयलिङ्ग है ही । जैसा कि मेदिनी में है "पुंल्लिङ्ग में नाभि शब्द नृपादि अर्थ में तथा स्त्रीत्व में कस्तूरिका अर्थ में और प्राणि तथा प्रतीक अर्थ में दोनों लिङ्गों में प्रतुक्त होता है इससे

एतेन सिद्ध यत् आक्षेपात् प्रथमं व्याकरणमध्येतव्यम् भवता, अथवा सत्यमुक्तम्"

अजानन्नृषि-पाण्डित्यं करपात्रो त्रपया पुनः ।
धत्ते दुःसाहसं कर्त्तु मिथ्याक्षेपं मुहुर्मुहुः ।
दर्शने चैव गाम्भीर्यमदसीयं नु पश्यतु ।
'दृश्य-दर्शन-योग्यं यत् सम्यङ् नैवावबुध्यते । तथाहिः--

भूमिकायाः पाठो यथा "विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्यते यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्, तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते । चक्षुषा दर्शनाऽभावात् (णश् अदर्शने अस्माद् घञ्-प्रत्ययेकृते नाशइति शब्दः सिध्यति,) अतो नाशो बाह्येन्द्रियादर्शनमेव भवितुमर्हति ।"

आक्षेपः—एवं सति बाह्येन्द्रियाऽविषयाणामाकाशादीनां पार्थिव-परमाणूनाम् च दयानन्दरीत्या-नाशापत्तिप्रसङ्गः स्यात् ।

सिद्ध है कि करपात्री जी को व्याकरण और पढ़ना चाहिये था" । अथवा यह निर्मलोक्ति सत्य है—

ऋषि के पाण्डित्य को न समझकर अत्रप होकर बार-२ मिथ्याक्षेप करने का दुःसाहस कर रहे हैं, इन महोदय के दर्शनशास्त्र के गाम्भीर्य पर दृष्टि डालिये जो कि 'द्रश्य और दर्शन-योग्य' को नहीं समझ रहे हैं ।

भूमिका में पाठ है विनाश उसे कहते हैं जो दृश्य होकर फिर न दिखाई दे जैसे कोई एक मिट्टी के पिण्ड को विशेष रूप से चूर्ण करके वेग युक्त वायु में बाहुवेग से आकाश में फेंक दें, उसका नाश हो गया ऐसा कहा जाता है, क्योंकि चक्षु से वह ढेला दिखाई नहीं देता । 'णश् अदर्शने इस धातु से घञ् प्रत्यय करने पर नाश शब्द सिद्ध होता है । इसलिए नाश—बाह्य इन्द्रियों से दर्शन योग्य नहीं रहता ।

आक्षेप—ऐसा मानने पर बाह्य इन्द्रियों के अविषय आकाशादि और पार्थिव अणुओं का दयानन्द की रीति से नाशाऽपत्ति प्रसङ्ग होगा और व्यवधान युक्त पदार्थों का भी अर्थात् करपात्र आदि का भी बाह्येन्द्रियों के अविषय होने से नाश प्रसङ्ग आ जायेगा ।

(समा०) यहाँ पर आचार्य दयानन्द ने बताया है' दृश्य होकर फिर न

व्यवहितानामपि पदार्थानां करपात्रादीनां वाह्येन्द्रियाऽविषयत्वेन नाशप्रसङ्गाच्च । दयानन्दरीत्या दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव भावादभावावधारणात् ।

समा०—इहाचार्येण बोधितम् "विनाशस्तु दृश्यं भूत्वापुनर्न दृश्यते अयमेवार्थः "नाशः कारणलयः" (सां० १।१।१२१) इत्यस्याऽपि सांख्य-सूत्रस्य । भावस्याऽभावस्तु न नाशः, न च अभावस्य भावाऽऽपन्नता उत्पत्तिः, तथा ऽसम्भवात् । "आकाशं परमाणवश्च न पूर्वम् बाह्येन्द्रियस्य दृश्यतामाप्नुवन् येन पश्चात् तेषाम् अदृश्यताकल्प्येत ।

ते पूर्वतः एव इन्द्रियागोचराः । पुनः कथं नाशापत्तिः ? दृश्यतामापन्नाः करपात्रादयो भित्तिव्यवहिता अपि व्यवधानेऽदृश्याः, परं व्यवधानम् अपवार्य तु दृश्या एव, अतो व्यर्थमेव नाशापत्तेर्विभीषिका । एतमेवाभिप्रायं मृत्पिण्डं चूर्णीकृत्य प्रक्षेपणेन दृश्यतायाम् उदाहरति "मृत्पिण्डस्य वाह्येन्द्रियगोचरता नष्टा पुनःकणानांमृत्पिण्डताऽऽपत्त्यसम्भवः, परं भित्ति-व्यवहितानां चैत्रादीनां दृश्यमान-पिण्डत्वात् नाशलक्षणाऽलक्षितता विद्यते एवेति ।"

दिखाई दे उसे नाश कहते हैं यही अर्थ 'कारण में लय होना' इस सां० सूत्र (१।१।१२१) का आशय है । भाव का अभाव कहना नाश नहीं और न अभाव की भावापनन्ता को उत्पत्ति कहते हैं । क्योंकि ऐसा असम्भव है । आकाश और परमाणु पहले भी वाह्येन्द्रियों की गोचरता को प्राप्त नहीं होते, जिससे कि उनका बाद को अदृश्य होना कहा जा सके, पूर्व से ही ये इन्द्रियों के अगोचर हैं । फिर ऋषि दयानन्द की परिभाषा में घटित न होने से नाशापत्तिः का प्रसङ्ग कैसे हो सकता है ।

पूर्व में गोचरता को प्राप्त हुए कर और पात्र आदि भित्ति से व्यवहित होकर भी व्यवधान में तो अदृश्य होगे; परन्तु व्यवधान को हटाकर तो वे दृश्य हो जायेंगे । अतः नाशापत्ति की विभीषिका व्यर्थ है । इसी अभिप्राय का उदाहरण देते हैं कि मृत-पिण्ड को चूर्ण करके फेंकने से अदृश्यता हो जायेगी । मृत् पिण्ड की वाह्येन्द्रिय गोचरता नष्ट हो गई है, फिर कणों की मृत् पिण्डता प्राप्ति असम्भव है, परन्तु भित्ति से व्यवहित करपात्र चैत्रादि की दृश्यमान पिण्डता होने से उक्त नाश लक्षण घटित नहीं हो सकेगा ।

(पृ० ५७६। अनु० २)—भूमिका पाठः "यदा परमाणवः पृथक् पृथग् भवन्ति-तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा-स्थूलभावमापद्यन्ते, तदैव तद्द्रव्यं दृष्टि-पथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियविषयकत्वात्। तद् द्रव्यं विभक्तं विभागानर्हं तदा तस्य परमाणुसंज्ञेति व्यवहारः।"

आक्षेप :—"इदमसङ्गतम्, पृथग्भूताः परमाणव एव मिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्ते इत्यङ्गीकारे नास्तिक-मत-प्रवेशाऽऽपत्तेः। महत्त्वोद्भूत-रूपवत्त्वस्य द्रव्य-प्रत्यक्षे कारणत्वेन परमाणुषु तदभावात् घटादीनामप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नैयायिकादिभिः परमाणुसमूहातिरिक्तोऽवयवी स्वीक्रियते।"

समा०—पृथक् सन्तः एव परमाणवो मिलित्वा स्थूल-भावमुपपद्यन्ते, स्थूल-शब्देनात्र महत्त्वम् उदभूतरूपवत्त्वं तु विवक्षितमेव, स्थूलं-सूक्ष्मेतरम् यच्च न द्व्यणुकं यावत्, यतः स्थूलस्य द्व्यणुकादेरारब्धत्वात्। तथा च शब्दकल्पद्रुमः (भागः ३ पृ०५१) "तैरेव परमा-

---

(५७६। अनु० २) भूमिका पाठ 'जब परमाणु पृथक्-पृथक् होते हैं तब वे चक्षु से दिखाई नहीं देते, क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं, जब ये परमाणु मिलकर स्थूलभाव को प्राप्त होते हैं तभी द्रव्य रूप में दृष्टि-पथ पर आते हैं, क्योंकि स्थूल ही इन्द्रियों का विषय होता है जो द्रव्य विभक्त होकर के अन्त में विभाग के अयोग्य हो जावे तब उसकी परमाणु संज्ञा होती है, 'जैसाकि महर्षि ने कहा है—'परं वा त्रुटेः' (न्या. ४।१।२।१७)।

आक्षेप—यह असङ्गत है, पृथक् भूत परमाणु मिलकर स्थूलभाव को प्राप्त होते हैं, ऐसा स्वीकार करने में नास्तिक मत की प्रवेशापत्ति होगी। महत्त्व से उद्भूत रूप तत्त्व ही द्रव्य-प्रत्यक्ष में कारण है। परमाणुओं में उसका अभाव होने से घटादि में भी अप्रत्यक्षता का प्रसङ्ग आ पड़ेगा। नैयायिक आदि तो परमाणु-समूहातिरिक्त अवयवी को स्वीकार करते हैं।

समा०—पृथक् स्थित परमाणु मिलकर स्थूल भाव को प्राप्त होते हैं, स्थूल शब्द से यहाँ पर 'महत्त्व' उद्भूत-रूप में विवक्षित है ही। स्थूल अर्थात् सूक्ष्म से इतर, वह द्व्यणुक पर्यन्त नहीं होता। स्थूल का द्व्यणुक के बाद आरम्भ है। जैसा कि शब्द कल्पद्रुम में पाठ है कि उन्हीं परमाणुओं से जो आद्युपादान है

णुभिराद्युपादानैर्द्व्यणुकत्रसरेण्वादिक्रमेण स्थूल-क्षिति-जल-तेजो-मरुतः सृजति परमेश्वरः" अत्र प्रत्यक्ष-योग्यत्र्यणुकाग्रे स्थूलभावोपपादनात्। वस्तुतस्तु नेह स्थूलभावस्य विवृतिरपेक्षिताऽऽसीदृषेः। यथा च 'समाधि-विशेषाभ्याम्' (न्या० ४।२।३८) अत्र न समाधिभेद-परिभाषा-उक्तास्तद्विवृत्तेरविषयत्वेनाविवक्षितत्वात्। तथा स्थूल-भावस्यैन्द्रि-यकत्वे महत्त्वोद्भूतत्वाऽप्रकथनम्।

अतः परमाणु-परिभाषायामुक्तम् यन्न विभज्येत पुनः, विभागस्तु सावयवस्यैव सावयवो द्व्यणुको, न परं तत्र स्थूल-भावः।

अतएव अनेक-द्रव्यारम्भतायाम् महत्परिमाणत्वे सति उद्भूतरू-पवत्त्वम् हि प्रत्यक्षत्वम्। उद्भूतत्वं च प्रत्यक्ष-ग्रहण-योग्यतावत्त्वम्। प्रत्यक्षकरणयोग्यताऽनधिकरणत्वमनुद्भूतत्वम्। यच्च त्वयोक्तमुद्-भूतत्वं च प्रत्यक्षे कारणम्, तदपूर्णमेव। उद्भूतत्वेऽपि मध्याह्न-काले सूर्य-प्रकाशेन ताराणाम् न दर्शनम्, नेत्राभ्याम् सूर्यप्रकाशेनाऽ-भिभूतत्वात्, अत इदमेव सुवचं स्यात् "यद् रूपमनेक-द्रव्यारब्ध-समवेत मुद्भूतम् अन्य-बलवत्सजातीय-तैजसप्रकाशानभिभूतम् तस्यैव रूपप्रत्यक्षं भवति" इति।

उससे द्व्यणुकत्रसरेणु आदि क्रम से स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु का सृजन परमेश्वर करता है, यहाँ प्रत्यक्ष-योग्य त्र्यणुक के आगे स्थूल भाव का उपपादन हो जाता है। वास्तव में यहाँ पर ऋषि दयानन्द को स्थूल-भाव का विवरण देना लक्षित नहीं है। जैसे 'समाधि विशेषाभ्याम् (न्या० ४।२।३८) में समाधि भेद की परिभाषा देना अभीष्ट नहीं; उसी प्रकार स्थूल भाव के इन्द्रिय-विषय होने में पुनः महत्त्वोद्भूत का प्रकथन भी ठीक नहीं।

अतः परमाणु परिभाषा में कहा कि जो पुनर्विभाजित न हो, विभाग तो सावयव का ही होता है और द्व्यणुक भी सावयव है, परन्तु उसमें स्थूल भाव नहीं है। अतः अनेक द्रव्यों की आरम्भता में महत्परिमाण-उद्भूत-रूपवत्त्व प्रत्यक्षत्व है। प्रत्यक्ष-ग्रहण की योग्यता से युक्त होना उद्भूत कहाता है और प्रत्यक्ष करने की योग्यता का अधिकरण न होना अनुद्भूतत्व है, यह जो आपने कहा कि उद्भूतत्व और महत्त्व प्रत्यक्ष में कारण है—यह कथन अपूर्ण है, क्योंकि उद्भूत होने पर भी मध्याह्नकाल में सूर्य प्रकाश से अभिभूत ताराओं का दर्शन नेत्रों से नहीं होता है। अतः ऐसा कहना चाहिए कि जो रूप अनेक

यदुक्तं नैयायिकादिविषये अवयविस्वीकरणमिति, तदपि असमग्रमेव, यतस्ते अवयवेभ्योऽतिरिक्तम् एकं नूतनं पदार्थमवयविनं मन्वते। यत्रैकतः तेषां दृशि अवयवारब्धमेकं नूतनवस्तु प्रतीयते। न्याय-वैशेषिकयोरयमाधारभूत-सिद्धान्तः। यथा तन्त्ववयवेषु पटोत्पत्तिः, परं 'वृक्षाणां समूहो वनम्' 'मनुष्याणां समूहः सेना' अत्र वनसेनयोश्च न नूतनावयवित्वम्। वृक्षा मनुष्याश्च अन्त्यावयविनः, तेषां समूहे पृथगवयविता।

न चेदमुच्यत 'यत् कार्यं तन्तुभिः शरीरावरणरूपं कर्त्तुं न शक्यते तत् पटेन सम्पाद्यते, तथा सति अवयवित्वं नूतनं स्यात् अन्त्यावयत्वे क्व मन्येत क्व वा नो, ? घटनौकायाम् इव, निश्चिताऽधारप्रतीतेरभावात्।

यथा भवता परमाणूनामप्रत्यक्षतायां महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वाभावः उक्तः, तथैव स्वामि-दयानन्देन अदर्शने तेषां स्थूलभावाऽभावोऽपि। किमत्र वैशिष्ट्यम् ? वस्तुतस्तु निरवयवाः परमाणव एव उत्तरोत्तराऽन्याणु-संयोगे उपचिताः अवयविनो भूत्वा द्रव्यान्तरतामुपयान्ति।

द्रव्यारब्ध समवेत उद्भूत है और अन्य बलवान् सजातीय तैजस प्रकाश से अनभिभूत है, उसी का रूप-प्रत्यक्ष होता है।

जो नैयायिकादि के विषय में कहा वह भी अधूरा है; क्योंकि वे अवयवों से अतिरिक्त एक नूतन पदार्थ अवयवी मानते हैं। वहाँ एक ओर उनकी दृष्टि में अवयव से आरब्ध एक नई वस्तु प्रतीत होती है यह न्याय और वैशेषिक का सिद्धान्त है, जैसे तन्तु अवयवों में पट की उत्पत्ति, परन्तु वृक्षों का समूह वन तथा मनुष्यों का समूह सेना। यहाँ वन और सेना में कोई नूतन अवयवित्व नहीं है। वृक्ष और मनुष्य अन्त्यावयवी हैं, उनके समूह में पृथगवयविता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'शरीरावरण रूप कार्य तन्तुओं के द्वारा नहीं किया जा सकता, उसे पट से किया जाता है, फिर तो अन्त्यावयवत्व में नूतन अवयवित्व हो जायेगा। वह कहाँ माना जाये और कहाँ नहीं ? क्योंकि घट-नौका के समान, निश्चिताधार की प्रतीति का अभाव है।

परमाणुओं की अप्रत्यक्षता में करपात्री जी ने महत्त्वोद्भूत रूपवत्त्वाभाव कहा है, उसी प्रकार स्वामी जी ने अदर्शन में परमाणुओं का स्थूलाभाव कहा में आपने क्या वैशिष्ट्य कर दिया ? वास्तव में तो निरवयव परमाणु ही

अतएव ग्रवयवावयविनोरन्योन्याश्रय-सम्बन्धस्तदैव सम्भवति यदा अवयवी स्ववृत्तिभिः सम्पूर्णावयवेषु वर्त्तमानो भवेत्। वृत्तिश्च "एकस्याऽनेकताश्रयाश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्तिः।" "नहि कारण-द्रव्येभ्योऽन्यत्र कार्य-द्रव्यमात्मानं लभते' (न्या० भा० ४।२।१२।) एव भवताऽपि सर्वत्र असमग्रमेव उच्यते। अतो नाऽयं दोषः केवलां 'भूमिकामनुवध्नाति।

यच्चायं वक्ति "स्वामिनः उक्तौ नास्तिकबौद्धमतप्रवेशापत्तिः स्यात्" तदसत्यम्, एतस्य बौद्धसिद्धान्तानामपि ग्रयथार्थज्ञानात्। वौद्धानां 'स्वलक्षणेषु' न्यायवैशेषिकयोः 'परमाणुषु' च महदन्तरम्।

तच्चैवम् 'अणवो द्रव्यरूपाः गुणवन्तश्च, परं बौद्धास्तु स्वलक्ष-णानां द्रव्यत्वाभावं मन्वते गुणत्वेन धर्मत्वेन वाऽवगम्यमानत्वात्। तदापि न न्याय-वैशेषिक-गुणान्तर्गतता एषां स्वलक्षणानाम्। अणूनां

उत्तरोत्तर ग्रन्य ग्रणुग्रों के संयोग पर उपचित ग्रवयवी होकर द्रव्यान्तरता को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये ग्रवयव ग्रौर ग्रवयवी का ग्रन्योन्याश्रय संबंध तभी सम्भव हो सकता है जब अवयवी अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्त्तमान होता है, एक की अनेकता ग्राश्रयाश्रित सम्बन्ध लक्षण की प्राप्ति का नाम वृत्ति है। "कारण द्रव्य के बिना कार्य द्रव्य की स्थिति नहीं होने से समवाय सम्बन्ध द्वारा कार्य ग्रपने कारण में रहता है" (न्या० भा० ४।२।१२)।

स्वामी जी पर ग्राप दोष लगाते हैं कि "महत्त्वोद्भूत रूप वत्त्वं' पदावली प्रत्यक्ष के कारण में नहीं लिखी", यह निराधार है और ग्रापने भी तो समग्र बात नहीं कही। जैसाकि हमने ऊपर दिखाया है, ग्रतः यह दोष केवल ग्राप भूमिका पर मढ़ रहे हैं? जो युक्त नहीं। ग्राप कहते हैं कि 'स्वामी जी की इस उक्ति में नास्तिक बौद्ध-मत का प्रवेश है, यह ग्रसत्य है क्योंकि ग्राप इस विषय में बौद्धों के सिद्धान्तों से ग्रपरिचित मालूम पड़ते हैं। क्योंकि 'स्वलक्षणों में' तथा न्याय ग्रौर वैशेषिक के 'परमाणुओं' में बड़ा अन्तर है।

वह इस प्रकार है—ग्रणु तो द्रव्य रूप ग्रौर गुण वाले हैं ग्रौर बौद्ध 'स्व-लक्षण' में द्रव्यत्व का ग्रभाव मानते हैं, जो गुणत्वेन या धर्मत्वेन जाने जाते हैं। तब भी न्याय और वैशेषिक के गुणों के ग्रन्तर्गत ये नहीं आते। क्योंकि ग्रणु तो गुण जाति विशेष पदार्थ वाले हैं बौद्धों के स्वलक्षणों में ये घटित नहीं

गुणजातिविशेषपदार्थवत्त्वात्, स्वलक्षणेषु च तदभावात्। तत्त्वं चैतद् वर्त्तते यत् बौद्धानां स्वलक्षणवादात् पृथक् अणुवादस्य प्रतिपादनावश्यकत्वात् अणुभ्योऽपि अन्यविशेषपदार्थ-कथनम्। न्याय-वैशेषिक-बौद्ध-सिद्धान्त-भेदम् एतं-सर्वमविज्ञाय लेखकेन स्वीयमज्ञानमेव प्रकाशितम् इह। प्रासङ्गिकमिदमपि ज्ञातव्यम्। यदीदृशाः शङ्कन्ते—

ननु यत् परमाणुषु परिमाणाभावात्, तदुपचितवस्तुषु परिमाण-सद्भावात्, कथं नाऽभावादेव परिमाणभावोत्पत्तिर्मन्तव्या इति चेन्न, परमाणुष्वपि परिमाणपरमाणुत्वात्, "नित्यं परिमण्डलम्" (वैशे० ७।१।२०) इह तस्य परिमण्डलसञ्ज्ञकत्वात्। इदं हि कारणरूपं परिमाणम् तच्चामेयम्। तदपेक्षया अणुतरपरिमाणमापकस्यानुपलब्धेः। तस्मात् परिमाण-रहितत्व-व्यवहारोऽत्र, यथा च रेखा-गणिते बिन्दु परिभाषा, आयामाद्यभावे सति अस्तित्ववत्त्वं बिन्दुत्वम् इति स्वीक्रियते।

(पृ, ५८० अनु० —१)—यदुच्यते भवता "सुगन्धिद्रव्यस्येव दुर्गन्धिद्रव्यस्य नाशाऽसम्भवात्, तन्निवारणस्याऽसिद्धत्वात्" इत्यादि।

होता। सार यह है कि बौद्धों का स्वलक्षणवाद से पृथक् विशेष पदार्थ होने से अणुओं का कथन आवश्यक है।

यह सब बिना जाने पारिजात-लेखक ने अपना अज्ञान ही प्रकट किया है। प्रसङ्ग रूप से यह भी समझ लेना चाहिए, ऐसे लोग यह भी शंका करते हैं कि परमाणुओं के परिमाणाऽभाव के कारण उनसे बनी वस्तुओं में परिमाण का होना, अभाव से भाव की सिद्धि प्रतिपादित करता है।

इसका उत्तर यह है कि परमाणुओं में भी परिमाण परमाणु होता है जिसे (वैशे० ७।१।२० में) परिमण्डल संज्ञा दी गई है। यह कारण-रूप परिमाण जो नापा नहीं जा सकता' क्योंकि इसकी अपेक्षा इससे छोटा परिमाण मापक नहीं मिल सकता। इसलिए परमाणु परिमाण रहित है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार रेखा गणित में लम्बाई चौड़ाई आदि से रहित, पर अस्तित्व वाला बिन्दु होता है। इस रूप में परिभाषा दी है।

(५८०।अनु० १)—यह कहना कि 'सुगन्धित द्रव्य के समान दुर्गन्धि द्रव्य का नाश भी उसका निवारण सिद्ध न होने से असम्भव है" इत्यादि

समा०—प्रथमं तु भूमिकायां पाठोऽत्र 'यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि द्रव्यम्'' इति तत्रेदं तात्पर्यं दुर्गन्धः कृत्रिमः श्वासादि-जनितः स्वाभाविकसुगन्धि-द्रव्यहोमेन निवार्यते। दुर्गन्धश्च गुणो न द्रव्यं, यश्च वायुना सूक्ष्माणुभिः सह प्रवाह्यते इतस्ततः, न च वायोरस्य सुगन्धो दुर्गन्धो वा स्वाभाविको गुणः। परं स्वाभाविकसुगन्धिद्रव्य-ज्वालनेन वायुः शोध्यते, तस्य द्रव्यस्य च नाऽस्तित्वनाशो भवति अर्थात् नात्यन्तनाशः भवति। यावान् वा दुर्गन्धो मनुष्यादिभिरुत्पादयिष्यते तावान् ततो वाऽप्यधिकः सुगन्ध उत्पादयितव्यो यज्ञेनेत्यभिप्रायः।

यद्यपि फिनायलादिक्रमेण ते रोगकीटाणवो नाश्यन्ते शीघ्रं, परं तत्प्रयोगस्तु कीटनाशकरूपेण एकपक्षकः, यज्ञसुगन्धस्तु अनेक प्रयो-जनकः, रोगनाशकत्वात् पुष्टिकरत्वाद् वृष्टिजनकत्वाच्च।

"लोके तु निम्बतैलादि-परिपूर्णे घटे न पाटलपटवास-बिन्दु-निपातेन दौर्गन्ध्यापनोदनं सम्भवति" एतन्मन्दबुद्धिजनितं कथनम्, यतोहि लोके आधुनिकाऽऽविष्कारेण मृत्तैलादीनामपि दौर्गन्ध्य-विनाशे

ठीक नहीं—प्रथम तो भूमिका में यह पाठ है "दुर्गन्धादि दोष-निवारक सुगन्धादि द्रव्य हैं" यहाँ तात्पर्य है कि श्वास आदि से जनित कृत्रिम दुर्गन्ध स्वाभाविक सुगन्धि द्रव्य होम से निवारित होता जाता है, दुर्गन्ध गुण है, द्रव्य नहीं, जोकि वायु द्वारा सूक्ष्म अणुओं के साथ इधर-उधर ले जाया जाता है। वायु का स्वाभाविक गुण सुगन्ध या दुर्गन्ध नहीं है। परन्तु स्वाभाविक सुगन्धित द्रव्य के जलाने से वायु की शुद्धि हो जाती है, परन्तु द्रव्य का अत्यन्त नाश नहीं होता। जितना दुर्गन्ध मनुष्यादिकों से उत्पन्न होगा, उतना अथवा उससे भी अधिक यज्ञ के द्वारा सुगन्ध उत्पन्न करना चाहिये यह ऋषि का अभिप्राय है।

यद्यपि फिनायल आदि से वे कीटाणु नष्ट कर दिये जाते हैं, परन्तु कीट-नाशक के रूप में उनका प्रयोग एकपक्षीय और एकदेशीय है। यज्ञ तो रोग-नाशक, पुष्टिकारक, वृष्टयादि दायक हेतुओं से बहुप्रयोजन वाला है।

'लोक में तो नीम आदि के तेल से परिपूर्ण घड़े में पाटल-इत्र, सुगन्धित चूर्ण या बिन्दु डालने से उसकी दुर्गन्ध दूर करना सम्भव नहीं है।" यह कथन मन्दबुद्धि जन्य है, क्योंकि लोक में, आधुनिक आविष्कार द्वारा मिट्टी के

सति घृतादिसुगन्ध (सेण्ट) कतिपय विन्दु, निपातेन पूर्वगन्धाभिभवेन च तत्र घृतादिगन्धोत्पादनस्य प्रत्यक्षदर्शनात्। निम्बादितैलेषु अपि बुद्धि पूर्वकसुगन्धप्रयोगेण तत्रान्यगन्धोतपादन-क्षमत्वाच्च।

अतएव स्थूलधियां कृते ऋषिणा प्रतप्तघृतचमसेन सूपादिसंस्कार उदाहृतः। वह्निसासाहाय्येन अल्पेनाऽपि सुगन्धिद्रव्य-होमेन च विशालतर वातावरण-शुद्धिरुक्ता। अग्नौ एकमरिचज्वालनेन तीव्रगन्धोत्पत्तिवत् तत्प्रत्यक्षापलापः कर्त्तुमशक्यः,।

सांख्यशास्त्रीय सत्कार्यवादे नैयायिकादीनां च असत्कार्यवादे प्रतिपादनशैलीभेद एव, न मौलिकतया सिद्धान्तान्तरम्। सांख्यकृत् तु कारणे कार्य-सत्तां स्वीकृतवान् तथैव न्यायकारोऽपि।

यथा—'बुद्धि-सिद्धन्तु तदसत्' (न्या० ४।१।५०) प्रागुत्पत्तेर्नियत-कारण-कार्य-बुद्धया सिद्धमुत्पत्ति-नियम-दर्शनात्। उत्पत्तेः पूर्वमसदपि कार्यं बुद्धिसिद्धमवश्यमेव। शशकश्रृङ्गवत्कार्यं स्वरूपेण नाऽसत्, केभ्यः उपादान-तत्त्वेभ्य किं कार्यमुत्पद्यते ? इदं तु बुद्धि-द्वारा निश्चीयते।

तैलादि का दुर्गन्ध नष्ट कर घृतादि सुगन्ध के कतिपय-बिन्दु डालने से पहले वाले गन्ध का अभिभव होने से घृतादि गन्ध का उत्पादन प्रत्यक्ष देखा जाता है और निम्बादि तैलों में भी बुद्धि पूर्वक सुगन्ध प्रयोग द्वारा अन्य गन्ध उत्पन्न किये जाने की क्षमता है।

इसलिये स्थूल बुद्धियों के लिये भी ऋषि ने प्रतप्त-घृत वाले चमसे से सूपादि के संस्कार करने का उदाहरण दिया है।, अग्नि की सहायता से अल्प-सुगन्धित द्रव्यों के होम से विशालतर वातावरण की शुद्धि देखी जाती है। अग्नि में एक मिर्च डालने से तीव्र गन्ध उत्पन्न करने का (प्रत्यक्ष का) अपलाप नहीं किया जा सकता।

सांख्यकार के सत्कार्यवाद और नैयायिकादि के असत्कार्यवाद में प्रतिपादन शैली का भेद मात्र है। सांख्य में तो कारण में कार्य की सत्ता महर्षि कपिल मानते हैं, उसी को रूपान्तर में न्यायकार भी।

उत्पत्ति से पूर्व असत् भी कार्य बुद्धि-सिद्ध अवश्य है। किन उपादान तत्त्वों से क्या कार्य उत्पन्न होता है यह तो बुद्धि द्वारा निश्चित किया जाता है। अमुक उपादान अमुक कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है यह बुद्धि सिद्ध है। शशश्रृङ् के समान कार्य स्वरूप से असत् नहीं।

(पृ. ५८२ पं. ४) भूमिकापाठः 'सुगन्ध-युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति, सोऽयं सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव।'

आक्षेपः—'इदं शास्त्राऽज्ञान-मूलकं, घ्राणेन विज्ञानाऽसम्भवात्। घ्राणेन्द्रियस्य द्रव्य-ग्रहणे सामर्थ्याऽभावात्, गन्धग्राहकमेव हि घ्राणेन्द्रियं, वायोस्त्वगिन्द्रिय-गोचरत्वात्।'

(समा०) 'सुगन्धोवायुरस्ति' इति पाठे वायुविशेषणं सुगन्धः। वायुस्त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यः, गन्धश्च घ्राणेन्द्रियेण गृह्यते, इत्येवमभिप्रायो बाल-बुद्धिनाऽपि ग्रहीतुं शक्यते। किन्त्वपरिष्कृत-मतित्वात् भवतेह वाव्रज्यतेऽपथे।

यच्चोक्तं 'घ्राणेन विज्ञानाऽसम्भवादिति' तन्मान्द्योक्तिरेव भवतः। घ्राणेन्द्रियेण सर्वदा सुगन्ध-विज्ञानस्य सम्भवात्। न च घ्राणेन वायोर्ग्रहणमभीष्टम्, सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थेषु एतादृशस्य तत्तच्छास्त्रस्य-विषयस्य यथायथं प्रकाशनं वर्त्तते, अतोऽत्र वक्तुरभिप्रायादन्यत्रार्थ-कर्षणात् कौटिल्यं छलं चाभिव्यज्यते भवतः।

(पृ. ५८२ पं. ४) भूमिका-पा०—'सुगन्ध युक्त वायु दूरस्थ मनुष्य की घ्राणेन्द्रिय से संयुक्त होता है कि यह वही सुगन्ध वायु है ऐसा ज्ञात होता है'।

आक्षेप—"यह कथन शास्त्रज्ञानाऽभावमूलक है, क्योंकि घ्राणेन्द्रिय से उसका (वायु का) ज्ञान नहीं हो सकता, घ्राणेन्द्रिय द्रव्य के ग्रहण में समर्थ नहीं, घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध को ग्रहण करता है, वायु का ग्रहण तो स्पर्शेन्द्रिय से होता है।"

(समा०) 'भूमिका' में पाठ है 'वायु गन्ध-युक्त है' यहाँ वायु का विशेषण 'सुगन्ध' है। वायु तो त्वचा से ग्राह्य है और गन्ध (घ्राण) नासिकेन्द्रिय से ग्राह्य है' यह अभिप्राय तो बालबुद्धि के द्वारा भी ग्रहीत किया जा सकता है, परन्तु असमाधिस्थ (अस्थिर) मति होने से आप कुटिल चाल चल रहे हैं।

आपका यह कथन कि 'घ्राण के द्वारा ज्ञान होना असम्भव है' मन्द है, क्योंकि सुगन्ध का ज्ञान तो सदा घ्राणेन्द्रिय (नासिका) से होता है। यहाँ घ्राण के द्वारा वायु ग्रहण करना आपको कैसे दीख गया? ऋषि ने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उन-उन शास्त्र विषयों का ठीक-ठीक

(पृ० ५८२ अनु. १,२,) अत्र 'मन्त्रोच्चारणमन्तराऽपि वायुशुद्धि-सम्भवात् मन्त्रोच्चारणस्य वैयर्थ्यमेवेति प्रतिपादितं करपात्रेण, तन्न युक्तं, मन्त्रैरीश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासनापूर्वक-यज्ञ-विधानस्य मानसादि-शुद्धौ विशिष्ट-फलवत्त्वात्। न च लौकिकैर् वाक्यैरेव यज्ञः कर्त्तुं शक्यते इति वक्तुं युक्तम्, लौकिकवाक्येषु तादृश-निरतिशय-गूढसत्यस्य मौलिकत्वेनाऽविद्यमानत्वात्।

यच्चोच्यते (पृ० ५८३) 'यज्ञ-परिमाणं प्रणीतादिपात्र-स्थिति-निर्धारणम् अदृष्टफलजनकं भविष्यति इति।' तदपि न बुद्धि-संगतम्, यज्ञकुण्ड-विशिष्ट-विधानेन शिल्प-शास्त्र-गणित-रेखागणितादिशास्त्र-बीज-प्रतिपादनात्।' अग्नेः सम्यग्ज्वलनसौविध्येन हुतद्रव्यविभजना-नुकूल्यात् पात्रन्यासे एकव्यवस्थाकरण-प्रयोजनाच्च, अन्यथा बर्हिषि पिण्डदानं, मृतक-श्राद्धादिकं सर्वमवैदिकम् अन्यमतप्रतिष्ठितं पाखण्डं चापि सर्वम् अदृष्ट-फलजनकमेव कल्पयितुं शक्येत। तदेवं निर्मलोक्तिरियं सङ्गच्छतेः—

(यथोचित) प्रकाशन किया है, अतः यहाँ वक्ता के अभिप्राय से अन्यत्र अर्थ का आकर्षण करने से आपका कौटिल्य और छल प्रकट होता है।

(पृ. ५८२ अनु. १, २) यहाँ "वेदमन्त्रों के उच्चारण के विना भी वायु-शुद्धि सम्भव है अतः मन्त्रोच्चारण व्यर्थ है" करपात्री जी ने ऐसा प्रतिपादन किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति-प्रार्थनोपासनापूर्वक यज्ञ-विधान का मानस आदि की शुद्धि भी, विशिष्ट फल है। आपका यह कहना भी उचित नहीं कि 'लौकिक वाक्यों से ही यज्ञ किया जा सकता है', क्योंकि लौकिक वाक्यों में उस प्रकार के निरतिशय गूढ़ सत्यार्थ का मौलिक रूप से अभाव होता है।

(पृ. ५८३) पर जो यह कहा कि-यज्ञ-परिमाण, प्रणीता आदि पात्र-स्थिति निर्धारण भी अदृष्टफल का जनक (प्रदाता) है' वह बुद्धि-संगत नहीं। यज्ञकुण्ड के विशिष्ट विधान से शिल्प शास्त्र गणित, रेखागणितादि के बीज का प्रतिपादन-मात्र किया गया है। अग्नि के सम्यक् प्रकार से जलने की सुविधा से हुत द्रव्य के विभाजन एवं धूम का अभाव होता है और पात्र आदि के रखने में एक व्यवस्था-विशेष करने का भी प्रयोजन है। नहीं तो बर्हि पर पिण्डदान, मृतक-श्राद्ध आदिक सब कुछ अवैदिक तथा जो अन्य मत में भी प्रतिष्ठित है, वह

होमे दृष्टफलं त्वीदृक्, महत्कीदृगदृष्टकम् ।
मनसस्तु विशुद्धयादौ, कोऽनुमातुं तदर्हति ? ।।
उक्ते दृष्टफले प्रीतिः बोधपूर्वा प्रजायते ।
अदृष्टमभिलक्ष्यापि, सकामस्तु प्रवर्त्तते ।।
त्वादृशो हन्त वेदान्ती, व्यावहारिकमप्यसत् ।
सत्यं वै मन्यते कस्मात् ? मिथ्यात्वं जगतो यतः ।।
वस्तुतस्तव दृष्टौ तु, नव्यवेदान्तदम्भिनः ।
सर्वेषां ब्रह्मरूपत्वे, नार्थवान् कर्मणां विधिः ।।
एवं मखद्विषस्तेऽत्र, प्रस्तुतं बाल-भाषितम् ।
खण्डनोन्मुखमेवाऽस्ति संक्षेपेण समाहितम् ।।

भवता यदप्युच्यते "पुण्यं पापं च त्वद्रीत्या होमेनाऽपि नोत्पद्यते" इति। तदा भवानिह पृच्छ्यते किं भवद्रीत्या उभयमुत्पद्यते ? समुच्चयार्थक-'चकार, प्रयोगात् ? तच्च न साधु, तस्मादिह वेत्येव

पाखण्ड भी अदृष्टफल-जनक होने के लिए कल्पित किया जाने लगेगा । इस प्रकार यहाँ निर्मलोक्ति संगत है:—"ऊपर कहे गये दृष्टफल में बोध-पूर्वक प्रीति उत्पन्न हो जाती है। अदृष्ट को अभिलक्ष्य करके भी सकाम कर्म प्रवृत्त हो जाता है पर खेद है कि आप जैसा वेदान्ती इसे व्यावहारिक सत्य कैसे मानता है ? जबकि आपकी दृष्टि में जगत् मिथ्या है। वस्तुतः नव्यवेदान्त का दम्भ भरने वाले आपकी दृष्टि में सभी जब ब्रह्मरूप हैं तो कर्म-विधि निरर्थक हो जायेगी। इस प्रकार यज्ञ का विद्वेष करने वाले आपका प्रस्तुत विषय बालभाषित है जो खण्डनोन्मुख था उस सबका समाधान किया गया।"

आपका यह कथन कि 'आपकी रीति से होम से पुण्य-पाप आदि की निष्पत्ति नहीं होगी।' तब आप ही बताइये कि क्या आपके द्वारा क्या ये (पाप पुण्य) दोनों उत्पन्न होंगे ? क्योंकि आपने समुच्चयार्थक 'चकार' का प्रयोग किया है वह ठीक नहीं इसलिए आपको यहाँ पर 'च' के स्थान पर 'वा' का प्रयोग करना चाहिए था। वेदि के दृष्टान्त से ऋषि ने गणित आदि की शिक्षा प्रदर्शित की है। परन्तु ये करपात्री महाराज ऋषि का उपहास सा करते हुए यज्ञ द्वारा गणितादि की शिक्षा न मानते हुए विद्यालयों का निर्देश कर रहे हैं और यज्ञवेदि को गणितादि-बोधन के लिए अनुपयुक्त मान रहे हैं, उनका यह अज्ञान विजृम्भण ही है। देखिये वेद में 'इमा मे अग्न इष्टका० (यजु. १७।२)

भवता सुवचमासीत्। वेदि-दृष्टान्तेन गणितादि-शिक्षा प्रदर्शिता ऋषिणा। परमयं करपात्रः उपहसन्निव तदमन्यमानो गणितादि शिक्षार्थं विद्यालयादीन्निर्दिशति, यज्ञवेदीं च तदर्थम् अनुपयुक्तां मन्यते। तदेतदज्ञान-विजृम्भितमेवाऽस्य, यतोहि वेदे—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च।' (यजुः १७।२) इत्यादिभिः गणितस्य, 'अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्' (ऋग्१०।३२।७) इत्यादिना रेखागणितस्य, 'कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च' (य० १६,२७) 'तपसे कौलालम्' (यजुः ३०।७) इत्यादिभिश्च शिल्पादीनां प्रतिपादनात्। तव परिभाषायां यदुक्तं "पुण्यं पापं वा अदृष्टफलमेव भवति" तदेतदशास्त्रीयम्, यतो हि यत् पुनाति पवते पवित्रो भवति येन वा तत्पुण्यम् (पूञोयण्णुग्घ्रस्वश्च (उणा० ५।१५) इन्यनेन सिद्धे पुण्यं सुकृतं धर्मो वा, संसारे एव च तस्य प्रत्यक्षाचरणोपपत्तेः।

किञ्च यज्ञानां दृष्टादृष्टफलविषये त्वयं विवेकः, यत् जरन् मीमांसकास्तु यज्ञानामदृष्टफलमेव मन्वते स्म, यतस्तेषां समये यज्ञे बहुपशूनां वधोऽक्रियत, तत्रापि न केवलं पशूनामपितु मनुष्याणां सुन्दर-कन्यानां चापि। तदेवमेतेषां दृष्टफलं तु घृणा निर्दयता चैवाऽभूत्। अतोऽदृष्टफलमेव यदि ते नाऽघोषयिष्यन् तदा कथङ्कारं जनता

इत्यादि से गणित का 'अक्षेत्रवित्० इत्यादि से रेखागणित का 'कुलालेभ्यः कर्मरेभ्यः' इत्यादि से शिल्पादि विद्या का प्रतिपादन होता है। तुम्हारी परिभाषा में पुण्य और पाप अदृष्टफल ही होता है परन्तु यह सब अशास्त्रीय है, क्योंकि जो पवित्र करता है या जिसके द्वारा मनुष्य पवित्र होता है वह पुण्य कहाता है। उणादि (सू. ५।१५) से इसकी सिद्धि होने से पुण्य सुकृत या धर्म का वाचक है और संसार में ही इसका प्रत्यक्ष आचरण होता है।

यज्ञों के दृष्ट और अदृष्ट फलों के विषय में यह विवेचन है कि जरन् मीमांसक लोग यज्ञों का अदृष्टफल ही मानते थे, क्योंकि उनके समय में यज्ञों में पशुवध किया जाता था और न केवल पशुवध, अपितु मनुष्यों और कन्याओं तक का भी वध किया जाता था। इनका दृष्टफल तो घृणा और निर्दयता ही हुई। अतः यदि वे यज्ञ के अदृष्टफल की घोषणा न करते तो जनता किस प्रकार शान्त होती अथवा उनकी सांत्वना से कैसे ठगी जाती। श्री करपात्री जी भी यज्ञों के अदृष्टफलों का आलाप इसीलिए कर रहे हैं कि ये भी इस

शान्ता, तेषां सान्त्वनया च वञ्चिता (लुण्ठिता) अभविष्यत्। करपात्रिमहोदयोऽपि यज्ञानामदृष्टफलसमालापमत एव वितनुते यतोऽयमपि एवं-विधयज्ञफलं समर्थ्य स्वश्रद्धालून् वञ्चयितुं प्रभवेत्।

यानि च 'यज्ञेवधोऽवधः' इत्यादीनि मनुनाम्ना वचनानि समुपलभ्यन्ते तानि सर्वाणि प्रक्षिप्तानि सन्ति, यतो हि महाभारते महर्षि-वेद-व्यासेन स्पष्टं प्रोक्तम् :—

अव्यवस्थितमर्यादै विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तै हिंसा समनुवर्णिता॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद्विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून्नराः॥
(म० भा० शां० प० २६५।४,५)

स्वामिदयानन्द-सरस्वती तु यज्ञानां दृष्टफलमप्यघोषयत्, भौतिक-वादिनाञ्च ध्यानाकर्षणं यज्ञान् प्रति व्यधात्। परलोकवादिनश्च जनान् प्रति अदृष्टफलविधानमपि कृत्वा यज्ञेषु श्रद्धा भाव-रक्षणार्थं समुदसाहयत्। विभिन्नरोगनाशकानां गुग्गुलुगुडूच्यादीनामोषधीनां होमेन दृष्टफलं तु न केषाञ्चिदविदुषामपि तिरोहितम्।

प्रकार के यज्ञफल का समर्थन करके अपने श्रद्धालुओं को ठगने में समर्थ हो सकें।

और जो 'यज्ञ में किया वध, वध नहीं होता' इत्यादि वचन मनु के नाम से मिलते हैं वे सब प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि महाभारत में महर्षिवेदव्यास ने स्पष्ट कहा है:—

अव्यवस्थित मर्यादा वाले मूढ़ नास्तिक संशयात्मा अप्रकट मनुष्यों के द्वारा हिंसा वर्णित कर दी गई है। धर्मात्मा मनु ने (न केवल यज्ञ में) सब धार्मिक कर्मों में अहिंसा ही बताई है। कामकारी मनुष्य वेदी से बाहर पशुओं को मारते हैं। (म. भा. शां. प० २६५/४,५)

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो यज्ञों का दृष्टफल भी घोषित किया और भौतिकवादियों के ध्यान को यज्ञों की ओर आकृष्ट किया तथा परलोक वादियों को अदृष्टफल भी बताकर यज्ञों में उनके श्रद्धाभाव को बनाये रखने के लिए समुत्साहित किया। रोगनाशक गुग्गुल, गिलोय आदि औषधियों के होम से यज्ञ का दृष्टफल जनसाधारण से भी छिपा नहीं है।

किञ्च यज्ञद्वारा लोकोपकारकृदात्मसु चोदारवृत्ति 'जरीजार्गति यदस्य फलमग्रिमजन्मनि उत्तमस्वर्ग (सुख) लाभो भविष्यति' इति। महर्षेर्दयानदस्य दृष्टादृष्टोभयफलप्रतिपादक मतं युक्ति-युक्तं शास्त्र-सङ्गतं यज्ञमहिम्नोवर्धकञ्च।
तथा च दर्शनकारो महर्षिकणादोऽपि —

'दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय' (वैशे० १०।२।८) अर्थाद् वैदिक-कर्मणां यथाविध्यनुष्ठाने दृष्टमदृटं वा फलं जायते एव' इत्याह। परं जरन्-मीमांसकमतं तु पादावहन्त-व्यमेव।

यदुक्तम् (पृ. ५८४ अनु. १) "अग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति न वेदितुं शक्यं, प्रमाणाऽभावात्, प्रत्यक्षप्रमाणेन मन्येत चेत् शास्त्र-वैयर्थ्यापत्तेः" इति, तदयुक्तं, शास्त्रप्रयोजनाऽनवगमात्। नहि शास्त्रेणाबाधित-प्रत्यक्षप्रमाणापलापः कर्त्तुं शक्यते, न वा प्रत्यक्ष-प्रमाणे सति शास्त्रस्यवैयर्थ्यापत्तिः' तथा हि सायण-भाष्यभूमिकाया-मुक्तम्।

इसके अतिरिक्त यज्ञ द्वारा लोकोपकार करने वाले आत्माओं में उदार वृत्ति जगती है कि अगले जन्म में उत्तम स्वर्ग (सुख) की प्राप्ति होगी, अतः दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों फलों का प्रतिपादक महर्षि का मत युक्तियुक्त शास्त्र-सङ्गत तथा यज्ञ की महिमा को बढ़ाने वाला है, परन्तु मीमांसकों का मत तिर-स्करणीय है। दर्शनकार महर्षि कणाद ने भी कहा है कि 'दृष्टानामित्यादि वैशे० (१०।२।८) अर्थात् वैदिक कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान करने पर दृष्ट अथवा अदृष्ट फल अवश्य होता है।

(पृ. ५८४। अनु० १) यह कथन कि "अग्नि होत्र कर्म शुभावह है' प्रत्यक्ष प्रमाण से माना जावे तो शास्त्र की व्यर्थता सिद्ध होगी" ठीक नहीं, क्योंकि आपने ऐसा शास्त्र को यथार्थ में न समझने के कारण कहा है। शास्त्र द्वारा कभी भी अबाधित प्रत्यक्ष प्रमाण का अपलाप नहीं किया जाता और न प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि होने पर शास्त्र की व्यर्थता होती है। जैसाकि सायणा-चार्य की ऋग्वेद भाष्य-भूमिका में कहा है :—'प्रत्यक्षेण०' इत्यादि अर्थात् जो कुछ प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा न जाना जा सकता हो वह वेद द्वारा जान लिया जाता है यही वेद का वेदत्व या शास्त्र प्रमाण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और शास्त्र प्रमाण में विरोध या अनुपयोगिता का प्रश्न

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन, तस्माद् वेदस्य वेदता ।। इति ।

अर्थाद् यत्र प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा कश्चनोपायो नावबुध्यते तत्राऽपि शास्त्रेण वेदेनोपायोऽवबुध्यते, तदेवं प्रत्यक्षशास्त्रप्रमाणयोर्न परस्परविरोधोऽनुपयोगिता वा । किञ्च नायमस्याभिप्रायो यदन्येन प्रमाणेन ज्ञायेत तन्नादरणीयं स्यादिति ।

इह च 'प्रणीतायामपि जलानयनादि-कार्योपयोगिता वर्त्तते एव' परं (पृ. ५८३ पं. १५) इत्यत्र प्रणीतादिस्थापन-कुशादिस्तरणादीनाम् अपि विहितत्वाद् अदृष्टमेव फलं तत्र कल्पनीयम्'' इत्युक्तम् । तदा तूभयोर्मिथो विरुद्धयो दृष्टादृष्टफलयोः कतरत् भवता मन्यते ? यदि च 'एव' शब्दस्याधारणत्वाद् दृष्टफलस्याप्यङ्गीकारः तदा तु 'प्रत्यक्षादीनां तत्राऽप्रवेशः' इत्युक्तिर्विरुध्यते । एवं परस्परबाधित्वाद् अप्रामाण्य मापद्यते, यथा चोक्तं भवताऽपि ''प्रत्यक्षादि-गम्यत्वे अज्ञातज्ञापकत्वाऽभावेनाऽप्रामाण्यमापद्येत'' इति ।

नहीं । अतः इसका यह अभिप्राय नहीं कि जो अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जाना जा सके उसका तिरस्कार किया जाय ।

यह प्रणीता-पात्र में जल के लाने आदि कार्य में उपयोगिता प्रत्यक्ष है ही । परन्तु (पृ. ५८३ पं. १५) 'प्रणीतादि-स्थापन'० कुशादिस्तरणादीनाम् अपि विहितत्वात् अदृष्टमेव तत्र फलं कल्पनीयमिति अर्थात् प्रणीता आदि का स्थापन और कुशादि के बिछाने आदि का भी विधान होने से अदृष्ट फल की ही कल्पना करनी चाहिये'' इन दोनों ही परस्पर-विरुद्ध दृष्ट अदृष्ट फलों में आप कौन सा मानते है ? यदि अवधारणार्थक 'एव' के प्रयोग से दृष्ट फल भी आपको अङ्गीकृत है तो ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि का वहाँ अप्रवेश है' इस उक्ति का विरोध पड़ता है । इस प्रकार परस्पर-बाधित होने पर अप्रामाण्य आ जायेगा और आपने कहा भी है कि अदृष्ट को प्रत्यक्षादि गम्य मान लेने पर वेद की ज्ञात ज्ञापकता ही होगी, अज्ञात ज्ञापकता नहीं, तो अप्रामाण्य होगा, और यदि उभय फल आपको मन्तव्य है तब तो महर्षि दयानन्द ने सर्व प्रीतिकर दृष्ट फल का तो उदाहरण दे ही दिया । शेष सम्पूर्ण का अनुमान कर लेना चाहिये । श्रीमन् ! यज्ञ कुण्डों के विशिष्ट परिमाण-विधान से अदृष्ट मोक्ष आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, नहीं तो अन्ध-परम्परा हो जायेगी ।

अथ चेदुभयमपि फलं मन्तव्यं तदा तु महर्षिणा दृष्टं सर्व-प्रीतिकरं प्रत्यक्षं फलं तूदाहृतमेव। शेषोऽशेषोऽनुमातव्यः। श्रीमन्! नहि यज्ञकुण्डानां विशिष्टपरिमाण-विधानेनाऽदृष्टमोक्षादि-प्राप्तिर्भवितुं शक्येत, इतरथाऽन्धपरम्परा स्यात्।

यदुक्तं (पृ० ५८५ पं. १) कस्तूरी-केसरादिकं नाग्निहोत्रादौ हूयते अविहितत्वादिति' तत्तु अज्ञानजन्यमेवेति पूर्वमुद्धृतप्रमाण-साधितम्।

यच्चोक्तं "लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते।" इत्यादिना दयानन्दमार्यसमाजिकान् वाऽभिलक्ष्य सर्वमेतदुक्तमिति, तन्न युक्तम् यतः अस्मद्गुरूणां श्री पं. विहारीलाल-शास्त्रिणां मते तु :—

'वेदे न प्रतिमापूजा, मृतश्राद्धं तथा बलिः।
नाध्वरे मांस-होमोऽस्ति क्वापि शास्त्रेण सम्मतः ॥१॥
जगन्मिथ्यात्ववक्तारो नव्या वेदान्तिनोऽबुधाः।
अहं ब्रह्मेति जीवाय, कर्मानावश्यकं जगुः ॥२॥
अपलापं तु दृष्टस्य कुर्वते ये फलस्य वै।
अदृष्टमेव मन्यन्ते केवलं ते मखद्विषः ॥३॥
अघ्न्यायाश्च ते धेनोः गवालम्भेतिवादिनः।
अनर्थं कुर्वतेऽदृष्ट-फलस्योद्देश्यतः स्वयम् ॥४॥

(पृ० ५८५ पं. १) यह जो कहा कि "कस्तूरी केसरादि तो हवन में नहीं जलाई जाती हैं, क्योंकि इनका विधान नहीं है" ठीक नहीं, अज्ञानमात्र है। यह बात पूर्व ही प्रमाण से साधित की जा चुकी है।

इस कथन कि-"मूर्खलोकायतिकों को और कोई काम नहीं कि वे जो कुछ अदृष्टार्थ है उसका दृष्ट-प्रयोजन बताते हैं" इत्यादि में, दयानन्द आदि आर्य-सामाजिकों को लक्ष्य करके सब बातें कहीं गई हैं,,ठीक नहीं, क्योंकि हमारे गुरु श्री पं. विहारीलाल जी शास्त्री के मतानुसार तो 'वेदों में प्रतिमापूजन, मृतक श्राद्ध, मेढ़े आदि का बलिदान तथा यज्ञ में मांस होम विधान कहीं भी नहीं है। जगत् मिथ्यात्व कहने वाले अबुध नव्यवेदान्ती ' मैं ब्रह्म हूं, ऐसा मानते हुये जीव के लिये कर्म को अनावश्यक ठहराते हैं। यज्ञ के दृष्टफल का वे (यज्ञ द्वेषी) अपलाप करते हैं और अदृष्टफल को ही मानते हैं।

पशोर्यस्य च होमः स्यान् नूनं स्वर्गं स गच्छति ।
कथं नैवंविधः स्वीय-पितुर्होमं प्रसाधयेत् ? ॥५॥
तस्मान्मायाविनामेषां यजमानकवञ्चिनाम् ।
ऋषिः पाखण्डिनां वर्त्माऽरुणद् वेदकदर्थिनाम् ॥६॥

मन्येऽहमेते गुरु-पादप्रहाराः पुराणमतान्धबुद्धीन् करपात्रादीन् अभिलक्ष्यैव कृताः वर्त्तन्ते ।

(पृ.५८५,५८६) आक्षे. स्वामिदयानन्देन 'मन्त्राः गायत्र्यादीनि छन्दांसि अग्न्यादयश्च 'देवताः' अमन्यन्त' तत्रायं करपात्र आक्षिपति-'अग्निर्देवता०' इत्यादिमन्त्रगतपदैः प्रसिद्धाग्न्यादीन् शब्दशक्तिसमुपस्थितानुपेक्ष्य लक्षणया तद्बोधकमन्त्रपर्यन्तानुधावनस्य निर्मूलत्वाद् उपरिनिर्दिष्टं दयानन्दोक्तं मन्दम्' ।

(समा०) श्रीमन् ! दयानन्दोक्तं तु न मन्दं, परं मन्दधिया तु भवताऽगम्यम् । देवो दानाद्वा दीपनाद् वा द्योननाद् वा द्युस्थानो

अघ्न्या (जो वध के योग्य न हो) गौ का भी वे गवालम्भ (वध) प्रतिपादन करते हैं और इस गोवध का वे अदृष्टफल बताकर अनर्थ करते हैं । उनका कहना है कि यदि पशु का यज्ञ में वध किया जाय, तो वह स्वर्ग को जाता है, तो ऐसा कहने वाले लोग अपने पिता का वध करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजते ? इसलिये यजमानों को ठगने वाले, वेदों का दुष्टार्थ करने वाले इन मायावी पाखण्डियों के मार्ग को महर्षि दयानन्द ने रोक दिया । मेरे विचार में गुरु-निर्मित श्लोकों के प्रहार पुराणमतान्ध-बुद्धि करपात्री सदृशों को अभिलक्षित करके किये गये हैं ।

(पृ. ५८५,८६) स्वामी दयानन्द ने 'मन्त्रों को गायत्र्यादि छन्दों को और अग्नि आदि को देवता माना है' इस पर करपात्री जी आक्षेप करते हैं कि-अग्निर्देवता' इत्यादि मन्त्र-गत पदों से शब्द-शक्ति से उपस्थित लोकप्रसिद्ध 'अग्नि आदि की उपेक्षा करके लक्षणा से अग्नि आदि पदों से युक्त मन्त्रों तक की दौड़ लगाना ठीक न होने से दयानन्द का उक्त कथन मन्द है ।

(समा०)श्रीमान् जी, दयानन्दोक्त कथन तो मन्द नहीं है, पर आपकी मन्द बुद्धि का यह विषय नहीं है। आपने 'देव मन्त्र और छन्द शब्दों के लक्षण और निर्वचन का मनन नहीं किया । दान, दीपन, द्योतन अथवा द्युस्थान होने से कोई

भवतीति वेति देव-लक्षणस्याऽमननात्। मन्त्रश्च मननात्, मन्त्र्यते परिभाष्यते, मन्त्रयतेगुप्तं वा स मन्त्रः। छन्दांसि च छादनात् गायत्रादीनि छन्दांसि। तदेव 'देव' शब्दस्योक्तव्युत्पत्तेः मन्त्राणां छन्दसां वाऽपि देवत्वं कर्मकाण्डविधेः द्योतनात् प्रतिपादितवानृषिः। भवन्मतेऽपि मन्त्राः छन्दांसि वा कर्मकाण्डविधेः द्योतकाः। किञ्च प्रसिद्धानां शब्दशक्त्योपस्थितानामग्न्यादीनां देवतात्वमपेक्ष्याऽपि आर्षप्रातिभत्वादृषिणा समुत्प्रेक्षितमेषामपि देवत्वम्। न ह्यनृषेरतपसो वा गम्योऽर्थ एषः। देवस्य द्योतकत्वेऽर्थे हि लक्षणस्य मन्त्रे छन्दसि वापि नाऽव्याप्तिः। अतस्तद्देवतात्वमव्याहतमेव।

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' इत्यत्र 'सम्पत्ति' रित्यस्य शब्दस्यार्थस्तु सम्पन्नता, संयोगः मोक्षो वा। परं तत्राऽस्य करपात्रस्य वचनं यत् 'नेमेऽर्थाः सम्पत्तिशब्दस्य सम्भवन्ति, सम्पत्तिशब्दस्य तादृशेऽर्थे प्रमाणाऽभावात्' इति। तद् वचनमिदमपरिष्कृतमतेः परिणामः, नूनं सम्पत्तिः मोक्षोऽपि, कर्मणां सम्पन्नताया एव मोक्षरूपत्वात्, तथा ह्याह आचार्यशङ्करः 'कर्मणाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारेण मोक्ष'

भी पदार्थ देव कहलाता है। इसी प्रकार मनन के कारण 'मन्त्र' मन्त्र कहलाता है अथवा मन्त्र् धातु गुप्त-परिभाषण अथवा गुप्त-मन्त्रणा करने अर्थ में होती है उससे मन्त्र शब्द बनता है। गायत्री आदि छन्द भी छादन करने से 'छन्द' कहलाते हैं। मन्त्र और छन्द कर्मकाण्ड विधि के द्योतक होते है, इसलिये इनका देवतात्व ऋषि ने प्रतिपादित किया है। मन्त्र, द्योतन के कारण देव या देवता कहलाता है। शब्द शक्ति से उपस्थित प्रसिद्ध अग्नि आदि का देवत्व अपेक्षित करके भी आर्ष प्रतिभा से ऋषि दयानन्द ने मन्त्र और छन्दों का भी देवतात्व बताया है। जो ऋषि नहीं है और तपस्वी नहीं है उसको यह अर्थ नहीं सूझ सकता। द्योतनाद् वा देवः इस लक्षण की मन्त्र और छन्द में अव्याप्ति नहीं है अतः इनका देवतात्व अव्याहत है।

(पृ. ५८६ अनु. १) 'कर्म सम्पत्तिर्'० यहां सम्पत्ति शब्द का अर्थ सम्पन्नता संयोग अथवा मोक्ष है, परन्तु करपात्री जी के कथनानुसार "ये अर्थ सम्भव नहीं, क्योंकि प्रमाण का अभाव है"। उन का यह कथन अपरिष्कृत बुद्धि का परिणाम है। सम्पत्ति का अर्थ मोक्ष भी है, क्योकि कर्मों की सम्पन्नता का नाम ही मोक्षत्व है। जैसा कि आचार्य शकर ने भी कहा है 'कर्मणा० इत्यादि

इति । अथवा कर्मणां सम्पन्नता पूर्णता कर्मसम्पत्तिर्मोक्षो वा भवति येन स मन्त्रः । सम्पन्नतायां कर्मकरणस्यानावश्यकता भवति । यथा चोक्तं 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति । किञ्च परेशप्राप्त्यैव कर्त्तव्य-कर्मपूर्णता, सञ्चित-प्रारब्ध-संक्षयश्च जायते ।

अथापि सम् सम्यक् पत्तिर्गतिः, सम्पत्तिर्भवति गतेश्च त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, तदा सम्पत्तिः संज्ञानं सङ्गमनं संप्राप्तिश्चेति अनर्थान्तरम् । अतोऽखिलं सङ्गतं भूमिकोक्तम् । पुनरपि भवदनल्प-प्रजल्पने न कश्चिद् बाधः, यतोहिः—

वागदलगा समापन्नाऽनर्गला चाऽपि शेमुषी ।
जल्पनीयं यथाकल्पं यद् वा तद् वा विचिन्त्यताम् ।। इति

कर्मसम्पत्तिशब्द-विशेषार्थदर्शने चापि ऋषेरद्भुताऽव्याहता प्रतिभा अनल्प-ज्ञानहेतुश्च प्रस्फुरति । अस्यां वेदमन्त्रविद्यायां सृष्टेः सर्वकर्म-सम्पन्नता वर्तते, मानव जीवनस्य प्रत्येक-क्षेत्रे किं-कर्त्तव्यतो-पलब्धिः वेदमन्त्रैरेव जायते । देवानामपि सर्वकर्माणि ज्ञायन्ते, सूर्य-

---

अर्थात् कर्म से अन्तः करण की शुद्धि द्वारा मोक्ष होता है । अतः 'कर्म सम्पत्ति रित्यादि का अर्थ, कर्मों की सम्पन्नता जिसके द्वारा हो वह मन्त्र होता है, हुआ । सम्पन्नता में कर्म करने की अनावश्यकता हो जाती है जैसा कि कहा भी है-"उस परावर के देख लेने पर, कर्मक्षीण हो जाते हैं" । इसके साथ ही परमात्मा की प्राप्ति होने पर, कर्त्तव्य कर्म की पूर्णता और संचित प्रारब्ध का क्षय हो जाता है ।

सम् अच्छी प्रकार पत्ति अर्थात् गति ही सम्पति होती है और गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं अतः सम्पति शब्द के संज्ञान, सङ्गमन और संप्राप्ति ये तीन अर्थ हैं, फलतः ऋषि का भूमिकागत कथन सर्वथा सङ्गत है ।

निम्नलिखित उक्ति को समझने पर तो आपके उक्त प्रलपन करने में कोई बाध नहीं 'वह उक्ति यह है कि-जब वाणी बेलगाम हो गई और बुद्धि अर्गला (बंधन) रहित हो गई, फिर तो जैसी भी कल्पना करो अथवा जैसा तैसा भी सोचो, कोई प्रतिबन्ध नहीं' । श्रीमान् जी, कर्म सम्पत्ति का एक विशेषार्थ दिखलाने में ही ऋषि की अद्भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं । यह उनके अव्याहत

सर्जनं तत्तेज आदिकारणं, पृथिव्याः सूर्ययावदाप्यपरमाणुगमनं, ध्रुव-परिभ्रमणं, सप्तलोकलीलादिकर्म सर्वं मन्त्रैरेव ज्ञायते।

वस्तुतः यदाधाराः सर्वाः देवतास्तिष्ठन्ति यस्य च प्रतिभागं व्याप्नुवन्ति अर्थेन, कथं न तच्छन्दो मन्त्रो वा देवतामयत्वाद् देवत्व-मुपेयात् ? भगवन्। न केवलं मन्त्राः परमृषीणां मन्त्रदृष्टयोऽपि देवता एव, तेषां तासाञ्चापि मन्त्रदृष्दृत्वात्। नहि लौकिक-वाक्येषु च देवतात्वम् अयज्ञीयत्वादविधानाच्च। तथा हि दुर्गाचार्यः—"अपि वा सा कामदेवता स्यात् अपि वैवमन्यथा स्यात्, सा ऋक् स मन्त्रः योऽनाविष्कृतलिङ्गः स कामदेवतः स्यात् कामतो हीच्छातस्तस्मिन् देवता कल्पयितव्या इत्यभिप्रायः, अतः कथं न मन्त्रच्छन्दसां देवत्वम् ?

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" एवमपि मननं छादनं वा कामः, स च

बहुज्ञान क्षेत्र का मूल है। इस वेद-विद्या में सृष्टि के सब कर्मों की सम्पन्नता है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'क्या करना चाहिये' इसका ज्ञान मन्त्रों के द्वारा ही होता है। देवों के भी सम्पूर्ण कर्मों का भी ज्ञान होता है, सूर्य तक जलीव परमाणु-गमन, ध्रुव-परिभ्रमण और सप्त लोक लीलादि सब कर्म मन्त्रों से ही ज्ञात होते हैं।

वास्तव में जिसके आधार पर सब देवता हैं और जिसके प्रतिभाग को अर्थ से व्याप्त कर रहे हैं तब छन्द और मन्त्र देवतामय होने से देवता क्यों नहीं ? महाराज जी, केवल मन्त्र ही देवता नहीं, अपितु ऋषियों की मन्त्र दृष्टियाँ भी देवता कहलाती हैं। लौकिक-वाक्यों का देवतात्व, अयज्ञीय होने से तथा विधान भी न होने से नहीं होता। जैसा कि दुर्गाचार्य ने भी कहा है- 'अपि वा'० इत्यादि अर्थात् इच्छा से मन्त्र में देवता की कल्पना करनी चाहिये। इस अभिप्रायक-वचन से मन्त्र और छन्दों का देवत्व क्यों नहीं ? जिस कामना वाला ऋषि, जिस देवता में आर्थपत्य की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है, तद्दैवत (उस देवता वाला) वह मन्त्र होता है"। इस प्रकार मनन और छादन यह काम (इच्छा) है, वह मन्त्र में सिद्ध है तब मन्त्र को देवत्व क्यों नहीं ?

तुम्हारे पूज्य उव्वट ने भी (यजुः अ० १४।१९,२०) मन्त्रों में 'अग्नि-देवता' इत्यादि भी छन्द हैं, क्योंकि ये भी आच्छादित करते हैं। यहाँ 'अग्नि'

मन्त्रे सिध्यति तदा कथं न देवत्वं मन्त्रस्य ? भोः, तव पूज्येन उव्वटेनाप्युक्तं 'पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो 'गौश्छन्दः' इत्याद्यो: (यजुः १४।१९,२०) मन्त्रयोः अग्निर्देवता वातोदेवतेत्येता वै छन्दांसि तान्यपि छादयन्ति,'। 'अत्र अग्न्यादिभिश्छन्दसामेकरूपता-दर्शनादपि छन्दसां निर्विवादं देवत्वम्। अतो भवताऽपि महनीया महर्षिदृष्टिरनुसरणीया।

अथापि श्रीसामश्रमी महोदयः ऐतरेयालोचने "तस्माद् वैदिकमन्त्रेषु स्तुता एव पदार्थाः तन्मन्त्रतः स्तुतिकाले एव च देवत्वेन स्तुत्या भवन्ति, नान्येनाऽप्यन्यत्रेत्येव याज्ञिक-सिद्धान्तः। अतएव ते मन्त्रमयी देवतेत्येवस्वीकुर्वन्तीति प्रवादः" (ऐतरेया० पृ. १५१) इत्याह।

(पृ. ५८६ अनु. १) "किञ्च भवद्रीत्या देवतापदैस्तत्तन्मन्त्रबोधनं व्यर्थमेव, भवता यज्ञे वेदमन्त्रोपादानस्य ईश्वरस्तवनमन्त्ररक्षणपरमात्मास्तित्वबोधादि-फलकत्वेनोक्तत्वात्" इति न सम्यगालोचनम्।

यतः तद्देवताक-मन्त्र-पाठेन तत्तदर्थबोधनपुरस्सरमपि ईश्वरस्मरणं मन्त्र-रक्षणं चाऽपि प्रयोजनं मन्त्रोच्चारणस्य, नह्यमन्त्राः यज्ञा

से आदि छन्दों की एक रूपता दिखाई गई है, फलतः छन्दों का भी देवत्व है। अतः महाराज जी आपको भी महर्षि दयानन्द की यह महनीय दृष्टि अपनानी चाहिये।

श्री सामश्रमी जी अपने ऐतरेयालोचन में पृ. १५१ पर मन्त्रमयी देवता का ही समर्थन करते हैं। जैसे कि-'इसलिये वैदिक मन्त्रों में स्तुत पदार्थ उस मन्त्र से स्तुतिकाल में ही देवत्व से स्तुति योग्य होते हैं, और के द्वारा भी (अन्यत्र) नहीं, यही याज्ञिक-सिद्धान्त है' इत्यादि।

(पृ. ५८६ अनु. १) आक्षे०-',तुम्हारे (स्वामी दयानन्द के) मत से उस २ मन्त्र का बोधन भी व्यर्थ है, क्योंकि भा० भूमिका में यज्ञ में वेद मन्त्रों के पाठ्य-प्रयोजन, ईश्वर-स्तुति, मन्त्र-रक्षा, परमात्मा के अस्तित्व का वोधन आदि का बताया है' यह करपात्र-कथन ठीक नहीं, क्योंकि तत्तद् देवता वाले मन्त्रों के पाठ से उस उस अर्थ को बतलाते हुये भी ईश्वर स्मरण और मन्त्र रक्षण का भी प्रयोजन है। मन्त्र रहित यज्ञ नहीं करने चाहिये, यह तात्पर्य है।

किञ्च, यहाँ पर ऋषिदयानन्द ने मन्त्रों और छन्दों का देवत्व बताया है, उसमें हेतु दिया है" कर्मकाण्डविधि का द्योतन'। पारिजात-लेखक इस हेतु

विधेलिमा इति तात्पर्यात्। इह ऋषिदयानन्देन मन्त्राणां छन्दसां वा देवत्वमुक्तं, तत्र हेतुरुपन्यस्तः कर्मकाण्डविधेर्द्योतनात्' इति। अत्र हि लेखकोऽयम् अनैकांतिकतां साधयितुं प्रावर्तिष्ट, परं प्रयासस्तस्य निष्फलः यतो हि 'साध्याभाववद्वृत्तिरनैकान्तिकः' इत्युच्यते, न चाऽयं हेतुर्देवत्वाऽभाववति वर्त्तते, न वाऽपि सर्वसपक्ष-विपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणोऽपि, कर्मकाण्डविधेर्द्योतकत्वात्, तदभावात् न च द्योतकत्वं देवताभ्यो वा व्यावृत्तम्। न चानैकान्तिकभेदोऽनुपसंहारी तल्लक्षणस्याघटितत्वात्।

तदेवं तव प्रस्तावेन अव्यभिचरिते हेतौ बलात्कार एव, यश्च न संन्यासिनो विषयव्यावृत्तेन्द्रियस्य शोभते।

(पृ. ५८६ अनु. २) 'यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थ-प्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते,' इह खण्डनप्रयासो विहितः, पुनश्च लिखितं यत् 'अग्निमीडे'० इत्यादि मन्त्रे भौतिकाग्नेरेव ग्रहणं, ततश्च केचिदत्र चेतनाग्निं मन्यन्ते इति कथयित्वा स्वारुचिः प्रकटिता तदिह खण्डनमाचरता भवता लोकोक्तिरेषा समाश्रिताः —

में अनैकान्तिक दोष सिद्ध करने में प्रयत्नशील है पर यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि अनैकान्तिक हेतु 'साध्य के अभाव वाले विपक्ष आदि में रहने वाला होता है। मन्त्र आदि तो देवतायुक्त हैं, क्योंकि वे कर्मकाण्ड विधि के द्योतक हैं। द्योतकत्व हेतु देवत्वाऽभाव वाले में नहीं रहता। सर्व-सपक्ष और विपक्ष दोनों में न रहे पक्षमात्र में रहे, वह असाधारण भी नहीं है और अनैकान्तिक का भेद अनुपसंहारी भी नहीं।

इस आपके प्रस्ताव से अव्यभिचरित हेतु में आपका व्यभिचार देखना बलात्कार ही है, जोकि विषय-व्यावृतेन्द्रिय आप सदृश संन्यासी को शोभा नहीं देता।

(पृ. ५८६ अनु-२) जिस मन्त्र में अग्नि शब्द और उसके अर्थों का प्रतिपादन है वह मन्त्र अग्निदेवता के रूप में गृहीत होता है' यहाँ पर इसके खण्डन का आपने प्रयास किया है और कहा है कि 'अग्निमीडे' मन्त्र में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण होता है और फिर लिखा है कि कोई यहाँ चेतन अग्नि मानते हैं। आपने कोई कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है, यहाँ आप पर यह उक्ति घटित होती हैं 'किसी ने दूसरे के लिए खाई खोदी पर स्वयं ही कुएँ में डूबकर मर

अन्यार्थे परिखा खाता, स्वयं कूपे ब्रुडन् मृतः ।
जडान्याख्यान-सन्दर्भे, चेतनत्वं प्रदर्शयन् ।।

महोदय ! अत्रायं भावो महर्षेः यद् यत्र यत्राग्निशब्दः ईश्वर-वाचकस्तत्र तत्र चेतनत्वं, परं भौतिकाग्निवाचके सति भौतिकाग्नेः चेतन-ख्यापनं तु बालिशत्वमेव ।

तथा च सनातनधर्मतिलकः सामश्रमि-महोदयः आहः—"नहि अग्निलोकस्थस्य कस्यचिद् मनुष्यादिवद्विग्रहादिमतः परोक्षस्याग्नेः रश्मिभिः पृथिव्यां स्थापनं युज्यते । इयं पृथिवी एवाग्निलोक इति चेत् दृष्टमेवेदं वचोऽस्माकमपि, परं तस्य पार्थिवस्य पौराणिक-रूपादि-मत्त्वे, प्रत्यक्षता कथं सम्भवेन्नाम ? न त्वपरः क्वापि कश्चिदपि अस्ति अग्निश्चतुर्मुखो हंसारूढो देवः ।" अत्र तु सामश्रमिणः अन्तिम-वाक्य-लगुडप्रहारेण कटिरेव भञ्जिता भवादृक्पुराणरूढिप्ररूढमती-नाम् ।

यच्च हिन्द्याम्, अग्निशब्दस्य निरुक्ति-प्रसङ्गे 'नीतात् इकार-ग्रहणमिति,तदपि प्रमादजन्यमेव । किञ्च न भूमिकायामग्नीत्यादि-

गया' आप यह कुव्याख्या रूपी खाई खोद रहे हैं, पर स्वयं रूढ़ि के कुएँ में पड़े हैं ।

आपका यह कथन कि दयानन्द ने जड़ आख्यान-सन्दर्भ में चेतनत्व का प्रदर्शन किया है; ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर ऋषि का भाव यह है कि जहाँ-जहाँ 'अग्नि' शब्द ईश्वर वाचक है वहाँ वहाँ चेतन, और अन्यत्र जड़ अग्नि का ग्रहण है । विपरीत ग्रहण करना तो मूर्खता ही है ।

जैसा कि सनातनधर्म तिलक पं. सामश्रमी जी ने भी कहा है कि "अग्नि-लोक के किसी मनुष्य के समान शरीरधारण करने वाली किसी परोक्ष अग्नि की पृथिवी पर स्थापना युक्तियुक्त नहीं । यह पृथिवी लोक ही अग्निलोक है, यह कथन तो हम भी जानते हैं, पर उस पार्थिव अग्नि में पौराणिक धारणा के अनुरूप अप्रत्यक्षता कैसे संभव है ? और कोई दूसरा अग्निदेव चतुर्मुख हंस पर सवार अन्य नहीं है ।" यहाँ पर अन्तिम वाक्य के लगुड़-प्रहार से तो आप सदृश रूढिमति पौराणिकों की कमर ही तोड़ दी ।

हिन्दीकार का यह कथन कि 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति तीन शब्दों से होती है, के स्थान पर तीन धातुओं से होती है, अधिक उपयुक्त है तथा 'नीत से

शब्दघटितानामेव मन्त्राणां देवतात्वं व्याहृतम् अपितु 'यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्द-प्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निशब्देन गृह्यते' इह अग्नेः शब्देन अर्थेन उभाभ्यां वा प्रतिपादनम् इति विग्रहेणाऽभीष्ट-प्रतिपत्तेः, यास्कदृष्ट्याऽपि तल्लिङ्गेनाऽलिङ्गेन वा देवतोपलब्धि-र्मन्त्राणाम् ।

(पृ० ५८७ अनु. २ तः ५८६ 'तथोक्तवान्' पर्यन्तम्) इह एषां मन्त्राणां त्वया यो महीधरोक्त-विनियोगो मतः सोऽपि निरर्थक एव, इष्टका-चयनशिल्पादि-शिक्षणाऽनुपयोगे जीवनघटितोद्देश्योपयोगाऽभावात्, अतो नाधिकमिह प्रपञ्च्यते । क्वापि च 'वेदभाष्य'-'भाष्य-भूमिकयोर्न विरोधः, मिथः पूर्त्यर्थकत्वात् ।

(पृ. ५६० अनु. १) आक्षे० कर्मभिर्मोक्षोभवतीत्येकः पक्षोऽस्ति, परं कर्मणां क्षणभङ्गुराणां मोक्ष इति वैदिकमतमित्याश्चर्यम् । 'कर्मणां सम्पत्ति र्मोक्षोभवति, येन परमेश्वर-प्राप्तिश्च भवति, सोऽपि मन्त्रार्थ-श्चाङ्गीकार्य इति कस्य शब्दस्य कथमर्थः ?

इकार ग्रहण करना भी, ठीक नहीं है । 'भाष्य-भूमिका' में अग्न्यादि शब्दयुक्त मन्त्रों का ही देवतात्व कथन नहीं किया गया है । 'यस्मिन्मन्त्रे०' वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'अग्नि का शब्द, अर्थ अथवा दोनों से प्रतिपादन' । इससे अभीष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है ।' किञ्च यास्क दृष्टि से भी उसके चिह्न और लिङ्गाभाव में भी मंत्रों में देवता का ग्रहण होता है ।

(पृ. ५८७ अनु २ से 'तथोक्तवान् पृ. ५८६ पर्यन्त) यहाँ आपने मंत्रों का जो महीधरोक्त विनियोग माना है वह निरर्थक है, क्योंकि इष्टकाचयन का शिल्प-शिक्षण रूप उपयोग न मानने पर उसका जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं हो सकता, यहाँ इसका अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है । वेदभाष्य तथा 'भाष्य-भूमिका' में, परस्परपूर्तिपरकत्व होने से कोई विरोध नहीं है ।

(पृ. ५६० अनु. १) आक्षेप—कर्मों से मोक्ष होता है, यह एक पक्ष है, परन्तु क्षणभङ्गुर कर्मों का मोक्ष यह वैदिक मत है, यह आश्चर्य है । कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्ष इत्यादि अर्थ किस शब्द का और कैसे हो गया ?

(समा॰) भोः ! नेह क्वाऽपि 'भूमिकायां' क्षणभङ्गुराणां कर्मणां मोक्षो वैदिकमतमित्यभिहितम् ।

ऋषिणा बुद्ध्याऽभ्यूहितोऽर्थो व्यञ्जितः कर्म-सम्पत्तिरिति पदस्य । देवता-शब्देन मन्त्रोऽपिगृह्यते तथाहि :--'अतएव ते मन्त्रमयी देवतेत्येव स्वीकुर्वन्ति इति च प्रवदन्ति याज्ञिकाः' इत्याह श्री साम-श्रमी महाभागः (निरुक्ता॰ पृ॰ २४१) ।

किञ्च महाभाग, मक्षिकास्थाने मक्षिका-निपातनशीलस्य ते नाऽयं दयानन्दाऽभ्यूहितोऽर्थः सुष्ठु प्रतिभाति, पूर्वाग्रहग्रस्त-मतित्वात् । निभाल्यतां तावदधुना सम्पूर्णमपि स्थलं यत् 'पुरुषविद्या-ऽनित्यत्वात् कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे' इत्यस्मात् पूर्वं सन्निहितो निरुक्त-पाठोऽयं "तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानमिति अर्थात् यथा भाषायां वाक्ये-ष्वर्थ-प्रकाशन-क्षमता विद्यते तद्वदेव मन्त्रेष्वपि । तथा च मीमांसकाः 'य एव वैदिकाः शब्दास्त एव लौकिकास्त एव च तेषामर्थाः' इति । अतोऽयं प्रश्नः उद्भवति यत् कथं न लौकिका मनुष्य-रचिता एव मन्त्राः यज्ञे समादरणीयाः ? तैश्च कथं न तद्देवताऽभिधानमपि स्यात् ? इत्यस्य पूर्वपक्षस्य समाधानं विधत्ते यास्काचार्यः :—

(समा॰) महाराज ! भूमिका में कहीं भी 'क्षणभङ्गुर कर्मों के मोक्ष के वैदिकमत की बात' नहीं कही ।

यहाँ सम्पत्ति शब्द का अर्थ सम्पूर्णता, मोक्ष (त्याग) और (परमेश्वर) प्राप्ति (सम्यक्प्राप्ति) आप्टेकोष समर्थित है । इसलिए किस शब्द का कैसे अर्थ हो गया, यह शंका निर्मूल है ।

महाराज जी, आपके मूलपाठावलोकन से ज्ञात होता है कि आपका मक्खी पर मक्खी मारने का स्वभाव है, अतएव स्वामी दयानन्द जी का अभ्यूहित अर्थ आपको अच्छा नहीं लग रहा है, आपकी मति पूर्वाग्रह से ग्रस्त है । देखिये, 'पुरुषविद्या'॰ इससे पूर्व पाठ है 'मनुष्यवद्देवताभिधानम्' । इसका अर्थ है जैसे लोकभाषा में वाक्यों में अर्थप्रकाशन की क्षमता है उसी प्रकार मन्त्रों में भी है ऐसा ही मीमांसक भी मानते हैं "जो वैदिक शब्द हैं वे ही लौकिक शब्द है और वैसे ही उनके अर्थ हैं, अतएव प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्यों न लौकिक (मनुष्य रचित) मन्त्रों से ही यज्ञ कर लिया जाये और उनसे देवताभिघान भी हो जावे ? इस शंका का समाधान 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्' कथन से महर्षि

"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे ।" अर्थात् यज्ञ कर्मफल-सम्पन्नता वेद-मन्त्राधीना, पुरुषाणां विद्यायाः (वाक्यानाम्) अनित्यत्वात् । न यज्ञे मनुष्यवाक्यैः सम्पन्नता विधातुं शक्या, अतो अपौरुषेय वेद-मन्त्राणामेव तत्र आवश्यकता, न पौरुषेयाणामित्यभिप्रायो यास्कस्य ।

अथ च वेद-मन्त्रैरेव वेद-मन्त्राणां देवताऽभिधानं भविष्यतीत्यध्याहृतोऽर्थः । मन्त्राश्च देवता-स्तुति-परकाः, तेषाम् अविनाभावेन देवतोपस्थितिः, अतो मन्त्रमयी एव देवतेति याज्ञिक-सिद्धान्तः ।

यच्चाह भवान् :—"पुरुष-विद्यायाः अनित्यत्वे हेतुरुक्तो विरचित-वाक्यानुक्रम-विस्मरणरूपः" स तु अकिञ्चित्करः, हेत्वाभासश्च वाक्यानुक्रम-रटने पूर्ववदनुस्मरणेन प्रयोक्तुं शक्यत्वात्" इति ।

(समा०) अत्र हि न पुरुषवाक्यानुस्मरण-प्रयोजनकं नित्यत्वं, परं पुरुषस्य अल्पज्ञत्वात् तत् प्रतिपादितविद्याया अपि दोष-बाहुल्य-युक्तत्वादेव अनित्यत्वकथनमुचिततरम् ।

यास्क करते हैं । यज्ञ में कर्मफल सम्पन्नता अपौरुषेय वेदमंत्रों के अधीन है । क्योंकि मनुष्यों की विद्या (तद्गत वाक्य रचना) अनित्य है । यज्ञ में मनुष्य वाक्यों से कर्म सम्पन्नता नहीं की जा सकती । अतः वेदमंत्रों की ही वहाँ आवश्यकता है, न कि पौरुषेय वाक्यों की । यही महर्षि यास्क का आशय है. और वेदमंत्रों से वेदमंत्रों के देवताओं का अभिधान हो जायेगा, इस अर्थ का अध्याहार हो जायेगा । मंत्र देवताओं के स्तुतिपरक हैं । देवताओं की उपस्थिति मंत्रों द्वारा होगी, अतः मंत्रमयी देवता है, यह याज्ञिकों का सिद्धान्त है ।

और जो आपने कहा कि 'पुरुषविद्या की अनित्यता में विरचित वाक्यानुक्रम के विस्मरण होने से' यह हेतु दिया है, यह तुच्छ है तथा हेत्वाभास है, क्योंकि वाक्यों को अनुक्रम में रटने पर पूर्ववत् अनुस्मरण करने पर प्रयोग किया जा सकता है ।"

(समा०) यहाँ पर पुरुषवाक्य के अनुस्मरण प्रयोजन वाला, नित्यत्व नहीं है, प्रत्युत पुरुष की अल्पज्ञता के कारण उसकी प्रतिपादित विद्या के भी दोष बाहुल्य युक्त होने से अनित्यता कहना अधिक अच्छा है ।

(पृ० ५६१ अनु. २) आक्षे०—'अथातो दैवतं तद्यानि नामानि' इत्यादि नैरुक्त-वाक्य-विवृतयेऽथेत्यनन्तरं 'दैवतं किमुच्यते इतिशेषः।' इति दयानन्द-योजितं, तन्न युक्तम्। उक्तवाक्ये शङ्काऽनवकाशात्।

(समा०) दुर्गाचार्यटीकानुकृति-निपुणेन लेखकेन। (पृ० ५६१ तः पृ० ५६२ पर्यन्तं) 'सैषा देवतोपपरीक्षा' इत्यन्तम् अक्षरशोऽवतारितम्। ऋषिदयानन्देन तु 'दैवतं किमुच्यते' इतिपूर्वप्रश्नमुद्भाव्य 'यद्यानि०' इत्यादि नैरुक्तं समाधानं प्रस्तुतम्। यथा च दुर्गाचार्येण अपि स्वटीकायां 'दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्यामः, इति वाक्यशेषः' इति वर्धितम्। तथैवेदम् ऋषिरपि पूर्वापर-स्थलसङ्गतिस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमवर्धयत्। परमत्र सङ्कुचितधीरयं किमपि नोत्प्रेक्षितुमुत्सहते इति तु खेदास्पदम्। अन्यत्र तु कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' इत्यत्र यास्काचार्योक्तिमपूर्णां मन्यमानः 'फलसम्पन्नमेव कर्म भविष्यति इत्येवमर्थं वेदेन मन्त्रः समाम्नात इति वाक्यशेष' इति वाक्यं स्वयं योजितवान् (पृ.५६० पं. १२)। अहो यते! धन्या ते मतिः, या यास्कस्यापि

(पृ. ५६१ अनु. २) आक्षे०—'अथातोदैवतं०' इत्यादि के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने निरुक्तीय वाक्य की स्पष्टता के लिए 'दैवतं किमुच्यते' अर्थात् दैवत किसे कहते हैं बढ़ा दिया है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त वाक्य में शङ्का के लिये कोई अवकाश ही नहीं है।

(समा०) दुर्गाचार्य की टीका का अनुकरण करने में निपुण लेखक ने (पृ. ५६१ से पृ. ५६२ के) 'सैषा देवतोपपरीक्षा' यहाँ तक अक्षरशः उतार दिया है। ऋषि ने स्वयं 'दैवतंकिमुच्यते' प्रश्न उद्भावित करके 'तद्यानि०' इत्यादि निरुक्तीय समाधान प्रस्तुत किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपनी टीका में 'दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्याम.' इति वाक्यशेष.' इतना बढ़ा दिया है। इसीप्रकार ऋषि ने भी पूर्वापरस्थल की संगति की स्पष्टता के लिये वह वाक्य बढ़ा दिया है, परन्तु ये संकुचितधी महोदय यहाँ कुछ भी उत्प्रेक्षा करने में असमर्थ हैं।, यह खेदास्पद है, परन्तु अन्यत्र कर्म-सम्पत्ति प्रसङ्ग में यास्काचार्य की उक्ति को अपूर्ण मानते हुये 'फल सम्पन्न ही कर्म होगा इस प्रकार के अर्थ के लिए वेद ने मन्त्र को समाम्नात किया है यह वाक्य शेष है। इस प्रकार स्वयं वाक्य को योजित किया है (पृ. ५६० पं. १२ पर) अजी यती जी महाराज! धन्य है आपकी मति जो आचार्य यास्क की न्यूनता निकालने पर भी प्रशंसनीय है!

न्यूनतां द्योतयन्ती प्रशस्या ! किञ्च स्पष्ट-प्रतिपत्तये दयानन्दोद्भावितः सङ्गतः प्रश्नोऽपि अनुपयुक्तो मन्यते त्वयेति महदाश्चर्यम् । भोः पराक्षेप-निपुण ! दैवत-प्रकरणं तु दैवतंकिमुच्यते' इति प्रश्नस्यैव व्याख्यानं समाधानमिति न विदितं किं तव ?।

(पृ० ५६२ तः ५६३ पर्यन्तं) आक्षे०—'देवता-विषयक-परीक्षणे स्वामिना ऋषिरित्यस्यार्थः 'ईश्वर' इति कृतः, स न घटते । 'यत्काम-ऋषिर्यस्यामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' इति लक्षणेन ईश्वरस्य पूर्णकामत्वात् कामानुपत्तेः' । (२) 'न वा मन्त्रा देवताः,' इत्याक्षेपाभिप्रायकं ग्रन्थ-मूलम् ।

(समा०) गत्यर्थकादृषिधातोः उणादि (४।१२०) सूत्रेण ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषिरीश्वर इति सिध्यति । एवमपि मन्त्रकृदित्यत्र करोति करणार्थे तेन मन्त्रकर्त्ता ईश्वर एव । यस्मिन् प्रकरणे कृधातोः दर्शनमर्थः, तत्र मन्त्रकृत्मन्त्रदृष्टा इत्यर्थः । तथा च सायणाचार्योपि अमुमेवार्थमाह :—

और यह बड़ा ही आश्चर्य है कि ऋषि के उद्भावित संगत प्रश्न को भी आप असंगत कहते हैं । भोः पराक्षेपनिपुण ! 'दैवत प्रकरणं व्याख्यास्यामः' यह सारा प्रकरण 'दैवतं किमुच्यते' का ही तो व्याख्यान है, क्या यह आपको पता नहीं ?

(पृ. ५६२, ६३) आक्षे०—देवता-विषयक परीक्षण में स्वामी जी ने ऋषि का अर्थ 'ईश्वर' किया है, वह घटित नहीं । 'यत्काम ऋषि०' इति लक्षण से ईश्वर के पूर्णकाम होने से, उसमें काम की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । सं. २ मन्त्र भी देवता नहीं, इन आक्षेपों का आशय मूल ग्रन्थ में है ।

(समा०) गत्यर्थक् ऋष् धातु से उणादि (४।१२०) सूत्र से, जाता है, प्राप्त करता है या जानता है वह ऋषि ईश्वर कहलाता है, मन्त्रकृत् यहाँ पर कृ करने के अर्थ में होने से मन्त्रकर्त्ता ऋषि ईश्वर ही है । जिस प्रकरण में कृ का अर्थ दर्शन है वहाँ मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्रद्रष्टा होता है । इसी प्रकार सायणाचार्य ने भी कहा है कि ऋषि अतीन्द्रियार्थ मन्त्रकर्त्ता है (ऐत० ६।१।२) दूसरी धातु ऋषि दर्शनार्थक है उससे सर्वद्रष्टाऋषि ईश्वर (परमात्मा) कहलाता है । वैशेषिक दर्शन में भी—"हम लोगों के ज्ञान से उत्कृष्ट-सीमा-भूतज्ञान, ईश्वर के सद्भाव में लिङ्ग है" (वैशे. १०।२।६) यहाँ पर भी ऋषि का अर्थ ईश्वर है, यह जो कहा कि—ईश्वर की कामना नहीं होती' यह भी ठीक नहीं,

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत् (ऐत॰ ब्रा॰ ६।१।२) ऋषिदर्शनात् ईश्वरस्तु सर्वद्रष्टा" इति। किञ्च वैशेषिकदर्शनेऽपि "अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः (१०।२।६) इत्यत्रापि ऋषेरर्थ ईश्वरः।

यच्चोक्तं 'न ईश्वरस्य कामनेति, तदपि न युक्तम्। तस्येश्वरस्य अनुग्रहरूपकामनावत्त्वात्। यथा आह (यो॰ १।२५) महर्षिः व्यासः "तस्यात्माऽनुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। ऋषिरीश्वरः मन्त्रान् विशिष्टकामैरयोजयत् तत्तदार्थपत्यमिच्छन्। ईश्वरस्य कामो हि नित्यः"।

(२) "देवता-विषये वेदमन्त्रैस्तदनु यास्कादिभि र्बहुप्रतिपादितम्। तथा हि भगवता यास्केन "यत्काम ऋषिः॰" इत्यादिवचोभिः आब्रह्म-स्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषामेव पदार्थानामिह देवत्वं चोररीकृतमिति" प्राहुः सामश्रमि-महाभागाः निरुक्तालोचने (पृ॰ २३६)। तेन मन्त्रो मन्त्रार्थो मन्त्रदातेश्वरो मन्त्रप्रयोक्तारः यजमानाः, ऋत्विजः मन्त्रार्थ-द्योतित-पदार्थाः अपि देवाः।

तदेवं वेदानां सम्प्रदायाविच्छिन्नतया प्राप्ति र्नेश्वरादिति मतस्य निरासाय ऋषि-दयानन्देन ऋषिशब्दवाच्यो मन्त्रकर्तृत्वेनेश्वर एवात्र

क्योंकि उसकी भी अनुग्रह-रूप कामना होती है जैसा कि महर्षि व्यास कहते हैं "उसके आत्मानुग्रह के अभाव में भूतानुग्रह प्रयोजन है, ज्ञान धर्म उपदेश से कल्पप्रलय महाप्रलयों में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा"। ईश्वर ने ही मंत्रों को विशिष्ट कामनाओं से उस आर्थपत्य की इच्छा करते हुए जोड़ा, पर सर्वत्र ही ईश्वर की कामना नित्य ही होती है।

(२) "देवता विषय में वेदमंत्रों के द्वारा यास्क आदि आचार्यों ने बहुत कुछ बताया है, भगवान् यास्क ने 'यत्काम ऋषि' इत्यादि वचनों से पृथिवी से ब्रह्मपर्यन्त सब पदार्थों का देवत्व स्वीकृत किया है" ऐसा सामश्रमी जी निरुक्ता-लोचन (पृ. २३६) में कहते हैं। अतः मन्त्र, मन्त्रार्थ, मन्त्रदाता ईश्वर, मन्त्र प्रयोक्ता यजमान, ऋत्विज तथा मन्त्रार्थ में द्योतित पदार्थ भी देव हैं।

वेदों की प्राप्ति सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रहने से हुई ईश्वर से कभी नहीं हुई, ऐसा कहने वाले नास्तिकों के मत के निरसन (खण्डन) के लिए ऋषि

गृहीत इति वैशिष्ट्यमेव तस्य। अतएव 'देवतामयो मन्त्रो मन्त्रमयी च देवता' इत्येव याज्ञिकाः स्वीकुर्वन्ति।

ज्ञानादि-दानाद् देवता, ईश्वरो मन्त्रो वा, द्योतयते उपदिशति प्रकाशयते वा सर्वान् पदार्थान् इति वा देवः। तदेवं सर्व-सत्य-विद्या-प्रकाशकाणां मन्त्राणां देवत्वं न कथमपि विहन्यते, किञ्च विद्वांसो हि देवाः (शत० ३।७।३।१०) शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य-देवाः, (श० ४।३।४४।४) छदांसि वै देवाः वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्। एता वै देवताश्च छन्दांसि (शत० ८।२।३) इति छन्दोमयत्वादपि मन्त्राणां देवत्वं सिध्यति।

यदुक्तं 'तत्र मन्त्रस्यैव देवतात्वे मन्त्रे कथं नाम देवता-ज्ञानं विधीयेत' इति। तन्न युक्तं, एकस्याः देवतायाः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति इति सिद्धान्तेन मन्त्रस्य देवतात्वेऽपि प्रधानदेवताया एव अग्न्यादिरूपायाः प्रतिपाद्यत्वात् न तत्र मन्त्रस्यैव देवत्वमभीष्टम्।

श्रीमन्, यत्काम ऋषिः'० इत्यस्याभिप्राय-सूक्ष्मताऽनवगमनादेव माक्षिप्तं भवता, अस्मदुक्तप्रतिपादनेन तु ऋषिच्छन्दोदेवताज्ञानस्य आवश्यकता तु अव्याहतैव।

दयानन्द ने 'ऋषि' शब्द का वाच्यार्थ मन्त्रकर्त्ता ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है।

ज्ञानादि दान करने से ईश्वर अथवा मन्त्र देवता हैं अथवा द्योतन उपदेशन तथा प्रकाशन से भी इनका देवत्व होता है। इस प्रकार सत्य विद्याओं के प्रकाशक मन्त्रों का देवत्व किसी प्रकार भी निरस्त नहीं होता। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के उक्त प्रमाणों से छन्द और छन्दोमय होने से भी मन्त्रों का देवत्व सिद्ध है।

यह कथन कि—"मन्त्र को देवता मानने पर देवता ऋषि और छन्द का ज्ञान-विधान कैसे होगा", ठीक नहीं। एक देवता के अन्य देवता प्रत्यङ्ग होते हैं, इस सिद्धान्त से मन्त्र के देवत्व रूप में भी अग्न्यादि रूप प्रधान देवता की ही प्रतिपाद्यता होती है केवल मन्त्र का ही देवत्व अभीष्ट नहीं होता। श्रीमान् जी, 'यत्काम ऋषि०' इसका अभिप्राय न समझने के कारण आपने यह आक्षेप किया है। हमारे उक्त प्रतिपादन के द्वारा ऋषि, छन्द और देवता ज्ञान की आवश्यकता अव्याहत (अटूट) ही बनी रही।

किञ्च स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति' इत्यस्यार्थं विशदीकुर्वन् ऋषिराह, "किञ्च यदेव अर्थप्रतीति-करणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्द-वाच्योऽस्तीति विज्ञायते," इति, यस्य मन्त्रस्य या काऽपि देवता प्रकाश्या तद्दैवतानाम्नाऽपि मन्त्रः तत्सम्वन्धी ग्रहीष्यते इति तात्पर्यम्। तदेवं नाऽस्ति शङ्कालेशोऽपि शेषोऽत्र। यच्च (पृ० ५९२ अनु. २) इत्यत्र 'स मन्त्रो तद्दैवतो वाच्यो भवतीति' पाठ परिवर्त्तनं कृत्वा प्रस्तुतं, तत्तु छलमेव भवतः, किञ्च मन्त्रो तद्दैवतः इत्यस्यस्थाने भवता मन्त्रस्तद्दैवतः इत्येव वचनीयमासीत्। ओकार-सन्धेः व्याकरण-विरुद्धत्वात्।

(पृ० ५९२ पं० १३) इत्यत्र 'छन्दसां देवतात्वाभिधातात्' इति तु भ्रष्ट एव पाठः।

(पृ ५९४ अनु. १ क) इत्यत्र यदुक्तं "अतएव तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु" इत्याद्युद्धरणेन मन्त्रभिन्नाः देवता दयानन्देन स्वीकृताः, तदस्माकं समर्थनं कृतम्"। तन्न युक्तम्। श्रीमन्! का नामाऽत्र तव मौलिकोक्तिर्यस्याः समर्थनं कृतं? महर्षियास्कस्यैव वचनमुद्धृत-मृषिणा, तस्यैव च समर्थनं कृतम्। नहि क्वापि ऋषिणोक्तं-यन्न मन्त्रातिरिक्ताः देवताः। क्वाऽपि यदि अग्निर्देवता प्रतिपाद्यते, तदा नैतस्या ऽयमभिप्रायो यन्नापरा देवतेति।

'स एव मन्त्र०' इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुये ऋषि दयानन्द ने इसे ध्वनितार्थ माना है कि जो अर्थ का प्रतीतिकरण देवतासम्बन्धी प्रकाशन जिसके द्वारा होता है वह मन्त्र भी देवता शब्द का वाच्य है अर्थात् जिस मन्त्र का जो कोई देवता है उस देवता के नाम से भी तत्सम्बन्धी मन्त्र का ग्रहण होगा। इस प्रकार अब शङ्का का लेशमात्र भी शेष नहीं रहा। (पृ. ५९२ अनु. २) पर 'स मन्त्रो तद्दैवतो वाच्यो भवतीति' पाठ का परिवर्तन करना आपका छल ही है। आपका 'मन्त्रो तद्दैवतः' यह ओकार सन्धि वाला पाठ अशुद्ध है। यहाँ ओकार सन्धि व्याकरण विरुद्ध है।

(पं० ५९२ पु. १३) यहा देवतात्वाभि घातात्' यह भ्रष्ट पाठ अनर्थक है।

(पृ. ५९४ अनु. १ क) यह उद्धरण देत हुये आप प्रसन्न हो रहे हैं कि 'अत एव येऽ नादिष्ट०' इत्यादि मन्त्र भिन्न देवता होते हैं। कहकर स्वामी दयानन्द ने हमारी बात मान ली। भला बताइये तो सही आपकी यहाँ पर

(पृ. ५९४ अनु. १ख) आक्षे.--"यद्देवतः स यज्ञो यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति (नि. ७।४) इति वाक्यस्यापि इदमेव तात्पर्यं वर्णयति दयानन्दः यत् 'यत्र विशेषो न दृश्यते तत्र एवं यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वा इत्येतद् देवताख्यमिति विज्ञायते" इति। वस्तुतः सोऽप्यशुद्ध एवार्थः यद्देवतः इतिपदस्य अर्थाविबोधात्।"

(समा०) पूर्वं तु सुधियो ध्यायन्त्विह यद् 'सो प्यशुद्धऽर्थ इति कथने पदस्यार्थाविबोधादिति हेतुः प्रस्तुतः, स च विपरीतहेतुत्वात् शुद्धार्थमेव घटयति अर्थाद् अर्थाऽनवबोधे, तु अशुद्धो भवितुमर्हत्, परं नार्थाऽव बोधेऽशुद्धोऽर्थः स्यात्। यज्ञ-प्रकरणे अनादिष्टदेवताकमन्त्रे 'यत्कामऋषिः' इतिनिरुक्तवचनेन 'यत्काम' इति यज्ञकाम एव कुतो न स्यात्? तदा यज्ञ एव देवता स्यात्, यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते, तथाहि 'विष्णुर्वैयज्ञ' इति।

(पृ. ५९५ अनु. १) आक्षे०—यत्तु 'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुंज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताकाः इत्यादि, तदपि तुच्छं वाक्यार्था-नवबोधात्।

मौलिक-सूझ क्या है? जिसे ऋषि दयानन्द ने मान लिया। ऋषि ने तो यास्का-चार्य का ही वचन उद्धृत किया है। उसका ही ऋषि ने समर्थन किया है। ऋषि ने यहाँ ऐसा तो कहीं नहीं कहा कि मन्त्र से अतिरिक्त देवता होते ही नहीं।

(पृ. ५९४ अनु. १ ख) आक्षे०—'यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग जिस देवता के लिये है वही उसका देवता है' इस वाक्य का भी स्वामी दयानन्द यही अभिप्राय बतलाते हैं कि "जहाँ पर अन्य कोई विशेषता नहीं देखी जाती वहीं पर यज्ञ या यज्ञाङ्ग को देवता माना जाता है'। यहाँ पर न चाहते हुये भी दयानन्द ने मन्त्र से भिन्न यज्ञ और यज्ञाङ्ग को देवता मान लिया है। वास्तव में यह अर्थ भी अशुद्ध है। 'यद् देवत' इस पद का अर्थ उन्होंने ठीक नहीं समझा है।

(समा०) प्रथम तो विवेचक ध्यान दें कि यह अर्थ भी अशुद्ध है इसमें आपने हेतु दिया है 'पदस्यार्थाविबोधात्' अर्थात् पद का अर्थ समझने के कारण, इस विपरीत हेतु से तो शुद्धार्थ ही घटित होता है फिर यज्ञ प्रकरण में अनादिष्ट देवता वाले मन्त्र में 'जिस कामना वाला ऋषि' यहाँ यज्ञ कामना वाला क्यों

(समा०) कीदृशोऽनवबोध इति तु नालेखीदयं लेखकः। वस्तुतस्तु निज-प्रकृतिप्रेरितोऽयं क्वापि तुच्छं, क्वाप्यविचारितम् इत्यादि-शब्दान-विचार्यैव प्रयुङ्क्ते। पदवाक्यप्रमाणज्ञश्रीजिज्ञासुमहाभागाः तादृशा वान्ये शास्त्रनिष्णातशेमुषीकाः विपश्चितो महर्षिदयानन्दस्यागाधपाण्डित्ये अप्रतिमशास्त्रदृक्प्रतिभया, योगबलाधिगत-परमेशभक्तिवृत्या पाखण्डखण्डनेन सकलजगत्कल्याणविधान-कामनया चानया अतितरां प्रभाविता अभूवन्, अतो भूरिभूरिप्रशंसा-परा अपि न ते तृप्ति लेभिरे' परं भवादृशेषु असूयावृत्याहतसद्वृत्तिषु श्लोकोक्तिरियं घटतेः—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां, मुक्तां परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम्॥

(पृ. ५९५ अनु. २) पू. प.—'ऋषिणा देवमातृपितृविद्वद्दैवत्यं

नहीं हो सकता ? तब यज्ञ ही देवता होगा। यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु होता है जैसा कि कहा गया है कि 'यज्ञो वै विष्णुः' इति। दुर्गाचार्य ने भी लिखा है सा (देवता) प्रयोक्तुरिच्छासामर्थ्यात् कल्प्या अर्थात् प्रयोक्ता की इच्छा से वह देवता कल्पनीय है।

(पृ. ५९५ अनु॰ १) आक्षे॰ — "जो यज्ञ से अन्यत्र प्रयुक्त होते हैं वे प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर देवता वाले हैं' इत्यादि कथन भी तुच्छ है, क्योंकि उन्होंने वाक्यार्थ नहीं समझा।

(समा०) किस प्रकार का यह अनवबोध है, यह आपने नहीं लिखा। वास्तव में अपने स्वभाव से प्रेरित करपात्री जी, कहीं पर तुच्छ, कहीं पर अविचारित इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। पर वाक्य पद प्रमाणज्ञ श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और उस प्रकार के अन्य शास्त्रनिष्णात बुद्धि वाले पण्डित, महर्षि दयानन्द के अगाध पाण्डित्य से, अनुपम शास्त्रदृक् प्रतिभा से, योगबल से प्राप्त परमेश्वर की भक्ति वृत्ति से और पाखण्ड खण्डन द्वारा सकल संसार की कल्याण कामना से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः महर्षि की भूरि २ प्रशंसा करके भी अतृप्त रहे। इस बात को न समझने वाले, असूयावृत्ति से विनष्ट सद्वृत्ति वाले आप सरीखों पर यह श्लोकोक्ति घटित होती है 'जो जिसके गुणप्रकर्ष को नहीं समझ पाता है वह उसकी निरन्तर निन्दा ही करता है, जैसे भील हाथी के गण्डस्थल से प्राप्त मोतियों को फेंक कर गुञ्जाओं को धारण करता है।

(पृ. ५९५ अनु. २) पू. प.— ऋषि दयानन्द ने कहा है कि 'देव,

कर्म उपकर्त्तृत्वेन देवत्वे अमन्यत' अत्र स्थले करपात्रस्य आक्षेपो यत्—उपकर्त्तृत्वमेव देवतात्वे प्रयोजकमिह, अन्यत्राऽग्रे तु देवतात्वे-द्योतकत्वम्, उपकर्त्तृत्व-द्योतकत्वयोरेकत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं, न तत् सम्भवति अननुगमात् ।

(उ० प०) न्याये अनुगमो हि नाम "येन रूपेण यावत्पदार्थग्रहस्तदेव रूपं यावत्पदार्थानुगमकं तस्य क्रिया" अस्मिन् प्रकरणे भूमिकायां देवत्वे उपकर्त्तृत्वमेव हेतुमाह । उपकारेण देवतानां सम्बन्धो लोक-दृष्ट्या द्योतकत्वस्यापि उपकारान्तर्गतत्वात् नोत्थापितो दोषः सम्भवति । दानदीपनद्योतनादिना उपकारार्थ एवोपलभ्यते, नान्यः । एवमुपकर्त्तृत्वेन यावान् पदार्थग्रहो द्योतकत्वादपि तत्पदार्थाविरोध-बोधनम् । उभयोरपि अभिन्नत्वात् नाऽस्ति व्यभिचार-शङ्का । यथा विद्वांसो सूर्यादयो देवाः वा पदार्थान् द्योतयन्ति अर्थात् पदार्थ-द्योतनेनो-पकुर्वन्ति, एवं सर्व-साधारण-गम्येऽपि विषयेऽयं लेखकः हेत्वाभासं प्रस्तुवन् दुर्बोधत्वं वागुरिकाभ्रमित्वं वोत्पादयति ।

माता, पिता, विद्वान् दैवत्य कर्म उपकार करने के कारण देवतात्व में माने जाते हैं' यहाँ पर करपात्री जी का आरोप है कि देवतात्व में उपकर्त्तृत्व प्रयोजन है और यह अन्यत्र देवतात्व में द्योतक है, यह हो नहीं सकता क्योंकि अनुगम का अभाव है ।

(उ० प०) न्याय में 'जिस रूप से जितना पदार्थ ग्रहण हो, वही रूप उतने पदार्थ का अनुगमक होता हैं' को अनुगम कहते हैं । इस प्रकरण में भूमिका में देवतात्व में उपकर्त्तृत्व हेतु कहा गया है । उपकार से देवताओं का सम्बन्ध लोक-दृष्टि से है और द्योतकता उपकारान्तर्गत ही है । अतः पूर्व-दोष की उद्भावना व्यर्थ है । दान दीपन, और द्योतन आदि से उपकारार्थ ही उपलब्ध होता है अन्य नहीं । इस प्रकार उपकर्त्तृत्व से जितना पदार्थ ग्रहण होगा, द्योतकत्व से भी उस पदार्थ का विरोध रहित बोधन होता है, अतः दोनों के अभिन्न होने से व्यभिचार शङ्का भी नहीं है, जैसे विद्वान् तथा सूर्यादि देव पदार्थों का द्योतन करते हैं अर्थात् पदार्थ द्योतन से उपकार करते है । इस प्रकार सर्वसाधारणगम्य विषय को भी दुर्बोध्य शब्दों और वाग्जाल से यह लेखक हेत्वाभासों को प्रस्तुत करते हुये भ्रम उत्पन्न करता है ।

(पृ० ५६५ अनु० ३) यदाक्षिप्तं 'पूर्वं मन्त्राएव देवतेत्युक्तम्, इदानीं तु मन्त्राणां यज्ञदेवत्वमिति तन्मूलविरुद्धं विसङ्गतञ्चेति,'

(समा०) तदेतन्न बुद्धिविसङ्गतं, यतो हि यस्मिन् प्रकरणे यः प्रसङ्गस्तदनुकूलमेव तत्र सङ्गतिर्भवति। अत्र यज्ञप्रसङ्गोऽतोऽत्र यज्ञस्य देवतात्वं न विसङ्गतम्। यथा च निरुक्ते क्वचित् 'तिस्र एव देवता' इति प्रोक्तमन्यत्र तु 'त्रयस्त्रिशंद्देवा' इति कथितं, तदेवं विभिन्नसंख्याप्रतिपादनं न विसङ्गतं, प्रत्युत यथाप्रकरणं तत्सङ्गतम्, तथैवाऽत्रापि बोध्यम्। परं पुनरपि भवान् किमपि वक्तुमभिलषति तर्हि को नाम भवज्जिह्वां विष्टम्भयेत्। महाबुद्धिमन्! एवंविधाः विकल्पाः स्वबुद्ध्या सङ्मनीया भवन्ति। न तु विसङ्गताः।

(पृ०५६६ अनु. १) यदुक्तं "यज्ञकाले यथा अन्येन्द्रियाणि किमपि कुर्वन्ति तथा वागपि मन्त्रोच्चारणं करोति। नेन्द्रियाणि यज्ञ-साधकानि यथा, मन्त्रा अपि न तथा यज्ञ-साधका इति।"

(पृ. ५६५ अनु० ३) आपने आक्षेप किया है कि—'ऋषि दयानन्द ने पहले तो मन्त्रों को देवता कहा है,पर अब यज्ञ को मन्त्रों का देवता कह रहे हैं। यह मूल विरुद्ध और विसङ्गत है।'

(समा.) करपात्री जी का यह आक्षेप बुद्धि-संगत नहीं, क्योंकि जिस प्रकरण में जो प्रसङ्ग होता है उसी के अनुकूल वहाँ सङ्गति होती है, विरोध नहीं माना जाता। यहाँ यज्ञ का प्रसङ्ग है, अतः यज्ञ को मन्त्रों का देवता कहा है अन्यत्र मंत्रों को भी देवता कहा है। यह विसङ्गति नहीं। जैसे निरुक्त में एक स्थान पर 'तीन देवता कहे हैं' अन्यत्र तेतीस देवता कहे हैं तो यह विभिन्न संख्या प्रतिपादन विसङ्गत नहीं है, प्रत्युत यथा प्रकरण सङ्गत है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये, परन्तु फिर भी यदि आपकी जिह्वा कुछ कहना चाहती है तो उसको कौन रोक सकता है। महाराज जी, इस प्रकार के विकल्प अपनी बुद्धि से संगमनीय होते हैं न कि विसङ्गत।

(पृ. ५६६ अनु. १) पू. प. "यज्ञ करते समय जैसे इसकी इन्द्रियाँ कुछ करती हैं वैसे ही वाणी भी मन्त्र का उच्चारण करती है जैसे इन्द्रियाँ यज्ञ की साधक नहीं हैं, उसी प्रकार मन्त्र भी यज्ञ के साधक नहीं है"

(उ. प.) एतत्तु अविचारितरमणीयमेव। 'याश्च देवताः मन्त्राः' इत्यादि प्रतिपादनात्। बृहद्देवतायां पूर्वतः परिगणितानामेव देवातानां कीर्त्तनं कृतम्, न तु तासां समालोचना विहिता। ऋषिदयानन्देन अत्र यास्कवचांसि व्याख्याय (समालोच्य) सारः समुद्धृतः।

(पृ. ५९७ अनु. ३) पू. प.—'केचित् "येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मनुष्यस्तुतिरूपो मन्त्र एवेति, मन्यन्ते" इति, तत्तु न युक्तं। नहि मनुष्याणामनाविष्कृतलिङ्गे मन्त्रे स्तुतिरुपपद्यते। अनादिष्ट-मन्त्राणां दुर्बोधत्वात् मनुष्याणां चाल्पबुद्धित्वात्।"

(उ. प.)—केचिदिति सङ्केतेन लिखितमपि न साधु। शास्त्र विरुद्धत्वात्। यथा 'शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः (शत० ४।३।४४।४) अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः, सुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य-देवाः। (षड्विशं ब्रा० १।१) इह मनुष्या अपि देवाः प्रतिपा-

---

(उ० प०) करपात्री जी का यह कथन बेसमझी का है। क्योंकि मंत्र यज्ञ देवता वाले हैं, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन स्पष्ट है। बृहदेवता आदि में स्वा. दयानन्द के बताये देवता नहीं दिखाई देते, 'नवीन वैदिक' यह इनका नया आविष्कार है' यह भी आप ठीक कहते हैं, क्योंकि यह आविष्कार ही है। आविष्कार का अर्थ अभाव का भाव में लाना नहीं, प्रत्युत अदृष्ट और पूर्व अनूहित का नवीन ऊहा द्वारा प्रकाशन करना है, बृहद्देवता आदि में पूर्वतः परिगणित देवताओं का सङ्कलन मात्र है, वहां उनका समालोचन नहीं है। ऋषि दयानन्द ने यहाँ यास्काचार्य के वचनों की व्याख्या (समालोचना) करके यह सार उद्धृत किया है।

(पृ. ५६७ अनु. ३) पू. प.—कुछ 'जिन मन्त्रों में मनुष्यों की प्रशंसा होती है वे मन्त्र नाराशंस कहलाते हैं' मानते हैं। यह कथन ठीक नहीं अनाविष्कृत लिङ्गक मंत्रों से मनुष्यों की स्तुति की जा सकती है, क्योंकि अनादिष्ट मन्त्र दुर्बोध होते हैं और मनुष्य अल्पबुद्धि होते हैं।

(उ. प.) 'केचित्' इस संकेत से किया हुआ उक्त कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यह शास्त्र विरुद्ध है। जैसे (शत० ४।३।४४।४) तथा (षड्विश-ब्रा० १।१) में मनुष्यों को भी देव बताया गया है अन्यत्र भी लिखा है कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' अर्थात् देव बनकर देवों का यजन करे: वस्तुतः यह

दिताः । अन्यत्रापि लिखितं 'देवोभूत्वा देवान् यजेत' इति । वस्तुतो लेखकोऽयं स्वर्गस्थान् कांश्चिद् देवान्, स्वर्गञ्चाऽपि आकाशेऽस्मिन् किमपि विशिष्टस्थानमिति मनुते । देवशब्दस्य व्यापकार्थ-बोधे महर्षि-दयानन्दः क्षम आसीत् कारणमत्र निर्मलोक्तं तथा हिः—

शास्त्रदृक् शास्त्रसञ्ज्ञाने कृत-भूरि-श्रमो मुनिः ।
यदपश्यद् हि योगेन, न तत् साधारणो जनः ।।

तथाऽपि तैः सायणाचार्यादिभिः देव-शब्दस्य स्तोतृ-यजमानाद्यर्थाः अक्रियन्त, तथा हिः—तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः । (यजुः १५।५०)

इत्यत्र सायणाचार्यः देवाः ऋत्विजः इत्यर्थं व्यधात् । किञ्च (यजुः १७।५६) इत्यस्य भाष्ये देवाः यजमानाः इत्याह । तदा किमिमे न मनुष्याः ? अथापि ।

'ते म आहुर्य आययुरुपद्युभिर्विभिर्मदे ।
'नरो मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्नितिष्टुहि । (ऋक् ५।५३।३)

मरुद्देवताके अस्मिन् मन्त्रे मरुदर्थकः 'नर' इति शब्दः । 'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः' (ऋग् ५।५६।६) इत्यत्र 'मरुतः देवताः' ते च वर्ण्य-विषयाः मनुष्या एव । कनखल-सुरतगिरि-मंगलमठस्वामि-महामण्डले-श्वरमहेश्वरानन्देन तु 'मरुत्' इत्यस्यार्थः 'मनुष्य' एव कृतः । तदेवमने-कप्रमाणैः देवस्य मनुष्यत्वं सिद्धम् ।

लेखक किन्हीं स्वर्गस्थ देवताओं को मानता है और उसकी दृष्टि में स्वर्ग भी आकाश में कोई विशिष्ट स्थान है । देव शब्द के व्यापक अर्थ जानने में महर्षि दयानन्द ही समर्थ थे । निर्मलोक्ति में इसका कारण बताया है:—"शास्त्र द्रष्टा वेदादि में बहुत श्रम करने वाले मुनिवर दयानन्द शास्त्रों के मर्म समझने में योग द्वारा समर्थ हुये । साधारण व्यक्ति उस अर्थ को नही देख सकता ।"

फिर भी सायणाचार्य आदि ने भी देव शब्द के स्तोता यजमान आदि अर्थ किये हैं, जैसे:—तं पत्नी भिरनुगच्छेम देवाः (यजु० १५।५०) में देव शब्द का अर्थ ऋत्विज् तथा (यजु० १७।५६) में यजमान अर्थ किया है । तब क्या ये मनुष्य नहीं है ? ते म आहुर्य० इत्यादि के मरुद् देवताके मन्त्रे मरुदर्थकः नर इति शब्दः । 'ते अज्येष्ठा :अकनिष्ठासः' (ऋक् ५।५६।६) यहाँ ,मरुत देवताः' ये वर्ण्य-विषय मनुष्य ही हैं ।

वस्तुतस्तु यज्ञ-प्रकरणे देवता-प्रसङ्गे यज्ञः, ऋत्विजः, यजमानाः, मन्त्रा, मन्त्रार्थाः, अग्निः, हविः, होता, छन्दांसि एतत् सर्वं देवतामयमेव।

किं बहुना सायणेन तु 'अर्थे पुनर्यस्य पुरुषस्य यदा यानानि अयुक्तानि अयोग्यानि खरमहिषादीनि प्रवर्तन्ते स्वप्नावस्थायां तथा अगोचरे ता एव देवता उच्यन्ते' ? इत्यत्र खरमहिषादि-यानानामपि देवतात्वं प्रतिपादितमिति महदाश्चर्यम्।

अतः (पृ. ६०१) इत्यत्र करपात्रिणः इदं वचः यत् 'नहि मनुष्याः देवसंज्ञाः भवन्ति, देवानां महाभाग्यात् मनुष्याद् वैशिष्ट्यबोधनात्'' अज्ञान-विजृम्भितमेव तत्।

यच्चोक्तम् (पृ. ६०१) इत्यत्र अग्नेः नहि द्युस्थानं सम्भवति तस्य पृथिवीस्थानत्वात्। नाऽपि आदित्य-रश्मिषु प्राणसूर्यादिषु वा तदीयं स्थानम्। द्योतनस्य उपदेशपरत्वमपि नार्थः, द्योततेः दीप्त्यर्थकत्वात्'' इति।

(समा.) तदिदं सर्वमल्पश्रुतमूलकं प्रमाणाऽभावात्। दुर्गाचार्यो हि 'अग्नीन्द्रौ द्युस्थानौ सामान्यं हि द्युस्थानं देवतानामित्याह।

कनखल के महामंडलेश्वर महेश्वरानन्द जी ने तो मरुत् का अर्थ मनुष्य ही किया है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से देवताओं का मनुष्यत्व सिद्ध है।

वास्तव में यज्ञ-प्रकरण में, देवता प्रसङ्ग में यज्ञ, ऋत्विज, यजमान. मन्त्र, मन्त्रार्थ, अग्नि, हवि, होता तथा छन्द ये सब देवत्वमय ही हैं।

अधिक क्या कहा जाय, आचार्य सायण ने तो 'अथ पुनर्यस्य' इत्यादि स्थल पर गधा और भैंसे गाड़ियों तक का देवतात्व प्रतिपादित किया है। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है।

(पृ. ६०१) पर करपात्री जी का यह कथन है कि अग्नि का द्युस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि वह पृथिवी-स्थानीय है और न आदित्य किरणों में या प्राण सूर्य आदि में उसका स्थान है। द्योतन का अर्थ उपदेश भी सम्भव नहीं, क्योंकि द्योतन का अर्थ दीप्ति है।''

(समा०) यह सब कथन अल्पश्रुतजन्य है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। दुर्गाचार्य ने कहा है कि अग्नि और इन्द्र द्युस्थानीय हैं और देवताओं का सामान्यतया द्युस्थान है। सामश्रमी भी कहते हैं कि ''सूर्य, सूर्यकर आदि का

"सामश्रमी चापि अस्मिन् प्रसङ्गे लिखति सूर्यस्य सूर्य-किरणादीनां तदुपरिस्थितानां तारकादीनाञ्च द्युस्थान-निबन्धनत्वं देवत्वं द्युस्थत्वे सति दानादि-गुणवत्त्वमिदमेकमेव देवलक्षणं स्वीकार्यमिति मते तु सूर्येन्द्राग्न्यनिलेन्दुप्रभृतीनां मूलतो भमण्डलस्थानामेव पदार्थानां मुख्यं देवत्वम् ।" (निरुक्ता० पृ. १४०)

अनिलस्य प्राणता प्रसिद्धैव । तदेवं रश्मि-प्राण-सूर्यादीनां द्युस्थानत्वं सिद्धम् । यच्चोक्तं न द्योतनस्योपदेशनमर्थ इति, तदपि न युक्तं यतः 'गुरुः' सत्यार्थं धर्मं वा द्योतयति, दर्शयति, प्रकाशयति उपदिशति शिक्षयति इति अभिन्नार्थकमेव । शिष्टं च मनुष्याणां देवताभिधानरूपत्वं पूर्वमेव समाहितम् ।

(पृ. ६०१ अनु. १) पूर्वपक्षः—'न तत्र सूर्यो भाति' (कठो. ५।१५) इत्युक्तरीत्या परमेश्वर एवोपास्यः इत्युक्तं, न युक्तं, सगुणस्य तस्य परमेश्वरस्योपास्यत्वेऽपि निर्गुणस्योपास्यत्वानुपपत्तेः मनोबुद्ध्यविषयत्वात् ।"

(उ० प०) अत्र दीपनात् द्योतनाद् देव इति व्युत्पत्तौ प्रकाशका-

तथा उनके ऊपर स्थित तारों का द्युस्थान निबन्धक देवत्व है । द्युस्थान होने पर दानादिगुणवत्ता यह एक ही देवलक्षण स्वीकार करना चाहिए, यह मानने वालों के मत में तो सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, इन्दु इत्यादिकों का मूलरूप से नक्षत्रमण्डल पदार्थों का मुख्य देवत्व है ।" (निरुक्ता० पृ. २४०) वायु की प्राणता प्रसिद्ध ही है । इस प्रकार रश्मि, प्राण, सूर्य आदि का द्युस्थानत्व सिद्ध है । यह जो कहा कि द्योतन का अर्थ उपदेश नहीं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गुरु का अर्थ है जो सत्यार्थ या धर्म को द्योतित करता है, दिखाता है, प्रकाशित करता है, उपदेश करता है अथवा शिक्षित करता है, यह सब अभिन्नार्थक ही हैं । शेष, मनुष्यों के देवत्व का समाधान पहले ही कर दिया है ।

(पृ. ६०१ अनु. १) पू प.—'न तत्र सूर्यो०' (कठ ५।१५) इत्यादि रीति से परमेश्वर ही उपास्य है' यह कहा है, वह ठीक नहीं, क्योंकि उस सगुण परमेश्वर की उपास्यता मानने पर निर्गुण की उपासना मन और बुद्धि का विषय न होने से अनुपपन्न है ।

(उ० प०) यहां दीपनाद् आदि से, प्रकाशकों का भी प्रकाशक परमेश्वर

नामपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एव देवोऽस्ति इति विज्ञेयम् तत्र काठकप्रमाणमिदं प्रस्तुतम्। तत्र नाऽस्ति प्रसङ्गः सगुणस्य निर्गुणस्य वा। ऋषिणा केवलस्य परमेश्वरस्यैव उपास्यत्वमुपन्यस्तमत्र, अतो मुख्यो देव एक ईश्वर एवोपास्यः, परं चौरकूर्चतृणन्यायेन स्वयं शङ्कितस्याऽप्रसङ्गेऽपि सगुणप्रश्नोद्भावनस्यास्यायमाशयो यद् धृतावतार एव सगुणो भवितुमर्हति, परमवतारश्च न वेदानुमोदितः, सर्व-व्यापकस्य सर्वशक्तिमतोऽजन्मनः परमात्मनः 'ग्रज एकपाद्' (य० ३४।५३) इत्यादि प्रमाणात्।

यदिध गुणैः सह वर्तमानं तत्सगुणं, गुणोभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्। स्वीयस्वाभाविकर्गुणैर्विशिष्टत्वादपरप्रतिद्वन्द्विना गुणैरविशिष्टत्वाच्च सर्वे एव पदार्थाः सगुणाः निर्गुणाः वा विद्यन्ते। नहि विद्यते तादृशं किमपि वस्तु यत्र केवलं निर्गुणत्वं सगुणत्वमेव वाऽवतिष्ठते, तथैव परमेश्वरोप्यनन्तज्ञानदिगुणैः सह विद्यमानत्वात् सगुणः, रूपाद्यचेतनगुणैः द्वेषादिजीवगुणैश्च पृथक्त्वेन निर्गुणः (सत्या· प्र· समु· ७)।

ही देव सिद्ध है, ऐसा जानना चाहिए। इस विषय में कठ का यह प्रमाण दिया है कि 'न तत्रसूर्यो भाति' इत्यादि। वहाँ सगुण या निर्गुण रूप का प्रसङ्ग ही नहीं है। ऋषि ने केवल इतना ही कहा है कि परमेश्वर का ही मुख्य उपास्यत्व है। परन्तु 'चोर की दाड़ी में तिनका' इस उक्ति के अनुसार यह लेखक स्वयं शङ्कित है, ग्रतः ग्रप्रसङ्ग में भी सगुण प्रश्न के उद्भावन से इसका ग्राशय यह प्रतीत होता है कि यह धृतावतार को सगुण मानता है, परन्तु ईश्वर का ग्रवतारवाद वेदानुकूल नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् ग्रौर अजन्मा परमात्मा के विषय में "ग्रज एकपात्' (यजु.) इत्यादि प्रमाण हैं।

जो गुणों के साथ वर्तमान हो वह सगुण, तथा जो गुणों से निर्गत पृथग् भूत हो वह निर्गुण कहाता है। ग्रपने स्वाभाविक गुणों से विशिष्ट होने से तथा दूसरे प्रतिद्वन्द्वी के गुणों से ग्रविशिष्ट होने से सभी पदार्थ सगुण ग्रौर निर्गुण होते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो केवल सगुण या केवल निर्गुण हो, ग्रपितु एक ही वस्तु में सगुणता ग्रौर निर्गुणता व्यवस्थित होती है, उसी प्रकार पर-मेश्वर भी ग्रपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों के साथ वर्तमान होने से सगुण ग्रौर रूपादि ग्रचेतन गुणों से ग्रौर द्वेष आदि जीवगुणों से पृथक् होने से निर्गुण है। (सत्या० प्र. समु. ७)

(पृ० ६० २ अनु० १) पू० प०—"नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्, इत्यत्र इन्द्रियेषु (मुख्य) देवत्वं न युज्यते गौणदेवत्वात् शौर्यक्रौर्यगुण-योगाद् देवदत्तादिषु सिंहप्रयोगवत्।"

(समा०) नाऽत्र इन्द्रियेषु देवत्वस्य गौणतायाः मुख्यतायाः वा उत्थापितः प्रश्नः। किञ्च देवदत्तादिषु सिंहपद-प्रयोग-दृष्टान्तस्तु नाऽत्र घटते। भवत्कथनेन देवगत-द्योतन-गुणयोगाद्देवत्वमिन्द्रियाणां, न चेन्द्रियाणां स्वतः किञ्चिद्देवत्वं, परं देवदत्तस्य तु स्वकीयमपि शौर्यादि विद्यते, तदतिशय-द्योतनाय सिंहपद-प्रयोगो भवति। तस्माद् विषमोऽयं दृष्टान्तः।

अपरं चाऽत्र यदुक्तं 'तदपि न युक्तमिति'। तत्किं न युक्तमिति न प्रतिपादितम्, यावता भवताऽपि 'देवाः' इत्यस्यार्थ इन्द्रियाणीति मन्यते एतदग्रे एव।

यच्चोक्तं 'अर्शत्' इति पाठस्तु काण्वशाखीय एव,। एषा तु भ्रान्ति-रेव भवतः, यतो हि सनातनधर्मिश्रीजगदीशलाल शास्त्रि संपादिता-याम् उव्वटमहीधरभाष्यसंवलितायां वाजसनेय-मध्यान्दिनसंहितायाया-मप्ययमेव पाठः समुपलभ्यते। किञ्च वि० २००४ संस्करणे भा० भूमिकायाम् अर्षत्, इत्येव पाठः।

(पृ० ६०२ अनु० १) पूर्व-पक्ष-'इन्द्रियों का मुख्य देवत्व ठीक नहीं है, वहाँ गौण देवत्व है, जैसे शौर्य, क्रौर्य आदि गुणों के योग से देवदत्त आदि में सिंह-पद का प्रयोग किया जाता है"।

(समा०) यहाँ पर देवत्व की गौणता और मुख्यता का प्रश्न ही कहाँ है। शौर्य, क्रौर्यादि गुणों के योग से देवदत्त आदि के लिये गौण रूप से सिंह पद का प्रयोग किया जाता है। ऐसा आपने लिखा है। महोदय! देवदत्त आदि में सिंह पद प्रयोग का दृष्टान्त यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि आपके कहने से देव-गत गुणों के योग से ही इन्द्रियों का देवत्व हैं स्वतः नहीं हैं, पर 'सिंहः देवदत्तः' कहने पर देवदत्त का अपना भी शौर्यादि है। सिंह पर का प्रयोग तो शौर्य आदि के अतिशय के द्योतन के लिये होता है, अतः यह दृष्टान्त विषम है।

दूसरे आपने कहा कि दयानन्द का कथन युक्त नहीं, पर यह नहीं बताया कि क्या ठीक नहीं, जबकि देवाः' का अर्थ इन्द्रियाँ' आप भी मान रहे हैं।

(आक्षेपः)—"स्तुतिर्हिगुणदोषकीर्तनम्" इति कथनं तुच्छं, गुण-वर्णने एव स्तौतेः प्रसिद्धत्वात्।

(समा०)—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' अत्र प्रकरणे तु गुणदोषयोरुभयोरेव कीर्तनं स्तुतिः। यथा च दुर्गाचार्यः, नानावस्थादर्शनवदाख्यातॄणां परिदेवननिन्दादिष्वपि चेन्द्रादीनां कामकारतः तद्रूपमवस्थितानां सा स्तुतिरेव' (निरु० ७।२।३)। तदेवम् अत्र परिदेवना, निन्दादिदोषकथनमपि स्तुतिरेवाऽमन्यत। अन्यथा येषु मन्त्रेषु दोषा वर्ण्यन्ते तत्रेदं लक्षणं कथं घटिष्यते यथाः—"जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्। (ऋक् १०।३४।१०) इत्यादिमन्त्रेषुअक्षकितवनिन्दैव देवता। तस्मात् स्तुतिरत्र गुणदोषयोः कीर्त्तनं न केवलं गुणस्यैव। अतएव महर्षिणाऽभिहितम्, 'यस्य पदार्थस्य मध्ये गुणाः वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते'। भौतिक-पदार्थेषु एव गुणाः दोषा वापि सम्भवन्ति, न तु परमेश्वरे, तस्य दोष-रहितत्वात्, अतस्तद्गुण-कीर्तनमेव स्तुतिः। वस्तुतो यथार्थवाद एव स्तुति स्तथा च काव्येऽपि

आपने कहा कि 'अर्शत्' पाठ तो काण्व शाखा में ही मिलता है वाजसनेय शाखा में नहीं, यह आपकी भ्रान्ति ही है, क्योंकि सनातन-धर्मी श्री जगदीश लाल शास्त्रि सम्पादित उव्वट महीधर-भाष्ययुक्त वाजसनेय माध्यन्दिन-संहिता में भी यह पाठ मिलता है कि २००४ के संस्करण में अर्षत पाठ है।

(आक्षे०) गुणदोष कथन को स्तुति मानना तुच्छ विचार है, क्योंकि इसका प्रयोग केवल गुण वर्णन में होता है।

(समा०) 'यत्कामः' अर्थात् जिस कामना वाला ऋषि जिस देवता में आर्थपत्य की इच्छा करता हुआ स्तुति का प्रयोग करता है, यहाँ स्तुति का अर्थ गुण और दोष दोनों का कथन है, अन्यथा जिन मन्त्रों में किसी के दोषों का वर्णन किया गया है, वहाँ 'स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' यह बात कैसे घटेगी! जैसे 'जाया तप्यते कितवस्य'० मन्त्र में अक्षकितव की निन्दा ही देवता है। यहाँ 'यत्कामः' में स्तुति का अर्थ गुणदोष कथन है। केवल गुणों का कथन ही स्तुति नहीं है। अतः ऋषि कथन है कि जिस पदार्थ के मध्य में गुण वा दोष हैं वैसों का ही उपदेश लेख आदि करना स्तुति है, भौतिक पदार्थों में ही गुण

व्याजस्तुतिस्तव पयोद-मयोदितेयं,
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं नु ते महदिदं घन धर्मराज ।
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान् निहत्य ।। (सा. द.१०।६०)

इह व्याजस्तुतिस्तोत्र-शब्दौ प्रशंसायां निन्दायां चापि स्तः । अतः भवत्कथनमबोधसूचकमेव ।

(पृ० ६०२ अनु०२) आक्षे० 'परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति, उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् ? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते (इति यदुक्तं) तदपि निस्सारम् कोऽयं नियम इत्यस्यानिरूपितत्वात् ।

(समा०) भोः वेदभाष्यकार ! कोऽयं नियमः इत्यपि भवता नावबुध्यतेति महदाश्चर्यम् । तदवधेयमत्र यत् केवलं सकामकर्मकाण्डं प्रत्येव परमेश्वरातिरिक्तपदार्थस्य उपभोगेच्छया स्तुतेरर्थः गुणदोषात्मक इति, परन्तु निष्काम-कर्मकाण्डे ज्ञानकाडे, उपासनाकाण्डे च जीवा-

---

दोष संभव है परमेश्वर में नहीं, क्योंकि वह निर्दोष है । वास्तव में यहाँ यथार्थ-वाद ही स्तुति है । काव्य में भी देखिये :—साहित्यदर्पण के व्याजस्तुतिः' इत्यादि के श्लोक में—हे बादल' ! मैंने यह तुम्हारी व्याज-स्तुति की है कि संसार के जीवन के लिये तुम्हारा तुम्हारा जल (जीवन) है, पर यह तुम्हारी स्तुति (स्तोत्र) है कि तुम पथिकों की हत्या करते हो । यहाँ पथिकों की हत्यारूप दोष को बादल की स्तुति कहा गया है । इसलिये करपात्री का उक्त खण्डन उनके अबोध का सूचक है ।

[पृ० ६०२ अनु० २] आक्षे०—'परन्तु यह नियम कर्मकाण्ड के प्रति है । उपासना काण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में और कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में परमेश्वर ही इष्टदेव है, क्योंकि वहाँ उसी की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है, यह कथन निस्सार है, क्योंकि वह नियम कौन सा है ? इसका निरूपण नहीं किया ।

(समा०) वेदभाष्यकार महोदय ! वह कौन सा नियम है, यह आप नहीं समझ सके, बहुत ही आश्चर्य है । देखिये, केवल सकाम कर्मकाण्ड के प्रति ही परमेश्वर से भिन्न पदार्थ का उपभोगेच्छा से स्तुति का अर्थ गुण दोषात्मक होता है, परन्तु निष्काम कर्मकाण्ड में उपासना और ज्ञानकाण्ड में जीवात्मा के ईश्वर निष्ठ होने से और ईश्वर के निर्दोष होने से स्तुति का अर्थ केवल गुण

त्मनः ईश्वरनिष्ठवृत्तितया ईश्वरस्य च दोष-रहिततया स्तुतेरर्थः केवलं गुणकीर्तनमेव न दोषकीर्तनम्, यतो हि 'गुणाः वा दोषाः सन्ति' इति महर्षि-वाक्ये 'वा' वचनं न केवलस्य गुणस्य दोषस्यापि वा व्यञ्जकम्, अतः सकामकर्मकाण्डे इष्टभोगप्राप्त्यर्थम् अग्न्यादिदेवैः सह परमेश्वरोऽपि देवः इत्ययमेव मुख्य-देवत्व-नियमः। सकामे इष्ट प्राप्तिःकार्यमीश्वरश्च कारणं भवति ।

(पृ० ६०३ अनु० १) आक्षे०—महाभाग्याद् देवताया एक-एवात्मा स्तूयते० (निरु० १।४) इत्यादिप्रमाणं कस्मिन्नर्थे इति तु दयानन्द एव जानीयात् ।

(समा०) श्रीमन् ! ईश्वरस्य सकामे निष्कामे वा कर्मणि सर्वत्र प्रार्थनोपासना विधातव्या, देवानां मध्ये स एव ईश्वरः सर्वत्र मुख्यो-देव इत्यर्थे माहाभाग्याद् एक एवात्मा बहुधा स्तूयते' इत्यादि प्रमाण-मिति भवानपि जानातु ।

विषयेऽत्र सर्वदेवदेवस्यैव उपास्यत्वे तत्रत्या दुर्गाचार्य-टीका द्रष्टव्या, तथाहि :—लोके तावदेते मनुष्याणामश्वादयोऽर्था आगन्त-वोऽपायिनश्चानित्याः तद्यदि देवतानामप्येवं ततस्तासां तेषां

कीर्तन ही है, दोष-कीर्तन नहीं, क्योंकि 'गुणा वा दोषाः' इस महर्षि के वचन में 'वा' केवल गुण या दोष का व्यञ्जक है, इसलिये सकाम कर्मकाण्ड में इष्ट भोग प्राप्ति के लिये और देवों के साथ परमेश्वर का भी देवत्व है यही मुख्य देवत्व का नियम है। सकाम में इष्ट प्राप्नि कार्य और ईश्वर कारण है।

(पृ० ६०३ अनु०) आक्षे०—'माहाभाग्याद्० इत्यादि अर्थात् देवता (परमात्मा) के महाऐश्वर्यशाली होने से एक ही परमात्मा की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है, इत्यादि प्रमाण किस अर्थ में है ? यह दयानन्द ही जाने।

(समा०) श्री मान् जी ! ईश्वर की सकाम या निष्काम कर्म में सर्वत्र प्रार्थनोपासना करनी चाहिये। वही ईश्वर सर्वत्र मुख्य देव है। इसके समर्थन में 'माहाभाग्यात्, एक एव आत्मा० इत्यादि प्रमाण है, यह आपको भी ज्ञात होना चाहिये।

इस विषय में कि देवों का देव परमेश्वर ही उपास्य है। दुर्गाचार्य की टीका देखिये—'लोक में तो मनुष्यों के अश्वादि अर्थ नश्वर और अनित्य हैं, तो देवताओं के भी इसी प्रकार अनित्य होंगे। फलतः यह स्तुति अनर्थक

चाऽनित्यत्वात्, स्तुतिरनर्थिका, ततः समाधत्ते, तस्मात् प्रतिसमाधातव्यम् इत्युपोद्घत्य उत्तरमुच्यते 'माहाभाग्यादित्यादि ।'' एतदेव श्रीमता दयानन्देन स्पष्टीकृतं यत् उपास्यत्वेन देवानांदेवः ईश्वर एव अस्ति तस्य माहाभाग्यादर्थात्सर्वशक्तिमत्त्वादि-विशेषणवत्त्वात् ।

यदुक्तं "दयानन्द एव जानीयात्" तत्सत्यमेव, यतः स महर्षिः जानन्नेव ज्ञापयति, तदनुयायिनोऽपि चावबुध्यन्ते । यदि भवान्न ज्ञातुमर्हति, तर्हि नान्यस्य दोषः । अथापि ऋषिणा ईश्वरोनिर्दोषोनिर्विकार इति सर्वत्र प्रत्यपादि । अतएव स एव सर्वश्रेष्ठो मुख्यो देवोऽस्ति ।

(पृ० ६०४ अनु. १ तः पृ० ६०७ पर्यन्तम्) समग्रमिदमसमालोचनीयमप्रासङ्गिकत्वात् । परम् अत्र यदुक्तं 'मनुष्येषु' ऐश्वर्याभावात् मनुष्या न देवा इति । तत्तु अयुक्तमेव, यतः ऋत्विजां विदुषां यजमानानां चाऽपि (मनुष्यदेहधारिणां) बहुत्र शास्त्रे देवत्वाङ्गीकारः । तथा हि :—यो दीक्षते स देवतात्मको भवति (श० प० ३।१।१८।१०) "अमानुष इव वा एतद् भवति यद् व्रतमुपैति न हि तदवकल्पते……

होगी । तब समाधान दिया है कि परमात्मा के परमैश्वर्यशाली होने से स्तुति निरर्थक नहीं है । इसी बात को ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि उपास्यत्वरूप से देवों का देव परमात्मा ही है, क्योंकि वह माहाभाग्य अर्थात् सर्व शक्तिमानादि विशेषण वाला है ।

यह कहना कि इसको दयानन्द ही जाने, सो ठीक ही है कि वह दयानन्द ही जानकर ज्ञापित भी करता रहा हैं ; उसके अनुयायी भी समझ रहे हैं, यदि आप न समझें तो इसमें अन्य का क्या दोषहै ! ईश्वर ही निर्विकार, निर्दोष है, ऐसा ऋषि ने सर्वत्र प्रतिपादित किया है, इसलिये वही सर्वश्रेष्ठ मुख्य देव है ।

(पृ० ६०४ से पृ० ६०७ तक) यह समस्त भाग अप्रासङ्गिक होने से आलोचना का विषय नहीं । परन्तु आपने यह जो कहा कि 'मनुष्यों में ऐश्वर्य के अभाव के कारण देवत्व नहीं होता' अयुक्त है, क्योंकि ऋत्विज्, विद्वान्, यजमान इन सभी का मनुष्यदेहधारियों का शास्त्र में अनेकत्र देवतात्व कहा गया है । जैसे कि 'यो दीक्षते०' अर्थात् यज्ञ में जो दीक्षित होता है, वह देवतात्मक हो जाता है (श. ब्रा. ३।१।१८।१०) . 'अमानुष इव वो०' इत्यादि अर्थात् जो व्रत को प्राप्त होता है, यह अमानुष जैसा होता है । वह व्रत समाप्ति पर

तद् खलु · · पुनर्मानुषो भवति। तस्मादिदमहमेवाऽस्मि सोऽस्मि इत्येव व्रतं विसृजति" तत्राऽपि अनृतपरिहारादिकमेव बीजम्, यतो हि :— 'अमृताः मनुष्याः' अतएव दीक्षितेन सत्यमेव वक्तव्यमिति यज्ञ-नियम इति।

(पृ० ६०७ अनु·१ आक्षे०—'दयानन्दस्तु (देवाः) कर्मणा जायन्ते इत्याह, तन्न युक्तम्, सर्वस्यैव कर्मजन्यत्वेन वैशेष्यानुपपत्तेः।'

(समा०) अयुक्तोऽयं भवदाक्षेपो यत् दयानन्दानुसारं सूर्यादीनां जन्म पूर्वकर्माधारेण भवति, यतो नैवं क्वापि ऋषिरमन्यत। तन्मते केवलं चेतनदेवानामेव जन्म पूर्व-कर्ममूलकम्। भवद्रीत्या तु लोकाऽनुजिघृक्षया कर्मफलसिद्धये देवाः जायन्ते इति वचनात् सूर्यादीनां जडदेवानामपि चेतनत्वं प्रतिपाद्यते, परम् आत्मानुग्रहेच्छा चेतनेषु एव सम्भवति न जडेषु।

न च 'कर्मणा जायन्ते' इति पाठे कर्मणेति हेत्वर्थकतृतीययैव भाव्यमिति, तदा तु सूर्यादीनां जडानामपि देवानां कर्ममूलकमेव

फिर मनुष्य हो जाता है। इसलिये मैं यह वही हूं, यह कहकर व्रत का त्याग करता है। यहाँ झूठ का परिहार (त्याग) ही देवत्व का बीज है, क्योंकि साधारण मनुष्य असत्यवादी होते हैं, इसलिये यज्ञ-नियमानुसार व्रत-दीक्षित को सत्य ही बोलना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य में ही देवत्व होता है।

(पृ० ६०७ अनु० १) आक्षे०—देव कर्म से होते है अर्थात् अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं' यह दयानन्द-कथन ठीक नहीं क्योंकि सभी कर्म जन्य है अर्थात् पूर्व कर्मों के आधार पर सभी का जन्म होता है। इससे देवताओं की किसी प्रकार की विशेषता प्रतीत नहीं होती।

(समा०) आपका यह आक्षेप अयुक्त है कि सभी सूर्यादि जड़ देवों का जन्म पूर्व कर्मों के आधार से होता है। ऋषि ने चेतन-देवों कर ही जन्म, कर्मों के आधार पर माना है। आपकी रीति से अग्नि, सूर्यादि का चेतनत्व प्रतिपादित है, क्योंकि आपने कहा है कि 'लोकों के अनुग्रह की इच्छा से कर्मफल सिद्धि के लिये देवताओं का जन्म होता है'। यहाँ आत्म अनुग्रह की इच्छा चेतनों में ही सम्भव है जड़ों में नहीं।

(शङ्का) 'कर्मणा जायन्ते' यह पाठ होने पर 'कर्मणा' में हेत्वर्थक तृतीया ही है, तब तो सूर्यादि जडदेवों का भी जन्म कर्म मूलक ही मानना चाहिये।

जन्मेति वाच्यम्, तच्च न युक्तं, फलस्यापि हेतुत्वात्। यथा हि 'अध्ययनेन वसति' इत्यत्र प्रयोगे हि फलाऽभिन्नाध्ययन-निरूपितोपकारकत्वाश्रयनिवसनानुकूलो व्यापार इत्यर्थस्तथैव फलाऽभिन्नकर्मनिरूपितोपकारकत्वाश्रयजननानुकूलोव्यापार इत्यर्थः। अतः 'कर्मणा' इत्यत्र फले हेतौ तृतीया बोध्या।

ननु फलस्यापि हेतुत्वेन तृतीयेति मयैव कल्प्यते न तत्स्वामिदयानन्दानुमतमिति शङ्का चेन्न युक्ता, स्वामिदयानन्देन 'आयुर्यज्ञेनकल्पताम्' (यजुः १८।१९) इति मन्त्रभाष्ये '(यज्ञः ईश्वरः) यज्ञेन ईश्वर प्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पताम्' इत्यत्र फलस्याऽपि हेतुत्वेनाभिमतत्वात्।

अथापि सामश्रमी महोदयोऽपि ऐतरेयालाचने प्राह 'तदत्र पारिभाषिक-देवत्वमापन्नाश्वशकुन्यादीनां चेतनानाम् अपीध्मवागादीनामचेतनानाञ्च देवशरीरकत्वं कलत्रापत्यादिमत्त्वं रागद्वेषादियुक्तत्वञ्च नाऽस्तीति तु लाङ्गलस्कन्ध पांशुलपादुकैर्हालिकैरप्यधिगन्तुं शक्यते। मुख्यदेवानामग्न्यादीनां तु 'तदस्ति नाऽस्ति वेति संशयः स्यादवेद-

---

समा०—परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि फल भी तो हेतु है जैसे 'अध्ययनेन वसति' में। इस प्रयोग में फल से अभिन्न अध्ययन द्वारा निरूपित उपकारकत्व का आश्रय निवसन के अनुकूल व्यापार, यह अर्थ होता है। उसी प्रकार फल से अभिन्न कर्म से निरूपित उपकारकत्व का आश्रयजनन, उसके अनुकूल व्यापार' यह अर्थ निकलता है। यहाँ पर फल रूप हेतु में तृतीया है।

'कर्मणा जायन्ते' इसमें फल को हेतु मानकर मैंने अपनी नवीन कल्पना करली है, वह स्वामी दयानन्द समर्थित नहीं है, ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' (यजुः १८।१९) इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने यज्ञेन का अर्थ यज्ञ ईश्वर और यज्ञार्थ अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण आयु होवे' किया है।

सनातन धर्मी श्री सामश्रमी जी ने कहा है कि 'यहाँ पर पौराणिक देवता की प्राप्ति अश्व, शकुनि आदि चेतनों की है और इध्म, वाक् आदि अचेतनों का देवशरीरत्व स्त्री संतान आदि वाला होना और रागद्वेषादियुक्त मानना ठीक नहीं, यह बात तो कन्धे पर हल रखने वाले, धूल मिट्टी में सने जूतों वाले किसान भी जाव सकते हैं। मुख्यदेव अग्नि आदिओं का वह है या नहीं ?

विदुषां बालानाम्, पौराणिका एव हीदृश-संशयोत्थापकाः इति (ऐतरेया० पृ० १६२)।

अतः सर्वस्यैव कर्मजन्यत्वेन वैशेष्यानुपपत्तेः' इति वचस्तु अज्ञान-जन्यमेव,यतःकर्मभोगार्थोपयोग एव तेषाम्, तथा चोक्तमृषिणा यतः आत्मनः ईश्वरसामर्थ्यात् जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति' इति। हिन्द्यां चापि "इनका (देवों का) जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है।"

भवता तु (पृ० ६०७ पं. ८-९) स (परमात्मा) एव सर्गकाले षोढा आत्मानं विभज्य जगद्भावमुपगच्छति। तस्मादेव जायन्ते देवाः' इत्यर्थो विहितः, नाऽसौ सम्यक्। अहो! अत्रार्थकरणे पराकाष्ठेयं जडार्च-नार्जिताऽज्ञानस्य, यतोहि न परेशः जगतः उपादान-कारणमपितु निमित्त-कारणमेव। न च परमेश्वरस्य षोढा विभाजनं सम्भवति अपरिणा-मित्वादच्छेद्यत्वादनश्वरत्वाच्च। निमित्तकारणं तु अवस्थान्तरकारि न तु स्वयमवस्थान्तरमापद्यते। नहि कदापि निमित्तकारणं कुम्भकारः कुम्भभावमुपगच्छति। जगतः उपादानकारणं तु मूलप्रकृतिरेव या

ऐसा संशय तो वेद न जानने वाले बाल बुद्धियों को होगा, और पौराणिक ही ऐसा संशय उठाते हैं। (ऐतरेया० पृ० १६२)

इसलिये 'सभी का कर्मजन्यत्व है, इससे देवताओं की कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती।' यह कथन अज्ञानजन्य हैं, क्योंकि सूर्यादि का जन्म पूर्व कर्मों का परिपाक नहीं। इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता हैं। जैसाकि ऋषि ने कहा हैं "क्योंकि ये आत्मा अर्थात् ईश्वर सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं इसलिये ये आत्मजन्मा हैं"। आपने (वे. पा. पृ. ६०७) पर यह अर्थ किया है कि वह परमात्मा ही सृष्टि काल में छै प्रकार से स्वयं को विभाजित कर जगद्रूप में परिणत हो जाता है, उसी से देवगण (सूर्यादि) भी पैदा होते है।" सो वह ठीक नहीं, आश्चर्य है कि यहाँ पर अर्थ करने में जड़ पूजा की अर्चना से अर्जित अज्ञान पराकाष्ठा पर पहुंच गया है, क्योंकि ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है, अपितु निमित्तकारण है और न परमात्मा का छै भागों में विभाजन ही सम्भव है क्योंकि वह ईश्वर अछेद्य है अपरिणामी और अनश्वर है। निमित्त कारण कुम्भकार कभी भी कुम्भरूप को प्राप्त नहीं होता। जगत् उपादान कारण तो मूलप्रकृति है, जो अवस्थान्तर को प्राप्त करने के लिये

अवस्थान्तरमधिगन्तुं चेतनं कर्त्तारमपेक्षते। स्वयं तु न क्षमा, जडत्वात् सा जडाप्रकृतिः परमेश्वररूपान्निमित्तकारणयोगादवस्थान्तरं विकृति-भावं प्राप्नोति। सैव प्रकरणानुसारं सामर्थ्यमप्यभिधीयते।

किञ्च, अग्न्यादिषु जडेषु अनुग्रहेच्छा संकल्पादीनां च कल्पना तु मिथ्यैव, अनुग्रहादीनां चेतनधर्मत्वात्। महाभाग! इह तु भवद्बुद्धि-श्चिन्तन सीमामेवातिक्रान्तवती, यद् भवान् लिखति 'रथादिरूपेण देवतैव आत्मानं विकृत्य प्रकृतिभेदेन रथादिसाध्यमर्थं सम्पादयति इति। इहास्ति भवदभिप्रायो यत् 'देवता स्वेच्छया कार्याणि साधयितुं रथरूपमुपादत्ते, इति। परं भोः! जडेन देवेन नेदं कदापि सम्भवति। (पारिजातस्य ६०८ तमे पृष्ठे षष्ठपङ्क्तौ) तस्मिन्नेवार्थेऽ यदपि प्रमाणमुपस्थापति दयानन्दः 'ये त्रिंशति·········· (६१० तमे पृष्ठे पञ्चदशपङ्क्तौ,)। तदपि न युक्तं च तात्पर्यानवबोधात्, प्रकरण-विरोधाच्च। स तु 'मन्त्रा एव देवतापदवाच्या' इति वक्ति क्वचित् परमेश्वरः क्वचित् मनुष्या एव देवाः। इहतु तद्विपरीतमेवा नेके देवा उक्ता।

वही प्रकरणानुसार 'सामर्थ्य' भी कही जाती है वह किसी चेतन कर्त्ता की अपेक्षा करती है। जड़ होने से वह स्वयं समर्थ नहीं। वह तो निमित्तकारण परमात्मा की सामर्थ्य से विकृति को प्राप्त होती है।

साथ ही अग्नि आदि जड़ पदार्थों में अनुग्रह की इच्छा और संकल्पादि की सम्भावना तो असम्भव ही है, क्यों कि ये इच्छादि चेतन पदार्थों के धर्म हैं। महाराज जी! यहाँ तो आपकी बुद्धि ने समस्त चिन्तन सीमाओं को ही लाँघ दिया, जो कि आपने लिखा है कि रथ आदि रूप में देवता ही स्वयं को विकृत-कर प्रकृति-भेद से रथादि साध्य-अर्थ का सम्पादन करता है। (पृ. ६०७) यहाँ पर आपका अभिप्राय है कि देवता स्वेच्छा से कार्य-सिद्धि करने के लिए रथरूप धारण कर लेता है।" परन्तु जड़ पदार्थ ऐसा कदापि नहीं कर सकते।

• (पृ० ६०८ से पृ० ६१० पर्यन्त) पू० प०—यह कथन कि दयानन्द ने (देवता-प्रकरण में) अन्य प्रमाण दिये है ('ये त्रिंशातित्रयः' इत्यादि ये दयानन्द मत के पोषक नहीं हैं। दयानन्द की मान्यता है कि मन्त्र ही देवता पद वाच्य हैं कहीं परमेश्वर और कहीं मनुष्य ये देवता पद वाच्य हैं। परन्तु

(समा०) महोदय ! प्रथमं तु न काप्यत्र प्रकरण-विरोधिता, सर्वस्यैव प्रकरणस्य दैवतत्वात्। एतादृग्यजुरथर्वशतपथ-प्रमाण-समुद्धरणं प्रकरणावहमेव, एष्वपि देवताचर्चाकारणात्, द्वितीयं तात्पर्यानववोधकथनमपि न युक्तं, भवत एव तात्पर्यानववोधात् सम्भवाभावाच्च। तथाहि :— दृश्यतां तावत्स्वकृतः ये त्रिंशति त्रयस्परो देवास ? इत्यादिमन्त्रार्थ :-'ये त्रयस्त्रिशद् (देवताः देवाः (बर्हिः) अस्मदीय यज्ञ-सम्वन्धिनि बर्हिषि कुशासनेषु हविः-स्वीकरणार्थम् आसीदन्तु' इति। तत्कथं भोः बुद्धिमन् ! भवदुक्ताः आदित्यादयः जडा देवाः समागत्य कुशानामासनेषु उपवेष्टुमर्हन्ति ? सर्वथाऽसम्भव-मिदमुपवेशनं तेषामासनेषु। विद्वांसो यजमानाश्च देवाःस्थातुमर्हन्ति। वस्तुतस्त्वध्यात्मार्थः (ये त्रिंशति०) इत्यस्य, यथा-त्रिंशत्संख्यायाःपरः परस्तात् त्रयः, त्रयस्त्रिशदित्यत्यर्थः, देवाः (मनः-सहितैकादशेन्द्रियाणि उत्तममध्यमाधमभेदेन) चक्षुरादीनि शक्तीन्द्रियाणि विद्यन्ते, ते देवा मम बृहदन्तःकरणमाश्रित्य उपविशन्तु एकत्रीभवन्तु। चञ्चलानि भूत्वेत-श्चेतश्च मा पलायिषत। एवं तत्र स्थित्वा निश्चयेन परमात्मानं विदन्तु। अपि च द्विविधाः, कर्मदेवा ज्ञान-देवाश्च,स्वसमीपाद् दुर्व्यसनं दूरीकुर्वन्तु। हे मनः ! तथा त्वं यतस्व यथा सर्वेन्द्रियदेवाः स्ववशे तिष्ठन्तु।

यहाँ उसके विरुद्ध अनेक देवता बतलाये हैं। और यह जो कहा है कि इन वेद मन्त्रों के ये अर्थ हैं') वह भी ठीक नहीं, क्योंकि उनको इनके तात्पर्य का बोध नहीं है। और प्रकरण का विरोध भी है।

महाराज जी ! पहले तो यहाँ प्रकरण-विरोध ही नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण ही दैवत प्रकरण है। इसमें इस प्रकार के ऋग्, यजुः, अथर्व शतपथ आदि के प्रमाण देना प्रकरण का ही समर्थन है, क्योंकि इनमें देवता-विषय की ही चर्चा है। दूसरे 'इन मन्त्रों के तात्पर्य को ऋषि ने नहीं समझा' यह कथन भी ठीक नहीं है, प्रत्युत आपने ही इनके वास्तविक अर्थों को नहीं समझा, जो समझा है वहाँ सम्भव का अभाव है जैसे कि आपने 'ये त्रयस्त्रिशद् देवाः०' मन्त्र का अर्थ किया है कि ये तेतीस देवता हमारे यज्ञ-सम्बन्धी कुशासनों पर हमारी हवि को स्वीकार करने के लिए बैठें'। बुद्धिमद्वर्य ! कृपया यह बताइये कि ये आदित्यादि तेंतीस जड़ देव किस प्रकार छोटे २ आसनों पर बैठेंगे ? उनका आसनों पर बैठना सर्वथा असम्भव है।

(पृ० ६११ अनु० १) आक्षे०—नाऽत्र त्रयस्त्रिशत्संख्यानां देवानां प्रतिपादनम् पूर्वोक्त-शतपथवचन-विरोधात्।

(समा०)—इदं कथनं तु पाठकानामक्षिषु धूलिक्षेप एव, यत स्तत्र (शतपथे १४।६।३-७, ६,१०) स्पष्टतया नामग्रहणपूर्वकं 'अष्टौ वसवः, एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशदिति देवानां परिसंख्यानमस्ति' 'यजुर्मन्त्रे 'त्रयस्त्रिशता-स्तुवत' इत्यादौ तु त्रयस्त्रिशत्संख्यायाः किमप्यन्यद् व्याख्यानं कृतं शतपथेनाऽन्यत्र, तद्भवतु का नाम तत्राऽऽपत्तिः? व्याख्यानान्तरं तन् नाऽसौ विरोधः, यतः कस्यापि विषयस्य अनेक-विधव्याख्यानं न विरोध उच्यते। किञ्च ऋषिणा यजुर्वेदे 'त्रयस्त्रिशता' मन्त्रस्य-महाभूतानां त्रयस्त्रिशद्भि र्गुणैः परमेश्वरस्य स्तुतिः कार्या इत्यपि व्याख्यानं कृतमस्ति, तद्व्याख्यानेऽपि न कश्चन विरोधः अनेक व्याख्यानानि तु प्रतिपाद्यस्य गौरवमेव वर्धयन्ति, अतोऽत्र विरोध-कथनं न युक्तम्।

(पृ० ६१२ अनु० १) पू. प. अथर्वमन्त्राभ्यां तु त्रयस्त्रिशद्देवा

(पृ० ६११ अनु० १) आक्षे०—भूमिका के इस प्रकरण में तेंतीस देवताओं का प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोक्त स्थल से विरोध होगा।

[समा०] आपका यह कथन पाठकों की आंखों में धूल झोंकना है, क्योंकि यहाँ शतपथ ने स्पष्ट रूप से अष्टौवसवः इत्यादि नाम लेकर तेंतीस देवताओं की गिनती की है। फिर भी उसका नकार करना प्रत्यक्ष का अपलाप है। यदि यजुर्वेद के 'त्रयस्त्रिशंता' मंत्र का शतपथ ने [८।४.३।१-२ १८,१९] में कुछ और व्याख्यान कर दिया है, तो वह कोई विरोध नहीं है, क्योंकि किसी विषय में अनेक-विध व्याख्यान विरोध नहीं कहलाता। दूसरी बात यह भी है कि ऋषि ने 'त्रयत्रिशंता' मन्त्र का ही व्याख्यान यह किया है कि महाभूतों के तेंतीस गुणों से परमेश्वर की स्तुति करनी चाहिये। इस व्याख्यान में भी कोई विरोध नहीं। अनेक सद् व्याख्यानों से व्याख्येय का गौरव ही बढ़ता है विरोध नही। अतः यहाँ विरोध समझना ठीक नहीं है।

(पृ० ६१२ अनु० १) आक्षे०—अथर्व के ऊपर उद्धृत दो मन्त्रों में

यस्य स्कम्भस्याङ्गगात्राणि भवन्तीत्युक्तम् । एतेनाऽपि देवतानां विशिष्टैश्वर्यशालिनीनां हिरण्यगर्भरूपा मुख्यदेवता अन्यास्तदङ्गभूताः सिध्यन्ति ।

'(उ० प०) त्रयस्त्रिशद् देवानाम् मुख्यस्य स्कम्भस्याङ्गभावः निरुक्तेन स्पष्टीकृतो यद् एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति इति अर्थात् ते सर्वेदेवा एकस्यैव स्कम्भस्य परमात्मनः अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्तया तस्यैव सामर्थ्यस्यैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति । हिरण्यगर्भरूपश्च परमात्मा मुख्यो देव इति न काचिद् विप्रतिपत्तिः । परमेश्वरस्य हिरण्यगर्भत्वे च 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादिप्रमाणम् । अतस्ताभ्यामपि अथर्वमन्त्राभ्यां (अथर्व कां० १०।७।२३, २७) त्रयत्रिशद्देवानां प्रतिपादनं समुचितमेव ।

(पृ० ६१३ पं० १०) आक्षे०—इन्द्रस्य हि तत् कर्म तेन न विद्युन्मात्रस्येन्द्रत्वम् ।……कतमो यज्ञ इति प्रश्नस्योत्तरं पशव इति । यज्ञस्य साधनानि पशवः, यज्ञस्यामूर्त्तत्वात् साधनातिरिक्तरूपाभावाद्

भी उस आधारभूत परमेश्वर-काय के ये तेतीस देवता अंगरूप में प्रतिपादित हैं । इस प्रकार यहां पर विशिष्ट ऐश्वर्यशाली देवगण में हिरण्यगर्भ मुख्य देवता और अन्य अङ्गदेवता कही गई हैं ।

(समा०) तेंतीस देवों के मुख्यस्कम्भ (परमात्मा) के अङ्ग भाव को निरुक्त में स्पष्ट किया है कि एक ही परमात्मा के अन्यदेव प्रत्यङ्ग होते हैं' अर्थात् वे सब देव उस एक ही व्यापक परमात्मा के प्रत्येक अङ्ग को शोभित करते हैं । इस निरुक्ति से उस परमात्मा की सामर्थ्य के एक देश में प्रकाशित होते हैं । परमात्मा 'हिरण्यगर्भः रूप मुख्य देव है, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि ' हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि वेद मन्त्र इसमें प्रमाण है । इसलिये अर्थववेद के (कां०।१०।७/२३/२७) दोनों मन्त्रों में तेंतीस देवों का ही प्रतिपादन ठीक ही किया गया है ।

(पृ० ६१३ पं. १०) आक्षे०—इन्द्र का निश्चय ही वह कर्म है कि वह प्राणियों को मार डालता है । अतः केवल विद्युत् को इन्द्र नहीं कहा जा सकता । ..यज्ञ कौन सा हैं ? उत्तर है 'पशु' । यज्ञ के साधन पशु हैं, यज्ञ अमूर्त है । साधन के अतिरिक्त इसका कोई स्वरूप नहीं और यज्ञ पशु पर

पश्वाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते, कारणे कार्योपचारात्। दयानन्दस्तु प्रजापालन-हेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा' इत्याह, तत्तूपेक्ष्यमेव।

(समा०) भोः स्वामिन्! तत्र शतपथे प्रश्नः कृतः कतम इन्द्रः? कतमः प्रजापतिरिति? उत्तरं चैतत् स्तनयित्नुरेव इन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति। पुनस्तत्र प्रश्नोत्तरं, कतमः स्तनयित्नुः? अशनिरिति, कतमो यज्ञः? पशव इति। अयमेवार्थ ऋषिणा सरलतया गृहीतः। स यज्ञस्य पशूनाञ्च प्रजापतित्वे हेतुमाह—प्रजापालन-हेतुत्वादिति। गौणवृत्त्या (परम्परया) पशूनामपि प्रजापतित्वं सिध्यत्येव, यतोहि प्रजापतिर्यज्ञः, यज्ञश्च पशव इति प्रोक्तम्। यच्चोक्तं—न विद्युन्मात्रस्येन्द्रत्वमिति तन्न युक्तम्। इह 'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः' इति शतपथे अवधारणार्थकस्य 'एव' शब्दस्य पाठाद् विद्युन्मात्रस्यैवेन्द्रत्वमत्र युक्तम्।

किञ्चाक्षेपकर्त्तुर्मस्तिष्के कस्यचित्साकारस्य स्वर्गस्थस्य चेतनस्येन्द्रस्य कल्पना वर्त्तते। येनेदमुपेक्ष्यमिति वक्ति यस्यवर्णन-

---

आश्रित है। अतः कहा जाता है कि पशु यज्ञ है। यहाँ पर कारण में कार्य का औपचारिक प्रयोग होता है। दयानन्द ने यहाँ कहा है कि प्रजा का पालन कर सकने के कारण पशु और यज्ञ को यहाँ पर गौण रूप से प्रजापति कहा गया है, यह ठीक नहीं।

(समा०) महाराज! शतपथ में प्रश्न है कि इन्द्र कौन है? उत्तर है बिजली (स्तनयित्नु) ही इन्द्र है। प्रजापति कौन है? उत्तर है यज्ञ प्रजापति है। फिर प्रश्नोत्तर है स्तनयित्नु कौन है? अशनि है। यज्ञ कौन है? पशु यज्ञ हैं। इसी अर्थ को ऋषि ने सरल रुप में लिया है। यज्ञ और पशु के प्रजापति होने में हेतु दिया है प्रजा का पालन। अतः गौणवृत्या (परम्परा) से पशुओं का भी प्रजापतित्व सिद्ध है, क्योंकि प्रजापति यज्ञ और यज्ञ को पशु कहा है। यहाँ आपने यह जो कहा कि 'बिजलीमात्र का इन्द्रत्व नहीं हैं,' ठीक नहीं, क्योंकि शतपथ में 'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः यहाँ अवधारणार्थक 'एव' शब्द का पाठ होने से इन्द्र का अर्थ विद्युत् ही है, ऐसा मानना पड़ेगा।

यहाँ पर ज्ञात होता है कि आक्षेप-कर्त्ता के मस्तिष्क में किसी साकार स्वर्गस्थ चेतन 'इन्द्र' की कल्पना है, जिस कारण से विद्युत् अर्थ की उपेक्षा की

ममरकोषे अस्ति शची यस्य भार्या, पुत्रो जयन्तः वज्रमस्त्रम्, वाहनमैरावतो हस्ती, पुरी अमरावती, नन्दनश्च वनमिति वर्णितम्, परं तत्तु वस्तुतः आलङ्कारिकमेव न वास्तविकमिति सामश्रमी महोदयः स्पष्टं प्रोक्तवान्, तथाहि :—'एवमपि पुराणादौ अग्न्यादीनां सर्वेषामेव देवानां स्वर्गस्थत्वं, तत्राऽपि पृथक् 'पृथक्' लोक संस्थत्वं यद् वर्णितं तदवास्तविकम् । अपि च तेषां पुत्र-कलत्र-गोत्रादिमत्वं, यानाशन-रागद्वेष-सन्तोषादिमत्वं चैतत् सर्वं रूपकादिजं, कल्पनाप्रसूतं कविकर्मैव ।······पौराणिकदेवताऽऽकारादिकल्पनाऽपि नूनं वेदविज्ञानग्रहणासमर्थमतीनां स्त्रीशूद्र-द्विज-बन्धुरूपाणां बालधियां धर्मोपदेशादिसाहाय्यायैव । तथैव विद्यापद-पर्यायवेदाध्ययनहीनाः बालाः कल्पित-देव-स्वरूपादौ विश्वसन्त्येव, परं न तथा देव-स्वरूप-प्रत्यक्ष-दर्शिनो विद्वांसो वैदिकाः ।' (ऐतरेया० पृ० १७०)

अथापि इन्द्रविषयक-भ्रान्त्यपनयनाय विशिष्टं प्रस्तूयते । तथाहि सूर्यस्याप्यन्यतमं नाम इन्द्र इति यथाहि निरुक्ते—इन्दवे द्रवतीति वा,

---

बात कही है । जिसका वर्णन अमर कोष में यथा इन्द्राणी उसकी पत्नी है, पुत्र जयन्त है, वज्र अस्त्र है; वाहन ऐरावत हाथी है, नगरी अमरावती है और नन्दन वन है' ऐसा किया है । परन्तु वास्तव में यह सब आलंकारिक है, जैसा कि सामश्रमी महोदय ने स्पष्ट कहा है:—'इस प्रकार पुराण आदि में सब अग्नि आदि देवताओं का स्थान स्वर्ग है, वहाँ पर भी पृथक्-पृथक् जो लोक संस्थत्व वर्णित है, वह सब अवास्तविक है । इसी प्रकार अनेक पुत्र कलत्र आदि का होना, यान, अशन, राग, द्वेष, सन्तोष आदि का होना यह सब रूपक है और कल्पना-जन्य कवि का कर्म है ।······पौराणिकों की देवताओं के आकार की कल्पना भी निश्चित ही वेद-विज्ञान के ग्रहण करने में असमर्थ बुद्धि वाले, बालबुद्धि स्त्री शूद्र द्विज बन्धुओं की धर्मोपदेश की सहायता के लिये ही है । इसी प्रकार विद्यापद के पर्यायवाची वेद के अध्ययन से शून्य बालक, देवताओं के कल्पित स्वरुप में विश्वास करते हैं । प्रत्यक्ष स्वरूप के दर्शन के इच्छुक वैदिक विद्वान् विश्वास नहीं करते । (ऐतरेया. पृ.१७०)

इसके अतिरिक्त इन्द्र विषयक भ्रान्ति को हटाने के लिये कुछ विशेष कथन प्रस्तुत है, जैसे कि सुर्य का भी एक नाम 'इन्द्र' है । निरुक्त में इसकी

इन्दौ रमते इति वा, इन्धे भूतानि इति वा स इन्द्रः (निरु० १०।१।८) अर्थात् इन्दु सोमं पातुं द्रवति, इन्द्रौ सोमे रमते इति, भूतानि स्थावरजङ्गमानि इन्धे दीपयति चेति इन्द्रः सूर्य इति हि तदर्थः।

अधियज्ञपक्षे 'इन्दु' शब्दस्य सोमवल्लीरसोऽर्थो गृह्यते। अधिदेवत पक्षे तु इन्दुश्चन्द्रमा ग्राह्यः, अतएव श्रुतं 'इन्द्रः सोमस्य काणुका' इति, अत्राह, गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।' इति (ऋग् सं० १-८४-१५) सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इति च (वा० सं० १८।४०)। निरुक्तकारेण चैतत्स्पष्टीकृतं—'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपोक्षितव्यम् आदित्यतोऽस्य दीप्ति र्भवतीति (नि० २।२।२)।

असावेव इन्द्रः सहस्ररश्मिरिति सहस्राक्षोऽपि वा उच्यते। स चायं द्युस्थ इन्द्र उत्तमः कथ्यते अन्तरिक्षस्थ इन्द्रस्तु मध्यमः।

तदेत्तयोरुत्तममध्यमयोरिन्द्र इत्येकनामानुरोधादभेद उपचरितोऽपि दृश्यतेऽनेकत्र। तत एवामरसिंहेनापि उभयेन्द्रनामान्येकपर्यायत्वेनोपनिबद्धानि यथा :-

इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः।'

आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षाः' इति (अमर को० १. १. ४१-४४)

निरुक्ति है इन्दु के लिये जो द्रवित होता है या इन्दु में रमता है या भूतों को दीप्त करता है अर्थात् वह इन्दु को सोमपान के लिये द्रवित करता है, इन्दु अर्थात् सोम में रमण करता है। स्थावरों और जङ्गमों को दीप्त करता है यह 'इन्द्र' सूर्यार्थक है।

अधियज्ञ पक्ष में 'इन्दु' का अर्थ सोमवल्ली-रस गृहीत होता है। और आधिदैवत पक्ष में चन्द्रमा। यह (ऋग् १।८४।१५) तथा (वाज स. सं. १८-४०) में वर्णित है निरुक्तकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि सूर्य की एक किरण चन्द्र में प्रकाशित होती है, फलतः चन्द्र की दीप्ति सूर्य से होती है। (नि० २।२।२)। यह इन्द्र सहस्ररश्मि और सहस्राक्ष भी कहलाता हैं यह द्युस्थानी इन्द्र (सूर्य) उत्तम है और अन्तरिक्ष स्थानी इन्द्र (विद्युत)मध्यम कहलाता है।

इस प्रकार इन उतम और मध्यम का एकनामानुरोध से अभेद अनेकत्र

एषु श्लोकेषु पञ्चत्रिंशदिन्द्रनामानि ज्ञापितानि। तत्र दिवस्पतिः वास्तोष्पतिः, सुरपतिः, हरिहयः, स्वराट्, आखण्डलः सहस्राक्षः इत्यादीन्युत्तमेन्द्रनामानि। मरुत्वदादीन्यपराणि तु मध्यमेन्द्रस्येति वोध्यम्। यच्च प्रसिद्धमिन्द्रपत्न्या नाम शचीति (अमर को० १-१-४५) यतश्चेन्द्र उच्यते शचीपतिरिति, तदपि कल्पितम्।

अस्ति निघण्टौ वाङ्नामसु पठितं शचीति (निघ० १-११-४६)। वाचोऽप्यन्तरिक्षस्थत्वेन इन्द्रसहचारित्वमपि भवत्येवेति स्वीकार्यम्। यदा चेन्द्रकृतान् मेघचालनान्मेघविदारणाच्च वृष्टिर्जायते, तदा तद्वाण्यपि तत्सहैव श्रूयत इत्येव सा माध्यमिकी वाक् मध्यमस्येन्द्रस्य सहधर्मिणीत्युपचर्यते। तथा च 'नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्। इति (ऋ,सं० ८-३२-१५)। अस्य वागधिपतेर्मध्मेन्द्रस्य 'सूनृतानां, प्रियसत्यात्मिकानां 'शचीनां, वाचां नियन्ता नियोगकारी 'न किः, न कोऽप्यन्यः, अपितु ता इन्द्रवाचः स्वत एव प्रवृत्ता आधिपत्यं कुर्वन्तीति हि तदर्थः।

एवञ्च वायोर्घात-प्रतिघातनैवाकाशाच्छब्दोत्पत्ति-स्वीकारात्

उपचरित है। वहीं से अमर सिंह ने उभयेन्द्र नाम पर्यायत्वेन सङ्कलित कर लिये है यथा-इन्द्र, मरुत्वान्, मघवा आदि। इन श्लोकों में ३५ नाम गिनाये हैं। दिवस्पति, वास्तोष्पति, सुरपति, हरिहय, स्वराट्, आखण्डल, सहस्राक्ष इत्यादि उत्तम इन्द्र के नाम हैं। मरुत्वान् आदि मध्यम इन्द्र के नाम हैं। जो इन्द्रपत्नी का नाम 'शची' है जिससे इन्द्र को शचीपति कहते हैं, वह भी कल्पित है।

निघण्टु में वाक् नामों में 'शची' शब्द पढ़ा है, और वाणी की भी अन्तरिक्षस्थ होने से इन्द्र की सहचारिता स्वीकार्य है। जब इन्द्रकृत मेघचालन से और मेघों के विदारण से वृष्टि होती है, तब उसकी वाणी भी सुनाई पड़ती है, यही वाक् मध्यम इन्द्र की सह-धर्मिणी के रूप में उपचरित होती है। (ऋग्वेद ८।४२।१५) में कहा है कि इस वागधिपति मध्यम इन्द्र की 'सूनृता' अर्थात् प्रिय सत्यात्मिका 'शची' है। अर्थात् इन वाणियों का नियन्ता कोई अन्य नहीं अपितु वे इन्द्र-वाणियाँ स्वतः ही प्रवृत्त होकर आधिपत्य करतीं हैं।

वायु के घात और प्रतिघात से ही आकाश से शब्दोत्पत्ति स्वीकृत की

वायोरन्तरिक्षस्थत्वेन मेघदारकत्वेन च माध्यमिकेन्द्रत्वमिति स्वीकाराच्च स वायुरूप एव इन्द्रः शचीपतिरुच्यते ।

किञ्च अपरमप्यस्ति तत्र निघण्टौ २।१।२२) कर्मनामसु पठितं शचीतिपदम् । सर्वेषां च कर्मणामधिपतिः सूर्य एव, सविता वै प्रसवा नामीशे"—इति (ऐत० १-३-५) श्रुतेः । तत्तापाभावादेव जीवशरीरं मृतं भवतीति च दृष्टं लोकवेदयोः, अतः सोऽप्याख्यायते शचीपतिरिति । तथा च तन्निगमः

"द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ।" इति (ऋ० सं० १-६२-१२)

अन्यच्चास्ति निघण्टौ प्रज्ञानामस्वपि पठितं शचीति पदम् (३-९-८) । ततः प्रज्ञावन्तो यजमानादयोऽपि शचीपतय एव ।

"याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत" इति (ऋ० सं० ३।६०।२) ।

अथाप्येवं यजमानादिवाचकत्वे शचीपतिवहुत्वेऽपि इन्द्राण्याः न बहुत्वं वेदेषु । तद्यथा

इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये ।

अग्नायीं सोमपीतये—इति (ऋ० सं० १-२२-१२) ।

गई है । इस प्रकार वायु के अन्तरिक्ष में स्थिति होने तथा मेघविदारक होने से माध्यमिक इन्द्र वायु को ही शचीपति कहा जाता है ।

निघण्टु (२।१।२२) में कर्मनामों में दूसरा 'शची' पद पढ़ा गया है । सब कर्मों का अधिपति सूर्य है, (ऐत. २-३-५) उसके तापाभाव से जीव का शरीर मृत हो जाता है, ऐसा लोक और वेद में देखा गया है । इस लिये वह (सूर्य) भी शचीपति कहलाता है । जैसा कि 'द्युमाँ असि-(ऋक् १।६२।१२) में प्रकट है ।

निघण्टु में प्रज्ञा नामों में भी 'शची' पद पढा गया है, (३.९-८) तब प्रज्ञावाले यजमान आदि भी शचीपति हुये इस विषय में यह ऋचा (ऋ.३-६० २) भी देखिये ।

इतने पर भी शचीपति-बहुत्व होने पर भी इन्द्राणी का वेदों में बहुत्व

अत्रेन्द्राणीत्युत्तमायाः, वरुणानीति मध्यमायाः अग्नायीति प्रथमाया एव देवशक्तेर्ग्रहणमिष्टम् । किञ्चान्यत्रैवमाम्नातम्

'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।

नह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।' (ऋ० सं० १०-८६-११) इति ।

तदत्र सूर्यस्य चिरमेकरूपत्वेन विद्यमानत्वात् तच्छक्तेरिन्द्राण्या अवैधव्यप्रवाद-मूलम् । माध्यमिकेन्द्रस्य मेघचालकवायोर्हि वर्षप्रति-रूपभेदात् तच्छक्तेः सुभगात्वायोगान्नास्ति इन्द्राणीति समाख्या, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरश्च सूर्य एव, न माध्यमिक इति च ध्येयम् ।

एवमपि यदमरसिंहेन शची-पर्यायत्वेन श्लोकितमिन्द्राणीति, तदिन्द्र-शब्दार्थैक्यभ्रमादेव । एवं 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः, (१-१-१८ २२, इत्यादिषु विष्णुपर्य्यायेष्वपि, परं विष्णुरिति सूर्यनाम, नारायण इति वायुनाम, कृष्ण इति मनुष्यनाम, तदेवमादयः पौराणिक-कालज-भ्रमा बोध्या इति दिक् ।

नहीं हैं । जैसे 'इहेन्द्राणी (ऋ. १.२२.१२) यहाँ इन्द्राणी उत्तम, वरुणानी मध्यमा तथा अग्नायी प्रथमा देवशक्ति का ग्रहण है ।

अतः अन्यत्र (ऋ. १०, १२६, ११) सूर्य के चिरकाल तक एक रूप में विद्यमान रहने से उसकी शक्ति इन्द्राणी का भी चिर सुभगत्व कहा है । यही इन्द्राणी के अवैधव्य-प्रवाद में मूल है । माध्यमिक-इन्द्र, (मेघचालक) वायु का प्रतिवर्ष रूप-भेद होने से उसकी शक्ति सुभगात्व का योग न होने से 'इन्द्राणी' यह समाख्या नहीं है सबसे श्रेष्ठ इन्द्र सूर्य है न कि माध्यमिक, यह ध्यान रखना चाहिए ।

इस प्रकार भी अमरसिंह ने 'शची' के पर्याय रूप में 'पुलोमजा शचीन्द्राणी यह श्लोक बनाया है, यह इन्द्र शब्द के अर्थैक्य के भ्रम से किया है । इस प्रकार 'विष्णु, नारायण और कृष्ण, विष्णु पर्य्यायों में पढ़े हैं । वस्तुतः विष्णु सूर्य-नाम, नारायण वायु-नाम, कृष्ण मनुष्य नाम हैं, परन्तु उक्त प्रकार के पौराणिक काल के अनेक भ्रम हैं ,

इस प्रकार इन्द्रादि देवता वाले मन्त्रों में बहुत स्थानों पर जो उनकी पुरुषाकार की विग्रह (शरीर) वत्ता. हिताहित लक्षण वाली चेतनावत्ता, चेतना-

नन्वेवमिन्द्रादिदैवतमन्त्रेषु बहुत्रैव यत्तेषां पुरुषाकार-विग्रहवत्त्वम्, हिताहितविवेकलक्षणचेतनावत्त्वम्, चेतनावत्पुरुषव्यवहार्यद्रव्यान्वितत्वम्, तादृशकर्मकर्तृत्वञ्च गम्यते, तत् कथमुपपद्यते ? इति चेदत्र निरुक्तकारो यास्क एव दत्तोत्तरः । तथाहि :—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरमपितु यद् दृश्यतेऽ पुरुषविधम् । तद्यथाऽ ग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति" तथा चैषामग्न्यादीनां पुरुषाकार-विग्रहवत्त्वं प्रत्यक्षविरोधान्नेत्येव सिद्धान्तितम् । तदेवं मन्त्रेषु यदेषां पुरुषविधत्वमुपलभ्यते, तत्काल्पनिकमेवेति ।

अथ चेतनावत्त्ववर्णनं च तेषां तथैवेत्याह अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्ष-प्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि इति । अथाऽयुधादि द्रव्यान्वितत्व-श्रवणमपि तेषां तथैवेत्याह एतदपि तादृशमेव, सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्" इति नदी स्तुतिः तथा कर्मकर्तृत्वमपि तेषां तथैवेत्याह— 'एतदपि तादृशमेव । यथा'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिः । (निरु० ७-२-३)

सम्प्रति सुधियो निर्णेष्यन्ते यन्महर्षि-दयानन्दकृत एवार्थः सत्योऽस्ति, वेदार्थ-पारिजातकृतस्त्ववास्तविकः कपोलकल्पनामूलकश्च । "दयानन्दस्तु प्रजापालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा' इत्याह तत्तूपेक्ष्यमेवेति तत्तूपेक्ष्यमेव ।"

युक्त पुरुष के व्यवहार-योग्य द्रव्यवत्ता और वैसे कर्म का कर्त्तृत्व ज्ञात होता है, वह कैसे उत्पन्न होता है ? इस पर निरुक्तकार कहते हैं (७-३-३) यथा अपुरुषविध अग्नि, वायु, आदि आदित्य, चन्द्रमा-इनका पुरुषाकारत्व प्रत्यक्ष-विरोधी है । मन्त्रों में जो पुरुषविधत्व उपलब्ध होता है, वह काल्पनिक ही है, और उनका चेतनावत्त्ववर्णन उसी प्रकार है, यथा 'अचेतन की भी चेतनवत् स्तुति की जाती है, जो अक्षादि से लेकर ओषधि पर्यन्त हैं' और आयुधादि का द्रव्यत्व श्रवण भी उसी प्रकार (नदी स्तुति में) हैं तथा ग्राव (पाषाण) स्तुति में भी कर्मकर्त्तृत्व है ।

अब बुद्धिमान् व्यक्ति निर्णय करलेंगे कि महर्षि दयानन्द–कृत अर्थ ही सत्य है और वेदार्थ-पारिजातकर्ता का अर्थ अवास्तविक और कपोल कल्पित है ।

(पृ० ६१३ अनु० ३) यदुक्तं 'प्रकृते पशूनां यज्ञत्वमेवोक्तं न प्रजापतित्वम्, इति (उ० प्र०) तदसत्, 'यज्ञः प्रजापतिरिति पाठस्यात्रैव महता कण्ठरवेणोक्तत्वात्।

(पृ. ६१६) यदुप्यच्यते "स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते" इत्यस्य व्याख्यानं दयानन्देन ऋषिणा न कृतं तदर्थाज्ञानात्" इति। तदप्ययुक्तमेव, ऋषिणा यावदावश्यकस्य संक्षेपेण तत्र व्याख्याततत्वात्। उपास्यत्वस्य च यदा प्रश्न उद्भवति तदा नेमे देवा उपास्याः, केवलं ब्रह्मैवोपास्यमित्याशय ऋषेः।

तथा चाग्रे बृहदारण्यकेऽपि (३।६।२६) शङ्कराचार्येण स्वयमेवा कल्पितम्, "एतदुक्तं भवति शरीरहृदयवायवोऽन्योन्य-प्रतिष्ठाः, सङ्घातेन नियता वर्त्तन्ते विज्ञानमयार्थप्रयुक्ता इति। सर्वमेतद् येन नियतं यस्मिन् प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं प्रोतं च, तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मणो निर्देशः कर्त्तव्य इत्ययमारम्भः" इति।

(पृ०६१३) यह कथन कि दयानन्द ने यहाँ कहा है कि प्रजा का पालन कर सकने के कारण पशु और यज्ञ को यहाँ पर गौण रूप से प्रजापति कहा गया है यह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृत में पशुओं का यज्ञत्व ही कहा गया है न कि प्रजापतित्व। सो यह करपात्र-कथन असत्य और अनाधार है, क्यों कि 'यज्ञः प्रजापतिः, यह पाठ उच्च स्वर से यहीं किया गया है।

(पृ०६१६) यह कथन कि 'स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते' इसका व्याख्यान स्वा० दयानन्द ने उसका अर्थ न जानने के कारण नहीं किया, ठीक नही है, यह तो आपका अज्ञान है, ऋषि ने प्रसङ्गवश जितना आवश्यक समझा संक्षेप से व्याख्यात कर दिया। उपास्यत्व का जब प्रश्न उठे तब ये उक्त ३३ देव उपास्य नही हैं, केवल ब्रह्म ही उपास्य है वहाँ यह आशय है।

आगे बृहदारण्यक (३।६।२६) में भी शंकर ने स्वयं विचार किया है यहाँ कहा गया है कि शरीर, हृदय और प्राण ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमय के लिये प्रयुक्त होकर संघात रुप से नियत हैं। यह सब जिसके द्वारा नियत है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं और जिसमें आकाश पर्यन्त सब ओत प्रोत हैं, उस निरुपाधिक साक्षाद् अपरोक्ष ब्रह्म का निर्देश करना है, इस लिये यह आगे, प्रारम्भ किया जाता है"।

स प्राणोऽपरं ब्रह्मेत्याचक्ष्येत, परं परब्रह्मत्वेन "स एवैको देवश्च-तुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्त-प्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्" इति प्रोक्तं महर्षिणा, प्रमाणं चेहोपन्यस्तम् तेन ।

"योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (श. कां १४ अ. ४) । तदेवमनेन बहुदेवतोपासना-खण्डनमेव व्यधायि स्वामिना । प्राणवाङ् मन आदीनां ब्रह्मत्वेऽपि उपास्यत्वे तु परब्रह्मैवेति सिध्यति । ओ३म् खं ब्रह्मेत्यादिवेदवचनैर्ब्रह्मण एवोपासनातिशयस्य तत्र कथनीयत्वात् ।

किञ्च, अग्न्यादयः देवा अन्तश्चेतना विग्रहवन्तश्चेत्युक्तिस्तु भवतोऽज्ञानविजृम्भितैव । सद्य एवोपरि सप्रमाणमेषां चैतन्यं विग्रहवत्त्वञ्चाऽपि कल्पितत्वादवास्तवमेवेति साधितम् ।

जडार्चनापरायणास्त्रयस्त्रिंशतामपि देवानामीश्वरस्थाने उपासनां विदधति, अतो देवचर्चा-प्रसङ्गे प्रश्नमुद्भाव्य स्वामिदयानन्द उपास्यं निर्दिशति समाधाने देवदेवं परेशमिति ।

न कापीहाप्रासङ्गिकता । प्रश्नोद्भावने तु बीजमिह, अथर्ववेदे

वह प्राण अपर ब्रह्म कहा जाता है, परन्तु परब्रह्मरुप से वही एक उपास्य है, अतः ऋषि दयानन्द ने लिखा कि 'वही एक चौंतीसवां देव वेदोक्त सिद्धांतों से प्रकाशित परमेश्वर देव सबका उपास्य है, यह मानना चाहिए। इसमें प्रमाण दिया कि जो अन्य देवों की उपासना करता है वह देवों का पशु है, इसके द्वारा स्वामी जी ने बहुदेवोपासना का खण्डन कर दिया । प्राण, वाणी, मन आदि का ब्रह्मत्व होने पर भी उपास्य देव वह परब्रह्म ही है । ओ३म् खं ब्रह्म' आदि वचनों से उसी की उपास्यता की अतिशयता है ।

'अग्नि आदि देव अन्तश्चेतना वाले शरीरधारी है, यह आपका कथन अज्ञानजनित है, अभी ऊपर ही इन देवों का चेतनत्व और शरीरधारी होने का खण्डन किया गया है ।

जड़ पूजा-परायण लोग ३३ देवों की भी ईश्वर के स्थान पर उपासना करते हैं, अतः देव-चर्चा के प्रसङ्ग में स्वामी जी प्रश्न उद्भावित कर समाधान में देवाधिदेव परमेश्वर का उपास्यत्वेन निर्देश करते हैं ।

(उद्धरणे) देवताचर्चायां २२ तमं मन्त्रं यावत् 'स्कम्भं तं ब्रूहि' इत्यात्मकेनांशेन सकल-विश्वधातुर्जिज्ञासा कृता। २३ तमे च मन्त्रे प्रश्नोऽस्ति यत् को विजानाति संसार-कोशं यं देवा अभिरक्षन्ति ? एवमिह स्वाभाविकः प्रश्नोद्भवः यत् किमुपरि वर्णिताः समेऽपि देवा उपास्याः ? (२४ तमे) मन्त्रे च समाधानम् यत् 'यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्मज्येष्ठमुपासते' इदमेव च स्वामी दयानन्दः शतपथ व्याख्यायां प्रस्तौति, तत् सर्वथा प्रसङ्गमेवानुबध्नाति न वैदिकशब्द बहिर्भूतं किमपि।

यच्च (पृ. ६११ पं० १६) उच्यते 'नात्र त्रयस्त्रिंशत् संख्यानां देवानां प्रतिपादनम्' तदसत्, यतोहि स्वामिदयानन्दस्तु (शत० १४।६।३-७, ९, १०) स्थलं सन्दृभ्णाति, कः प्रसङ्गः पुनर्विरोधस्य ?

किञ्च, यदुक्तं (पृ० ६१५ पं० १५) 'नात्र मध्येऽकस्मादेव किमेते सर्वे एवोपास्याः सन्तीति प्रश्नः सम्भाव्यते, इति तु तद्वचसोऽनुर्वरमस्तिष्कोद्भूतत्वात्। दूरदर्शी आचार्यो दयानन्द इच्छति यदल्पमतिका अन्यत्रजडदेवोपासनरताः न भवेयुरिति एकस्यैव देवस्य समुपासनं वेद-

---

आपकी कथित अप्रासङ्गिता यहाँ कुछ भी नहीं है। स्वामी जी द्वारा प्रश्न उठाने में कारण इस उद्धरण के प्रासङ्गिक अथर्ववेद में देवता-चर्चा में २२ वें मन्त्र तक 'उस स्कम्भ को बताओ' इस अंश के द्वारा सकल विश्व के के धारक की जिज्ञासा की गई है और २३ वें मन्त्र में यहाँ प्रश्न है कि उस निधि को कौन जानता है जिसकी सब देवता अभिरक्षा करते हैं। इस प्रकार यहाँ उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या ऊपर वर्णित सब देव उपास्य हैं ? २४ वें मन्त्र में समाधान किया है कि विद्वान् ब्रह्मज्ञानी सब में ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं,।

स्वामी दयानन्द शतपथ की व्याख्या में यही बता रहे है, यह बताना सर्वथा प्रसङ्गोपात्त है। वैदिक शब्दों से बहिर्भूत कुछ नहीं है। और पृ० ६११ पंक्ति १६ में यह कहना कि यहाँ ३३ संख्याक देवताओं का प्रतिपादन नहीं है यह बात असत्य है। स्वामी जी ने शतपथ (१४।६।३।७, ९, १०) स्थल का सन्दर्भ दिया है। फिर विरोध का क्या प्रश्न ? और पृ० ६१५ प० १५ में यहाँ मध्य में अकस्मात् क्या ये सभी देव उपास्य हैं ? यह प्रश्न ही सम्भव नहीं है, यह कथन, अनुर्वर मस्तिक का हो सकता है। दूरदर्शी आचार्य दयानन्द

विहितं स्मारयति । ऋषिणा तु सर्वत्र उपासनायाम् प्रजापत्यादिशब्दैः ईश्वरार्थ एव गृह्यते, ततः 'त्रयस्त्रिंशतास्तुवत' इति प्रमाणं परमेशस्तवन एव प्रस्तुतम् ।

(पृ० ६१६ अनु० २) यदुच्यते 'सगुणसाकारब्रह्मरूपेण (पर ब्रह्मापि उपास्यते" इति, तदयुक्तम्, ब्रह्मणः साकारत्वे सावयवत्वे च विनाश्यत्वापत्तेः । नहि विनश्वरः पदार्थो मोक्षकामिन उपास्यो भवितुमर्हति । नो वाऽभिप्रायः क्वापि विग्रहवच्छब्दस्य भोगायतनं-शरीरमिति, विदुषोजनान् ब्रह्म चातिरिच्यान्यसूर्यादयो देवा अचेतना एव । किञ्च—

प्रासङ्गिकं समुपयुक्तमृषेर्वचस्त्वम्,
आत्थाऽ प्रसङ्गकमयुक्तमयुक्तमेतत् ।
किञ्चिद् विचारय सखे ! यदसूयया वै,
पश्यस्यनल्प-गुणगर्वित-वाचि दोषान् ।।

(पृ० ६१० अनु० ३) भूमिका पाठ :—'देव शब्दे दिवुधातोः क्रीडा विजिगीषादिरूपा सर्वेऽर्थाः सङ्गच्छन्ते ।......तस्य सर्वानुषङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात् ।

चाहते हैं कि अल्पबुद्धि लोग अन्य जड़ देवों की उपासना में रत न होवे, अतः एक ही देव की उपासना वेद विहित है, यह स्मरण दिलाते हैं । महर्षि ने तो सर्वत्र उपासना ज्ञान कान्ड में प्रजापत्यादि शब्दों से ईश्वरार्थ ही ग्रहण किया है । तब त्रयस्त्रिशतास्तुवत, मन्त्र में भी परमेश्वर स्तवन ही माना है ।

(पृ० ६१६ अनु० २) 'सगुण तथा साकार ब्रह्म रूप से ब्रह्म की उपासना की जाती है, यह कथन अवैदिक है, क्योंकि ब्रह्म की साकारता और सावयवता मानने पर उसका विनाश भी प्राप्त होने लगेगा । मोक्षार्थी को विनश्वर पदार्थ उपासनीय नहीं हो सकता । कहीं पर भी ब्रह्म की विग्रहवत्ता से भोगायतन शरीर का अर्थ नहीं है । विद्वान् तथा देवाधिदेव परमेश्वर को छोड़ अग्नि, सूर्य आदि सभी अचेतन देव हैं । तथा 'ऋषि दयानन्द के समुपयुक्त प्रासङ्गिक वचन को तुम अप्रासङ्गिक और अयुक्त कहते हो । यह ठीक नहीं । मित्र कुछ तो विचार करो कि अनल्प गुणों से गौरवान्वित वाणी में जो असूया के कारण दोषों को देख रहे हो ।'

अत्राक्षेप :—तदपि यत्किञ्चद्देवशब्दस्य योगरूढस्त्वाङ्गीकारात् अन्यथा द्यूतपरायणा मत्तादयोऽपि देवशब्द व्यपदेश्याःस्युः। सर्वोत्पादकत्वाधारकत्वादिति प्रयोगस्तु निरर्थको गौरवावहश्चेत्यादि।

समा०—इदं कथनं तु तात्पर्यानवगमात्। सर्वोत्पादक-धारकयोः शब्दयोर्विशिष्टार्थ-प्रतिपादकत्वात्। यश्चोत्पादकः स एव धारकोऽपि, उत्पादकत्वे सति धारकत्वमपि परमेश्वरदेवस्यैव सम्भवति। न च तथा कुम्भकारो यत् किमपि रचयति तत्सर्वं धारयति, यन्नाम धारयति न च तत् सर्वमुत्पादयति, इति भेदाऽऽकलनायाऽपि हेतु रयमुक्तः। परमेश्वरदेवः सर्वेषामुत्पादको धारकश्च। न चैकतर प्रयोगेण समग्रं तात्पर्यम् निष्कृष्यते। वेदेऽपि 'सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इत्यत्र धातृत्वेन धारकत्वम्,। 'अकल्पयत्' इत्यनेन च उत्पादकत्वमस्ति।

(पृ०६१७ अनु० ३) भूमिका पाठ 'देव शब्द में दिवु धातु के क्रीडा, विजिगीषा आदि सब अर्थ सङ्गत होते हैं व्यवहार और परमार्थ दोनों में घटते हैं। परन्तु अन्य देवता परमेश्वर द्वारा प्रकाश्य हैं, ईश्वर स्वयं-प्रकाशित है। क्रीडा, विजिगीषा व्यवहार, स्वप्न और मद ये लौकिक व्यवहार सिद्धयर्थ हैं। वह ईश्वर सब में अनुषङ्गी है और उत्पादक व धारक है।, ठीक नहीं अन्यथा द्यूत जुआ खेलने वाले, प्रमत्त आदि भी देवशब्द से गृहीत होने लगेंगे। सबका उत्पादक और धारक कथन करना निरर्थक तथा गौरवावह है।

समा०—उक्त वचन तो तात्पर्य न समझने के कारण है श्रीमान् जी! सबका उत्पादक और धारक इन दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्टार्थ का द्योतक है क्योंकि यहाँ पर जो (सृष्टि का) उत्पादक है वह धारक भी है। उत्पादक होने पर धारक होना परमेश्वर देव का ही हो सकता है। उस प्रकार कुम्हार जिन वस्तुओं को बनाता है उन सबको धारण नहीं कर सकता और श्मश्रु, कुण्डल आदि को धारण करता है निर्माण नहीं करता। इस भेद को समझाने के लिये भी यह हेतु दिया है। परमेश्वरदेव तो सबका उत्पादक और धारक भी है। इन दो में से एकतर के प्रयोग से तात्पर्य नहीं बनता। वेद में भी 'सूर्याचन्द्रमसौ इस मन्त्र में धाता से धारकत्व और अकल्पयत्' से उत्पादकत्व है।

यह जो देव शब्द की योगरूढता आपने कही है, वह रूढता लोकव्यवहार

(पृ० ६१८) यदाह– 'देवशब्दस्य योगरूढत्वमिति" तन्न युक्तं। यतोहि तत् लोक-व्यवहार-प्रयोगे जायते, न तु वेदे, सर्वेषां शब्दानां वेदे यौगिकत्वात्, वेदशब्देभ्यो लोके सञ्ज्ञाकरणत्वाच्च। यच्चोक्त मन्यथा द्यूत-परायणा अपि देवा भविष्यन्ति इति, तदेतत्तु तात्पर्यग्रहे भवतस्त्वभीष्टमेव, भवदभिमतदेवानाम् द्यूतपरायणत्वात्। यथाहि ब्रह्मपुराणे—

शङ्करश्च पुरा द्यूतं, ससर्ज सुमनोहरम्।
कार्त्तिके शुक्लपक्षे तु, प्रथमे चाहनि भूपते॥
जितश्च शङ्करस्तत्र जयं लेभे च पार्वती।
अतोऽर्थाच्छङ्करो दुःखी, गौरी नित्यं सुखोषिता॥
तस्माद्द्यूतं प्रकर्त्तव्यं प्रभाते तत्र मानवैः।
तस्मिन् द्यूते जयो यस्य तस्य संवत्सरः शुभः॥

कथयन्तु, एवंविधमेव रूढिग्रस्तं देवत्वं भवदीप्सितम्? भवान् भीतोऽस्मादेव क्रीडाविजिगीषाद्यात्मकाद् यौगिकादर्थात्। भगवन्! शङ्कराचार्योऽनुसरणीयोऽर्थावबोधेऽत्र, यथा "उद्धवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः" दीव्यति यत्क्रीडति सर्गादिति, विजिगीषति

में प्रयुक्त होने पर होगी, वेद में रूढ शब्द नहीं वेद के यौगिक शब्दों के अर्थों के आधार पर सृष्टि के पदार्थों का नामकरण कर लेने पर वे शब्द रूढ या योगरूढ हो पाते हैं। "द्यूतपरायण भी देव हो जायेंगे, यह आशंकित कथनार्थ तो आपको अभीष्ट ही है, क्योंकि आपके तो देवता भी जुआरी हैं। देखिये ब्रह्म पुराण में—

हे राजन् कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रथम दिन' शंकर ने पहले मनोहर द्यूत (जुआ) चालू किया, पार्वती उसमें जीत गईं और शङ्कर हार गये। इसलिये शङ्कर दुःखी हुये और गौरी प्रसन्न हुईं। इसलिये मनुष्यों को प्रभात काल में जुआ खेलना चाहिए। उस द्यूत में जिसकी जय होगी, उसका संवत्सर शुभ होगा।"

अब कहिए, ऐसा ही रूढिग्रस्त देवत्व आपको अभीष्ट है? आप इसी (निम्न) यौगिक अर्थ से ही तो भयभीत हो गये कि जहाँ पर विजिगीषा और क्रीडा होगी वह द्यूत है। आइये, शङ्कराचार्य का कथन पढ़िये 'जो सृष्टि करके खेलता है, असुरों को जीतना चाहता है, सब प्राणियों में व्यवहार करता

असुरान् व्यवहरति सर्वभूतेष्वात्मवत्तया द्योतते स्तूयते सर्वत्र गच्छति तस्याद्देव इति (शाङ्कर भाष्यम्) ।

यच्चोच्यते 'वेदान्तदृष्ट्या सजातीयादि-भेदशून्ये द्युतिस्तुति-गुणाद्यसम्भवः इति, तत्तूपरिदर्शितशाङ्कर-भाष्य-विरोधात् प्रलाप एव । तत्र द्योतते स्तूयते इत्याद्यर्थदर्शनात् । वस्तुतो भवतो न नवीन-वेदान्तस्याऽपि ज्ञानमविकलम् । अक्षरज्ञानशून्या धनिका भवदीय-शब्दजालजम्बाले हि लग्ना जायन्ते नत्वधीतशास्त्रा विपश्चितः । का ह्यत्र भवतो वेदान्तदृष्टिः ? वस्तुतो वेदानाम् अन्तकृद् भवतोऽत्र दृष्टिः ।

(आक्षे०) यदपि "तत्सत्तया अन्यत्र द्युत्यादयो भवन्तीति तु न विचारसहम्, अन्यगुणैरन्यस्य गुणवत्त्वाऽसम्भवात्"

समा०—नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराध स भवतीति उक्त्या ऋषेराशयराशिमनवबुध्यमानोऽस्ति भवान् ।

और प्रकाशित होता है, तथा जो सर्वत्र जाता या व्याप्त करता वा सब कुछ जानता है" अतः वह विष्णु 'देव' है ।

भूमिका का लेख "द्युति, स्तुति, मोद, कान्ति ज्ञान, प्राप्ति इत्यादि परमेश्वर में ही यथावत् संगत होते हैं, परमेश्वर से भिन्न प्राणी में उसी की सत्ता के कारण गौण प्रयोग होता है ।"

आक्षे०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से सजातीय, विजातीय, स्वगत इन तीनों भेदों से रहित असंग, नित्य, निर्गुण ब्रह्म में उससे भिन्न द्युति, स्तुतिआदि गुणों की सत्ता ही नहीं है ।"

समा० करपात्री जी का यह कथन उनके अवतार शंकराचार्य के भाष्य के विरुद्ध होने से प्रलापमात्र है, क्योंकि शंकर ने 'द्योतते' स्तूयते इत्यादि दिखलाये हैं । वास्तव में आपको तो नवीन वेदान्त का भी ज्ञान नहीं है । अक्षर ज्ञान शून्य धनिक आपके शब्द जाल के कीचड़ में हिलग जाते हैं । न कि अधीतशास्त्र विद्वान् । आपकी वेदान्त दृष्टि वस्तुतः वेदान्त वेदों का अन्त करने वाली ही है ।

आक्षे०—आत्मा की रक्षा से अन्यत्र द्युति आदि होते हैं, यह तर्क सम्भव नहीं है, क्योंकि एक के गुण से दूसरा गुणवान् नहीं हो सकता ।"

समा०—"यह स्थाणु का अपराध नहीं है जो कि अन्धा उसे नहीं देख पाता, यह तो पुरुष का ही अपराध है" इस उक्ति के अनुसार आप ऋषि के

आशयस्त्वेष एव यत् द्युत्यादयः पञ्चार्थाः परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या सङ्गच्छन्ते, अन्यपदार्थेषु द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, शोभा गतिर्वा विद्यते यावन्मात्रया वर्त्तते तावदेव देवत्वं तेषां, सर्वेषु द्युत्यादिकं निदधाति परमेश एव यथा :—

तद्भासितं सर्वं तत्स्तुत्या च स्तुतं समम्।
शोभते मोदते वाऽपि, तद्गत्या चैव गच्छति ।।

तथा च प्रमाणम्—(१) तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (कठो०५।१५)।

(२) ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।। (गी०)

अयं हि नवीन-वेदान्ती रज्जौ सर्पसत्ताभासरूपं समाधानमीहते, परं रज्ज्वाः सर्पस्य चोभयोः सत्तायामद्वैतसिद्धान्तविघात एव। यथा च रज्जौ सर्पभ्रमस्तथैव सर्पेऽपि रज्जुभ्रमः, अनयोर्नैकतरोऽपि काल्पनिको मन्तुं शक्यते, अस्तित्वस्य वास्तविकत्वात्।

(६१८ अनु० २) भूमिका पाठ :—"अत्र केचिदाहु :—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते"

आशय को नहीं समझ पाये। आशय यह है कि द्युति आदि ५ अर्थ परमेश्वर में मुख्य वृत्ति से सङ्गत हैं। अन्य पदार्थों में द्युति आदि जिस मात्रा में हैं, उतना उनका देवत्व होता है। परमेश्वर ने ही उन-उन पदार्थों में द्युति आदि का विधान किया है।

जैसे—उसके ही प्रकाश से सब प्रकाशित और उसकी ही स्तुति से सब स्तुत हैं, उससे ही शोभित, मोदित और उसकी गति से सब चलते हैं। इसमें प्रमाण है (१) उसके प्रकाश से सब प्रकाशित होता है (उपनि.) (प्रकाशों का भी प्रकाश वह अन्धकार से परे है।

यह नवीन वेदान्ती तो रज्जु में सर्पसत्ता के अवभास रूप समाधान को चाहता है। परन्तु रज्जु और सर्प दोनों की वास्तविक सत्ता होने से अद्वैत सिद्धान्त का विघात हो जाता है। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार सर्प में भी रस्सी का भ्रम होता है। इन दोनों में एक भी अस्तित्व की दृष्टि से कल्पित नहीं माना जा सकता।

(६१८ अनु० २) भूमिका पाठ "कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि वेदों में जड़ और चेतन दोनों की पूजा का विधान है, अतः वेद संशयास्पद हैं। इस पर आपका आक्षेप है कि—

तत्राक्षेप :—तादृशसिद्धान्तस्यैव संशयास्पदत्वं न वेदानां संशयास्पदता। वेदानां विरुद्धाभिधायकत्वेऽपि तेषां प्रामाण्यस्यैव संशयास्पदता न वेदानां, तेषां स्वरूपस्य संशयानास्पदत्वात्।

समा०—अहो ! इह तु भवद्बुद्धेर्निष्कोषतैव संपन्ना, यतो हि यथा कश्चित् कञ्चिदाप्तं प्रति कथयेत् यदयं तत्र तत्र मृषावादीति वचनेन 'तत्र तत्र, अतिरिच्य सर्वत्र एतस्याऽऽप्तत्वम्। यथा नैषोक्तिर्युक्तियुक्ता तथैव ईश्वरीयज्ञान वेदानाममुकविषये त्वप्रामाण्यं तद्विषये प्रामाण्यस्य, संशयास्पदत्वात्।" एतेन वेदत्वं न विहतं मन्येत; परमप्रामाण्यमेवाङ्गीक्रियेत वेदानाम्, तदा किमेतत्तर्कसङ्गतम् ? कथमपि नैव। यद्येकस्मिन्नपि विषये वेदानामप्रामाण्यं, कथं न तर्हि तेषां वेदत्वं विहन्येत ? न्यायमतेऽपि 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तिदोषेभ्यः, इत्येतत् कस्यचिद् ग्रन्थस्यैकदेशे न घटते, प्रत्युत एकेन विरचिते ग्रन्थ-समुच्चय एव।

(पृ० ६१८ अनु १) आक्षे०—वेदेषु जडचेतन-पूजाऽभिधानाद् वेदा संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति संशयोत्थापकवाक्यं, तदपि न

वैसे सिद्धान्त की ही संशयास्पदता है न कि वेदों की, वेदों के विरुद्धाभिधायी होने से उनका प्रामाण्य ही संशयास्पद है न कि वेदों की संशयास्पदता है क्योंकि वेदों का स्वरूप संशयास्पद नहीं है।

समा०—वाह ! यहाँ तो आपकी बुद्धि का दिवाला ही निकल गया, जैसे कोई किसी आप्त पुरुष के प्रति कहे कि यह 'वहाँ वहाँ मृषावादी है। यहाँ वहाँ को छोड़कर इनका सर्वत्र प्रामाण्य है, जैसे यह कथन युक्तियुक्त नहीं, उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान वेदों का अमुक विषय में आपको प्रामाण्य संशयास्पद है। इससे वेदत्व तो नष्ट न माना जाय, पर वेदों का अप्रामाण्य स्वीकार कर लिया जावे, क्या यह ठीक होगा ? किसी प्रकार भी नहीं। यदि एक विषय में भी वेद का अप्रामाण्य मान लिया जायेगा तो ईश्वरीय ज्ञान वेद का वेदत्व अक्षत कैसे रहेगा ?

न्याय मत में भी 'तदप्रामाण्यम् यह किसी एक देश में घटित नहीं किया जाता, प्रत्युत एक के द्वारा निर्मित ग्रन्थ समुच्चय में घटित होता है।

(पृ० ६१८) यहाँ भूमिका में प्रश्न है कि वेदों में चेतन तथा जड़की पूजा का विधान है, तो संशय यह होता है कि इन दोनों में किस की पूजा

युक्तं, विकल्पानुपपत्तेः, इत्याक्षेपस्तु अविचारचारुः । चेतनब्रह्मातिरिच्य जड-पूजाया अप्युपस्थितत्वात् तद्विधानाप्रामाण्यप्रतिपाद्यत्वात् विकल्पोपपत्तेः । अतएव ऋषिः स्पष्टतया प्रत्यपादयत् तत्तद्वस्तुनो गुणानामुपयोगः सत्कारो वा पूजैव । परं यत्र यत्र उपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैवेति ।

(पृ० ६१६ अनु० १)- भूमिका पाठः, "ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात् यथा चक्षुषि रूपग्रहण-शक्तिस्तेन रक्षिताऽस्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति"

(आक्षे०) तदप्यसम्बद्धमेव, वाक्यानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्यात् । पदार्थेषु स्वातन्त्र्यं परमेश्वराधीनं तदा कथं स्वातन्त्र्यम् ?

समा०—'वल्गाविरहितो वाजी, यथा स्वैरंगमी'भवेत् ।
तथैव प्रलपेद् यत्तत्, कुतर्कप्रवणं मनः ।।

करनी चाहिए ? इस पर आपका आक्षेप है कि यहाँ विकल्प नहीं उठता । सच तो यह है कि आपका यह आक्षेप तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि दोनों में से किसकी उपासना करनी चाहिए ? यह क्या विकल्प नहीं है ? अतः ऋषि ने स्पष्ट किया कि उसर वस्तु के गुणों का सत्कार या उपयोग यथावत् करना भी पूजा है । परन्तु जहाँ-जहाँ उपासना का विधान है वहां वहां देवतारूप में ईश्वर की ही उपास्यता है । आप तो इस वाक्य को अतएव ठीक नहीं मानते, क्योंकि आप जड़ोपासक हैं । जड़ोपासकों को ऋषि ने अनाड़ी बताया है ।

(६१ अनु०६ १) भूमिका पाठ का आशय है 'ईश्वर ने सभी पदार्थों में स्वातन्त्र्य रखा है, जैसे चक्षु में रूप ग्रहण की शक्ति उसने रक्खी है अतः नेत्रवाला देखता है, यह व्यवहार होता है ।

(आक्षे०)—यह भी असम्बद्ध है, क्योंकि वाक्यों में परस्पर आङ्क्षा नहीं है । पदार्थों की स्वतन्त्रता यदि परमेश्वर के अधीन है तो स्वतन्त्रता कैसी ? प्रथम तो आप यह बताइये कि स्वामी जी ने कहाँ लिखा है कि पदार्थों की स्वतन्त्रता परमेश्वर के अधीन है । ठीक है—जैसे "बेलगाम घोड़ा स्वैरता से कहीं भी जा सकता है । उसी प्रकार कुतर्क करने पर तुली हुई बुद्धि कुछ भी प्रलाप कर सकती है । इस निर्मलोक्ति के अनुसार आप असम्बद्ध कह ही सकते हैं । आङ्काक्षा का विरह कैसे और कहाँ है ? यह आपने

इति निर्मलोक्तिमनुसृत्य सर्वत्र असम्वद्धमेव वक्ति भवान्। यतोहि कथं क्व वाऽऽकाङ्क्षाविरह इति नादर्शयत्। वस्तुतस्त्विदमाकाङ्क्षापूरकं वाक्यं सुसम्वद्धमेव। इयमस्ति भावत्की विचारक्षमता यत्परमेशाधीनतायां जीवस्य स्वातन्त्र्यं भवान्न स्वीकुरुते।

इदमपि वाऽविचारितमेव "यन्नैकत्र पारतन्त्र्यं स्वातन्त्र्यं वा तिष्ठति" इति। महोदय! अस्मिन् क्वाऽस्ति दार्शनिकः प्रतिबन्धो यन्नैकत्र तिष्ठति तत्। किं जीवः कर्मकरणे स्वतन्त्रः फलभोगे च परतन्त्रो नैव विद्यते? वस्तुतस्तु स्वाभाविक-गुणेषु परस्परविरोधिता नैकत्र तिष्ठति। यथा च प्रकृतौ न सर्जनविनाशौ स्वाभाविकौ प्रत्युत नैमित्तिकौ एव। यथा च गुरुकुलेऽपि वर्णी कस्यचिदपि विषयस्याध्ययने स्वतन्त्रः, परं नैव चलचित्रादिदर्शने स्वतन्त्रः, अपि तु परतन्त्र एव। तथा स्त्री च स्वदैनिकचर्यायां स्वतन्त्राऽपि परतन्त्रा, यथा

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।

वार्धक्ये तनयो रक्षेत्, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।। (मनु० ९।३)

किञ्च 'व्याहतत्वादिति' भवतः पञ्चम्यन्तप्रयोगेणैव न हेतुता सिध्यति। चक्षुरादिषु या शक्तिर्निहिता परमात्मना तदनुकूलमेव कार्यं

नहीं बताया और यह है आपकी सोचने की शक्ति कि परमेश्वर की अधीनता में आप जीव की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं कर रहे हैं, क्या यह आपकी स्वतन्त्रता नहीं है?

यह आपका अविचारित कथन है कि पारतन्त्र्य और स्वातन्त्र्य एकत्र नहीं रह सकते।" महोदय! इसमें (एकत्र न रहने में) दर्शन शास्त्र का क्या प्रतिबन्ध है? क्या जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र नहीं? वास्तव में स्वाभाविक गुणों में विरोधिता एकत्र नहीं रह सकती। जैसे प्रकृति में सर्जन और विनाश स्वाभाविक गुण नहीं है नैमित्तिक हैं। जैसे गुरुकुल में ब्रह्मचारी किसी विषय के पढ़ने में स्वतन्त्र है पर चलचित्र आदि देखने में परतन्त्र है। उसी प्रकार स्त्री दैनिकचर्या में स्वतन्त्र है पर वैसे परतन्त्र है। देखिये पिता के आधीन कौमार्य में, यौवन में भर्ता के रक्षण, में बुढापे में भी पुत्र की रक्षा में रहती है उसे कदापि स्वतन्त्रता नहीं।

यहाँ 'व्याहतत्वात्' यह आपके द्वारा पञ्चम्यन्त करने मात्र से हेतुता सिद्ध नहीं हो सकती। चक्षु आदि में परमात्मा ने जो शक्ति रक्खी है, उसके

कर्त्तुं शक्यते न तद्विपरीतम्। भवानपि ऋषिं प्रति अपशब्दान् प्रयोक्तु-मर्हः स्वतन्त्रतया, परं पारतन्त्र्यम् नैव तान् प्रत्यावर्तयितुं शक्नोति। एवमेकत्रैव स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं वा तिष्ठतीत्यसन्दिग्धम्, नहि कश्चिद् व्याघातः।

यदुच्यते "चक्षुषि यदि ईश्वरेण शक्ती रक्षिता तदा न कदाऽपि तल्लोपः स्याद्' इति तु अज्ञानवचनम्। भगवन्! अयं कस्य दर्शनस्य सिद्धान्तः प्रस्फुटीकृतो भवता? इयं हि विविधा सृष्टिर्जीवकर्म फलानुवर्त्तिनी। यथाह शङ्कराचार्योऽपि 'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' (वेदा० सू० २।१।३४) भाष्यं 'यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं वैघृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हि ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते।

किमपेक्षत इति चेत्? धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः, अतः सृज्यमान प्राणिविषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः।·········

अनुकूल ही वह कार्य कर सकता है उसके विपरीत नही। आप में भी स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों एकत्र रह रहे हैं। जैसे आप ऋषि के प्रति अपशब्दों का प्रयोग तो कर रहे हैं, परन्तु आप उन्हें बोलने के बाद मुख में वापस नहीं ले सकते। इस प्रकार स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों एक साथ रह सकते हैं, कोई व्याघात नहीं।

आपका यह कथन तो अज्ञान प्रेरित है कि "जब आंख में ईश्वर ने शक्ति दी है, तो ईश्वर रचित होने के कारण कभी लुप्त नहीं होनी चाहिए।" भगवन्! यह आपने कौन से दर्शन शास्त्र का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है? यह विविध-परमाणु संयोगज सृष्टि तो जीव के कर्म के फलों की अनुबन्धिनी है जैसा कि शङ्कराचार्य भी कहते हैं।

(वेदा० २।१।२४ भाष्य)—'यदि बिना कर्मो की अपेक्षा किये हुए ईश्वर सृष्टि को बनाता है, तो वैषम्य और नैर्घृण्य दोष सिद्ध होते हैं। परन्तु वह कर्मों से निरपेक्ष होकर बनाता। अपेक्षा रखकर हीईश्वर विषम-सृष्टि का निर्माण करता है।

किसकी अपेक्षा रखता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि धर्म और अधर्म की अपेक्षा रखता है। अतः सृज्यमान प्राणियों की सृष्टि विषम है, ईश्वर का

देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तद्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणनि भवन्ति। प्राणि-कर्म-विशेषापेक्षमेवेश्वरस्याऽनुगृहीतृत्वं निगृहीतृत्वं च।

ननु प्राक्सृष्टेरविभागात् नास्ति कर्म, यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः सृष्ट्युत्तरकालं च शरीरादि-विभागापेक्षं 'कर्म' कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभागः, इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। 'न कर्मविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्, (वेदा० २।१।३५)।

सत्यमिह निर्मलोक्तिरियं सङ्गच्छते :—

सत्ये ब्रह्मणि कल्पयन्ति नितरां नव्याश्च वेदान्तिनः,
संसारस्थितिवास्तवं ह्यसदिति प्रज्ञाप्रगल्भा यथा।
तद्वत् सत्यसुयुक्प्रमाणलसितेऽस्मिन् विद्वदाराधिते,
भाष्येऽसद्भ्रमभासिताऽभवदियं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः॥

(६१९ अनु० २) पूर्वमस्माभिः मन्त्राणां विधायकत्वमपि प्रतिपादितमस्ति। तथा ऽप्ययमलब्ध-विधायकमन्त्रोपलब्धिः शङ्कातङ्क-

---

कोई अपराध नहीं है।...देव, मनुष्य आदि के वैषम्य में तो तत्तद् जीवगत असाधारण कर्म ही कारण होते हैं। प्राणि कार्यों की विशेष अपेक्षा करके ईश्वर का अनुग्रह और विग्रह होता है।

यदि कोई कहे कि सृष्टि से पूर्व तो कर्म थे ही नहीं, जिसकी अपेक्षा करके सृष्टि रची गई, क्योंकि सृष्टि हो जाने के बाद ही शरीरादि का विभाग होने पर कर्म हुये और कर्म होने पर शरीर हो सकते हैं। इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्ति हो सकती है।

(उत्तर)—यह दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सृष्टि-प्रवाह से अनादि है।

(वेदान्त २।१।३५) सत्य ही यहाँ निम्न निर्मलोक्ति संगत है "नव्य वेदान्ती सत्य ब्रह्म में प्रज्ञा से प्रगल्भ होकर पृथक् से संसार (प्रकृति) की स्थिति को वास्तविकता नहीं मानते। उसी प्रकार सत्य युक्त प्रमाणों से सुशोभित दयानन्द के भाष्य में, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान असद्भ्रमाभास आपको हो गया है।"

(६१९ अनु० २) हमने मन्त्रों का विधायकत्व पूर्व सिद्ध कर दिया है, फिर भी इस लेखक को विधायक मन्त्रों की उपलब्धि नहीं हो पा रही है

कलङ्कितमतिर्ब्रूते यत् 'न तत्र (वेदेषु) ईश्वरोपासनाविधानम्, परमिदंत्वज्ञान-विजृम्भितम्, वेदेषु ईश्वरोपासनाविधानोपलम्भात् । यथा —'विभूः प्रभुरिति त्वोपास्महे वयम्' ? (अथर्व १३।४।४७) ।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ।।
(ऋक् २।२६।३)

अर्थाद् यथा कश्चित् श्रद्धया देवपालकं ज्ञानेश्वरं परमात्मानमुपास्ते तस्य जीवनं सफलं भवति । अन्यदपि

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ।। (अथर्व० १०।७।३८) अन्यच्च ।

'एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः, एक एव नमस्यः सुशेवाः,' एतदाधृत्यैव शतपथोक्तिः "स योऽन्यां देवतामुपास्ते यथा पशुरेव स देवानाम्"। सम्प्रति भवानेव ब्रवीतु कतरा योनिरभिनन्दिता भवतः ?

यदुक्तं 'वस्ततस्तु ब्राह्मण-भागेष्वपि क्वचिदपि न जडस्य पूजोक्ता, यदीदं भवताऽपि सत्यं मन्यते तदा कथमीश्वरस्य स्थाने

तथा शङ्कातङ्क से कलङ्कित मति यह लेखक कहता है कि—

'उन वेदों में ईश्वर की उपासना का विधान नहीं है" परन्तु यह कथन अज्ञान-विजृम्भित है, क्योंकि वेदों में ईश्वरोपासना-विधान स्पष्ट उपलब्ध है। जैसे हे व्यापक प्रभो हम तुम्हारी उपासना करें अथवा करते हैं।

(अथर्व० १३।४।४७) 'स इज्जनेन'— अर्थात् जो श्रद्धा से देवपालक परमेश्वर की उपासना करता है, उसका जीवन सफल हो जाता है। और भी 'महद् - (ऋक् १०।७।३८) तथा ऋषि की भूमिका के उपासना मन्त्र साक्षी और उदाहरण हैं। 'एक एव नमस्य' आदि भी अन्य प्रमाण हैं। वहाँ लिखा है 'जो अन्य देवता की उपासना करता है। वह देवों में पशु है। अब आप ही किस योनि को पसन्द करेंगे ?

यह कथन कि 'वास्तव में ब्राह्मण भाग में भी जड़ की पूजा कहीं नहीं है' इसे यदि आप मन, वचन, कर्म से सत्य मानते हैं, तो ईश्वर के स्थान पर

जडप्रतिमा-पूजनं विदधाति भवान्? अन्यथा मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यदिति लक्षणं घटतां भवति। अतो भवता मनोवचः-कर्मभिः सर्वव्यापकस्य परमात्मन एवोपासना विधेलिमा, न वान्येऽपि भ्रामयितव्याः कुतर्कवाग्जालकुचक्रे।

(६२०)—यदुक्तं "किन्तु तदधिष्ठातृ-देवस्यैवोपासन-विधानादिति निरुक्तादि-सिद्धान्तनिरूपणेन पूर्वमेवोक्तम्"। इदमल्पश्रुतम्, निरुक्तादेरधिष्ठातृत्व-प्रतिपादनस्य जडवस्तुनि ईश्वरस्योपास्यत्वेनाविधानात्। भवदुक्तौ विपर्ययवृत्तेरापाताच्च। सा हि द्विधा आहार्यानाहार्यभेदात्। स्वेच्छोत्पादिता वृत्तिराहार्या, स्वतश्चोत्पन्ना अनाहार्या। इयं द्विधाऽपि विपर्ययवृत्तिर्निरोध्यैव, अनर्थहेतुत्वात्।

यथा शालिग्रामादावीश्वरबुद्धिराहार्या, शुक्त्यादौ रजतादिबुद्धिरनाहार्या। अतो जडवस्तुनि ईश्वरबुद्धिर्मिथ्याज्ञानमेव।

ऋषिर्दयानन्दः प्रथममण्डलस्य प्रथम-सूक्त-व्याख्यायां स्पष्टमलिखत् अत्राग्निशब्देन परमार्थ-व्यवहार-विद्यासिद्धये परमेश्वर-

---

जड़ोपासना क्यों करते हो? 'मन में अन्य और वचन तथा कर्म में अन्य, तो सत् पुरुषों का लक्षण नहीं। अत. आपको सर्व व्यापक परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिये और न अन्यों को भी कुतर्क वाग्जाल के कुचक्र में भ्रमाना चाहिए।

(पृ. ६२० प० २) 'किन्तु उनके अधिष्ठातृ-देवत का उपासना-विधान निरुक्तदि-निरूपण में पूर्व ही कर चुके हैं, यह आपका कथन अल्पज्ञान का द्योतक है; क्योंकि वहाँ कहीं भी ज़ड़ वस्तु में ईश्वर की उपासना करने का विधान नहीं है आपके कथन में विपर्यय वृत्ति आ गई है। वह दो प्रकार की है, (१) आहार्य और (२) अनाहार्य भेद से। अपनी इच्छा से उपपादित वृत्ति आहार्य होती है और स्वयम् उत्पन्न वृत्ति अनाहार्य कहाती है। ये दोनों प्रकार की वृत्ति अनर्थ-हेतु होने से निरोध्य है। जैसे-शालिग्राम आदि उपासना में आपकी वृत्ति आहार्य है तथा शुक्ति आदि में रजतादि बुद्धि अनाहार्य है, अतः जड़ वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि मिथ्याज्ञान ही है।

ऋषि ने प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की व्याख्या करते हुये स्पष्ट लिखा है कि 'यहाँ अग्नि-शब्द से परमार्थ और व्यवहार विद्या सिद्धि के लिये परमेश्वर

भौतिकौ द्वावर्थौं गृह्येते।" अग्निमीडे, इति मन्त्र व्याख्यायां श्री आनन्द-तीर्थोऽपि (मध्वाचार्यः) अलिखित्

यथैवाग्न्यादयः शब्दाः प्रवर्त्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्तिं वक्ष्यामो ज्ञानदां ज्ञानसिद्धये॥
इति तेनाग्नि-शब्दोऽयमग्र एवाभि पूज्यताम्।" इति

तदेदृशीं निरुक्तिं प्रदर्श्य प्रधानतया ईश्वरवाचकोऽग्नि-गौणतया भौतिकाग्निवाचको बोधितः। तथा सत्यार्थप्रकाशेऽपि 'जहाँ जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना विषय हैं, वहाँ २ सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टि कर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं। वहाँ इन नामों से परमेश्वर और उत्पत्ति, स्थिति प्रलय, अल्पज्ञ, जड, दृश्य आदि विशेषण भो लिखे हैं वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।, (समु० १)

६२१ अनु० २—आक्षे० 'वस्तुतस्तु, स्वामो दयानन्दे बाइबिल, कुरआनाद्यनार्यग्रन्थैः प्रभावितत्वादेव मतमिदमास्थितो यदीश्वराति-रिक्तः कश्चनोपास्यो नास्ति"

और भौतिक दोनों ही अर्थ गृहीत होते हैं। 'अग्निमीडे' की व्याख्या में भी श्री आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्यजी) का लेख भी ऋषि के समर्थन में प्राप्त है।

जैसे 'अग्नि आदि शब्द जनार्दन अर्थ में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार की ज्ञान दायक निरुक्ति हम कहेंगे। इस प्रकार 'अग्नि शब्द अग्रे ही पूज्य है और जो अग्रनेतृत्व को ले चलता है।' ऐसी निरुक्ति देकर अग्नि शब्द प्रधानतया ईश्वर वाचक और गौणतया भौतिकाग्नि का वाचक बताया है नाम भौतिक पदार्थों के होते हैं (सत्यार्थ प्रकाश में भी देखिये) अग्नि जल आदि परन्तु जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ परमात्मा और जहाँ २ इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ २ जीव का ग्रहण होता है।…जो ज्ञान स्वरुप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे परमेश्वर का नाम 'अग्नि है। (स०प्र०स०)

(पृ. ६२१ अनु. २ पं० ६) आ०-'वस्तुतः स्वामी दयानन्द बायबल कुरान आदि अनार्य-ग्रन्थों से प्रभावित होने के कारण कह रहे हैं कि ईश्वर के अति-रिक्त अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है।

समा०—इदं समग्रमेतस्य स्वोक्ति, विरुद्धं न केवलमज्ञान प्रसूतं, प्रत्युत कुत्सित-मनो-वृत्ति-विजृम्भितमपि। निर्मलोक्तिरपीयं लेखकं धिक्करोति यथा—

काषायाम्बरधारको लजयते हा साधुवेशं भृशम्,
गालीदानविडम्बिताधरवरोऽयं पाणिपात्रः सुधीः।
वेदेष्वेक परेशवादमपि यो नो, मन्यते शाश्वतम्,
ईसाई यवनैः प्रचालितमिमं, नव्यं समाभाषते।

वस्तुतस्तु आधुनिककाले स्वनामधन्यः प्रातःस्मरणीयो महर्षि र्दयानन्द एव विद्वच्छिरोमणिरभूद् यो वेदानां यथार्थं जनतासम्मुखे प्रत्यतिष्ठिपत्। तत्समये भारतीय-संस्कृतज्ञेषु वेदानां नितान्तमुपेक्षाऽऽसीत्; तात्कालिकमहाविदुषामपि न वेदार्थज्ञाने प्रवृत्तिरवर्त्तत, स्वामिविशुद्धानन्दो वालशास्त्री चापि दर्शनस्मृत्यनुशीलनशीलौ अपि वेदान् प्रत्युदासीनौ आस्ताम्। यत्र कुत्रचित् सायणमहीधरादिपौराणिकतान्त्रिकभाष्यकाराणां भाष्याण्येव अपाठ्यन्त, यान्यधीत्य शिष्टोऽपि श्रद्धाभावोऽलुप्यत।

(समा०) श्री करपात्र का यह कथन अज्ञान जनित ही है और कुत्सित मनोवृत्ति का भी द्योतक है। यह निर्मलोक्ति इसे धिक्कृत करती है—

"यह काषायवस्त्र धारी साधु-वेश को लज्जित कर रहे हैं गालीदान से जिनके अधर अत्यन्त निन्दित हो चुके हैं। वेदों में शाश्वत एकेश्वरवाद को भी नहीं मानते और निर्लज्ज होकर कहते है कि एकेश्वरवाद ईसाई और यवनों ने प्रचालित किया है"।

वस्तुतः आधुनिक काल में स्वनामधन्य, प्रातः स्मणीय महर्षि दयानन्द ही विद्वानों में शिरोमणि हुये, जिन्होंने वेदों के यथार्थ स्वरूप को जनता के सम्मुख प्रतिष्ठापित किया। उनके समय में भारतीय संस्कृतज्ञों में वेदों की निनान्त उपेक्षा थी और उनकी वेदाध्ययन में कोई प्रवृति न थी, स्वामी विशुद्धानन्द और वालशास्त्री भी, जो दर्शन और स्मृतियों का अनुशीलन करने वाले थे, वेदों के प्रति उदासीन थे। जहाँ तहाँ सायण, महीधर आदि पौराणिक, ताँत्रिक (वाममार्गी) भाष्यकारों के ही भाष्य पढ़ाये जाते थे, जिन्हें पढ़कर हिन्दूजाति का वेदों के प्रति बचा खुचा श्रद्धाभाव भी लुप्त हो गया।

अपरतः पाश्चात्याः वेदाध्ययनपरायणा आसन्, परं तेषां पक्षपातदृक्, श्रुतिश्रद्धाविपर्यये एव च जागरूकता समदृक्ष्यत। एतस्यां करालकाल-कवलितार्यसंस्कृतेरवस्थायाम् महर्षिरेव सिंहनादं व्यधात् "वेदः सर्वसत्यविद्यानाम् पुस्तकमास्ते। वेदस्य पठनं, पाठनं श्रवणं श्रावणं च सर्वेषामार्याणां परमो धर्मोऽस्ति।" इति

त्वादृशएव प्रिंसिपलमहेशचन्द्रो न्यायरत्नम्, हॉग, ग्रिफिथादिकृतम् वेदानामेकेश्वरवादखण्डनमाश्रित्य बहुअलिखत्, परं, महर्षिरेव 'भ्रान्तिनिवारणे' तत्प्रतिवादमकरोत्, "डाक्टर हाँगटानी, ग्रिफिथादयो नेश्वराः येषां कथनं येनापरीक्ष्य मन्तव्यं स्यात्, किम् हाँगादयोऽस्माकम् महनीयमहर्षिभ्योऽप्यधिकगरीयांसो यान् प्रमाणीकृत्य वयं प्राचीन-सत्य-ग्रन्थानपि त्यजेम ? यथा च महेशचन्द्रोऽनुनयते।"

महर्षि विहाय कस्मिन्नासीत् साहसस्तस्मिन् काले हॉगाद्याङ्गलानां विरोधं कर्त्तुम्। ब्रह्मचर्यपरिपूतकायवाङ्मानसबलेनैवाऽवलिप्ताः वेदविरोधिन एकेनैव तेन धीरेण जिताः, अतः सत्योक्तिरेषा सङ्गता महर्षि विषये:—

दूसरी ओर पाश्चात्य लोग वेदाध्ययन-परायण हो रहे थे; परन्तु उनकी पक्षपात पूर्ण दृष्टि और श्रुति के प्रति अश्रद्धा में ही जागरूकता दिखाई पड़ रही थी। कराल काल कवलित आर्य-संस्कृति की इस अवस्था में महर्षि ने ही सिंहनाद किया था कि— "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है; वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"।

आपके समान ही प्रिंसिपल महेशचन्द्र ने, होग, ग्रिफिथ आदि के किये हुये, वेदों के एकेश्वरवाद के खण्डन का आश्रय लेकर बहुत सा लिखा था, और उनका प्रतिवाद महर्षि ने "भ्रान्ति-निवारण" में किया है।

यथा" डा० होग, टानी, ग्रिफिथ आदि ईश्वर नहीं थे जिनके कथन को विना कसौटी पर कसे मान लिया जाये, क्या होग आदि हमारे पूजनीय महर्षियों से भी अधिक गौरवशाली थे ? जिनको प्रमाण मानकर हम अपने प्राचीन सत्यग्रंथों को भी छोड़ दें, जैसा कि महेशचन्द्र बहकाते हैं।"

महर्षि को छोड़कर किसमें साहस था जो उस समय (पराधीनता में) होग आदि ईसाई अंग्रेजों का विरोध करता। ब्रह्मचर्य से पवित्र काया, वाणी

"कान्ताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः,
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमयं स धीरः॥

अयं खलु जडाराधनार्पितधीः करपात्रः कथयति यत्स्वामी दयानन्दो बायबलकुरानादिभ्यः एकेश्वरवादमगृह्णात् नास्ति वेदेष्वेकेश्वरोपासना विधानमिति। अहो कीदृशी आर्यजातेर्विनाशोन्मुखभाग्यविडम्बना यदेतादृशोऽपि कपटकाषायाम्बरधराः प्रतिष्ठां लभन्ते-वेदप्रतिष्ठाविलोपिनः।

स्वामीदयानन्दस्तु एकेश्वरवादं वेदप्रतिपादितं सडिण्डिममघोषयत् यत्।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं

और मनोबल के द्वारा ही एक धीर पुरुष ने अनेक घमण्डी वेद विरोधी जीत लिये। इस प्रसङ्ग में यह सत्योक्ति सङ्गत है कि—

"कान्ता के कटाक्ष के बाण जिसके चित्त को नहीं छेदते और कोपाग्नि का ताप नहीं जलाता एवं लोभ के पाशों से बहु विषय भी जिसे आकृष्ट नहीं कर पाते, यही वह धीर पुरुष तीनों लोकों को जीत रहा है।"

भला देखिये तो जड़ की आराधना में समर्पित बुद्धि वाले करपात्री जी कह रहे हैं बायबल, कुरान आदि से एकेश्वरवाद को ग्रहण किया है वेदों में एकेश्वरोपासना का विधान नहीं है। अहो! आर्यजाति की यह कैसी विनाशोन्मुख भाग्यविडम्बना है कि ऐसे भी कपटी गेरुआ वस्त्र-धारी वेद की प्रतिष्ठा को लुप्त करने वाले प्रतिष्ठा को प्राप्त कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने तो वेदों के एकेश्वरवाद की सडिण्डिम घोषणा की थी। "इन्द्रं मित्रं ("ऋ० १।१६४।४६) यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का मन्त्र उनके मुंह पर चपेटिका है, जो ऐसा प्रलाप करते हैं कि वेदों में एकेश्वर उपासना नहीं है, तथा बायबल, कुरान आदि से लेकर स्वामी दयानन्द ने प्रचलित की है। महोदय! आर्यों ने ही संसार में सबसे पहले ईश्वर को जाना तथा विश्व को इसकी शिक्षा दी थी।

डा० ताराचन्द्र, प्राध्यापक हुमायूं कबीर, आचार्य विनोवा भावे, करपात्र

सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। (ऋ० १।१६४।४६)
ये प्रलपन्ति मूढ़धियो यद् दयानन्दः प्रभावितो बायबलकुरानादिभिस्तेषां मुखे एष मन्त्रश्चपेटिका । आर्यास्तु संसारे सर्वप्रथममेवाजानन्नेकेश्वरवादं प्राशिक्षयंश्चैकेश्वरार्चनम् सर्वान् भूतलस्थान्नरान् ।

डाक्तर ताराचन्द्रः, प्राध्यापकहुमायूं कबीरोविनोवाभावेकरपात्रादयश्च यदाहुस्तत्तु तन्मतानुयायिमनोरञ्जनाय। महदाश्चर्यं त्विदं यद् 'धर्मसम्राट्'पदवीं बिभ्राणः करपात्रो गीर्वाणवाणीविलासरसिकोऽपि सन् एकेश्वरवादमन्यैः शिक्षितं मेने ।

धिगिममार्य-द्वेषिणम्, इयं निर्मलोक्तिश्च मननीयाऽनेनेह—

"नो संसारजना जनुश्च जगृहुर्नोन्मीलनं चक्षुषोः,
अस्माकं मुनयस्त्रिविष्टपधरोत्सङ्गे तु सर्गे नवे ।
वेदज्ञानमवाप्य सर्वसुखदामेकेश्वरोपासनाम्,
चक्रुर्वै तदनन्तरं जगदिदं लेभेऽखिलं शिक्षणम् ।।

यावद् हि दाराशिकोहोऽपि यवनो धन्यवादार्हो यदसौ उपनिषदामेकेश्वरवादमादिमं मौलिकं च मन्वानो भूरिशः प्राशंसत । मौलानासुलेमाननदवी तु स्व-ग्रन्थे विलिखति यदेकस्मिन् दिवसे मोहमदमहोदयः प्राचीं प्रत्यभिमुखः सन् ध्यान-मग्नोऽभवत्, सहयोगिनः

आदि ने जो कहा है वह तो इन अन्धममतानुयायी लोगों के मनोरञ्जन के लिये है । यह महदाश्चर्य है कि धर्मसम्राट् पदवी को धारण करते हुये भी, गीर्वाणवाणी विलासरसिक होते हुये भी करपात्री जी कह रहे हैं "एकेश्वरवाद हमें दूसरों ने सिखाया ।"

ऐसे पारिजात-कर्ता को धिक्कार है । इन्हें यह निर्मलोक्ति मनन करनी चाहिये कि संसार के लोगों ने जन्म-धारण भी न किया था, न नेत्र (ज्ञान) द्वार खोले थे, उससे पूर्व हमारे पूर्वज मुनियों ने तिब्बत की धरा की गोद में नई सृष्टि में वेद-ज्ञान प्राप्तकर सर्व-सुखदा एकेश्वर-उपासना की थी, फिर संसार ने इन्हीं से सम्पूर्ण-शिक्षा ग्रहण की ।"

दाराशिकोह यवन होता हुआ भी धन्यवाद का पात्र है, जो कि उसने उपनिषदों के एकेश्वरवाद को मौलिक मानते हुये भूरि प्रशंसा की है । मौलाना सुलेमान नदवी ने तो अपने ग्रन्थ में लिखा है कि एक दिन मुहम्मद साहब

पपृच्छुस्तं "श्रीमन् प्राङ्अभिमुखोभूय प्रार्थयते किं ? सः प्रत्युदतरत् "पूर्वतो भारतादेकेश्वरवादस्य शीतला वाता वान्तः समायान्ति इति।" इयमस्ति विचारधारा यवनानामपि परं हिन्दुकुलकलङ्कायमानानां जनानामितोऽन्या सम्मतिः वेदैकभक्तिपरायणानामार्याणां मनांसि व्यथयतेऽतितराम्।

स्वामिनः सूर्यायार्घ्यदानस्य भवत्कथनं निराधारं यतो हि—

न खलु महर्षिदयानन्दः ईश्वरस्थाने उपास्यत्वेन सूर्यायार्घ्यदानविधानं चक्रे, न वा नमस्क्रियाविधानमुपास्यत्वेन प्रत्यपादयत्, इदं ते वचो निर्मूलम्। उपास्यस्तु केवलमीश्वर एव शास्त्रप्रतिपादितो। यथा च बहुभिः प्रमाणैरुपरि दर्शितम्।

'नमस्ते अस्तु विद्युते-(वाज० सं० ३६।२१) इति मन्त्रे च भगवते परमेश्वरायैव नमस्कारो विहितः।

देवतास्वरूपनिरूपणस्थले तत्रानेन बहुपल्लवितं ग्रन्थकायपरिवर्धनाय, परं न तत्र महर्षिमतखण्डनमतोनाधिकमुच्यते विस्तरभियाऽत्र।

पूर्व दिशा की ओर मुँह करके ध्यान भक्त हो गये। सहयोगियों ने उनसे पूछा कि श्रीमन्! आप पूर्व को मुंह किये हुये क्या प्रार्थना कर रहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया, 'पूर्व (भारत) से एकेश्वरवाद की शीतल वायु बहती हुई आ रही है" यह है विचार-धारा यवनों तक की; परन्तु हिन्दू कुल कलङ्कायमान जनों की इससे भिन्न सम्मति है जो वेद में निष्ठा रखने वाले आर्यों के मानस को अतितरां पीडाकर है।

सूर्य को अर्घ्य देने की आपकी बात निराधार है, क्योंकि ऋषि दयानन्द ने उपास्यत्वेन सूर्य को अर्घ्य देने की बात कहीं नहींकही है और न इसे नमस्कार का विधान किया है। उपासनीय तो केवल ईश्वर ही शास्त्रानुमोदित है, जैसा कि बहुत से प्रमाणों से दिखाया गया है।

'नमस्ते अस्तु विद्युते (वाज. ३६।२१) इस मन्त्र में तो विद्युद्वद्व्यापक, और तद्गर्जनवद् दुष्टजनों को भय-जनक भगवान् परमेश्वर के ही लिये नमस्कार किया गया है।

देवतास्वरूप को बताने के स्थल पर इस लेखक ने ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के

(पृ६२२ अनु० १) पू० प० :--"आर्या यद्यप्यनादिकालात् ब्रह्म परमेक-मेवाद्वितीयं मन्यन्ते, तथाऽप्यधिकारिभेदात् ईश्वराङ्गप्रत्यङ्गभूताना-मन्यासामपि देवतानामुपासनमुररीकुर्वन्त्येव । घटशरावादयो भिन्ना अपि मृदात्मना अभिन्नाः एव, तथैव इन्द्रादयोऽपि प्रकृतिभूतपरमा-त्मनोऽभिन्ना एव ।'

(समा०)—इह तु अयं लेखकः सूर्यादीनां पदार्थानां प्रकृत्युत्पन्ना-नाम् परमात्मरूपमुपादानत्वेन प्रतिपादयन् केवलां ब्रह्मसत्तां मन्यते तदेतन्नवीनवेदान्तमतं तु प्राग्बह्वालोचितं खण्डितं च । घटशरावा-दयस्तु उपादान-प्रकृत्युत्पन्नाः मृदात्मनो अभिन्नाः मृद्विकारत्वात्' परं न तथा अपरिणामिन एकरसात्मकाद् ब्रह्मणः समुद्भूता इन्द्रादयो विकारा, न तद् (ब्रह्म) अभिन्नाः । न चेश्वरस्य अङ्ग प्रत्यङ्गानि वेन्द्रादयो, न वाऽर्थः (पर्यायवाचिनः) परमात्मनः । अत, ईश्वर स्थाने इन्द्रादीनाम् उपासनां व्यनधुरार्याः उपासानायाम् मनुष्याणाम् अधिकारिभेदकथनेन नैकस्य ब्रह्मणः उच्चावचनिःश्रेणयो भवितु-मर्हन्ति । यथा च ऋग्वेदे (मं० ८।१।१) एकस्यैवोपास्यता प्रत्यपादिः-

---

लिये बहुत सा लिख दिया है, परन्तु उसमें महर्षि के सिद्धान्त का प्रायः खण्डन नहीं हो सका. अतः विस्तार भय से हम भी अधिक नहीं लिख रहे हैं ।

(पृ.६२२ अनु १) पू. प.—आर्य लोग यद्यपि अनादि काल से एक ही अद्वितीय परमेश्वर को मानते हैं, तो भी अधिकारी भेद से ईश्वर के अङ्ग प्रत्यङ्गभूत अन्य देवताओं की उपासना भी करते ही हैं । घट, शराबा आदि भिन्न होते हुये भी मिट्टी से अभिन्न ही हैं । उसी प्रकार इन्द्र आदि भी प्रकृति-भूत परमात्मा से अभिन्न हैं ।

समा०—यहाँ पर यह लेखक सूर्यादि पदार्थों को जो जड़ प्रकृति से उत्पन्न हैं, उनका परमात्मा को उपादान कारण मानते हुये केवल ब्रह्म सत्ता को मानता है प्रकृति की सत्ता को नहीं । इनके इस नवीन वेदान्तमत की पहले बहुत आलोचना और खण्डन किया जा चुका है । घट, शरावा आदि तो प्रकृति (मिट्टी) से उत्पन्न मिट्टी रूप में अभिन्न हैं, क्योंकि ये मिट्टी के विकार हैं । उसी प्रकार अपरिणामी निमित्त कारण एकरूपात्मक ब्रह्म से उत्पन्न इन्द्रादि उसके विकार नहीं है अतः तद् अभिन्न भी नहीं; वहाँ पर इन्द्र आदि ब्रह्म के पर्यायवाची भी नहीं हैं । विद्युदादि के वाचक है, वहाँ वे प्रकृति के विकार हैं

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

अत्र स्पष्टरूपेण 'मा चिदन्यद् विशंसत' इत्यनेनान्यपूजा-निषेध एव कृतः ।

वस्तुतस्तु 'अतोन्यदार्तम्' (बृहदा० ३।५।१) इत्यादीनि स्थलान्यपि न वेत्ति भवान् । अथ चेत् नान्यद् ब्रह्मणः किमपि, कः कं प्रतिबोधयेत् ? न ब्रह्म ब्रह्मैव वेदयते । अतस्सारोऽयम् यत् हे, जीवात्मन् न त्वं ब्रह्मातिरिच्य किमपि उपास्यमन्यन्मन्येथाः, ब्रह्मण एव परमसत्यरूपत्वात् । अस्मिन्नेवार्थे (मोक्षबाधकत्वं) मिथ्यात्वं जगतः सिद्धम्, न त्वभावत्वम् ।

किञ्चात्र भवता 'वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैव उपासनानुष्ठानाचारागमात्, इत्यस्य स्थाने 'वेदोक्तरीत्यैव ईश्वरस्योपासनावगमादिति पाठविपर्यासः कृतोऽन्यार्थनिष्पोडनधिया ।

अतः ईश्वर के मुख्यतया अस्मदादिवत् अङ्ग और प्रत्यङ्ग भी नहीं, और न ये अर्थ ही हैं ।

ईश्वर के स्थान पर शास्त्र में कहीं भी इन्द्रादि की उपासना का विधान नहीं है । उपासना में मनुष्यों के अधिकारी भेद कहने से एक ब्रह्म में अनेक प्रकार की निःश्रेणियाँ भी नहीं हो सकती । जैसाकि (ऋ०म० ८।१।१) में उपासना वताई है :--हे उपासको ! परमात्मा के अतिरिक्त अन्य की उपासना न करो, आत्म-हिंसक न बनो, सब कामनाओं के पूर्णकर्ता परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा की ही स्तुति करो । सब एकत्र होकर साक्षात्कार करने पर बार-२ परमात्मा के गुण कीर्तन करने वाले 'स्तोत्रों का गान करो" । यहां पर अव्यक्त रूप अन्य जडादि पूजा का निषेध है ।

वास्तव में इस ब्राह्म रूप अवस्थान से अन्यत् आर्त अर्थात् विनाशी है । (बृहद् ३।५।१) इत्यादि स्थलों को भी आपने नहीं समझा यदि नवीन वेदान्तियों की दृष्टि से ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो कौन किसका प्रतिबोधन करे । ब्रह्म ब्रह्म को ही समझे यह अर्थ घटित नहीं, क्योंकि ब्रह्म सर्वदा स्वज्ञ है । निष्कर्ष यह है कि हे जीव ! तुम ब्रह्म से अन्य (यदि ब्रह्म से किसी की सत्ता नहीं सब तद्रूप ही है फिर अन्य शब्द से क्या प्रतिबोध्य होगा ?) किसी को उपास्य न मानो क्योंकि ब्रह्म ही परम सत्य है । इससे ही जगत् का

(पृ० ६२२ अनु २)—'यदुक्तं "वेदाधिकारिभिः परमात्मा निर्गुणः सगुणश्चोपास्यते स्म" तदिदं तु सत्यम्, परमयम् निर्गुणसगुणयोः परिभाषामन्यामेव निराकारसाकारात्मिकां मन्यतेऽवैदिकीम् न तु ऋषिदयानन्दकृताम् ।

यदुच्यते "मैक्समूलरादिरीत्या पूर्वं सर्वे मानवाः असभ्या, आरण्यकाः ज्ञानशून्याश्चासन्, क्रमेण तेषु ज्ञानं विकसति स्म ।' एष एव सिद्धान्तस्तैः वेदेष्वारोपितः ।"

एतत् प्रसङ्गे तु वयम् स्पष्टं कुर्मो यदयम् लेखकः 'मनुष्याणाम् उपदेशमन्तरा पशुवत् प्रवृत्तिर्भवति, अतो वेदोपदेशं व्यधादादावीश्वरः' इति स्वामिनो लेखखण्डनाय "विकासवादिनस्तु विकासक्रमेणैव ज्ञानविकासोऽपि भवति, पशवः, पक्षिणश्च विवधं व्यवहरन्ति, सर्वोऽपि च व्यवहारो ज्ञानपूर्वक एव भवति" इतिमतं स्वामिमतं कृत्वा प्रस्तौति, तदा तु मैक्समूलरादिरीतिमात्मीयामिव वेदेष्वयं स्वयमेवारोपयति ।

मिथ्यात्व (मोक्ष का बाधकत्व) सिद्ध है, न कि जगत् का अभाव । यहाँ पर अन्यार्थ निकालने की दृष्टि से उलटा पाठ कर दिया गया है ।

(६२२ अनु० २) "वेदाधिकारियों के द्वारा परमात्मा की निर्गुण और सगुण रूप में उपासना की जाती थी ।,, यह कथन सत्य है, पर यह लेखक निर्गुण और सगुण की परिभाषा ही अन्य मान रहा है, जिससे सगुण का अर्थ साकार लगा रहा है, जो वेद विरुद्ध है । ऋषि दयानन्द कृत जो वेदानुकूल है उस परिभाषा को नहीं मानता । यह कहना कि मैक्समूलर आदि रीति से पहले सब असभ्य जंगली, ज्ञानशून्य थे, क्रमशः उनमें ज्ञान का विकास हुआ, यही सिद्धान्त स्वामी दयानन्द ने वेदों में आरोपित किया है ।"

इस प्रसङ्ग में तो हम स्पष्ट कर दें, कि यह लेखक ने "उपदेश के विना मनुष्यों की पशुवत् प्रवृद्धि होती है, अतः ईश्वर ने सृष्टि के आदि में वेदोपदेश दिया" स्वा० दयानन्द के इस लेख के खण्डन के लिये "विकासवादी क्रम से ही ज्ञान का विकास भी हुआ, पशु और पक्षी विविध व्यवहार करते हैं। सारा व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है" । इस मत को अपना निजमत करके प्रस्तुत किया है तब तो वास्तव में मैक्समूलर आदि की रीति को यही लेखक वेदों में आरोपित कर रहा है न कि ऋषि दयानन्द ।

(पृ० ६२६) पू० प० "यद्यपि साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृ. ३।४।१) इति श्रुत्या परं ब्रह्मापरोक्षमेव, तथाऽप्यनाद्यविद्यामायादियोगेनापरोक्षमपि ब्रह्म परोक्षवदवभासते।"

(उ० प०) अत्रैतद् विचारणीयम् यदेकमेव ब्रह्म नातोऽतिरिक्तं वस्तु, ततो परोक्षंप्रत्यक्षं वा ब्रह्म कस्य दृष्ट्या ? अथ च परोक्षवदित्यत्र 'वत्' इति किं तुल्यार्थे ? ओमिति चेत् अपरवस्तुसत्ताऽभावे तुलना-प्रश्नः एव कुतः सम्भवति ? यद्यनाद्यविद्यामायादियोगेन, तदा इयमविद्या द्रव्यं गुणो वा ? यदि द्रव्यं तदा ब्रह्मातिरिक्त-वस्तुसत्तायाम् द्वैतापत्तौ अद्वैत-सिद्धान्तहानिः, अथ चेद् गुणस्तर्हि कस्मिन् द्रव्ये तिष्ठति ? अतोऽत्र भवत्सिद्धान्ते उभयतोदोषापत्तिः। किञ्च नेयमविद्याउत्पद्यते शङ्कराचार्यादिमतेऽनादित्वमस्याः स्वीक्रियते, जन्यत्वेतु तस्याःनानादित्वमुपपद्यते, केषांचिन्मते प्रवाहानादित्वम् अविद्यायाः।

महात्मशङ्करमते अविद्यायाः जन्यत्वाभावे कावस्थिति भविता-भवतः ? वस्तुतस्तु आचार्यशङ्करस्याभिप्रायोऽविद्याया अधिकरणेन अस्ति, अर्थात् ब्रह्मजीवप्रकृतयस्त्वनादयः, तत्र ब्रह्म सर्वज्ञं जीवश्चा-

---

(६२६) पू० प०—"यद्यपि ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है" (बृ. ३।४।१) इस श्रुति से ब्रह्म अपरोक्ष है, तथापि अनादि, अविद्या माया आदि के योग से अपरोक्ष भी ब्रह्म परोक्ष के समान अवभासित होता है।

उ० प०—यहाँ पर यह विचारना चाहिये कि ब्रह्म एक है, इससे अतिरिक्त वस्तु अन्य कोई नहीं और यह ब्रह्म की परोक्षता किसकी दृष्टि से है ? तथा परोक्षवत् यहाँ "वत्" प्रत्यय क्या तुल्यार्थ में है ? अन्य वस्तु की सत्ता के अभाव में तुलना का प्रश्न ही संभव नहीं है। यदि अनादि अविद्या, माया आदि के संयोग से है तो बताइये यह अविद्या द्रव्य है अथवा गुण ? यदि द्रव्य है तो ब्रह्मातिरिक्त वस्तु की सत्ता होने पर द्वैतापत्ति में आपकी सिद्धान्त हानि होगी।

यदि गुण है तो यह बताइये कि यह गुण किस द्रव्य में रहता है ? पर यह अविद्या तो उत्पन्न होती नहीं। शङ्कराचार्यादि के मत में अविद्या की अनादिता प्रवाह से है ?

महात्मा शंकर के मत में जन्यत्व के अभाव में आपकी क्या स्थिति होगी ? वास्तव में आचार्य शङ्कर का अभिप्राय अविद्या के अधिकरण से है अर्थात्

ल्पज्ञः, प्रकृतिरज्ञा, यदा जीवो ब्रह्मणः समीपमायाति तदाऽयमल्पज्ञ-स्तत्त्वज्ञो जायते, यदा चायम् प्रकृतिम् भजते, तदाऽस्य मिथ्याज्ञान-मुत्पद्यते अणुभूतस्यार्थात् सूक्ष्मभूतस्य। स एष नवीनवेदान्त-विषयः सत्यार्थप्रकाशेऽपि पर्यालोचितः। यदुक्तं 'परोक्षवदवभासते' तदा (सिद्धान्ती) ब्रह्मणि जगत्.प्रत्ययः कस्य जातः ? (नवीन वेदान्ती) जीवस्य। (सि.) जीवः कुतो जातः ? (न० वे०) अज्ञानतः।

(सि०) अज्ञानं कस्माज्जातं कुत्र च तिष्ठति ?

(न० वे०) अज्ञानमनादि, ब्रह्मणि च तिष्ठति।

(सि०) ब्रह्मणि ब्रह्मणोऽज्ञानमुत कस्याप्यन्यस्य ? तदज्ञानं च कस्य ?

(न० वे०) चिदाभासस्य। (सि०) चिदाभासस्य किं रूपम् ?

(न० वे०) ब्रह्म। ब्रह्मणोब्रह्माऽज्ञानमर्थात् ब्रह्म स्वं स्वरूपं स्वयमेव विस्मरति। (सि०) तस्य विस्मरणे किन्निमित्तम् ?

(न० वे०) अविद्या। (सि०) अविद्या सर्वव्यापिनः सर्वेश्वरस्य

ब्रह्म जीव और प्रकृति ये ३ अनादि है उनमें ब्रह्म सर्वज्ञ जीव अल्पज्ञ और प्रकृति अज्ञ है। जब जीव ब्रह्म के समीप आता है, तब वह अल्पज्ञ तत्त्वज्ञ हो जाता है। जब यह प्रकृति को भजता है तब अणु अर्थात् सूक्ष्मभूत इसको मिथ्याज्ञान हो जाता है। यह नवीन वेदान्त का विषय महर्षि ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में पर्यालोचित किया है। आपका यह कथन है कि ब्रह्म परोक्षवत् अवभासित होता है। तब सिद्धान्ती कहता है कि ब्रह्म में जगत् का प्रत्यय किसे हुआ ? नवीन वेदान्ती—जीव को। सि०—जीव कहाँ से हुआ ?

नवीन वे०—अज्ञान से।

सि०—अज्ञान किससे हुआ ? और किसमें रहता है ?

न० वे०—अज्ञान अनादि है और ब्रह्म में रहता है।

सि०—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान है अथवा अन्य किसी का ?

न० वे०—चिदाभास का। सि०—चिदाभास का क्या रूप है ?

न० वे०—ब्रह्म, ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूप को स्वयं ही भूल जाता है। सि०—उसके विस्मरण में क्या निमित्त है ?

न०वे०—अविद्या। सि०—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है अथवा

गुणोऽल्पज्ञस्य वा ? (न० वे०) अल्पज्ञस्य। (सि०) तद् युष्मन्मते एकमनन्तं सर्वज्ञं चेतनं विनाऽन्यः कश्चन चेतनो विद्यते न वा ? अल्पज्ञश्च कुतः आगतः ? आम्, अल्पज्ञश्चेतनश्चेद् ब्रह्मणः च पृथङ् मन्यते तदा समीचीनम्। यदैकभागे ब्रह्मणो निजस्वरूपस्याज्ञानं भवेत् तदा सर्वत्र तदज्ञानं प्रसरेत्। यथा शरीरैकभागे जायमाना स्फोटपीडा सकलशरीरावयवान् निरुपयोगान् करोति तथैवैकदेशे ऽज्ञानक्लेशयुतं ब्रह्माऽपि यदि भवेत्तदा सकलं ब्रह्माऽपि अज्ञानक्लेशानुभवयुक्तं सम्पद्येत इति (११ श समुल्लासे)। अतस्तव नवीनवेदान्तिन एष पक्षोऽज्ञानविजृम्भित एव।

अल्पज्ञ का ? (न० वे०)–अल्पज्ञ का। (सि०)–वह आपके मत में एक अनन्त, सर्वज्ञ चेतन के विना अन्य कोई चेतन है अथवा नहीं ? और अल्पज्ञ कहाँ से आया ? अच्छा, अल्पज्ञ चेतन होवे और ब्रह्म से पृथक् माना जावे तब समीचीन है, जब एक भाग में ब्रह्म निज स्वरूप का अज्ञान होवे तो सर्वत्र ही वह अज्ञान फैल जावे।। जैसे शरीर के एक भाग में जायमान फोड़े की पीड़ा सारे शरीर के अवयवों को निरुपयोग बना देती है वैसे ही एक देश में अज्ञान क्लेश युक्त ब्रह्म भी होवे तो वह सारा ही ब्रह्म अज्ञान क्लेशानुभव युक्त हो जायेगा।,, (११ समुल्लास)

—:o:—

देवता-स्वरूप-निरूपणम्

एतच्छीर्षके ६२६ पृ० ६ पङ्क्तिमारभ्य (६७५ पृ०) यावत् करपात्रेण 'शब्दादेव प्रमितः' इति वेदान्तसूत्रप्रभृत्या वेदान्तसूत्राणां जैमिनिसूत्राणां च अन्वक्षरं भाष्यमुद्धृतं, तदप्रासङ्गिकमेव, महर्षि कथनस्यानुपात्तत्वात्। तद्विषये अन्वक्षरमसमालोच्य साररूपेणैव देवता-विषयकप्रकरणमुपन्यस्यते।

ऋषिदयानन्देन देवताविषये "तत्राऽपि मतद्वयं" विग्रहवदविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं प्रतिपादितम्। अन्यच्च 'मातृदेवो भव इत्याद्युद्धृत्य मातृपित्राचार्यातिथिपरमेश्वराः तैत्तिरीयोपनिषदनुसारमुक्ताः देवताः। अग्रे परमेश्वर एवोपास्यः इत्यत्र प्रमाणानि उद्धृतानि।

तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते। माता-

देवता स्वरूप निरूपण

इस शीर्षक पर ६२६ पृ० की ६ पंक्ति से आरम्भ कर ६७५ तक करपात्री जी ने 'शब्दादेव प्रमितः' इस वेदान्त सूत्र से लेकर वेदान्त तथा जैमिनि के सूत्रों का भाष्य अक्षरशः उतार दिया है, वह सब अप्रासङ्गिक है, क्योंकि यहाँ महर्षि दयानन्द के कथन का कोई उद्धरण नहीं दिया है जिसके प्रसङ्ग में यह मान लिया जावे। उस विषय में प्रत्येक अक्षर की समालोचना न करके साररूप से ही देवता विषयक प्रकरण का उपन्यास किया जायेगा।

ऋषि दयानन्द ने देवता के विषय में 'उसमें भी दो मत है विग्रहवत् तथा अविग्रहवत् देवता भेद से। इन दोनों का प्रतिपादन किया है। तथा मातृदेव, पितृदेव आदि उद्धरण देकर माता-पिता आचार्य, अतिथि यह मूर्तिमान और परमेश्वर अमूर्तिमान् देव तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार कहे हैं। आगे मोक्ष प्राप्ति के लिये परमेश्वर ही उपासनीय है इसमें प्रमाण उद्धृत किये हैं।

पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता पिता, आचार्य, अति-

पित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थ-प्रकाशकत्वं च, मनः षष्ठज्ञानेन्द्रियाणामुपयोगो व्यवहाराय परमार्थाय च। परं परमेश्वरस्य देवत्वमिष्टोपयोगित्वेनाऽस्ति।

देवताऽधिकरणविषये विचारणीयमेतद्यत् सूर्यादयो देवताश्चेतना अचेतना वा ? ते चेतनजीव-विशेषा ईश्वर-रूपा वा ?

(पू० प०) यदाधारा वैदिकदेवता ईश्वर-भिन्ना जीवविशेषाः समनुमन्यन्ते 'इमे' यथा—

विग्रहो हविषा भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

१. विग्रहो यथा-'जगृम्भाते दक्षिणमिन्द्रहस्तम्, इत्यादिप्रमाणम्।

२. हविर्भोगे यथा 'अद्धीन्द्र पिव च प्रस्थितस्य'

३. ऐश्वर्यं यथा—'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या······"

४. प्रसन्नता फलप्रदानं च यथा :-'आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति, तस्मै प्रीता इषमूर्जं च यच्छन्ति"।

थियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्र देवपन है। मन और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ के लिये होता है, परन्तु परमेश्वर का देवपन इष्ट (मोक्ष) उपयोगित्वेन है।

देवता अधिकरण विषय में विचारणीय यह है, कि इतर सूर्यादि देवता चेतन हैं वा नहीं ? वे चेतन जीव विशेष हैं अथवा ईश्वर रूप हैं।

पू०प० – जिन आधारों पर वैदिक देवता ईश्वर से भिन्न जीवविशेष माने जाते हैं, वे —

विग्रह, हविर्भोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फल-प्रदान ये पाञ्च हैं।

१. विग्रह जैसे 'हे इन्द्र ! तुम्हारे हाथ को ग्रहण किया' इत्यादि प्रमाण।

२. हविर्भोग जैसे—'हे इन्द्र ! खाओ और पियो।

३. ऐश्वर्य जैसे—इन्द्र द्युलोक और पृथिवी का स्वामी हैं।

४-५—प्रसन्नता और फल-प्रदान जैसे हुत से अवशिष्ट खाने वाला-देवताओं को प्रसन्न करता है वे अन्न और बल को देते है।

इमे च चेतनधर्माणि एव । इतिहास पुराणेष्वपि देवतानां विग्रहादिपञ्चकं बहु प्रपञ्चितम्, लोकव्यवहारेण च पञ्चकं सिद्धम् ।

एभिर्हेतुभिदेवताश्चेतना शरीर-धारिण प्रतीयन्ते, परमेश्वरश्च न शरीरी, तस्माद्देवता इमे परमात्मनो भिन्नाः । तत्पुष्टौ एव एकमन्त्रे एवानेक-देवताः स्तूयन्ते (१) यथा 'शन्नो मित्रः शं वरुणः", अन्यथा एकस्यैव परमेश्वरस्य नाम-भेदे 'शन्नो मित्र" इत्येव पठनं पर्याप्तमभविष्यत् । (२) अथ च परमात्मना सह अन्यदेवतावर्णनमपि भिन्नत्वं साधयति, यथा—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि (३) परमात्म-भिन्नत्वे प्रबलं प्रमाणम्, यथा—"तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्याः विद्युः" (बृह० १।४।१०) यत् परमात्मानमजानन्त एव मानवा देवतां पूजयन्ति अत एतदभीष्टं देवानां यज्ञे न परमात्मानं बुध्येरन्" एतानि वचांसि अस्मिन् पूर्वपक्षे प्रदर्शितानि ।

उत्तरपक्षश्चेत्थम्—यदुपनिषदां वेदमन्त्राणां च गम्भीराध्ययनेन स्फुटं निश्चीयते यद् विभिन्नदेवताव्याजेन एक एवेश्वरो वर्ण्यते, वेदे अग्निवाय्वादि-द्वारा तस्यैव विविधो महिमा दर्शितः । न सूर्यो·· देवः

ये चेतन के ही धर्म हैं । इतिहास पुराणों में भी देवताओं के विग्रह आदि पञ्चक का विस्तार से वर्णन किया गया है । लोक-व्यवहार में भी यह सिद्ध है ।

इन हेतुओं से देवता चेतन व शरीरधारी प्रतीत होते हैं । परमेश्वर शरीरी नहीं है, अतः परमात्मा से भिन्न है । उसकी पुष्टि में ही एक ही मन्त्र में अनेक देवताओं का स्तवन है । यथा १. शन्नो मित्रः शंवरुणः आदि अन्यथा एक ही परमेश्वर का नाम भेद होने पर 'शन्नो मित्रः यही पढ़ना पर्याप्त होगा । (२) परमात्मा के साथ अन्य देवता वर्णन भी भिन्नत्व का साधक हैं । (३) परमात्मा के भिन्न होने में बहुत से प्रमाण हैं जैसे (वृहदारण्यक १।४।१०) कि इन देवताओं को यह प्रिय नहीं है ।

(उत्तरपक्ष)—महोदय ! उपनिषद् और वेदमन्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिन्तन से स्पष्ट निश्चित हो जाता है कि विभिन्न देवता व्याज (बहाने) से एक ही ईश्वर का वर्णन उपासना काण्ड में किया जाता है, वेद में अग्नि, वायु, आदित्य द्वारा भी उसी परमेश्वर की विविध महिमा का वर्णन किया

कश्चिच्चेतनो जीवविशेषो यथा च जैमिनि सूर्यम् ज्योतिर्मयमण्डल मनुते, न तु जीवविशेषम्। वयमपि पश्यामो नाग्निवाय्वादीनामङ्गानि, शास्त्रे तद्वर्णनं चालङ्कारिकम्, यथाहि मनुस्मृतौः—

'यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्य त।। (म० ७।२५)

अचेतनानामपि अङ्गवर्णनं वेदेऽपि "अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः, इति पाषाणस्तुतौ। अशरीरस्याऽपि परमात्मनोऽङ्गवर्णनम् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्" अतोऽङ्गादिवर्णनेन नेन्द्रादयः शरीरधारिणो मन्तुं शक्यन्ते।

एवमस्मत्पुरः पक्षत्रितयम्। प्रथमः, इन्द्रादयोऽचेतनाः। द्वितीयः शरीरिणो जीवविशेषास्तृतीयश्चैकस्य परमात्मनो भिन्नभिन्नरूपेषु वर्णनम्। वेदमन्त्रैश्च तृतीयपक्ष-पुष्टिः स्पष्टं घोष्यते। अतो निःसन्देहमयमेव पक्षो गरिष्ठो वरिष्ठश्च। तद् यथा (क) यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। (ऋक् १०।८२।३)

गया है। सूर्यदेव कोई चेतन जीव विशेष नहीं है, जैमिनि महर्षि भी सूर्य को ज्योतिर्मण्डल मानते हैं न कि जीवविशेष। हम भी देखते हैं कि वायु आदि के मनुष्यवत् अङ्ग नहीं, शास्त्र में वर्णन आलङ्कारिक हैं। जैसाकि मनुस्मृति में 'जहाँ पर श्याम, लोहिताक्ष, पाप हरने वाला दण्ड विचरण करता है, नेता ठीक से देखभाल रक्खे तो प्रजा मोहित नहीं होती।" अचेतनों का भी अङ्ग-वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। यथा—'पाषाण स्तुति में' अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः, अशरीरी परमात्मा का अङ्गवर्णन "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात्, सब ओर चक्षु और सब ओर पैरों का वर्णन है।

इस प्रकार हमारे समक्ष तीन पक्ष विचारणीय हो सकते हैं। प्रथम इन्द्रादि अचेतन हैं, द्वितीय, शरीरधारी जीव विशेष हैं तृतीय, एक ही परमात्मा के (उपासना में) भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। वेदमन्त्रों के द्वारा तृतीय पक्ष की पुष्टि स्पष्ट घोषित है, अतः निःसन्देह यही पक्ष गरिष्ठ और वरिष्ठ है। जैसे (क) जो सूर्यादि प्रकाशमान लोकों में इन्द्र, वरुण, अग्नि नाम धारण करने वाला एक ही है उस प्रष्टव्य को सब भुवन प्राप्त होते हैं।

(ख) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।(ऋ.१।१६४।४६)

(ग) स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः...। (अथर्वः—१०।७।२९)

(घ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताः आपः स प्रजापतिः । (यजु०३२।१)

अत इन्द्रादिभिर्नामभिरेकस्यैव परमात्मनो ग्रहणम् ।

एतज्जगतः स्थितिः प्रवृत्तिश्च परमात्मनोऽधीने, तस्मात् पृथग्भूय नाग्निस्तृणमपि ज्वलयितुं, न वायुरुत्पातयितुं शक्नोति 'स उ श्रोत्रस्य श्रोत्रं, चक्षुषोश्चक्षुः मनसो मनः स उ प्राणस्य प्राणः'' यत्तेजसा सूर्यस्तपति' इन्द्रमरुन्मेघविद्युदादयः तन्महिम्नैव कार्यं कुर्वन्ति ।

"स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रोभूत्वा तपति मध्यतो दिवम्"
(अथर्व १३।३।१३)

"तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं यजत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टि-रेव उ ह्येव सर्वे देवाः । (बृहदा०)

(ख) इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नामों से विप्र उसी एक परमात्मा का कथन करते हैं ।

(ग) उस धारण करने वाले परमेश्वर में लोक, तप, सत्य, शास्त्र आदि समाहित है । (अथर्व० १०।७।२९)

(घ) वही ईश्वर अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा आदि नाम वाला है । (यजु० ३२ १।)

इस जगत् की स्थिति और प्रवृत्ति परमात्मा के अधीन है, उससे पृथक् होकर अग्नि तृण भी नहीं जला सकती, न वायु उड़ा सकती है, वही परमात्मा श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु का चक्षु मन का मन और प्राणों का भी प्राण है, जिसके तेज से सूर्य तपता है, इन्द्र, मरुत् मेघ, विद्युत आदि उसी की महिमा से काम करते हैं । (अथर्ववेद १३।३।१३) में कहा है कि वह परमात्मा सांयकाल में अग्नि, प्रातः स्नेहवान् सूर्य बनता है, प्रेरयिता सूर्य के समान अन्तरिक्ष से चलता है,

'एतं ह्येव वह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते, एतमग्नावध्वर्यव, एतं महाव्रते छन्दोगाः । (ऐत० ग्रा० ३।२।३।१२) ।

तदेवम् एभिः प्रमाणैः स एक एव परमात्मा अनेकदेवतारूपे वर्ण्यते, एतद् वर्णनं परमात्मनो विभिन्नशवलरूपाणाम् ।

ननु 'हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्' इत्यनेन प्रतीयमाने वलज्ञाने च चेतने एव सम्भवतः, प्रसन्नताफलप्रदानञ्चापि मुख्ययावृत्त्या चेतनस्यैव धर्मौ, अतो न देवा जडाः, अन्यथा जडत्वे एवंविधोक्तीनामसङ्गतताऽऽपत्तिरिति वाच्यम्, इति चेन्न, अग्न्यादीनां परमात्मनो भिन्नत्वे जीवविशेषत्वमान्यतायाः अशास्त्रीयत्वादयुक्तत्वाच्च । एकस्यैव तत्त्वस्य व्यष्टिसमष्टिरूपेण पृथक् पृथगधिष्ठातृत्वाऽसम्भवात् । न चैक यज्ञियाग्नेरन्योऽधिष्ठाता अपरयज्ञियाग्नेरपराग्नीनां चेतरोऽधिष्ठाता सम्भवति यतोहि अग्नि-सामान्यस्य एकस्याधिष्ठातृत्वेऽग्निविशेषस्यान्याधिष्ठातृमान्यताया निरर्थकत्वात् ।

यथा "वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्येत्वे विश्वे अमृता मादयन्ते ।

वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनां उपमिद्ययन्थ ।।

(ऋ० १।५९।१)

परमेश्वर्यवान् होकर सूर्य को तपाता है, जो वेदज्ञाता ब्रह्म को सताता है, वह उसकी दृष्टि में अपराध है । तद् यत्—इत्यादि वृहदारण्यक, 'एतंह्येन'—इत्यादि (ऐतरेय) इन प्रमाणों से वह एक ही परमात्मा अनेक देवता रूप में वर्णित है, यह वर्णन परमात्मा के विभिन्न शवल रूपों का है।

शङ्का—'हस्ते वज्रं भरति' आदि से प्रतीयमान बल और ज्ञान तो चेतन में ही हो सकते हैं तथा प्रसन्नता और फल प्रदान भी मुख्य-वृत्ति से चेतन के ही धर्म हैं, अतः देवता जड़ नहीं हैं, अन्यथा ऐसी उक्तियों की असङ्गतता की प्राप्ति हो जायेगी ।

समा०—परमात्मा से भिन्न अग्न्यादि को जीवविशेष की मान्यता अशास्त्रीय और अयुक्त है । एक ही तत्त्व के व्यष्टि तथा समष्टि रूप से पृथक् पृथक् अधिष्ठातृत्व सम्भव नहीं है । और एक यज्ञीय अग्नि का अन्य अधिष्ठाता और अपर यज्ञीय अग्नि का तथा इतर अग्नियों का इतर अधिष्ठाता सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अग्नि-सामान्य का एक अधिष्ठाता और अग्नि विशेष के अन्य अधिष्ठाता' की मान्यता निरर्थक है। जैसे "वया इदग्ने' (ऋ० १।५९।१)।

अर्थात् हे वैश्वानराग्ने ! अन्याग्नयस्तव शाखाः, सर्वे देवास्त्वयि मादयन्ते, त्वं सर्वमनुष्यनाभिरसि, दृढस्तम्भ इव त्वं सर्वाश्रयः। अत एक एव परमात्मा प्रसिद्धाग्निना वैश्वानराग्निना सह शवलरूपेण पृथक् पृथग् वर्णितः, एवम् वायुरेव विशेषावस्थायाम् मरुदुच्यते न च वायोर्मरुद्-भिन्नतत्त्वम्,।

इदमेव तत्त्वमेकदेवतात्मकं 'याज्ञवल्क्यशाकल्यसंवादे' (वृहदा० ३।९) प्रस्फुटं जायते। यथा-'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ, कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद उच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योम् इति होवाच।

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच, कत्येव देवा याजवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्य इत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच, कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति एक एव इत्योमिति

हे वैश्वानर ! आगे ! अन्य अग्नियाँ तुम्हारी शाखा हैं सब देवता तुममें आनन्द प्राप्त करते हैं। दृढस्तम्भ के समान तुम सबके आश्रय हो, अतः एक ही परमात्मा प्रसिद्ध अग्नि, वैश्वानर, अग्नि के साथ शवल रूप से पृथक्-पृथक् वर्णित किया गया है। एक वायु ही विशेष अवस्था में मरुत् कहलाती है, वायु से भिन्न मरुत् तत्त्व नहीं है। यही तत्त्व एक देवात्मक 'याज्ञवल्वय, शाकल्य के संवाद से (बृह. ३।९) प्रस्फुटित हो जाता है। जैसे कि विदग्ध नामक शकल के पुत्र शाकल्य ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ? तब याज्ञवल्वय ने इस आगे कहीं जाने वाली निविद् से ही उनकी संख्या का प्रतिपादन किया जितने वैश्व-देव की निर्विद् में अर्थात् देवताओं की संख्या बतलाने वाले पदों में बतलाये गये हैं। वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र है' ठीक है, फिर पूछा कितने हैं ? याज्ञवल्वय ने कहा तेतीस। शाकल्य ने कहा—ठीक है।

शाकल्य ने फिर पूछा, कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य 'छः', शाकल्य ठीक है। फिर पूछा—'याज्ञबल्क्य। 'कितने देव हैं ? 'तीन'। फिर पूंछा, तो कहा, 'दो' फिर पूंछा 'कितने ? कहा 'अध्यर्ध'। फिर पूछा, कितने हैं याज्ञवल्क्य ने कहा 'एक'। यह प्रकरण एक ही परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में सङ्गत होता है यही वैदिक सिद्धान्त है अन्य पक्ष संगत नहीं हैं। विग्रह आदि पक्ष में शरीर वर्णन आलङ्कारिक है, शेष भी परमात्मा में ही

होवाच "इदमेकस्यैव परमात्मनोऽधिष्ठातृत्वे एव सङ्गच्छते, अयमेव च वैदिकसिद्धान्तः नेतरौ पक्षौ सङ्गतौ। विग्रहादिपञ्चके शरीरवर्णनं सर्वत्रालङ्कारिकम् शिष्टमपि परमात्मनि एव सङ्घटते। इति संक्षेपः।

(६७७।अनु० १) आक्षेपः—मोक्षमूलरस्य खण्डनं कृतं, तत्तु यत्किञ्चित् पूर्वपक्षस्वरूपतन्निरसनयोरुभयोरप्यविज्ञानात्। भट्टमोक्षमूलरप्रयोगोऽपि तत्र नोचितः, तस्मिन् भट्टपदार्थासङ्गतेः, तदर्थाभिप्रायेण तन्नामकरणाभावाच्च। भट्टत्वं षट्शास्त्राभिज्ञानामुपाधिर्न तत्र सोऽस्ति। तैरपि तदनङ्गीकारात्।"

समा०—इदमल्पमपि खण्डनमाङ्गलानां राज्ये निर्भीकार्यपरिव्राजकस्य महोत्साहं सूचयति देशस्वातन्त्र्यकृत्मार्गदर्शनस्य। यदा भवान् स्वातन्त्र्याग्निनिर्वापण-क्रियाशीले अमन-सभासङ्घटने देशद्वेषिकृतघ्न-श्रेणोमलङ्कुर्वाणोऽभवत्। तदा ऋषिस्तु देशस्वातन्त्र्यमार्गं प्रशस्तं कुर्वाण आसीत्। सत्यमुक्तं कविना भारविना :—

संघटित होता है, यह संक्षेप है। (६७७ अनु०१) आ०— इस प्रकार से मोक्षमूलर के मत का खण्डन भी उचित रूप से नहीं हुआ। यहां पर पूर्वपक्ष का स्वरुप और उसका खण्डन दोनों ही ठीक तरह से नहीं रखे गये हैं यह मोक्षमूलरभट्ट, यहाँ पर भट्ट-पद का प्रयोग भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें भट्ट पद के अर्थ की सङ्गति नहीं है। इस, अर्थ के अभिप्राय से यह नाम रखा भी नहीं गया है, षट् शास्त्र के अभिज्ञाता को भट्ट कहा गया है मोक्षमूलर में यह घटित नहीं है, इस बात को उन्होंने भी माना है।

यह थोड़ा सा खण्डन भी अंग्रेज़ों के राज्य में निर्भीक आर्य परिव्राजक के महोत्साह को सूचित करता है, देश को स्वतन्त्र करने वाले मार्ग का दर्शक है, जब कि आप स्वतन्त्रता की आग को बुझाने में क्रियाशील अमन सभा' सङ्गठन में देशद्रोही कर्ताओं की पङ्क्ति को सुशोभित कर रहे थे तब ऋषि दयानन्द स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। भास कवि ने सच कहा है। बनाये गये घाट वाले जलाशयों के समान विषम नीति मार्ग भी सुगम्य हो जाता है, परन्तु वह व्यक्ति दुर्लभ है जो कर्तव्य कर्म का प्रारम्भ करता है।" श्रीमान् जी आपको जानना चाहिये कि सर्व प्रथम ऋषि ने ही यह विधर्म ग्रन्थ विश्वास और अयुक्त ऊटपटांग बातों के खण्डन करने का मार्ग प्रशस्त किया था।

"विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥ इति

श्रीमन् भवताऽवधेयं यत् सर्वप्रथममृषिरेव विधर्मान्ध-विश्वास-युक्तमतानां खण्डनस्य मार्गं प्रशस्तं कृतवान्। किञ्च, तयोः पक्षयोरज्ञानादिति दम्भोक्तिस्ते अलीककल्पनाशीलमानसस्य कूपमण्डूकतामेव द्योतयति।

भट्टशब्दप्रयोगस्तु श्लेषात्मको बह्वर्थकस्तथापि भटतीति भटो भट्टो वा। भट्धातोर्बाहुलकात् तन्निरूपणम्। डाक्टरार्थवाचको भट्टशब्दः आप्टेमहोदयेनापि प्रायोजि।

म्लेच्छ-भेद इति हेमचन्द्रः पामरविशेष इति मेदिनी, वर्णशङ्कर-विशेषोऽपि भट्टः इति स्वामी अपि। एष्वर्थेष्वन्यतमे अर्थेऽत्र डाक्टरानुवादको भट्टशब्दो बहुव्यञ्जनाढ्यो योजनीयो यथावृत्ति, यथामति च। वेदानुवादप्रयासपरत्वे प्रथमोऽर्थः, वेदस्पर्शमात्रविधान-व्यवस्थापक पुराणपङ्के सीदतां भवादृशानां मते म्लेच्छभेदः इत, एवमग्रेऽपि ऊहनीयम्। नान्यः कश्चिदेतावान् समुपयुज्यते शब्दः।

तथा "पूर्वपक्ष के स्वरूप और उसके खण्डन का ऋषि दयानन्द को ज्ञान नही था" यह आपकी दम्भोक्ति है। यह कथन झूठी गप्प मारने वाले आपके मन की कूपमण्डूकता को ही प्रकट करता है।

भट्ट शब्द का प्रयोग ऋषि ने श्लेषपूर्ण बहुत अर्थों वाला प्रयुक्त किया है। भट् धातु से तन् प्रत्यय करने पर भट्ट डाक्टर अर्थ में प्रयुक्त किया, जैसा आप्टे महोदय ने भी प्रयुक्त किया है।

हेमचन्द्र ने म्लेच्छ-भेद में इसका प्रयोग किया है, मेदिनी में पामर विशेष में तथा स्वामी ने वर्ण संकर विशेषार्थ में भी प्रयोग किया है। इन अर्थों में से डाक्टर अर्थ वाला यह भट्ट शब्द बहुव्यंजनाजनक है। भाव और बुद्धि के अनुसार कहीं भी यथामति लगाया जा सकता है वेद के अनुवाद म प्रयास करने के कारण प्रथम अर्थ में है, वेद स्पर्श तक का अविधान करने वाले पुराणों के पङ्क में फसे हुये आप जैसों के मत में म्लेच्छार्थ में इसी प्रकार आगे भी समझ लीजिये। यहाँ पर "भट्ट" शब्द से अधिक उपयुक्त और कोई शब्द ही नहीं है।

कश्चिदप्यधीती भट्टशब्दवाच्यो भवेत् न तु षट्शास्त्रज्ञ एव तत्रैव प्रयोगादर्शनात् ।

भवता मैक्समूलर इति शब्दः प्रयुक्तः । ऋषिणा त्वभिनन्दितं नाम्नोऽपि संस्कृतिकरणमिति नूतनवर्त्मप्रशस्तिरेव स्वामिनः । अपावनानां पावनीकरणवृत्तेर्नैसर्गिकत्वात् मोक्षमूलर इति वचनात् मोक्षस्यमूलं राति ददाति, मोक्षमार्गं प्रशस्तं करोति स्वदेशीयानां कृते, यथामति वेदभाष्यकरणप्रयासादिति ।

वस्तुतः अहर्निशं वर्षति वारिवाहस्तथापि पतत्रितयः पलाशः इत्यनुसृत्य वहुसविकल्पकप्रश्नोत्थापनिकापुरस्सरं व्याकरणे लकारभेदान् प्रस्तुवता भवता मोक्षमूलरोपरि ऋषिदयानन्दकृत आक्षेप एव समर्थितो न ततोऽप्यधिकं किमप्यूहितम् । निर्वलगं प्रलपतो भवतोऽय गण्डस्योपरि विस्फोटः समजनि, यदन्ववदत् हिन्दीकारः 'ईश्वरोऽपि वेदस्य (पूर्वकल्पे विद्यमानस्य) आनुपूर्वीं स्मृत्याधारे उत्तरकल्पे उपदिशति'' इति ।

यतो हि न्यायविदो विदन्ति सौक्ष्म्यम् यत् 'स्मृतिः संस्कारमात्र-

---

आपने कहा, छः शास्त्र के ज्ञाता को ही 'भट्ट' कहते हैं यह आपका अज्ञान है, कोई भी अधीती 'भट्ट' कहा जा सकता है, केवल षट् शास्त्रविद्अर्थ में ही इसका प्रयोग निहित नहीं है ।

आपने मैक्समूलर शब्द का प्रयोग करना पसन्द किया पर ऋषि ने तो 'मोक्षमूलर' कहकर नाम का संस्कृतीकरण कर नूतन पथ ही प्रशस्त किया । इससे प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द अपावनों को भी पावन करने की वृत्ति रखते थे, उनका स्वभाव था जैसा कि 'मोक्षमूलर' शब्द के प्रयोग से प्रकट है, मोक्ष का मूल अर्थात् वेद को अपने देश को देन वाला।

वास्तव में ''रातदिन बादल बरसा पर ढाक के तीन ही पत्ते रहे'' उक्ति के अनुसार बहुत से विकल्पोत्थानिका पूर्वक (व्याकरण में) लकार भेद आप प्रस्तुत करने लगे और अन्त में मोक्षमूलर के ऊपर ऋषि दयानन्द कृत आक्षेप का ही समर्थन किया । उससे अधिक आप कुछ भी ऊहन न कर सके । बेलगाम बोलने वाले आपके टीकाकार की कनपटी पर यह एक और फोड़ा निकल आया जो कि वे कहते हैं कि ईश्वर भी पूर्वकल्प में विद्यमान वेद का स्मृति के आधार पर उत्तर कल्प में उपदेश देता है । '

जन्यम् ज्ञानम् कथ्यते। अयं हि भावनाख्यः संस्कारः स्मृतिप्रत्यभिज्ञयोः कारणम्, प्रत्यभिज्ञा च पूर्वदृष्टश्रुतादिवस्तुनः पुनः दृक्श्रवणादिगोचरत्वे परिचयनम्। स संस्कारो नेश्वरे सम्भवति, विस्मरणाऽभावात्। अनुभवस्य ज्ञानस्य वा स्मृतौ न कारणत्वं सम्भवति, इह ईश्वरज्ञाने पौर्वापर्याऽभावात् तस्मादिह सर्वज्ञेश्वरस्य नित्यज्ञानवत्त्वात् दर्शन सूक्ष्म-तत्त्वविवेचनाऽक्षमतैव स्पष्टा तट्टीकाकृतो दर्शनाचार्यस्य।

(पृ० ६८१) आक्षे०—'ततोऽपि मन्दाः पाश्चात्यास्तदनुयायिनो दयानन्दस्तदीयाश्च लुङादिभिर्मन्त्राणां ब्राह्मणानां च सादित्वं पौरुषेयत्वं चापादितवन्तः।"

समा०—इदन्तु तवैव मन्दमतित्वम्। (मन्त्राणां) वेदमन्त्राणां तु सादित्वं पौरुषेयत्वं वा न क्वापि ऋषिणा प्रतिपादितम् ब्राह्मणानां तूभयमस्त्येव मनुष्यशरीरधारिभिर्निर्मितत्वात्। अत्र निर्मलोक्तिरेषा सङ्गता—

न्यायविद इस सूक्ष्मता को समझते हैं कि संस्कारमात्र जन्य ज्ञान का नाम स्मृति है और यह भावनाख्य संस्कार स्मृति और प्रत्यभि ज्ञता का कारण होता है। पूर्वदेखी या सुनी हुई वस्तु फिर से दृष्टि या श्रवण में 'आने पर पहचानना प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। वह संस्कार ईश्वर में कैसे सम्भव हो सकता है। क्योंकि ईश्वर को विस्मृति नहीं होती। अनुभव या ज्ञानत्व यहाँ स्मृति के कारण नहीं, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में पौर्वापर्य का अभाव होगा, अतः यहाँ सर्वज्ञ ईश्वर के नित्य ज्ञानवान्न होने से हमारी जैसी स्मृति नहीं होती। उक्त लेख में 'स्मृत्याधार' कथन से टीकाकार दर्शनाचार्य की दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म-विवेचना की अक्षमता स्पष्ट प्रतीत होती है।

(पृ० ६८१) पू० प० 'ये पाश्चात्य विद्वान, उनके अनुयायी, दयानन्द और उनके शिष्य इन नास्तिकों से भी अधिक मन्द बुद्धि के हैं, जो लुङ आदि के द्वारा मन्त्रों और ब्राह्मणों की सादिता और पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं।"

समा०—यह तो आपका मन्दमतित्व है, जो आप ऋषि दयानन्द द्वारा मन्त्रों का सादित्व और पौरुषेयत्व सिद्ध करना प्रतिपादित कर रहे हैं। आप मन्त्रों की आड़ में चालाकी से ब्राह्मण ग्रन्थों को भी लपेट में लेकर मन्त्र समता प्रकट करना चाहते हैं। ब्राह्मणों की तो सादिता और पौरुषेयत्व

श्रुतेरनादित्वमृषिर्ह्यसाधयत् अपौरुषेयत्वमिह प्रमाणितम् ।
मृषैव सादित्वमृषौ समाक्षिपत्, इदं कुवृत्या करपात्रजल्पनम् ।

(पृ० ६८२) यदुक्तं 'प्रातिशाख्याद्यनभिज्ञा एव वेदेषु लौकिकमितहासं सिसाधयिषन्ति ।" अयमाक्षेपस्तु पौराणिकमतावलम्बिषु भवादृशेष्वेव घटते नत्वस्मासु, ऋषिदयानन्देनैव वेदेष्वैतिहासिकतायाः सर्वप्रथमं खण्डितत्वात् ।

तथाहि सनातन धर्मि शिरोमणयः सामश्रमिणः प्राहुर्यत् 'वैदिकाख्यायिकोक्तो वृत्तान्तभाग उपमामूलकः परिकल्पितः, नह्यनित्येतिहासपरकः । अतश्छिन्नेषु मूलेषु कुतो न पतेयुः पौराणिकेतिहासाद्भुतकथाः सर्वा वातेन कदलीवनानि यथेति ।"

निर्णयसागर मुद्रणप्रकाशित नवाह्निकमहाभाष्यटिप्पण्यां पौराणिक-संस्काराभिभूतौ वैयाकरणौ महामहोपाध्याय श्री शिवदत्त श्री रघुनाथ शास्त्रिणौ २९ तमे पृष्ठे "त्वष्टुर्हवै पुत्रस्त्रिशीर्षा— इत्याद्युद्धरणे लिखतः शतपथ ब्राह्मणे प्रथमकाण्डे पञ्चमप्रपाठके

मनुष्यशरीरधारी ऋषियों द्वारा निर्मित होने के कारण सिद्ध है। यहाँ पर यह निर्मलोक्ति घटित हो रही है :—

ऋषि दयानन्द ने श्रुति की अनादिता सिद्ध की है और अपौरुषेयत्व भी प्रमाणित किया है । तुमने ऋषि पर सादित्व-साधन दोष झूठा आरोपित किया है । करपात्री जी ! आपकी यह जल्पता दुर्वृत्ति के कारण है ।

(पृ.६८२) कि प्रातिशाख्यादि से अनभिज्ञ ही वेदो में लौकिक इतिहास सिद्ध करना चाहते हैं, यह आक्षेप तो पौराणिक मतावलम्बी आप जैसों पर ही घटित होता है न कि हम लोगों पर । ऋषि दयानन्द ने ही वेदों में इतिहास होने का सर्वप्रथम खण्डन किया है ।

जिस प्रकार कि सनातन धर्मियों के शिरोमणि सामश्रमी ने भी कहा है कि वैदिक आख्यायिकाओं मे कहा हुआ वृतान्तभाग उपमामूलक परिकल्पित है, अनित्य इतिहास-परक नहीं है । अतः पौराणिक इतिहास की अद्भुत कथायें छिन्नमूल वृक्षों के समान क्यों न गिर जावें, जैसे कि तीव्र वायु से कदलीवन गिर जाते हैं ।"

द्वितीय ब्राह्मणे च समुपलभ्यमानस्येतिहासस्य 'त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः" इति निरुक्ते सूचितत्वात् त्वष्टृवृत्रेन्द्रादीतिहासस्य मिथ्यात्वं वदन् अभिनवस्वामी (दयानन्दः) त्वप्रत्यक्ष-शास्त्रैकगम्य पदार्थ - खण्डनाग्रहग्रस्तत्वादनधीतसंस्कृत - ग्रन्थलोकप्रतारणाय स्वाभिमते शतपथनिरुक्तयोः प्रामाण्यमुद्‌घोषयन् पराभिमते तदपह्नवानः स्वाम्येवेति बोध्यम् ।"

कथय, साम्प्रतमेषा कूपमण्डूकता तादृशपौराणिकपुङ्गवानामेव नास्ति किम् ? वेद ब्राह्मणग्रन्थेषु नश्वरेतिहासमान्यता तु भवन्मता-नुयायिनामेव । तथा मते तु इन्द्रविश्वरूपादि-युद्धान्तरमेव वेदमन्त्रर-चनासिद्धिरापतेत् । कथं तेषां पुनरनादिनिधननित्यता सिध्येत् ? नायमितिहासस्तैर्मन्यतेऽलौकिकः, लौकिकघटनात्मकत्वेन एवंविधैर्व-र्णितत्वात् ।

निर्णय सागर मुद्रणयन्त्र से प्रकाशित नवाह्निक महाभाष्य की टिप्पणी में पौराणिक संस्कारों से अभिभूत वैयाकरण महामहोपाध्याय श्री शिवदत्त जी तथा श्री रघुनाथ शास्त्री २६ पृ. पर 'त्वष्टुर्हं वै –'इत्यादि उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण (प्रथम काण्ड ५ प्रपाठक द्वितीय ब्राह्मण) में समुपलभ्य-मान इतिहास के 'त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' । ऐसा निरुक्त में सूचित किये जाने से त्वष्ट्रा, वृत्र, इन्द्रादि इतिहास को मिथ्या कहते हुए अभिनव स्वामी दयानन्द तो अप्रत्यक्षशास्त्रैकगम्य पदार्थ के खण्डन के आग्रह से ग्रस्त होने के कारण, संस्कृत-ग्रन्थों को न पढ़े हुए लोगों के वञ्चन के लिए अपने अभिमत में शतपथ और निरुक्त के प्रामाण्य की घोषणा करते हुए, दूसरे के अभिमत में उसे झुठलाते हुए स्वामी ही हैं ।"

अब बताइये, क्या (अनित्य इतिहास मानना) यह कूपमण्डूकता आप सदृश पौराणिक पण्डितों की ही नहीं है ? वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास-मान्यता आपके मतानुयायियों की ही है । इससे तो इन्द्र विश्वरूपादि के युद्ध के अनन्तर ही वेदमन्त्रों की रचना-सिद्धि मानी जाने लगेगी, फिर उनकी अनादिता और नित्यता कैसे सिद्ध होगी ? वे पौराणिक इस इतिहास को अलौकिक मानते नहीं ऐसे ही लोगों ने इसे लौकिक घटनाओं के रूप में वर्णित किया है ।

ऋषिदयानन्दस्त्वालङ्कारिकतां साधयति एवंविधस्थलेषु। भवादृक्पण्डितैर्भाष्यभूमिकाया निम्नाशयपङ्क्तयोऽध्येतव्या आसन्।

१. सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलाः।

२. मुख्ययुद्धसम्भवाऽभावादौपचारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना।

वस्तुतः ऋषि दयानन्दमाक्षिपन्तो नेमे स्वसिद्धान्त-नाशचिन्तामपि कुर्वते। सत्यमेव 'स्वनासा नाम छिद्येत पराऽपशकुनं भवेत्'। यथा च विद्वांसो विमृशन्तु यदयं पृ०७०३ तः ७०५ यावत् लिखति।,

(पृ० ७०३ अनु०२) पू० प० "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् यद्देवेषु त्र्यायुषंतन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् (वा० सं० ३।६२) इति मन्त्रेऽपि व्यक्तिविशेष-नामोल्लेखो दृश्यत एव। यदुक्तं (स्वामिना) चक्षुर्वै जमदग्निः (श० ८।१।२।३) 'कश्यपो वै कूर्मः' 'प्राणो वै कूर्मः (शत० ७।५।१।५,७) इत्यादि वचनैः चक्षुःप्राणयोरेव जमदग्नि-कश्यपादि-संज्ञा न कस्यचिद्देहधारिणः इतिं, तदपि तुच्छम्। यथा योषायामग्निपदप्रयोगेऽपि नाग्निपदार्थापलापस् तथैव चक्षुरादिषु जमदग्न्यादि पद प्रयोगेऽपि न मुख्य-जमदग्न्यादीना-

---

ऐसे स्थानों पर ऋषि दयानन्द ने तो आलङ्कारिकता ही मानी है, आप जैसे पण्डितों को भूमिका की निम्नलिखित पंक्तियां पढ़नी चाहिये थीं।

१—सर्व इतिहास अर्थवादमूलक है।

२—मुख्य युद्ध सम्भव न होने से उपमा-लक्षणार्थ के द्वारा औपचारिकी युद्ध वर्णना है।

वस्तुतः ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करते हुये इन स्वार्थान्धों को अपने सिद्धान्त-नाश का भी होश नहीं रहता। सत्य है 'अपनी नाक चाहे कट जावे, पर दूसरों का अपशकुन अवश्य हो।'

विद्वज्जन विचार करें कि यह लेखक पृ० ७०३ से ७०५ तक लिखता है कि 'त्र्यायुषं जमदग्नेः, मन्त्र में व्यक्ति विशेष (जमदग्नि, कश्यप) का नामोल्लेख स्पष्ट दिखाई दे रहा है। तथा च स्वामी दयानन्द ने 'जमदग्नि' का अर्थ 'चक्षु' और 'कश्यप' का अर्थ 'कूर्म' (प्राण) लिया है और कहा है कि 'जमदग्नि' 'कश्यप' आदि संज्ञा किसी शरीरधारी की नहीं हैं, यह कथन भी

मृषीणामपलापः सम्भवति ।" पुनः (पृ० ७०४) उव्वटसायणमहीधरानुसारम् अर्थोऽयं यत् 'जमदग्नेर्मुनेस्त्रयाणां बाल्ययौवनस्थविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्'

पुनः (पृ० ७०५) 'इतिहासे सत्यपि मन्त्राणां यथा वेदत्वं तथा ब्राह्मणभागस्याऽपि"

(उ० प०) अत्र प्रत्यक्षमनेन जमदग्न्यादीनामुत्पत्त्यनन्तरं लौकिकेतिहासो दर्शितः। वस्तुतो जमदग्न्यादीनामन्येऽप्यर्थाः सम्भवन्ति, परमिमेऽप्यर्थाः त्रयः चक्षुः प्राणादयः सर्वथा सङ्गताः । यथा शतपथे (१३।२।२।१४) "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत्पश्यति, अथो मनुते तस्मात् चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः । त्र्यायुषं जमदग्नेः, (यजु० ३।६२) मन्त्रस्य चक्षुः प्राणादिपर एवार्थो विहितः । अत ऋषिवचनमेव सत्यम् ।

फलतः सिध्यति "सत्यार्थाभिधायकैर्वेदानां सत्यविद्यानां प्रकाशः क्रियते, न च लौकिकेतिहासस्य । अतः सायणादिभिः स्वस्व-निर्मित-

---

तुच्छ है । उसी प्रकार 'जमदग्नि' आदि पदों के प्रयोग में मुख्य जमदग्नि आदि ऋषियों का अपलाप कैसे किया जा सकता है, अतः यह कथन भी तुच्छ है ।

(पृ० ७०४) पर 'उव्वट' सायण और महीधर के अनुसार यह अर्थ है कि "जमदग्नि मुनि की बाल्ययौवन, और बुढ़ापे की आयु का समाहार त्र्यायुष हुआ तथा ७०५ पृ० पर "यह भौतिक इतिहास होने पर भी जैसे मन्त्रों का वेदत्व है, उसी प्रकार ब्राह्मण भाग का भी है ।"

उ० प०—इन स्थलों पर प्रत्यक्ष ही करपात्री जी ने जमदग्नि आदि की उत्पत्ति के अनन्तर लौकिक इतिहास दिखाया है । वास्तव में जमदग्नि आदि के और अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु चक्षु, प्राण आदि अर्थ यहाँ सर्वथा सङ्गत हैं । जैसे शतपथ १३।२।२।१४ में "चक्षु जमदग्नि ऋषि है" क्योंकि यह इसके द्वारा जगत् को देखता है । इसलिये मानते हैं, चक्षु जमदग्नि ऋषि है ।

यजु० के ३।६२ मन्त्र में जमदग्नि आदि का चक्षु आदि अर्थ किया है ।

अतः ऋषि दयानन्द का यह वचन ही सत्य है कि

"सत्यार्थ अभिधायक वेदों के शब्दों से सत्य विद्याओं का प्रकाश किया जाता है । यह सिद्ध होता है । लौकिक इतिहास सिद्ध नहीं होते । अतः सायण

टीकासु वेदेषु यत्र यत्र इतिहास वर्णनं कृतं तत् सर्वं मिथ्यैव।" परम् इह निर्मलोक्तिरेषा सुघटिता :—

द्वेषाविष्टमतिर्यदाऽऽ क्षिपति हा प्राच्यें मृषा स्वामिनि।
'वेदे भो इतिहास मेतदनुगा एषोऽपि हा मन्यते।'
ऐतिह्यं ह्यूररीकृतं भ्रमवशात्तैः पाशितज्ञप्तिभिः,
काषायाम्बरधारिणोऽपि वत ते तत्पक्षरक्षाविधिः॥

(पृ० ६८२ अनु० २) आ०—यदुक्तं 'ये वेदादि शास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वा अध्यापयन्ति ते प्राचीनाः ये चाधीयते ते नवीनाः तै ऋषिभिरग्निरीड्यः" इति तदपि निर्मूलम्, अध्यापयितृषु अध्येतृषु चर्षित्वस्य निष्प्रमाणत्वात् इति।

(समा०) परं वस्तुतः करपात्रोक्तमेव निर्मूलम्, प्रमाण बुद्धि विरुद्धत्त्वात्। न ह्यत्र नियामकं किमपि यदध्यापयिता, अध्येता वा प्रच्यवते ऋषित्वात्। ऋषिराचार्यः स चाध्यापयिता भवत्येव। यथा मनुराह—

आदि ने अपनी टीकाओं द्वारा वेदों में जहाँ-जहाँ लौकिक इतिहास दिखाया है, वह सब मिथ्या ही है।" यहाँ निर्मलोक्ति संघटित है :—

श्री करपात्री द्वेष से आविष्ट-मति होकर पूजनीय स्वामी दयानन्द में मिथ्या आक्षेप करते हैं, कि स्वामी दयानन्द और इनके अनुयायी वेदों में सादि इतिहास मानते हैं" भ्रमविलास में फंसी बुद्धि वालों ने वेदों में इतिहास पक्ष स्वीकार लिया है। दुःख है कि कषाय वस्त्र धारण करने वाले आप भी उस पक्ष की रक्षा में लगे हैं।

(६८२।अनु०२) आक्षेप—"जो वेदादि सत्यशास्त्रों को पढ़कर और विद्वान् होकर पढ़ाते हैं वे प्राचीन और जो पढ़ते हैं वे नवीन हैं, उन ऋषियों के द्वारा अग्नि (परमेश्वर) उपासनीय है? यह भूमिका कथन भी निर्मूल है, क्योंकि अध्यापक और अध्येताओं में ऋषित्व प्रमाणित नहीं है।

समा०—वस्तुतः यह करपात्री जी का कथन ही निर्मूल है, प्रमाण और बुद्धि दोनों के विरुद्ध है। यहाँ पर कोई ऐसा नियामक प्रमाण नहीं है कि पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले ऋषित्व से गिर जाते हैं। ऋषि, आचार्य पढ़ाने वाले होते चले आये हैं। मनु ने भी कहा है :—

उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।। (२।१४०)

'न चास्य कुतर्कस्यायमर्थो यद् वेदाध्यापक एव आचार्यो, नान्यः, तथा प्रश्नोपनिषदि शाङ्कर भाष्ये 'पिप्पलादमाचार्यमुपजग्मुः'' इह अध्येतारः अपि ऋषयः, पिप्पलादोऽपि ऋषिः, काऽत्र ते विप्रतिपत्तिः ? एवम् स्वामिकृत एवार्थः सूपपद्यते । मक्षिकास्थाने मक्षिका-निपात-निपुणेन भवता दुर्गाचार्यरीतिस्तूद्धृता, परं स्वामिनस्तात्पर्यं कथं विसङ्गतमिति नो दर्शितम् । हे साधुवेशधारिन् ! कदापि तु वेशलज्जां रक्ष । नहि स्वामिनो अध्येत्राध्यापकार्थं पोषयितुं निरुक्तं प्रस्तुतम् । ऋषि शब्देन मन्त्राः प्राणास्तर्काश्चार्थाः गृह्यन्ते तत्र यदुक्तं 'प्राणानामचेतनत्वात् स्तुतेर्जडकतृत्वादसम्भवात् इति ।

परं नहि अत्र प्राणाः कर्तृत्वेन प्रस्तुताः प्रत्युत साधनत्वेन करणे प्रयुक्ताः यथा च 'मन्त्रदृष्द्भिर्मनुष्यैर्यन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चाहमेव ईड्यः । परमिह तु मोक्षमूलरेण मन्त्राभ्यूहनं विनैव अनादिवेदसत्तायामाक्षेपः कृतस्तन्निरासायोद्धृतमदः ।

"जो गुरु शिष्य का उपनयन करके शिष्य को सकल्प, सरहस्य वेद पढ़ाये उसे आचार्य कहते हैं ।

इसमें कुतर्क करने से यह अर्थ भी नहीं हो सकता कि वेद का अध्यापक ही आचार्य होगा, अन्य नहीं हो सकता शाङ्करभाष्य प्रश्नोपनिषद् में लिखा है 'कि पिप्पलाद आचार्य के पास पहुंचे । यहाँ पढ़ने वाले छहो ऋषि हैं और पढ़ाने वाले पिप्पलाद भी ऋषि हैं । अब बताइये, आपको क्या सन्देह रह गया । इस प्रकार स्वामिकृत अर्थ ही सूपपन्न है । मक्खी के स्थान पर मक्खी बिठाने में निपुण आपने दुर्गाचार्य रीति तो उद्धृत कर दी, परन्तु स्वामी जी का तात्पर्य यहाँ कैसे संगत नहीं है, यह नहीं बताया ।

हे साधुवेशधारिन् ! कभी तो वेश की लज्जा रक्खो ! स्वामी जी ने अध्येता और अध्यापयिता अर्थों की पुष्टि के लिये निरुक्त का उद्धरण नहीं दिया । ऋषि शब्द से मन्त्र, प्राण, और तर्क यह अर्थ भी गृहीत होते हैं । यहाँ पर आपने कहा, कि प्राण जड़ हैं, अतः वे स्तुति नहीं कर सकते, पर महोदय ! 'प्राण' यहाँ कर्तृत्वेन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत साधनत्वेन अभीष्ट

(पृ० ६८३) आक्षेपः—'तत्'शब्देन मन्त्रसमूहस्याप्रकृतत्वात् तत् परामर्शो न युक्तः।' तत्र हि अक्षर—निर्वचनप्रसङ्गः। प्रकृतिशब्देन पदशब्दाक्षर-समुदायानां कथं ग्रहणम्, ? मन्त्रसमुदायस्य तु मन्त्राः एव प्रकृतयः, तैरेव समुदायारम्भात्। पदशब्दयोः शब्दाक्षरयोश्च को भेदः ?

समा०—विपश्चितो जानते यत्पूर्वं 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्' इति मन्त्रो विद्यते। तत्र अक्षर-शब्दस्य निर्वचनम्, यास्काचार्येण कृतम्, भवता ह्यत्र दुर्गाचार्यलेखोऽवतारितः" तत्प्रकृतीतरत् स्वराव्यमक्षरम् इत्यादि, परं बुद्धिमन् ! एषोऽर्थस्तु इतरच्छब्दद्योतितः, न च तत्प्रकृतिशब्दयोरर्थः, तयोरितर एव एषः।

तथा तस्य (मन्त्रसमूहस्य) प्रकृतयः (पदशब्दाक्षरसमुदाया एव) तासाम् व्यञ्जनस्वरयोरितरदिति यावत्। न चेदमत्र शङ्कनीयम् यत् इतरदिति शब्देन व्यञ्जनं कथं न गृह्यते, तदत्र समाधानं यत्

हैं क्योंकि मन्त्रद्रष्टा भी ऋषि और जिन मन्त्र, प्राण, और तर्क के माध्यम से जिस ईश्वर की उपासना करेंगे वह भी ऋषि है। यहाँ पर तो मोक्षमूलर ने मन्त्र का तर्क द्वारा विचार किये बिना ही वेद की अनादि सत्ता पर आक्षेप किया है, उसका निरसन ऋषि दयानन्द ने किया है अतः यह उद्धरण दिया गया है।

(६८३) आ०—'तत्' शब्द से तत् प्रकृतीतरत्, में मन्त्र समूह के अप्रकृत होने से उसका परामर्श करना ठीक नहीं। वहाँ पर अक्षर के निर्वचन का प्रसङ्ग है। प्रकृति शब्द से पद-शब्दाक्षर-समुदायों का कैसे ग्रहण होगा ? मन्त्र समुदाय की तो मन्त्र ही प्रकृतियां हैं, उन्हीं के द्वारा समुदाय का आरम्भ होने के कारण से पद और शब्दों में, तथा शब्द और अक्षरों में क्या भेद है ?

समा०—विद्वान् लोग जानते हैं, कि इससे पूर्व 'ऋचो अक्षरे'—यह मन्त्र है। इसमें 'अक्षर' शब्द का निर्वचन यास्क ने किया है। आपने यहाँ पर दुर्गाचार्य का सारा लेख उतार दिया है कि "स्वर रूप अक्षर व्यञ्जन से भिन्न हैं,' परन्तु श्रीमन् ! (अभी आपने यह कहा है कि व्यञ्जन की प्रकृति स्वर है तो बताइये, 'प्रकृतेः इतरत्' अर्थात् स्वर से भिन्नव्यञ्जन होना चाहिये न कि व्यञ्जन से भिन्न स्वर) दुर्गाचार्य का 'स्वराख्यमक्षरम्' यह अर्थ 'इतरत्' शब्द से द्योत्य है। 'स्वराख्यमक्षरम्' यह न तो 'तत्' शब्द का अर्थ है और न 'प्रकृति' शब्द का। इन दोनों से 'स्वराख्यमक्षरम्' यह

व्यञ्जने वर्तनसामान्यता नास्ति, यतोहि स्वर एव व्यञ्जनेषु सामान्यतया तिष्ठति। एतदनुशीलनं भवन्मतिस्तरादुच्चैस्तरम्।

महोदय! अत्र मन्त्रसमूहस्तु पदशब्दाक्षरसमुदायो भवति, इतरदिति द्वयोरेकतरदित्यर्थः; परं द्वित्वं नाम किमभिलक्ष्य इतरदिति प्रयोगे घटते? इत्यस्य समाधानं दुर्गाचार्यटीकायामपि नास्ति। अत ऋषिणा समाहितम्:—मन्त्रगतपदेषु शब्दाः, (वर्णाः), अक्षराणि, (स्वराश्च) सभवन्ति, तयोर्वर्णस्वरयोरितरत् स्वराख्यमिति विवेकः। न च शब्देन अक्षराण्यपि अभिधास्यन्ते इति वाच्यम् पुनः 'शब्द' शब्द पाठेन व्यञ्जनार्थाभीष्टत्वात्, भवतः प्रश्नानुप्रश्नततयस्तु रासभलत्तिकानुलत्तिका-प्रसूतिरिव निष्प्रयोजना एव। भवता च "प्रकृतीतरद्" व्यञ्जनभिन्नमित्यर्थ उपन्यस्तः, परं न प्रकृतेरर्थो व्यञ्जनं क्वापि, न वा स्वरस्य प्रकृति र्व्यञ्जनं भवति। प्रकृतौ तु स्वरव्यञ्जनयोर्द्वयोरपि समावेशो युक्तः, प्रकृतयो हि धातवस्तेषां तु उभयवत्त्वात्।

अर्थ इतर ही है वह कैसे हुआ? यह समझिये। (तस्य) मन्त्र समूह की (प्रकृतयः) अर्थात् पद शब्दाक्षर समुदाय हुआ, उन प्रकृतियों अर्थात् व्यञ्जन और स्वर दोनों में से इतरत् स्वराख्य है। शङ्का होती है कि 'इतरत्' शब्द व्यञ्जन क्यों नहीं लिया गया? उसका समाधान यह है कि व्यञ्जन में वर्तन-सामान्यता नहीं है. क्योंकि स्वर ही व्यञ्जन में सामान्यतया रहता है, पर यह अनुशीलन करना आपकी मति के स्तर से परे था।

महोदय! यहाँ पर मन्त्र समूह तो पदशब्दाक्षर समुदाय होता है। 'इतरत' का अर्थ दो में से एक होता है। पर आप नहीं बता सकते कि वह द्वित्व क्या अभिलक्षित करके है? इसका समाधान दुर्गाचार्य की टीका में भी नहीं, अतः तपस्वी ऋषि दयानन्द ने समाधान ऊहित किया है कि मन्त्रगत पदों में शब्द अर्थात् वर्ण (व्यञ्जन) और स्वर अर्थात् अक्षर सम्भव हैं, इन वर्ण स्वर में इतरत् 'स्वराख्यमक्षरम्' है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'शब्द' कहने से तो अक्षर भी कह दिये जायेंगे। क्योंकि 'शब्द' शब्द के कहने से व्यञ्जनार्थ ही भूमिकाकार के लिये अभीष्ट है।

आपने यहां पर प्रश्नों और अनुप्रश्नों की झड़ी लगा दी है। वह रासभी दुलत्ती-नैरन्तर्य के समान निष्प्रयोजन ही है तथा आपने 'प्रकृतीतरत्' इसका अर्थ 'व्यञ्जनभिन्नम्' दिया है, पर प्रकृति का अर्थ व्यञ्जन नहीं है और न स्वर

(पृ॰ ६८४ पं॰ १२) इत्यत्र यदुक्तं "दयानन्दरीत्या चिन्ताशब्दो निरर्थक एव, तेन मन्त्राभ्यूहन शब्दस्यैव "कोऽय खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहः बुद्धावाभिमुख्योहो विशेष-ज्ञानार्थस्तर्कः" इत्यर्थकरणात् ।

समा॰—इदं तु भवदज्ञानपल्लवितम्, नहि चिन्ता शब्दो अभ्यूह-पर्याये प्रयुज्यते, तदर्थान्यत्वात् । अभ्यूहा तु आभिमुख्येन ऊहा भवति, परं चिन्ता आध्याने, ध्याने वा प्रयुज्यते । तथाहि "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः (न्याय द॰ १।१।४०), तथा (न्या॰भा॰ १।२।७) "विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयात् यत्समीक्षणम् सा चिन्ता (सा जिज्ञासा) ।"

तथा च वात्स्यायनभाष्ये (न्या॰ १।१।४०) 'अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा (चिन्ता) तावज्जायते जानीयेममर्थमिति । अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्थमाहो स्विन्नेत्थमिति विमृश्यमानयोः धर्मयोरेककारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन्कारणं प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवम् नेतरदिति ।" तत्र निदर्शनम्, योऽय ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं

की ही प्रकृति व्यजन होती है । धात्वर्थ वाचक प्रकृति में तो स्वर और-व्यजन दोनों अर्थों का होना सम्भव है ।

(पृ॰ ६८४ पं॰ १२)—यह कथन कि 'दयानन्द की रीति से चिन्ता शब्द निरर्थक हैं, क्योंकि उन्होंने मन्त्राभ्यूह शब्द का ही यह अर्थ किया है कि इस मंत्र का अर्थ क्या होगा? इस तरह का अभ्यूह अर्थात् बुद्धि में भली भाँति से ज्ञान का उद्भावक तर्क होता है"। पर यह अज्ञान मात्र है। श्रीमान् जी ! चिन्ता का प्रयोग अभ्यूहार्थ में नहीं होता । 'प्रत्यूहा' तो आभिमुख्य से ऊहन करना ही है, परन्तु चिन्ता का प्रयोग आध्यान व ध्यान अर्थ में होता है । सो इस प्रकार 'जिस पदार्थ का यथार्थ रूप ज्ञात न हो उसको यथार्थतया जानने के लिए कारण के आरोप द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए ऊहन करना तर्क कहाता है" (न्या॰ १,१।४०) उसी प्रकार (न्या॰ भा॰१।२।७१) विमर्श से लेकर निर्णय से पहले २ जो पक्ष प्रतिपक्ष विषयक साध्य तथा साध्याभाव की जिज्ञासा है 'चिन्ता' कहलाती है।

इस प्रसङ्ग में १।१।४० का वात्स्यायन भाष्य भी देखिये, 'अविज्ञायमान तत्व वाले अर्थ में जिज्ञासा (चिन्ता) होती है कि मैं इस अर्थ को जानूं । इसके

तत्त्वतो भो जानीयेति जिज्ञासते।·········विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति।········ यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, सोऽयमेवं-लक्षणः ऊहस्तर्क इत्युच्यते (न्या० १।२।७)

न्यायवृत्तौ धर्मिणः साध्यवत्त्वम् तदभाववत्त्वम् वेति चिन्ता जिज्ञासा। अर्थात् अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे तत्त्वजिज्ञासा चिन्ता, जिज्ञासितस्य तत्त्वज्ञानार्थं कारणोपपत्तित ऊहस्तर्क इति विवेकः।

एवम् स्पष्टमस्ति यद्दर्शनसूक्ष्मतत्त्वविवेचने ऋषिदयानन्दस्य मतिरेव समर्थाऽभूत्, न तु छलजातिनिग्रहस्थानानाम् प्रतिवाक्येऽन्वेषणपराणां भवादृशाम् सङ्कीर्णा बुद्धिः।

(पृ० ६८४ अनु० २,) यदुक्तं नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथङ् मन्त्रार्थाः निर्वक्तव्याः" इत्यप्यशुद्धम्, श्रवणमात्रेणैव मन्त्रार्थनिर्वचनासम्भवात्।

समा०—वस्तुतः इदमशुद्धकथनमेव अशुद्धमशुद्धचिन्तनशील-

बाद जिज्ञासित वस्तु के व्याहत धर्मों का विभाग से विमर्शन करना कि यह ऐसा है या कि ऐसा नहीं हैं और विमृश्यमान दोनों धर्मों में एक का कारणोपपत्ति से यह अनुमान करता है कि इसमें यह कारण हो सकता है, ऐसा कारण, प्रमाण या हेतु कारणोपपत्ति से यह ऐसा ही हो सकता हैं अन्य नहीं हो सकता, यह ऊहन 'तर्क' कहलाता है।

न्याय बुद्धि में धर्मी की साध्यवत्ता है या उसका अभाव है इस प्रकार की चिन्ता को जिज्ञासा कहते हैं, अर्थात् अविज्ञात तत्त्वार्थ में तत्त्व जिज्ञासा 'चिन्ता' और जिज्ञासित के तत्त्वज्ञानार्थ कारण की उपपत्ति से ऊह करना तर्क है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म-तत्त्व-विवेचन में ऋषि दयानन्द की ही बुद्धि समर्थ हो सकी। प्रतिवाक्य में छल, जाति, निग्रहस्थान मात्र ढूंढने वाले आप जैसों की संकीर्ण बुद्धि समर्थ नहीं है।

पृ० ६८४ अनु०२' आ०—यह कथन "केवल श्रुतिमात्र से ही नहीं तर्क के सहारे भी पृथक्-पृथक मन्त्रों का अर्थ विर्वचन करना चाहिये। भी गलत है, क्योंकि श्रवण मात्र से अर्थ का निर्वचन हो ही नहीं सकता।

समा०—वस्तुतः आपका यह अशुद्धकथन ही अशुद्ध चिन्तनशील होने

त्वाद्भवतः। सत्यमस्ति "सुन्दरमणिमयभवनेऽन्विष्यति पिपीलिका रुन्ध्रम्।" यदि भवान् ऋषेर्हिन्दीव्याख्यामद्रक्ष्यत् तदा ऐहिकनिखिलाववोधोऽभविष्यत्। तद्यथा:-'वेदो के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना चाहिये कि जब तक सत्यप्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों के पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात को छोड़कर आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होगा।" नेह शङ्कताम् यदेतावानर्थः कुतो बुद्धः तस्याभ्यूहितत्वात्।

पृ० ६८५ अनु० २—यदुक्तम् "नहि मन्त्रार्था निर्वक्तव्या भवन्ति, प्रत्युत मन्त्रा एव" इति कथनं तु अज्ञानमेव, यतो हि निर्वक्तव्या निश्चयेन वक्तव्यास्तु मन्त्रा अपि मन्त्रार्था अपि भवन्ति। 'मन्त्रार्थेषु किम् पार्थक्यम्, इत्यस्य उत्तरे तु इदमेव वक्तव्यमस्ति यद् आध्यात्मिकाधिभौतिकादित्वेन पृथक्पृथगेव मन्त्रार्था जायन्ते।

के कारण अशुद्ध है। सच है "सुन्दर मणि निर्मित भवन में भी चींटी छिद्र ही ढूँढा करती है "यदि आपने ऋषि की हिन्दी व्याख्या देखी होती तो इस विषय का सम्पूर्ण बोध हो जाता जैसा कि ऋषि ने लिखा है। (वेदों के व्याख्यान० इत्यादि ऊपर संस्कृत में)

यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि इतना हिन्दी का अर्थ कहाँ से निकल आया क्योंकि ऋषि दयानन्द ने अक्षरानुवाद न करके अपनी प्रतिभा से इस समस्त अर्थ का अभ्यूहन किया।

(पृ६८५ अनु०२)—आपने लिखा, है कि "पृथक् २ मन्त्रों के अर्थों का निर्वचन नहीं किया जाता प्रत्युत मन्त्रों का ही निर्वचन किया जाता है" यह कथन भी अज्ञान मात्र है, क्योंकि 'निर्वक्तव्य' का अर्थ है निश्चयेन वक्तव्य, सो मन्त्र तथा मन्त्रार्थ दोनों ही निश्चित वक्तव्य होते हैं। मन्त्रों के अर्थों में पार्थक्य क्या है, इसके उत्तर में तो यही कहना है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि रूप से मन्त्रार्थ भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

पारिजातकृता यदुक्तम् "वस्तुतस्तु निर्वचनं व्याख्यानमेव भवति"। इति तु कपोल-कल्पितमेव, नैव निर्वचनशब्दस्य व्याख्यानार्थ एव, यतोहि प्रतिशब्दस्य निर्वचनं व्याख्याननिश्चयाय भवति न तु व्याख्यानं क्वचिन्निर्वचननिश्चयाय, वेदानां व्याख्यानानि हि ब्राह्मणानि न तु तानि निर्वचनानि कथ्यन्ते, निर्वचनंहि व्याख्यानस्याङ्गम्, न तु इतरत्तस्य।

न च मन्त्रा निरर्थकाः, मन्त्राः मननादित्यस्याप्यर्थे एवैष ध्वनिः न तु शब्दे, ऋष्यर्थपुष्टिस्तु शब्दकल्पद्रुमोद्धरणेनापि भवति, "यथा शब्दलक्षणपरिज्ञानम् सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात्, एवं शब्दार्थनिर्वचन-परिज्ञानं निरुक्तात्। न चानिरुक्तो मन्त्रार्थो व्याख्यातव्यः, (एतस्यायं भावो यत्पूर्वं निर्वक्तव्यम् पश्चाद् व्याख्यातव्यम्) तस्मादर्थपरिज्ञानाभिनिवेशादिदमेव निरुक्तं प्रधानम्।"

अतो वक्तव्यम् यन्मन्त्रार्थो निश्चयेन वक्तव्य इति।

(पृ० ६८६) आ०—'न च विद्वांसो देवा अविद्वांसो मनुष्या इति वाच्यम्, अविद्वत्सु तर्कस्यासम्भवात्"

पारिजात कर्ता का यह कथन है कि वास्तव में निर्वचन ही व्याख्यान होता है कपोल-कल्पित ही है क्योंकि निर्वचन शब्द का 'व्याख्यान' अर्थ ही नहीं है प्रत्येक शब्द का निर्वचन व्याख्यान निश्चय के लिए किया जाता है कहीं व्याख्यान निर्वचन निश्चय के लिये नहीं होता, वेदों के व्याख्यान ब्राह्मण हैं वे निर्वचन मात्र नहीं कहे जा सकते। निर्वचन व्याख्यान का अङ्ग होता है न कि व्याख्यान निर्वचन का। मन्त्र निरर्थक नहीं होते, मनन करने से ही मन्त्र मन्त्र कहाता है इसके भी अर्थ में यह ध्वनि है न कि शब्द में। ऋषि के अर्थ की पुष्टि में शब्द कल्प द्रुम का यह उद्धरण देखिये "जैसे शब्द-लक्षण परिज्ञान सब शास्त्रों में व्याकरण से होता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त से होताहै, अनिरुक्तमन्त्रार्थ व्याख्यतव्य नहीं होता। (इसका भाव यह है प्रथम निर्वचन किया जाये फिर व्याख्या करनी चाहिये)

इसलिये अर्थ-परिज्ञान के अभिनिवेश से यही 'निरुक्त' प्रधान है, अतः यही करना चाहिये कि मन्त्रार्थ भी निर्वक्तव्य होता है

पृ० ६८६ आ०—'विद्वान् (मनुष्य) देव होते हैं और अविद्वान् मनुष्य

समा०—रूढि-निगडितधिया न सम्यगाकलयितुं भवान् प्रवर्त्तते, यदुच्यते 'अविद्वत्सु तर्कस्यासम्भवादिति, तदनुभवादसाधु।

किमेतस्यायमर्थो यद् विद्वत्सु तर्क एव भवति, तदा कथं भवान् कुतर्कपरः प्रतिपदम्? मनुष्योऽपि 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' इति मननशीलत्वात्कथं न तर्कशीलो भवितुमर्हत्? अतोऽत्र देवर्षि-मनुष्याणां कोटय एव वर्णिताः, तपश्चरणैश्वर्यादिभेदात् विदुषां देवत्वं तु शास्त्रीयमेव। तेभ्यः तर्कं प्रायच्छन्' इत्यनेनापि मनुष्याणाम् तर्कशीलता द्योत्यते।

(पू० प०) यदुक्तं 'कारणस्थैः प्राणैर्गुणवर्णनस्तुत्यसंभवः इति, तद ज्ञानम्, योगाभ्यासेन कार्यगत-प्राणव्यष्टीनाम् जगत्कारणीभूत-प्रकृति-प्राणसमष्ट्या सहैक्य-संवन्ध-स्थापन-पूर्वकमीश्वर-वर्णन-स्तुतेः 'पश्यन्ती' वाण्यां साधकेनात्र सर्वथा-सभवात्।

इति देवता स्वरूप निरूपणम्।

होते है। यह बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि अविद्वानों में तर्क का प्रभाव होता है।

समा०— आप रुढि के द्वारा निगाडित बुद्धि होने के कारण इसका ठीक आकलन नहीं कर सके जो कि आप यह कह रहे है कि अविद्वानों में तर्क होना सम्भव नही। क्या इसका अर्थ यह है कि विद्वानों अर्थात् अधीत पुस्तकों में सुतर्क ही होगा, तो आप प्रतिपद कुतर्क क्यों करते हैं। मनुष्य भी मनन करके काम को करता है फिर तर्क-शील क्यों नहीं हो सकता।

अतः यहां पर देवता, और मनुष्य यह मनुष्य शरीर धारियों की ही कोटियाँ हैं, जो कि तपश्चर्या, ऐश्वर्य आदि भेदों के कारण हैं। विद्वानों का देवत्व तो शास्त्रानुमत है। इससे भी मनुष्यों की तर्क शीलता द्योतित हो रही है।

पू० प०— 'पूर्व काल में अवस्थित कारण रूप प्राण से परमेश्वर की स्तुति करना चाहिये।,, भूमिका कार का यह कथन असंगत है।

(उ.प.) आपका यह आक्षेप अज्ञान जनित है, क्योंकि योगाभ्यास के द्वारा कार्यगत प्राणों की व्यष्टियों का जगत के कारण भूत प्रकृति-प्राणों की समष्टि के साथ ऐक्य सम्बन्ध के स्थापन पूर्वक ईश्वर वर्णन स्तुति की 'पश्यन्ती' वाणी में साधक के द्वारा सर्वथा संभावना है। "इति देवता स्वरूप निरूपण"

छन्दोमन्त्रयो-रेकत्वम्

(पृ० ६८८ पंक्ति २,) आक्षेप :—"तदपि न किञ्चित् वेदेतर-ग्रन्थेषु व्यभिचारात्। धर्मार्थकाम-मोक्ष-शास्त्रेषु पौरुषेयेष्वपि गुप्ता-नाम् पदार्थानाम् भाषणात्। प्रत्यक्षानुमानेष्वपि सत्यपदार्थ-वेद-कत्वाच्च।

समा०—दुर्गाचार्य-टीकायां न्यासीकृता मतिः स्वतन्त्रतया याथार्थ्योहने कुण्ठिता तत्त्वमवगाहितुं न कदापि क्षमते। प्रकृते तु छन्दोमन्त्रादीनाम् धातुमूलका अर्थाः प्रत्यपाद्यन्त, नहि दोषत्रय-शून्यलक्षणस्य विधेयताऽत्र विवक्षिता, अनावश्यकत्वात्। तदिहोच्यते यथाहि कश्चिद् वदेत् "ईश्वरः सुखदायकः" इदमपि भवद् बालबुद्ध्या

छन्द और मन्त्रों का एकत्व

पृ० ६८८ पं० २, "गुप्त पदार्थों का भाषण जिसमें है वह वेदमन्त्र कहलाता है, उसके अनेकार्थक अवयव भी मन्त्र कहलाते हैं। 'मन ज्ञाने' इस धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होने पर मन्त्र पद निष्पन्न होता है।, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण तो वेद से भिन्न शास्त्रों में भी मिल जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक पौरुषेय शास्त्रों में भी गुप्त पदार्थों की व्याख्या की गई है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी सत्य पदार्थों की अवगति होती है।

समा०—दुर्गाचार्य की टीका में गिरवी रक्खी आपकी मति स्वतन्त्रता से यथार्थ के ऊहन में कुंठित हो रही है, जो तत्व का अवगाहन करने में कदापि समर्थ नहीं है। प्रकृत में छन्द तथा मन्त्र के धातु-मूलक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। दोषत्रय शून्य लक्षण की विधेयता यहां विवक्षित नहीं है, क्यों कि वह यहाँ अनावश्यक है। अतः यहाँ कहा जाता है' जैसे कोई कहे 'ईश्वर सुख देने वाला है, यह कथन भी आपकी बाल-बुद्धि के अनुसार व्यभिचरित (दूषित) हो जायेगा, क्योंकि आप इस कथन को भी ईश्वर का लक्षण मान

व्यभिचरितं स्यात्, भवतोऽन्धभक्तसेवकैरपि सुखदातृत्वात्। नहि कश्चिद्गच्छतीति गौरित्यात्मकं गोलक्षणं मनुते। मते चेदिहाऽपि भवति व्यभिचारस्योद्गमनसंम्भवात्, अन्यच्च "प्रत्यक्षानुमानेषु" इत्यत्र बहुवचनप्रयोगोऽपि भवतः प्रामादिकः।

अतो लक्षणस्य लक्ष्यतास्थले एव दोषत्रयशून्यत्वमपेक्ष्यते। इह उपरिनिर्दिष्टधातुभिरेव छन्द आदीनाम् शब्दानाम् निष्पत्तिरुक्ता न तु लक्षणं विहितमित्यशेषत्वेन शुचिशेमुषीवद्भिः समुन्नेयम्।

"छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्तिं," एतस्य इदमेव तात्पर्यमिह यदेन्यप्रकरणे छन्दः-शब्दस्य नान्यार्थाः सम्भवन्तीति न क्वापि स्वामिना प्रोक्तम्। अन्यत्र प्रकरणानुसारं तदर्थस्य तथा-गृहीतत्वात्। अतः संस्कृतज्ञानशून्यस्वान्धभक्तानां चक्षुषोर्धूलि-प्रक्षेपस्तु भवतैव क्रियते न स्वामिना।

बैठेंगे, आपके अन्धभक्त सेवकों द्वारा भी आपको सुख देने के कारण वे भी सुखदायक हैं और इसी प्रकार 'जो जाता है, वह गौ है' इसे भी लक्षण मानने पर आपमें भी चलने फिरने के कारण गच्छतीतिगौ लक्षण घटित होने लगेगा।

'प्रत्यक्षानुमानेषु' इसमें बहुवचन का प्रयोग भी प्रमाद-जन्य है। अतः लक्षण की लक्षिता जहाँ पर हो वहीं पर दोषत्रय शून्यता वाले लक्षण की अपेक्षा होगी। यहाँ पर उपर्युक्त धातुओं के द्वारा छन्द आदि शब्दों की सिद्धि बताई गई है। लक्षण नहीं किया गया है। यह सब बुद्धिमान् लोग समझ लेंगे।

छन्द मन्त्र और निगम यहाँ पर्यायवाची हैं इसका यहाँ यही तात्पर्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्य प्रकरण में छन्दः शब्द के अन्य अर्थ संभव नहीं होते अन्यत्र प्रकरण के अनुसार अर्थ गृहीत होंगे अतः संस्कृतज्ञान शून्य अपने अन्ध भक्तों की आंखों में आप द्वारा ही धूल झोंकी जा रही है न कि स्वामी जी के द्वारा।

यहां पर छन्दः शब्द के बहुत से अर्थ हैं, यह कहते हुये लेखक सामान्य छल से व्यवहार कर रहा है जिसका लक्षण (न्या० १। २। १३) में है कि संभव अर्थ के अति सामान्य होने से असंभवार्थ कल्पना करना सामान्य छल है (वात्स्या० भा०) के अनुसार जैसे इस खेत में धान संभव हैं, यह वाक्य केवल

अत्र 'छन्दः पदस्य अर्थबाहुल्यमिति कथयन्नयम् सामान्यच्छलेन व्यवहरति' तच्च "सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्" (न्या० १।२।१३) इत्यत्र वात्स्यायनभाष्यं यथा "संभवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति ।' अनिराकृतमविवक्षितं बीजजन्म, सोऽयं क्षेत्रानुवादो 'नास्मिन् शालयो विधीयन्ते' इति, बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिःसती न विवक्षिता ।" तथा च छन्दः पदं मन्त्रार्थकमिह, नान्यत्र अन्यार्थनिराकरणं विवक्षितमेतेन स्वामिना ।

स्वामिदयानन्देन 'मन्त्रे घसह्वरणश्' (अष्टा २।४।८०) 'छन्दसि लुङ्लङ् लिटः' (अष्टा० ३।४।६), 'वा सपूर्वस्य निगमे (अष्टा० ६। ४।९) इति सूत्राण्युदाहृत्य मन्त्रच्छन्दोनिगमशब्दानां पर्य्यायत्वं दर्शितम् । वैयाकरणा एवास्य महोदयस्य व्याकरणज्ञानं छलं च वीक्षन्ताम् यदयं 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ—(अष्टा० ३।२।७१) अस्मात् सूत्रात् मन्त्रपदानुवृत्तौ सम्भावितायां 'विजुपेछन्दसि' (३।२।७३ अष्टा०) इत्यत्र छन्दसीति पाठेन छन्दः शब्दो न मन्त्रार्थकः इति सिसाधयिषति, छन्दोग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

क्षेत्र रूप विषय की प्रशंसा का बोधन करने के लिये कहा जाता है, क्षेत्र ही शालियों का उपादान कारण है इस अभिप्राय से नहीं; क्योंकि शालियों की उत्पत्ति अपने बीज से होती है खेत से नहीं । क्षेत्र केवल सहकारी कारण से प्रशंसित किया गया है ।

वैसे ही यहाँ 'छन्द पद मन्त्रार्थक है । अन्यार्थ का अत्यन्त निराकरण वहाँ स्वामी जी द्वारा विवक्षित नहीं है ।

स्वामी दयानन्द ने 'मन्त्रे घस्—'छन्दसि लुङ् लङ्लिटः' तथा 'वा षपूर्वस्य निगमे' इन सूत्रों के उदाहरण देकर मन्त्र छन्द-और निगम शब्दों का पर्यायवाचित्व सिद्ध किया है वैयाकरण लोग करपात्री जी महाराज का व्याकरण ज्ञान और छल दोनों को यहाँ देखें । ये कहते हैं कि 'मन्त्रे श्वेत० इस सूत्र से मन्त्र पद की अनुवृत्ति संभावित थी, फिर मन्त्र के छन्द. पर्यायवाची होने पर तो 'विजुपे छन्दसि' इस सूत्र में छन्दसि नहीं पढ़ना चाहिये था, परन्तु पढ़े जाने से छन्दः शब्द मन्त्रार्थक नहीं है, यह सिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा छन्द शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा ।

परं भोः यदा हि छन्दःपदं मन्त्रब्राह्मणगायत्र्याद्यर्थकम् अस्ति तदा सङ्गतमेतत् ऋषि-कथनम्। सत्यं हि 'आम्रान्पृष्टः कोविदारान् आचष्टे इति लोकोक्त्यनुसारं इह ऋषेः कथनाशयस्तु अस्ति यदस्मिन् प्रकरणे मन्त्रस्य छन्दः पर्यायत्वमस्ति न तु सर्वत्र, परं भवान् अन्यथैव एतस्याशयं बोधयति।

"किञ्च "विजुपे छन्दसि" इह छन्दोग्रहणं तु ब्राह्मणसंग्रहार्थम्। तथा च सिद्धान्तकौमुद्याष्टीकायामपि "ननु छन्दसीति व्यर्थम्, 'मन्त्र' इत्यनुवृत्तेरेव भाषायां न भविष्यतीति चेत्, 'सत्यम्, ब्राह्मणसंग्रहार्थम् छन्दोग्रहणम्।" एतेनापि सिद्ध एव छन्दसः मन्त्रपर्यायत्वे ऋषि-कथनं सर्वथा संगच्छते। अतो मन्त्रव्यतिरिक्तं ब्राह्मणमित्यपि सिद्धम् किञ्च छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" 'वाष पूर्वस्य निगमे' इत्यनयोः सूत्र-योर्मन्त्रार्थे एव छन्दोनिगमपदे नैव स्तः ? स्त एवेति। तस्मादेतत् भवत्कथनमबुद्धिपूर्वकमेव। इत्यलमित्यतिविस्तरेणेह।

शिष्टं शिष्टैः समुन्नेयं, विशिष्टं तु समाहितम्।
दयानन्दर्षिबोधेन विशुद्धानन्दशर्मणा ॥ १ ॥

महोदय ! जब कि छन्दःपद मन्त्र, ब्राह्मण और गायत्री आदि अर्थ वाला है अतः ऋषि कथन सर्वथा सङ्गत है। सच है, "पूछे आम, कहे कचनार" यहाँ ऋषि कथन का आशय तो यह है कि इस प्रकरण में छन्द शब्द मन्त्र का पर्यायवाची है न कि सर्वत्र, परन्तु आप कुछ और ही आशय निकालते हैं।

तथा च "विजुपे छन्दसि" सूत्र में छन्दोग्रहण तो ब्राह्मण अर्थ के संग्रह के लिये है, जैसा कि सिद्धान्त कौमुदी की तत्वबोधिनी टीका में भी लिखा है कि छन्दः पद यहाँ व्यर्थ है, क्योंकि 'मन्त्र की अनुवृत्ति आ जायेगी, तो भाषा में नहीं होगा, पर इसका ग्रहण तो ब्राह्मणार्थ संग्रह के लिए है, । इससे छन्दः शब्द के मन्त्रपर्यायक होने से ऋषि-कथन सर्वथा सङ्गत है। अतः यह भी सिद्ध है कि ब्राह्मण मन्त्र से व्यतिरिक्त हैं। क्या 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः' और 'वाषपूर्वस्य निगमें' इन सूत्रों में छन्दः और निगम पद मन्त्रार्थक नहीं हैं ? अवश्य हैं। इसलिये आपका यह कथन अबुद्धिपूर्वक ही है इस विषय में अब विस्तार नहीं किया जायेगा।

विशुद्ध-आनन्द और कल्याणकारक, महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित ज्ञान से

विद्वांसोऽमलमानसा गुणगणाग्राहैक-पक्षा मुदा, ।
सन्द्रक्ष्यन्ति विमत्सराः प्रणयिनः स्तोष्यन्ति वा मे श्रमम्, ।।
यास्याम्येव कृतार्थताम् ऋषि दयानन्दस्य राद्धान्तकान् ।
पुष्णंश्चेदिह कश्चिदाकलयतामालोचनां मत्सरी ।।२।।
आदित्यो ब्रह्मचारी भुवन भविककृन्निष्कलङ्को महात्मा ।
'कृण्वन्तो विश्वमार्यं, श्रुतिविहितसमादेशनं विश्वविश्वे ।।
शश्वत् संरक्षितुं यः कृतभुवनंजयः श्री दयानन्दयोगी ।
सिद्धान्ता वाऽपि तस्याऽऽप्रलयमिह सदा सत्यवन्तो जयन्ताम् ।।३।।
निर्मलां[1] वृत्तिमाधाय, पाठकानां निरन्तरम् ।
'मृदुला'[2] 'मञ्जुला'[3] 'मेधा'[4] जायतां 'वेद'[5] वत्सला[6] ।४।
इति श्रीमद् विहारीलालशास्त्रि-शिष्य
श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते
करपात्रिमत-खण्डने दयानन्दमत-मण्डने
वेदार्थ-कल्पद्रुमे नाम ग्रन्थे वेद-विषय-विचारः सम्पूर्णः ।

ही विशिष्ट (आक्षेपों) का समाधान कर दिया गया, शेष शिष्ट जनों द्वारा स्वयं समाहित कर लेना चाहिये ।१।

गुण-गण ग्रहण करने में एक मात्र पक्षपाती, निर्मलमन मत्सर-रहित, प्रणयी विद्वज्जन मेरे इस श्रम को प्रसन्नता से देखेंगे और प्रशंसा करेंगे ।

मैं ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों की पुष्टि करता हुआ इस प्रकार कृतार्थ हो जाऊँगा । फिर चाहे कोई मत्सरी आलोचना भी क्यों न करे ।२।

आदित्य ब्रह्मचारी, संसार का कल्याण करने वाले, निष्कलङ्क महात्मा जिन ऋषि दयानन्द ने सम्पूर्ण विश्व में "सबको आर्य बनाओ" के श्रुति विहित आदेश की रक्षा करने के लिये शास्त्रार्थ द्वारा दिग्विजय किया था, उनके सत्य सिद्धान्त प्रलय पर्यन्त जयशील होवें ।३।

निर्मला वृत्ति का आश्रय करके इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वालों की मृदुल और मंजुल मेधा (बुद्धि) निरन्तर वेदों से प्रेम करने वाली होवे ।५।

श्रीमान् विहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित श्रीकरपात्रीकृत वेदार्थ-पारिजात-गत दयानन्दीयमत-खण्डन का खण्डक दयानन्दमत मण्डक वेदार्थ कल्पद्रुम का वेद विषय विचार सम्पूर्ण हुआ । □

---

१ पत्नी २, ३,४ पुत्रियां ५,६ पुत्रद्वय

वेदार्थ-कल्पद्रुम-शुद्धिपत्रम्

पूर्व-भागे

पृ०	प०	अशु०	शु०
७	२१	करक	करके
१०	१७	वता	वतां
	३०	बिहारी	विहारी
११	३२	,,	,,
	१५	पूवक	पूर्वक
१२	१	वदार्थ	वेदार्थ
	४	नाम्ना	नाम्ना
	६	श्रति	श्रुति
		प्राकवाक्	
१४	३	छल	च्छल
	९	दर्पि	दर्षि
	१३	रतम्	रितम्
	१५	छन्दः	च्छन्दः
		प्रास्तावनिकम्	
१८	४	मासकतिपय	कतिपयमास
	४	दृग्	दृक्
	८	रत	रतं
	१५	आज्यं	प्राज्य
१९	१२	गच्छ	गच्छे
	१९	बाध्य	बोध्य
२०	२६	रण्ये	रण्य
	,,	द्	त्
२१	१२	यवं	र्यवं

पृ०	प०	अशु०	शु०
	१६	रीण	रीणो
२३	३	र्शन्ति	र्शयन्ति
		परय	पर
	१७	र्ती	ती
२४	३	शङ्कक	शङ्क
२५	२०	ण	णं
	२४	दया	र्दया
२९	१२	समथक	समर्थक
३०	७	कम,मत्र	कर्म, मन्त्र
	१४	सामश्री	सामश्रमी
	१८	अमाम्नाते	अनाम्नाते
३१	२	शिष्यु	शिष्य
	१५	प्रणता	प्रणेता
	२६	वनाशिक	वैनाशिक
३२	१४	मायावादही।	मायावाद ही-
३३	३१	विद्वान	विद्वान्
		वेदार्थ-पारिजात-पर्यालोचनम्	
४३	३	मिपि	मिति
	२०	ऋूग्	ऋग्
४५	२	रछि	रच्छि
	३	वस्य	वास्य
	५	मस्य	म्
	१६	रस्या	रस्य

पृ०	प०	अशु०	शु०
	२३	कूमाण्ड	कूष्माण्ड
४६	१९	जान	जानन्
४७	७	बच्	वच्
	१३	षद्	षत्
	२२	॥	।
	२७	पंचमं	पञ्चमं
४८	११	वद्	वत्
	१९	निदशा	निर्देशा
४९	३	श्रम	श्रमः
	७	र	रः
५०	१	निवचन	निर्वचन
	१४	संगतः	सङ्गतः
	१५	पमा	परमा
	२२	मन्त्राथ	मन्त्रार्थं
५१	९	स्ब, णनु	स्व, णानु
	१४	धन	धान
	१८	नांकः	नाङ्कः
५३	२	रापण	रोपण
	५	उब्बट	उव्वट
	८	उद्धत	उद्धृत
	१०	निकलते	निकालते
५४	१२	पृथक	पृथक्
५५	१७	सवथा	सर्वथा
१६	२३	चके	चक्रे
६०	८	वैशिष्टय	वैशिष्ट्य
६२	६	वेदा	वेदो
	१२	परम्	पदम्
	२४	स्यपि	स्यापि
६३	१	मत्त्वो	सत्त्वो
	१४	नान्तरं	नानन्तरं

पृ०	प०	अशु०	शु०
६४	१२	तहि	तर्हि

शेषभागस्याऽग्रेऽस्ति

उत्तर-भागे शुद्धि-पत्रम्

पृ०	प०	अशु०	शु०
१	१२	ते	ति
३	१०	दिबा	दिवा
४	१२	सद्व	सद्वै
५	७	ह्यदर	ह्युदर
	११	मष्ति	मस्ति
	१४	याडि:घ्र	याङ्घ्रि
७	११	शक्त	शक्तः
९	१०	तरो	तरोः
१०	१३	म्यतु	म्यतु
१२	३	ह्यद	ह्युद
	४	दिबान्ध	दिवान्धः
१६	४	बिमु	विमु
	७	पात्रक	पात्रकं
१३	९	तावद	तावद्
	१०	सम्मतै	सम्भृतैः
	३	तति	ततीर्
१४	७	सवदा	सर्वदा
	११	आय	आर्य
	२६	६०	७०
१५	३	पाण्डत्य	पाण्डित्य
	५	ग्रंथ	ग्रन्थ
	१७	भाषां	भाषां
१६	१०	जष्टं	जुष्टम्
१८	१०	भमिका	भूमिका
१९	१	रक्त	रिक्त
२०	५	न्यसितुम्	न्यस्तुम्
	८	विवचन	विवेचन

पृ०	प०	अशु०	शु०
	१०	त्रिशा	त्रिंशा
२२	४	लिङ्ग	लिङ्गं
२७	५	प्रामाऽण्या,	प्रामाण्या
	१७	सवैम	सर्वैमं
२८	३	प्रयागाद्	प्रयोगाद्
२९	३	सवैर्वै	सर्वै
३१	४	साथ	सार्थ
	१०	छन्द	च्छन्द
३२	१	समम्	समाम्
३२	७	सगच्छ	संगच्छ
	११	तायैस	तोयैस
	१३	द्यातना	द्योतना
३४	११	वत्व	वत्त्व
३५	३	चैतद	चैतद्
	१४	घृष्टं	घृष्टम्
३६	३	व्रिष्णु	विष्णु
३७	९	रहित	रहितं
	११	पृथिव्या	पृथिव्यां
३९	३	श्रयते	श्रूयते
	८	शेऽथ	शेऽर्थे
४०	१०	न्नार्थे	न्नर्थे
	१८	स्वयमेव	स्व
४१	३	मप	मपि
४४	१०	जड़	जड
	११	दाषो	दोषो
४५	२	जाताय	जातीय
४६	३	कारणा	कारण
४७	१४	संभव	सम्भवो
४८	१४	भांति	भासित
४९	२	सिद्धान्तान्	सिद्धान्तं
५०	१२	नः	न
५२	६	वेदस	वेदसः
५४	५	पत्ति	पत्तिं
	६	णाना	णानां
	११	मिधात	भिधात
५७	१	मत्वे	मत्त्वे
	७	वद	वद्
५९	१२	माण्य	माण्यं
६०	८	गुणा	गुण
	१०	पेतव	पेतैव
६२	३	व्याकरणा	व्याकरण
	६	साधित	साधितं
६५	१२	नन	नून
६३	१२	यत्त	यत्ते
६७	५	ब्रह्मत्म	ब्रह्मात्म
	८	दथः	दर्थः
	२४	कारणों से	+रहित
६९	३	रोपालम्भः	रोपलम्भः
७४	५	न विद्वान्	विद्वान्
	६	शब्दो	शब्दयो
	८	घये	धेय
	१०	विद्वांतसो	विद्वांसो
७८	३	मद	मत्त्व
		कत्तरि	कर्त्तरि
७९	३	स्थौल्यामा	स्थौल्यापा
	४	बादि	वादि
८३	६	घातात	घातात्
८९	१०	ह्यपनि	ह्युपनि
९०	१	गोचरा	×
९१	७	नैमित्तक	नैमित्तिक

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
६३	८	ईश्वरस्या	ईश्वरस्य		१२	नर्थश्य	नर्थक्य
६४	१०	तति	तती:	१४१	३	वैय्या	वैया
६६	८	अनबद्ध	अनुबद्ध		७	दृभ्य:	दृग्भ्य:
६७	१	मषोणां	मृषीणाम्	१४२	५	तु, अर्हन्ति ×,	अर्हन्तिस्म
१००	५	हायत्वम्	हार्यत्वम्		१०	यजेय, सङ्ग	यजेत, सङ्ग
१०३	५	चेत	चेत्	१४३	३	ॠत्विक	ऋत्विक्
१०४	६	कर्त्त	कर्त्तृ	१४४	२	समेत्यू	समेत्यो
१०५	८	प्रमाणै	प्रमाणै:		३	पितृन्	पितॄन्
१०८	६	तमायां	श्यां		१०	निमूलैव	निर्मूलैव
११०	८	तद्	तद		११	जड्पाषाण	जडपाषाण
११३	४	ध्यतपत्	भ्यतपत्	१४६	५	पारौणि	पौराणि
११५	१२	प्रषण	प्रेषण	१४८	१०	विस्तार	विस्तर
११८	१३	रूपसर्गे	रुपसर्गे	१५४	२	णत्वं	णत्वम्
१२०	१४	दृढयन्ति	द्रढयन्ति	१५७	७	निकैवै	निकैर्वै
	१५	में	मे	१६४	४	तक	तर्के
१२१	१५	सिद्धान्त	सिद्धान्त:	१६५	१३	निधत्व	निधनत्व
१२२	६	छाया	च्छाया	१६६	१२	दुर्भा	दुर्भात्र
१२३	७	चात्तर	चोत्तर	१७१	१	तति	तती:
१२४	४	संङ	सङ्	१७२	१४	सधिका	साधिका
१२६	३	गप्पया	गप्पा	१७८	६	श्वस्यैव	श्वरस्यैव
	१२	प्रेकाशे	प्रकाशे	१८०	८	संव्या	संख्या
	१४	पिता	पितृ	१८२	३	र्णीता	र्णीत
१२७	६८	द्रष्ट्रि	द्रष्टृ	१८५	२	श्रणात्	श्रयणात्
	६	आश्वा	आश्व	१८६	७	जाङ्कुर	जाङ्‌कुर
१२८	१४	श्रृण्वन्	शृण्वन्	१८८	१	भिष्यते	मिष्यते
१३२	२	किमर्थं	किमर्था		४	भह, नामह,	भट्ट, महः
	६	ताद्य	ऽनाद्य	१८९	५	गणाना	गणना
१३५	४	जानीति	जानाती		१४	सृस्ट्	सृष्ट्
१३८	६	दृक	दृक्	१९०	३	सृष्टे	सृष्टेः
१४०	४	नुप्रति	नुपपत्ति		५	तेष	तेषु

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
	१०	चादौ	यादौ	२३३	३	मेवभि	मेवाभि
१९१	२	संङ्गतमर्थं	सङ्गतमर्थं	२३४	४	चांत्र	चात्र
१९२	१०	खण्डु	खण्ड		६	युङ्क्ते	युङ्क्ते
१९५	९	भो	भोः	२३६	२६	अप,शद्व	अपे शब्द
१९६	१०	गुणा	गुण	२३७	२६	प्राणाण्यं	प्रामाण्यं
१९७	६	द्वय	द्व्य	२३८	१०	तिभं	तिभ
	११	चादि	चापि		१२	अर्था	अथा
१९८	५	भिञ्ज	भिव्यञ्ज	२४१	२	मत्व	मत्त्व
१९९	४	ग्रने	गृहे	२४२	८	पौरू	पौरु
२००	१३	देवम	देवम्	२४४	८	मन्वत्त	मन्वन्त
२०१	३	वद	वद्		११	नाम्न	नाम्ना
२०५	१	रूपेता	रुपेता		१२	लेखा	लेख
	१३	भिक्षाऽनस्य	भिक्षाटनस्य	२४८	१	यितुं	यितुम्
२०७	९	करणनाँ	करणानां	२५१	३	वऽश्य	वश्य
२१०	५	नोत्क्षेणा	नोत्क्षेपणा	२५२	७	विघेय	विषय
	६	बाध	बाधि	२५३	११	जुह्राते	जुहोत
२१४	२	शङ्कस्य	शङ्करस्य	२५४	५	मंत्रा	मन्त्रा
	५	ह्यत्त	ह्युत्त	२५६	११	त्यत्त्यात्	त्यत्वात्
२१६	६	नक्ष्य	नक्ष्य	२५७	२	मद्दो	मदस्
२१७	९	पाठ	पाठः		५	प्रामाण्या	प्रामाण्य
२१७	१६	कमैव	कर्मैव	२५८	३	युक्तोद्ध,	युक्तानुद्ध
२२२	९	यादि	यादि	२५९	७	दुक्तो	दुक्तौ
	१०	मधेयं,	मवधेयं		१२	दोषा	दोषो
२२३	१	वृद्ध	वृद्धि	२६०	३	इत्यक्त	इत्युक्त
२२४	३	षतस्य	षयस्य		४	मात	मात्
२२७	६	धातक	धातुक		१५	पूर्वषा	पूर्वेषा
२२८	१२	तन्निष्ठा	तनिष्ठ	२६१	१	मादे	माद्वे
२३०	१०	चणम	चणम्		४	स्वामी	स्वामि
२३१	१५	कारणे	करणे	२६४	५	तदत्त	तदनन्त
२३२	३२	सप्प	सप्त		११	वृत्यै	वृत्यै

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
२६५	१	वेदं	वेदम्	३०७	१	मत्वा	मत्त्वा
	६	र्णेष	र्णेषु		१२	तस्य:	तस्या:
२६६	१	पौरू	पौरु	३०९	५	चोक्त	चोक्तं
	७	त्यत्त्व	त्यत्व		९	युज्जा	युञ्जा
	१०	णाति	णेति	३११	३	दात	दान्त
२६७	११	पुपुष	पुरुष		१५	महर्षे	महर्षे:
२७१	८	सूर्यादि:	सूर्यादिरिव	३१३	४	कृत	वृत्त
७२	२	बौद्धा	बौँद्धा		१२	तद	तद्
२७५	८	त्वात	त्वात्	३१५	६	ओम	ओम्
२७८	२	क्त:	क्तस्तम्	३१६	११	सम्भावाच्च	सम्भवाच्च
	१३	बिवा	विवा	३१७	४	ङ्ग	ङ्गं
२८३	७	सभिन्न	भिन्न		६	न्यते	न्यन्ते
२८४	१६	श्रते	श्रुते		८	दयो	दय:
२८६	९	नत्त्वा	नत्वा		१०	स्यपि	स्यापि
२८७	२	यत	यत्	३१८	७	दु:खं	दु:खात्
२८८	४	कत्त्व	कत्वे	३१९	१२	र्यत	र्यंते
	४	स्यात	स्यात्	३२०	७	श्नुते	श्नुते
२८९	९	कुवन्	कुर्वन्	३२१	७	वान	वान्
	१४	पांडित्य	पाण्डित्य		१३	णे	णो
२९०	११	मंत्र	मन्त्र	३२२	७	ति	तिं
२९८	५	मत्वम	मत्वम्		१७	क	के
२९९	१४	द्रुमे	द्रुम	३२३	१	न्वे	न्वि
३०१	१७	संवत	संवत्		५	कत	कत:
३०२	१५	सा	सायणा		३	ताया	ताया:
	१६	हानि	हानि:	३२४	८	दुखं	दु:खं
	१८	शव्दस्य	शब्दे	३२८	५	र्य	र्यं
३०३	१७	त्वाम्	त्वात्	३२९	३	सर्वे	सर्वैं
३०४	८	मोक्ष	मोक्षं	३३२	७	दृष्टै	दृष्टै्व
३०७	४	यागो	योगो	३३४	१४	कृती	कृतेस्
	१२	धी	धी:	३३५	२	चाच्य	चोच्य

पृ०	प०	अशु०	शु०
३३६	३	लु	नु
	१०	वनस्य	वस्य
	१३	उनस	उनसे
३३८	९	सस्था	संस्था
३४०	२	बुध	बोध
३४१	८	तञ	तज्
३४२	५	कष	कर्ष
३४३	१३	भो	भोः
३४५	९	४४	५४
३४६	१	चकिं	किं
	७	या	याः
३४९	८	त्तय	त्तयं
३५०	३	ल्के	क्ले
	१०	पूव	पूर्व
३५१	८	मलं	मूलं
३५२	५	पूव	पूर्वं
	१२	चार	चर
३५४	५	ताऽय	तोऽयं
	८	दश	देश
३५६	९	पक्रा	पक्रमा
३५८	६	नां	नाम्
	१०	तॄं	तुं
	१४	ताः	ता
३६२	१२	तद	तद्
३६३	१२	त्या	त्य
३६५	१३	वे	वो
	१४	ण	णा
३६९	१	भय	भ्य
३७०	४	के	चे
३७१	१४	भिषे	भिलषे
३७३	८	लणं	लक्षणं
३७४	१२	मद्	मत्
३७५	२	मह	महं
	५	उदृङ्क	शङ्क
	९	नवा ?	मन्यते नवा ?
	१२	तर्क	तर्कं
	१८	(५५२),	(५५३)
३७६	२	कारं	कारस्य
	३	नमा	ना
	५	कनो	किनो
	१६	ष्टु	ष्टुं
३७८	४	प्रात	प्राप्त
	१५	भुं	भुः
३७९	५	समा	सामा
	१०	त्व	त्त्व
३८०	८	दृष्टव्यं	द्रष्टव्यं
३८१	४	नुध्य	नुरुध्य
३८२	५	कृटो	कृष्टो
३८३	१२	पाडि	पाण्डि
३८४	३	नां	ना
	९	रूक्	रुक्
३८५	१	ढ़ि	ढि
	९	स्याद	स्योद
३८६	४	क्षर	क्षरं
	१६	स्यत्	स्यात्
३९१	८	बि	वि
३९३	५	,,	,,
	११	येतुं	यितुं
३९४	१०	धेय	धेयं
३९६	२	प्रवत्त	प्रवर्त्तं

पृ०	प०	अशु०	शु०	पृ०	प०	अशु०	शु०
	८	घ	धे:	४२०	८	बि	वि
३९८	२	ज्ञान	ज्ञाना		१५	गुग्लु	गुग्गुलु
३९९	१०	पय	पर्य		१७	नाप्य	नाग्य
४००	७	माजा	माना	४२१	५	घाषं	घोषं
	११	मद्द:	भट्ट:	४२३	८	तुमति	तुर्मति
४०२	१	अप	प	४२४	१	शो	श
	१२	वत्वा	वत्त्वा	४२६	१४	वतां	वता
४०३	३	दया	दमा	४२७	२	महत्येव	मर्हत्येव
	३	तत्व	तत्त्व	४२९	१	य:	य
	१३	दुखा	दु:खा	४३०	१३	श्रृ	श्रृ
४०५	२	रावृता	रावृत्ता	४३१	१२	लोकाप	लोकोप
४१०	१	चिद	चिद्	४३२	११	थता	र्थता
	६	मास	मांसे		१३	त्यथ:	त्यर्थ:
	८	द्व	द्वे	४३३	१३	लाके	लोके
४११	३	गणा	गणा	४३५	१०	कत्व	कत्वं
४१२	४	हता	हिता		१२	स्यतृ	स्येत्
४१४	१०	अक्ष	अक्षु	४३७	५	थ	र्थ
	१६	थवि	र्थवि	४३८	५	यत	यत्
४१५	५	मण्डित	मण्डितं	४३९	५	कुरू	कुरु
	७	जाव	जीव		६	रूं	रु
	८	पार	परि		१४	णिना	णिनां
	१४	ताद्घा	तोद्घो	४४०	२	षा	षो
	१५	वेदाव	वेदवि		७	छेशे	द्देशे
	१५	महाधर	महीधर		७	दिर्भ	दिभ
	१६	मेषा	मेषो		१०	व, भो:	वै, भो:
४१६	८	तवैदि	तमवैदि	४४१	२	लाग्रय	लाग्नेय
४१७	६	श्रृं	श्रृ		३	द्वित्व	द्विस्व
४१८	४	व्या	व्य		४	अग्र	अग्रे
४१९	३	णनि	णानि	४४२	२	ष्टया	ष्ट्यां
	५	र्ति	ति		११	धनं	धानं

पृ०	प०	अशु०	शु०
	१३	न पूर्वोक्तं	पूर्वोक्तं चापि
४४३	३	यय	य
४४५	८	बतां	वतां
४४६	२	सर्वँम	सर्वँमं
	७	प्रयलो	प्रयत्नो
	१३	कृतं	कृतम्
	१४	यल	यत्न
४४७	४	कत्तृत्व	कर्त्तृत्व
	५	कृने:	कृते:
	५	नात	नात्
	५	स्वा,गा,रा,	स्वो,गो,रो,
	१०	त सु	तः सु
	१०	कष	कर्ष
४५०	२	सूक्ष	सूक्ष्म
४५१	११	तत्ल	तल्ल
४५२	६	शाध	शोध
४५३	२	ढ़ि	ढि
	१६	मब	मव
	१०	दित्वा	दितत्वा
४५४	१०	तुभू	तुर्भू
४५६	६	रमो	रसो
४५७	३	रम	रम्
	८	पन्ना	यन्ना
४५८	३	तिह	तिह्
४५९	४	अयं	इदं
	७	णति	णाति
४६१	११	नम	नम्
	१२	शष्टा	शिष्टा
४६२	१	भव	भाव
	१०	पुंल्लि	पुंलि

पृ०	प०	अशु०	शु०
४६३	१	द्ध	द्धं
४६५	१३	तरम्	तरद
४६७	८	च्यत	च्येत
४६८	५	एव	एवं
४६९	९	सज्ञ	संज्ञ
४७१	५	सासा	सा
४७५	६	क्षत्र	क्षेत्र
४७६	७	ढैना	ढैर्ना
४७८	१०	योदृ	योर्दृ
	११	स्याधा	स्यावधा
४७९	९	समा	सामा
४८३	१	सूर्य	सूर्यं
	६	दृष्द	द्रष्टृ
४८४	३	अग्नि	अग्ने
४९१	८	नुप	नुत्प
	१३	दृष्टा	द्रष्टा
४९२	१	दश	दर्श
४९३	७	छदा	छन्दां
४९४	८	आका	ओका
४९५	२	ब	व (अन्यत्रापि)
	६	द्धऽथं	द्धोऽर्थ
४९६	५	त्या	त्या
४९८	६	त्रिशद्	त्रिंशद्
४९९	२	ताना	तानां
	९	”	”
	११	सुश्रु	शुश्रु
५००	४	मला	मंलो
५०१	१२	रम	रमे
५०३	१०	तन्नि	तन्ति
५०४	१५	मध्या	माध्य

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५०७	७	महा	माहा
	११	र	रः
५०९	३	अमृ	अनृ
५११	५	मनः	मानः
५१२	१०	ऽ	×
५१७	११	पति	पयति
५१८	२	नश्च	नञ्च
५१८	२	दु	दुं
५१९	११	मध्मे	मध्यमे
	१५	घातनै	धातेनै
५२२	७	बिग्रह	विग्रह
५२३	९	वा	वा ऽऽ
	४	दुप्य	दप्य
५२४	५	रेंव	रेव
	७	दोना	दीनां
५२७	१	रूढस्त्व	रूढत्व
	४	तु तात्	तु व्यर्थतात्
५२९	१	व्यब	व्यव
५२९	११	एघ	एधः
५३२	५	नेश्वररस्य	नेश्वरस्य
५३४	११	घर्ण्यं	घृण्यं
५३५	२	णनि	णानि
५३८	१३	दे	दो
५३९	१	स्वोक्ति,विरु	स्वोक्तिविरु
	११	बर्त्तत	वर्त्तत
५४०	२	दृक्ष्य	द्रक्ष्य
	१२	सस्त	सन्त
५४२	२	ढ़	ढ
५४४	९	नोद्य	नोऽ
	१३	व्यनधु	न व्यधु

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
	१३	साना	सना
५४६	११	वधं	विधं
५४९	९	पक्षा	पक्षो
५५२	३	भिदे	भिर्दे
५५३	१	नि	निः
५५७	१३	बिना	विणा
५५९	४	कृतिक	कृतीक
५६१	२	वृत्या	वृत्या
५६३	१०	नोऽ	नो अ
५६५	६	विधिः	विधौ
५६६	९	त्रा	त्र
	११	कत्त	कर्त्तृ
	१४	दृष्ट	द्रष्टृ
५६७	८	राव्य	राख्य
५६९	१४	धम	धर्म
५७२	२	नाथ	नार्थ
५७५	६	देन्य	दन्य
५७८	१	गणा	गण
		पूर्वभागे	
६	१३	दु	द्रु
१८	१६	खण्डनं	मण्डनं
		उत्तर भागे	
५८१	१२	प्राकवाक्	प्रागवाक्
२४	३	लाच्छन	लाञ्छन
१४२	१२	गृह्याश्च	गृह्यांश्च
		हिन्दी भाग	
१	६	गयें	गये
४	४	ण	र्ण
४	१५	लपा	ल-पा
६	८	हीं	हीं

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
९	१०	रूप	+
१०	१	बि	वि
११	३	ही	हीं
१४	७	वदा	वंदा
	१४	लों	लो
१५	७	डय	ड्य
१६	१	र	रा
१७	१५	मे	में
२०	१	त्या	इत्या
२५	४,६	णदि	णादि
२६	७	ब,	वं
	१४	ददि	दादि
२९	६	बि	वि
३२	३	पर	पद
३३	१	चव	चेव
३४	८	हां	हाँ
३६	७	प्लु	प्लृ
	१२	व	वं
४२	४	त्त्वो-पा	सत्त्वोपा
४४	१४	रयव	रवयव
४५	७	महद	महद्
५१	२	य,	य-
५२	१३	निरु	निरू
५३	७	उदृ	उद्
५७	अनेकत्र	ब	व
६८	६	त्रि	त्ति
७९	२	,,	×
९३	१८	ड	×
९७	६	पहुंचा	पहुंच
१०७	१५	ह	हैं
१२५	१३	छन्द	छन्दः
१२६	१५	र्त्तीवि	र्त्तीवि-वे
१२९	१४	मा०	भा०
१३१	१०	विधा	विध
१३२	९	ह्य	ह्म
१३४	९	अनृष	अनृषि
१३६	४	र्ही	ह्रीं
१३७	१३	शङ्का	शङ्का
१३९	१४	सां, प्रणा	सा, प्रमा
१४०	५	साक्षिन	साक्षिन्
१४३	८	साम	साय
१५३	१	सग	सर्ग
१६१	१४	सहृश	सदृश
१६६	१४	सुप्र	सुप्त
१६७	१	सहृश	सदृश
	४	उय	उप
१६८	९	वैय्या	वैया
	१३	ऋक	ऋक्
१६९	८	वात	बात
१७५	५	अबि	अवि
१७६	१०	फंस	फँस
१८२	५	ति	त
१८३	१३	ना	नां
१८५	१७	षङ्	षड्
१८७	१५	अचित	अचेत
१८८	४	भह	भट्ट
	६	संज्ञाया	संज्ञा
१९०	१३	चादो	यादो
१९२	१	कुणठित	कुण्ठित
	७	बि	बि

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	५	मर्था	मर्थ्य
१९९	१७	अवि	आवि
२००	१०	भविक	भाविक
२०१	१३	राया	रामा
२१२	१२	उमय	उभय
२१५	९	है	है !
२१९	९	शोभेत	शोभते
२२०	१०	वेग	वेग
२२२	२	चयादि	चादि
२२३	१	य,ाव,न,त्रो-यं,	वि,ने,त्रों
२२७	६	क	के
२२८	३,४	संङ्ग	सङ्ग
२३१	४१	पृष्ट	पृष्ठ
२३९	१७	ही	×
२३७	९	तथा	यथा
	१०,	कणदमुनि,	×
	११	के	कणादमुनि के
२४०	१७	भुत	भूत
२४१	६	मान	मान्
२४२	११	पौर्वापर्य	पूर्वापर
२४३	१७	फिर	×
२४५	४	रहा	रहा है
	१२	सधित्	साधित
२७२	१	आदियों	आदिकों
	४	क्योंकि	×
२७५	१०	द्, द	द, द्

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२७७	१४	विवेक	विवेकी
२८९	१३	तापाडि	तपाग्डि
२९७	१	ग्रह्म	ग्रह्म
३००	१३	या	या:
३१८	१३	दित्वा	विदित्वा
३२०	१२	परात	परात्-
३२५	१	त्	न्
३२६	१	प	पं
३३०	२,३	दवो, सव	वेदा सर्वं
३३५	२	महत	महत्
३३९	१	वाण	वारण
	७	एसा	ऐसा
३४६	७	वर्त	वत्
३५०	४,७	म, हो	में, हों
	८	घात	घाती
	१४	कल	कले
३५१	१२	स्त्रा	स्त्रो
३५६	३	षरि	परि
३६५	८	नधीन	नवीन
३६९	१०	णव	र्णव
३ ७	५,८	ण, हा	र्ण, हो
३९४	१२	कः	कः ?
	११	है	है ?
४१३	१०	बह्या	बाह्य
४१७	५	हर्ष्या	ईर्ष्या
४२७	८	शङ्क	शङ्क
४२९	५	सस्कृत	संस्कृत
४३४	९	वह	यह
४४१	६	यति	यित
४५३	६	मावो	भावो
४५७	१३	ष्ट्य	ष्टय
४७१	१	दुर्गन्ध	दुर्गंध

हिन्दी भाग में

ये कुछ अशुद्धियां निकली हैं इनके अतिरिक्त और भी अशुद्धियाँ (ँ, व और ब, म् और म, ह्य और ह्म, घ और ध, ँ, त्व और त्त्व, हलन्त तया मात्राओं की) ढूंढने पर मिल सकती हैं। उनको पाठक महानुभाव 'गच्छतः स्खलनं क्वापि' उक्ति के अनुसार उदारता से दृष्टिदोष अथवा मुद्रण दोष समझ क्षम्य समझेंगे। —सम्पादक